प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास



रतिभानु सिंह नाहर, एम० ए०, डी० फिल०

किताब महल, इलाहाबाद
१९६७

प्रथम संस्करण, १९५६
द्वितीय संस्करण १९६१
तृतीय संस्करण १९६७

प्रकाशक—किताब महल, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—प्रेम प्रेस कटरा इलाहाबाद।

यह तृतीय संस्करण

करण में मने एक बार उन समस्त समस्याओ व एतिहासिक गुत्थियों को
की चेष्टा की है जिन पर नये अनुसधानो से कुछ प्रकाश पड सका है, पर
मुझ यह भी ध्यान रखना पडा है कि ग्रथ केवल शास्त्रीय विवेचन तक
न रह जाय अथवा जिनके लिए ग्रथ की रचना हुई है उनके हिता को
ब्यय न बन जाय। अत इस सस्करण में मन केवल कुछ आवश्यक साम
सग्रहीत किया है।

द्यालय के प्राध्यापको का म विशष रूप से ऋणी हूँ जो मुझ समय समय
बहुमूल्य सुझाव देत रहे ह। पूण कुछ भी नहीं है और ज्ञान क क्षत्र में
। साध्य नहीं है इस स्वाकार करते हुए म अपना यह लघु प्रयास प्रस्तुत
।

—लखक

अध्याय

अध्याय

परिशिष्ट

भारतीय इतिहास की स्थिति

मानव की विगत विशिष्ट घटनाओं का ही दूसरा नाम इतिहास है। आज की प्रत्येक ऐसी घटना कल का इतिहास बन जायगी। इसी प्रकार अतीत के सभी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास एवं परिवर्तन भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान एवं पुनरुत्थान वर्तमान का इतिहास बनकर प्राचीन मानव तथा उसके कृत्यों की स्मृति दिला रहे हैं। किन्तु अतीत और वर्तमान का निकट सम्बन्ध स्थापित करने का कोई माध्यम चाहिए कोई साधन चाहिए जो युगों की लम्बी दूरी को कम कर सके—इतना कम कि पुरातन नूतन बनकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाय। साहित्यकारों एवं विभिन्न प्रकार के कलाकारों की कृतियाँ ही वह साधन हो सकती हैं जो अतीत की स्मृति दिला सकें। विश्व की समस्त प्राचीन सभ्यताओं का ज्ञान इन्हीं कृतियों के आधार पर प्राप्त हो सका है। साहित्यकारों की रचनाओं तथा वास्तुकला भास्कर कला, चित्रकला तथा अन्य ललित कलाओं के कलाकारों की रचनाओं में केवल इतना अन्तर है कि एक मुखरित है तो दूसरी मूक पर दोनों की उपयोगिता निर्विवाद है। मिश्र की प्राचीन सभ्यता का ज्ञान वहाँ के पिरामिडों तथा स्फिंक्स द्वारा अधिक स्पष्ट हो गया है यूनान के प्राचीन इतिहास का बोध कराने में फादर हेरोडोटस (Herodotus) की महान कृति हिस्ट्रीज (Histories) का महत्व विशेष उल्लेखनीय है, इसी प्रकार रोम के इतिहास पर प्रकाश डालने में लिवी (Livy) के एनल्स (Annals) की उपयोगिता निर्विवाद है।

भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इसी कोटि की कृतियों की आवश्यकता है। उस प्राचीन काल का विवरण साहित्यकारों की कृतियों में प्राप्त हो और उस विवरण के आंशिक साक्ष्य रूप में प्राचीन कलाकारों द्वारा निर्मित भवनों, मूर्तियों चित्रों तथा अन्य कला की वस्तुओं का अभाव न हो इसके इतर इतिहास जानने का अन्य कोई साधन नहीं। पाश्चात्य इतिहासकारों का सदैव यह आरोप रहा है कि प्राचीन भारत का इतिहास जानने का कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। फ्लीट महोदय के सम्मुख तो यह प्रश्न उठता है कि क्या प्राचीन काल के हिन्दुओं की अभिरुचि इतिहास रचना की ओर थी? उक्त महोदय को यह भी शंका उत्पन्न होती है कि प्रचीन भारतीयों में इतिहास रचना की शक्ति थी भी अथवा नहीं। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध इतिहासकार अल्बरूनी ने भी प्राचीन भारतीयों की इतिहास रचना-सम्बन्धी उदासीनता का उल्लेख किया है। अलबरूनी ने यहाँ तक स्पष्ट कह दिया है कि प्राचीन भारतीयों से यदि किसी समय या राजा का इतिहास या उस समय की किसी घटना विशेष के विषय में पूछा जाता है तो वे कथायें कहना आरम्भ कर देते हैं। एक इतिहासकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि भारतवर्ष का कोई इतिहास ही नहीं है।[1] पूर्ण इतिहास का ज्ञान तो पृथक रहा, भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं की तिथियों के विषय में लगभग

1 India has no history but episodes

सभी इतिहासकारों ने जोर देकर कहा है कि प्राचीन भारत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तिथियाँ या तो प्राप्य नहीं या जो कुछ प्राप्य भी हैं वे संदिग्ध तथा भ्रमपूर्ण हैं। एल्फिन्स्टन महोदय ने तो यह स्पष्ट रूप में कह दिया है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व की किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि निर्धारित करना कठिन है। किन्तु जहाँ तक प्रमुख घटनाओं की तिथियों के अभाव का प्रश्न है यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विश्व के लगभग सभी प्राचीन देशों का यह दुर्भाग्य रहा है कि उनके इतिहास को तिथि क्रमानुसार नहीं रक्खा जा सका। आधुनिक अन्वेषणों तथा अन्य नव प्राप्त सामग्रियों के सम्मिलित अध्ययनों के पश्चात् तिथिक्रम का ज्ञान भले ही प्राप्त हो सका हो पर प्राचीन इतिहास अपने वास्तविक रूप में तिथि क्रमानुसार नहीं है। वि० स्मिथ महोदय ने समस्त राष्ट्रों के तिथि क्रमानुसार इतिहास के अभाव के कारण ही लिखा है कि समस्त राष्ट्रों के इतिहास क्रमबद्ध करने के लिए निश्चय ही तिथियों का अभाव है। ऐसा लगता है कि प्राचीन मानव की यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि वह तिथियों को महत्त्व न देकर तिथि की घटनाओं को प्रधानता देता था। विश्व के इने गिने देशों में ही तिथि क्रमानुसार इतिहास रचना का पता चलता है। राजाओं की सुविस्तृत तालिकाओं तथा तत्सम्बन्धी असंख्य घटनाओं का विवरण लगभग प्रत्येक देश में किंवदंतियों दन्तकथाओं तथा पौराणिक गाथाओं में प्राप्त होता है। भारतीय इतिहासकार के सम्मुख तो ऐसी सूचियों का बाहुल्य है। किन्तु सब कुछ होते हुए भी यह निस्सन्देह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारतीयों को इतिहास रचना से प्रेम न था या उनमें ऐसी शक्ति न थी। फ्लीट महोदय की यह शंका कि प्राचीन हिन्दुओं में इतिहास रचना की ओर अभिरुचि थी अथवा नहीं या उनमें ऐसे गुण विद्यमान थे अथवा नहीं विशेष तर्कसंगत नहीं। इसी प्रकार कावेल महोदय का यह मत कि हिन्दू काल में हम उस समय तक की घटनाओं का विस्तारपूर्वक तथा निश्चित रूप से वर्णन नहीं कर सकते जब तक भारत अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में नहीं आया अक्षरशः सत्य नहीं है। वास्तव में प्राचीन भारतीयों की इतिहास रचना में उतनी ही रुचि थी जितनी अन्य विषय के ग्रन्थों की रचना में। अन्तर था केवल दृष्टिकोण का। आज के इतिहास की परिभाषा परिवर्तित हो गई है इतिहासकारों का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है और इतना ही नहीं सम्भावना तो यह है कि आज का यह परिपक्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी परिवर्तित होता जा रहा है जो सम्भवतः निकट भविष्य में ही पूर्णतया विभिन्न हो जायगा। कल तक जिन भीषण रक्तपातों नर-संहारों तथा विजयों पर सहस्रों पृष्ठ रंग दिये जाते थे और उसी समय की सभ्यता तथा संस्कृति की सूक्ष्म मूल प्रवृत्तियों का बहुधा उल्लेख मात्र कर दिया जाता था आज उन दोनों परिस्थितियों के साथ न्याय किया जाता है और समान रूप से प्रकाश डाला जाता है या सभ्यता एवं संस्कृति को अधिक से अधिक प्रकाश में लाने का प्रयास किया जाता है। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि आज का इतिहासकार शुष्क ऐतिहासिक घटनाओं की ओर दृष्टिपात ही नहीं करता पर वास्तव में सोचता वह कुछ ऐसे ही है। प्राचीन आर्यों ने इतिहास को क्या रूप दिया था उनके लिए इतिहास क्या था इसका पूर्ण ज्ञान हमें उनकी निम्नलिखित परिभाषा से प्राप्त हो जाता है—

पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रञ्चेतिहासः

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण, इतिवृत्त आख्यायिका उदाहरण धर्म शास्त्र और अर्थशास्त्र ही प्राचीन आर्यों का इतिहास शास्त्र था। उनकी इस

परिभाषा को सम्मुख रख कर क्या यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन आर्यों ने 'इतिहास रचना' में उदासीनता दिखाई अथवा उनमें 'इतिहास' लिखने की शक्ति न थी? डाक्टर बेनी प्रसाद ने उचित ही लिखा है कि, तिथियों के न होने से विकास (सभ्यता के विकास) का क्रम अच्छी तरह स्थिर नहीं होता। पर इसके बाद जो कठिनाई पड़ता है वह सामग्री की कमी से नहीं किन्तु बहुतायत से पैदा होती है। वास्तव में यदि तिथि-क्रम के प्रश्न को थोड़ी देर के लिए पृथक करके सोचा जाय तो भारतीय इतिहास की सामग्री का इतना बाहुल्य है यद्यपि उस अथाह सामग्री-सागर में प्रक्षिप्तांशों, अनिवार्य तथा अत्युक्तियों का अभाव नहीं कि उन्हें इतिहास का मूलाधार तथा इतिहास जानने के साधनों का माध्यम बना कर जीवनपर्यन्त कोई अन्वेषण कर सकता है। कुछ काव्यात्मक किन्तु यथार्थ रूप में प्राचीन काल की लिखित सामग्रियों को अथाह सिंधु और ऐतिहासिक घटनाओं को मणियों से उपमा दी जा सकती है। समुद्र में प्रत्येक स्थान पर मणियाँ नहीं और प्रत्येक मणियाँ मूल्यवान नहीं। ठीक इसी प्रकार प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में प्राचीन इतिहास निहित है। प्राचीन भारतीय कलाकारों की कृतियाँ भी कम नहीं जिनसे हमारे प्राचीन इतिहास का बोध हो सके। मूर्तिकला, चित्र-कला, भवन निर्माण-कला तथा अन्य ललित-कलाओं के उत्कृष्ट उदाहरण आज भी अपनी भग्नावस्था में हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की स्मृति दिला रहे हैं। भारतीय इतिहास की सामग्री का पूर्ण विवरण आगे दिया जायगा।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि किसी भी देश का इतिहास जानने के केवल दो साधन होते हैं—पहला साहित्यकारों की कृतियाँ तथा दूसरा विभिन्न कलाकारों की कृतियाँ। भारतीय इतिहास के साधनों को भी इन्हीं दो भागों में विभाजित किया जा सकता है —

साहित्यिक तथा पुरातात्विक

साहित्यिक सामग्री को भी सुविधा के लिए इस प्रकार विभाजित किया गया है—(१) धार्मिक साहित्य तथा (२) इहलोकपरक साहित्य। धार्मिक साहित्य भी दो प्रकार का है—(क) ब्राह्मण ग्रन्थ तथा (ख) अब्राह्मण ग्रन्थ (बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ)। ब्राह्मण ग्रन्थों को भी श्रुति तथा स्मृति दो भागों में विभाजित किया गया है। श्रुति के अन्तर्गत चारों वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों की गणना की जाती है और स्मृति में दो महाकाव्य रामायण एवं महाभारत, पुराण तथा स्मृतियाँ आती हैं। इसी प्रकार इहलोकपरक साहित्य निम्नलिखित पाँच प्रकार का है —

(क) ऐतिहासिक (ख) अर्ध ऐतिहासिक (ग) विदेशी विवरण (घ) जीवनियाँ तथा (ङ) कल्पना प्रधान एवं गल्प साहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

ऊपर साहित्यिक सामग्री का विभाजन किया गया है। अब पुरातात्विक सामग्री के विभिन्न भागों का उल्लेख किया जायगा। पुरातात्विक सामग्रियाँ कुछ तो अपने वास्तविक रूप में प्राप्त हुई हैं और कुछ उत्खनन द्वारा उपलब्ध की गई हैं। ऐसा जान पड़ता है कितनी सामग्रियाँ अभी पुरातत्ववेत्ताओं के फावड़े की प्रतीक्षा में धरती के नीचे पड़ी हैं जो इतिहास में कोई नया परिच्छेद जोड़ने या विवादास्पद विषयों को साध्य बनाने के लिए व्याकुल हैं। इन पुरातात्विक सामग्रियों को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है—(१) अभिलेख, (२) प्राचीन स्मारक तथा (३) मुद्राएँ।

सुविधा के लिए साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक सामग्रियों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा।

साहित्यिक सामग्री

(१) धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेद—वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीनता तथा अनुपमेय महत्ता के कारण ही ये मानव रचित न होकर ईश्वर प्रदत्त माने गये हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। यों तो लगभग चारों वेदों की उपयोगिता इतिहास-अन्वेषण में आंशिक रूप में वाञ्छनीय है, किन्तु ऋग्वेद, जो प्राचीनतम है, इस विषय में अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। प्राचीन काल में आर्य किस प्रकार और कहाँ तक भारतवर्ष में अपना प्रसार कर सके थे, अनार्यों से उनके संघर्षों का वर्णन, सप्तसिन्धव का गुणगान आदि ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है। इस आदि ग्रन्थ के अभाव में सम्भवतः आर्यों के विस्तार का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन कार्य हो जाता।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी वेदों का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। आधुनिक अनुसन्धान-कर्त्ता बहुधा सभी सामाजिक, धार्मिक तथा पौराणिक विषयों का मूल वेद में खोज लेने की चेष्टा किया करता है और आश्चर्य है कि उसे इसमें कुछ सीमा तक सफलता मिलती है। पौराणिक तथा धार्मिक विषयों का मूल तो यहाँ सरलतापूर्वक मिल जाता है। सभी धर्म सम्प्रदाय वाले अपने मत का उद्भव वेद में ढूँढ कर स्वयं को वैदिक घोषित करते रहे हैं। भारतीय इतिहास में एक युग था जब सम्प्रदायों की वैदिकता-अवैदिकता पर काफी तर्क वितर्क हुआ था और अनेक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायों को अवैदिक कह कर हेय ठहराया करते रहे।

ब्राह्मण—वैदिक मन्त्रों तथा संहिताओं की गद्य-टीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। प्राचीन ब्राह्मणों में ऐतरेय, पञ्चविंश, शतपथ, तैत्तरीय आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतरेय के अध्ययन से ही राज्याभिषेक तथा कुछ प्राचीन अभिषिक्त राजाओं के नामों का ज्ञान प्राप्त होता है। इनकी सूचनाओं को अन्य सामग्रियों की सहायता से इतिहासपरक बनाया जा सकता है। इसी प्रकार शतपथ जो अपने १०० अध्यायों के कारण ही शतपथ कहलाता है, भारत के पश्चिमोत्तर के गान्धार, शाल्य तथा कैकय आदि और प्राच्य देश कुरु, पाञ्चाल, कोशल तथा विदेह पर प्रकाश डालता है। सुप्रसिद्ध आर्य राजा परीक्षित तथा उसके काफी बाद तक का भारतीय इतिहास का ज्ञान ब्राह्मणों द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषद्—उपनिषदों में बृहदारण्यक, छान्दोग्यादि अधिक प्राचीन हैं। इन ग्रन्थों से बिम्बसार के पूर्व का इतिहास जानने में सहायता ली जा सकती है। प्रो० मैकडानल तथा डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने यह सिद्ध किया है कि इनका रचना काल बिम्बसार के पूर्व है। परीक्षित, उसके पुत्र जनमेजय तथा बाद के राजाओं का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है जिससे यह स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी रचना परीक्षित के कुछ बाद और बिम्बसार के पहले हुई होगी। वास्तव में ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के सम्मिलित अध्ययन से ही परीक्षित से लेकर बिम्बसार तक के इतिहास पर कुछ सोचा जा सकता है। उपनिषदों की दार्शनिकता को ध्यान में रखते हुए यह प्रारम्भिक ढंग से कहा जा सकता है कि प्राचीन आर्यों का दर्शन अन्य सभ्य देशों

के रूप में कहा जाता था। प्राचीन आर्यों के आध्यात्मिक विकास का पूर्ण ज्ञान उपनिषदों में ही प्राप्त होता है। प्राचीन काल की धार्मिक अवस्था, चिन्तन तथा नैतिक विकास के ये जीते जागते उदाहरण हैं। वेदों तथा ब्राह्मणों की महानता को ये अधिक शक्तिशाली बना देते हैं।

वेदांग—कालान्तर में वैदिक अध्ययन के निमित्त विशिष्ट विद्याओं की शाखाओं का जन्म हुआ जो वेदांग के नाम से विख्यात हैं। मुण्डक उपनिषद में छः वेदांगों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है— शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्। शिक्षा (Phonetics) कल्प (Ritual) व्याकरण (Grammar), निरुक्त (Etymology) छन्दशास्त्र (Metrics) तथा ज्योतिष (Astronomy)। वेदांग की छः शाखाओं ने ही वैदिक पाठ को सरल एवं सुबोध बनाया गया। आगे चलकर इन विषयों के पठन-पाठन में कुछ परिवर्तन हुए और इस प्रकार वैदिक शाखाओं के अन्तर्गत ही उनका पृथक्-पृथक् वर्ग स्थापित हो गया। इन्हीं वर्गों के पाठ्य ग्रन्थों के रूप में सूत्रों का निर्माण हुआ। कल्पसूत्रों को चार भागों में विभाजित किया गया। गृहस्थों से सम्बन्धित सूत्रों को अर्थात् मुख्य गृह-संस्कारों पर प्रकाश डालने वाले सूत्रों को गृह्यसूत्र, धर्म अथवा नियमों से सम्बन्धित सूत्रों को धर्मसूत्र और यज्ञ एवं हवन-कुण्डों को क्रमशः वेदी एवं नाप आदि से सम्बन्धित सूत्रों को शुल्बसूत्र कहा गया। वेदांग का यह विस्तृत क्षेत्र तत्कालीन धार्मिक अवस्था का एकमात्र निदेशक है। इन्हीं सूत्रों में सामाजिक अवस्था का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किन्तु कठिनाई यह है कि ये इतना विस्तृत तथा अथाह सागर की भाँति हैं कि इनमें से ऐतिहासिक तथ्यों की खोज निकालना सरल कार्य नहीं। ऋग्वेद से लेकर सूत्रों की रचना तक का समय लगभग दो हजार ई० पू० से पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक माना जाता है। इस लम्बे अर्से का इतिहास इसी वैदिक साहित्य से प्रकाशित होता है।

दो महाकाव्य—वैदिक साहित्य के पश्चात् भारतीय साहित्य के दो स्तम्भ रामायण तथा महाभारत का आविर्भाव होता है। वास्तव में सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में ये अपना ऊँचा स्थान रखते हैं। भारतीय इतिहास को अधिक से अधिक प्रकाश में लाने का श्रेय बहुत कुछ इन महाकाव्यों को ही दिया जा सकता है। रामायण के रचयिता महाकवि वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवनचरित्र लिख कर तत्कालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति को बोधगम्य बना दिया है। इतिहासकारों ने इन महाकाव्यों को ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। कुछ इतिहासकारों ने तो महाभारत को आदि इतिहास तक घोषित किया है किन्तु यह अधिक तर्कसंगत नहीं। रामायण के अध्ययन से ही आर्यों तथा यवनों एवं शकों के संघर्ष का वर्णन प्राप्त होता है। राज्य की सीमाओं का भी उल्लेख रामायण में प्राप्त होता है। किष्किन्धा काण्ड में यह उल्लेख आया है कि यवनों का देश एवं शक लोगों के नगर कौरवों के देश तथा हिमालय के मध्य स्थित हैं। इसी प्रकार भारत के अन्य भूभागों के राजाओं के विषय में कम या अधिक वास्तविक या यथार्थ वर्णन मिलता है। यह इतिहासकार का कर्तव्य है कि इस महान साहित्यिक कृति से ऐतिहासिक तथ्यों की अन्वेषणा करे।

मूल महाभारत के रचयिता व्यास मुनि माने जाते हैं। किन्तु महाभारत के तीन संस्करण हुए—जय, भारत तथा महाभारत। महाभारत का वर्तमान रूप प्राचीन इतिहास, आख्यायिकाओं, कथाओं तथा उपकथाओं का भण्डार माना जा सकता है। महाभारत प्राचीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति पर पर्याप्त

प्रकाश डालता है। राजनीतिक परिस्थितियों का भी कुछ विवरण इसमें दिया गया है किन्तु दुर्भाग्यवश तिथि क्रमानुसार इतिहास का इसमें सर्वथा अभाव है। कुछ कल्पित कथाओं के समावेश से भी ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

रामायण तथा महाभारत में प्रक्षिप्तांशों का इतना बाहुल्य है कि इतिहासकार उन पर पूर्णतया निर्भर नहीं रह सकता। किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये आर्य-संस्कृति के दक्षिण में प्रसार का निर्देश करते हैं। इन दोनों महाकाव्यों से हमें आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतियों के समन्वय का ज्ञान प्राप्त होता है। तिथिक्रमानुसार परिस्थितियों का ये भले ही बोध न करा सकें किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि जिस समय इनकी रचना हुई उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का ये पर्याप्त ज्ञान कराते हैं। इन्हीं दोनों महाकाव्यों के आधार पर ही महाकाव्य युग निर्धारित किया गया है जिसकी सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था का पूर्ण विवरण इन महाकाव्यों में प्राप्त होता है।

पुराण—महाकाव्यों के पश्चात् पुराणों का स्थान आता है। पुराणों की संख्या १८ है। पुराणों की रचना का श्रेय सूतलोमहर्षण अथवा उनके पुत्र (सौति) उग्रश्रवस या उग्रश्रवा को दिया गया है। पुराणों के अन्तर्गत पाँच विषयों का वर्णन साधारणतया हुआ है—(१) सर्ग (आदि सृष्टि) (२) प्रतिसर्ग (प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि) (३) वंश (देवताओं तथा ऋषियों की वंश-तालिका) (४) मन्वन्तर (कल्पों के महायुग जिनमें मानव का स्रष्टा मनु माना गया है) तथा (५) वंशानुचरित (प्राचीन राजकुलों का इतिवृत्त)[१]। उपरोक्त पाँच पुराण के विषय होते हुए भी अठारहों पुराणों में वंशानुचरित का प्रकरण नहीं प्राप्त होता। यह दुर्भाग्य ही है क्योंकि पुराणों में जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण विषय है वह वंशानुचरित है। वंशानुचरित केवल भविष्य, मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, तथा भागवत पुराणों में ही प्राप्त होता है। गरुड़ पुराण में भी पौरव, इक्ष्वाकु और बार्हद्रथ राजवंशों की तालिका प्राप्त होती है किन्तु इनकी तिथि पूर्णतया अनिश्चित है।

पुराणों की भविष्यवाणी शैली में कलियुग के राजाओं की तालिकाओं के साथ शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, आन्ध्र तथा गुप्त वंशों की वंशावलियाँ भी प्राप्त होती हैं। कलियुग के सम्राटों को इतिहास में भले कोई स्थान न दिया जाय या उन्हें काल्पनिक तक मान लिया जाय किन्तु उपरोक्त वर्णित वंशों तथा उनके सम्राटों को ऐतिहासिक कौन नहीं स्वीकार कर सकता। यह क्रमबद्ध या क्रमहीन तालिका है इसका प्रश्न यहाँ नहीं। शिशुनागों में ही बिम्बिसार तथा अजातशत्रु का उल्लेख किया गया है। जैन एवं बौद्ध लेखकों के साक्ष्य के आधार पर इन्हें क्रमशः महावीर तथा गौतम बुद्ध का समकालीन स्वीकार करते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक ३२२ ई० पू० हुआ और वंशानुचरित में मौर्य का भी उल्लेख है। अतः पुराण चौथी शताब्दी तक का वर्णन चाहे वह जिस रूप में भी हो करते हैं। इसके आगे के राजाओं की तालिकायें भी दी गई हैं। मौर्य वंश के लिए तो विष्णुपुराण की प्रामाणिकता निर्विवाद है। इसी प्रकार आंध्र वंश के लिए मत्स्य पुराण विशेष महत्वपूर्ण है। वायुपुराण गुप्तों की शासन पद्धति पर प्रकाश डालता है। यह वर्णन चन्द्रगुप्त के काल के शासनप्रबन्ध से बहुत कुछ समानता रखता है। उपरोक्त

[१] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितञ्चैव पुराणम् पंचलक्षणम् ॥

पुराणों में सम्राटों की तालिकाओं के बाद शूद्र तथा म्लेच्छों की वंशावलियाँ दी गई हैं। आभीर, शक, गर्दभ, यवन, तुषार तथा हूणादि का उल्लेख इन्हीं सूचियों में किया गया है। उपरोक्त जातियों की तालिकायें जिन राजकीय वंशावलियों के अन्त में दी गई हैं सम्भवतः वे उन्हीं सम्राटों के समकालीन थीं। इस प्रकार का विवरण देकर पुराण इतिहास की प्रचुर सामग्री उपस्थित करते हैं। पुराण प्राचीनकाल से लेकर गुप्तकाल तक के इतिहास से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का परिचय कराते हैं जिनकी प्रामाणिकता के लिए हमें अन्य साक्ष्यों का सहारा लेना पड़ता है। इतिहासकारों को पुराणों से सर्वथा यह असन्तोष रहा है कि ये निष्पक्ष नहीं और साथ ही काल्पनिक घटनाओं, कथाओं एवं गाथाओं का समावेश तो इन पुराणों में काफी छूट के साथ किया गया है। जो कुछ भी हो पुराण इतिहासपरक ग्रन्थ या इतिहास भले न हों, इतिहास की सामग्री तो हैं ही और एक ऐसी सामग्री जो कभी इतिहास माना जाता थी।

पुराण अपने में एक स्वतन्त्र विधा है। प्राचीन युग में भारतीय जन-जीवन को सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन का रूप प्रदान करने में इनकी बहुत बड़ी देन है। ये कभी शताब्दियों पूर्व की परम्पराओं को अपने युग के ढाँचे में ढालते हुए समसामयिक जीवन का पथ-प्रदर्शन करके भावी इतिहास के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते रहे और आज एक ही साथ अपने पूर्ववर्ती युग के जीवन तथा अपने समकालीन जीवन दोनों का सुरक्षित चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। हम नहीं कह सकते कि पुराणों के अभाव में भारतीय इतिहास के विद्यार्थी को कितनी भारी असुविधाओं का सामना करना पड़ा होता।

स्मृतियाँ—ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का भी विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पराशर आदि की स्मृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। मनु की स्मृति इनमें अधिक प्रामाणिक है। इसकी रचना लगभग दूसरी ईस्वी सदी में हुई थी। मनु स्मृति से ही हमें तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था का ज्ञान अधिक प्राप्त होता है। शासन प्रबंध तथा राजा के कर्तव्यों के विषय में जो कुछ मनु ने लिखा है उससे तत्कालीन राजनीतिक चिन्तन का भी आभास मिलता है। इसी प्रकार विष्णु स्मृति से भी तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं का बोध होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति भी इसी कोटि का ग्रन्थ है।

छठी शताब्दी ईस्वी के लगभग नारद तथा बृहस्पति की स्मृतियों की रचना हुई। ये पूर्णतया कानून सम्बन्धी पुस्तकें हैं। राजा और प्रजा का सम्बन्ध किस प्रकार प्रिय हो, उनमें कैसे पारस्परिक घनिष्ठता हो इसका पूर्ण विवरण इन स्मृतियों में दिया गया है। प्रजा को विद्रोहिणी बनने से रोकने के लिए राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका भी उल्लेख इन ग्रन्थों में किया गया है। वर्णाश्रम धर्म के पालन पर भी जोर दिया गया है। इस प्रकार के वर्णन से तत्कालीन इतिहास का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वास्तव में छठी शताब्दी की सामाजिक अवस्था के अध्ययन में ये ग्रन्थ काफी सहायक सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त पराशर, अत्रि, हारीत, उशनस, अंगिरस, यम, संवर्त, कात्यायन, व्यास, शंख-लिखित, दक्ष, शातातप, काश्यप, गार्ग्य, प्रचेता आदि की स्मृतियाँ भी प्राचीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालती हैं। दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक के विचित्र सामाजिक उत्थान-पतन, धार्मिक अवस्थाओं की करवटों के सम्पूर्ण ज्ञान का परिचय

दो म स्मृतियो का बहुत बड़ा हाथ है। स्मृतियो की संख्याओ के विषय म डा० बनी प्रसाद न लिखा है कि पद्मपुराण न ३६, वृद्ध गौतम न ५६ या ५७ न पण्डित ने वजयन्ती म ५७ और वीर मित्रोदय म भिन्नभिन्न न ५७ स्मृतियाँ गिनाई हैं। इन सभी स्मृतियो म साधारण वर्णाश्रम धम राजा क कर्तव्य तथा श्राद्ध एव प्रायश्चित इत्यादि के विषय म प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार केवल सामाजिक तथा धार्मिक विषयो पर जितना इन स्मृतियो म लिखा हुआ है उतना सम्भवत अन्य किसी ग्रन्थ म नही।

अब्राह्मण ग्रन्थ

बौद्ध ग्रंथ—गौतम बुद्ध का अवतरण भारतीय इतिहास की सर्वोत्कृष्ट घटना केवल इसलिए नहीं है कि वे महात्मा थे। यह तो आध्यात्मिक जगत के लिए ग्राह्य है पर भौतिक दृष्टिकोण से भी यह अवतरण महान है। गौतम बुद्ध के अनुयायियो न जिस साहित्य का सृजन किया उसका उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक होते हुए भी भारतीय इतिहास की सामग्री उसमे बहुत कुछ निहित है। बौद्ध ग्रन्थो म त्रिपिटक अधिक महत्वपूर्ण है। सुत्त विनय तथा अभिधम्म तीनो मिलकर त्रिपिटक कहलाते हैं। सुत्त म दीघ मज्झिम, संयुक्त अंगुत्तर तथा खुद्दक पाँच निकाय हैं। इन सभी निकायो म बौद्ध सिद्धान्त तथा कहानियाँ हैं। सिद्धान्तो का ऐतिहासिक महत्व बहुत है क्योकि बौद्ध दर्शन के अध्ययन म ये काफी योग देते हैं। कहानियाँ भी तत्कालीन सामाजिक अवस्था का प्रसंगत वर्णन करती हैं। पातिमोक्ख महावग्ग चुल्लवग्ग सुत्तविभंग तथा परिवार म भिक्खु भिक्खुनियो के नियमो का वर्णन किया गया है। उपरोक्त पाँचो ग्रन्थ विनय के अन्तर्गत हैं। अभिधम्म के सात संग्रह हैं। इनमे तत्व ज्ञान की चर्चा की गई है। बौद्ध धर्म तथा तत्कालीन सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियो के अध्ययन म इन ग्रन्थो का महत्व काफी है।

त्रिपिटको की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये बौद्ध संघो के संगठन का पूर्ण विवरण उपस्थित करते हैं। साथ ही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का भी बोध कराते हैं।

जातक—बौद्ध ग्रन्थो म जातको का दूसरा स्थान है। इनकी संख्या लगभग ५४९ है। जातको के महत्व के विषय म सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान विन्टरनित्स ने लिखा है जातक केवल इसलिए ही अमूल्य नही कि उनकी साहित्य और उनकी कला का प्रकाशन बना है अपितु तीसरी शताब्दी ई पू की सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से भी उनका बड़ा ऊँचा मान है। जातको म भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथायें संग्रहीत हैं। यद्यपि इनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक है किन्तु इनके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र पर तो ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। कुछ जातको से बुद्ध पूर्व तथा बुद्ध कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियो का भी आभास मिलता है।

दीपवंस महावंस—त्रिपिटक तथा जातको के पश्चात दीपवंस तथा महावंस नामक दो पालि महाकाव्यो का स्थान है। मौर्य साम्राज्य के इतिहास का अध्ययन करने म ये दोनो ग्रन्थ अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। किन्तु इनकी सूचनाओ को स्वीकार करते समय तर्क एव विवेक से काम लेना आवश्यक है।

मिलिन्द पन्हो—यह अन्य पालि ग्रन्थ है। इस पुस्तक म यूनानी नरेश मिलिन्द या मिनान्डर और बौद्ध भिक्षु नागसेन का वार्तालाप है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन सामा

जिक तथा धार्मिक अवस्थाओं के अतिरिक्त आर्थिक अवस्था का भी पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। भारत के विदेशी व्यापार का तो इसमें सजीव चित्रण किया गया है। तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का भी प्रासंगिक विवरण इस पुस्तक में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त बौद्ध ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गए हैं। इनके बाद संस्कृत ग्रन्थों का विवरण दिया जायगा।

दिव्यावदान—सजीव संस्कृत गद्य की यह पुस्तक अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। अशोक तथा उनके उत्तराधिकारियों के विषय में इससे बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है।

मंजुश्री मूलकल्प—यह भी संस्कृत का ग्रन्थ है। इसमें मौर्य के पूर्व तथा हर्ष तक की राजनीतिक घटनाओं का बीच-बीच में उल्लेख मात्र कर दिया गया है। यह ग्रन्थ भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्व रखता है।

ललित विस्तार—इसमें महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन पर प्रकाश पड़ता है और प्रसंगतः तत्कालीन धार्मिक अवस्था तथा सामाजिक रीतियों का भी वर्णन प्राप्त हो जाता है।

अन्य बौद्ध ग्रन्थ भी भारत की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर कुछ न कुछ प्रकाश डालते हैं पर उन सब का वर्णन यहाँ वांछित नहीं है।

जैन ग्रन्थ

जैन ग्रन्थ—बौद्ध ग्रन्थों की भाँति जैन ग्रन्थ भी पूर्णतया धार्मिक हैं। इन ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्वन विशेष महत्वपूर्ण है। भद्रबाहुचरित्र दूसरा महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ-साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उपरोक्त दो प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त कथाकोष, पुण्याश्रव-कथाकोष, लोक विभाग त्रिलोक प्रज्ञप्ति, आवश्यक-सूत्र, भगवती सूत्र, कालिकापुराण आदि अनेक जैन ग्रन्थ भारतीय इतिहास की सामग्री उपस्थित करते हैं। जैन-साहित्य में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन नहीं हो सका है या उनका अन्य भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सका है जिससे बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्रियाँ नहीं प्राप्त की जा सकी हैं किन्तु कल्प-सूत्रों से जो कुछ सामग्री प्राप्त हो सकी है उसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

(२) इहलोकपरक साहित्य

जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है इहलोकपरक साहित्य पाँच प्रकार का है—(क) ऐतिहासिक (ख) अर्ध ऐतिहासिक (ग) विदेशी विवरण (घ) जीवनियाँ तथा (ङ) कल्पना प्रधान एवं गल्पसाहित्य (विशुद्ध साहित्य)।

(क) ऐतिहासिक ग्रन्थ

इतिहास का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारियों का वर्णन, शासन प्रबन्ध तथा अन्य राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी आती हैं। यहाँ ऐतिहासिक शब्द का जो वास्तविक अर्थ लिया गया है उसका तात्पर्य राजाओं तथा उनके शासन प्रबन्ध से है। इन पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का ही यहाँ स्थान दिया गया है।

✓ राजतरंगिणी—कल्हण की राजतरंगिणी ही प्राचीन भारतीय साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे ठीक अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसकी रचना ११४९-

५० ई० म हुई थी। राग इन विभिन्न हार र तथ्यो की विवेचना करना ही काश्मीरी पण्डित कल्हण का उद्देश्य था। राजतरगिणी में सगार का दृष्टिकोण पूणतया ऐतिहासिक था। उसने काश्मीर का पूर्ण इतिहास (आदिकाल से अपने काल तक का) लिखा है। विभिन्न ग्रन्थो के अध्ययन के पश्चात् ही कल्हण ने अपनी पुस्तक की रचना की। यद्यपि इस ग्रन्थ म कुछ काल्पनिक कथाओ का समावेश है पर सातवी शताब्दी ई० के पश्चात् का जो काश्मीरी इतिहास इस पुस्तक म वर्णित है उस पर पूर्ण विश्वास किया जा सकता है। काश्मीर के सभी राजाओ का क्रमानुसार वणन राजतरगिणी म किया गया है। दुख है कि केवल काश्मीर के इतिहास पर ही इस पुस्तक म पूर्ण प्रकाश डाला गया है यदि भारत के अन्य भागो के लिए भी कोई ऐसी पुस्तक होती तो आज ऐतिहासिक सामग्री के लिए इतनी कठिनाइयो का सामना न करना पड़ता—सम्भवत ऐसी कोई समस्या ही न उठती। राजतरगिणी को यदि भारतवर्ष का। प्रथम ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

अन्य काश्मीरी इतिहासकार—कल्हण ने साहित्य म एक नई धारा उत्पन्न कर दी जिसके अनुयायी अनेक काश्मीरी लेखक हो गये। राजतरगिणी म वर्णित तिथि क्रम का अनुसरण आने वाले सभी लेखको ने किया। इन लेखको म जोनराज श्रीवर प्राज्य भट्ट आदि विशेष उल्लेखनीय हैं पर इनके विषय म यहाँ और अधिक प्रकाश डालना इसलिए उचित नही कि इनके ग्रन्थो से प्राचीन भारत के इतिहास का कोई विशेष ज्ञान नही प्राप्त होता है और राजतरगिणी के सम्मुख इनका कोई महत्व नहा है। ये लगभग १४वी तथा १५वी शताब्दी के इतिहास का ही अधिक बोध कराते हैं।

गुजराती इतिहासकार—काश्मीर की भाँति गुजरात मे भी अपने वीरो के गुणगान तथा उनकी स्मृतियो को नवीन बनाने की प्रथा प्रचलित हुई। अनेकानेक कवियो तथा लेखको ने इस ओर सफल प्रयास किया। सोमेश्वर का नाम इनम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इनकी दो पुस्तकें रासमाला तथा कीर्ति-कौमुदी गुजराती इतिहास के कुछ पहलू पर काफी प्रकाश डालती हैं। अरिसिंह के सुकृति सकीर्तन राजशेखर के प्रबन्धकोष, जयसिंह के हम्मीरमद-मर्दन तथा वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति के अध्ययन से गुजरात का इतिहास आभासित हो जाता है। मेरुतुग का प्रबन्ध चिन्तामणि उदयप्रभा की सुकृतिकीर्ति-कल्लोलिनी तथा बालचन्द्र का वसन्तविलास भी ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनसे गुजरात का इतिहास मखरित हो उठता है। उपरोक्त सभी ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारो का उद्देश्य प्रशस्ति एव गुण-गान रहा है किन्तु इनमे ऐतिहासिक तथ्यो का भी अभाव नही। चालुक्य वश के अधीन गुजरात की ऐतिहासिक गतिविधि का तो सजीव चित्रण हम उपरोक्त ग्रन्थो से ही प्राप्त होता है।

सिन्ध एव नेपाल के इतिहासकार—काश्मीर तथा गुजरात के अतिरिक्त सिन्ध तथा नेपाल म भी स्थानीय इतिहास को लिखित रूप से देने की प्रथा का आविर्भाव हुआ था और कतिपय लेखको ने इस क्षेत्र म प्रयास भी किये पर कल्हण के स्वस्थ दृष्टिकोण के समान किसी भी लेखक का दृष्टिकोण न रहा। यही कारण है कि उनकी

नोट—जिन ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन ग्रन्थो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनका यथास्थान विशेष परिचय आगे के प्रकरणो में दिया जायगा। विद्यार्थियो को चाहिए कि उन ग्रन्थो के विशेष अध्ययन के लिए उन्हें अवश्य पढ़ें।

रचनाओं में सत्यता का अभाव है। राजाओं की तालिका देने में भी ये ग्रन्थ काल्पनिक सिद्ध हुए हैं। नेपाल के राजाओं की 'वंशावली' का महत्व इसलिए अधिक नहीं है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—वास्तव में राजतरंगिणी के बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ही स्थान है। प्राचीन आर्यों ने जीवन के उद्देश्य को चार भागों में विभाजित किया—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। धार्मिक साहित्य का सृजन जो कुछ उन्होंने किया और उससे प्राचीन इतिहास पर जो कुछ प्रकाश पड़ता है उसका उल्लेख किया जा चुका है। अर्थशास्त्र पर कौटिल्य की पुस्तक ही अधिक प्रामाणिक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और आज के अर्थशास्त्र में पर्याप्त अन्तर है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में तत्कालीन शासनपद्धति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। अभी हाल में ही दक्खिन में अर्थशास्त्र की एक प्रति प्राप्त हुई है जो कौटिल्य रचित है। अनुमान किया जाता है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री का लिखा हुआ है। ई० पू० चौथी शताब्दी की राजनीतिक अवस्था पर यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है। किन्तु इसकी रचना तिथि के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है जिसके विषय में आगे पूर्ण प्रकाश डाला जायगा। राजा का कर्तव्य शासन-व्यवस्था तथा न्यायादि अनेक गूढ़ विषयों का पूर्ण विवरण इस पुस्तक में दिया गया है। मौर्यकालीन इतिहास का तो मानो यह दर्पण है।

शुक्रनीतिसार—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ की अपनी उपयोगिता है। इसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज, उसके चिन्तन तथा उसकी प्रवृत्ति का पूर्ण ज्ञान होता है। राजनीति सम्बन्धी कुछ तथ्यों का ज्ञान (जो कि किसी विशेष राजा का नहीं है) हमें इसी प्रकार के नीतिग्रन्थों से होता है।

कामन्दकीय नीतिसार—लगभग सातवीं आठवीं शताब्दी ई० में कामन्दक ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनेकानेक सिद्धान्त अपनी पुस्तक नीतिसार में संग्रहीत किये तथा कुछ मौलिक पदों की रचना भी की। कामन्दकीय नीतिसार भी अर्थशास्त्र की भाँति प्रचलित हो गया और अनेकानेक संस्कृत टीकाकार तथा लेखकों ने इसे उद्धृत भी किया। कुछ राजनीति सिद्धान्तों का जिनका उल्लेख कौटिल्य ने किया है कामन्दक ने छोड़ दिया है। सम्भवतः वे समय के काफी पीछे पड़ चुके थे। मत्स्य तथा अग्नि पुराणों में भी उक्त नीतिसार के अधिकांश पद्य उद्धृत हैं। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समक्ष कामन्दकीय नीतिसार का उतना महत्व नहीं किन्तु उसी परिपाटी तथा ढर्रे में होने के नाते इस ग्रन्थ का भी ऐतिहासिक महत्व है। वास्तव में दसवीं शताब्दी ई० के राजस्व सिद्धान्त, राजा के कर्तव्य तथा अन्य सामाजिक रीतियाँ (जिनका सम्बन्ध राज्य तथा राज्य के हित से था) कामन्दकीय नीतिसार में अधिक स्पष्ट हो जाती हैं।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र की परिपाटी में कम से कम बीस ग्रन्थों की रचना हुई किन्तु वे या तो काल के प्रवाह में समाप्त हो गये या किसी विशाल राज्य ग्रन्थ की महानता में विलुप्त हो गये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पश्चात् केवल एक और अर्थशास्त्र प्राप्त होता है जो बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के नाम से विख्यात है। विषय की उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ को भी ऐतिहासिक ग्रन्थ की पंक्ति में रक्खा गया है। इसकी रचना तिथि के विषय में कोई प्रामाणिक मान्य प्रमाण नहीं है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसके कुछ अंशों की रचना नवीं तथा दसवीं शताब्दी ई० में हुई। मन्त्रिमण्डल में मन की एकता का प्रयत्न करना चाहिए नास्तिक

तथा मन्दिर गृहों का प्रबन्ध पूरा-पूरा होना चाहिये और सुविधा आराम तथा उन्नति के लिए राजा को सराय मन्दिर तालाब तथा पाठशालायें बनवानी चाहिए। इस प्रकार के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन राजनीतिक विचार धारा किस प्रकार बढ़ रही थी। मन्त्रिमण्डल तथा राजा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था और कैसा होना चाहिए था।

(ख) अर्ध ऐतिहासिक

जिस कसौटी पर ऐतिहासिक ग्रन्थ की गणना की गई है उसी कसौटी पर अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों का भी वर्णन का प्रयास किया जायगा। इस वर्ग में जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया जायगा उनके विषय में केवल इतना कह देना उचित होगा कि उनके लेखकों का उद्देश्य यद्यपि ऐतिहासिक न था पर जिस मार्ग का अनुसरण करके ग्रन्थ रचना की गई है वह इतिहास के समानान्तर है। अतः इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब आभासित होता है। इन अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में पाणिनी की अष्टाध्यायी गार्गसंहिता पतञ्जलि का महाभाष्य कालिदास का मालविकाग्नि-मित्र तथा विशाखदत्त का मुद्राराक्षस विशेष महत्वपूर्ण हैं, जिन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

पाणिनि की अष्टाध्यायी—यद्यपि यह एक व्याकरण का ग्रन्थ है किन्तु इससे मौर्य-पूर्व तथा मौर्यकालीन राजनीतिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में कुछ वैयाकरणों का उल्लेख किया गया है जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके पूर्व भी संस्कृत में कुछ अन्य व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई थी। कात्यायन का व्याकरण ग्रन्थ भी इतिहास की कुछ सामग्री उपस्थित करता है पर उसका महत्व बहुत अधिक नहीं है।

इस व्याकरण ग्रन्थ में उदाहरणस्वरूप जो नाम आये हैं अथवा जो वाक्य प्रस्तुत किये गये हैं उनसे अप्रत्यक्ष रूप में हमें धार्मिक इतिहास से सम्बन्धित कुछ सूत्र उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ का एक बहुत महत्वपूर्ण उपयोग तो तब देखने को मिलता है जब इसके भाष्यकार पतंजलि को जिसका उल्लेख आगे किया गया है इसी माध्यम पर कुछ नवीन सामग्रियाँ प्रस्तुत करते हुए पाते हैं।

गार्गसंहिता—यह पुराण का एक भाग है। इसमें यवन आक्रमणों का उल्लेख किया गया है। इसी ग्रन्थ से (कुछ अन्य साक्ष्यों को लेकर) हम प्रथम शती के लग-भग या इसके आसपास भारत पर यवनों का आक्रमण होना जानते हैं।

पतंजलि का महाभाष्य—यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी के विवादग्रस्त सिद्धान्तों तथा कुछ अबोधगम्य नियमों का सुस्पष्ट के अभिप्राय में ही पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की किन्तु प्रसंगत उदाहरणों तथा स्पष्टीकरण के रूप में जिन उपादानों का प्रयोग किया गया है उनसे प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होता है।

मालविकाग्निमित्र—यह सम्भवत महाकवि कालिदास का प्रथम नाटक है। पूर्णतया साहित्यिक प्रवृत्ति का होते हुए भी इस ऐतिहासिक नाटक को अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है। इस नाटक में नाटककार ने पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र तथा विदर्भराज की राजकुमारी मालविका की प्रेम-कथा को प्रदर्शित किया है। अग्निमित्र की ऐतिहासिकता सर्वमान्य है विदर्भराज की राजकुमारी

मालविका कहा तक इतिहास के निकट है यह प्रश्न सन्दिग्ध है। पर सत्य जो भी हो इस नाटक से शुग वश तथा उसके पूववर्ती राजवशो की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति का बोध होता है। राजकुलो के आन्तरिक जीवन का तो यह दपण है।

मुद्राराक्षस—विशाखादत्त-कृत यह नाटक यद्यपि कल्पना का आश्रय लेता हुआ अपनी साहित्यिकता की पूणता को प्राप्त कर पाता है पर चन्द्रगुप्त मौय, उसके मत्री चाणक्य तथा कुछ तत्कालीन राजाओ का उल्लेख करके यह इतिहास को सुलझाने म बहुत कुछ योग देता है। जितने राजाओ की तालिका मुद्राराक्षस म दी गई अथवा जिनम पात्रो का उल्लेख किया गया है उन सबको ऐतिहासिक मानना असम्भव है पर अधिकाश पात्र इतिहास स सम्बन्धित है। किस प्रकार एक राज्य का व्यक्ति दूसरे राज्य म आज्ञा पत्र (Passport) लेकर जाता था उस पर कितनी कडी निगरानी रक्खी जाती थी तथा ऐसी ही अय रीतियो एव नियमो का वणन हम मुद्राराक्षस से प्राप्त होता है। कौटिल्य के अथशास्त्र म जो कुछ वर्णित है उसके मूल तत्वो का नाटक रूप मुद्राराक्षस ही है। मलयकेतु पवतक आदि राजाओ को हम इतिहास म क्या स्थान दें तथा मत्री राक्षस का क्या ऐतिहासिक महत्व है यह प्रश्न यहाँ विषयेतर है पर इतना अवश्य कहना होगा कि भारत के प्रथम शक्तिशाली सम्राट चद्रगुप्त मौय के राज्यारोहण के पश्चात के सघर्षों एव कठिनाइयों का बोध हमें इस नाटक से काफी स्पष्ट रूप से हो जाता है। चद्रगुप्त मौय के दण्ड विधान की कठोरता की घोषणा इस नाटक म स्वय चाणक्य करता है। संस्कृत साहित्य का सम्भवत यह प्रथम जासूसी नाटक (यद्यपि इस ऐतिहासिक नाटक की सज्ञा दी गई है) मौय कालीन भारत पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

(ग) विदेशी विवरण

भारतीय सामग्रियो के अतिरिक्त हमारे इतिहास की कुछ अभारतीय सामग्री भी प्राप्त होती है जिसस इतिहास सम्बन्धी अनेकानेक महत्वपूण तथ्यो का बोध होता है। ये सामग्रियाँ उत्साही यात्रियो, धमनिष्ठ भ्रमणशील विद्यार्थियों एव विदेशी इतिहासकारो की रचनाओ स प्राप्त होती है और इसीलिए इन्हें विदेशी विवरण की सज्ञा दी गई है। विदेशी विवरण का महत्व भारतीय इतिहास का तिथि क्रमानुसार अध्ययन करने म सवमा य है। वास्तव म भारतीय सामग्रियो की कमी की पूर्ति करने वाले म विदेशी विवरण ही हैं। जहाँ हिंदू जैन तथा बौद्ध ग्रथ मौन हो जाते हैं वहाँ म विदेशी विवरण ही इतिहासकार को कुछ प्रकाश दे पाते हैं।

प्राचीन सम्य देशो म से एक होने के नाते भारत म प्राचीन काल स ही विदेशी यात्रियो की बाढ़ें आती रहीं। धन धम तथा भ्रमण हर प्रकार की भावना लेकर यहाँ यात्रियो के काफिले आये। विदेशी विवरण मे विदेशियो के उन वणनो को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिसे लेखको ने सुनकर लिखा है। जिन विदेशी जातियो के भ्रमण पयटन तथा लेखको का इस क्षेत्र म विशेष महत्वपूण स्थान है उनम यूनानी रोमन, चीनी, तिब्बती तथा मुसलमान अधिक प्रसिद्ध है।

विदेशी विवरणो के सम्बन्ध म एक बात प्रारम्भ म उल्लेखनीय है कि इनकी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। यूनानी रोमन, चीनी तिब्बती आदि भारतीय परम्परा स प्राय अपरिचित थे। उनम से बहुतो को हमारी भाषा का ज्ञान न था। ऐसी स्थिति म इनकी रचनाओ या इनके विवरणो म कुछ भ्रामकता के दशन स्वभावत होते हैं।

टेरियम विचित्र रीति रिवाजों की तालिका दे सकता है। प्राचीन तथा जैनमोग का हर मंदिर और विहार दिखाई पड़ सकता था और अल्बरूनी ग्यारहवीं शताब्दी में भी आँख मूँद बैठे हुए पहली सदी ई० पू० के भारत का चित्र खींच सकता था यद्यपि यह प्रथा और उस प्राचीन प्रचण्डता के मध्यकालीन वंशजों की गाथा को नहीं समझ सकता था। पर इन सीमाओं के होते हुए भी हम विदेशियों के विवरणों के महत्व को कम नहीं कर सकते हैं। हम भारतीय इतिहास के साधनों का उल्लेख करते समय विदेशी विवरणों को इसीलिए और अधिक महत्व देते हैं कि उनमें से कुछ तो राजदूत के रूप में भी आये हैं जो प्राय उत्तरदायित्वपूर्ण हैं। स्वतंत्र पर्यटकों की लगन एवं उनका उत्साह भी सराहनीय रहा है।

यूनानी—यूनानी विवरणों को सुविधानुसार तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया है—(१) सिकन्दर पूर्व (२) सिकन्दरकालीन तथा (३) सिकन्दर के बाद।

(१) सिकन्दर पूर्व—सिकन्दर पूर्व के लेखकों में स्काईलाक्स हेकेटियस हेरोडोटस तथा टसियस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्काईलाक्स यूनानी सैनिक था। लगभग छठी शताब्दी ई० पू० में यह अपने स्वामी पारसीक सम्राट दारा के आदेशानुसार सिंधु नदी का पता लगाने आया था। अपने प्रयास में वह सफल हुआ। उसने अपनी यात्रा का विवरण लिपिबद्ध किया जो अपने वास्तविक रूप में हमें भले ही प्राप्त न हो सका हो पर अरस्तू द्वारा उद्धृत अंशों से इस बात का बोध होता है कि तत्कालीन भारतीयों में प्रजा की अपेक्षा राजा को उच्चकुलीन मानने की प्रथा थी।[१] कुछ अन्य काल्पनिक एवं मनगढ़न्त बातों का भी उल्लेख स्काईलाक्स ने किया है। हेकेटियस भी इसी युग का लेखक था जिसका विवरण स्काईलाक्स की कोटि का ही है। उपरोक्त दोनों लेखकों के वर्णन से कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य नहीं प्राप्त होता। इनसे केवल इतना जाना जा सकता है कि भारत तथा विदेशियों का सम्बन्ध उस प्राचीन युग में स्थापित हो चुका था। वास्तव में सिकन्दर पूर्व के लेखकों में हेरोडोटस तथा टसियस ही महत्वपूर्ण हैं। हेरोडोटस तथा टसियस के ज्ञान-साधन पारसीक लेखक ही रहे होंगे। हेरोडोटस तो कुछ सीमा तक ऐतिहासिक सामग्रियाँ अगणित काल्पनिक वर्णनों के पुञ्ज में दे देता था पर टसियस केवल गल्प-कथाओं में ही उलझा रह गया। हेरोडोटस ने लिखा है कि भारतीय अत्यन्त युद्ध प्रिय हैं। हर प्रकार के सुन्दर वस्त्रों का प्रयोग यह जाति जानती है। पर यहाँ यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि जिस जाति को हेरोडोटस भारतीय की उपाधि दे रहा है वह कौन था? वास्तव में हेरोडोटस की परिचित भारतीय जाति पारसीक सीमा की बर्बर जातियाँ थीं। काबुल की घाटियों में बसने वाली पर्वतीय जातियों से ही वह परिचित था अतः जिसे वह भारतीय जातियाँ बतलाता है उससे उन असभ्य एवं बर्बर जातियों का ही बोध होता है जो भारतवर्ष के सीमान्त भागों में निवास करती थीं। सभ्य भारत से हेरोडोटस बिल्कुल ही परिचित न था। भारतीय रीति रिवाज रहन-सहन तथा सभ्यता से अपरिचित होने के कारण हेरोडोटस का विस्तृत विवरण भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक मूल्य नहीं रखता है। लगभग पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में हेरोडोटस ने अपने ग्रन्थ की रचना की थी।

टसियस ईरान के सम्राट आर्टजरेक्सस का राजवैद्य था। इसने भी भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है पर इसके वर्णन में कितना सत्य और कितना असत्य है,

[१] देखिये *Cambridge History of India* Part I p 33

केवल इतना ही पता लगाने में जितना अन्वेषण करना पड़ेगा उतने परिश्रम में हम किसी दूसरे साधन द्वारा ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिकन्दर-पूर्व के विवरणों में भारतवर्ष, उसके रीति रिवाज, रहन सहन आदि का प्रचुर उल्लेख होते हुए भी उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। वास्तव में इन विवरणों को अन्य साक्ष्यों द्वारा प्रामाणिक बना कर बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त की जा सकती है, और यदि और कुछ नहीं तो उनकी इस उपयोगिता को तो मानना ही पड़ेगा कि इन्हीं विवरणों से प्रभावित होकर, आनेवाले लेखकों ने भारतवर्ष का वर्णन किया जो बहुत कुछ सत्य के निकट है और जिनसे हमारे इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

(२) सिकन्दर कालीन—सिकन्दर के तूफानी आक्रमण की भीषणता तथा भयंकरता को हम भले ही भुला दें किन्तु भारतीय इतिहास की सामग्रियों के अन्वेषण के क्षणों में उस विजेता की स्मृति आ जाती है। सिकन्दर के साथ कुछ ऐसे भी उत्साही व्यक्ति आये थे जिन्होंने अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया। इन लेखकों में अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस, युमेनीस आदि प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों ने सिकन्दर के आक्रमण का सजीव चित्रण किया है। यद्यपि इनके ग्रन्थ मूलरूप में उपलब्ध नहीं किन्तु इनके परवर्ती लेखकों ने इनके ग्रन्थों के आधार पर या इन ग्रन्थों के उद्धरणों को लेकर जिन ग्रन्थों की रचना की उनसे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से उपरोक्त लेखकों का महत्व अधिक है।

(३) सिकन्दर के बाद—सिकन्दर के भारत से लौट जाने के पश्चात बहुत-से यूनानी लेखक राजदूत या यात्री के रूप में भारत आये। कुछ लेखकों ने सिकन्दर के अनुयायियों के आधार पर ही ग्रन्थ रचना की जिससे भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इन लेखकों में मेगस्थनीज, प्लिनी, टालेमी, डायमेकस, डायोडोरस, प्लूटार्क, एरियन, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रेबो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मेगस्थनीज यूनानी शासक सेल्यूकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। मेगस्थनीज कुछ दिनों तक (सम्भवतः ६ वर्षों तक) पाटलिपुत्र में निवास करके वापस लौट गया। उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि इसकी मूल पुस्तक उपलब्ध नहीं किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं जिससे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। किन्तु मेगस्थनीज तथा अन्य यूनानी लेखकों के विवरण में बहुत कुछ कमियाँ हैं। इस अभाव का मूल कारण यह है कि वे भारतीय भाषा तथा रीति रिवाज से अपरिचित थे। मेगस्थनीज जो भारतीय समाज का जो वर्गीकरण करता है उससे इस कथन की पुष्टि हो जाती है। मेगस्थनीज की पुस्तक इण्डिका के सहारे कतिपय यूनानी तथा रोमीय लेखकों ने भारतवर्ष का वर्णन किया है अतः इस दृष्टि से मेगस्थनीज का महत्व बहुत अधिक है।

राजदूत के रूप में दूसरा व्यक्ति डायमेकस भारतवर्ष आया था। यह सीरिया के राजदरबार से आया था और अमित्रघात (बिन्दुसार) के दरबार में कुछ दिनों तक रहा। इसी प्रकार डायोनीसियस भी राजदूत के रूप में भारतवर्ष आया था। उपरोक्त दोनों लेखकों के मूल ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता—हाँ इनके परवर्ती

लेखकों ने इसके नाम का उल्लेख किया है और साथ ही इसके विवरण का भी अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है जिसके आधार पर कुछ जाना जा सकता है।

अन्य यूनानी लेखकों के केवल नाम ही गिनाये जा सकते हैं क्योंकि उनके विवरण का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं है। जो यात्री भारत के जिस कोने में पहुँच पाया उसी उस आधार पर ही सम्पूर्ण भारत का चित्रण कर दिया।

टॉलमी दूसरा लेखक है जिसका नाम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय है। लगभग दूसरी शताब्दी ई० में इसने भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित एक पुस्तक लिखी। टॉलमी का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक था और इसके विवरण में सत्य का अंश अधिक है। यद्यपि भारत के भूगोल तथा उसके मानचित्र का ठीक-ठीक विचार टॉलमी के मस्तिष्क में नहीं आया था तथापि उसका प्रयास पूर्णतया असफल नहीं माना जा सकता।

टॉलमी के बाद प्लिनी का नाम लिया जा सकता है। इसकी पुस्तक नेचुरल हिस्ट्री का भी इस क्षेत्र में बहुत महत्व है। प्लिनी ने भारतवर्ष के पशुओं पौधों तथा खनिज पदार्थों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक लगभग प्रथम शताब्दी ई० में लिखी गई थी।

एरियन के लेख भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारत पर मकदूनिया के विजेता के आक्रमण के विषय में कोई भी भारतीय ग्रन्थ प्रकाश नहीं डालता है। ऐसी अवस्था में यदि उपरोक्त लेखकों ने अपनी पुस्तकों की रचना न की होती तो सिकन्दर के आक्रमण का कोई ज्ञान हम नहीं प्राप्त हो सकता था। अतः इनकी उपयोगिता निर्विवाद है।

कर्टियस जस्टिन तथा स्ट्रैबो की देन को हम भूल नहीं सकते। उनके विवरण में चाहे जितना भी अतिरञ्जन हो चाहे जितनी भी काल्पनिक उड़ान हो पर वे हमारे इतिहास के उलझे प्रश्नों को सुलझाने या उनका आंशिक ज्ञान कराने में निश्चय ही सहायक होते हैं।

एक अज्ञात लेखक की पुस्तक 'इरिथियन सागर का पेरिप्लस' भी ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती है। भारतीय वाणिज्य पर इससे अधिक प्रकाश पड़ता है जो सम्भवतः अन्य किसी साधन से न प्राप्त होता।

ईजिप्ट के मठाधीश कासमस की इंडिका प्लुस्टस की पुस्तक क्रिश्चियन टोपोग्राफी आफ दि यूनिवर्स का भी उतना ही महत्व है। इस पुस्तक का रचना-काल लगभग ५४७ ई० है।

चीनी—धार्मिक साहित्य का वर्णन करते हुए हमने महात्मा गौतम बुद्ध के अवतरण के महत्व पर एक दृष्टि डाली थी। यहाँ पुनः उसी महत्ता की पुनः स्मृति सहसा आ जाती है। भारतीय इतिहास को उज्ज्वल बनाने के साथ ही महात्मा गौतम बुद्ध हमारे इतिहास के तिमिराच्छादित अंगों को प्रकाशयुक्त बनाने का भी उपचार अज्ञात रूप में छोड़ गये। वह उपचार बौद्ध धर्म की प्रेरणा का फल था। भारत का बौद्ध धर्म लगभग प्रथम शताब्दी ई० में चीन पहुँचा तो चीन निवासियों के हृदय में भारतवर्ष के प्रति एक विशेष रुचि उत्पन्न हो गई। धार्मिक तथ्यों के अन्वेषण तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए चीनी यात्री लालायित हो उठे। उन्हें यह भी अटल विश्वास था कि गौतम बुद्ध की पावन जन्मभूमि निश्चय देश

नीय तथा आध्यात्मिकता का बोध होगी। इन्ही आकांक्षाओं से वशीभूत होकर चीनी भारतवर्ष आये और अपनी यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त उन्होंने लिपिबद्ध किया। चीनी साहित्य से भारतीय इतिहास के एक लम्बे युग का परिचय प्राप्त हो जाता है। यात्रियों का दृष्टिकोण यद्यपि पूर्णतया धार्मिक था और किसी भी वस्तु को वे उसी दृष्टिकोण से देखते थे जिसके फलस्वरूप उनका वर्णन पक्षपातग्रस्त है तथापि उनके विवरणों में से इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त हो जाती है।

चीन के प्रथम इतिहासकार शुमाशीन ने लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० में इतिहास की एक पुस्तक लिखी। शुमाशीन की इस पुस्तक से प्राचीन भारत पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। शुमाशीन के पूर्व अन्य किसी चीनी लेखक ने भारतवर्ष से सम्बन्धित किसी विषय पर प्रकाश नहीं डाला था।

जिन चीनी व्यक्तियों का इस सम्बन्ध में विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है वे तीन यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग हैं।

फाह्यान ३९९ ई० में यात्रा की कठोर यातनायें सहता हुआ भारतवर्ष आया। लगभग १५-१६ वर्ष तक यह धर्म जिज्ञासु भारतवर्ष में रहा और बौद्धधर्म सम्बन्धी तथ्यों का ज्ञानार्जन करता रहा। उस समय भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। यात्री ने गंगावर्ती प्रान्तों के शासन प्रबन्ध तथा सामाजिक अवस्था का पूर्ण विवरण लिपिबद्ध किया। फाह्यान की पुस्तक आज भी अपने मूल रूप में प्राप्य है तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। यद्यपि फाह्यान ने भारतवर्ष के अधिकांश भागों का भ्रमण किया था तथा भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और ऐसी दशा में यूनानी लेखकों की अपेक्षा उसे भारतीय इतिहास पर कुछ प्रामाणिक ढंग से लिखने की बहुत कुछ सुविधायें थीं किन्तु धार्मिक संकीर्णता ने उसका दृष्टिकोण संकुचित कर दिया और वह धार्मिक विषयों के अतिरिक्त इहलौकिक विषयों की ओर बहुधा उदासीन रह गया जिससे उसका विवरण अधूरा सा लगता है। पर बौद्ध धर्म के विषय में फाह्यान ने जो कुछ लिखा है वह पर्याप्त है। फाह्यान बौद्ध सिद्धान्तों परिपाटियों नियमों तथा उसकी प्रगतियों के विषय में हमें पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है।

चीनी यात्रियों में ह्वेनसांग का स्थान अधिक ऊँचा है। यह लगभग ६२९ ई० में भारतवर्ष आया। उस समय हर्षवर्धन भारत का सम्राट था। ह्वेनसांग बड़ा जिज्ञासु एवं उत्साही व्यक्ति था। उसने अपने जीवन के सोलह वर्ष भारतवर्ष के मठों विहारों तीर्थस्थानों तथा विश्वविद्यालयों के दर्शन में बिताये। केवल दक्षिणी भारत को छोड़ कर ह्वेनसांग ने लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वह राज सभाओं में भी गया। नालन्दा तथा कान्यकुब्ज (कन्नौज) में जहाँ उस समय हर्ष राज्य कर रहा वह अधिक समय तक रहा। इसने पाश्चात्य संसार के देश नामक ग्रंथ की रचना की। हर्षवर्धन के शासन-काल की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ परिचय ह्वेनसांग की पुस्तक में प्राप्त हो जाता है। धार्मिक अवस्था का तो इसने बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। अपने स्वच्छ दृष्टिकोण के कारण ही ह्वेनसांग 'यात्रियों का सम्राट' कहा जाता है। फाह्यान तथा इत्सिंग ने अपने समय के सम्राटों का नाम तक नहीं लिया है जब कि ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन तथा उसके समसामयिक अन्य राजाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा है। जिन जिन राज्यों से होकर उसने अपनी यात्रा समाप्त की उन सबका संक्षिप्त वर्णन उसने किया साथ ही ह्वेनसांग ने सम्पूर्ण

लेखकों ने इनके नाम का उल्लेख किया है और साथ ही इनके विवरण को भी अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है जिसके आधार पर कुछ जाना जा सकता है।

अन्य यूनानी लेखकों के केवल नाम तक ही गिनाये जा सकते हैं क्योंकि उनके विवरण का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं है। जो यात्री भारत के जिस भाग में पहुँच पाया उसने उस आधार पर ही सम्पूर्ण भारत का चित्रण कर दिया।

टॉलमी दूसरा लेखक है जिसका नाम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय है। लगभग दूसरी शताब्दी ई० में इसने भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित एक पुस्तक लिखी। टॉलमी का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक था अतः इसके विवरण में सत्य का अंश अधिक है। यद्यपि भारत के भूगोल तथा उसके मानचित्र का ठीक-ठीक विचार टॉलमी के मस्तिष्क में नहीं आया था तथापि इसका प्रयास पूर्णतया असफल नहीं माना जा सकता।

टॉलमी के बाद प्लिनी का नाम लिया जा सकता है। इसकी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री' का भी इस क्षेत्र में विशेष महत्व है। प्लिनी ने भारतवर्ष के पशुओं पौधों तथा खनिज पदार्थों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक लगभग प्रथम शताब्दी ई० में लिखी गई थी।

एरियन के लेख भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारत पर मकदूनिया के विजेता के आक्रमण के विषय में कोई भी भारतीय ग्रन्थ प्रकाश नहीं डालता है। ऐसी अवस्था में यदि उपरोक्त लेखकों ने अपनी पुस्तकों की रचना न की होती तो सिकन्दर के आक्रमण का कोई ज्ञान हमें नहीं प्राप्त हो सकता था। अतः इनकी उपयोगिता निर्विवाद है।

कर्टियस, जस्टिन तथा स्ट्रैबो को भी हम भूल नहीं सकते। उनके विवरण में चाहे जितना भी अतिरंजन हो चाहे जितनी भी काल्पनिक उड़ान हो पर वे हमारे इतिहास के उलझे प्रश्नों को सुलझाने या उनका आंशिक ज्ञान कराने में निश्चय ही सहायक होते हैं।

एक अज्ञात लेखक की पुस्तक 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस' भी ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती है। भारतीय वाणिज्य पर इसमें अधिक प्रकाश पड़ता है जो सम्भवतः अन्य किसी साधन से न प्राप्त होता।

ईजिप्ट के व्यापारी कासमस की इंडिको प्लूस्टस की पुस्तक 'क्रिश्चियन टोपोग्राफी' [illegible] का भी उतना ही महत्व है। इस पुस्तक का रचना-काल लगभग ५४७ ई० है।

चीनी—धार्मिक साहित्य का वर्णन करते हुए हमने महात्मा गौतम बुद्ध के अवतरण के महत्व पर एक दृष्टि डाली था। यहाँ पुनः उसी घटना की पुनः स्मृति सम्मुख आ जाती है। भारतीय इतिहास का जो कुछ वर्णन है उसके साथ ही महात्मा गौतम बुद्ध हमारे इतिहास के तिमिराच्छादित युगों को प्रकाशयुक्त बनाने को भी उत्तरदायी प्रमाणित हो चुके हैं। वे उस बौद्ध धर्म के प्रणेता भी थे। भारत का बौद्ध धर्म लगभग प्रथम शताब्दी ई० में चीन पहुँचा तो चीन-निवासियों के हृदय में भारतवर्ष के प्रति एक विशेष रुचि उत्पन्न हो गई। धार्मिक ग्रन्थों के अन्वेषण तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए चीनी यात्री लालायित हो उठे। उन्हें यह भी अभिलाषा थी कि गौतम बुद्ध की पवित्र जन्मभूमि के दर्शन

नीय तथा आध्यात्मिकता का काय होगी। इन्ही आकांक्षाओं के वशीभूत होकर चीनी भारतवर्ष आये और अपनी यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त उन्होंने लिपिबद्ध किया। चीनी साहित्य से भारतीय इतिहास के एक लम्बे युग का परिचय प्राप्त हो जाता है। यात्रियों का दृष्टिकोण यद्यपि पूर्णतया धार्मिक था और किसी भी वस्तु को वे उसी दृष्टिकोण से रखते थे जिसके फलस्वरूप उनका वर्णन पक्षपातग्रस्त है तथापि उनके विवरणों में से इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त हो जाती है।

चीन के प्रथम इतिहासकार सुमाशीन ने लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० में इतिहास की एक पुस्तक लिखी। सुमाशीन की इस पुस्तक से प्राचीन भारत पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। सुमाशीन के पूर्व अन्य किसी चीनी लेखक ने भारतवर्ष से सम्बन्धित किसी विषय पर प्रकाश नहीं डाला था।

जिन चीनी व्यक्तियों का इस सम्बन्ध में विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है वे तीन यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग हैं।

फाह्यान ३९९ ई० में यात्रा की कठोर यातनायें सहता हुआ भारतवर्ष आया। लगभग १५–१६ वर्ष तक यह धर्म जिज्ञासु भारतवर्ष में रहा और बौद्धधर्म सम्बन्धी तथ्यों का अन्वेषण करता रहा। उस समय भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। यात्री ने गंगावर्ती प्रान्तों के शासन प्रबन्ध तथा सामाजिक अवस्था का पूर्ण विवरण लिपिबद्ध किया। फाह्यान की पुस्तक आज भी अपने मूल रूप में प्राप्य है तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। यद्यपि फाह्यान ने भारतवर्ष के अधिकांश भागों का भ्रमण किया था तथा भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और ऐसी दशा में यूनानी लेखकों की अपेक्षा उसे भारतीय इतिहास पर कुछ प्रामाणिक ढंग से लिखने की बहुत कुछ सुविधायें थीं किन्तु धार्मिक संकीर्णता ने उसका दृष्टिकोण संकुचित कर दिया और वह धार्मिक विषयों के अतिरिक्त इह लोकपरक विषयों की ओर बहुधा उदासीन रह गया जिससे उसका विवरण अधूरा सा लगता है। पर बौद्ध धर्म के विषय में फाह्यान ने जो कुछ लिखा है वह पर्याप्त है। फाह्यान बौद्ध सिद्धान्तों, परिपाटियों, नियमों तथा उसकी प्रगतियों के विषय में हमें पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है।

चीनी यात्रियों में ह्वेनसांग का स्थान अधिक ऊँचा है। यह लगभग ६२९ ई० में भारतवर्ष आया। उस समय हर्षवर्धन भारत का सम्राट था। ह्वेनसांग बड़ा ही जिज्ञासु एवं उत्साही व्यक्ति था। उसने अपने जीवन के सोलह वर्ष भारतवर्ष के मठों, विहारों, तपस्थानों तथा विद्यापीठों के दर्शन में बिताये। केवल दक्षिणी भारत को छोड़ कर ह्वेनसांग ने लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वह राज सभाओं में भी गया। नालन्दा तथा कान्यकुब्ज (कन्नौज) में जहाँ उस समय हर्ष राज्य कर रहा वह अधिक समय तक रहा। इसने पाश्चात्य संसार के दर्शन नामक ग्रन्थ की रचना की। हर्षवर्धन के शासन-काल की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ परिचय ह्वेनसांग की पुस्तक से प्राप्त हो जाता है। धार्मिक अवस्था का तो इसने बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। अपने स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण ही ह्वेनसांग यात्रियों का सम्राट कहा जाता है। फाह्यान तथा इत्सिंग ने अपने समय के सम्राटों का नाम तक नहीं लिया है जब कि ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन तथा उसके समसामयिक अन्य राजाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा है। जिन जिन राज्यों से होकर उसने अपनी यात्रा समाप्त की उन सबका संक्षिप्त वर्णन उसने किया साथ ही ह्वेनसांग ने सम्पूर्ण

भारत की सामान्य अवस्था पर भी विशेष प्रकाश डाला। ह्वेनसांग के वर्णन के अभाव में सातवीं शताब्दी ई० का भारतीय इतिहास सम्भवतः इतना अधिक सुलझा हुआ न होता—कम से कम हर्षकालीन सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था के बोध के लिए तो हमें काफी भटकना पड़ता। अन्य सामग्रियों के साथ तो ह्वेनसांग के वृत्तान्त का अध्ययन अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

लगभग ६७३—९५ ई० के बीच इत्सिंग नामक एक अन्य चीनी ने भारतवर्ष की यात्रा की। इसने भारतवर्ष की तत्कालीन धार्मिक अवस्था (विशेषकर बौद्ध धर्म की अवस्था) का सजीव चित्रण किया है। इसका वर्णन यद्यपि ह्वेनसांग के समक्ष हल्का पड़ता है पर फाह्यान के वर्णन से इसकी उपयोगिता कम नहीं।

उपर्युक्त तीन सुप्रसिद्ध यात्रियों के अतिरिक्त कुछ अन्य चीनी लेखकों से भी भारतीय इतिहास की सामग्री प्राप्त होती है। उन लेखकों में ह्वली अधिक प्रसिद्ध है। यह ह्वेनसांग का मित्र था। इसने ह्वेनसांग की जीवनी लिखी जिसके अध्ययन से भारतीय इतिहास की कुछ सामग्री प्राप्त होती है।

तिब्बती—तिब्बती लेखक लामा तारानाथ के ग्रन्थों कग्युर तथा तग्युर से भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। वास्तव में चीनी तथा तिब्बती लेखकों से ही मौर्यकाल के उपरान्त से लेकर शक, पार्थियन तथा कुषाण आदि के काल तक के अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है।

अरब—ई० पू० ९वीं शताब्दी तक पश्चिमी एशिया से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और प्रति वर्ष असंख्य व्यापारी एक दूसरे देशों में आया जाया करते थे। कालान्तर में कुछ भारतीय शासकों ने पश्चिमी एशियाई नरेशों से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया। ८वीं शताब्दी ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार स्थापित कर लिया। तब से अरबों और भारतीयों का सम्पर्क अधिक बढ़ गया और अरबी इतिहासकारों को भारत के विषय में भी कुछ लिखने की प्रेरणा मिली। कुछ अरबी इतिहासकारों ने प्रसंगतः भारतवर्ष के विषय में कुछ लिख दिया है पर इन सब का वर्णन हमारे इतिहास की प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। इन इतिहासकारों में अधिक प्रसिद्ध हैं (इनकी पुस्तकों के नाम उनके सामने कोष्ठक में लिख दिये गये हैं)—

सुलेमान (सिलसिलाउत-तवारीख) अलमसूदी (मुरजुलजहाब) अलबिलादुरी (फुतूहुल-बुल्दान) तथा अबू जैद हसन इब्नहौकल तथा अलइदरीसी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासकारों के ग्रन्थों से भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। प्राचीन भारत के इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डालने वाले मुस्लिम लेखकों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध नाम अल्बरूनी का है। अल्बरूनी की विलक्षण बुद्धि अनुपमेय प्रतिभा प्रशंसनीय धैर्य तथा अजेय उत्साह के आगे आज तक के सारे यात्री फीके पड़ जाते हैं। भारतीय साहित्य के माध्यम द्वारा भारतीय संस्कृति एवं कला-कौशल के अध्ययन में जितनी रुचि अल्बरूनी ने ली उतनी इसके पूर्व सम्भवतः किसी विदेशी ने न ली थी। भारतवर्ष के इतिहास को लिखने में जिस परिश्रम तथा धैर्य से अल्बरूनी ने काम लिया उतना अन्य किसी विदेशी लेखक ने नहीं। वास्तव में अल्बरूनी को भारतवर्ष का इतिहास लिखने वाला प्रथम विदेशी इतिहासकार कहा जा सकता है।

जिस समय ११वीं शताब्दी ई० में महमूद गजनवी भीषण नर-संहारों, लूट मारों तथा रक्त-प्लावन में लीन था उसका दरबारी विद्वान अल्बरूनी साहित्य-सागर में डुबकियाँ

लगाकर असंख्य बहुमूल्य मणियों का अन्वेषण कर रहा था। भारतीय समाज, धर्म, विद्या, ज्योतिष, गणित तथा अन्य ललित कलाओं के अध्ययन में अल्बरूनी तन्मय हो गया था। उसने अपने अध्ययन को विस्तृत पुस्तक का रूप दिया। लगभग १०३० ई० में अल्बरूनी ने इस पुस्तक की रचना की थी। यह पुस्तक 'तहकीके हिन्द' के नाम से विख्यात है। अल्बरूनी की पुस्तक भारतीय समाज का दर्पण है और यदि अत्युक्ति न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि यह पुस्तक प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में अद्वितीय है किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अल्बरूनी की पुस्तक किस युग की सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्था का वर्णन करती है। अल्बरूनी तो ११वीं शताब्दी में भारत आया था पर उसने आँख के स्थान पर मस्तिष्क से अधिक काम लिया और वह भारतीय समाज को धरती पर न देखकर कागजों पर देखने लगा। जो कुछ प्राचीन ग्रन्थकारों ने भारतवर्ष के विषय में विभिन्न भाषाओं में लिखा था—चाहे वह विषय धर्मशास्त्र रहा हो चाहे अर्थशास्त्र अथवा चाहे समाज या कला सम्बन्धी शास्त्र वही अल्बरूनी के ज्ञान का माध्यम हो गया। अल्बरूनी की जिज्ञासा भारतीय इतिहास की खोज की ओर बहुत थी जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है किन्तु उसने अपनी जिज्ञासा की तुष्टि का समुचित साधन ढूँढने में कुछ भूल अवश्य की। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में अल्बरूनी ने जितना लिखा है यदि उसका शतांश भी प्रामाणिक ढंग से राजनीतिक विषय पर कुछ लिखा गया होता तो उसकी पुस्तक का स्थान आज भारतीय इतिहास के अन्य ग्रन्थों में कहीं अधिक ऊँचा होता। फिर भी अल्बरूनी का प्रयास अत्यन्त सफल रहा और हमारे लिये तो उसका विशेष महत्व है।

(घ) जीवनियाँ

साहित्यिक सामग्रियों में जीवनियों का काफी महत्व है। इन जीवनियों को यदि प्रशस्ति काव्य कहा जाय तो अनुचित न होगा क्योंकि इनमें लेखकों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। उन लेखकों का दृष्टिकोण पूर्णतया साहित्यिक था। वास्तव में साहित्य-सृजन के निमित्त ही उन्होंने राजाओं का परम्परानुसार आश्रय लिया था। अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण ही वे आज तक सम्मानित हैं। इन जीवनी-लेखकों अथवा प्रशस्ति-गायकों की संख्या बहुत है पर उनमें से कुछ ही ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। एक साहित्यिक ग्रन्थ में उपमाओं की जो श्रेणी अलंकारों की जैसी अलंकार तथा अत्युक्ति की जो युक्ति होनी चाहिए वे सब इन जीवनियों में हैं। इन ग्रन्थों की साहित्यिकता ही इनकी ऐतिहासिकता को ठेस पहुँचाती है। हर्षचरित, रामचरित, विक्रमांकदेवचरित, पृथ्वीराज विजय, पृथ्वीराजचरित, कीर्ति-कौमुदी, गौडवाहो, नवसाहसांकचरित, विक्रमादित्यचरित, कुमारपालचरित, भोजप्रबन्ध तथा हम्मीरकाव्य आदि अनेक ग्रन्थ इन जीवनियों के अन्तर्गत आते हैं।

हर्षचरित—जीवनी-साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हर्षचरित का बहुत ऊँचा स्थान है। इस आख्यायिक संस्कृत गद्य की रचना संस्कृत गद्याचार्य बाणभट्ट ने लगभग ६२० ई० में की थी। बाण कन्नौज तथा थानेश्वर के राजा हर्ष के दरबार में रहता था। अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय बाण ने हर्षचरित के अतिरिक्त अपने अन्य ग्रन्थ कादम्बरी में भी दिया किन्तु कादम्बरी का कोई महत्व ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने में नहीं है। बाण ने अपने आश्रयदाता हर्ष का जीवन चरित्र अपने महान ग्रन्थ हर्षचरित में लिखा जिसकी महत्ता इतिहास की दृष्टि में सर्वमान्य है। हर्ष के

प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी दिग्विजयों का पूर्ण विवरण हर्षचरित से प्राप्त किया जा सकता है।

रामचरित—सन्ध्याकर नन्दी ने रामचरित की रचना की। अपने ग्रन्थ में कवि ने इतनी विलक्षण वर्णन शैली रक्खी है कि एक ओर तो सम्पूर्ण वर्णन रामायण की कथा मालूम होता है तथा दूसरी ओर बंगाल के रामपाल का वर्णन स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। पाल वंश के इतिहास पर यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है।

बल्लालचरित—बल्लालचरित भी इतिहास की प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। इसकी रचना आनन्दभट्ट ने की थी। सेनवंश के इतिहास को प्रकाशित करने में इस पुस्तक का बहुत कुछ हाथ है।

कुछ अन्य जीवनियाँ—पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज के संघर्षों का काव्यात्मक वर्णन जयानक ने किया है। इस ग्रन्थ से चौहान वंश का इतिहास जानने में कुछ सहायता प्राप्त होती है। काव्यमयी भाषा होने के कारण सम्पूर्ण ग्रन्थ में अत्युक्ति का बाहुल्य है अतः इसके विवरणों का सावधानी से ग्रहण करना चाहिए।

पृथ्वीराजचरित या रासो भी इसी कोटि का ग्रन्थ है। इसका रचयिता चन्दबरदाई पृथ्वीराज का दरबारी था? उसने पृथ्वीराज तथा गोरी के संघर्ष का पूर्ण वर्णन किया है। इस पुस्तक में भी अत्युक्ति का अभाव नहीं तथापि इससे चौहान वंश पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

कुमारपालचरित की रचना जयसिंह ने बारहवीं शताब्दी में की थी। जयसिंह कुमारपाल का दरबारी था। इसने अन्हिलवाड़ के शासक जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है।[1]

गौडवाहो के रचयिता वाक्पतिराज ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन के दिग्विजय का सविस्तार वर्णन किया है। चालुक्य वंश के अन्तिम काल की राजनीतिक परिस्थिति का कुछ विवरण इस ग्रन्थ से प्राप्त किया जा सकता है।

नवसाहसांकचरित का रचयिता पद्मगुप्त परिमल वाक्पति मुञ्ज का दरबारी था। उसने अपने आश्रयदाता मुञ्ज उपनाम वाक्पति-मुञ्ज का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ में किया। पद्मगुप्त के ग्रन्थ से परमार वंश के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

विक्रमांकदेवचरित का स्थान जीवनियों में अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी रचना लगभग १०७६–११२६ ई० में प्रमुख कवि बिल्हण ने की थी। कल्याणी के चालुक्य वंश के इतिहास पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक किस प्रकार सिंहासनारूढ़ हुआ इस विषय का पूर्ण विवरण हमें इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इन परिस्थितियों पर पूर्ण प्रकाश डालने के कारण इस ग्रन्थ का महत्व अत्यधिक है। बल्लाल का भोजप्रबन्ध तथा जयचन्द्र का हम्मीरकाव्य भी इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इनके रचयिताओं ने भी आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों में काव्य रचना की है।

अधिकांश उपर्युक्त ग्रन्थ पूर्णतया साहित्यिक हैं। उनका वर्णन आलंकारिक है अतः व इतिहास से बहुत दूर चले जाते हैं तथापि उनसे तत्कालीन अवस्था का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जाता है। साहित्यिक ग्रन्थ होने के नाते इन्हें विशुद्ध साहित्य में रक्खा जा सकता था किन्तु ये जीवनी भी हैं जिनका स्वतन्त्र एक पृथक् वर्ग है।

---

[1] जयसिंह अन्हिलवाड़ के शासक से भिन्न।

(ङ) विशुद्ध साहित्य

विशुद्ध साहित्य से हमारा अभिप्राय उन साहित्यिक ग्रन्थों से है जिनकी रचना साहित्यकार ने कला कला के लिए के दृष्टिकोण से की है। आत्मसन्तोष या किसी अन्य प्रेरणा के वशीभूत होकर इस कोटि के ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रन्थों से इतिहास का एक अंग सभ्यता एवं संस्कृति प्रकाशयुक्त होता है। विशुद्ध साहित्यिक ग्रन्थों में हमें उनके समय की प्रचलित भाषा, साहित्य, जनसाधारण की अभिरुचि या संक्षेप में सामाजिक अवस्था का बोध होता है। इन ग्रन्थों में हर्ष के तीन नाटक नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों से सातवीं शताब्दी के भारत पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कालिदास के कुछ नाटकों की गणना भी इसी कोटि के ग्रन्थों में की जा सकती है। बौद्ध आन्दोलन के पश्चात् सातवीं-आठवीं शताब्दी में कथाग्रन्थों की रचना में पुनः एक जागृति आई। इन ग्रन्थों में गुणाढ्य की पैशाची बृहत्कथा (जो लुप्त हो चुकी है पर जिसका उल्लेख अनेक लेखकों ने किया है) बुद्धस्वामी की बृहत्कथा, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशुद्ध साहित्य भी हमारे इतिहास की कुछ परिस्थितियों से हमारा परिचय कराने में काफी सहायक सिद्ध होता है।

पुरातात्विक सामग्री

साहित्यिक सामग्री के विषय में पिछले पृष्ठों में पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है। साहित्यिक सामग्री की भाँति पुरातात्विक सामग्री का भी सुविधा के लिए पूर्व विभाजन की भाँति पृथक-पृथक वर्णन किया जायगा।

१ अभिलेख

अभिलेखों की उपयोगिता के विषय में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि जहाँ हर प्रकार के साधन शिथिल पड़ जाते हैं वहाँ इन अभिलेखों से ही कुछ इतिहास जाना जा सकता है। प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था पर जितना प्रकाश इन अभिलेखों से पड़ सकता है उतना अन्य किसी साहित्यिक या पुरातात्विक सामग्री से नहीं। प्राचीन भारत का इतिहास शिलाओं, ताम्रपत्रों तथा अन्य धातुओं पर जो कुछ उन प्राचीन लोगों ने लिख दिया है वह अमिट है। साहित्यिक सामग्री की भाँति प्रायः उनमें प्रक्षिप्तांश नहीं हो सकते। भाषा विशेष से अभिलेखों का काल भी स्पष्ट हो जाता है। कुछ अभिलेख तो ऐतिहासिक शृंखला को स्थापित रखने में बहुत सहायक हुए हैं।

दुर्भाग्यवश अशोक के पहले का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त होता। अशोक के काल में ही अभिलेखों का आरम्भ होता है। अशोक के बाद से सम्पूर्ण भारत में अभिलेखों का बाहुल्य है। इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी अभिलेख भी हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। अतः अभिलेखों का अध्ययन यदि निम्न दो प्रमुख वर्गों में विभाजित करके किया जाय तो अधिक सुविधा होगा —

(अ) देशी अभिलेख तथा (ब) विदेशी अभिलेख

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है भारत के अभिलेख का श्रीगणेश अशोक के काल से होता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि अशोक ही प्रथम शासक

था जिसने भारतीय अभिलेखों को जन्म दिया। अशोक के अभिलेखों ने ही अन्य शासकों को अभिलेख निर्माण की ओर प्रेरित किया। इसलिए भारतीय अभिलेखों को भी अशोककालीन तथा अशोक के परवर्ती दो भागों में विभाजित किया गया है। अशोककालीन अभिलेख से तात्पर्य स्वयं सम्राट अशोक द्वारा निर्मित अभिलेखों से है और अशोक के परवर्ती अभिलेखों में वे सभी राजकीय तथा अन्य अभिलेख आते हैं जो बाद के सम्राटों द्वारा तथा उनके काल में निर्मित हुए।

सर्वप्रथम अशोक के अभिलेखों पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि इनका स्वयं एक वर्ग है। अशोक जब कलिंग विजय के पश्चात् अशोक महान हो गया तो अपनी आध्यात्मिक विजय के लिए उसने मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का निश्चय किया। जनता जनार्दन को हर प्रकार के कष्टों से मुक्त करना उसे सुंदर मार्ग पर लाने तथा राजा एवं प्रजा को निकट सम्बन्ध स्थापित करने के अभिप्राय से ही अशोक ने अपने सम्पूर्ण राज्य के कोने-कोने में स्तम्भ तथा शिलालेखों के जाल बिछा दिया। अपनी राजाज्ञा तथा घोषणाओं को अशोक ने स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया। सर्वसाधारण को अंधकार से प्रकाश में लाने के लिए ही इस महान ने ऐसा किया। अशोक का उद्देश्य जो कुछ भी रहा हो पर इतिहास के विद्यार्थी के लिए ये अभिलेख अधिक मूल्यवान हैं। अशोककालीन सभ्यता तथा संस्कृति पर इन अभिलेखों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। स्वयं अशोक ही भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग है और इसका पूर्ण इतिहास जानने के लिए हम इसके अभिलेखों का ही सहारा लेना पड़ता है। अतः इन अभिलेखों की उपयोगिता इस विषय में निर्विवाद है। विश्व इतिहास में इस प्रकार के अभिलेख नहीं पाये जाते।[1]

डाक्टर त्रिपाठी का मत है कि अशोक के पूर्व के भी अभिलेख पाये जाते हैं।[2] पर प्राचीन भारत के इतिहास का प्रकाशित करने में अशोककालीन तथा अशोक के पश्चात् के अभिलेख ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अब तक १५०० से भी अधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के अभिलेख गुप्तकाल के पहले के प्राप्त हुए हैं। उन सबकी किसी न किसी विषय में उपयोगिता है पर उन असंख्य अभिलेखों का उल्लेख करना यहाँ असम्भव है।

अशोक के पश्चात् के अभिलेखों में जिन्हें राजकीय कहा जा सकता है कुछ प्रशस्तियाँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। उनके अभाव में हम भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ तक का भी बोध न हो पाता। इसमें हरिषेण की प्रशस्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रशस्ति भारतीय नेपोलियन वीर समुद्रगुप्त की प्रशंसा में अशोकस्तम्भ के भीतर ही उत्कीर्ण की गई है जो आजकल प्रयाग के किले में है। गुप्तवंश के महान् सम्राट समुद्रगुप्त की दिग्विजयों तथा उसके वैयक्तिक गुणों पर पूर्ण प्रकाश डालनेवाली सामग्री इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सम्भवतः इस प्रशस्ति के अभाव में हम समुद्रगुप्त की महत्ता न जान पाते। भारतीय इतिहास में समुद्रगुप्त को जो स्थान आज दिया गया है या स्वर्णयुग गुप्तकाल को जो श्रेष्ठता प्रदान की गई है उसका बहुत कुछ श्रेय इस प्रशस्ति को ही दिया जा सकता है। गुप्त वंश का इतिहास जानने में कुछ अन्य अभिलेखों का भी सहारा लेना पड़ता है।

---

१ अशोक के अभिलेख के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए तत्सम्बन्धी परिच्छेद।

२ पिप्रावा (बस्ती) कलश-लेख (J. R. A. S. १८९८ पृष्ठ ५७३-८८) तथा बड़ली (अजमेर) अभिलेख।

अनुदानों की स्वीकृति सम्बन्धी अनेक गुप्त अभिलेख प्राप्त हुए जो प्राय सभी महत्वपूर्ण गुप्त-नरेशों से सम्बन्धित हैं। मुहरों एव मुद्राभिलेखों की सख्या को तो हम निश्चित रूप से एक बहुत भारी अत असख्य कह सकते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि का इतिहास इन अभिलेखों से उसी प्रकार अधिक प्रकाशित हो पाया है जैसे प्रयाग प्रशस्ति से समुद्रगुप्त का। गुप्तों की वशावली के निर्माण में तो इन अभिलेखों का बहुत बडा हाथ है। यह अनुदान-पत्रों मुहरों तथा मुद्राभिलेखों की ही देन है कि गुप्तों के उस अधकारपूर्ण इतिहास की भी एक स्थूल रूप रेखा प्रस्तुत की जा सकी है जहा अन्य साक्ष्य या तो मौन थे या फिर भ्रामक विवरण प्रस्तुत कर रहे थे। डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने गुप्तों के इतिहास के साधनों पर प्रकाश डालते हुए अभिलेखों के विषय में लिखा है—

The inscriptions are sources of much important and reliable history for the Gupta s Some inscriptions are chronicles of events as is the Allahabad Pillar inscription of Samudra Gupta or the Mandasor Pillar inscription of Yasodharman Other are records of religious endowments or secular donations —*Gupta Empire* p 1

भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति से प्रतिहारों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रशस्ति का भी अधिक महत्व है क्योंकि इसके अभाव में प्रतिहारों का पूर्ण इतिहास जानना कठिन हो जाता। जिस काल तथा जिन राजाओं पर प्रकाश डालनेवाली अन्य कोटि की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं उनके अभिलेखों को भले ही उतना महत्व न दिया जाय किन्तु अन्य कोटि की सामग्रियों के अभाव में तो अभिलेखों की उपयोगिता निर्विवाद है। उपरोक्त दोनों अभिलेख इसी कोटि के हैं।

इसी प्रकार सेन वश पर प्रकाश डालने वाली सामग्रियों में सेन वशीय राजा विजय सेन की प्रशस्तिया अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये प्रशस्तिया देवपारा में प्राप्त हुई हैं। काव्यात्मक शैली में विजय सेन की विजयों का उल्लेख इस प्रशस्ति में किया गया है।

ऐहोल अभिलेख से जो चालुक्य-नृपति पुल्केशिन द्वितीय की प्रशस्ति में उत्कीर्ण किया गया है, चालुक्य वश के सुप्रसिद्ध सम्राट का ज्ञान प्राप्त होता है।

असख्य दानपत्र समर्पण पत्र तथा स्मारक के रूप में अभिलेखों का निर्माण हुआ जिनसे तत्कालीन सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान होता है। राजपूताना में अजमेर और मध्य भारत में धार नामक स्थानों में प्रस्तर पत्रों पर उच्चकोटि के नाटकों के अश उत्कीर्ण हैं। पुदुकोट्टा या पुदुकोट्टै (मद्रास) में सगीत के नियमों का उल्लेख किया गया है।

भी बोध होता है। कला के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने में ये अभिलेख अधिक महत्वपूर्ण हैं। दान पत्रों से राज्य की सीमाओं का बोध होता है। राजा तथा प्रजा के बीच भूमि सम्बन्धी समझौते का भी पता इन अभिलेखों से मिलता है।

प्रशस्ति अभिलेखों के अतिरिक्त अन्य वर्ग के अभिलेख भी प्रशस्ति से ही आरम्भ किये जाते थे जिनसे तत्कालीन राजकुलों का ज्ञान प्राप्त होता है।

उत्तरी भारत से अधिक अभिलेख दक्षिणी भारत में प्राप्त हुए हैं किन्तु वे उतने प्राचीन नहीं हैं। इसीलिए इनका ऐतिहासिक महत्व भी उतना नहीं है। अभिलेखों में ब्राह्मी लिपि जो बाएं से दाहिनी ओर को लिखी जाती है और खरोष्ठी लिपि जो दाहिने से बाएं ओर को लिखी जाती है दोनों का प्रयोग किया गया है।

असंख्य भारतीय लेखों के अतिरिक्त कुछ विदेशी लेख भी प्राप्त हुए हैं जो हमारे इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इनमें एशिया माइनर में बोगजकोई के लेख में वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है। आर्यों के संक्रमण का बोध इस अभिलेख से होता है। पर्सिपोलस तथा नक्शरुस्तम (ईरान) के अभिलेखों से प्राचीन भारत तथा ईरान के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है।

(२) प्राचीन स्मारक

प्राचीन काल की सभ्यता के भग्नावशेष प्राचीन मानव की कला के काम आज उत्खनन द्वारा प्राप्त हुए हैं और उनसे हमारे इतिहास पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक कला की वस्तु—चित्रकला, वास्तुकला, स्थापत्यकला, भवन निर्माण-कला, संगीत तथा नृत्य-कला, साहित्य आदि कलाओं के कलाकारों ने समय समय पर अपनी कला का प्रदर्शन किया। सभ्यता के विकास के साथ साथ इन कलाओं में भी विकास होता गया पर कला से भी बढ़कर काल है। काल प्रवाह में सारी कलाओं की (कला सम्बन्धी वस्तुओं की) इति हो गई। धरती के नीचे जहाँ वे सूर्य की किरणें न देख सकें दब गई। शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तुएं (लकड़ी या इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं) तो समाप्त हो गई किन्तु कुछ ऐसी वस्तुएं भी थीं जिनका समूल अन्त हो जाना असम्भव था और वे आज भी अपने काल की सभ्यता, संस्कृति का स्मृति दिला रही हैं। वे केवल स्मृति तक तो दिला सकती हैं इतिहास के निर्माण में बहुत अधिक सहायक नहीं हो सकतीं। इसीलिए उन्हें प्राचीन स्मारक की संज्ञा दी गई है। प्राचीन स्मारक में अन्तर्गत कितनी वस्तुएं आ सकती हैं यह कहना कठिन है। वास्तव में पुरातत्व सम्बन्धी ग्रन्थ वर्गों के अतिरिक्त (अर्थात् अभिलेख, मुद्रा तथा ललित कला सम्बन्धी वस्तुओं को छोड़कर) जो कुछ भी धरती के नीचे या ऊपर कला की वस्तु हो या एक ऐसी वस्तु हो जिसके देखने से हम अपने प्राचीन की याद आये वह प्राचीन स्मारक में आयेगा। प्राचीन स्मारकों की महत्ता यद्यपि राजनीतिक इतिहास जानने में उतनी नहीं क्योंकि इसमें राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख करना कठिन था पर हाँ कभी कभी राजाओं का नाम उनका वंश और साथ ही अपना टकनीक के आधार पर उनका अनुमानित काल बताने में ये अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। पुरातत्ववेत्ताओं को प्राचीन स्मारकों के अध्ययन में कठिनाई का सामना अवश्य करना पड़ता है किन्तु उस अध्ययन से सभ्यता तथा संस्कृति के जिस पहलू पर जितना प्रकाश पड़ता है उतना अन्य किसी साक्ष्य से नहीं। साहित्यिक सामग्री किसी काल विशेष का किसी विषय कला की शाखा के विषय में बतला सकता है पर उसका ज्ञाता जागता उदाहरण हम प्राचीन स्मारकों के रूप में ही प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार के भवन

राजप्रासाद सार्वजनिक हाल जनसाधारण के घर विहार मठ चैत्य स्तूप समाधि आदि असंख्य वस्तुएँ अपने मूल रूप में या भग्नावशेष रूप में हमारे पिछले इतिहास को प्रकाशित करती हैं। अपने साधारण रूप में तो ये अपनी कला के विषय में बतलाती हैं पर इनके विशेष अध्ययन से हम तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पूजा पद्धति तथा धार्मिक विश्वासों को जानने के लिए तो जितना सहायक प्राचीन स्मारक हुए हैं उतना सम्भवतः अन्य कोई सामग्री नहीं।

संस्कृति के अध्ययन के लिए हम पूर्णतया साहित्यिक साक्ष्यों पर नहीं आश्रित रहना चाहिए क्योंकि साहित्यकार अपने कल्पना जगत में बहुत कुछ निर्मित कर जाता है किन्तु प्राचीन स्मारक में अत्युक्ति कहाँ वह तो जितनी कलाकार की शक्ति थी उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। प्राचीन स्मारकों के अध्ययन के लिए हमारे पास सामग्रियों की कमी नहीं। उत्खनन तथा अन्वेषणों द्वारा निरन्तर ऐसी वस्तुएँ प्राप्त की जा रही हैं जिनसे भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों की भाँति प्राचीन स्मारकों को भी देशी तथा विदेशी दो वर्गों में विभाजित कर लिया गया है। भारतवर्ष में जो स्मारक प्राप्त हुए हैं उन्हें देशी तथा जो भारतवर्ष के बाहर प्राप्त हुए हैं उन्हें विदेशी की संज्ञा दी गई है।

देशी—प्राचीन स्मारकों में जैसा कि बतलाया जा चुका है बहुत कुछ सामग्री तो भवन मन्दिर तथा विहार आदि के रूप में प्राप्त हुई है और अधिकांश खुदाइयों द्वारा धरती के नीचे मिली है। लार्ड कर्जन द्वारा स्थापित पुरातत्व विभाग की देन इस क्षेत्र में सराहनीय है।

प्राचीन स्मारकों को प्रकाशयुक्त करने में पुरातत्व विभाग ने अधिक धैर्य एवं साहस से काम लिया है। फलस्वरूप मोहनजोदड़ो हड़प्पा तक्षशिला मथुरा कासम, सारनाथ कसिया पाटलिपुत्र नालन्दा राजगिरि साँची भरहुत लक्षमणेश्वर अगदी, बनवासी पत्तदकल चित्तलदुर्ग तालकन्द हलबिड मास्की आदि में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनसे इतिहास के कतिपय अंध युगों का ज्ञान प्राप्त हुआ है। मोहनजोदड़ो हड़प्पा की खुदाइयों ने तो इतिहास का एक नया परिच्छेद ही जोड़ दिया है एक बिल्कुल ही नवीन सभ्यता का बोध कराया है। इस खुदाई ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास को हजारों वर्ष पीछे ढकेल दिया है। देशी स्मारकों में इसका सर्वोच्च स्थान है। यहाँ के भग्नावशेषों में हम उस अज्ञात संस्कृति की स्मृति (कल्पना के माध्यम द्वारा) आ जाता है जो विश्व की अन्य सभ्यताओं को चुनौती दे रही थी। दक्षिण के अगदी, लक्षमणेश्वर, बनवासी पत्तदकल चित्तलदुर्ग आदि की खुदाइयों से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे भारत का धार्मिक इतिहास बहुत कुछ आलोकित होता है। खुदाइयों के अतिरिक्त धरती के ऊपर के भवन मन्दिर स्तम्भ आदि भी प्राचीन स्मारक के रूप में ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। ऐसी सामग्रियों का भारतवर्ष में बाहुल्य है। असंख्य मन्दिर स्तूप गुफायें विहार आदि सम्पूर्ण भारत में इधर उधर प्राप्य हैं जो तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों कला-सम्बन्धी रुचियों कलाकारों की कल्पनाओं वाणिज्य व्यवसाय आदि असंख्य समस्याओं के समाधान रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। सारनाथ का पाषाण स्तम्भ मस्तक उस प्राचीन काल की तक्षण कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। सर जॉन मार्शल ने इसकी तक्षणी का रूप देख लिखा था कि यह भारतवर्ष की सर्वोच्च तक्षकारी है और प्राचीन विश्व में इसकी समता का अन्य किसी देश में मिला नहीं। अजन्ता तथा एलोरा की गुफाओं की गणना भी महत्त्वपूर्ण प्राचीन

स्मारको म की जाती है। इन्हें देखकर हम प्राचीन भारत की चित्र कला का बोध करते है। कला के उत्कृष्ट उदाहरण जितना इन गुफाओ म निहित हैं उतना सम्भवत अन्यत्र नही। यासी का देवगढ मंदिर भीतरगाँव (कानपुर) का मंदिर नालन्दा की महात्मा गौतम बुद्ध की ताम्रमूर्ति आदि भारतीय कला का स्पष्ट बोध कराकर इतिहास के रिक्त अश की पूर्ति करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये मूक भग्नाव शेष भी किसी प्रकार इतिहास जानने म सहायक सिद्ध होते हैं। इन कला की वस्तुओ से यह न समझना चाहिए कि इनसे केवल किसी काल विशेष की कला सम्बन्धी प्रगति का ही बोध होता है वरन् इनका गहन अध्ययन हम तत्कालीन धार्मिक सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो से भी परिचित कराता है। इतना ही नही कभी-कभी तो इन पर उत्कीर्ण तिथियाँ या सक्षिप्त निर्देशन राजनीतिक परिस्थितियो का भी बोध कराते हैं।

विदेशी—भारत के अतिरिक्त अन्य देशो म भी कुछ एसे स्मारक चिह्न प्राप्त हुए हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश पडता है। इन स्मारको म जावा कम्बोज मलाया स्याम काचीन चाइना बालियो काम्पा आदि म प्राप्त प्राचीन स्मारक विशेष उल्लेखनीय हैं। जावा म डाग पठार का शिव मंदिर मध्य जावा बोरोबोदर एव प्रमबनम के देवालयो से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय उपनिवेश स्थापना मे भी पर्याप्त अभिरुचि रखते थ। इसी प्रकार अगकोरवात तथा अजकोरनाम म भी प्राचीन स्मारक चिह्न उपलब्ध हुए है जिनसे भारतीय औपनिवेशिक प्रसार एव भारतीयो की कला का बोध होता है। जावा म तुकमम नामक स्थान के भग्नावशेषो म शख चक्र पद्म तथा त्रिशूल आदि का विद्यमान रहना प्रमाणित हुआ है। इससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म जावा तक प्रसरित था और इस धर्म के अनुयायी वहाँ पर्याप्त सख्या म रहते थे। इसी प्रकार मलाया म सुन गई वतु मे एक देवालय एव कुछ पाषाण मूर्तियाँ मिली है। इनके सम्बन्ध म क्विन महोदय का कथन है य भग्नावशेष स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि यहा के निवासी हिन्दू मतावलम्बी थ। शिव गणेश पार्वती नन्दी आदि की पूजा किया करते थे क्योकि इन देवताओ की प्रतिमायें यहाँ प्राप्त हुई हैं। प्राचीन हिन्दुओ के औपनिवेशिक प्रसार अथवा हिन्दू धर्म के प्रसार का दूसरा प्रमाण बाना पर्वत पर प्राप्त एक अन्य भग्न वैष्णव मंदिर तथा विष्णु की मूर्ति से प्राप्त हो जाता है। बाना पर्वत पर इन धार्मिक चिह्नो का पाया जाना निश्चय ही यह घोषित करता है कि प्राचीन हिन्दू मलाया तक अपना प्रसार कर चुके थ। ऊपर जावा के विभिन्न स्थानो पर प्राप्त धार्मिक चिह्नो का उल्लेख किया गया है। कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्राचीन स्मारक जावा द्वीप के बिल्कुल निकट ही बाली नामक द्वीप म मन्दिर एव मूर्तियो के रूप म प्राप्त हुए है। बालियो के मुकरकमन नामक स्थान म एक स्वर्ण विष्णु मूर्ति प्राप्त हुई है। काम्पा म एक गहा प्राप्त हुई है। ये सारे प्राचीन स्मारक भारतीय धर्म एव संस्कृति के प्रसार के द्योतक हैं। काम्बो की गुहा भी दो भवन हैं। इनम स एक भवन म १२ प्रस्तर प्रतिमायें हैं। य सारी प्रतिमायें भारतीय शैली पर निर्मित हिन्दू देवताओ की हैं। शिव गणेश नन्दी अगस्त्य ब्रह्मा आदि की मूर्तियाँ इनम विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनम भी शिव-मूर्तियो का आधिक्य है। सेलिवस के पश्चिमी तट पर सिकन्दर के निकट कमन्दा के तट पर महात्मा गौतम बुद्ध की एक भग्न प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसी प्रकार पश्चिमी बालियो म कपु अस नदी की घाटी म हिन्दुओ की प्राचीन बस्तियो के चिह्न प्राप्त हुए हैं। य सारे प्राचीन स्मारक हमारे इतिहास को स्पष्ट करने म सहायक होते हैं अत इनका विशेष महत्व है।

(३) मुद्रायें

वैसे तो समस्त पुरातात्विक सामग्रियाँ ऐतिहासिक सूचनायें प्राप्त करने के साधनों में अपना विशेष महत्व रखती हैं किन्तु मुद्राओं का स्थान इनमें काफी ऊँचा है। इस क्षेत्र में मुद्राओं की महानता के प्रमुख कारण ये हैं कि ये निष्पक्ष हैं अर्थात् इनमें किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी मत विशेष का पक्ष लेकर पक्षपातयुक्त तथ्य का सम्पादन नहीं होता। ये पूर्णतया राजकीय होती हैं। (केवल जाली सिक्कों को छोड़कर) इनसे जो कुछ सूचना प्रतिपादित होती है उस पर काफी विश्वास किया जा सकता है। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये राजाओं की वंश-परम्परा का बोध कराती हैं। तिथि एवं नामयुक्त मुद्राओं का तो इस क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है। इनसे हमें इतिहास की उलझी हुई तिथियों का बोध होता है। जिन मुद्राओं में तिथियाँ नहीं भी दी गई हैं वे भी कम महत्व की नहीं क्योंकि उनकी टेकनीक के आधार पर उनके समय का निर्धारण कुछ अन्वेषण के पश्चात् किया जाता है। मुद्राओं की अन्य विशेषता यह है कि इनसे राजाओं के साम्राज्य विस्तार का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है पर मुद्राओं के प्राप्ति-स्थान के आधार पर साम्राज्य विस्तार के निर्धारण में काफी सावधानी से काम लेना पड़ता है क्योंकि केवल मुद्राओं के प्राप्त होने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस स्थान तक अमुक सम्राट का आधिपत्य है। इसके कुछ अन्य आर्थिक कारण भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्राओं से देश की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

मुद्रायें राजनीतिक परिस्थिति के अतिरिक्त आर्थिक परिस्थिति पर भी कुछ प्रकाश डालती हैं। उनकी धातुओं के आधार पर हम तत्कालीन आर्थिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उत्तम कोटि की धातु की निर्मित मुद्राओं के बाहुल्य का अर्थ है समाज धन धान्यपूर्ण था और निम्नकोटि की धातुओं की मुद्राओं से तत्कालीन आर्थिक हीनता का बोध होता है। वास्तव में मुद्राओं की धातुओं की उत्तमता कुछ तो राजकोष की समृद्धि पर आधारित है और कुछ चलानेवाले सम्राट की रुचि एवं परिपाटी पर निर्भर है।

मुद्राओं का एक और महत्व भी है। ये सम्राट विशेष के धर्म तथा उसकी रुचि की ओर भी परिलक्षित करती हैं। मुद्राओं पर उत्कीर्ण चिह्नों से हम यह ज्ञान पाते हैं कि अमुक राजा अमुक धर्म का अनुयायी था, पर कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं कि एक ही मुद्रा पर विभिन्न धार्मिक चिह्न उत्कीर्ण हैं। कनिष्क की मुद्राओं को हम इसी कोटि में रख सकते हैं। फिर भी अधिकांश मुद्रायें जिन पर कोई विशेष धार्मिक चिह्न उत्कीर्ण है राजाओं के धर्म का ठीक-ठीक बोध कराती हैं। राजाओं की रुचि का तो बिल्कुल ही ठीक बोध इन मुद्राओं से होता है। यदि मनोवैज्ञानिक आधार पर मुद्राओं के आकार प्रकार उन पर उत्कीर्ण पशु-पक्षी एवं अस्त्र शस्त्र का अध्ययन किया जाय तो उस राजा के वैयक्तिक जीवन का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रायें ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने में अन्य साधनों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अब कुछ विशेष मुद्राओं द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करके विषय को और स्पष्ट बनाया जायगा।

अत्यन्त प्राचीन काल की मुद्रायें—प्राचीन कालीन मनुष्यों ने मुद्रा-कला में विशेष उन्नति नहीं की थी। अतः तत्कालीन मुद्राओं पर केवल कुछ चित्र या चिह्न

मात्र उत्कीर्ण हैं। इन मुद्राओं से कोई राजनीतिक सूचना नहीं प्राप्त होती केवल धार्मिक स्थिति का आंशिक बोध होता है।

यूनानी मुद्रायें—इन मुद्राओं का विशेष राजनीतिक महत्व है। भारत में पंजाब तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा पर यूनानियों ने लगभग दो सौ वर्षों तक अपना प्रभुत्व स्थापित रक्खा था। इनके विषय में हम इन मुद्राओं से पर्याप्त सामग्रियाँ प्राप्त होती है। ये मुद्रायें बक्ट्रिया के यूनानी राजाओं द्वारा जारी की गई थीं जिन्होंने यहाँ पंजाब के भू भाग पर राज्य किया था। लगभग दो सौ वर्षों में ३० से भी अधिक राजाओं ने अपनी मुद्रायें जारी कीं जिनसे उनके विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। यदि ये मुद्रायें नहीं प्राप्त हुई होतीं तो उनके विषय में हमारा ज्ञान नितान्त अल्प होता।

सीथियन तथा पार्थियन मुद्रायें—इनकी मुद्रायें यूनानी मुद्राओं से काफी साम्य रखती है पर ये सुन्दरता में उनसे हीन हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात सीथियन एवं पार्थियन का भारत पर प्रभुत्व रहा और इनका इतिहास जानने में मुद्राओं से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। पश्चिमी क्षत्रपों के इतिहास का बोध इन्हीं मुद्राओं से हो पाता है। यहाँ साहित्यिक साक्ष्य बहुत कुछ मूक हो जाते हैं।

भारतीय मुद्रायें—भारतीय सम्राटों की मुद्रायें भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। कुछ भारतीय सम्राटों का इतिहास मुद्राओं के अभाव में अधूरा रह जाता। प्राचीन मालव यौधेय के भिन्न राजाओं का इतिहास जानने के लिये हम उनकी मुद्राओं की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार सातवाहन कुल के राजाओं का इतिहास भी मुद्राओं द्वारा प्रकाशित होता है। गुप्त सम्राटों के इतिहास के विभिन्न साधनों में मुद्रायें भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। समुद्रगुप्त की मुद्राओं के आधार पर ही हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। उसकी मुद्राओं पर उत्कीर्ण वीणा के आधार पर ही हम उसे संगीतकला का प्रेमी घोषित करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये राजकीय मुद्रायें (यद्यपि प्राचीनतम भारतीय मुद्रायें जिन्हें पंचमार्क की मुद्रायें कहते हैं कुछ विद्वानों के मतानुसार प्राइवेट भी हैं और स्वर्णकारों द्वारा राजाज्ञा प्राप्त करके बनाई गई थीं)[१] राजकीय सूचनायें देने में काफी सहायक सिद्ध होती है। पर जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया गया है इनके आधार पर साम्राज्य-सीमायें निर्धारण करने में बहुत सतर्क रहना चाहिये। यहाँ दक्षिण भारत में बहुतायत से पाये जाने वाले रोमन सिक्कों का उल्लेख कर देना विषयांतर न होगा। दक्षिण में पाइ जाने वाले इन रोमन मुद्राओं से हम यह कदापि न समझ लेना चाहिये कि यहाँ रोमनों का साम्राज्य था या उनका किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभुत्व इस भू भाग पर था। डाक्टर त्रिपाठी के शब्दों में यह कथन भारतीय विलास की वस्तुओं और गरम मसालों के बदले धार धार बरसने वाले रोमन सुवर्ण के प्रति इतिहासकार प्लिनी के विवाद का स्मरण कराते हैं। वास्तविकता भी कुछ ऐसी ही है। निश्चय ही इनसे रोमनों तथा भारतीयों के व्यापारिक सम्बन्ध का बोध करना चाहिये क्योंकि रोमनों का दक्षिण भारत पर प्रभुत्व स्थापित रहना तर्कसंगत नहीं और न इतिहास की किसी अन्य सामग्री से यह प्रमाणित होता है।

---

[१] वि० स्मिथ तथा रैपसन का ऐसा मत है और आधुनिक अनुसंधान से पंच मार्क की मुद्राएं साधारण रीति से जनसाधारण में प्रचलित थीं।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

१ 'यह कहना निरर्थक है कि प्राचीन भारत के इतिहासकारों को किसी ऐतिहासिक रचना के अभाव का सामना करना पड़ता है।" (१९४७)

२ प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण मूल साधनों का विवेचन कीजिए। (१९५२)

३ "क्या यह सत्य है कि महान बौद्धिक तथा महान साहित्यिक क्रियाशीलता के बावजूद भी भारत ने कोई हेरोडोटस या थूसिडाइडस-यहाँ तक कि कोई लिवी या टैसिटस भी नहीं उत्पन्न किया ?" उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए। (१९५५)

आगरा यूनिवर्सिटी

१ मध्य-एशिया में पाये गये कुछ महत्वपूर्ण भग्नावशेषों पर एक टिप्पणी लिखिए जो प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हों। (१९४४)

२ प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण मूल साधनों का विवेचन कीजिए। (१९४७)

३ ऐतिहासिक जानकारी के साधनों के रूप से प्राचीन भारत के अभिलेखों तथा सिक्कों का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (१९४३)

४ ऐतिहासिक तथ्यों के स्रोतों के रूप में प्राचीन भारत के अभिलेखों एवं सिक्कों का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (१९५१)

बनारस यूनिवर्सिटी

(१) ऐतिहासिक जानकारी के साधनों के रूप से प्राचीन भारत के अभिलेखों तथा सिक्कों का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिये। (१९५०)

(२) भारतीय इतिहास के स्रोतों में अभिलेख एवं सिक्के मुख्य रूप से प्रकाश डालते हैं। (१९५३)

(३) भारत के प्रारम्भिक इतिहास के विभिन्न साधनों का वर्गीकरण और व्याख्या कीजिए और उनके सापेक्षिक महत्व का विवेचन कीजिए। (१९५२)

२ | प्रागैतिहासिक काल की मानव-सभ्यता

सभ्यता का उदय प्रकृति की वैसी ही स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे पशु पक्षियों तथा मानव का उदय। मानव का विकास जिस प्रकार उत्तरोत्तर होता गया उसी प्रकार सभ्यता का विकास भी अपने क्रमिक रूप में होता रहा। मानव विकास के साथ-साथ ही सभ्यता का विकास होता गया बस इतना ही सभ्यता के उदय के विषय में कहना पर्याप्त होगा—यह दूसरी वस्तु है कि जिस सभ्यता का उदय मानव विकास की पद्धति की भांति हुआ उसमें परिवर्तन परिवर्धन संशोधन अन्वेषण आदि कालान्तर में होते थे। अब यहां प्रश्न यह उठता है कि आदि मानव का उदय कैसे हुआ। पर इस प्रश्न का उत्तर विषयेतर होगा। अतः हम केवल आदि मानव के विकास के विभिन्न सोपानों का दर्शन करेंगे जिनमें आधुनिक युग की सभ्यता की पूर्वज कही जानेवाली सभ्यता के विकास का रहस्य निहित है। यहां एक सत्य का स्पष्टीकरण करा देना आवश्यक है कि विश्व के जिन जिन कोनों में मानव ने विकास करना आरम्भ किया उन सबका विकास विकास की पद्धति आदि लगभग समान-सी थी। सम्पूर्ण विश्व में जहां सभ्यता का उदय आरम्भ हुआ लगभग समान विकास की पद्धति का बोध करके हम कुछ आश्चर्य सा होता है पर इस समता का भी प्रमुख कारण है और वह यह कि मनुष्य प्रकृति के बहुत निकट है विशेषकर उस प्रारम्भिक युग में तो वह पूर्णतया प्रकृति का था और प्रकृति उसकी था पर अब धीरे धीरे वह प्रकृति से दूर होता जा रहा है उस पर अनुशासन करना चाहता है। जब मनुष्य प्रकृति के निकट है तो वह समस्त प्रकृति सुलभ गुणों कार्य कलापों प्रवृत्तियों आदि से समान रूप में युक्त होगा। उसकी प्रकृति प्रदत्त शक्तियां भी लगभग समान-सी होंगी। ऐसी दशा में सम्पूर्ण मानव चाहे वे भारत के दक्षिणी भाग के हों चाहे स्पेन फ्रांस आदि के किसी कोने में हों समान प्रगति करेंगे।

जब मनुष्य की शक्तियां प्रवृत्तियां समान रही होंगी तो वे समान रूप से सोचते रहे होंगे। समान चिन्तन का अर्थ है समान विकास। पर इस समता में भी अपनी देशीय मौलिकता और विभिन्नता रही होगी। इस विभिन्नता का भी ठोस कारण है। प्रत्येक स्थान के प्राकृतिक अवस्था भी कुछ विभिन्न होती है। प्रकृति का रूप विभिन्न होता है। भिन्न प्रकृति में भिन्न विकास का होना स्वाभाविक है। मनुष्य प्रारम्भ में जब पूर्णतया प्रकृति पर आश्रित था तो वह पूर्णतया निर्झर की भांति प्रकृति के आदेशानुसार अपनी गति प्रवाह भी आदि निर्धारित करता और अपना अन्त भी वह प्रकृति पर छोड़ देता होगा। अपने ऐसी स्वाभाविक विकास की स्थिति को विश्व में विभिन्न स्थानों में मानव ने प्राप्त किया। पर प्रगति मानव का सहज स्वभाव है। स्वाभाविक विकास की स्थिति में मानव ने सुधार किया। यह सुधार कोई कम आश्चर्यजनक नहीं था। मनुष्य सन्तोष नहीं स्वीकार कर सकता क्योंकि यह उसका सत्य है। अतः इस सुधार के पश्चात् भी उसने कुछ अन्वेषण किये जो काफी महत्त्वपूर्ण थे और जो इसके लिए अत्यन्त लाभप्रद एवं महत्त्वपूर्ण थे ठीक उसी प्रकार जैसे आज संस्कृति एवं सभ्यता के विनाशक राष्ट्रों के लिए एटम बम का आविष्कार। और इतना ही नहीं

वह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया—तब तक जब तक कि पुन उसकी जन्मदात्री प्रकृति ने अपने हाथों ही उसका विनाश नहीं कर दिया। इस प्रकार प्रकृति द्वारा प्रेरित या अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रकृतिप्रदत्त सभ्यता का प्रकृति द्वारा ही अपहरण कर लिया गया। उसके बाद युगों की एक लम्बी दूरी बीती। तब तक मनुष्य इतना अधिक सभ्य हो गया कि वह यह कल्पना (यद्यपि यह कल्पना नहीं सत्य है) भी भूल गया कि वह कभी पशु था। किन्तु उसको अपनी वास्तविकता का ज्ञान होना था और इसलिये सौभाग्यवश आधुनिक मानव के पूर्वज आदिमानव के भग्नावशेष विभिन्न स्थानों में प्राप्त हुए। इन्हीं भग्नावशेषों से उस प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता का बोध हुआ जो विभिन्न सोपानों में फली फूली थी। यहाँ हम प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने में हम अपनी कल्पना शक्ति का विशेष सहारा लेना पडता है। हम अवशेषों को देखकर अपनी कल्पना द्वारा उस प्रागैतिहासिक काल के कल्पित रेखाचित्र का निर्माण करते हैं और उसी रेखा चित्र के आधार पर हम उस काल की सभ्यता की रूप रेखा का सृजन करते हैं। बस अवशेष और कल्पना ही हमारे ज्ञान के साधन हैं। इन्हीं साधनों के आधार पर मानव की प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता के निम्नलिखित सोपानों की कल्पना की गई है —

१ प्रारम्भिक पाषाण युग या आदि युग
२ पाषाण युग तथा
३ धातु युग।

यहाँ हम इन तीन सोपानों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रारम्भिक पाषाण युग या आदि युग को अमानव-युग कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि मानवी प्रवृत्तियाँ तब पूर्णतया पशु प्रवृत्तियों के समान थीं और वह आदि मानव भी प्राय एक महान् पशु था। यही कारण है कि कुछ इतिहासकार इस सभ्यता की गणना तक नहीं करते हैं और वे इस पिछडी हुई सभ्यता को मानने को तैयार नहीं हैं। किन्तु हम इस युग की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं क्योंकि यही सभ्यता की प्रारम्भिक पाठशाला के निर्माण का युग था और इसी समय हमारे पुरखों ने यह अनुभव करना सीखा था कि आहार भय निद्रा मैथुन आदि पशु सुलभ प्रवृत्तियों से उत्प्रेरित कार्यों को ठीक उपयुक्त करने में उनका कल्याण नहीं हो पा रहा है—न उनकी सुरक्षा ही सम्भव है और न सुख सुविधा ही। अत हम यहाँ इस युग का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रारम्भिक पाषाण युग या आदियुग

इस युग के मनुष्यों के विषय में हम बहुत कम जानते हैं। इस ज्ञान अल्पता का प्रमुख कारण यह है कि इस युग के मनुष्यों के अस्त्र शस्त्र या औजार प्राप्त नहीं होते। इनके अभाव में हम केवल कल्पना के आधार पर कुछ अनुमान लगा सकते हैं जो सत्य के कहाँ तक निकट पहुँच पायेगा यह नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् विचारकों ने ऐसा अनुमान किया है कि वे लोग निश्चय ही पशु से मिलती-जुलती प्रवृत्तियों से युक्त रहे होंगे। वे कदाचित् चकमक पत्थर का प्रयोग अपने औजारों एवं हथियारों में करते थे। पाषाण के अतिरिक्त लकडी के औजार का भी सम्भवत वे प्रयोग करते रहे होंगे। वस्तुओं की आकृतियों का भी सम्भवत इस युग के मनुष्यों ने ज्ञान प्राप्त कर लिया था और जब उन्हें पत्थर का प्रयोग भली भाँति आ गया तो उन्होंने उस ज्ञान

का उपयोग किया होगा। जैसा कि बताया जा चुका है दैनिक जीवन में ये पशुओं से भिन्न न थे। पशुओं की भाँति ही वे वृक्षों की सघन छाया में निवास करते थे। इस प्रकार वे धूप से अपनी रक्षा करते थे। वर्षा से शरीर रक्षा करने के लिये वे गिरि कन्दराओं की शरण लेते थे। कदाचित् गिरि कन्दराओं को वे अपने अनुकूल ता फोड़कर बना लेते थे। वर्षा के अतिरिक्त वर्ष के शेष महीनों में वे घूमते फिरते रहे होंगे। इनका भोजन क्या रहा होगा इसके विषय में हम स्पष्ट अनुमान लगा सकते हैं। *जब इनके पास कोई बड़ा हथियार नहीं था तो यह निश्चय है कि बड़े-बड़े पशुओं* का शिकार ये बहुत कम करते रहे होंगे।—शायद कभी नहीं पर साधारण एवं छोटे मोटे पशुओं का शिकार ये बड़ी सरलतापूर्वक करते रहे होंगे। आखेट द्वारा प्राप्त मांस तो इनके भोजन का एक प्रमुख पदार्थ था। पर प्रकृति ने भी इन्हें कुछ खाद्य-पदार्थ प्रदान किया था। जंगलों में स्वतः उत्पन्न होनेवाले फल कन्द-मूल कुछ विशेष प्रकार की पत्तियाँ जड़ें आदि इनका भोजन रहा होगा। सम्भवतः मछली का शिकार करना भी वे जानते थे। उनके खाद्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद दूसरा प्रश्न यह उठता है कि वे किस रूप में इन पदार्थों का प्रयोग करते थे उसे किसी प्रकार पकाना या भूनना उन्हें आता था अथवा नहीं। यहाँ हम अग्नि के साधनों पर ध्यान देना होगा। उस प्राचीन काल में अग्नि के साधन कम सीमित थे। गहन जंगलों या पर्वतों की घाटियों में बहुधा आग लग जाया करती थी। यह अरण्याग्नि सुरक्षित की जा सकती थी। चकमक पत्थर को रगड़कर भी अग्नि उत्पन्न की जा सकती थी। अग्नि प्राप्ति के इन दोनों साधनों के अतिरिक्त सम्भवतः अन्य तीसरा साधन उस प्रागैतिहासिक काल में नहीं था। अब यह निश्चय करना है कि प्रारम्भिक पाषाण युगीय मनुष्य इन दोनों विधियों में से दोनों से या किसी एक से परिचित थे अथवा नहीं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि दो सूखी पत्तियों के बीच चकमक पत्थर को रगड़कर ये अग्नि उत्पन्न कर लिया करते थे और उनके स्त्री-बच्चों का यह उत्तरदायित्व था कि वे उस अग्नि को सुरक्षित रक्खें। यदि यह सत्य है तो यह भी सम्भव है कि स्वतः उत्पन्न होनेवाली अग्नि को भी वे सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहे होंगे और अग्नि प्राप्ति की यह पद्धति अधिक प्राचीन रही होगी। किन्तु कुछ विद्वान इस मत का खण्डन करते हैं और उनकी यह धारणा है कि प्रारम्भिक पाषाणयुगीय मनुष्य पशुओं से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं था। उसे अग्नि का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं आता था। कन्द-मूल फल तथा मांस आदि को वह बिना पकाये या भूने ही खाता था। पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उस आदि काल में मनुष्य को अग्नि का महत्व आज से किसी प्रकार भी कम न था। अग्नि उसके लिए प्राण रक्षिका थी। अग्नि से ही वह हिंसक जीव-जन्तुओं से अपनी रक्षा कर सकता था। आत्म रक्षा के समस्त साधनों से पशु-सभा भी परिचित होते हैं। अतः यह अनुमान कि वे अग्नि का प्रयोग जानते थे तर्कसंगत लगता है। उनके वसन के विषय में भी कम मतभेद नहीं। कुछ इतिहासकारों के विचार से वे नग्न रहा करते थे किन्तु कुछ लोगों का यह मत है कि वे पेड़ों की छाया या सम्भवतः मनुष्यों की खाल को सुखाकर उसी से अपना तन ढकते थे। लज्जा न सही शरीर रक्षा के लिए तो उन्हें वसन आवश्यक हो रहा होगा। उनके भोजन-वसन पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम उनके सामाजिक संगठन पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे। हम पाते हैं कि उस आदि काल में धरती के किसी किसी भाग पर ही मानव का अधिकार हो पाया था। जब जनसंख्या इतनी कम थी तो आत्मरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि एक प्रदेश के या एक भू भाग के समस्त मनुष्य अपना एक जत्था बनाकर रहें।

जत्था बनाकर रहने की भावना के मूल में चाहे अन्य जितने भी कारण हों पर सुरक्षा का कारण प्रारम्भिक एवं महत्वपूर्ण कारण है। मनुष्यों का जत्था बनाकर रहना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं जब कि हम देखते हैं कि विशेष जाति के पशु अपना-अपना पृथक् जत्था बनाकर रहते हैं। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि वे आदिकालीन मनुष्य एवं समूह बनाकर रहते थे। पर केवल समूह बनाकर रहना ही सामाजिक संगठन का द्योतक नहीं। इसके लिए तो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता है और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अर्थ है परिवार की धारणा स्थापित करना, परिवारों में कुल और कुलों में एक कुटुम्ब या कबीला स्थापित करना। कुलों या कबीलों की स्थापना के पश्चात् भी उनमें आत्मीयता की भावना का जागरण (जिसे आज के पारिभाषिक शब्दों में जातीयता की भावना कह सकते हैं) और इस जागरण के पश्चात् सामूहिक प्रगति एवं उत्थान के लिए उद्योग की आवश्यकता होती है। यह सारा मिलकर ही सामाजिक संगठन कहा जा सकता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण से तो इन प्रागैतिहासिक कालीन मनुष्यों के किसी सामाजिक संगठन को स्वीकार करने के लिए विद्वान तैयार नहीं हैं, पर हाँ कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि वे अपना समूह बनाकर रहते थे। जहाँ तक समूह बनाकर रहने की बात है यह सत्य हो सकती है जैसा कि प्रारम्भ में ही सिद्ध किया गया है। पर कुछ इतिहासकार यह भी कहते हैं कि समूह का सब शक्तिमान व्यक्ति अपने समूह का नेता या प्रधान होता था। निरंकुशता की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए एक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि मनुष्य अनादि काल से ही अपना प्रभुत्व दूसरे पर लादना चाहता है, अपनी महानता दूसरे पर आरोपित करना चाहता है। उक्त विद्वान् का यदि यह मत सत्य है तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि उन प्रारम्भिक पाषाणकालीन मनुष्यों में से भी सबशक्तिमान व्यक्ति ने अपनी प्रभुता अपने अन्य दूसरे साथियों पर लादने की कोशिश की होगी और अन्त में अपने से दुर्बलों को दबाकर उनका प्रधान बन गया होगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न समूहों के भिन्न भिन्न प्रधान रहे होंगे। जब पहला प्रधान वृद्ध हो जाता रहा होगा या उसकी शक्ति क्षीण हो जाती रही होगी तो दूसरा शक्तिशाली व्यक्ति नेतृत्व ग्रहण कर लेता रहा होगा। निश्चय ही इन प्रधानों के अधिकार असीमित रहे होंगे। वन्य-पशुओं के आखेट के समय समूह के वीर एकत्रित होते रहे होंगे और उसे मारकर प्रधान के आदेशानुसार बाँट लिया करते होंगे। पर इनका पारिवारिक जीवन कैसा था यह भी एक प्रश्न है। मनुष्य की सन्तान के पालन-पोषण की विधि और उस विधि सम्बन्धी आवश्यकताओं पर ध्यान देते हुए यह अनुमान स्वच्छन्दतापूर्वक लगाया जा सकता है कि उस प्राचीनकाल में भी पारिवारिक जीवन का महत्व रहा होगा। माता अपने शिशु की सेवा-शुश्रूषा के लिए निश्चय ही पर्याप्त समय देती रही होगी और ऐसी दशा में उस सन्तान का जनक उसके आहार की व्यवस्था करता रहा होगा। सन्तान तब तक अपने जननी-जनक पर आश्रित रहती होगी जब तक वह स्वयं आखेट करने योग्य नहीं हो जाती होगी। इस प्रकार अर्ध पशु और अर्ध मानव (मानव से अभिप्राय सभ्यता से संयुक्त न कि केवल मनु की सन्तान) का जीवन बिताकर यह प्रारम्भिक पाषाणकालीन मनुष्य अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए सभ्यता की ओर अग्रसर होने का मार्ग निर्माण कर रहा था।

पाषाण युग

आदि युग की समाप्ति के पश्चात् मानव-जीवन सभ्यता की प्रारम्भिक सीढ़ियाँ पार करके कुछ आगे बढ़ता है। इस युग में उसने जो कुछ हथियार बनाये थे सभी

पत्थर म य जगा कि हम आग इसमे और इसीलिए इस पाषाण-युग की सज्ञा दी गई है। विभाग-मानता की दृष्टि से इस युग को दो उपविभागो म विभक्त किया गया है—प्रथम पूर्व पाषाण युग तथा दूसरा उत्तर पाषाण युग। यहाँ हम इन दोनो युगो का पृथक-पृथक अध्ययन करेंगे।

पूर्व पाषाण

जिस युग का वर्णन किया जा चुका है वह कोरी कल्पना (चाहे वह भू-गर्भ विशारदो चाहे पुरातत्त्ववेत्ताओ या इतिहासकारो की हो) पर आधारित है। पर जिस युग का अध्ययन हम यहाँ करने जा रहे हैं उसके लिए हमारे पास कुछ ठोस सामग्री है। यह सामग्री और कुछ नही वे विभिन्न प्रकार की वस्तुएं हैं जिनका प्रयोग मनुष्य ... ।[१] इन्ही अवशेषो के आधार ... रहन-सहन खान-पान आदि का ... होता है। यहा यह कह देना विषयतर न होगा कि प्रारम्भिक पाषाण काल या आदि काल का जो वर्णन ऊपर किया गया है वह न केवल भारत के आदि निवासियो का वर्णन था वरन विश्व के समस्त भागो म जहा कि मनुष्य रहते थे उन सभी मनुष्यो का वर्णन था। पर पूर्व पाषाण काल का वर्णन करते समय हम अपने को केवल भारतवर्ष तक ही सीमित रक्खेंगे। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पूर्व पाषाण के अवशेष फ्रास स्पेन आदि अन्य देशो की अपेक्षा भारत म बहुत प्राप्त हुए हैं। भारत म भी ये अवशेष कुछ विशेष स्थानो तक ही सीमित हैं। उत्खनन द्वारा प्राप्त भग्नावशेषो की परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य अपने औजारो मे जिस पत्थर का प्रयोग करते थे वे क्वार्टजाइट है। क्वार्टजाइट एक विशेष प्रकार का पत्थर है जो इन निवासियो को दक्षिण भारत म कुदप्पा की पहाडियो तथा कुछ अन्य दक्षिणी पहाडियो से प्राप्त हो जाता था। राजकीय संग्रहालय मद्रास की प्रागैतिहासिक सामग्रियो की विवरण पत्रिका के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस युग की वस्तुए मद्रास कुदप्पा तथा विगनपुर म अधिक सख्या म प्राप्त हुई हैं। दक्कन या दक्षिण भारत म इन वस्तुओ का प्राप्त होना यह प्रमाणित करता है कि यह भाग भारतवर्ष का प्राचीनतम आबाद प्रदेश था। क्वार्टजाइट पत्थर के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार के पत्थर का प्रयोग भी करते थे। इनके औजार तथा अस्त्र शस्त्र पत्थर के ही होते थे पर कुछ लकडी तथा हड्डियो के भी रहे होगे। इनके हथियारो का विभाजन वी० रगाचार्य ने अपनी पुस्तक Pre Musalman India म इस प्रकार किया है—(१) फरसा (२) बाण (३) भाला (४) खोदने के हथियार (५) फेंकने वाले पत्थर (६) लकडी काटनेवाले हथियार (७) चाकू (८) छीलनेवाले (९) हथौडे तथा (१०) चमकाने वाले हथियार। अपने इन्ही हथियारो से वे वन्य-पशुओ का शिकार करते थे और इसमे वे काफी रुचि रखते थे। ये अपने रहने के लिए किसी प्रकार का भवन या झोपडी सम्भवत नही बना पाये थे। कर्नूल जिले की कुछ गुफायें पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यो का आवास मानी जाती हैं।[२] अत हम देखते हैं कि जिस प्रकार इनके पूर्वज प्रारम्भिक पाषाण कालीन मनुष्य गिरि-कन्दराओ तथा वृक्षो म रहते थे उसी प्रकार ये भी पहाडियो की गुफाओ तथा वृक्षो की छाया म रहते थे। निश्चय ही वर्ष के अधिकाश दिन ये बाहर काट

---

१ राधाकुमुद मुकर्जी, *Hindu Civilisation* p

२ वी० रगाचार्य *Pre Musalman India*

दते रहे होंगे और केवल वर्षा-काल में गुफाओं की शरण लेते रहे। इन्होंने कृषि-कार्य सीखने का प्रयास किया होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि उनके पास खोदने के हथियार थे और प्रकृतिप्रदत्त बीज उन्हें सुगमता से प्राप्त थे। पर इतिहासकार इससे सहमत नहीं और अधिकांश विद्वानों का यह विचार है कि पूर्व पाषाण युगीय मनुष्य कृषि में पूर्णतया अपरिचित रहा और इस क्षेत्र में वह पूर्ववत बना रहा।

इनके वसन के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि ये बहुधा नग्न रहते थे किन्तु अधिकांश विद्वान इस पक्ष में हैं कि ये पेड़ की पत्तियों, छालों तथा पशुओं की खाल से अपने शरीर को ढकते थे। अग्नि के प्रयोग के विषय में भी कुछ इसी प्रकार का मतान्तर है जिसका निराकरण प्रारम्भिक पाषाण युग के परिच्छेद में किया जा चुका है और वही मत यहाँ भी मान्य समझना चाहिये। इन्हें इनकी सभ्यता सम्बन्धी या ज्ञानवाली प्रगति की परीक्षा के आधार पर इतिहासकारों ने असभ्य घोषित किया है। उनके सम्पूर्ण जीवन की तुलना उन्होंने पशुओं से की है और बताया है कि एक चतुर एवं शक्तिशाली पशु की भांति दुर्बल पशुओं का आखेट कर, प्रकृति द्वारा सुगमता से प्राप्त फल, जल आदि का भोजन कर वृक्षों के नीचे या गिरि-गुफाओं में निवास करके अपने जीवन के दिन काट लिया करते थे। इन्हें बर्तन बनाना बिल्कुल नहीं आता था, अतः जल के लिए विवश होकर इन्हें सरिता, झरनों या बहुधा बड़े-बड़े तालाबों के निकट बसना पड़ता था। प्रातःकाल से लेकर सूर्यास्त तक ये पशुओं के आखेट के रूप में फिरते थे और रात्रि में हिंसक पशुओं से स्वयं अपनी रक्षा के निमित्त चिन्तित होकर किसी सुरक्षित स्थान पर सो जाते थे। ये समूहों में रहते थे जिसे अग्रहान सामाजिक संगठन कह सकते हैं। ये शव विसर्जन किस प्रकार करते थे, यह अभी तक प्रामाणिक रूप से नहीं ज्ञात किया जा सका है। दफनाना तथा जलाने की क्रिया सभ्य समाज के पुश्तैनी अधिकार के रूप में है अतः ये असभ्य पूर्वपाषाण कालीन मनुष्य इन दोनों प्रथाओं से वंचित रहे होंगे। ऐसा मानकर इतिहासकारों ने यह घोषित कर दिया है कि वे अपने शवों की कोई चिन्ता नहीं करते थे और उन्हें यों ही खुला छोड़ देते थे। पर झट से ऐसी घोषणा कर देना तर्कसंगत नहीं। यदि यह सत्य है कि घृणा, प्यार, राग, द्वेष आदि मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं तो अपनों के प्रति मोह और श्रद्धा उस पूर्व पाषाणकालीन मनुष्य में भी रही होगी। यदि सिन्धु घाटी में प्राप्त अस्थि भस्म या हड़प्पा की कब्र-सी कोई वस्तु यदि नहीं प्राप्त हो सकी तो इसमें आश्चर्य नहीं। इन दोनों युगों में काफी दूरी है। समय का एक बहुत लम्बा रास्ता तय करके तो सिन्धु घाटी का युग आता है। पूर्व पाषाण युग की अवधि कुछ नहीं तो तीस हजार ई० पू० से पन्द्रह हजार ई० पू० तक है जबकि सिन्धु सभ्यता का काल ढलता से तीन चार हजार ई० पू० है। इतना ही नहीं विश्व के अन्य देशों में पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य भी अपने शवों को दफनाता था जैसा कि फ्रांस, स्पेन आदि में प्राप्त कब्रों से परिलक्षित होता है। इन कब्रों में वह न केवल अपने प्रिय शव को ही दफनाता था प्रत्युत उसकी प्रिय वस्तुओं को भी वह उसके साथ दफना देता था। सौभाग्यवश ब्रिटेन में इसी काल की कब्रें प्राप्त हुई हैं पर खेद है कि भारत में ऐसी कब्रें नहीं मिलीं या जो मिलीं भी उन्हें पूर्व पाषाण कालीन न मानकर उत्तर पाषाण कालीन माना गया। सम्भव है वे उत्तर पाषाण कालीन हों क्योंकि उनके प्राप्ति-स्थान पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य की पहुँच के परे थे पर इसके लिए हमारे पास क्या प्रमाण है कि भारत के पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य अपने शव को यों ही खुले में फेंक देते थे जब कि हम जानते हैं कि धरती के अन्य भू भागों में इसी काल

के मनुष्य उसे दफनाते थे। यह हमारा अपने इतिहास के प्रति मोह या पक्षपातयुक्त भाव नहीं है अपितु यह सम्पूर्ण मानव के समान विकास सम्बन्धी वास्तविकता के प्रति न्याय की माँग है। यहाँ मानव के समान विकाससम्बन्धी वास्तविकता का उदाहरण दे देना विषयेतर न होगा। विश्व इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि लगभग सात या छः हजार ई० पू० से लेकर तीन या दो हजार ई०पू० के भीतर अर्थात् इन चार पाँच हजार के भीतर विश्व में कुछ आगे पीछे अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ। इनमें सुमेरियन बेबीलोनियन असीरियन कैल्डियन मिश्री यूनानी तथा सिन्धु घाटी आदि की सभ्यतायें प्रमुख हैं और ये ही प्राचीन सभ्यताओं की स्तम्भशिला हैं। अधिक विस्तार में जाना उचित न होगा। अतः संक्षेप में ही हम इन सभ्यताओं द्वारा 'समान विकास' को स्पष्ट करेंगे। इन सारी सभ्यताओं के मूल तत्व धार्मिक विश्वास (जिसमें पहले प्रकृति-पूजा तब बहुदेववाद और तब यदि कहीं सम्भव हो सका तो एकेश्वरवाद) सामाजिक संगठन (उत्तम मध्यम तथा निम्न वर्ग जिसमें राजा एवं राजकुल सामन्त तथा पुरोहित या विद्वान आदि का उत्तम कुल में अन्य धनिकों को मध्यम तथा कृषक या दासों को निम्न वर्ग में रक्खा गया) आर्थिक व्यवस्था (जिसमें सर्वप्रथम कृषि तदुपरान्त घरेलू उद्योगधंधे और कालान्तर में व्यापार) बहुत थोड़े अन्तर से समान हैं। यह दूसरी वस्तु है कि किसी ने कोई नवीन आविष्कार कर लिया हो और दूसरा उससे कुछ काल तक अनभिज्ञ रहे। पर जहाँ तक मूल आवश्यकताओं का प्रश्न है विश्व के समस्त सभ्य देशवासी समान रूप से विकास करते गये और इस प्रकार उनकी पूर्ति करते थे। इन तथ्यों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अन्य पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों की भाँति ये भी अपने शवों को दफनाते रहे होंगे जिनका अवशेष आज २५–३० हजार वर्ष बाद प्राप्त नहीं।

दक्षिण के मूल निवासी किस जाति के थे इस विषय में केवल इतना ही यहाँ जान लेना पर्याप्त होगा कि ये भारत के आदि निवासी थे। इनका विशेष विवरण अन्यत्र तत्सम्बन्धी परिच्छेद में दिया जायगा। वास्तव में इन्हीं आदिम जातियों ने सभ्यता का बीजारोपण किया जिसे आनेवाली पीढ़ी ने विकासोन्मुखी बनाया।

उत्तर पाषाण काल

यह युग लगभग पन्द्रह हजार ई०पू० के कुछ पहले से ही आरम्भ हो जाता है। पूर्व पाषाण काल के विषय में लिखते हुए यह बताया गया था कि इस युग के भग्नावशेष बहुत ही नगण्य हैं पर इसके ठीक प्रतिकूल उत्तर पाषाण काल के अवशेष पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। साथ ही जहाँ पूर्व पाषाण कालीन लोगों ने अपने को केवल दक्षिण भारत में ही सीमित कर दिया था जैसा कि उनके प्राप्त भग्नावशेषों से ज्ञात है वहाँ दूसरी ओर उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। यह रहस्योद्घाटन उनके भग्नावशेषों से ही होता है। इस पर पुनः ध्यान देना चाहिए कि प्रारम्भिक पाषाण कालीन मनुष्य का कोई भग्नावशेष प्राप्त नहीं (काल के कराल गाल में या लम्बी अवधि के गर्भ में खो गया) पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों के इने गिने ध्वंसावशेष हैं पर उत्तर पाषाण युगीय मनुष्यों के भग्नावशेष प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। अतः हम पहले इन प्राप्त भग्नावशेषों पर ही ध्यान देना चाहिये। अन्वेषण द्वारा अब तक जो अवशेष प्राप्त हो सके हैं उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है[1]—(१) चकमक के उपादान (Pigmy Flints) (२) औजार के कारखाने (Implements Factories) (३) क्षार ढेर (Cindermounds) (४) कलात्मक चिह्न या

[1] उपरोक्त विभाजन के लिए देखिए डा० के० मुकर्जी, Hindu Civilisation

तक्षण कला सम्बन्धी (Cup Marks) (५) लाल मिट्टियों की चित्रकारी या चित्र कला सम्बन्धी (Ruddle or haematite drawings) तथा (६) कब्र या समाधियाँ (Tombs)।

उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के प्रसार का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उपरोक्त भग्नावशेषों के प्राप्ति-स्थानों का उल्लेख करेंगे।

चकमकीय उपादान के अन्तर्गत चकमक पत्थर द्वारा निर्मित उन समस्त छोटे छोटे औजारों को रक्खा गया है जो आधा इन्च से लेकर डेढ़ इन्च तक लम्बे हैं। ये बहुधा नोकदार तथा समद्विबाहु त्रिभुजाकार हैं। इन औजारों की मुठिया भी लकडी की बना डाली थी। छीलने, काटने, कुरेदने, फाड़ने आदि का काम इन्हीं औजारों से लिया जाता था। इनके अवशेष विन्ध्य की पहाड़ियों, मिर्जापुर, रीवाँ, बघेलखण्ड आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं। छोटा नागपुर, आसाम तथा बर्मा में भी इसी वर्ग का एक विशेष प्रकार का औजार प्राप्त हुआ है जो छेनी के आकार का है। इस प्रकार का औजार इण्डोचीन तथा मलाया पेनिनसुला में भी प्राप्त हुआ है।

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के कारखाने भी दक्षिण भारत में अपने ध्वंसावशेष के रूप में प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों की बस्तियों के चिह्न भी इन्हीं कारखानों के चिह्नों के साथ प्राप्त हुए हैं। चाक द्वारा निर्मित उच्चकोटि के बर्तन भी यहाँ मिले हैं। ये सारे अवशेष उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के प्रसार का बोध कराते हैं।

दक्षिण भारत में जिस प्रकार पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों के भग्नावशेष मिले हैं उसी प्रकार उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के अवशेष भी भारत के अन्य भागों के साथ-साथ दक्षिण भारत में बहुतायत से मिले हैं। ये दक्षिण भारत के बेलारी जिले में पर्याप्त मात्रा में मिले हैं।

कपनाशन चिह्न या तक्षण कला सम्बन्धी वस्तुओं के चिह्न किसी एक स्थान पर ही नहीं प्राप्त हुए हैं प्रत्युत भारत के अधिकांश भागों में इसके उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य किस प्रकार चित्र कला में दक्ष था इसका जाना जाना उदाहरण हम मिर्जापुर, होशंगाबाद, कमूर की पहाड़ियों आदि में प्राप्त हुआ है। मिर्जापुर जिले में बारहसिंगे पर आक्रमण करते हुए एक आदमी का चित्र प्राप्त हुआ है। होशंगाबाद में एक जिराफ का रेखांकन है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे जिराफ से परिचित थे। इसी प्रकार मिर्जापुर में भी कुछ चित्र मिले हैं जिनमें एक गुफा बनाई गई है। घोड़े तथा हिरन के चित्र भी अंकित किये गये थे जो यहाँ प्राप्त हुए हैं।

कब्रें या समाधियों के चिह्न भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम उनका शवविसर्जन क्रिया के साथ-साथ उनके प्रसार का बोध करते हैं। मिर्जापुर में सम्भवतः इसी युग का अस्थि-पंजर प्राप्त हुआ है। जिस समाधि में यह अस्थि-पंजर पड़ा था उसमें कुछ चमकदार बर्तन भी रक्खे थे। इसी युग का एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान कानार जिले में प्राप्त हुआ है। इस कब्रिस्तान में ७४ कब्रें हैं। पट्टावरम में मद्रास शहर के निकट भी एक समाधि-सा मिला है। चिंगलपट, कोयम्बटूर तथा आर्काट (मद्रास) आदि स्थानों पर भी ऐसी समाधियाँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार मद्रास के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में भी समाधियाँ विभिन्न प्रकार एवं रूप की मिली

है। मसूर निजाम राज्य तथा बम्बई म इनका बाहुल्य है। ५४ कब्रावाने कब्रिस्तान से भी अधिक बना एक समाधि भूमि तिन्नवेली जिले म ताम्रपर्णी नदी के तट पर आदिचनल्लुर नामक स्थान पर प्राप्त हुई है। यह समाधि भूमि लगभग ११४ एकड म प्राप्त है और प्रत्येक एकड म कम से कम १००० शवो के लिये स्थान है। यहा प्राप्त शवा का पूरा ढांचा टुकडा म विभाजित करके रक्खा हुआ प्राप्त हुआ है। यह भी शव विसर्जन का एक प्रथा रही होगी। शव-प्रथा का यहाँ अधिकता से पाया जाना इस नयी शव विसर्जन क्रिया का द्योतक है।

इन भग्नावशेषो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ये लगभग सम्पूर्ण भारत म फल चक थ। पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य की भांति य केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित न थ। उनके इन भग्नावशेषो के आधार पर हम इनके रहन-सहन का भी अनुमानित रूप रखा तयार कर सकते है। निश्चय ही इनको भवन निर्माण कला का बोध हो चुका होगा। हा इनके भवन किस प्रकार के होते थे यह कहना कुछ कठिन-सा है। पर विद्वानो ने ऐसा अनुमान किया है कि य घास फूस की झोपडी या बनाते थे और उन्हें पुख्ता प्रदान करने के लिए उन पर मिट्टी का लेप कर देते थे। लकडियो द्वारा भवन निर्माण किया जाना बिल्कुल स्वाभाविक है क्योंकि जिन पेडो की डालो की छाया म वह बैठता था उन्हीं डाल पत्तो का अपना स्वानुकूल बनाने की उसने कोशिश की होगी। य लोग जब कब्रिस्तान और भवन बनाना जान गये थे चाहे वह किसी भी अवस्था म रही हो यह अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है कि शरीर के निकटतम आवरण वस्त्र की व्यवस्था भी इन्होंने की होगी क्योंकि जो अपने अपने परिवार तथा अपनी वस्तुओ के लिए एक आवरण घर या झोपडी बना सकता था और शव का आवरण वस्त्र या समाधि निर्मित कर सकता था वह स्वय अपना तन ढकने के लिए चिन्तित न हो यह असम्भव है। कुछ इतिहासकारो के मत म य केवल बल्कल पत्तिया छाल खाल आदि से ही अपना तन ढकते थ परन्तु अधिकाश विद्वानो का यह मत है कि उत्तराध काल म उन्होंने वस्त्र बनाना सीख लिया था। पाषाण युग (दोनो पाषाण युग—पूर्व तथा उत्तर पाषाण युग) म हथियार पत्थर के अधिक होते थे और अन्य वस्तुओ के बहुत कम (या यदि रहे भी हो तो समय ने उनका विध्वस कर दिया) और इसीलिए इसे पाषाण युग कहा भी गया है। पर दोनो पाषाण युगो की प्रगति म काफी अन्तर पड चुका था यह हमने अभी देखा है। इनकी मुख्य वस्तुओ अस्त्र शस्त्र म भी काफी परिवर्तन हो चुका था। यद्यपि अधिकाश पुराने हथियार अब भी चल आ रहे थे पर अब वे उतने भद्दे नहीं थे। उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यो ने अब उन्हें सुन्दर तेज और सुडौल बनाना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने उन पर एक प्रकार का पालिश करना सीख लिया था। अब ये काफी चमकदार थे। इससे यह स्पष्ट तया ज्ञात होता है कि ये आदि कालीन मानव भी उत्तरोत्तर सौन्दर्यानुभूति के लिए व्याकुल सौन्दर्योपासना के लिए परेशान हो रहे थे। कारखानो के जो चिह्न प्राप्त हुए हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि इस युग म कुछ कलाओ की विशेष उन्नति हुई। इन कलाओ म सम्भवत बर्तन कला प्रमुख थी। दक्षिण के कतिपय स्थानो म बर्तनो के अवशेष तथा कब्र म रक्खे हुए बर्तनो को देखकर यह ज्ञात होता है कि वे लोग प्रारम्भ म हाथ से बर्तन बनाते थे फिर कालान्तर म वे चाक द्वारा बर्तन बनाने लगे। चाक का प्रयोग बर्तन बनाने म विश्व म सर्वप्रथम कहाँ हुआ इसका अनुमान लगाना कुछ कठिन-सा ही है पर अधिकाश यह सभी स्वीकार करते हैं कि चाक का प्रयोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य ने ही सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। अब ये धाराओ या नदियो के तटो पर

रहते थे। यद्यपि पानी के पात्रों का निर्माण ये करने लगे थे पर साथ ही कुछ अन्य आवश्यकतायें भी बढ़ गईं जिनकी पूर्ति के लिए जल के निकट निवास करना आवश्यक था। इन आवश्यकताओं में सबसे प्रधान थी कृषि तथा दूसरी पशु सम्बन्धी थी। अब अपने आखेटक जीवन को थोड़ा-सा घटाकर इन्होंने कृषि की ओर बहुत सूक्ष्म ध्यान दिया। सम्भवतः नारियाँ ही इस कार्य को करती रही होंगी और पुरुष अब भी आखेट के लिए वनों में भटकता रहा होगा। इनकी कृषि में वे भी पदार्थ प्रारम्भ में रहे होंगे जिनका उपभोग वह प्रकृति से प्राप्त करके सदियों से करता आ रहा होगा। उन्हीं पदार्थों को वह अब अपनी इच्छानुसार उपजाने लगा। आदि मानव ने यह भी अनुभव किया कि कुछ पशु जिनका वह शिकार करता है ऐसे भी हैं जिनके पालन से अपेक्षाकृत अधिक लाभ हो सकता है। अतः उसने पशु-पालन भी आरम्भ किया। यह नहीं कहा जा सकता कि सर्व प्रथम वे किस पशु से परिचित हुए। पर यह तो निश्चय है कि प्रारम्भ में इन्होंने उन्हीं पशुओं का पालन आरम्भ किया होगा जो इन्हें देखकर भयभीत हो जाते थे और भागते थे। हिंसक पशुओं से ये स्वयं डरते थे। अतः उनका पालन सम्भव नहीं। इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि वे गाय बैल भेड़ बकरी आदि पालते रहे होंगे पर यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि अपने पालतू पशुओं को भी वे आखेट के अभाव में उसी प्रकार मारकर खा जाते रहे होंगे जैसे आज का सभ्य मानव करता है। पशु-पालन से उन्हें दूध भी प्राप्त होने लगा। फल-फूल अब वे स्वयं थोड़े बहुत उगाने लगे थे आखेट अब भी करते थे। अतः ये सारे पदार्थ इनके भोजन में रहते होंगे। मछली पकड़ने के लिए सम्भवतः इन्होंने जाल-सी कोई वस्तु बना ली होगी क्योंकि उन दिनों जब कि भारी भारी झील और बड़ी बड़ी नदियों के निकट ये लोग रहते थे यह सम्भव नहीं था कि बिना किसी विशिष्ट उपकरण के मछली का शिकार हो सके—बर्तन तथा कुछ अन्य वस्तुओं की प्राप्ति से कुछ ऐसा परिलक्षित होता है कि ये लोग पाक विधान से परिचित थे। आग से भूनकर खाने वाले पाक विधान को शीघ्र ही समझ सकता है या कम से कम समझने की ओर अग्रसर हो सकता है। इस युग के मनुष्य ने केवल अपने हथियारों तथा अपने उपकरणों को सँवारने का प्रयास नहीं किया वरन स्वयं अपने को सँवारने-बनाने की भी इसने चेष्टा की। बाल काढ़ने की कंघियों तथा गुरियों से यह प्रमाणित होता है कि इनकी स्त्रियाँ शृंगार से विशेष अभिरुचि रखती थीं। भोजन वसन भवन आदि पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों की मानसिक स्थिति का बोध करें—मानसिक स्थिति से अभिप्राय वास्तव में सहृदयता अथवा संवेदना से है जो पूर्णतया हृदय के विषय हैं पर उन्हें यहाँ मानसिक इसलिए कहा गया है कि प्रारम्भ में जब तक मस्तिष्क शून्य है तब तक हृदयगत विशेषताओं एवं तत्सम्बन्धी प्रगति का कोई प्रश्न नहीं उठता। उस युग की ठीक यही दशा थी।

कला के क्षेत्र में उस प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य ने भी उन्नति की थी यह विचार हम कैसे सुगमतापूर्वक ग्राह्य नहीं पर हमें विवश होकर इस सत्य का समर्थन तब करना पड़ता है जब हमें उनके तत्सम्बन्धी अवशेष प्राप्त होते हैं। उनके भग्नावशेषों के विषयों में लिखते हुए हमने पिछले पृष्ठों में बतलाया था कि उनके अवशेषों में 'कटोरीनुमा चिह्न' या पाषाण कला सम्बन्धी अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। भारत के अधिकांश भागों में प्रस्तर शिलाओं या चट्टानों पर उत्कीर्ण ये नमूने निश्चय ही आश्चर्यजनक हैं। यहाँ यह कह देना विषयान्तर न होगा कि भारत में सर्वप्रथम कलात्मक प्रवृत्ति तथा उसके प्रस्फुटन का बोध हमें उत्तर-पाषाण काल में होता है। जबकि विश्व के अन्य भागों में पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों ने ही इस ओर पर्याप्त उन्नति कर ली थी और उनकी

इसी उन्नति की समीक्षा करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि चित्र कोमलता शक्ति और निपुणता से इतने परिपूर्ण हैं कि उनको देख कर यह दुखद भावना उठती है कि कला ने कम से कम इस क्षेत्र (चित्र कला) में मानव इतिहास के सदीर्घ काल में अधिक उन्नति नहीं की है।[1] तक्षण-कला के अतिरिक्त चित्रकला में भी ये कुछ दखल रखते थे। इनके उदाहरण (देखिये पिछले पृष्ठ पर सालखंडिया की चित्रकारी) (Ruddle or haematite drawings) पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि ये रेखा चित्र पूर्णतया अपनी प्राथमिक अवस्था में है पर इनमें एक अभिव्यक्ति है ये भावहीन नहीं है। भाले द्वारा बारहसिंहे पर आक्रमण करने का चित्र स्पष्ट रूप से यह व्यक्त करता है कि (क) आखेट उनका प्रिय विषय था (ख) वे पशुओं को वस में करने के लिए उन पर मनुष्य का आधिपत्य दिखलाना चाहते थे तथा (ग) इनकी अदम्य शक्ति एवं उत्साह सराहनीय है। घड़ियाल हिरन शिकारी आदि के जो रेखाचित्र प्राप्त हुए हैं उन सब की आकृतियाँ बहुत कुछ ठीक हैं। मनुष्य के जो चित्र इन्होंने बनाए हैं वे कार्टून टाइप के हैं यद्यपि सम्भवतः उनका अभिप्राय व्यंगचित्र से नहीं रहा होगा। कुछ चित्रों को देखने से ऐसा परिलक्षित होता है कि वे नृत्य मुद्रा के हैं। इनकी कलात्मक प्रवृत्ति का कुछ बोध करने के पश्चात हम इनके धार्मिक विश्वासों की समीक्षा करेंगे। किसी प्रागैतिहासिक काल या अत्यंत प्राचीन काल के धार्मिक विश्वासों या रीति रिवाजों का बोध हमें प्राप्त मूर्तियों मुहरों या ताबीजों पर उत्कीर्ण या चित्रित आकृतियों तथा पूजा परक सामग्रियों से होता है। तीन हजार ई० पू० में सिंधु घाटी के निवासी विभिन्न धार्मिक प्रथाओं एवं विश्वासों से बंधे थे इसका बोध हमें प्राप्त मूर्तियों या ताबीजों द्वारा ही हुआ है। पर दुर्भाग्यवश उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के भग्नावशेष इस प्रकार के नहीं हैं। वे हमें उनके धार्मिक विश्वासों का बोध कराने में असमर्थ से ही हैं। पर कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान किया है कि वे प्रकृति-पूजक थे। प्रकृति पूजा को किसी भी आदि कालीन मानव के ऊपर मढ़ देना बहुत सरल कार्य है क्योंकि यही धर्म का प्रारम्भिक रूप है। अतः कुछ इतिहासकारों ने इन्हें प्रकृति पूजक घोषित करते हुए बतलाया है कि वे वृक्ष तथा चट्टानों में देवता का निवास समझते थे और उन्हें पूजते थे पर यह कहाँ तक सत्य है नहीं कहा जा सकता। कुछ लेखकों ने इनमें 'ब्रह्मवाद' तथा 'लिंग-पूजा' तक का विद्यमान रहना अनुमानित किया है। पर इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। साथ ही यह सम्भव नहीं कि तक्षणकला तथा चित्रकला से परिचित उत्तर पाषाणकालीन मनुष्य अपने धर्म का कोई दृश्य चित्रित नहीं करता। इनके सामाजिक संगठन के विषय में हम कुछ विशेष जानते नहीं हैं। केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अब भी समूहों में रहने की प्रथा प्रचलित थी। किसी राजनीतिक संगठन की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं। यह विकास की बहुत बाद वाली सीढ़ी है।

कुछ इतिहासकारों ने पूर्व पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों की जातियों में भेद माना है और कुछ ने उन्हें एक ही स्वीकार किया है। इनकी जातियों के विषय में प्रचलित मतमतान्तरों को छोड़ यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य जो केवल दक्षिण में ही रहता था लगभग १५ हजार वर्षों में उन्नति अवश्य कर सका होगा और यह भी काफी सम्भव है कि उसने धीरे धीरे उन्नति कर ली। किसी दूसरी जाति द्वारा आक्रमण कराकर पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों से कुछ भिन्नता हुई सम्भवतः (यद्यपि यह सम्भवतः नहीं कहा जा सकता) उत्तर

---

[1] देखिए विल डूरंट *Our Oriental Heritage* I. J

पाषाण कालीन मनुष्यों द्वारा निर्मित दिखलाना कुछ बहुत तर्कयुक्त नहीं जचता। फिर भी ऐसी सम्भावना हो सकती है।

पाषाण युगों की कुछ विशिष्टताएं

भारतीय पाषाण युगीन औजारों को आकार प्रकार (Typologically) तथा कालक्रमानुसार (Chronologically) तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी में तथा मध्यवर्ती पूर्व पाषाण काल (Lower and Middle Palaeolithic) के औजार आते हैं। तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत अल्पाश्मीय उद्योग (Microlithic industries) को रखा जाता है। प्रथम तथा तृतीय श्रेणी के विषय में तो हमारे पास कुछ तर्कयुक्त सामग्री है परन्तु द्वितीय श्रेणी की परिभाषा देना भी कुछ कठिन सा प्रतीत है।

सर्व प्रथम हम प्रथम श्रेणी के पाषाणीय औजारों का उल्लेख करेंगे।

पूर्व पाषाण युग

भारत में पूर्व पाषाण काल (Palaeolithic Period) का उदय ४०० ००० वर्ष ईसा पूर्व से माना जाता है। भूगर्भ शास्त्र (Geology) के अनुसार यह काल मध्यवर्ती प्लायस्टोसीन (Pleistocene) में आता है। भारतीय पूर्व पाषाणकाल के औजारों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है —

बिल्लौर उपकरण (Pebble implements)—यह औजार नदी द्वारा बहाकर लाए हुए क्वार्टजाइट (Quartzite) पत्थर के गोल-मोल टुकड़ों से बनाया जाता था। बहुधा हम इन औजारों पर मूल पत्थर के चिन्ह (Cortex or crust or the pebble) देख सकते हैं। इन औजारों को भारतीय प्रागैतिहासिक काल में हम सोन उद्योग (Soan Industries) के अन्तर्गत मानते हैं। सोन नदी की घाटी में (पंजाब) इस प्रकार के औजार हमें सर्व प्रथम प्राप्त हुए थे। इसी उद्योग का दूसरा नाम (Chopper Chopping industry) भी रखा गया है। अपवाद के कुछ भागों में हमें भारतीय बिल्लौर औजार जब प्राप्त हुए हैं। इसका परम्परा का अन्त में विकास हस्त कुठार सभ्यता (Handaxe culture) नाम से होता है।

हस्तकुठार सभ्यता (Hand axe culture)—यह औजार नासपाती जैसी शक्ल के हैं। इनका एक किनारा (edge) नुकीला (Pointed) होता है। इसी किनारे की सहायता से पाषाण काल के लोग अपनी आवश्यकता का सामान बटोरते थे। पाषाण के दूसरे भाग को मुष्ठिका (butt end) की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसी भाग को पकड़ कर तत्कालीन लोग अपना कार्य करते थे। यूरोप में इस सभ्यता को कोर उद्योग (Core industry) के अन्तर्गत रखा जाता है अर्थात पाषाण के मूल भाग से ही हस्त कुठारों का निर्माण किया जाता था। हस्त कुठार उद्योग को दो परम्पराओं में विभक्त किया जाता है। भद्दे तथा निपुण कारीगरी से हीन औजारों को अबेविलियन (Abbevillian) परम्परा की कोटि में रखा जाता है क्योंकि अबेविले नामक स्थान पर ही सर्व प्रथम इस प्रकार के पाषाण प्राप्त हुए थे। जब मनुष्य ने अपना अनुभव से कुछ अधिक सीखा तो उसने उपयोगिता के सिद्धान्त के साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्त को भी सम्मिलित कर लिया। अब हथियार केवल उपयोगिता के लिए ही नहीं बनाये जाते थे प्रत्युत मानसिक तृप्ति के लिए उन्हें सुन्दर रूप भी दिया जाता था। अतएव अश्यूलियन (Acheulean tradition) परम्परा के हथियार मनुष्य की कार्यकुशलता एवं निपुणता का उदाहरण हैं। इसी परम्परा के अन्तर्गत (Cleavers) भी माने जाते हैं। इनका

किनारा चौड़ी छेनी (wide chisel edge) जैसा होता था। परशु (Cleavers) अधिकतर अश्शूलीय (Acheulean) परम्परा के साथ मिलते है। भारत में इस प्रकार के पाषाण सर्व प्रथम मद्रास के कुछ भागों में प्राप्त हुए थे अतएव भारतीय हस्त कला उद्योग को मद्रास उद्योग (Madras Industry) का नाम दिया जाता है।

पटिया उपकरण (Flake implements)—यह औजार पत्थर के मुख्य भाग से निकले हुए या अलग किए हुए पत्थर के टुकड़ों से बनाए जाते थे। इसी प्रकार के औजारों (पटिया) को मुख्यत दो पद्धति से तैयार किया जाता था। पहली को तो हम क्लक्टानियन (clactonian) पद्धति कह सकते हैं। इस पद्धति में एक पत्थर के बिना किसी प्रारम्भिक तराशी (Primary flaking) किए हुए दूसरे पत्थर के टुकड़ों पर मारा जाता था। इसी लिए इस पद्धति को कभी कभी खण्डोपरिखण्ड पद्धति (block on block technique) की संज्ञा भी दी जाती है। इस पद्धति के बने हुए औजार आकार में व और १२० के कोण बनाते थे। इस प्रकार के पद्धति अधिकतर मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में प्रयुक्त होती थी। दूसरी प्रकार की पद्धति को लेवाल्वा (Levallois) या घाट शैली कहते हैं। इसमें शिला-खण्ड पर घाट काट लिया जाता और जब तक वाञ्छित उपकरण का घाटशिला-खण्ड पर उत्कीर्ण हो जाता था तो एक दूसरे पत्थर से उस पर चोट की जाती थी जिससे पत्थर की वाञ्छित आकृति पृथक हो जाती है। काटने या छीलने वाले धारदार हथियार प्राय इसी पद्धति से बनाये जाते थे।

अब हम भारतीय पूर्व पाषाण काल (Paleolithic) की कुछ परम्पराओं का विस्तार से वर्णन करेंगे।

भारतीय प्रागैतिहासिक काल का पिता ब्रूस फूट (Bruce Foote) ने सर्वप्रथम १८६ में मद्रास के निकट पल्लवरम (Pallavaram नामक स्थान पर एक पूर्वपाषाण कालीन औजार प्राप्त कर भारतीय पाषाण काल का उद्घाटन किया था। उन्हीं की प्रेरणा एवं स्फूर्ति का कारण है कि आज भारत का युवक पुरातत्ववेत्ता भारत कोने-कोने में अपने राष्ट्रीय प्रागैतिहासिक काल की खोजबीन में लीन एवं अध्यवसाय के साथ व्यस्त है। यद्यपि भारतीय पुरातत्व विभाग अभी एक शिशु रूप में है लेकिन फिर भी इसने पर्याप्त प्रगति की दिशा में तीव्रगति से प्रयाण का उद्योग किया है। अब हम भारत के विभिन्न स्थलों से प्राप्त इन औजारों की विश्लेषणात्मक विवेचना करेंगे।

उत्तर भारत —डा० ज्यूनर (Zenner) ने प्लायस्टोसीन प्रागैतिहासिक काल को चार हिम युगों (Glacial Periods) तथा इनके मध्यान्तरीय अन्तर हिम युगों (Interglacial Periods) में विभक्त किया है। उनके मतानुसार हम प्लायस्टोसीन (Pleistocene) युग को निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ आदि हिम युग Early Glaciation
२ पूर्व-उपान्त्य अन्तर्हिमयुग (Ante Penultimate Inter Glaciation)
पूर्व-उपान्त्य हिम युग (Ante Penultimate Glaciation)
४ उपान्त्य अन्तर्हिम युग (Penultimate Inter glaciation)

भारत में भी हिमालयपर्वतों से प्लायस्टोसीन काल में वर्फ की नदियाँ फूट निकली थीं और इस प्रकार ■ चार Glacial Periods भी हुए थे। Interglacial Periods के जब कि शीत की कठोरता समाप्त हो जाती थी चिह्न हमें प्राप्त होते है। कश्मीर तथा पंजाब के चार Glacial Periods को यूरोप के Glaciations से सम्बन्धित किया गया है। जब दूसरा Glaciation भारत में हुआ तभी मनुष्य की

सभ्यता भारत में प्रारम्भ हुई। Boulder Conglomeratic भारत के Ante Penultimate Glaciation का प्रतिनिधित्व करता है। इसी से पाटवार (Potwar) क्षेत्र मनुष्य के पूर्व पाषाण कालीन औजार हमें मिलते हैं। इन औजारों का सोन या सोहन उद्योग के अन्तर्गत रखा जाता है।

प्रारम्भिक सोन उद्योग के पूर्व हम एक उद्योग का पाते हैं इस उद्योग में बड़े-बड़े फ्लेक या क्वार्टजाइट के भग्न पेबल जो कि Unfacetted striking Platform से युक्त हैं और जो अक्सर १२० का कोण बनाते हैं। इस औजार के ऊपरी भाग मे हम किसी प्रकार की Primary flaking नहीं पाते और नहीं trimming या retouching के चिह्न ही। इस प्रकार मनुष्य की जंगली अवस्था के ये जीते-जागते उदाहरण हैं।

लेकिन जैसे ही Penultimate Interglaciation हुआ हमें मनुष्य की सभ्यता के कुछ अधिक स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हुए। इस प्रारम्भिक सोन (Early Soan) सभ्यता में हम दो प्रकार के उद्योगों के चिह्न पाते हैं—

(१) प्रारम्भिक सोन (Early Soan) की विशिष्टता कोर पेबल एवं फ्लेक औजार जिसे हमें scrappers तथा choppers की श्रेणियों में रचना पाते हैं।

(२) मद्रास उद्योग या हैंड ऐक्स उद्योग—इस उद्योग में दोनों भागों में कारीगरी के चिह्न परिलक्षित होते हैं।

प्रारम्भिक सोन उद्योग में हमें क्लक्टोनियन (Clactonian) तथा लेवाल्य (Levalloisian) दोनों पद्धतियों द्वारा तैयार किये गए औजारों के दर्शन होते हैं। केवल चापर्स (Pebble choppers) तथा स्क्रैपर्स (scrapers) दोनों प्रकार की पद्धतियों से तैयार किए जाते थे।

Penultimat Glaciation तथा Last Glaciation के समय हमें Late Soan (परवर्ती सोन) कालीन उद्योगों के दर्शन होते हैं। इस परवर्ती सोन काल को दो भागों में बाँटा जाता है। भाग एक के अन्तर्गत प्रारम्भिक सोन पेबल औजारों का विस्तार ही प्राप्त होता है। यह केवल औजार प्रारम्भिक पेबल औजारों से श्रेष्ठतर थे। इन औजारों में हम secondary working के चिह्न पाते हैं। द्वितीय भाग में हमें ल्वाल्या (Levalloisian) पद्धति से बनाए हुए फ्लेक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोन परम्परा में हमें एक विकास के चिह्न प्राप्त होते हैं। एच० डी० टेरा (H. de Terra) तथा टी० टी० पैटरसन (T T Paterson) ने Studies on the Ice Age in India and Associated Human Cultures में लिखा है—

In the early stages (of the Soan industry) the flakes are crude In the late Soan alongside the simple forms there are other flakes showing a development in technique with much more regular primary flaking and often with Facetted platforms

हमने देखा कि सोन परम्परा के परवर्ती काल में मद्रास के औजारों के दर्शन नहीं होते परन्तु चौन्तरा (chauntra) में हमें मद्रास उद्योगों के औजार हैंड ऐक्स तथा क्लीवर्स के दर्शन होते हैं। चौन्तरा सोन सभ्यता का ही एक अंग माना जाता है। इस प्रकार भारतवर्ष में हमें उत्तर भारत के इन भागों में मद्रास उद्योग तथा सोन उद्योग का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। इस प्रकार जिन व्यवस्थियों ने इन विभिन्न परम्पराओं का विभिन्न जातियों से सम्बन्धित किया है उनके सिद्धान्तों में शिथिलता का आभास प्राप्त होता है।

अब हम उन स्थानों का उल्लेख करेंगे जहाँ पर सोन सभ्यता के चिह्न प्राप्त हुए हैं—
गोलपुर (सिरसा के तट पर) भूपर दहरा पनियारा तथा कांगड़ा (व्यास की घाटी

In the basal gravel and sands in the lower few feet was found a flake industry characterised by the absence of handaxes or cores and by the dominance of small blades and scrapers These tools are made of flint of jasper clearly indicative of a total change both in technique and in choice of material

विंध्याचल श्रेणियों के दोनों ओर हम इस प्रकार के औजार प्राप्त होते हैं। आदिलाबाद से प्रो० हेमन डार्फ (Prof Haimendorf) ने स्क्रेपर तथा ब्लेडो को प्राप्त किया है। इसी प्रकार बीजापुर एवं धारवाड से भी यह औजार मिले हैं। कामियाडे (Cammiade) तथा बार्किट (Burkitt) ने इस ब्लेड एवं ब्यूरिन (Blade and burin) उद्योग को तीसरी श्रेणी में रखा है। जब कि Abbevillian तथा Acheulean परम्पराओं के लिए प्रथम दो श्रेणियां प्रदान की हैं।

अल्प पाषाणीय औजार (Microliths)—भारतीय प्रागैतिहासिक काल में सर्वाधिक कठिन पहेली है इन माइक्रोलिथ्स की। यह छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े (Pigmy flints) भारत में बहुत ही अधिक मात्रा में और विभिन्न कालों में प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वानों ने इन माइक्रोलिथ्स को उत्तर पाषाण काल (Neolithic) के अन्तर्गत रखा था। परन्तु अब हमारे अथक परिश्रम से भारतीय प्रागैतिहासिक आकाश में कुछ प्रकाश सा प्रतीत होने लगा है। विद्वानों ने इन अल्पपाषाण के औजारों को उत्तर पाषाण काल के polished stone axes से पृथक माना है। यही नहीं ताम्रकाल (Chalcolithic) के ब्लेड उद्योग (blade industry) या Ribben flaking ने भी इन माइक्रोलिथों से अलग माना है। कर्नल गार्डन (Col Gordon) ने इस समस्या को समाधान में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। यद्यपि हमारे पास यह पाषाण प्रचुर संख्या में हैं लेकिन मैं उन्हीं स्थलों का उल्लेख करूंगा जहाँ से इस उद्योग पर एक विशिष्ट प्रकाश पड़ता है।

गुजरात—गुजरात में श्री ब्रूस फुट (Bruce Foote) द्वारा उद्घाटित किए गए कार्य को आगे बढ़ाने वाले हैं श्री एच० डी० सकालिया। १९४१ में लंघनाज में सर्वेक्षण एवं खनन कार्य द्वारा उन्होंने भारत के मध्यवर्ती पाषाण काल (Mesolithic Age) पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। श्री मेहता तथा चौधरी ने नर्मदा नदी पर कार्य कर इस दिशा में और भी सहयोग किया है। डा० सकालिया ने यहाँ के माइक्रोलिथ्स की प्रकृति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

The microliths include a monotonous series of lunates or crescents often with battered or worked back but at times sharp on both side triangle semi triangle and trapeze flat and ridged long or short blades roundish rectangular or square scrapers tiny disc like pieces or core trimmings and cores usually roundish on the whole microliths are not fine

लंघनाज में हम इन माइक्रोलिथ्स के साथ-साथ मिट्टी के बर्तन (Pottery) भी प्राप्त होते हैं। इस उद्योग के कालक्रम निर्धारण के विषय में हम कुछ भी निश्चित रूप से कहने में समर्थ नहीं हैं। रंगपुर में श्री रंगनाथराव के उत्खनन से हमें एक महा माइक्रोलिथिय उद्योग का पता चला है। इसके बाद के काल में हम हड़प्पा सभ्यता के अवशेष पाते हैं। अब माइक्रोलिथिय उद्योग यहाँ प्रारम्भ हुआ इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऊपरी सीमा के विषय में तो कुछ हद तक तो बर्नोंग के खनन कार्य से रोशनी पड़ती है। यहाँ पर माइक्रोलिथिय तह तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक

सभ्यता भारत में प्रारम्भ हुई। Boulder Conglomeratic भारत के Ante Penultimate Glaciation का प्रतिनिधित्व करता है। इसी से पोटवार (Potwar) क्षेत्र मनुष्य के पूर्व पाषाण कालीन औजार हमें मिलते हैं। इन औजारों को सोन या सोहन उद्योग के अन्तर्गत रखा जाता है।

लेकिन सोन उद्योग के पूर्व हम एक उद्योग को पाते हैं इस उद्योग में बड़े-बड़े फ्लेक या क्वार्टजाइट के भग्न पेबल जो कि Unfacetted striking Platform से युक्त हैं और जो अक्सर १२० का कोण बनाते हैं। इस औजार के ऊपरी भाग मे हम किसी प्रकार की Primary flaking नहीं पाते और नहीं trimming या retouching के चिह्न ही। इस प्रकार मनुष्य की जंगली अवस्था के ये जीते-जागते उदाहरण हैं।

लेकिन जैसे ही Penultimate Interglaciation हुआ हमें मनुष्य की सभ्यता के कुछ अधिक स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हुए। इस प्रारम्भिक सोन (Early Soan) सभ्यता में हम दो प्रकार के उद्योगों के चिह्न पाते हैं—

(१) प्रारम्भिक सोन (Early Soan) की विशिष्टता वाले पेबल एवं फ्लेक औजार जिसे हमें scrappers तथा choppers की श्रेणियों में रखना पड़ता है।

(२) मद्रास उद्योग या हैण्ड ऐक्स उद्योग—इस उद्योग में दोनों भागों में कारीगरी के चिह्न परिलक्षित होते हैं।

प्रारम्भिक सोन उद्योग मे हमें क्लक्टोनियन (Clactonian) तथा लेवाल्य (Levalloisian) दोनों पद्धतियों द्वारा तैयार किये गए औजारों के दर्शन होते हैं। पेबल चापर्स (Pebble choppers) तथा स्क्रेपर्स (scrapers) दोनों प्रकार की पद्धतियों से तैयार किए जाते थे।

Penultimate Glaciation तथा Last Glaciation के समय हमें Late Soan (परवर्ती सोन) कालीन उद्योगों के दर्शन होते हैं। इस परवर्ती सोन काल को दो भागों में बाँटा जाता है। भाग एक के अन्तर्गत प्रारम्भिक सोन पेबल औजारों का विस्तार ही प्राप्त होता है। यह पेबल औजार प्रारम्भिक पेबल औजारों से श्रेष्ठतर थे। इन औजारों में हम secondary working के चिह्न पाते हैं। द्वितीय भाग में हमें लेवाल्या (Levalloisian) पद्धति से बनाए हुए फ्लेक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोन परम्परा में हमें एक विकास के चिह्न प्राप्त होते है। एच० डी० टेरा (H de Terra) तथा टी० टी० पटरसन (T T Paterson) ने Studies on the Ice Age in India and Associated Human Cultures में लिखा है—

In the early stages (of the Soan industry) the flakes are crude In the late Soan alongside the simple forms there are other flakes showing a development in technique with much more regular primary flaking and often with Facetted platforms

हमने देखा कि सोन परम्परा के परवर्ती काल में मद्रास के औजारों के दर्शन नहीं होते परन्तु चौन्तरा (chauntra) में हमें मद्रास उद्योगों के औजार हैण्ड ऐक्स तथा क्लीवर्स के दर्शन होते है। चौन्तरा सोन सभ्यता का ही एक अंग माना जाता है। इस प्रकार भारतवर्ष में हमें उत्तर भारत के इन भागों में मद्रास उद्योग तथा सोन उद्योग का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। इस प्रकार जिन व्यक्तियों ने इन विभिन्न परम्पराओं का विभिन्न जातियों से सम्बन्धित किया है उनके सिद्धान्तों में शिथिलता का आभास प्राप्त होता है।

अब हम उन स्थानों का उल्लेख करेंगे जहाँ पर सोन सभ्यता के चिह्न प्राप्त होते हैं— दौलतपुर (सिरसा के तट पर) गुलेर देहरा धनियारा तथा बांगन (ब्यास की घाटी

में)। राजस्थान तथा मालवा में लगभग दजन स्थलो से हमे पूव पाषाणकालीन पत्थर प्राप्त हुए है। य० पाषाण दो श्रेणिया में प्राप्त होते हैं। पहली श्रेणी में मद्रास परम्परा क औजार तथा सोन परम्परा के हथियार मिल हैं। दूसरी श्रेणी मे हम पूणतया सोन परम्परा क लवाल्या (Levalloisian) पद्धति के फ्लक तथा ब्लेड स्क्रपर (blade scrapers) ही मिल हैं। यह श्रेणियाँ काल क्रमानुसार भी उचित है। उत्तर प्रदेश म बान्दा जिले म स भी हम प्रथम टेरेस (Terrace) से हैंड एक्स (handaxes) तथा फ्लेक प्राप्त हुए है और दूसरा टरेस मे हमे लेवाल्यो (Levalloisian) पद्धति क फ्लक प्राप्त हुए है। प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से यह सर्वेक्षण काय श्री गोवद्धन राय शर्मा के तत्वावधान म किया गया था।

मध्य भारत—साबरमती मही तथा नमदा नदियो के किनारे भारत क गण्य-मान प्रागितिहासिक विशारदो का काय किया है। भारत के इस भाग का एक विशिष्ट महत्व भी है। सम्पूण भारत की सभ्यताओ को परस्पर सम्बन्धित करन के लिए इस भाग का गहन सर्वेक्षण अनिवाय काय है। दक्षिण भारत के भीषण वर्षा क काल (Pluvials) *तथा उत्तरी भारत के Glaciations का लगभग परस्पर सयोजित* कर दिया गया है। यद्यपि अभी तक हम पूणतया सत्य का साक्षात्कार नही कर पाए हैं।

नमदा क प्रारम्भिक उद्योगो म हम हैंड-एक्स उद्योग (hand axe) की प्रधानता पाते है। यह हैंड-ऐक्स अबी विलियाँ की परम्परा म रखे जा सकते हैं। लेकिन साथ ही साथ हम सोन सभ्यता क प्रारम्भ के बडे बडे फ्लक औजारो का भी प्राप्ति होती है। नमदा क परवर्ती उद्योगो म हम अशुलियन परम्परा के औजार अधिक मात्रा म मिलत है। परन्तु वस्तुत इस क्षेत्र म मिश्रित परम्पराओ की उपस्थिति है। डा० हसमुख सकालिया लिखते है—

The inferior and superior workman lup in finds was noticed — st stratum —Investigation into Pre

भी हम यहा समस्या अपन सम्मुख उपस्थित पाते है। हम १५ ता Chopper and Chopping tools पाते है और ४३ हैंड ऐक्स औजार। इन दो परम्पराओ के मिश्रण से हम किसी एक परम्परा क विस्तार एव समय का निर्धारण करन म असमथ है।

दक्षिण भारत—जस ही हम दक्षिण की ओर बढते चलते हैं वस हा Chopper chopping tool tradition क्रमश न्यून रूप म दिखाई देता है। यद्यपि हम Chopper Chopping tools कइ स्थलो स प्राप्त हुए हैं परन्तु व अल्प महत्व है। मयूरभज (उडीसा) म केवल (*Pebbles*) औजार कुछ ही *है। अधिकतर दक्षिण* म मद्रास उद्योग का बोलबाला है। हैंड एक्स तथा क्लीवसप्रधानतया प्रत्यक दक्षिणी भारतीय प्रागितिहासिक कालीन क्षेत्र स प्राप्त होत है। अबाविलियाँ तथा अशुलियाँ दोनो परम्पराए हम स्पष्टतया परिलक्षित होता है। वदम राई (Vadamadurai) अत्तिरम पक्कम (Attirampakkam) नामा स्थान मद्रास जिल म हैं। कुनल जिले क गिद्दालूर स्थान स हम अबाविलियाँ अशुलियाँ हैं एकम तथा रास्त्रो-कारिनटम (Rostro carinates) क साथ-साथ क्लक्टोनियन (Clactonian) फ्लक्स तथा कोर (Cores) भी प्राप्त हुए हैं।

भारतीय प्रागितिहासिक कालीन परम्पराओ की अबाविलियाँ परम्पराओ म विशिष्ट समरूपता प्रतीत होता है। मद्रास उद्योग क रास्त्रो कारिनेट I tri an-

nates) की समानता विक्टोरिया वेस्ट (Victoria West) के रोस्ट्रा कार्टि से की जाती है। इसी प्रकार पेब्बल-औजारों (Pebble tools) की समानता Oldowan Pebble Industry की रखी जाती है। इन्हीं पेबल औजारों से अफ्रीका में Abbevillian तथा Acheulean hand axes का जन्म हुआ। भारत में भी हम वसी ही परम्परा देख सकते हैं।

हल्लाम मोवियस (Hallam Movius) ने यह दिखाया है कि दूर पूर्व Chopper Chopping Industry की पूर्णतया प्रमुता थी। इन दशा में अ लियाँ हैण्ड एक्स तथा लवाल्वाय (Levallois) फ्लेकों के चिह्न नहीं मिलते हैं यदि हम कथन को हम सत्य मानें तो हमारे मस्तिष्क में एक प्रश्न उपस्थित होता क्या न हम अफ्रीका को हैण्ड ऐक्स परम्परा का जन्मदाता तथा दूरपूर्व को Choppe chopping tools का प्रवर्तक मानें? श्री ह्वीलर (Wheeler) ने भारतीय महा सागर को सभ्यताओं के आदान प्रदान का केन्द्र मानकर मेरे उपर्युक्त प्रश्न का समा धान कर दिया है।

अब हम द्वितीय श्रेणी के औजारों के विषय में कुछ लिखना चाहेंगे। हमने देखा कि परवर्ती सोन में लवाल्वाय पद्धति द्वारा निर्मित श्रेष्ठ फ्लेक औजारों का प्रयोग किया जाता था। इनको हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। परन्तु सम्पूर्ण भारत में यह Enigmatic group विभिन्न दशाओं में पाए गए हैं। परन्तु कुछ स्थानों पर Stra tigraphical (स्ट्रेटी ग्रफिकल) साक्ष्य के आधार पर हम इन औजारों को एक मध्य वर्ती स्थान प्रदान करते हैं क्योंकि ये पाषाण अल्पापाण औजारों (Microlith) तथा मद्रास तथा सोन परम्पराओं के बीच उपलब्ध हुए हैं। महेश्वर तथा नवासा में यह Stratified स्थिति हमारे सम्मुख आई है।

बम्बई—टाड (Todd) ने खडिव्ली (Khandivli) स्थान पर इस उद्योग का बड़े सुंदर रूप से विवेचन किया है। जाय्नर (Prof Zenner) तथा डा० सकालिया (Dr Sankalia) द्वारा किए गए अनुसंधान कार्य से यह Strati graphic स्थिति मल मानी है। कृष्णास्वामी ने Ancient India में इस मध्य वर्ती उद्योग का वर्णन इस प्रकार किया है—

A blade and burin industry which appears to get into a more evolved stage in the upper clay with such types as polyhedral and angle burins and even the parrot beak type strongly reminiscent of the Asiatic Aurignacian of Europe and the Middle East

इसी प्रकार का प्रमाण डा० सकालिया ने प्रवर घाटी में नवासा से उपस्थित किया है—

The earlier occupation was represented by three layers of gravel which contained two types of lithic industries one probably the earlier was a hand axe industry of trap rock It was typologically Acheulean The second industry consisted of comparatively small cores flakes scrapers blades and burins of jasper carnelian and other fine grained stones

नर्मदा की घाटी से भी हमारे इस मत की पुष्टि होती है। डी टेरा (De terra) तथा टीलहार्ड (Teilhard) ने नरसिंहपुर के समीप नर्मदा नदी का सर्वेक्षण किया था। इस सर्वेक्षण का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है—

In the basal gravel and sands in the lower few feet was found a flake industry characterised by the absence of handaxes or cores and by the dominance of small blades and scrapers These tools are made of flint of jasper clearly indic tive of a total change both in technique and in choice of material

विन्ध्याचल श्रेणियों के दोना ओर हम इस प्रकार के औजार प्राप्त होते हैं। आदिलाबाद से प्रो० हेमन डाफ (Prof Haimendorf) ने स्क्रपर तथा ब्लडो को प्राप्त किया है। इसी प्रकार बीजापुर एव धारवाड से भी यह औजार मिले हैं। कामियाड़े (Cammiade) तथा बर्किट (Burkitt) ने इस ब्लेड एव ब्यूरिन (Blade and burin) उद्योग को तीसरी श्रणी म रखा है। जब कि Abbevillian तथा Acheulean परम्पराओ के लिए प्रथम दो श्रेणियाँ प्रदान की हैं।

अल्प पाषाणीय औजार (Microliths)—भारतीय प्रागतिहासिक काल म सर्वाधिक कठिन पहेली है इन माइक्रोलिथ्स की। यह छोटे-छोटे पत्थर के टुकडे (Pigmy flints) भारत मे बहुत ही अधिक मात्रा मे और विभिन्न काला म प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वाना न इन माइक्रोलिथ्स' को उत्तर पाषाण काल (Neolithic) के अतगत रखा था। पर तु अब हमारे अथक परिश्रम से भारतीय प्रागतिहासिक आकाश म कुछ प्रकाश सा प्रतीत होन लगा है। विद्वाना ने इन अल्पपाषाण के औजारा को उत्तर पाषाण काल के polished stone axes से पृथक माना है। यही नहा ताम्रकाल (Chal olithic) के ब्लेड उद्योग (blade industry) या Ribben flakings ने भी इन माइक्रोलियो से अलग माना है। कनल गाडन (Col Gordon न इस समस्या को समाधान म पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। यद्यपि हमारे पास यह पाषाण प्रचुर सख्या मे हैं लेकिन मैं उन्ही स्थला का उल्लख करूगा जहा से इस उद्योग पर एक विशिष्ट प्रकाश पडता है।

गुजरात—गुजरात म श्री ब्रूस फुट (BruceFoote) द्वारा उदघाटित किए गए काम को आग बढान वाल हैं श्री एच डी० सकालिया। १९४१ मे लघनाज के सर्वेक्षण एव खनन काय द्वारा उन्होने भारत के मध्यवर्ती पाषाण काल (Mesolithic Age) पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। श्री महता तथा चौधरी ने नमदा नदी पर कार्य कर इस दिशा मे और भी सहयोग दिया है। डा० सकालिया न यहाँ के माइक्रोलिथ्स की प्रकृति के विषय मे इस प्रक र लिखा है—

The microliths include a m otonous series of lunates of crescent (ften with battered or work d back but at times sharp on both side triangle semi triangle nd trapeze flat and ridged long or sh rt blades roundish rect ngular or quare scrapers tiny disc like p eces or core trimmings and res usually roundi h on the whole micr liths are n t fine

लघनाज म हम इन माइक्रोलिथ्स क साथ-साथ मिट्टी क बतन (Pottery) भी प्राप्त हात है। इम उद्योग क कालक्रम निर्धारण क विषय म हम कुछ भा निश्चित रूप से कहन म समथ नहा हैं। रगपुर म श्री रगनाथराव क खनन स हम एक महा माइक्रोलिथ उद्योग का पता चला है। इसके बाद क काल म हम हडप्पा युगीन सभ्यता क अवशष पाते हैं। कब माइक्रोलिथ उद्योग यहाँ प्रारम्भ हुआ इसक बारे म कुछ नही कहा जा सकता। परन्तु उपरी सीमा क विषय म ता कुछ हद तक ता खनन क खनन काय स रोशनी पडता है। यहाँ पर माइक्रोलिथ तह तथा प्रारम्भिक एतिहासिक

तर क बीच म एक शून्य तह का पता चलता है। तिम्बरवा म हम ऐतिहासिक काल तथा माइक्रोलिथ के बीच म किसी भी प्रकार की न्यूनता नही पाते। इस प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल मे हम North block polished ware प्राप्त हुई है। अतएव हम माइक्रोलिथा की उच्चतम सीमा ४०० B C तक रख सकते हैं। रगपुर स हम कुछ हद तक निम्नतम सीमा का बोध होता है। गुजरात म हम लगभग ८० स्थाना से इस उद्योग क औजार प्राप्त होते है।

तिन्नेवेली जिले से भी हम इस परम्परा क कालनिर्धारण म सहायता मिलती है। सागर क तट पर टरी तहा म हम यह छोटे औजार हस्तगत होते हैं। एलचिन न इन स्थला के पाषाण का अध्ययन किया है। कृष्णस्वामी ने सिगरौली बसिन म माइक्रोलिथ उत्तरी अलुवियम (Alluvium) के चार फुट नीच स प्राप्त किए हैं और लिखा है—

Where the evidence is in conformity with the provisional dating assigned to early microlithic sites This site is distributionally linked with the microlithic sites in Banda Bundelkhand and Baghel khand The general nature of the Singrauli microliths (backed blades, parallel sides blades lunates cores and coares scrapers and arrow wheads in milky quartz) reminds us of a degenerate upper Paleolithic tradition and the entire industry devoid of any associated pottery can probably be assenbed to an early mesolithic period *Ancient India No 1*

यद्यपि हमारे पास माइक्रोलिथा की मात्रा बहुत ज्यादा है परन्तु उनको उल्लिखित करना कोई विशेष अर्थ नही रखता। आवश्यकता तो इस बात की है कि नई हिम्मत से हम Stratigraphical स्थिति म स इन औजारा का प्राप्त करना चाहिए।

उत्तर पाषाण काल

ह्वीलर (Wheeler) द्वारा ब्रह्मगिरि क उत्खनन काय क परचात डा० सुब्बाराव ने बल्लारी जिले का पयवेक्षण किया। इन पयवेक्षण क फलस्वरूप सगन कल्लू नामक स्थान पर उत्खनन प्रारम्भ हुआ। श्री एफ० आर० एलचिन क रायचूर जिले के सर्वेक्षण क पश्चात पिक्लिहल म खुदाई प्रारम्भ हुई। थ्री थापर न भी मास्की म खुदाई जारी रखी। डा० शपर्ड्र न पहले क मसूर राज्य के चिह्ना का पुन अध्ययन किया। इन सब अन्वेषणो के बाद हम कुछ तथ्ययुक्त सामग्री का आभास हुआ है। अब हम उत्तरपाषाण कालीन सभ्यता की स्थिति कुछ हद तक निश्चित करने की स्थिति में हैं।

सगनकल्लू म सर्वप्रथम सभ्यता मद माइक्रोलिथ उद्योग की है। इस सभ्यता म हम कुछ फ्लेक भी मिले हैं जो कि लवाल्वाय पद्धति के अनुसार तयार किए गए थ। शोपर्ड तथा कृष्णस्वामी ने इस उद्योग क विषय म लिखा है—

This post paleolithic flake industry would be no more than a macro facies of the microlithic blades

इस सभ्यता तथा द्वितीयसभ्यता के मध्य हम एक शून्य का परिचय मिलता है। द्वितीय सभ्यता म हम Polished stone celts क उदाहरण प्राप्त होते हैं तथा साथ ही साथ हाथ से बने हुए मिट्टी के बर्तन। सगनकल्लू का यह II Phase ब्रह्मगिरि क I Phase की सभ्यता के तुल्य है। यहा नही गोदावरी की घाटिया म तथा मालवा क प्लेटो म भी इस समरूपता की पुष्टि होती है। इस Stratigraphic

Position का मध्य भारत तथा महाराष्ट्र मे प्राप्त ओजारो से समर्थन मिला है। श्री बी० बी० लाल ने लिखा है—

The painted red ware occurred only in Sangankalli II (IIb) and not below while the burnished grey ware started from II I (IIa) *It appears therefore that the painted pottery reached the scene at a later stage through an extraneous influence*

यद्यपि ताम्र धातु का प्रवेश हम इस काल मे पाते है परन्तु यह प्रवेश इतना सीमित था कि इसने कदाचित ही समकालीन आर्थिक दशा को प्रभावित किया हो। बल्लारी तथा कुर्नूल जिलो मे लगभग दर्जनो स्थानो से हम axes chisels bricks hammer stones इत्यादि प्राप्त हुए है। अनन्तपुर जिले मे भी कई स्थानो से उत्तर पाषाण कालीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इन सब स्थानो का पर्यवेक्षण करने पर यह पता चलता है कि उत्तरपाषाण काल पर्याप्त समय तक वर्तमान रहा था। लगभग१०० ई० पू० तक यह दक्षिण भारत मे धातु काल के प्रारम्भ के पूर्व तक विद्यमान था।

कश्मीर मे बर्झाम (Burzhom) मे तथा बलूचिस्तान मे किले गुल मुहम्मद नामक स्थानो पर भी उत्तर पाषाण कालीन चिह्न प्राप्त हुए हैं। बर्झाम मे Stratigraphical स्थिति इस प्रकार से है—

III चौथी शती ई० के मिट्टी के बर्तन।

II Black Polished Pottery जिस पर अगर सभ्यता से मिलते जुलते उत्कीर्ण डिजाइन हैं।

I उत्तर पाषाण कालीन केल्ट (Celts) bone awls मिट्टी के बर्तन।

अभी हाल मे ही हम इसी स्थल से pit dwellings (गड्ढो मे मकान बनाना) के चिह्न मिले है यह उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य के ही प्रमाण हैं। किले गुल मुहम्मद मे हम हड़प्पा सभ्यता के पूर्व की क्वेचीबग सभ्यता के नीचे दो तह मिली हैं—

I *Pre pottery microliths*
II Pottery polished stone axes and flake blades and scrapers

इस प्रकार अब हम कुछ हद तक उत्तरपाषाण काल की परिधि निश्चित कर सकते हैं।

इस सभ्यता के मूल स्थान के सम्बन्ध मे भी मतमतान्तर हैं। डा० यूजीन वूर्मन Dr Eugene Worman ने पश्चिमी तथा उत्तरी पश्चिमी भारत के केल्टो (Celts) का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निर्णय दिया है कि इनका मूल स्थान दक्षिण पूर्व एशिया था। हाल मे ही डा० अहमदहसन दानी ने इस मूल स्थान के विषय में अधिक गवेषणात्मककाम किया है। उनके अनुसार चीन एव मलाया के क्षेत्रो से आसाम तथा शेष पूर्वी भारत मे यह सभ्यता प्रविष्ट हुई थी।

धातु-युग

विश्व के विभिन्न भागो के निवासियो ने धातुओ का प्रयोग आरम्भ किया किन्तु यह कहना कठिन है कि किस स्थान मे कौन-सी धातु का प्रयोग सर्व प्रथम आरम्भ हुआ। धातु युग को तीन भागो में विभक्त किया गया है—(१) ताम्र युग (२) कांस्य युग तथा (३) लौह युग। अपने क्रमानुसार ही ये युग आरम्भ हुए अर्थात सब प्रथम तांबे का प्रयोग तत्पश्चात कांसे का प्रयोग और अन्त मे लोहे का प्रयोग किया

जाने लगा। विश्व के अन्य स्थानों में तो ये तीनों धातु युग पाये जाते हैं पर भारत में केवल सिंध को छोड़कर अन्यत्र कांस्य का प्रयोग नहीं किया गया था। अतः भारतवर्ष में केवल ताम्र तथा लौह युग ही रहा। इन युगों का आरम्भ कब से हुआ यह भी एक प्रश्न है जिसका कोई भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वानों के कथनानुसार ये लोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के ही वंशज थे और कुछ लोगों के मतानुसार ये उत्तर-पश्चिम से भारत में आये। इन्हें भारत के आदिवासियों (उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों) के वंशज मानने वालों का अपने मत के समर्थन में यह कहना है कि उत्तर पाषाण कालीन उपकरण एवं अस्त्र शस्त्रों के आकार प्रकार समान हैं और साथ ही यह भी विशेषता है कि पाषाण तथा धातु का प्रयोग साथ साथ होता रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों भिन्न युगों के मनुष्य एक ही जाति के थे। पर इस सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से अभी नहीं कहा जा सकता।

ताम्र युग के विषय में हम केवल ध्वंसावशेषों से कुछ सूचना प्राप्त होती है। मध्य भारत के गुंगरिया नामक गाँव में ४२४ ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं। हिमालय से कानपुर तथा हुगली से सिंधु नदी तक ताम्र-उपकरण पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं। औजारों में तलवार फरसे बछा खंजर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार उत्तर भारत ही इस युग का केन्द्र था।

लौह युग ताम्रयुग के बाद आरम्भ होता है। यद्यपि दक्षिण भारत की प्राप्त कब्रों में कांसे के कुछ उपकरण प्राप्त हुए हैं पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वह साधारण प्रयोग में था। वास्तव में ये वस्तुयें धनाढ्यों की विलासिता की सामग्री हैं और आयात द्वारा प्राप्त हैं। उत्तर भारत में ही लोहे का प्रयोग सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् दक्षिण भारत में फादर हेरोडोटस के कथनानुसार पारसीक सम्राट के लिए यूनानियों के विरुद्ध योरप में ४८० ई० पू० में लड़ने वाले भारतीय सिपाहियों ने लौह शस्त्रास्त्र का प्रयोग किया था।

धातु युग के मनुष्यों के सामाजिक जीवन में पहले की अपेक्षा कुछ सुधार अवश्य हुआ होगा अभी केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है।

Allahabad Eniversity

1 When and where is the earliest indication or tool making man in Pleistocene India? Discuss the paleolithic sequence in that region 1954

2 Describe the distribution and typology of Indian microliths 1954

3 Describe the Stone Age of India 1955

4 Describe briefly the main stages of Paleolithic Age Illustrate your answer by citing suitable examples 1957

5 Describe the Paleolithic industries of the handaxe culture complex in India with special reference to any two of the following areas (a) The Central Indian plateau (b) Western India (c) South eastern India 1957

6 Describe briefly the main stages of Paleolithic cultures What do you understand by handaxe culture complex? 1958

Position का मध्य भारत तथा महाराष्ट्र में प्राप्त औजारों से समर्थन मिलता है। श्री बी० बी० लाल ने लिखा है—

The painted red ware occurred only in Sanganakallu II 2 (IIb) and not below while the burnished grey ware started from II 1 (IIa). It appears therefore that the painted pottery reached the scene at a later stage through an extraneous influence.

यद्यपि ताम्र धातु का प्रवेश हम इस काल में पाते हैं परन्तु यह प्रवेश इतना सीमित था कि इसने कदाचित ही समकालीन आर्थिक दशा को प्रभावित किया हो। बल्लारी तथा कुनूल जिलों में लगभग दर्जनों स्थानों से हम axes chisels fricks hammer stones इत्यादि प्राप्त हुए हैं। अनन्तपुर जिले में भी कई स्थानों से उत्तर पाषाण कालीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इन सब स्थानों का पर्यवेक्षण करने पर यह पता चलता है कि उत्तरपाषाण काल पर्याप्त समय तक वर्तमान रहा था। लगभग १००० ई० पू० तक यह दक्षिण भारत में धातु काल के प्रारम्भ के पूर्व तक विद्यमान था।

कश्मीर में बर्जाम (Burzhom) में तथा बलूचिस्तान में किले गुल महम्मद नामक स्थानों पर भी उत्तर पाषाण कालीन चिह्न प्राप्त हुए हैं। बर्जाम में Strati graphical स्थिति इस प्रकार से है—

III चौथी शती ई० के मिट्टी के बर्तन।

II *Black Polished Pottery* जिस पर नगर सभ्यता से मिलते जुलते उत्कीर्ण डिजाइन है।

I उत्तर पाषाण कालीन कैल्ट (Celts) bone awls मिट्टी के बर्तन।

अभी हाल में ही हमें इसी स्थान से pit dwellings (गड्ढों में मकान बनाना) के चिह्न मिले हैं यह उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य के ही प्रमाण हैं। किले गुल मुहम्मद में हमें हड़प्पा सभ्यता के पूर्व की क्वेटा सभ्यता के नीचे जो तह मिला है—

I Pre pottery microliths
II Pottery polished stone axes and flake blades and scrapers

इस प्रकार अब हम कुछ हद तक उत्तरपाषाण काल की परिधि निश्चित कर सकते हैं।

इस सभ्यता के मूल स्थान के सम्बन्ध में भी मतमतान्तर हैं। डा० यूजीन वर्मन Dr Eugene Worman ने पश्चिमी तथा उत्तरी पश्चिमी भारत के केल्टों (Celts) का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निर्णय दिया है कि इनका मूल स्थान दक्षिण पूर्व एशिया था। हाल में ही डा० अहमदहसन दानी ने इस मूल स्थान के विषय में अधिक गवेषणात्मक कार्य किया है। उनके अनुसार चीन एवं मलाया के क्षेत्रों से आसाम तथा शेष पूर्वी भारत में यह सभ्यता प्रविष्ट हुई थी।

धातु-युग

विश्व के विभिन्न भागों के निवासियों ने धातुओं का प्रयोग आरम्भ किया किन्तु यह कहना कठिन है कि किस स्थान में कौन-सी धातु का प्रयोग सर्व प्रथम आरम्भ हुआ। धातु युग को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) ताम्र युग, (२) कांस्य युग तथा (३) लौह युग। अपने क्रमानुसार ही ये युग आरम्भ हुए अर्थात सर्व प्रथम तांबे का प्रयोग तत्पश्चात कांसे का प्रयोग और अन्त में लोहे का प्रयोग किया

जाने लगा। विश्व के अन्य स्थानों में तो ये तीनों धातु युग पाये जाते हैं पर भारत में केवल सिंध को छोड़कर अन्यत्र कांस्य का प्रयोग नहीं किया गया था। अतः भारतवर्ष में केवल ताम्र तथा लौह युग ही रहा। इन युगों का आरम्भ कब से हुआ यह भी एक प्रश्न है जिसका कोई भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वानों के कथनानुसार ये लोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों के ही वंशज थे और कुछ लोगों के मतानुसार ये उत्तर पश्चिम से भारत में आये। इन्हें भारत के आदिवासियों (उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों) के वंशज मानने वालों का अपने मत के समर्थन में यह कहना है कि उत्तर पाषाण कालीन उपकरण एवं अन्य शस्त्रों के आकार प्रकार समान हैं और साथ ही यह भी विशेषता है कि पाषाण तथा धातु का प्रयोग साथ साथ होता रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों भिन्न युगों के मनुष्य एक ही जाति के थे। पर इस सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से अभी नहीं कहा जा सकता।

ताम्र युग के विषय में हम केवल ध्वसावशेषों से कुछ सूचना प्राप्त होती है। मध्य भारत के गुंगरिया नामक गांव में ४२४ ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं। हिमालय से कानपुर तथा हुगली से सिंधु नदी तक ताम्र-उपकरण पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं। औजारों में तलवार फरसे बर्छी खजर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार उत्तर भारत ही इस युग का केन्द्र था।

लौह युग ताम्रयुग के बाद आरम्भ होता है। यद्यपि दक्षिण भारत की प्राप्त कब्रों में कांसे के कुछ उपकरण प्राप्त हुए हैं पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वह साधारण प्रयोग में था। वास्तव में ये वस्तुयें धनाढ्यों की विलासिता की सामग्री हैं और आयात द्वारा प्राप्त है। उत्तर भारत में ही लोहे का प्रयोग सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् दक्षिण भारत में फादर हेरोडोटस के कथनानुसार पारसीक सम्राट के लिए यूनानियों के विरुद्ध योरप में ४८० ई० पू० में ल ने वाले भारतीय सिपाहियों ने लौह शस्त्रास्त्र का प्रयोग किया था।

धातु युग के मनुष्यों के सामाजिक जीवन में पहले की अपेक्षा कुछ सुधार अवश्य हुआ होगा अभी केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है।

Allahabad Eniversity

1 When and where is the earliest indication or tool making man in Pleistocene India? Discuss the paleolithic sequence in that region 1954

2 Describe the distribution and typology of Indian microliths 1954

3 Describe the Stone Age of India 1955

4 Describe briefly the main stages of Paleolithic Age Illustrate your answer by citing suitable example 1957

5 Describe the Paleolithic industries of the handaxe culture complex in India with special reference to any two of the following areas (a) The Central Indian plateau (b) Western India (c) South eastern India 1957

6 Describe briefly the main stages of Paleolithic cultures What do you understand by handaxe culture complex? 1958

7 Describe the Palaeolithic culture of North western India Discuss its date 1958

8 Describe the Palaeolithic industries of handaxe culture complex in India with special reference to any two of the following areas (a) Central Indian plateau (b) Western India (c) South India (d) (d) Rajasthan 1959

9 Discuss critically the problem of mesolithic in India with special reference to Gujrat and Mirzapur 1959

10 Describe briefly the nature extent and date of Sohan cultures 1960

11 Discuss the main characteristics of Neolithic industries 1960

सिन्धु सभ्यता | ३

आदि मानव ने धरती पर अवतरण के साथ ही जो कुछ सीखा वह किसी वन्य-पशु के कार्यकलापों से भिन्न न था पर धीरे धीरे मनुष्य ने उन्नति करना आरम्भ किया। निश्चय ही असभ्यता से अर्ध सभ्यता तथा अर्ध सभ्यता से सभ्यता के प्रथम सोपान तक पहुंचने में उसे वर्षों की असंख्य शृंखलायें पार करनी पड़ी—समय की एक लम्बी दूरी तय करनी पड़ी। विश्व का कौन-सा कोना सर्वप्रथम सभ्यता की प्रथम किरण से प्रकाशित हुआ था इसका कोई ज्ञान दुर्भाग्यवश प्राप्त नहीं है हाँ इतना अवश्य ज्ञात हो सका है कि प्राचीन विश्व की सभी सभ्यताएँ नदियों की घाटियों में ही उदित हुई एवं फली फूली। दजला फरात की घाटी में ही सुमेरियन बेबीलोनियन तथा असीरियन आदि सभ्यताओं का जन्म एवं विकास हुआ नील नदी की हरी भरी घाटी में ही मिस्र की प्राचीन सभ्यता उदित एवं विकसित हुई। ठीक इसी प्रकार भारत में भी सिन्धु नदी की घाटी में भी एक अत्यन्त शान्तिमयी सभ्यता का जन्म हुआ जिसका ज्ञान हम एक लम्बे समय तक नहीं रहा। विश्व इतिहास का अध्ययन करते समय पहले हम सुमेरियन बेबीलोनियन मिस्री आदि सभ्यताओं की प्राचीनता पर आश्चर्य करते थे क्योंकि ये सभ्यताएं ईसा के तीन-चार हजार वर्ष पूर्व की हैं और भारत की प्राचीनतम सभ्यता के नाम पर हमारे पास प्राचीन आर्य सभ्यता अर्थात ऋग्वेदिक सभ्यता थी जिसका काल किसी प्रकार भी १५०० या २००० ई० पू० से पहले नहीं माना जा सकता। सभ्यता की दौड़ में हजारों वर्ष तक पिछड़ा रहना यह कुछ खटकता-सा था—यद्यपि प्राचीनतम युग में सभ्यता एवं संस्कृति में आगे बढ़ जाना आधुनिक युग के लिए न तो विशेष लाभ की वस्तु है और न कोई विशेष महत्व का है यह दूसरी बात है कि हम अपनी ऐतिहासिक प्राचीनता पर थोड़ा गर्व कर लें।

किन्तु सौभाग्यवश आज से कुछ वर्ष पूर्व ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए जिनके आधार पर हम सुमेरियन बेबीलोनियन एवं मिस्री आदि सभ्यताओं की समकालीन भारतीय सभ्यता का बोध हुआ है।

सर जान मार्शल ने सिन्धु घाटी की संस्कृति के प्रकाश में आने से पूर्व ही भारत की भव्य महानता का अनुमान लगाया था। उनके अनुसार—

'Before the rise of the Maurya Empire a well developed and flourishing civilization has existed in India for at least a thousand years yet of the structural monuments erected during those ages not one example has survived the Cyclopean walls of Rajagriha

परन्तु जब यह सभ्यता प्रकाश में आई तब हमें इसकी सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखा है— यह एक दिलचस्प बात है कि हिन्दुस्तान की कहानी के इस उषाकाल में हम उसे एक नन्हें बच्चे के रूप में नहीं देखते हैं बल्कि इस वक्त भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था। वह जिन्दगी के तरीकों से अनजान नहीं है वह किसी धुंधली और न हासिल होने वाली दूसरी दुनियां के सपनों में खोया हुआ नहीं है, बल्कि उसने जिन्दगी की कला में रहन-

सहन के साधनों में काफी तरक्की कर ली है और न महज सुन्दर चीजों की रचना की है बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और खास चिह्न—अच्छे हम्मामों और नालियों को भी तैयार किया है।

इतिहास के साधन—इस प्राचीन भारतीय सभ्यता (सिन्धु सभ्यता) का ज्ञान हमें किस प्रकार प्राप्त हुआ है यह इतिहास भी रोचक है। आज से हजारों वर्ष पूर्व की यह सभ्यता धरती के नीचे अपने भग्नावशेष छोड़ कर विलीन हो गई थी। पर पुरातत्ववेत्ताओं के अदम्य उत्साह एवं अपरिमित धैर्य के फलस्वरूप वे तिमिरविलीन भग्नावशेष दिन का प्रकाश देख सके। निम्नलिखित स्थानों की खुदाइयों से ही सिन्धु घाटी की सभ्यता का बोध होता है :—

(१) मोहेन जोदड़ो (२) हड़प्पा (३) अम्बाला (४) कराची (५) चन्हूदड़ो एवं धूकरदड़ो तथा (६) कलात (बलूचिस्तान)।

उपरोक्त खुदाइयों में सभ्यता के वास्तविक रूप को सम्मुख लाने का श्रेय मोहेन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों को ही दिया जा सकता है क्योंकि ये ही सिन्धु सभ्यता के केन्द्र थे और अधिकांश भग्नावशेष (कम से कम सभी महत्वपूर्ण भग्नावशेष या प्राचीन स्मारक) यहीं प्राप्त हुए हैं। अतः इन दोनों स्थानों का भौगोलिक स्थिति तथा उनकी खुदाइयों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा।

मोहेन जोदड़ो—मोहेन जोदड़ो का शाब्दिक अर्थ शवों की ढेरी है। यह सिन्धु के लरकाना जिले में सिंध तथा नर नहर के मध्य स्थित है। सर्वप्रथम १९२२ ई० में आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया के पश्चिमी सर्किल के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी को यहाँ एक बौद्ध समाधि प्राप्त हुई थी। इस आशा से कि यहाँ बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ प्राप्त होंगी बनर्जी ने उत्खनन-कार्य आरम्भ करवाया। पर यहाँ बौद्ध सामग्रियों का अवशेष न मिलकर एक पूरी सभ्यता का अवशेष प्राप्त हुआ। तत्पश्चात पानी को छूती हुई सात तहों तक खुदाई हुई। इस खुदाई में इतनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है कि लिखित विवरण के अभाव में भी (यद्यपि उक्त विवरण का अभाव न होते हुए भी लिपिबद्ध सामग्री का अपठनीय होना एक प्रकार का अभाव-सा ही है) हम उस प्राचीन सभ्यता की रूप रेखा अंकित कर पाते हैं।

हड़प्पा—यह माटगोमरी जिले में एक स्थान है। यहाँ सर्वप्रथम १९२२ ई० में दयाराम ने अन्वेषण-कार्य आरम्भ किया था और कुछ भग्नावशेष प्राप्त किये थे किन्तु तत्पश्चात आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डाइरेक्टर जेनरल सर जान मार्शल के निरीक्षण में यहाँ पर्याप्त उत्खनन-कार्य हुआ जिससे धरती में छिपी हुई सभ्यता का परिचय प्राप्त हुआ। Mohenjodaro and the Indian Civilization नामक विवरण तीन खण्डों में सचित्र प्रकाशित करके मार्शल महोदय ने इस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कराया।

इसी प्रकार अम्बाला, कराँची तथा बलूचिस्तान आदि की खुदाइयों से भी इस सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इन्हीं भग्नावशेषों के आधार पर ही इस सभ्यता का मूल्यांकन किया गया है।

उन दिनों सिंध में वर्षा का बाहुल्य था। यहाँ घने जंगल भी रहे होंगे ऐसा अनुमान लगाया जाता है। सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों के अतिरिक्त मिहरान नामक एक अन्य बड़ी नदी भी यहाँ थी जो लगभग चौदहवीं शताब्दी ईस्वी में सूख गई।

सिन्धु सभ्यता का अध्ययन करने के लिए हम प्राप्य भग्नावशेषों का ही पृथक्-पृथक् विचाराधीन रखना होगा क्योंकि ये ही उस सभ्यता के मूक इतिहास हैं।

भवन—कच्चे-पक्के छोटे-बड़े हर प्रकार के भवनों के भग्नावशेष उत्खनन द्वारा प्राप्त हुए हैं। भवन निर्माण में सिन्धु सभ्यता के निवासी कितनी सावधानी स्वच्छता एवं सुन्दरता से काम लेते थे इसका प्रमाण हम उनके भवनों से प्राप्त हो जाता है। मकान चौकोर बनाये जाते थे। बीच में एक आँगन होता था और उसके चारों ओर छोटे-बड़े कमरे होते थे। यहाँ के मकानों में दरवाजे खिड़कियाँ स्नानघर पानी रखने का स्थान आदि के अतिरिक्त कूड़ादान एवं जल निकालनेवाली नालियाँ भी बनी होती थीं जो घर के पिछले भाग से निकलकर मुख्य नाले में मिल जाती थीं। लकड़ी और ईंटों से मकान की छतें पटी होती थीं। मोहेन जोदड़ो एवं हड़प्पा के मकानों की एक विशेषता यह थी कि किसी भी मकान का दरवाजा या कोई खिड़की प्रमुख राजमार्ग की ओर नहीं खुलती थी। आधुनिक युग में हम इसके ठीक विपरीत देखते हैं। राजमार्ग की ओर खिड़की दरवाजों के न खुलने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता है। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है यहाँ छोटे से-छोटे मकान तक भी होते थे और बड़े-बड़े भवनों का भी निर्माण होता था। दो कमरेवाले मकानों से लेकर बड़े-बड़े राजमहलों के सदृश विशाल भवनों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें एक बहुत ही विशाल भवन है जिसका अगला भाग ८५ फीट गहराई ९७ फीट तथा जिसमें ३२ वर्ग फीट का आँगन है। इस भवन के विशालकाय द्वार, हाल तथा बरामदों को देखकर यहाँ के कारीगरों की निपुणता का बोध होता है। मकानों की बाहरी दीवारें भी काफी मोटी होती थीं। पाँच फीट तक मोटी दीवारोंवाले मकान भी बनाये जाते थे। कुछ बहुत बड़े-बड़े हाल भी हैं जो सार्वजनिक भवन पाठशाला या मन्दिर हो सकते हैं। एक ९० वर्ग फीटवाला हाल भी प्राप्त हुआ है। पक्की ईंटें भी भिन्न भिन्न आकार की प्राप्त हुई हैं। कुछ ईंटें २०॥ इंच लम्बी १०॥ इंच चौड़ी तथा ३॥ इंच मोटी होती थीं। इन्हीं बड़ी-बड़ी ईंटों से ऊपर के कक्ष में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं। मकान में कुएँ भी खुदे होते थे जो आकृति में आधुनिक कुओं की भाँति ही गोलाकार होते थे। पत्थर का अभाव होने के कारण पकी ईंटों का ही भवन निर्माण में अधिक प्रयोग होता था। हड़प्पा में एक विशाल अन्नागार प्राप्त हुआ है। प्राचीन सभ्य देशों में खत्तियों में अन्न भरने की प्रथा (एक दूसरे परिमार्जित रूप में भारत में भी) सिन्धु में थी। इस अन्नालय के दो भाग हैं जिनमें छः छः हाल हैं। हाल के बाहर बरामदे भी हैं। मोहेन जोदड़ो तथा हड़प्पा के भवन बिल्कुल सादे बने हुए हैं। इस सादगी का कोई कारण विशेष हो सकता है क्योंकि केवल यह कहकर सन्तोष नहीं किया जा सकता है कि उनके भवन निर्माता इस कला में दक्ष न थे। उनकी दक्षता के जीते-जागते उदाहरण वास्तुकला एवं मूर्तिकला सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ हैं। स्वयं इन भवनों की भीतरी बनावट ही इसका प्रमाण है कि सिन्धु निवासी भवनों को अलंकृत कर सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कला उपयोगिता के लिए के सिद्धान्त को सम्मुख रखकर भवनों का निर्माण करते थे और वे उसे अधिक अलंकृत बनाने की अपेक्षा अधिक ठोस बनाने की चिन्ता करते थे।

स्नानागार—खुदाइयों में अब तक जितने भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट एक स्नानागार है। आधुनिक युग में लगभग अधिकांश प्राचीन घरों में एक या दो स्नानागार प्राप्त हैं। इसी प्रकार सम्भवतः सिन्धु सभ्यता के काल

मे भी उसने बड़े नगरों में सार्वजनिक स्नानागार रहे होंगे जिनमे से यह एक प्राप्त हुआ है। इस प्रस्तर स्नानागार मे निम्नलिखित खण्ड हैं —

(१) चारों ओर बरामदे जिनके पीछे गैलरियाँ हैं तथा चारों ओर कमरे हैं (२) एक कुण्ड जिसकी लम्बाई ३० फीट चौड़ाई २३ फीट तथा गहराई ८ फीट है और दोनों ओर जल की सतह तक को छूती हुई सीढ़ियाँ है। (३) कुएँ हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर स्नानागार के कुण्ड का जल से भरा जाता था। (४) महान स्नानागार की कुल लम्बाई १८० फीट चौड़ाई १०८ फीट है तथा इसकी बाहरी दीवारों की मोटाई ८ फीट है। जलाशय के जल की सुरक्षा तथा उसकी नींव को सुदृढ़ रखने के अभिप्राय से यहाँ के राजगीरों ने विशेष चातुर्य से काम लिया है। जलाशय को जल से भरने या रिक्त करने के लिए जो व्यवस्था की गई है वह निश्चय ही काफी असाधारण है। एक छः फीट से भी ऊंची प्रणालिका पाई गई है जिससे पानी निकाला जाता रहा होगा।

पुरातत्ववेत्ताओं ने एक विशेष प्रकार के खण्ड को देखकर ऐसा अनुमान किया है कि यह हम्माम रहा होगा जिसमें स्नानार्थ जल गर्म किया जाता रहा होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के सुन्दरतम स्नानागारों से यह स्नानागार किसी प्रकार भी कम सुन्दर नहीं है। इसकी मजबूती का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह लगभग ५००० ई० पू० का बना हुआ आज भी भली प्रकार सुरक्षित है।

नगर—नगरों के भग्नावशेषों के अध्ययन के आधार पर ही पुरातत्ववेत्ताओं ने ऐसा अनुमान किया है कि निश्चय ही सिंधु घाटी की सभ्यता नगर सभ्यता थी वैदिक सभ्यता की भाँति यह ग्राम्य-सभ्यता नहीं थी। उत्खनन द्वारा उस प्राचीन सिन्धु नगर का जो ध्वंसविशेष प्राप्त हुआ है उसे देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नगर निर्माण एक निश्चित योजना (plan) द्वारा होता था। नगर निर्माण योजना के महत्व को वे प्राचीन कालीन मनुष्य भली भाँति समझ गये थे यह भी महत्व का विषय है। यहाँ की सड़कें काफी चौड़ी हैं जिनसे छोटी-छोटी शाखायें और गलियाँ फूटी हैं। यहाँ सड़कों के चौराहे या तीन मुहानियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सड़कों के किनारे जो भवन बने हुए हैं वे साफ पर सुन्दर है। यह प्रारम्भ में ही कहा गया है कि यहाँ जल-वृष्टि अधिक होती थी अतः इस अपार जल से नगर की सुरक्षा के लिए मोरियों की व्यवस्था अनिवार्य था। सिंधु निवासियों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था जैसा कि प्राप्त भग्नावशेषों से ज्ञात होता है। सम्पूर्ण नगर में मोरियों का जाल बिछा था। प्रत्येक घर में मोरी होती थी जो घर का पानी सड़क के नीचे बनी हुई नाली में गिरा देती थी और इस प्रकार जल अन्य बड़ी-बड़ी प्रणालियों द्वारा शहर के बाहर निकल जाता था। इसी प्रकार स्नान तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों का जल भी प्रणालिकाओं द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था।

नगरों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। सड़कों के किनारे कूड़ा फेंकने के बड़े बड़े बर्तन प्राप्त हुए हैं जिससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यहाँ म्युनिसिपल बोर्ड-भी कोई संस्था अवश्य रही होगी जो नगर की सफाई करती थी। गार्डन चाइल्ड ने नगर की स्वच्छता का ध्यान रखते हुए ही लिखा है "गलियों की सुन्दर पंक्तियाँ तथा प्रणालिकाओं की उत्तम व्यवस्था एवं उनकी सतत स्वच्छता में इस बात का सबूत मिलता है कि यहाँ कोई नियमित नगर शासन था जो अपना कार्य सावधानी से सम्पन्न करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार

बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय निर्माण एवं सड़कों की सुनिश्चित पंक्तियों का बनाए रखने के नियमों का पालन होता था।[१]

धातु एवं तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ—जो कुछ भग्नावशेषों के रूप में प्राप्त होता है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सिंधु घाटी के निवासियों ने सोना, चाँदी, टिन, ताँबा, काँसा, सीसा आदि का प्रयोग जान लिया था। पर वे लोहे का प्रयोग नहीं जानते थे या यों कहें कि वहाँ लोहे का अभाव था। सोने का प्रयोग आधुनिक युग की भाँति ही आभूषण में होता था। जिस सोने का प्रयोग यहाँ के निवासी करते थे उसमें कुछ एलक्ट्रन की मात्रा है जिससे हम यह कह सकते हैं कि यह आयात द्वारा दक्षिण में कोलार या अनन्तपुर से प्राप्त किया जाता था क्योंकि इस प्रकार का सोना वहीं प्राप्त होता है। इसी प्रकार कच्चे ताँबे के साथ काँसे का मिश्रित रहना यह सिद्ध करता है कि यह राजपूताना, बलूचिस्तान या फारस से मँगाया जाता था क्योंकि इस प्रकार का ताँबा वहीं प्राप्त होता है। पत्थर का स्थान अब ताँबे ने ग्रहण कर लिया था और विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्र गृह सामग्रियाँ आदि ताँबे की बनाई जाती थीं।

टिन का साधारण प्रयोग नहीं होता था। इसे ताँबे के साथ मिश्रित करके काँसा तैयार किया जाता था। काँसे की प्राप्ति से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि ३००० ई० पू० में भी भारत में काँसे का प्रयोग होता था। अतः इससे यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है कि भारतवर्ष में काँसे का युग नहीं रहा। पर टिन या काँसा स्वयं सिंधु के खनिज पदार्थ नहीं रहे होंगे। इनका आयात सम्भवतः उत्तर फारस तथा पश्चिमी अफगानिस्तान से किया जाता रहा होगा।

सिंधु में पत्थर का अभाव था। भवनों आदि के निर्माणार्थ यहाँ के निवासी अन्य स्थानों से पत्थर मँगाते थे। भाखर से बलुआ पत्थर आता था जिससे जल प्रणालिकायें (मोरियाँ) ढकी जाती थीं। इसी प्रकार किर्थर की पहाड़ियों से जिप्सम प्राप्त किया जाता था जिससे बर्तन तथा मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कुछ अन्य प्रकार के पत्थरों से दरवाजे, बल्लरे, मूर्तियाँ आदि बनाई जाती थीं। कुछ कीमती पत्थरों के आभूषण भी बनाये जाते थे। इस प्रकार पत्थर के लिए इन्हें नीलगिरि, पामीर, काश्गर, तुर्किस्तान या तिब्बत आदि तक जाना पड़ता था।

सूत कातने के चरखे—मोहेंजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त भग्नावशेषों में सूत कातने के चरखे का बहुतायत से घरों में पाया जाना भी इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों सूत कातना साधारण काम था और प्रत्येक व्यक्ति इस काम को करता था। वैदिक सभ्यता के पश्चात् ग्रामों में आज से एक शताब्दी पूर्व बिल्कुल यही प्रथा थी। प्रत्येक घर की बुढ़िया चर्खा कातती थी और उससे वह अपना जीवनयापन करती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु घाटी के निवासियों के ये चर्खे घर की केवल वृद्धाओं द्वारा चलाये जाते थे या सर्वसाधारण चलाते थे। पर कुछ कीमती चर्खों को देखकर यह भी धारणा बनाई गई है कि धनी एवं निर्धन समान रूप से चलाते थे। पर केवल

---

[१] एच० जी० वेल्स *What Happened In History*

Many well planned streets and a magnificent system of drains regularly cleared out reflects the vigilance of some regular municipal government. Its authority was strong enough to secure the observance of town planning bye laws and the maintenance of the approved lines for streets and lanes over several reconstructions rendered necessary by floods.

चर्खों के बहमूल्य होने से ही ऐसा अनुमान नही लगाया जा सकता। सूत प्राप्त करने के लिए इनके पास ऊन तथा रुई दानों प्रसाधन थे। एक रजतकलश से लिपटा प्राप्त हुआ सूती कपडे का एक टुकडा प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त भग्नावशेषों के अतिरिक्त पशुओं की अस्थियाँ आभूषण अस्त्र शस्त्र मुहरें आदि अनेकानेक वस्तुए प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर हम इस प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन ध्वसावशेषों का वर्णन प्रसगत आगे किया जायगा। विषय को सरल बनाने के लिये सिन्धु घाटी के निवासियों की विभिन्न परिस्थितियों (सामाजिक आर्थिक धार्मिक एव राजनीतिक) का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

सामाजिक अवस्था

भोजन—लगभग सभी प्राचीन सभ्य देशों के निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट है और अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसे जो कुछ कम या अधिक ज्ञान प्राप्त हो सका वह प्रकृति-सबधी ही। सिन्धु घाटी के निवासियों ने भी इस क्षेत्र मे काफी उन्नति कर ली थी। सौभाग्यवश वहाँ जल का बाहुल्य था अत सिंचाई सम्बन्धी किसी कठिनाई का सामना इन्हें नही करना पडता था। उत्खनन द्वारा गेहूँ तथा जौ के दाने प्राप्त हुए हैं। कृषि सम्बन्धी प्रमुख औजार नही मिले हैं। अत यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ये जुताई-बुआई किस प्रकार करते थे।

यहाँ खजूर की गुठली भी प्राप्त हुई है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लोग इसकी खेती करते थे और कुछ अन्य फलों के उत्पादन से भी परिचित रहे होंगे। ये शाकाहारी तथा मासाहारी दोनों थे। दूध के प्रयोग से भी ये परिचित थे।

वसन—सूत कातने के चर्खों तथा सूती कपडे के एक टुकडे की प्राप्ति का उल्लेख ऊपर किया गया है। इस आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन्हें वस्त्रों के उत्पादन में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो चुकी थी। वे सूती ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे। उनके वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान के लिए सौभाग्यवश एक पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है जो शाल ओढे है। यह शाल बाँयें कधे के ऊपर से होकर दाहिने काँख के नीचे से जाता है। दाहिना हाथ बिल्कुल खुला है। शाल ओढने की प्रथा को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे धोती का या इसी से मिलते-जुलते किसी वस्त्र का प्रयोग करते रहे होंगे। स्त्रियों के वस्त्र भिन्न थे। हडप्पा में उत्खनन द्वारा प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ सर पर एक विशेष वस्त्र पहनती थी जो पीछे की ओर पखे सा उठा रहता था।

आभूषण—सिन्धु घाटी के स्त्री-पुरुषों को आभूषणों से विशेष प्रेम था। धनी एव निर्धन समान रूप से इस ओर आकृष्ट थे। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे कम या अधिक कीमती आभूषण बनवाते थे। कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। इन आभूषणों में हार भुजबन्द कगन और मुद्रिका हैं। स्त्रियों के आभूषणों में नथुना करधनी बाली अधिक प्रचलित थी। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है सोना चाँदी कासा पत्थर आदि अनेक धातुओं एवं खनिजों से ये परिचित थे। अत धनी लोगों के आभूषण सोने चाँदी मणियों एव जवाहरातों के होते थे और निर्धनों के आभूषण सुरमे हड्डियों ताँबे तथा पकी मिट्टियों के होते थे।

विलास सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ—शृगार की ओर स्त्रियों की विशेष अभिरुचि

थी। हाथी दांत की कंघियां तथा पीतल के आइन का प्रयोग वे करती थी। मुख तथा ओष्ठ रंगने के लिए भी वे एक विशेष प्रकार के पदार्थ का प्रयोग करती थी।[1]

आमोद प्रमोद—जीवन में आमोद प्रमोद का महत्व उस प्राचीन काल में भी कम न था। ओलिम्पिया के स्पोर्ट्स की पुनरावृत्ति विश्व में आज भी हो रही है। पर इससे भी प्राचीन काल में सिंधु घाटी के निवासियों ने इसको जीवन में उचित स्थान दिया। प्राचीन काल का प्रिय खेल शतरंज यहाँ के निवासियों का प्रिय खेल था। कुछ ऐसी सील प्राप्त हुई है जिन पर धनुष-बाण से जंगली हिरण तथा बकरों का आखेट करते दिखलाया गया है। इससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि उनके मनोरंजन का एक अन्य साधन आखेट भी था। पक्षियों को पालकर ये उन्हें लड़ाते थे। मुर्गों की लड़ाई का इन्हें विशेष शौक था। कुछ ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर तुरही वीणा आदि के चित्र उत्कीर्ण हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि नृत्य एवं संगीत से भी इन्हें प्यार था। कांसे की एक नर्तकी की मूर्ति भी इस सत्य को प्रमाणित करती है।

तरुणों के अतिरिक्त बालकों के मनोविनोद एवं खेल का भी यहाँ समुचित प्रबन्ध था। अन्य शारीरिक खेलों के विषय में तो हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं है किन्तु प्राप्त खिलौनों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बच्चों के जीवन में खेल का काफी महत्व था। उत्खनन द्वारा असंख्य खिलौने प्राप्त हुए हैं जिनमें झुनझुनें, सीटियाँ, गाड़ियाँ जिनमें बैल जुते रहते थे और जिन पर चिड़ियाँ बढ़ाई जाती थी आदि प्रधान हैं। ये सारे खिलौने बहुधा मिट्टी के होते थे। नर-नारियों एवं पशु पक्षियों की आकृतियां भी मिट्टी की बनाई जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ के निवासी अपने बालकों के शारीरिक विकास एवं मनोविनोद का विशेष ध्यान रखते थे।

रहन-सहन के कुछ अन्य ढंग—भवनों एवं नगरों का वर्णन करते समय हमने बताया है कि इनके भवन हवादार एवं स्वच्छ होते थे। भवनों की सादगी में कुछ ऐसा भी आभासित होता है कि वे अपने भवनों को कुछ ऐसी वस्तुओं से सजाते रहे होंगे जो शीघ्र नष्ट रही होंगी। पर अलंकार से दूर रहना इनके लिए सम्भव नहीं जान पड़ता। ये छोटी दाढ़ी तथा मूछें रखते थे। कंघों की सहायता से ये अपने बालों को पीछे की ओर करते थे।

तौल के बटखरे—उत्खनन द्वारा पर्याप्त मात्रा में बटखरे प्राप्त हुए हैं। छोटे बटखरे बिल्लौर या स्लेटी पत्थर के हैं और ये प्रायः घनहल आकृति के हैं किन्तु बड़े बटखरे गोल पेंदी के नोकीले हैं। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि ये बटखरे अपनी शुद्धता में मेसोपोटामिया तथा एलम के बटखरों से भी बढ़कर हैं।

अंतिम क्रिया—मोहेन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों में उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर इनके मृतक संस्कार की कल्पना की जा सकती है। ये तीन प्रकार से अपने शवों की अन्तिम क्रिया करते थे—(१) या तो उनको पूरी समाधि दे दी जाती थी। (२) या पहले शव को खुले स्थान में इसलिए छोड़ दिया जाता था कि वह पशु-पक्षियों का आहार बने और तदुपरान्त अवशेष अस्थि-पंजर को दफना देते थे। (३) या पहले शव को जला देते थे और तब भस्म को भाण्ड में रखकर दफना देते थे। हाँड़ियों तथा कलशों में इस प्रकार की भस्म तथा जली अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर

[1] सर जान मार्शल ने इनकी विलासिता एवं शृंगारिकता पर लिखा है—'यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा में उपयोग करता था उसकी तुलना समकालीन सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं हो सकती।'

यह कहा सकता है कि सिंधु सभ्यता के प्रौ काल में जलाने की प्रथा प्रचलित थी। मोहेन जोन्डो की सड़कों और एक कमरे से लगभग बीस अस्थिपंजर उपलब्ध हुए हैं पर यहाँ कोई कब्र नहीं मिली है। किन्तु हड़प्पा में एक कब्रगाह भी प्राप्त हुआ है।

सामाजिक संगठन—सिंधु निवासियों के सामाजिक जीवन का वर्णन संक्षेप में ऊपर किया गया है। पर उनके सामाजिक संगठन पर भी कुछ प्रकाश डाल देना अनिवार्य है। सुमेरियों बेबीलोनियों काल्डिया एवं यूनानी सभ्यताओं के काल में वहाँ के सामाजिक संगठन का अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि इन अधिकांश सभ्य देशों का समाजिक संगठन उत्तम मध्यम तथा निम्न तीन वर्गों में सम्पूर्ण समाज को विभक्त करके हुआ था। राजा तथा उसके सामन्त एवं कभी-कभी पुरोहित को उत्तमवर्ग में रखते थे। मध्यमवर्ग में जमींदार तथा व्यापारी आते थे और निम्नवर्ग में बहुधा दास और किसान आते थे। पर सिंधु निवासियों का सामाजिक संगठन इनसे विशेष साम्य नहीं रखता। यहाँ सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में विभक्त था—(१) विद्वान (२) योद्धा (३) व्यापारी तथा (४) श्रमजीवी।

पुजारी ज्योतिषी तथा वैद्य आदि की गणना विद्वान वर्ग में की जाती थी। सैनिक कार्य करनेवाले तथा जन रक्षकों को योद्धा वर्ग में रक्खा गया था। औद्योगिक कार्य करनेवाले तथा वणिकों का तृतीय वर्ग व्यापारियों का था। चतुर्थ वर्ग में घर में काम करनेवाले नौकर तथा अन्य श्रमजीवी थे। छोटे मोटे घरेलू उद्योग धन्धों में लगे हुए व्यक्तियों को भी इसी वर्ग में रक्खा गया था।

आर्थिक दशा

प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है कि इनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। यह ज्ञात नहीं कि कृषि में ये हल का प्रयोग करते थे कि नहीं क्योंकि उसके अवशेष या खनन औजार के अन्य किसी प्रकार के अवशेष प्राप्य नहीं हैं। पर इनके पशुओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये हल का प्रयोग जानते थे। हो सकता है लकड़ी का होने के कारण वे नष्ट हो गये हों। आजकल की भाँति उस युग में सिंध भूमि शुष्क एवं वृष्टिहीन नहीं थी ऐसा पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। सिंध एवं मिहरान तथा उनकी सहायक नदियों से सिंचन-कार्य सुविधापूर्वक हो जाता था और यही कारण है कि सिंचाई के औजारों के चिह्न नहीं प्राप्त हुए हैं। गेहूँ जौ और खजूर का उत्पादन ये काफी करते थे। कृषि-कार्य के सहायक उद्योग पशु-पालन से भी ये अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। अस्थि पंजरों पर तथा मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनके पालतू पशुओं में से बैल गाय सुअर कुत्ते और हाथी प्रमुख थे। ऊँट तथा घोड़े की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। पर घोड़े की हड्डियाँ ऊपरी तह पर प्राप्त हुई हैं जिससे यह परिलक्षित होता है कि घोड़े का प्रयोग बाद में प्रारम्भ हुआ। बस इनके घरों में सुअर घड़ियाल मछलियाँ तथा चिड़ियों की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्हें सम्भवतः ये मारकर खाते थे। कुछ पत्रों पर गैंडा चीता भालू बन्दर तथा खरगोश के भी चित्र उत्कीर्ण हैं जिनसे ये परिचित मालूम पड़ते हैं।

विभिन्न प्रकार के घरेलू उद्योग धंधे भी इनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। इनमें स्वर्णकारों, कुम्भकारों बढ़ईगिरी मुहरों आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आभूषणों के

विषय में पहले ही बताया जा चुका है।[१] कुम्भकार चाक द्वारा रकाबियाँ, कटोरियाँ, प्यालियाँ, मटके, कुण्डे आदि बनाते थे। मिट्टी के खिलौने बनाकर भी ये अच्छी आय कर लेते थे। मिट्टी के बर्तनों एवं खिलौनों के अतिरिक्त ये दीवट, चूहेदानी तथा पिंजड़े भी मिट्टी से बनाते थे।

बढ़ई का महत्त्व भी इन दिनों कम न था। मोहेंजोदड़ो एवं हड़प्पा की चौड़ी-चौड़ी सड़कों पर बैलगाड़ियाँ अधिक चलाई जाती थीं। अन्तर्देशीय व्यापार में बैलगाड़ियों का महत्त्व अधिक था। बच्चों की गाड़ियाँ और कुर्सियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य छोटे-छोटे सामान बढ़ई बनाते थे। भवन-सम्बन्धी लकड़ी की सामग्रियाँ दरवाजे, खिड़कियाँ आदि बनाने में भी ये काफी दक्ष थे।

यहाँ लुहारों का प्रयोग इसके संकीर्ण अर्थ में नहीं किया गया है, अर्थात् केवल लोहे की सामग्री बनानेवाले को ही 'लुहार' की संज्ञा नहीं दी गई है। वास्तव में धातुकार को लुहार कहा गया है और अस्त्र-शस्त्र तथा आभूषणों के अतिरिक्त धातु की अन्य समस्त सामग्रियाँ बनानेवालों को लुहार कहा गया है। ये ताँबा, काँसा आदि से गंडासा, फरसा, खंजर, बर्छे, धनुष-बाण आदि बनाते थे। धातुओं के बर्तन भी यही लोग बनाते थे।

बुनकरों ने भी इस युग में काफी उन्नति की थी। पकी मिट्टी तथा हड्डियों के टेकुओं, सूत की नलिकाओं आदि की प्राप्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत की कताई पर्याप्त होती थी और यहाँ के बुनकर कुशलतापूर्वक कपड़े बुनते थे। ये ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्र तैयार करते थे।

इनके अतिरिक्त जौहरी, हाथी दाँत के काम करनेवाले, रँगरेज, पत्थर काटनेवाले विभिन्न प्रकार के लोग नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

कृषि, पशु-पालन एवं घरेलू उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में भी इन लोगों ने पर्याप्त उन्नति की थी। वाणिज्य एवं व्यवसाय में ये विश्व के अन्य नगरों की अपेक्षा काफी उन्नतिशील थे। चौड़ी-चौड़ी सड़कों की पटरियों पर छोटी-बड़ी दुकानें होती थीं। इनका विदेशी व्यापार सुमेरिया तक फैला था। इनके विदेशी व्यापार के विषय में गार्डन चाइल्ड का कथन है, "सिन्धु घाटी के नगरों की निर्मित सामग्रियाँ दजला फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेरियन कला की कुछ शैलियाँ, मेसोपोटामिया की शृंगार-सामग्रियों तथा एक बेलन के आकार की मुहर की अनुकरण सिन्धु निवासियों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल तथा विलास की वस्तुओं तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटों से लाई मछलियाँ मोहेंजोदड़ो की भोजन-सामग्री में सम्मिलित थीं।" इनके विदेशी व्यापार भारत के आस-पड़ोस एशिया के विभिन्न नगरों में भी होते थे। आयात व्यापार के विषय में धातु एवं खनिज पदार्थों के प्रकरण में थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है और बताया गया है कि सोना, ताँबा, पत्थर तथा मणियाँ भी आयात ये किया करते थे। इनके आन्तरिक व्यापार के विषय में प्रोफेसर गार्डन चाइल्ड का मत है "..... स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि सिन्धु के नगरों में शिल्पी बिक्री के लिए वस्तुएँ बनाते थे। इन सामानों के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने मुद्राओं का प्रचलन या मूल्य का माप स्वीकार किया था या नहीं, और यदि किया था तो क्या था—इसका ठीक पता नहीं है। इनके विशाल भवनों और मकानों

[१] इन रत्नकारों की निपुणता के विषय में एक विद्वान ने लिखा है, "ये बांड स्ट्रीट के किसी आधुनिक जौहरी की दुकान से आये हुए प्रतीत होते हैं, ईसा से ५००० ई० पू० के प्रागैतिहासिक काल के घर से आये हुए नहीं जान पड़ते'।

से लगे हुए सुरक्षित गोदामों से यह ज्ञात होता है कि इन घरों के स्वामी व्यापारी थे। इन घरों की संख्या और आकार यह बताते हैं कि यहाँ सुसंगठित एवं समृद्धशाली व्यापारियों की बस्ती थी।[१]

धार्मिक दशा

वैसे तो कुछ विद्वानों ने सुमेरियन सभ्यता के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद की कल्पना की है पर यह कल्पना सत्य के कहाँ तक निकट है यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में प्राचीन सभ्य देशों के अध्ययन से अब तक यही ज्ञान हो पाया है कि वे समस्त प्राचीन निवासी प्रारम्भ में बहुदेववादी प्रकृति-पूजक या शक्ति के उपासक थे। एकेश्वर वाद की कल्पना उन्होंने कालान्तर में की है। सिंधु घाटी के निवासियों की धार्मिक अवस्था भी कुछ इसी प्रकार की थी। इनके धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख साधन मुहरें तावीजें मूर्तियाँ आदि हैं। इन मुहरों या तावीजों पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर ही हम उनके धर्म के बाह्य रूप का बोध कर पाये हैं। स्पष्ट एवं पठनीय लिखित सामग्री के अभाव में उनके दर्शन का कोई ज्ञान हम प्राप्त नहीं है। उनके धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ इसका भी प्रामाणिक ज्ञान हमारे पास नहीं है।

मातृ देवी की उपासना—मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में असंख्य देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जैसा कि बलूचिस्तान में मिली हैं। इसी प्रकार की मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया इजियन सागर के आस-पास एलम एशिया माइनर मेसोपोटामिया सीरिया पैलेस्टाइन थ्रेस, साइप्रस बालकन इजिप्ट आदि में प्राप्त हुई है। विद्वानों का यह मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृति देवी की मूर्तियाँ हैं। मातृदेवी या प्रकृति देवी की इस उपासना को प्राचीनकालीन सिंधु में देखकर हम उस प्राचीन वैदिक कालीन मातृ-पूजा (आद्य-शक्ति या प्रकृति पृथ्वी या अदिति जिनका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है) से लेकर आधुनिक काल के ग्राम्यदेवता (जिनकी संख्या अनन्त है) तक की स्मृति आ जाती है और भारत के धार्मिक विश्वासों की इस प्राचीन शृंखला का बोध करके आश्चर्य-सा होने लगता है। इस मातृ-देवी की उपासना वे किस प्रकार करते थे इसका प्रमाण हमें हड़प्पा में प्राप्त एक अन्य सील के चित्र से मिलता है (यदि इस चित्र का सम्बन्ध पूर्व-कथित प्रतिमा से हो)। उक्त चित्र में एक ऐसी स्त्री बनी हुई है जिसके गर्भ से एक पौधा निकल रहा है। चाकू लिए हुए एक पुरुष है और एक स्त्री जिसकी सम्भवतः बलि चढ़ाई जानेवाली है हाथ ऊपर किये खड़ी है। यदि इसे मातृदेवी मान लिया जाय (जैसा कि अधिकांश विद्वान मानते हैं) तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे मातृदेवी की पूजा बलि द्वारा भी करते थे और बलि में नर-बलि भी सम्मिलित थी।

आदि पशुपति की उपासना—एक सील पर एक देवता की मूर्ति उत्कीर्ण है। इस देवता के तीन मुख और दो सींग हैं। यह योगासन में बैठा है। इसके दाहिने ओर एक हाथी और एक सिंह है बाईं ओर बारहसिंगा तथा भैंसा चित्रित है। सर पर शिरस्त्राण है। आसन के नीचे एक दो सींगवाला हिरन है। विद्वानों ने इस चित्र का गहन अध्ययन किया है। तीन मुख से त्रिमुख और त्रिनयन (शंकर भगवान का) चारों ओर पशुओं के चित्रों से पशुपति के रूप और पशुपति शिव योगासन से भी योगिराज शिव दोनों सींग शिव तथा शिरस्त्राण का त्रिशूल (शंकर भगवान का ही) अनुमान किया है। इस

[१] गार्डन चाइल्ड *What Happened In History*

प्रकार आदि पशुपति की पूजा का आभास मिलता है। कुछ विद्वानों ने हिरन और गो सींगों तथा शिरस्त्राण द्वारा कल्पित तीन वस्तुओं (त्रिशूल) को बौद्धों के त्रिरत्न की कल्पना का रूप पर यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि बौद्ध धर्म की प्राचीनता सिन्धु घाटी के निवासियों के धर्म में खोजना अधिक तर्कसंगत नहीं जँचता। मार्शल ने सिन्धु घाटी में शैवधर्म की उत्पत्ति मानकर उसे विश्व का प्राचीनतम धर्म स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

Among the many revelations that Mohenjodaro and Harppa have had in store for us none perhaps is more remarkable than this discovery that saivism has a history going back to the Chaleolithic Age of perhaps even further still and that it thus takes its place as the most ancient living faith in the world

श्री टी० एम० पी० महादेवन ने श्री मार्शल की इस विचारक्रान्ति का खण्डन बड़ी सूझ-बूझ के साथ किया है। उन्होंने तथाकथित शिव के चित्रण को शिव न होने के पक्ष में बड़े जोरदार मत दिए हैं। उनके अनुसार—

The figure on the roughly carved seal provides only very slender evidence for the theory which Marshall evolves out of it

लिंग तथा योनि पूजा के प्रतिनिधि के पाषाणों को जान मार्शल शैवधर्म की पुष्टि में प्रमाणस्वरूप उपस्थित करता है। उसके अनुसार—

They were all sacred objects of sort the larger ones serving as aniconic agalmala for cult purpo es the smaller are amulets to be carried on the person just as miniature lingas are commonly carried by saivites of to day

परन्तु महादेवन महोदय ने मार्शल के इस मत का भी खण्डन किया है और इस प्रकार शैवधर्म की प्राचीनता का पूरा ताना-बाना ही उखड़ जाता है। हमें तो अब नए तथ्यों के प्रकाश में आने तक अपने सत्यनिर्णय प्रतिपादन की प्रतीक्षा करनी होगी। सरजान मार्शल ने अपने मत की कमजोरी का आभास किया था अतएव वह कहता है—

Our task is but just beginning Fresh materials are coming to light almost daily and our horizon therefore is insensibly changing In such conditions any approach to finality is out of the question

मोहेन जोदड़ो में एक सील पर एक और भी चित्र अंकित मिला है जो योगी का है और एक नाग दोनों ओर पूजा में हाथ ऊपर उठाये हुए है। एक दूसरा चित्र भी वहीं अंकित है जो पवित्र एवं गुणवान देव का है। शक्ति-पूजा की कल्पना भी प्राप्त चित्रों के आधार पर की जा सकती है जो सम्भवतः मातृ देवी की पूजा या पृथ्वी-पूजा के उपरान्त आरम्भ हुई।

योनि-पूजा—शिव एवं शक्ति की उपासना के साथ-साथ लिंग-पूजा या योनि-पूजा भी प्रचलित थी। शिव की पूजा के साथ लिंग की पूजा का विकास होना हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति से समता स्थापित करता है। पत्थरों की बनी हुई लिंग तथा योनि की आकृतियाँ सिन्धु तथा बलूचिस्तान दोनों स्थानों में पाई गई हैं। लिंग पूजा आदि पशुपति की पूजा निश्चय ही प्रमाणित हो जाती है।

वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा—वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा के प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलते हैं। वृक्ष-पूजा दो रूपों में होती थी—(१) वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना तथा (२) प्रतीकात्मक रूप में, अर्थात् उस वृक्ष में किसी देवता का निवास मानकर। सिन्धु

निवासियों की वृक्ष-पूजा को जानकर हिन्दूधर्म में प्रचलित वृक्ष-पूजा की स्मृति आ जाती है। तुलसी व वृक्ष की पूजा आज भी इसके वास्तविक रूप में होती है और पीपल में वासुदेव भगवान का वास मानकर उसकी पूजा करते हैं। प्रथम प्रकार की पूजा अर्थात् वृक्ष को उसके वास्तविक रूप में पूजने की प्रथा का उदाहरण हड़प्पा की कुछ मुहरों से प्राप्त होता है। (हिन्दुओं के पवित्र वृक्ष) पीपल की दो डालों के बीच में एक देवता का चित्र मोहन जोदड़ो में प्राप्त हुआ है। (ध्यान रहे कि पीपल के पेड़ की पवित्रता न केवल हिन्दू धर्मावलम्बी ही स्वीकार करते हैं वरन् यह भगवान् बुद्ध का बोधि वृक्ष होने के नाते बौद्ध मतावलम्बियों का भी पावन वृक्ष है। इस देवता की आराधना में सात अन्य मूर्तियाँ चित्रित की गई हैं जो नारी चित्र हैं। इसमें एक पशु का भी चित्र है जिसके शरीर का कुछ भाग बैल का है तथा कुछ बकरे का और जिसका मुख मनुष्य का है। ऐसा अनुमान है कि यह पशु उक्त पीपल देवता का वाहन है। कुछ अन्य चित्र भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर इनकी वृक्ष पूजा या प्रकृति-पूजा का बोध होता है।

पशु-पूजा—सिन्धु सभ्यता के निवासी पशु-पूजा भी करते थे। इस सम्बन्ध में मुहरों तथा प्रस्तर पट्टों पर चित्रित या उत्कीर्ण मूर्तियों का प्रमाण पर्याप्त होगा। उनकी पशु-पूजा का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि वे पशुओं की आकृतियाँ कुछ विशेष आकार प्रकार की बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु थे जैसा कि ऊपर बकरे का उल्लेख किया गया है। आधा भेड़ आधा बकरा आधा हाथी और आधा बैल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से किसी पशु की आकृति का निर्माण करना यह सिद्ध करता है कि वे पशुओं में भी देवांश मानते थे और उनकी आराधना करते थे। और कुछ नहीं तो किसी देवता विशेष के वाहन रूप में तो उसकी पूजा करते ही रहे होंगे। कुछ पशुओं से इन्हें विशेष प्यार था और उनकी आकृतियाँ ये नितान्त कलात्मक ढंग से बनाते थे। बड़ी सींगवाला बैल या साँड़, भैंसा, शेर आदि इसी कोटि के पशु हैं। इन पशुओं के प्रति विशेष प्यार होने का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता सिवाय इसके कि ये इनके धार्मिक पशु हों। पिछले पृष्ठ में आदि पशुपति का उल्लेख करते हुए शेर तथा भैंसा के चित्रों का अंकित होना बतलाया गया था। सम्भव है ये देवता उनके पूज्य हों। आज भी वाहन रूप की हिन्दू शंकर के नन्दी-बैल, दुर्गा के सिंह, यमदेव के भैंसे, ब्रह्मा के भेड़े, इन्द्र की गज की सत्ता स्वीकार करते हैं।

धार्मिक प्रथायें—इनकी धार्मिक प्रथाओं के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। ये सम्भवतः स्नान से शरीर पवित्र करने में विश्वास करते थे और सम्भवतः इसीलिए मोहेनजोदड़ो में स्नान करने का इतना सुव्यवस्थित प्रबन्ध किया गया था। इन्होंने सम्भवतः मन्दिरों का निर्माण नहीं किया था, पूजा-पाठ या तो खुले स्थानों में या घरों में किया करते थे।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिन्धु घाटी के निवासियों के धर्म तथा हिन्दू धर्म में पर्याप्त साम्य है और इसी साम्य से प्रभावित होकर मार्शल महोदय ने लिखा है[१] "सिन्धु घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती-जुलती बातें हम अन्य देशों में भी मिल सकती हैं और यह बात सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के विषय में ठीक सिद्ध होगी। लेकिन सब कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आधुनिक युग में प्रचलित हिन्दू धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है।" प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक अन्ध-

१ सर जान मार्शल, *Mohenjodaro and the Indus Civilisation*

दिरवना जादू-टोना आदि का अधिक विवरण प्राप्त होता है। सिन्धु-सभ्यता में भी हमें इस प्रकार के अन्धविश्वासों का पता चलता है। स्वर्ग-नरक के विषय में इनकी कोई कल्पना थी या नहीं और यदि थी तो क्या थी इसका भी कोई ज्ञान हमें नहीं है। आमिषाहारी होने के कारण इनकी धार्मिक प्रथाओं में कुछ हिंसात्मक भी रहा होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है पर इसका भी कोई मान्य साक्ष्य नहीं है।

स्टुअर्ट पिगट महोदय ने भी हिन्दूधर्म का स्रोत सिन्धु घाटी से माना है। और अपने मत के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित कथन उपस्थित किया है—

The links between the Harappan religion and contemporary Hinduism are of course of immense interest providing as they do some explanations of those many features that cannot be derived from the Aryan traditions brought into India after or concurrently with the fall of the Harappan civilization The old faiths die hard! It is even possible that early historic Hindu society owed more to Harappan than it did to the sanskrit speaking invaders Piggot, *Prehistoric India*

जान मार्शल ने भी इसी मत का विवेचन करते हुए अन्त में लिखा है—

Of late ...

sume that the ... l and
material side ... and
... ence
of course argue on the probabilities
esumption is more natural than to
postulate the existence among the Indo Aryans of a body of belief

कला

कला के क्षेत्र में यहाँ के कलाकारों ने काफी उन्नति की थी। ये कला उपयोगिता के लिए पर विशेष जोर देते थे। सुविधा के लिए इनकी विभिन्न कलाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

भवन निर्माण-कला—सिन्धु घाटी के भवनों का विवरण पीछे दिया जा चुका है। हम जानते हैं कि इनके भवन यद्यपि स्वच्छ एवं सुडौल होते थे पर इनमें कलात्मकता का अभाव था। विशाल भवनों एवं हालों को देखकर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये इस कला में दक्ष थे और मकानों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाना चाहते थे। वृहत् स्नानागार इनकी इस कला का द्योतक है।

मूर्तिकला—वास्तव में यहाँ के कलाकार मूर्तिकला में ही विशेष उन्नति कर सके थे। इनकी मूर्तियाँ अधिक कलात्मक एवं कल्पनापूर्ण हैं। यूनानी तथा भारतीय (सिन्धु) मूर्तिकारों की प्रवृत्तियों की तुलना भी विशेष रुचिकर है। यूनानी मूर्तिकार शरीर के अवयवों को हृष्ट-पुष्ट एवं पूर्ण विकसित दिखाने के पक्ष में थे जबकि सिन्धु के कलाकार मुखमण्डन की भावाभिव्यक्ति पर अधिक जोर देते थे। यूनानी मूर्तियों को देखकर रसानुभूति नहीं हो पाती पर सिन्धु की मूर्तियों को देख हृदय में भावानिरेक हो उठता है। यहाँ नर्तकी की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। नर्तकी त्रिभंगी मुद्रा में नर्तन करने के लिए प्रस्तुत है। वह पैर ऊपर उठाकर पद प्रक्षेप करना चाहती है। दो पुरुषों की भी मूर्तियाँ उत्खनन द्वारा प्राप्त हुई हैं। यहाँ की मूर्तिकला की प्रशंसा में जान मार्शल ने लिखा है "सिन्धु घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ कुत्ता या अन्य पशुओं की मूर्तियों से साम्य रखता हो या उन उत्कीर्ण मुहरों से विशेष रूप से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है और जो निर्माण-कौशल तथा सुडौलपन की दृष्टि से अद्वितीय हैं न यही सम्भव है कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी प्रतिमाओं की तुलना रचना की सुघराई की दृष्टि से किन्हीं अन्य मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि हम यूनानी सभ्यता की प्रौढ़काल की मूर्तियाँ देखें।[१]

मुहर निर्माण कला—इस क्षेत्र में तो यहाँ के मनुष्यों ने आशातीत उन्नति की थी। मुहरें भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों हाथी दाँत धातुओं तथा मिट्टी की बनाई जाती थीं। इनके आकार भी विभिन्न हैं। अधिकांश मुहरें गोलाकार हैं। मुहरों की सुन्दरता उन पर उत्कीर्ण पशु आकृतियों से और बढ़ जाती है।

अन्य कलाएं—कुम्भकार-कला स्वर्ण-कला बर्तन बनाने की कला आदि पर पहले ही प्रसंगत प्रकाश डाला जा चुका है। चित्रकला का स्वतन्त्र रूप देखने को नहीं मिलता पर इससे यह अनुमान लगाना कि वे चित्रकला से अनभिज्ञ थे तर्कसंगत नहीं। वास्तव में चित्रकला का प्रदर्शन बहुधा शीघ्र नष्ट वस्तुओं पर होता है जिनका इतने दिनों तक सुरक्षित रहना असम्भव ही है। मिट्टी के बर्तनों और ताबीजों पर जो चित्र बने हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि वे चित्रकला से परिचित रहे होंगे।

लेखन-कला[२]—यहाँ के निवासी लिखना-पढ़ना अवश्य जानते थे जैसा कि मुहरों पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है पर कोई लेख-पत्र नहीं प्राप्त हुआ है। लगभग ५० मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ लिखा है। इनकी लिपि चित्रात्मक प्रतीत होती है और प्रत्येक चिह्न किसी शब्द या वस्तु विशेष के लिए बना है। ये दाहिने से बायें को लिखते थे पर कुछ मुहरों में कुछ पंक्तियाँ बायें से दायें को भी चलती हुई पाई गई हैं। दुर्भाग्यवश इनकी लिपि अब तक नहीं पढ़ी जा सकी है। इनके लेखों में कुछ मात्राओं का भी अनुमान किया गया है और जिन्हें स्वर चिह्न होने का अनुमान किया गया है वे सम्भवतः बाद में प्रचलित हुई। विद्वानों ने इनकी लिपि के विषय में ऐसा अनु

---

१ वही

२ विशेष विवरण के लिये देखिये डा० जी० आर० हन्टर लिखित *Script of Harappa and Mohenjodaro* तथा एच० हेरास लिखित *The Story of the two Mohenjodaro Signs*

मान लिया है कि यह लिपि सम्भवत वही लिपि है जिसका प्रयोग सुमेर एलम मिस्र तथा अन्य प्राचीन पश्चिमी देशों में होता था। कुछ ऐसी भी लिखावट मिली है जिसमें पहली पंक्ति तो दाहिने से बायें को है पर दूसरी बायें से दाहिने को है। इस प्रकार की लिखावट को बस्ट्रोफेडन (Boustrophedon) कहते हैं।

लिखित सामग्रियों का अभाव या प्राप्य सामग्रियों का अपठनीय होना इस सभ्यता के अधूरे ज्ञान का कारण बन जाता है क्योंकि इसके बिना हम तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के विषय में कुछ भी नहीं जान पाते हैं।

सिन्धु-सभ्यता के निर्माता

विचाराधीन सभ्यता-सम्बन्धी समस्त प्रश्नों में उक्त सभ्यता के निर्माताओं का नाम है। अस्थियों के अवशेषों तथा प्रतिमा मस्तकों के वैज्ञानिक अध्ययन से ऐसा परिलक्षित होता है कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता किसी एक जाति के नहीं थे वरन् कई जातियों के सम्मिश्रण से इस सभ्यता का निर्माण हुआ था। इन विभिन्न जातियों में प्राग्-आस्ट्रलायड (Proto Australoid), मेडिटरेनियन अल्पाइन तथा मंगोल विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० मुकर्जी ने बतलाया है कि प्राग्-आस्ट्रेलायड लोग निश्चय ही भारत के किसी भाग में ही यहाँ आये होंगे मेडिटरेनियन एशिया के दक्षिणी भाग से आये होंगे और मंगोल तथा अल्पाइन क्रमशः पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया से स्थानान्तरण करके यहाँ बस गए होंगे। उत्खनन द्वारा प्राप्त अस्थियों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है और इसका समर्थन मोहन जोदड़ो से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियाँ भी करती हैं। यहाँ प्रतिमाओं को विचाराधीन रख कर अन्वेषक निर्माताओं की जाति का पता लगा रहे हैं।[1] पर दुर्भाग्यवश प्रतिमाओं की संख्या भी बहुत कम है। हड़प्पा में भी अपर्याप्त प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। सुमेरियन तथा इनकी अन्य जातियों को भी इस सभ्यता का निर्माता मानने के लिए अनेक इतिहासकार तैयार हैं। अनुमान यह है कि द्रविड़ हों (चाहे वे उस अनादि काल में जिस रूप रंग के रहे हों) भारत के किसी भाग से या पश्चिम की ओर से स्थानान्तरण करके यहाँ आकर बस गए और कुछ अन्य जातियों (सम्भवतः प्राग्-आस्ट्रलायड जाति) के सम्मिश्रण से इस सभ्यता के निर्माण में तल्लीन हो गये।

वैदिक आर्य—कुछ भारतीय विद्वानों ने सिन्धु घाटी की संस्कृति में अपनी ही विशिष्ट विचारधारा का प्रतिपादन किया है। उन लोगों के अनुसार सिन्धुघाटी के लोग आर्य जाति के थे। परन्तु आजकल ऐसी कल्पनाएँ करना कोई महत्व की नहीं।

सुमेरियन—गार्डन चाइल्ड ने सिन्धु घाटी के लोगों को सुमेरियन माना है। उनके इस समान जातीय एकता के ही कारण हम दोनों संस्कृतियों में सामान्य तत्व देखते हैं। डा० हाल ने सुमेरियनों का मूल स्थान मेसोपोटामिया के पूर्व में रखा है और भारत के द्रविड़ों को भी सुमेरियनों की जातीयता का अंग बताया है। प्राचीन काल में द्रविड़ सम्पूर्ण भारत में व्याप्त थे। ब्राहुई भाषा अब भी इस बात का प्रमाण है लेकिन आयर विस कहते हैं—

---

[1] आर० के मुकर्जी ने अपनी पुस्तक *Hindu Civilization* में प्राग्-आस्ट्रलायडों का सम्बन्ध कोल भील आदि से स्थापित किया है। उन्होंने प्रतिमाओं के अध्ययन में बहुत सावधानी से काम लेने का संकेत किया है क्योंकि कलाकार प्रतिमा-मस्तक का निर्माण करते समय मानव-मस्तिष्क का ठीक-ठीक चित्रण करने के लिए बाध्य न थे और न वे मानव जाति के इतिहास के वैज्ञानिक ही थे।

सिन्धु सभ्यता का मूल, प्रसार और समय

The people who spoke Sumerian had their affinities with the people of the Caucasian or European type and we may regard south western Asia as their cradle land until evidence leading to different conclusions comes to light

अतएव हम अभी तक किसी निश्चित समाधान तक नहीं पहुंचे हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि सिन्धु घाटी के निर्माता आर्य नहीं थे।

सिन्धु सभ्यता का मूल प्रसार और समय—सिन्धु सभ्यता के मूल के विषय में उनके निर्माताओं का सही ज्ञान न होने के कारण भ्रम होना आवश्यक है। फिर भी इस सभ्यता के मूल तत्वों पर एक विहंगम दृष्टि डालकर हम उसका मूल ढूंढने का प्रयास कर सकते हैं। प्रारम्भ में ही यह बताया गया है कि आदि काल में या प्रागैतिहासिक काल में बड़ी-बड़ी नदियों की घाटियों में विश्व के अनेक भू भागों पर सभ्यता का जन्म होने लगा था। मिस्र को नील नदी की देन कहते हैं अर्थात् मिस्री सभ्यता को जन्म देने का कारण नील नदी है। दजला फरात की क्रोड में ही सुमेरिया तथा बबीलोनिया आदि की सभ्यता फूली फली थी। यागटीसीक्याग तथा ह्वांगहो नदी ने प्राचीन काल का जन्म दिया। इसी प्रकार हो सकता है कि अपने स्वाभाविक एवं प्राकृतिक रूप में सिन्ध तथा मिहरान जैसी बड़ी नदियों ने सिन्धु घाटी की सभ्यता को जन्म दिया और कौन जानता है कि गंगा-यमुना की गोद में भी कोई बहुत प्राचीन एवं परिपक्व सभ्यता निहित हो और जो पुरातत्ववेत्ताओं के फावड़ों की प्रतीक्षा कर रही हो। इस प्रकार इस सभ्यता के मूल के विषय में जो हम प्रथम अनुमान लगा सकते हैं वह स्वाभाविक और प्राकृतिक विकासोन्मुखी गति है।

विश्व इतिहास का अध्ययन करते समय जब हम विभिन्न देशों की संस्कृतियों का मूल ढूंढते हैं तो उस समय हम उनके मूलतत्वों को देखना पड़ता है और यह देखते हैं कि किस सभ्यता की छाप किस पर है। जहाँ एक के मूलतत्व अक्षरशः दूसरे से मिलते जुलते हैं वहाँ हम उन दोनों सभ्यताओं को समान या समान नहीं तो एक दूसरे की उत्तराधिकारिणी (यदि समकालीन नहीं हैं तो) घोषित करते हैं। कारण यह है कि सभ्यताओं के मूल तत्व ही उनकी मौलिकता के द्योतक हैं। जो सभ्यता मौलिक नहीं उसकी कोई देन नहीं हो सकती और जिस सभ्यता की कोई देन नहीं उसका कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय महत्व नहीं। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए हम सभ्यताओं का अध्ययन करते हैं। हम देखते हैं कि विश्व की लगभग सभी प्रमुख सभ्यताओं की अपनी एक मौलिकता है अपनी एक अलग छाप है। इस प्रकार वे एक दूसरे से भिन्न हैं। पर इस वैभिन्य में भी एक साम्य होता है। लेखन कला को ही लीजिये। मिस्र की लिपि क्रीट से भिन्न है। इसी प्रकार क्रीट की लिपि सुमेरियन लिपि से भिन्न है आदि-आदि। पर इस विभिन्नता में एक साम्य यह है कि ये सभी लिपियाँ चित्रात्मक हैं। इसी प्रकार कला सम्बन्धी विषयों में विभिन्नता रहते हुए भी एक साम्य है। विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न टेकनिक के बर्तन बनाये जाते थे पर चाक और अग्नि द्वारा बनना की पक्की रंगाई का ढंग समान था। अतः सभ्यताएं एक ओर तो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न रहती हैं पर एक आधारभूत तत्व समान होते हैं। सिन्धु सभ्यता भी अपनी कुछ मौलिकता रखती है और उसकी इसी मौलिकता के आधार पर हम यह कहने का दावा कर सकते हैं कि यह मेसोपोटामिया या मिस्र आदि की सभ्यताओं से बिल्कुल भिन्न है। सर जान मार्शल ने भी यह स्वीकार किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता अपनी समकालीन अन्य सभ्यताओं से बिल्कुल भिन्न है। ऐसी दशा में हम इसका मूल कहीं और ढूंढन

का प्रयास न करके इसे पूर्णतया स्वविकसित तथा अन्य देशों की सभ्यताओं की नकल से परे भी एक सभ्यता मानें तो अधिक तर्कयुक्त होगा।

सिन्धु सभ्यता कहाँ तक स्थानीय मेधावी शक्ति का प्रस्फुटन था। और कहाँ तक यह विदेशी प्रभाव से प्रभावित थी? डा० ह्वीलर ने मेसोपोटामिया को स्रोत माना है सिन्धु सभ्यता के उदय का। उनके अनुसार मेसोपोटामिया सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता के कई वर्ष पूर्व से फलफूल रही थी। नागरिक जीवन के आवश्यक तत्वों का इन स्थानों पर पूर्णतया विकास हो चुका था जैसे मध्यवर्ग के कल्याण की प्रभावशाली नागरिक चेतना का। अतएव सिन्धु घाटी के निर्माता भी अपने नगरों की सड़कों पर या अन्य सार्वजनिक स्थलों पर सुमेर की जनता जैसा जागरूक होकर अपने कर्तव्य का निर्वहन करते थे। बल्कि सिन्धु घाटी के नगरों में तो हम अधिक विकसित नागरिक चेतना का भी परिचय पाते हैं। हम यद्यपि मेसोपोटामिया की भाँति सिन्धु सभ्यता में राजकीय स्मारकों के अवशेष नहीं पाते हैं और न ही हम सिन्धु घाटी के लोगों की लकड़ी पर नक्काशी करने की कारीगरी से परिचित हैं परन्तु इन अभावों की पूर्ति तो हम सिन्धु घाटी की शानदार मोहरों में प्रतिबिम्बित तथा उत्कीर्ण पशुओं में होता है।

यद्यपि सुमेर तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता में एक साधारण सी समानता है परन्तु इस समानता से हम राजनैतिक प्रभुत्व की कल्पना नहीं कर सकते। सर जॉन मार्शल एवं अन्य कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी का उद्गम सुमेर एवं तत्कालीन पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं को माना है। उन्होंने लिखा है—

It bears a close resemblance both to second Prediluvian culture of Elam and Mesopotamia and to the proto historic culture of Sumer

अन्य विद्वानों ने सिन्धु घाटी की भारतीय सभ्यता स्वीकार करते हुए भारत ही की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं में इसका उद्भव स्वीकार किया है। भारतीय स्रोतों को मानने वालों के बीच सबसे बड़ी अड़चन यही है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता हमें एक मन्द गति से विकसित होती हुई नहीं प्रतीत होती है बल्कि शताब्दियों तक की अवधि में यह अपने एक ही रूप में उपस्थित होती है। एकाएक ही सर्वतोमुखी प्रगति कर लेना अवश्य ही शंका का विषय हो सकता है। परन्तु प्रसिद्ध इतिहास विशेषज्ञ श्री एरनाल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने Study of History के प्रथम खण्ड में विश्व की तीन महान संस्कृतियों—नील, यूफ्रेट्स तथा सिन्धु घाटी की संस्कृतियों का जंगली जीवन से एकाएक ही विकसित रूप माना है।

कैसे यह तीनों संस्कृतियाँ प्रस्फुटित हुई इसे बताना कुछ दुष्कर-सा है परन्तु सम्भवतः वे एक विशिष्ट परिस्थिति में जिसमें जंगली व्यक्तियों को अभूतपूर्व प्रयास करने की प्रेरणा प्राप्त हुई, एक चुनौती को स्वीकार करने के रूप में प्रस्तुत हुए थे। संस्कृति के उत्थान के पूर्व सहारा अरब तथा ईरान के ऊपरी भाग जल से सींचे जाते हुए घास के मैदान थे। धीरे धीरे सूखे एवं चक्रवातों ने उत्तर की ओर प्रयाण किया। इस प्रकार धीरे-धीरे और अनवरत रूप से इन भागों में वातावरण परिवर्तित होता रहा। इस प्रकार बर्बर जातियों के सम्मुख एक नई समस्या उपस्थित हुई। कुछ लोगों ने तो अपनी आदतें समयानुसार बदल डालीं। अन्य लोगों ने नील के डेल्टा के जंगलों तथा दलदली भूमि में प्रवेश किया और उन्हें रहने योग्य बनाया तथा मिस्री संस्कृति की

विकसित किया। ऐसी ही परिस्थितियों के मध्य टिगरिस-यूफ्रेट्स तथा सिन्धु सभ्यता का विकास हुआ था।

कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी की संस्कृति का स्रोत बलूचिस्तान की विभिन्न सभ्यताओं से माना है। ह्वीलर ने उचित ही लिखा है—

The Harappans were not an oasis in a desert the adjacent hills were teeming with variegated life which must have encroached readily upon the riverine civilization had this lacked effective integration

परन्तु वास्तव में सिन्धु घाटी के लोगों ने संस्कृति का मूल्य भाव पश्चिमी एशिया की संस्कृति से लिया था। तदनन्तर उस आधार पर उन्होंने एक पूर्णतया स्थानीय सभ्यता की आधार शिला रखी—

It is legitimate to affirm that the idea of civilization came to the land of the Indus from the land of the Twin Rivers whilst re organizing that the essential self sufficiency of each of the two civilizations induced a strongly localized and specialized cultural expression of that idea in each region (*Indus Civilization*)

सिन्धु सभ्यता की प्रसार सीमा का बोध भी हम प्राप्त भग्नावशेषों से होता है। यह बतलाया जा चुका है कि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हूदड़ो, झूकरदड़ो, अम्बाला, करांची, कुल्ली (बलूचिस्तान) आदि स्थानों में इस सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। अतः यहाँ तक इसका प्रसार मानने में कोई आपत्ति नहीं। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण सिन्ध तथा पंजाब में यह सभ्यता प्रसरित थी। इस सभ्यता का प्रसार किन कारणों वश सम्पूर्ण भारत में या कम से कम उत्तर भारत में नहीं हो सका इसका स्पष्ट ज्ञान हमें नहीं प्राप्त है। पर धातु एवं खनिज पदार्थ सम्बन्धी प्रकरण में यह बताया गया है कि मोहनजोदड़ो में जो मैनसिल प्राप्त हुआ है वह मैसूर से ही प्राप्त हो सका होगा। इसी प्रकार अमेजन पत्थर भी नीलगिरि पर्वत से ही मिल सका होगा। तब क्या यहाँ के निवासियों ने इन स्थानों तक अपनी सभ्यता का प्रसार नहीं किया होगा? या क्या यहाँ कोई पृथक् सभ्यता रही? डा० दीक्षित ने तो इस सभ्यता का प्रसार राजपूताना, काठियावाड़, पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त तक बतलाया है। डा० गार्डन चाइल्ड तथा हाल महोदय तो इसका विकास-क्षेत्र बहुत दूर तक बतलाते हैं और वे इस सभ्यता को ही सुमेरियन सभ्यता की जन्मदात्री या उत्तराधिकारी बतलाते हैं। इससे इस सभ्यता की प्राचीनता का भी बोध हो जाता है। सर जान मार्शल का मत है कि सिन्धु-सभ्यता यूरोप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में फैली थी और इसमें दजला फरात की घाटी, हेलमन्द की घाटी और सिन्धु की घाटी सम्मिलित थी। पर इस विषय में जब तक कोई अकाट्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

यह विश्वास करना असंगत है कि इस प्रकार नगर निर्माता भारत के किसी भी भाग से सम्बन्ध नहीं रखते थे और न ही उन्होंने उसके प्रमाण-स्वरूप कुछ अवशेष ही छोड़े हैं। परन्तु आधुनिक अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की सभ्यता सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ तक फैली हुई थी। इतर में निम्न

पर्वत की श्रेणियों से लेकर दक्षिण में ताप्ती की घाटी में भगतराव तक, पूर्व में मेरठ जिले के आलमगीर से लेकर पश्चिम में सुत्कगेनडोर तक इस संस्कृति के चिह्न हमें प्राप्त हुए हैं। लगभग ६० स्थानों से हमें हड़प्पा सभ्यता के चिह्न मिले हैं। इस प्रकार प्रोफेसर पिगट ने हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो को एक महान साम्राज्य की दो राजधानियों की संज्ञा दी है—

We are entitled to regard the Harappa Kingdom as governed from two capital cities 350 miles apart but linked by a continuous river thoroughfare

मूल और प्रसार की भाँति ही सिन्धु सभ्यता के काल का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल है। प्राप्त सप्तस्तरीय भग्नावशेषों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता का काल इस प्रकार अनुमानित किया कि इन स्तरों में तीन युग पश्चात्कालीन हैं, तीन मध्यकालीन हैं तथा एक प्राचीन है। और यदि प्रत्येक स्तर का समय ५०० वर्ष का भी माना जाय तो इस हिसाब से इस सभ्यता का प्रसार-काल ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी समान मुहरें सिन्धु तथा एलम और मेसोपोटामिया में प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर भी इस सभ्यता को २८०० ई० पू० का कह सकते हैं यद्यपि सिन्धु की ये समान मुहरें पश्चात्कालीन हैं। मुहरों के अतिरिक्त वास्तु-कला सम्बन्धी यहाँ कुछ अन्य भग्नावशेष भी ऐसे प्राप्त हुए हैं जो मेसोपोटामिया के समान हैं। अतः इस सभ्यता को यदि मेसोपोटामिया से प्राचीन नहीं तो समकालीन अवश्य मान सकते हैं। बगदाद के निकट प्राचीन एशनन में उत्खनन द्वारा प्राप्त अन्य वस्तुओं के साथ, जो २५०० ई० पू० की प्रमाणित हो चुकी हैं, कुछ भारतीय वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं जिससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता इससे पूर्व की है। इसी प्रकार बेबीलोनिया के अवशेषों तथा मोहनजोदड़ो के अवशेषों में भी कुछ साम्य प्रतीत होता है और कुछ महाशयों का यह विश्वास है कि सुमेरिया तथा सिन्धु नदी की घाटी के निवासी एवं बलूचिस्तान या इसके किसी निकटवर्ती प्रदेश में निवास करनेवाली किसी एक ही जाति की सन्तान हैं। यदि यह सम्भव हो तो यह भी माना जा सकता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता बेबीलोनियन सभ्यता से प्राचीन है क्योंकि सुमेरियन सभ्यता के पश्चात् ही दजला फरात की घाटी में ही (जहाँ सुमेरियन सभ्यता का उदय हुआ था) बेबीलोनियन सभ्यता का विकास हुआ।

प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने सिन्धु घाटी का समय निश्चित करते हुए लिखा है—

If we regard 2300 B C as the mean date in the career of the Indus civilization which was then in full flower we get the period 2800-1800 B C as the possible date of this civilization This will harmonize with the evidence of archaeology vedic philology ancient Indian history and Near Eastern history (*G C Pandey*)

लेकिन सामान्यतः ह्वीलर महोदय का ही कालनिर्धारण ठीक माना जाता है। उनके अनुसार—

'The period 2500-1500 B C has been estimated as likely to have comprised the material available without prejudice to such further evidence as may eventually be forthcoming from the un

plumbed depths of Mohen jo daro or Chanlu daro (*Indus Civili zation*)

गाडन चाइल्ड का कथन है ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व की अबीडोस (Abydos) उर (Ur) या मोहेनजोदडो का भौतिक संस्कृति पेरिक्लीज के काल एथेन्स अथवा किसी मध्यकालीन नगर की सभ्यता से तुलना कर सकती है। भवन निर्माण कला, वस्तु निर्माण-कला या मुहर निर्माण-कला और मिट्टी के बर्तनों की चमक तथा सुन्दरता को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के प्रारम्भ में सिन्धु सभ्यता बेबीलोनियन सभ्यता से काफी आगे थी। किन्तु भारतीय संस्कृति का यह पश्चातकालीन स्वरूप था। इसने इससे पूर्व और प्राचीन समय में भी पथ प्रदर्शन किया होगा। वे अनुसंधान और आविष्कार जो पूर्व सुमेरीय संस्कृति को अभिहित करते हैं बेबीलोनिया की भूमि पर देशीय विकास थे परन्तु उनकी प्रेरणा भारत से प्राप्त हुई थी।[1]

सर जान मार्शल भी इस सभ्यता की प्राचीनता तथा इसकी महानता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं मोहनजोदडो तथा हडप्पा दोनों स्थानों में एक बात जो स्पष्टतया प्रकट होती है और जिसके सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं हो सकता वह यह है कि इन दोनों स्थानों में जो सभ्यता हमारे सम्मुख आई है वह कोई प्रारम्भिक सभ्यता नहीं है अपितु ऐसी है जो सभी युगों की प्राचीन हो चुकी थी भारत भूमि पर सुदृढ़ हो चुकी थी और उसके पीछे मानव की शताब्दियों की कृतियां हैं। इस प्रकार अब से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईरान मेसोपोटामिया और मिस्र की भाँति भारतवर्ष उन सबसे प्रमुख देशों में से है जहाँ सभ्यता का जन्म और विकास हुआ था।

उपरोक्त विवरणों एवं उद्धरणों से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता काफी प्राचीन सभ्यता थी और विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं से किसी प्रकार कम न थी वरन कुछ बातों में उनसे अधिक उन्नतिशील थी।

सिन्धु घाटी के निर्माता एवं आर्य

सिन्धु घाटी की संस्कृति तथा आर्य सभ्यता में परस्पर तुलनात्मक विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सिन्धु घाटी के निर्माता आर्य संस्कृति से पृथक संस्कृति के परिपोषक थे। ऋग्वेद से हमें पता चलता है कि इन्डो-आर्य समाज अधिकतर पशुओं को चराने वाला तथा अधिकतर खेती करने वाला समाज था जिनको नगर की सभ्यता का ज्ञान भी नहीं था या जिन्हें नगरों की जटिल आर्थिक व्यवस्था का परिचय नहीं था। उनके घर लकड़ी की बल्लियों द्वारा बनाये जाते थे। मोहेनजोदडो एवं हडप्पा में हम सघन जनसंख्या वाले नगरों का अस्तित्व पाते हैं। यहाँ नागों के मकान पकाई हुई ईंटों के बनाये जाते थे एवं उनके स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था थी। मकानों में स्नानागार कूप तथा अन्य जीवन की आवश्यक वस्तुएँ रहती थी। इन्डो आर्य लोगों को जिन धातुओं का ज्ञान था उनमें सुवर्ण या ताम्र सम्मिलित थे यद्यपि यजुर्वेद एवं अथर्ववेद के रचना के समय तक रजत एवं लौह का भी प्रयोग होने लगता है। सिन्धु घाटी के लोगों में हम सोने की तुलना में चाँदी का अधिक प्रयोग करते हैं यहाँ के लोग घर के बर्तन पाषाणों के भी बनाए जाते थे जो कि उत्तर पाषाण काल की देन है। ताम्र के दन वर्तन भी हम इस संस्कृति के अन्तर्गत पाते हैं। लौह का कोई भी अवशेष हमें नहीं मिलता है। आक्रामक हथियारों के लिए यद्यपि आर्य लोग धनुष माने

[1] गार्डन चाइल्ड New Light on the Most Ancient East

कुल्हाडी एवं खंजर रखते थे—और सुरक्षा के लिए वे कवच तथा लौह टोप रखते थे। सिन्धु घाटी के लोग भी तीर धनुष भाला कुल्हाडी रखते थे यही नहीं वे गदा (mace) का भी प्रयोग करते थे। उनकी सुरक्षा के हथियारों में हम किसी भी हथियार का अवशेष नहीं पाते। वैदिक आर्य मांसभक्षी राष्ट्र के सदस्य थे लेकिन मछली के प्रति वे घृणा रखते थे क्योंकि उनका उल्लेख ऋग्वेद में कहीं भी नहीं है। लेकिन सिन्धुवासी मछली तथा अन्य जल में रहने वाले जीवों का भक्षण करते थे। आर्यों के जीवन में घोड़ों का महत्वपूर्ण स्थान था लेकिन सिन्धु घाटी के लोग घोड़े से परिचित नहीं थे। वैदिक सम्यता के लोग गाय का अत्यधिक आदर करते थे परन्तु सिन्धुवासी बैल को विशिष्ट स्थान प्रदान किए हुए थे। वैदिक धर्म सामान्य रूप से मूर्ति पूजा विरोधी था। सिन्धुवासी मुख्य रूप में मूर्तिपूजक थे। वैदिक धर्म में स्त्री देवता का सदैव गौण स्थान रहता था लेकिन सिन्धुवासियों में स्त्री देवताओं का स्थान पुरुष देवताओं के समकक्ष ही था। सिन्धु के लोगों की आराध्य देवी माता देवी थी। यहाँ नहीं शिव की उपासना में भी वे नाग मन केन्द्रित कर सकते थे। ऋग्वेद में अग्नि को सर्वप्रमुख देवता माना गया है और अग्निकुण्ड प्रत्येक घर में होना एक आवश्यक तत्व माना गया है। मोहनजोदड़ो के निवासियों के घरों में हम नाग अग्नि कुण्ड के दर्शन नहीं पाते हैं इंडो आर्य लोग लिंग पूजा से घृणा करते थे और इसीलिए उन्होंने अपने विरोधियों का शिश्नदेवा कहा है क्योंकि वे लिंग के पूजक थे। यह विरोधी सिन्धुघाटी के लोग ही हो सकते हैं।

आर्य आक्रामक के रूप में—पुरातत्व साधना तथा साहित्यिक साधना से लगभग अब यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य भारत में आक्रामकों के रूप में उपस्थित हुए थे। उन्होंने हड़प्पा युगीन संस्कृति को नष्ट करके भारतवर्ष में अपनी सम्यता की नींव डाली थी। बलूचिस्तान में कई स्थानों पर खुदाई करने पर यह पता चला है कि हड़प्पा कालीन (lhase के बाद हम नगरों के जला दिये जाने के चिह्न मिलते हैं। किन्तु गुल मुहम्मद इसका जीता जागता प्रमाण है। सिन्ध एवं पंजाब के हड़प्पा कालीन क्षेत्रों में भी इसी तरह तरह के दर्शन हम प्राप्त होते हैं। मोहनजोदड़ो में तो हम तलवार से काट गए मनुष्य के ढाँचे मिले हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि एक घमासान युद्ध इस स्थान पर लड़ा गया था। हड़प्पा में तो हम पूर्णतया नवीन सम्यता के दर्शन पाते हैं। इस प्रकार चन्हुदड़ो में भी हड़प्पा सम्यता के उपरान्त हम एकदम नवीन सम्यता के अवशेष मिले हैं। हड़प्पा पश्चात् की सम्यताओं को हम तीन भागों में रख सकते हैं—झूकर सम्यता सिमिट्री एच० (Cemetry H) सम्यता एवं झांगर सम्यता। झूकर सम्यता इन सम्यताओं में भी बाद की है।

इन विभिन्न सम्यताओं के निर्माता या आक्रमणकारी कौन थे इसमें पर्याप्त मत भेद है परन्तु गाइन तथा वत्स ने आर्यों को इन सम्यताओं का निर्माता माना है। इस प्रकार आर्य आक्रमणकारियों के रूप में हमारे सम्मुख इन तथ्यों से आते हैं।

ऋग्वेद में भी हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की सम्यता का परोक्ष रूप से उल्लेख मिलता है। इन लोगों के लिए ऋग्वेद में कई शब्द आए हैं जैसे दास दस्यु या असुर। उनकी भाषा के लिए मृध्रवाक् वर्णित कर्मकाण्डों के विरोध के कारण उन्हें अकर्मन, अयज्वन एवं शिश्नदेव कहा गया है। इस प्रकार अनार्य सम्यता के यह गुण हम हड़प्पा कालीन सम्यता से अनुमानित होते हैं।

हड़प्पा के नगरों एवं दुर्गों का भी निर्देश ऋग्वेद में मिलता है जैसे पृथ्वी (विस्तृत) उर्वी (चौड़ा), गोमती एवं १०० स्तम्भों वाला (शतभुजी) अश्ममयी

(Asmamayi) अर्थात पाषाण का बना हुआ एव शारदी (वाग) से सुरक्षित रखने वाला कहा है। इसी प्रकार अनार्य सभ्यता को १०० नगरों वाली सभ्यता कहा गया है। इन्द्र को पुरदर (नगरो को विध्वस करने वाल) की सज्ञा दी गई। यह सब वर्णन हडप्पा एव मोहेनजोद ो के लिए पूर्णतया उपयुक्त लगते हैं। अतएव हम यदि आर्यों को इस सभ्यता का ध्वस करने वाल का नाम दें तो कोई अनुचित न होगा।

Allahabad University

1 Discuss the salient features of Harappan culture with special reference to town planning sanitation and craft (1960)

2 Discuss the archaeological evidence for India s contacts with western Asia in the 3rd and 2nd millennium B C (1959)

3 Discuss the main features of Harappan religion and its influence on later Indian religion (1959)

4 *Discuss the archaeological evidence of India s contacts* with western Asia in the 3rd and 2nd millennium B C (1958)

5 Discuss the salient features of Harappan culture with special reference to town planning sanitation and arts and crafts (1958)

6 Discuss the Chronology of Harappan culture (1957)

7 What light do the excavated antiquities throw on the religion of the Harappans? Discuss the influence on later Indian religion (1957)

8 Discus the archaeological evidence of India s contacts with West Asia *in 3rd and 2nd millennium B C (1956)*

9 Discuss the Chronology of the Harappans (1955)

10 The Harappan civilization while largely selfsufficient and essentially Indian in its origin nevertheless did have certain intermittent outside contacts Elucidate the indigenous nature of the Harappan *civilisation and describe its foreign contacts (1953)*

अगरा यूनिवर्सिटी

१ मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर सिन्धु घाटी की सभ्यता का सविस्तार उल्लेख कीजिए। (१९५४)

२ सिन्धु घाटी की सभ्यता विषयक प्राक् आर्य-द्रविड सिद्धात क पक्ष और विपक्ष में अपने तर्कों का सक्षिप्त विवरण दीजिए। (१९५०)

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

१ मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिन्धु घाटी की सभ्यता की विवेचना कीजिए। १९५०)

४ | आर्य जाति

मानव अपने पशुवत् जीवन को काफी दिनों तक ढोता रहा। उसकी बर्बरता उसे शताब्दियों तक जकड़े रही पर विकास एवं प्रगति का पुतला मानव अधिक दिनों तक यह भार सहन नहीं कर सकता था। अतः ईसा से लगभग ७–८ हजार वर्ष पूर्व (सम्भव है इसके भी कुछ पहले ?) उसने अपने को पशुओं से भिन्न करके सभ्यता की ओर पहला और ठोस कदम उठाया। यहाँ सभ्यता का अर्थ आज के व्यापक रूप में लिया गया है जिससे बहुमुखी उन्नति व्यंजित होती है। अपने इस प्रयास के लिये उसे उपयुक्त भूमि एवं उपयुक्त वातावरण ढूँढना पड़ा। वह निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकता रहा और अन्त में वह विश्व के अनेक भागों में सभ्यता का बीजारोपण करने में सफल हुआ। मानव की यह सभ्यता प्रागैतिहासिक कालीन सभ्यता से बहुत आगे बढ़ी थी और वास्तव में इसे ही सभ्यता की संज्ञा दी जा सकती है। इन्हीं सभ्यता निर्माताओं में आर्यों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत की आदि सभ्यता (ऐतिहासिक काल की सभ्यता) का निर्माण भी इन्हीं आर्यों ने किया था। विश्व के कुछ दूसरे भागों में भी इन्हीं आर्यों के वंशज ने सभ्यता का प्रसार किया। इतनी महत्वपूर्ण जाति के मूल के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान अनिश्चित एवं भ्रममूलक रहना इतिहास का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। आर्यों के मूल के विषय में इतिहासकार आज तक एक मत नहीं हो सके हैं। इतिहासकार स्मिथ ने आर्यों के आदि देश के विवेचन की जटिलता का अनुमान करते हुए लिखा है—

Discussion concerning the original seat or home of Aryans is omitted purposely because no hypothesis on the subject seems to be established.

अब हम नीचे तत्सम्बन्धी समस्त मतमतान्तर का उल्लेख करते हुए उनकी समीक्षा करेंगे।

आर्य भारत के आदि निवासी नहीं थे इसका हवाला सबसे हम स्वयं आर्यों के आदि एवं सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद से मिलता है। अतः अब हम इनका मूल कहीं अन्यत्र ढूँढना होगा। आर्यों की मूल भूमि के विषय में अब तक निम्नलिखित धारणायें हैं —

१ मध्य एशिया २ रूस ३ फिनलैंड ४ बोहेमिया (चेकोस्लोवाकिया), ५ उत्तरी ध्रुव की निकटस्थ भूमि।

आर्यों के आदि देश के विषय में खोज करनेवाले अन्वेषकों का अभाव नहीं और न तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही अभाव है। मैक्समूलर, बॉप, गाइजर प्रो० गाइल्स बाल गंगाधर तिलक आदि अनेक प्रकाण्ड विद्वानों एवं महर्षियों ने इस क्षेत्र में अन्वेषण किया है और इस प्रकार अपने पाण्डित्य द्वारा आर्यों के इस अज्ञात आदि निवासस्थान को बताने का प्रयास किया। अपने अन्वेषण का आधार इन विद्वानों ने भाषा विज्ञान

जाति विषयक विशेषताएँ तथा पुरातात्विक उपकरण रक्खा है।[१] आर्यों के आदि निवास स्थान का जो वर्गीकरण किया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि कुछ विद्वान् आर्यों का आदि देश योरप में ही बताते हैं, कुछ लोग मध्य एशिया को वह स्थान घोषित करते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार वह भूमि आर्कटिक प्रदेश में कहीं थी और कुछ इतिहासकार भारत को ही आर्यों की मूल भूमि प्रमाणित करते हैं। इन समस्त मतों पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

आदि देश योरप—वे विद्वान जो आर्यों का मूल योरप के ही किसी भू भाग में मानते हैं अपने मत का प्रचार १८वीं शताब्दी तक बड़ी धूम से करते रहे और उनका मत धीरे धीरे जोर भी पकड़ता गया। इस मत का प्रथम प्रचारक हम फ्लोरेंस के एक सौदागर फिलिप्पो सेसेटी को कह सकते हैं। यह सौदागर पाँच वर्ष तक गोआ में निवास कर चुका था और भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अनेक भाषाओं का इसे ज्ञान था। इसने यह घोषित किया कि भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अन्य भाषाओं में कुछ साम्य है। यद्यपि भाषा सम्बन्धी साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट करा देने मात्र से ही हम उक्त सौदागर को इस मत का प्रचारक नहीं कह सकते पर आगे चलकर हम देखते हैं कि इस मत के समस्त समर्थक भाषा विज्ञान का ही सहारा लेते हैं और उसी के आधार पर अपने मत की पुष्टि करते हैं। उक्त सौदागर के विचारों का समर्थन सर्वप्रथम बंगाल के प्रधान न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। इन्होंने १७८६ ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के सामने अपना एक लेख पढ़ा जिसमें यह बताया कि आर्यों की विभिन्न शाखाओं में बहुत से शब्द समान हैं और उनमें जो अन्तर पड़ा है वह समय की दूरी के कारण। इन्होंने पितृ, मातृ आदि शब्दों के साम्य को योरप की अन्य भाषाओं में दिखलाया। निश्चय ही भाषा का यह साम्य हम उक्त मत को सारा समर्थन के लिए एक बार बाध्य करता है। हम देखते हैं कि संस्कृत पितृ लैटिन में पेतर, ग्रीक में पतेर, जर्मन में फतर, केल्ट में आथर, गाथिक में फदर, तारवारियन में पचर तथा अंग्रेजी में फादर आदि ऐसे शब्द हैं जो बिलकुल भिन्न जान पड़ते हैं। इसी प्रकार संस्कृत द्वौ, लैटिन दुआ, आइरिश दौ, गाथिक त्वय, लिथुनियन दु तथा अंग्रेजी टू एक दूसरे से कितने निकट हैं। भाषा सम्बन्धी यह साम्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और सर विलियम जोन्स के विचारों का विद्वानों ने स्वागत किया पर यह साम्य अधिक से अधिक केवल यह सिद्ध करता है कि उपरोक्त भाषा भाषी कभी कहीं एक स्थान पर रहे होंगे। इससे अधिक इस साम्य से और कुछ ज्ञात नहीं होता। इसमें भी प्रतिवाद का स्थान है। कुछ आलोचकों का कहना है कि भाषा का साम्य केवल इसलिए नहीं हो सकता कि उसके भाषा भाषी एक ही जाति के थे बिना एक भी स्थान पर दो विभिन्न जातियाँ रह सकती हैं और उनमें भाषा-सम्बन्धी साम्य हो सकता है। शक्तिशाली भाषा का प्रभाव भी इस क्षेत्र में काम करता है और किसी स्थान की शक्तिशाली भाषा की छाप दुर्बलस्य भाषा पर पड़ती है यदि उन दो विभिन्न स्थानों में कोई सम्पर्क हो तो। भाषा को आधार मानकर जातीय समस्या सुलझाकर आर्यों के मन के प्रश्न को सुलझाने का जो रीति सर विलियम जोन्स ने सन् १७८६ में चलाई वह १९वीं शताब्दी तक बड़े जोर पकड़ती रही। भाषा-सम्बन्धी साम्य के आधार पर योरप को आर्यों का आदि देश मानने वालों का यह तर्क है कि भारतीय

---

१ आर्यों के मूल के विशेष अध्ययन के लिए देखिए—*Cambridge History of Ind* ■ आइज़क टेलर, गाइल्स, वाइल्ड *The Origin of the Aryans The Aryans*

(इण्डो-योरोपियन) भाषाएँ काफी अधिक संख्या में योरप के सीमित क्षेत्रों में ही पाई जाती हैं। योरप के बाहर या बहुत दूर इनका प्रयोग नाममात्र का ही है और केवल नगण्य रूप में वहाँ इनके मुहावरे बिखरे में हैं। अतः जब कोई भाषा साम्य का प्रश्न (योरोपियन भाषाओं के साम्य का प्रश्न) आता है तो यह स्पष्ट है कि समभाषा भाषी लोग कभी योरप के ही आदि निवासी रहे होंगे। योरोपीय भाषाओं के भौगोलिक वितरण के आधार पर ही उनका यह मत अवलम्बित है। योरप में निवास की ओर घेरते हुए ये विद्वान अपना तर्क इस प्रकार भी उपस्थित करते हैं कि भाषा साम्य के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारोपीय (इण्डो-योरोपियन) भाषाओं में जितनी भी इस समय जीवित हैं उनमें से कोई भी अब अपने मूल रूप में नहीं है पर लिथुआनियन भाषा आज भी अपने को मूल मुहावरों के निकट रक्खे हुए है। पहले तर्क द्वारा तो योरोपीय सिद्धान्त के समर्थकों ने योरप को आर्यों का मूल सिद्ध कर दिया तथा दूसरे तर्क द्वारा उस विस्तृत योरप खण्ड के एक भाग (लिथुआनियन भाषा भाषी भाग) को सम्पूर्ण आर्यों की मूल भूमि बता दी।

योरप के विभिन्न भागों को आर्यों का मूल बतानेवालों के तर्कों का विस्तृत वर्णन नीचे किया जायगा।

हंगरी का मैदान, दक्षिणी रूस तथा जर्मनी आदि को यह विवादास्पद भूमि विद्वानों द्वारा घोषित किया गया है। हंगरी के मैदान के समर्थक डा० पी० गाइल्स हैं। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Cambridge History of India* में लिखा है —

उनकी भाषा से हमें ज्ञान होता है कि किन किन पशुओं एवं वृक्षों का उन्हें ज्ञान था। उन भाषाओं के साम्य से जिन्हें वे जानते थे हम ऐसा अनुमान करते हैं कि वे लोग पर्याप्त समय तक एक स्थान पर एक साथ रहे होंगे जिसमें कई पीढ़ियों तक वे अपने विशेष गुणों में विकास लाते रहे। यह क्षेत्र गिरि शृंखला अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों से पृथक कर दिया गया होगा। इन भाषाओं के अध्ययन से हमें यह आभास नहीं मिलता कि यह लोग किसी द्वीप पर रहते रहे होंगे। यह भी सन्देहात्मक है कि समुद्र के लिए उन्हें किसी शब्द का ज्ञान भी था। अतः यह असम्भव नहीं कि वह स्थान समुद्र से परिवेष्टित हो। इनकी भाषाओं के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि इन्हें किन किन वृक्षों का ज्ञान था। ये वृक्ष शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होते हैं। अतः आर्यों का आदि देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा। वह पर्वत मालाओं से भी घिरा रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि किन फलों का उन्हें ज्ञान था। यह बहुत सम्भव है कि आर्य लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सुअर, हिरन इत्यादि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी से वे अपरिचित थे। जंगली पशुओं में उन्हें भेड़िया तथा भालू का ज्ञान था किन्तु बाघ अथवा सिंह से वे अपरिचित थे। बत्तख तथा गिद्ध को भी वे जानते थे। ये लोग खाद्यान्न विशेषतया गेहूँ तथा जौ का प्रयोग जानते थे। योरप में कोई ऐसा अन्य प्रदेश है जहाँ ये सारी बातें प्राप्य हों? केवल एक क्षेत्र ऐसा है। इसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत-माला है। दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन आल्प्स तथा बोहमरवाल्ड और उत्तर में एर्ज बर्ग तथा अन्य पर्वतमालाएँ हैं जो कारपेथियन से मिल जाती हैं। यह क्षेत्र बड़ा उपजाऊ है तथा हंगरी के मैदान में खाद्यान्नों के पौधे पाये जाते हैं। यहाँ घास के मैदान भी हैं जहाँ घोड़े पाले जा सकते हैं। पर्वत की उपत्यकाओं

म म ो क लिए काफी सुविधाएँ हैं। सुअर भी यहाँ मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के ज्ञात वृक्ष भी यहाँ पाये जाते हैं अत यहाँ क्षेत्र आर्यों का आदि देश रहा होगा।

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि गाइल्स महोदय न आर्यों की परिचित वनस्पति एव जीव जगत आदि के आधार पर आर्यों का मूल ढूढने का प्रयास किया है। उन्होंने उपरोक्त परिचित वनस्पति एव जीव जगत को भारत पामीर की पठारी भूमि यूरप का उत्तरी भाग रूस तथा आर्कटिक प्रदेश म भी पाया जाना माना है पर प्रधानता उन्होंने हंगरी को ही दी है जसा कि उनके उपरोक्त विवरण स स्पष्ट है।

नहरिंग नामक एक अन्य विद्वान ने दक्षिणी रूस को आर्यों का आदि देश बतलाया है। त्रियोलजे (यूक्राइन) म प्राप्त लगभग तीन हजार ई० पू क पात्रो क आधार पर ही उक्त महोदय न अपना मत निर्धारित किया है। पोकोर्नी महोदय न इस मत का जोरदार समर्थन करते हुए वजर तथा विश्चुन नदियो क मध्य स्थित मदान तथा उसके बाहर न्वेन रूस तक आर्यों का देश घोषित किया है। रूस क दक्षिणी भाग स्टप्स का मदान निश्चय ही नितान्त उपजाऊ है और साथ ही यह शीतोष्ण कटिबन्ध म स्थित भी है पर डा० पी० गाइल्स न अपनी पुस्तक म इस मत का खण्डन किया है और यह बताया है कि वे सारी बातें (जिनका वर्णन उनके उद्धरण म किया गया है) यहा नही पाई जाती। अत आंशिक प्रमाण मान स इस स्थान को आर्यों का आदि देश कहना उचित नही। इस प्रकार इन सारी वस्तुओं के लिए हम कोई अन्य स्थान ढूढना पड़गा।

कुछ विद्वानो का एसा मत है कि आर्यों का आदि देश जमनी या जमनी प्रदेश म कही था। इन विद्वानो म पन्का महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पन्का महोदय न स्कन्डिनेविया को आर्यों का आदि देश निश्चित किया है। अपने मत के समर्थन म इन्होंने जाति सम्बन्धी विशेषताओ का आधार लिया है। पुरातात्विक साक्ष्यों क आधार पर पन्का के समय का न आर्यों का आदि देश पश्चिमी बाल्टिक समुद्र बतलाया है। इन मत वालों का कथन है कि पूर्व पाषाण युग समाप्त हो जाने के पश्चात जो युग आरम्भ होता है उस युग क मनुष्यों की निर्मित अनेकानेक वस्तुए यहाँ प्राप्त हुई हैं। किन्तु केवल पूर्व पाषाण काल के पश्चात् जिस उत्तर पाषाण काल का आविर्भाव हुआ उसके ध्वंसावशेषों का यहा पाया जाना ही यह सिद्ध नही कर सकता कि उक्त स्थान ही आर्यों का आदि देश है। क्योंकि इस युग के ध्वंसावशेष यूजीलैण्ड म भी प्राप्त हुए हैं तो क्या यह स्थान भी आर्यों का आदि देश है? ध्वंसावशेषों क आधार पर मध्य जमनी को भी आर्यों का आदि देश माना गया है। यहाँ जो पात्र प्राप्त हुए हैं उनक ज्यामितिक रखा चित्र ठीक इण्डो-यूरोपीय जान पड़ते हैं। अत यह सम्भव है कि मध्य जमनी ही वह भूमि हो। पर ऊपर की भाँति इस मत का भी खण्डन आलोचकों न यह कहकर किया है कि इसी प्रकार क ज्यामितिक साम्य दक्षिणी रूस पोलण्ड तथा त्रिपोल्जे (यूक्राइन) म भी प्राप्त हुए है पर इससे यह नही कहा जा सकता कि य सारे स्थान आर्यों क आदि देश है। जसा कि ऊपर कहा गया है कि कुछ विद्वानो न जातिगत विशेषताओ पर अधिक जोर दिया है। रक्तवर्ण एव सुन्दर बालों क आधार पर उन्होंने जमनी को ही यह स्थान निर्धारित किया है।

उपरोक्त विवरणों म हम ज्ञात होता है कि यूरप को आर्यों का आदि देश माननेवाले भाषा तथा जातिगत विशेषताओं क आधार पर अपना मत प्रतिपादित करते हैं। आर्यों क आदि देश की समस्या सुलझाते हुए विद्वानों न यूरप क दक्षिणी भाग को वह स्थान बतलाया

है। निश्चय ही यहाँ की भूमि उपजाऊ है, यह शीतोष्ण कटिबन्ध में पड़ता है और इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी तर्क उपस्थित किया है कि योरप के दक्षिणी मैदान ही उन स्थानों से निकट हैं जहाँ विभिन्न योरोपीय आर्यों की शाखाएँ प्रशाखाएँ निवास करती हैं। इतना ही नहीं एशिया की अपेक्षा योरप में आर्यों की संख्या अधिक है अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योरप के दक्षिणी मैदान में ही कहीं आर्यों का आदि देश है। स्थानान्तरण की सम्भावित सुविधाओं की ओर लक्ष्य करते हुए इस मत के समर्थकों का कथन है कि यहाँ के बीच गहन जंगल, मरुभूमि तथा पर्वतमालाएँ नहीं हैं अतः यहाँ से पूर्व की ओर स्थानान्तरण सरल है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दूसरा प्रमाण यह दिया है कि पर्यटन प्रायः पश्चिम से पूर्व को हुए हैं, पूर्व से पश्चिम को पर्यटन नहीं हुए हैं। इन अनेक प्रकार के तर्कों द्वारा योरोपीय सिद्धान्त के समर्थकों ने आर्यों का आदि देश योरप सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आदि देश मध्य एशिया—यह मत भी काफी मान्यता पा चुका है। केवल धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर ही उन्होंने अपना मत प्रतिपादित किया है। प्रो० मैक्समूलर इस मत के प्रचारक हैं। अपने मत के समर्थन में इन विद्वानों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि आर्य जाति की सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान हमें वेद तथा अवेस्ता से होता है। वेद भारतीयों (भारतीय आर्यों) का तथा अवेस्ता ईरानियों का आदि धार्मिक ग्रन्थ है। ईरान तथा भारत के समीप ही कोई भू-भाग आर्यों का आदि देश रहा होगा क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त साम्य है।[1] इन लेखकों का तो यहाँ तक कथन है कि केवल एक आध शब्द या वाक्य खण्ड ही नहीं वरन् एक सम्पूर्ण पद्यांश को बिना शब्दावली परिवर्तित किये ही भारतीय से ईरानी भाषा में लाया जा सकता है। इतना निकट साम्य यह निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि ये दोनों विभिन्न देश के निवासी कभी बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर रहे होंगे और तब कालान्तर में कुछ कारणवश स्थानान्तरण कर गये होंगे। भारत तथा ईरान के बीच ही कहीं इनका आदि देश बताकर इन विद्वानों ने आर्यों के स्थानान्तरण के विषय में यह कहा है कि यहाँ से आर्यों के तीन जत्थे चले। एक जत्था भारत को, दूसरा ईरान को तथा तीसरा योरप को चला। डा० पी० गाइल्स ने जिस प्रकार उनके ग्रन्थों में वर्णित वस्तुओं के प्राप्ति-स्थान के आधार पर ही आर्यों का मूल ढूँढ़ने का प्रयास किया है उसी प्रकार इन विद्वानों ने भी आर्यों की परिचित वस्तुओं तथा उनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमानित जलवायु से युक्त भूमि को आर्यों का मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्हें मध्य एशिया ही ऐसा स्थान प्रतीत होता है जहाँ ये सारी वस्तुएँ हैं। उनका तर्क इस प्रकार है—कृषि-कर्म तथा पशु-पालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। इन दोनों कार्यों के लिए लम्बे चौड़े मैदानों की आवश्यकता है। आरम्भ में वर्ष की गणना आर्य हिम से करते थे। इसका अर्थ यह है कि ये किसी शीत प्रधान प्रदेश में रहते थे। किन्तु बाद में वही आर्य वर्ष की गणना शरद् से करने लगे जिससे यह परिलक्षित होता है कि ये लोग दक्षिण की ओर बढ़ गये जहाँ अपेक्षाकृत कम ठंडक पड़ती है। नावों का प्रयोग वे जानते थे, इसका यह अर्थ है कि वह भाग झीलों तथा नदियों से युक्त रहा होगा। वे घोड़े से भी परिचित थे। उसका प्रयोग वे सवारी में करते थे। पीपल के पेड़ से वे परिचित थे किन्तु आम तथा बरगद से वे अपरिचित थे। इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति मध्य एशिया में ही सम्भव है। अतः यही स्थान आर्यों का आदि देश रहा होगा। यहाँ से स्थानान्तरण

[1] मिलाइये

वेद	सप्त स्व	यज्ञ	असुर	त्रित	मेदिष्ठ	वसिष्ठ	इन्द्र	वायु	मित्र
अवेस्ता	हप्त ह्व	यस्न	अहुर	त्रित	मज्द	वहिश्त	इन्द्र	वायु	मिथ्र

करके शक इत्यादि जातियाँ भी भारत आई थीं। इतना ही नहीं इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यहाँ से भारत, ईरान तथा योरप को जाना सरल है।

पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान को आर्यों का आदि देश माननेवालों का यह कथन है कि लघु एशिया में बोआजकोई में कुछ संधि पत्रों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में वैदिक देवताओं—इन्द्र, वरुण, मित्र आदि के रूपान्तरित नाम प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों की तिथि १४०० ई० पू० मानी जा सकती है और ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस समय इण्डो ईरानी लोग लघु एशिया में ही निवास करते थे। पुरातत्व साक्ष्यों का सहारा इस सम्बन्ध में अन्यत्र भी लिया गया है। मिस्र में एलअमर्नी नामक स्थान पर मिट्टी के कुछ पात्र प्राप्त हुए हैं जिन पर राजवंशों के नाम उत्कीर्ण हैं। निश्चय ही ये नाम इण्डो ईरानी हैं। जिन राजवंशों का नाम इन पत्रों से प्राप्त होता है वे लगभग १४०० ई० पू० में सीरिया में राज्य करते थे। इस साक्ष्य से भी यह प्रमाणित होता है कि उस समय ईरानी तथा भारतीय आर्य एक ही स्थान पर रहते थे। किन्तु यहाँ एक साथ निवास करने के पूर्व भी तो वे कहीं अन्यत्र रह चुके होंगे क्योंकि यदि वे यहीं के मूल निवासी अनादि काल से होते तो १४०० ई० पू० में ही रूपान्तरित शब्दों का प्रश्न न उठता। उनमें किसी प्रकार के रूपान्तर की सम्भावना न थी। निश्चय ही इससे यह ज्ञात होता है कि ये लोग किसी दूसरे स्थान से यहाँ आये और यह साम्य कालान्तर में उपस्थित हुआ। हट महोदय के मतानुसार इण्डो-योरोपीय कबीला ही स्थानान्तरण करके एशिया में आ गया और अब इण्डो ईरानी कहा जाने लगा। ये लोग काकेसस पर्वत को पार करके यहाँ पहुँचे थे। उक्त महोदय ने आगे यह कहा है कि यद्यपि साधारण रूप में एशिया में आने वाले इण्डो-योरोपीय लोग पश्चिम से पूर्व की ओर ही आये थे किन्तु पूर्व से पश्चिम एशिया की ओर भी स्थानान्तरण सम्भव था। हट महोदय के उपरोक्त मत का एडवर्ड मेयर नामक विद्वान ने खण्डन करते हुए लिखा है कि यह कैसे सम्भव है कि जिस प्रदेश को यह बतलाया जाता है कि इण्डो ईरानी लोग सर्वप्रथम यहीं आकर बसे थे उसका कोई नाम निशान अवशेष न रहे क्योंकि आरमीनिया से असीरियन काल तक जितने व्यक्तियों के एवं स्थानों के नाम प्राप्त हुए हैं उनमें से कोई इण्डो-योरोपीय नहीं है। इतना ही नहीं मीडिया की पहाड़ियों के सामान्त प्रदेश में जो लोग बसते थे इनमें कोई भी इण्डो ईरानी नहीं। इससे यही परिलक्षित होता है कि मेड जाति वाले स्थानान्तरण करके पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते गये थे। हट साहब के मत का खण्डन विद्वतापूर्ण ढंग से करते हुए एडवर्ड मेयर महोदय ने पामीर प्लेटो के पास ही आर्यों का आदि देश बताया है। पामीर प्रदेश के आस पास आर्यों का आदि देश मानने के कुछ प्रमाण इस मत के समर्थकों ने इस प्रकार दिये हैं —

भारोपीय भाषाओं में हित्ताइट प्राचीनतम भाषा है। लगभग १९[illegible]० ई० पू० में कप्पाडोशिया के रहनेवाले हित्ती भाषा भाषी थे। गारज का ऐसा विचार है कि हित्ताइट लोगों ने लगभग १९५० ई० पू० में कप्पाडोशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और करीब-करीब इसी समय इण्डो ईरानी लोग भी पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान में पहुँच चुके थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों का आदि देश कप्पाडोशिया तथा मध्य एशिया से समान दूरी पर ही स्थित रहा होगा। भारत तथा पश्चिमी योरप आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता है। कुछ अन्य विद्वानों ने (जिनमें गाइल्स का नाम विशेष उल्लेखनीय है) मैसाडोनिया तथा अनातोलिया में लगभग [illegible]० ई० पू० के प्राप्त शव कलशों के आधार पर यह अनुमान किया है कि हित्ताइट जाति ने जलडमरूमध्यों को पार करके एशिया माइनर में प्रवेश किया था। किन्तु जब इतने सम्भव

यह प्रश्न रखा जाता है कि हिट्टाइट जाति ऐतिहासिक युग में मध्य एशिया या पूर्वी एशिया ही में क्या निवास कर रही थी तो वे इसका उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमें पुनः मेयर के मत का ही अनुमोदन करना पड़ता है। किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि आर्यों का आदि देश काफी हरा-भरा था और आर्य जाति कृषि कार्य करती थी। इसी आधार पर डा० पी० गाइल्स ने मेयर महोदय के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इतना उजाड़-खण्डहर प्रदेश, जैसा कि पामीर प्रदेश है आर्यों का आदि देश कदापि नहीं हो सकता।

मध्य एशिया में ही कहीं आर्यों का आदि देश बतलानेवालों में से ब्रेन्डेन्सटीन महोदय का भी नाम उल्लेखनीय है। वे किसी प्रकार भी आर्यों का आदि देश यूरोप में मानने को तैयार नहीं। ब्रेन्डेन्सटीन महोदय ने भाषा के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि में लिखते हुए यह कहा कि प्राचीन आर्य यूराल पर्वत के दक्षिण में किरगीज स्टेप में निवास करते थे। प्रारम्भिक भारोपीय शब्दकोष के अध्ययन से ऐसा ज्ञात पड़ता है कि वे पर्वत के पास स्टेप के मैदान में निवास करते थे। तत्पश्चात् ब्रेन्डेन्सटीन महोदय आर्यों के परिचित जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाते हैं कि आर्य लोग जंगली सूअर, ऊदबिलाव, बारहसिंहा, भेड़िया या लोमड़ी आदि पशुओं से भली भाँति परिचित थे और ये सारे पशु किरगीज के स्टेप में पाये जाते हैं। जिन वनस्पतियों का ज्ञान आर्यों को था उनमें से एक भी योरप में नहीं प्राप्त होता। अतः आर्यों का आदि देश यूरोप न होकर किरगीज का स्टेप ही हो सकता है। इसी स्टेप से इण्डो-ईरानियों ने पूर्व की ओर स्थानान्तरण किया होगा।

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि डा० पी० गाइल्स, ब्रेन्डेन्सटीन, मेयर आदि विद्वानों ने एशिया में भी कहीं आर्यों का आदि देश ढूँढ़ने का प्रयास किया है। किन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों का यह कथन है कि जब हम यह जानते हैं कि आर्यों के आदि देश में जल का बाहुल्य था और उनकी मातृभूमि नितान्त उर्वरा थी तो मध्य एशिया जैसे अल्प जलवाले तथा कम उर्वरा भूमि को किस प्रकार आर्यों का आदि देश मान सकते हैं। दूसरी बात यदि आर्यों का आदि देश मध्य एशिया में कहीं था तो फिर अपनी मातृभूमि में ही आर्य लोग इतनी कम संख्या में क्यों रह गये और भारतीय आर्यों के आदि ग्रन्थ वेद में मध्य एशिया का वास्तविक संकेत क्यों नहीं है? मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश माननेवालों ने उसकी वांछनीय प्राकृतिक दशा के अभाव-सम्बन्धी प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि मध्य एशिया का यह भौगोलिक परिवर्तन आर्यों के स्थानान्तरण के पश्चात् हुआ।

आर्कटिक प्रदेश आर्यों का आदि देश—वेद के आधार पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश बतलाया है। उनका कहना है कि वेद में ऐसे उल्लेख आये हैं जो उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश मानने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ वेदों से हमें पता चलता है कि आर्यों को यह ज्ञान था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रातःकाल होता है। कई दिनों का प्रातःकाल यह स्पष्ट बतलाता है कि वहाँ अधिकाधिक तुषारपात होता रहा होगा। प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश तुषाराच्छन्न था। इस तुषारपात का वर्णन हमें वन्-सा प्रामाणिक ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता में मिलता है और इसी तुषारपात के कारण ईरानी आर्यों को अपनी जन्मभूमि से स्थानान्तरण करना पड़ा था। लगभग १००० ई० पू० तक आर्य यहीं उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही रहे और तत्पश्चात् उन्होंने यहाँ से स्थानान्तरण किया और ६००० ई० पू० के लगभग इनकी एक शाखा मध्य एशिया में आकर बस गई थी। इस

प्रकार तिलक जी ने मध्य एशिया के सिद्धान्तवालों के आँसू पोछते हुए अपने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। पर इनका मत अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार है।

भारत आर्यों का आदि देश—कुछ विद्वान् प्राचीन आर्यों का आदि देश योरप, मध्य एशिया आदि न मानकर भारत को ही बतलाते हैं। ध्यान रहे कि भारत को आदि देश बतानेवाले अधिकांश विद्वान भारतीय हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ उन विद्वानों के तर्क के पीछे आत्म मान की एक हल्की पृष्ठभूमि है फिर भी इसका तर्क वस्तुतः कुछ वैज्ञानिक एवं गम्भीर ज्ञात होता है। इन विद्वानों में श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री गंगानाथ झा, श्री डी० ए० त्रिवेदी तथा डा० एल० डी० कल्ला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वेदों में सप्तसिन्धव का गुणगान यत्र-तत्र किया गया है। अतः यही भूमि आर्यों का आदि देश रही होगी। पुराण तथा ईरानियों के धार्मिक ग्रन्थों के सम्मिलित अध्ययन से भी यह पता चलता है कि कोई संग्राम (पुराणों का देवासुर संग्राम) दो जत्थों के बीच हुआ। इस युद्ध में पुराणों के अनुसार देवताओं ने असुरों को खदेड़ दिया। अवस्ता में भी इसी प्रकार का विवरण है कि उनके पैगम्बर अपनी जन्मभूमि से भगा दिये गये। तो क्या यह भूमि भारत ही है जहाँ से आर्यों ने ईरानियों को भगा दिया? श्री गंगानाथ झा ने ब्रह्मर्षि देश को आर्यों की जन्मभूमि घोषित किया है। श्री एल० डी० कल्ला ने काश्मीर तथा हिमालय पर्वत को आर्यों का मूल निवासस्थान बतलाया है। इसी प्रकार डा० एम० त्रिवेदी ने मुल्तान के निकट देविका नदी को आर्यों की जन्मभूमि बताया है।

भारत को आर्यों का आदि देश माननेवालों का यह कहना है कि आर्यों का कहीं अन्यत्र निवासस्थान न होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आर्य परिवार की भाषाओं में संस्कृत में अन्य भाषाओं की अपेक्षा शब्दों की संख्या (मूल शब्द जिन्हें हम विभिन्न भारोपीय भाषाओं में लगभग समान रूप में पाते हैं) अधिक है। पर योरोपीय भाषाओं में उन मूल शब्दों की संख्या बिल्कुल कम है। ऐसी अवस्था में यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि योरप में आर्यों का आदि देश रहा होगा। चाहिए तो यह कि योरप की भाषाओं में ये शब्द अधिक होते और भारतीय भाषाओं में (संस्कृत या भारत की प्राचीन भाषाओं में जिनमें वे शब्द अब भी पाये जाते हैं) कम होते। पर यहाँ ठीक इसके विपरीत है। इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आदि देश भारत ही रहा होगा और भाषा सम्बन्धी जो साम्य प्राप्त होता है वह पारस्परिक सम्पर्क या गमनागमन से सम्भव हो सकता है। लिथुआनिया को आर्यों का आदि निवासस्थान माननेवालों के इस मत का कि आर्य परिवार की भाषाओं में लिथूनियन भाषा प्राचीनतम है इन विद्वानों ने इस प्रकार खण्डन किया है कि भाषा की प्राचीनता का एक कारण तो यह है कि उसके भाषा-भाषी इस क्षेत्र में उन्नति नहीं कर पाये अथवा वे विदेशियों के सम्पर्क में नहीं आ पाये या यह भी सम्भव है कि वे उसके प्राचीनतम रूप को सुरक्षित रखने को [illegible] निरन्तर रत हैं। यहाँ इन्हीं कारणों में से प्रथम दो सम्भव जान पड़ते हैं। ऋग्वेद में बाघों तथा हाथियों का उल्लेख नहीं, केवल इसी आधार पर यह कहना कि भारत आर्यों का आदि देश नहीं, तर्कसंगत नहीं है। ऋग्वेद में तो चावल तथा नमक का भी उल्लेख नहीं है तो क्या इसका अर्थ यह है कि वे लोग इनका प्रयोग नहीं जानते थे? किन्तु भारत को आर्यों का आदि देश न माननेवालों का तर्क भी इससे कम प्रधान नहीं। वे सर्वप्रथम तो यह प्रश्न रखते हैं कि यदि भारत आर्यों का आदि देश रहा तो इसके पूर्व कि यहाँ से कुछ आर्य बाहर जाते सम्पूर्ण भारत को आर्य रूप मिल गया होता किन्तु यहाँ तो सम्पूर्ण दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत का कुछ भाग भाषा के विचार से अनार्य-सा ही है। ये विद्वान इसी प्रकार की कुछ अन्य बाधाएँ भी उपस्थित करते हैं जो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पर

६

उनका एक यह भी प्रश्न है कि जब भरात की प्राचीनतम सभ्यता सिन्धु सभ्यता के निर्माता आय नही तो फिर भारत का आर्यों का आदि देश कसे माना जा सकता है।

आर्यों के मूल पर यहाँ जो कुछ प्रकाश डाला गया है वह इस क्षेत्र म किये गये कार्यों का सम्भव लघुतम अश भी नही है। यह विषय नितान्त जटिल है और दिन पर दिन जटिलतर बनता जा रहा है। ऐसी दशा म किसी भी निश्चय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। अत इस प्रश्न का अभी ज्यो-का-त्यो विवादास्पद छोडना ही श्रयस्कर है।

---

५ | भारतीय आर्य तथा ऋग्वैदिक काल

पिछले पृष्ठ में आर्यों के मूल निवास-स्थान पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये तथापि इस मूल भूमि को भारत से कहीं बाहर मान कर हम इनके भारत में प्रसार के विषय में पढ़ेंगे। भारतीय आर्यों के प्रसार का कोई सीधा विवरण ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता है पर यदि उसके विवरण को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उल्लिखित स्थानों या वस्तुओं के नामों से उनके प्रसार का अनुमान लगाया जाता है। ऋग्वेद ही भारतीय आर्यों की प्राचीनतम पुस्तक है। इस पुस्तक में भी कुल दस मण्डल हैं जिनमें से सम्भवतः प्रथम नौ मण्डल ही प्राचीनतम हैं और दसवाँ मण्डल काफी बाद का है। अतः हमें यह जान लेना चाहिए कि आर्यों के प्रसार, उनके काल, उनकी प्रारम्भिक सभ्यता आदि के लिए ऋग्वेद का अवलोकन करते एवं उसमें कोई प्रमाण प्राप्त करने में काफी सावधानी से काम लिया जाय और केवल प्रथम नौ मण्डलों की सामग्रियों का ही प्रयोग किया जाय। ऋग्वेद से ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम भारतीय आर्य अफगानिस्तान तथा पंजाब में बसे थे। अफगानिस्तान में बसने का ऋग्वैदिक प्रमाण यह है कि काबुल, स्वात, कुर्रम तथा गोमल का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। इसी प्रकार पंजाब में इनके प्रारम्भिक निवास का भी प्रमाण ऋग्वैदिक मंत्रों में प्राप्त होता है। पंजाब की पाँचों नदियों का उल्लेख ऋग्वेद के मंत्रों में बार-बार किया गया है—वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (व्यास) और शतुद्रि (सतलज)। सिंध (सिंधु) तथा सरस्वती का भी उल्लेख आया है। पंजाब में इनके निवास करने का एक दूसरा प्रमाण यह है कि यमुना का प्रयोग तीन बार तथा गंगा का प्रयोग केवल एक बार किया गया है। इसी प्रकार गंगा के पूर्व की नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं किया गया है। खाद्यान्नों में चावल का भी उल्लेख नहीं है क्योंकि यह पूर्व में उत्पन्न होता है। इसी तरह जानवरों में बाघ का संकेत नहीं है क्योंकि यह भी पूर्व का पशु है। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आर्य प्रारम्भ में पंजाब में बसे थे और तब वहाँ से उन्होंने भारत के शेष भागों का आर्यीकरण किया। इस आर्यीकरण में आर्यों को अनार्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा। इसका वर्णन ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। अनार्य अपेक्षाकृत कम सभ्य थे, यह हम भली भाँति जानते हैं। अतः इनके रण सम्बन्धी अस्त्र शस्त्र भी दुर्बल एवं अपरिष्कृत थे। इनको रण विद्या एवं सैनिक संगठन का भी ज्ञान नहीं था। सभ्य आर्यों को इन्हें पराजित करने में कठिनाइयाँ अवश्य पड़ीं पर धीरे धीरे वे इन पर विजय पाते गये और इस गति से अपना प्रसार भी दक्षिण की ओर करते गये। सर्वप्रथम सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के भू भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करके आर्यों ने इसका नामकरण ब्रह्मावर्त किया। आशा है कि ब्रह्मावर्त में ही ऋग्वेद के पर्याप्त अंश की रचना की गई होगी। ब्रह्मावर्त पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात उनका रण प्रयाण आगे की ओर हुआ और उन्होंने अनार्यों की भूमि को छीनकर उसका नाम ब्रह्मर्षि रखा। ब्रह्मर्षि की स्थापना के पश्चात आर्यों ने मध्यदेश की स्थापना की और जब सम्पूर्ण भारत पर इनका अधिकार हो गया तो इसका नामकरण उन्होंने आर्यावर्त किया। अब हम ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि, मध्यदेश की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालेंगे। हम जानते हैं कि सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के बीच की भूमि को ही आर्यों ने ब्रह्मावर्त कहा। पर उत्तरी नदियों के मार्ग-परिवर्तन के

कारण अब उस भू भाग की ठीक-ठीक स्थिति का पता करना असम्भव है। महाभारत से ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्मवर्त कुरुक्षेत्र का ही एक अंग था। सम्भव है आर्यों ने सर्वप्रथम कुरुक्षेत्र को ही अनार्यों से छीना था। ब्रह्मर्षि देश में कुरु मत्स्य पांचाल तथा शूरसेन राज्य सम्मिलित थे। आधुनिक थानेश्वर राजपूताना का पूर्वी भाग गंगा-यमुना का दोआब तथा मथुरा इसके अन्तर्गत आते हैं। हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत की भूमि और पूर्व में प्रयाग तक के भू भाग का नामकरण इन्होंने मध्यदेश किया था।

ऋग्वेद

ऊपर आर्यों के प्रसार का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उक्त विवरण में हमारे सम्मुख उनकी भौगोलिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित हो गई। आर्यों अनार्यों के संघर्ष का विस्तृत विवरण यहाँ वाञ्छनीय नहीं। इसके अतिरिक्त आर्यों की आगामी प्रगति के विषय में कुछ लिखने के पूर्व हम आर्यों के आदिग्रन्थ ऋग्वेद के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है क्योंकि आर्यों की विभिन्न परिस्थितियों का बोध हमें उनके इसी महान ग्रन्थ से होता है। उनकी सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रकाश डालने वाला केवल यही एक ग्रन्थ है कम से कम प्रारम्भिक सभ्यता के ज्ञान का साधन तो केवल ऋग्वेद ही है। तभी तो स्मिथ ने कहा है—

' Rigveda points to the settled people an organized society and full grown civilization

ऋग्वेद में कुल दस मण्डल हैं जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। इन दसों मण्डलों में कुल १०२८ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों की रचना विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न स्थानों में की गई थी। रचना-समय का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण मन्त्रों के क्रम को भी स्थिर करना कठिन है। अब तक केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि प्रथम नौ मण्डल प्राचीनतम हैं और दसवें मण्डल के मन्त्रों की रचना और मन्त्रों के पश्चात हुई थी। सम्भवत दूसरे से सातवें मण्डल तक की रचना सर्वप्रथम हुई थी। ये ६ मण्डल गृत्समद विश्वामित्र वामदेव अत्रि भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषियों के नाम से हैं। तत्पश्चात उन मन्त्रों की रचना हुई जिनका क्रम प्रथम मण्डल में ५१ से १९१ तक है। तत्पश्चात् प्रथम मण्डल के ५० मन्त्र तथा आठवें मण्डल के मन्त्रों की रचना हुई और उसके बाद सम्भवत सोमरचना सम्बन्धी मन्त्रों को इन आठ मण्डलों से पृथक करके उनका संग्रह किया गया जो नवें मण्डल के रूप में हमारे सम्मुख है।[1]

ऋग्वेद की तिथि—ऋग्वेद के समय के विषय में भी इतिहासकार एक मत नहीं हो पाये हैं। यहाँ हम भारतीय तथा विदेशी साक्ष्यों के आधार पर ऋग्वेद की तिथि पर प्रकाश डालेंगे। अभारतीय प्रमाणों में एक महत्वपूर्ण प्रमाण विशेष उल्लेखनीय है। एशिया माइनर के बोगजकोई नामक स्थान पर मिलन्नी लेख प्राप्त हुए हैं। ये १४०० ई० पू० के हैं। इन लेखों में जिन देवताओं के नाम दिये गये हैं वे ऋग्वैदिक देवताओं के नामों से साम्य रखते हैं—जैसे मित्र वरुण इन्द्र आदि। इन देवताओं के नाम ईरानियों के धार्मिक ग्रन्थ अवेस्ता में भी प्राप्त होते हैं। अतः यह ज्ञात होता है कि भारतीय तथा ईरानी शाखाओं में विभक्त होने के पूर्व इन शाखाओं के ये एक ही देवता थे। किन्तु मितान्नियों के अभिलेख की लिखावट से यह ज्ञात होता है कि

[1] देखिए आर्नल्ड Vedic Metre मैक्समूलर की ऋग्वेदसंहिता की भूमिका, मैकडानल History of Sanskrit Literature

इनका मूल ऋग्वेद में ही है अर्थात इन ग्रन्थों की उत्पत्ति ऋग्वेद से होती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत में १४०० ई० पू० के भी पहले सभ्यता का विकास (वदिक सभ्यता का विकास) हो चुका था और यह सभ्यता इतनी पूर्ण थी कि इसने एशिया माइनर को भी प्रभावित किया।

मक्समूलर महोदय ने वदिक एवं लौकिक संस्कृत की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरा के आधार पर करके यह सिद्ध किया कि ऋग्वेद की रचना १२००–१००० ई० पू० में लगभग हुई थी। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी भाषाओं का अन्तर समान रूप एवं समान गति से हो। अतः यह तर्क अधिक संगत नहीं प्रतीत होता। मक्डानेल तथा कीथ महोदय ने मक्समूलर महोदय के मत का समर्थन किया है किन्तु कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद का समय और पीछे माना है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जकोबी ने ज्योतिष शास्त्र के प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद का समय लगभग ४००० ई० पू० माना है। इसी प्रकार श्री बाल गंगाधर तिलक ने भी ज्योतिष के आधार पर ही यह समय ८००० ई० पू० बतलाया है। पर इनके मतों का भी जोरदार समर्थन नहीं हुआ है और केवल ज्योतिष के आधार पर यह अनुमान अधिक तर्कयुक्त नहीं जँचता क्योंकि प्राचीन भारत में ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त (गणना की अनेक विधियाँ) प्रचलित थीं। पता नहीं कौन-सी विधि ऋग्वेद के समय में प्रामाणिक थी। विण्टरनित्स के मतानुसार यह तिथि २५०० ई० पू० हो सकती है। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर इतना तो निश्चय पूर्वक ही कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना १५०० ई० पू०–१२०० ई० पू० के भीतर या सम्भवतः इससे भी पहले हुई होगी।

आर्यो का राजनीतिक उत्कर्ष

अभी तक आर्यों के प्रसार का वह रूप दिखाया गया था जो कि स्थानान्तरण करके आई हुई प्रत्येक सभ्य असभ्य जाति के लिए स्वाभाविक है और जो प्रत्येक जाति करती रही। वास्तव में जब तक वैयक्तिक सुरक्षा व उन्नति की दृष्टि से प्रसार में कोई संघर्ष होता है तब तक उसे राजनीतिक रूप नहीं दिया जाता—चाहे वह संघर्ष किसी भी पैमाने पर क्यों न चला जाय पर जब वही संघर्ष सम्पूर्ण कबीला या जाति के सम्मिलित हित के लिए संयुक्त होकर होता है तो वह राजनीतिक रूप ले लेता है। आर्यों के प्रारम्भिक प्रसार सम्बन्धी-संघर्षों में कब तक के संघर्ष इस कोटि के हैं यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता पर इतना तो अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि उनके समस्त संघर्षों में दस राजाओं का युद्ध अपने ढंग का सम्भवतः प्रथम है। आर्यों एवं अनार्यों में प्रसार के लिये जो संघर्ष हुए वे तो भयंकर थे ही पर आर्यों के ही विभिन्न कबीलों (जत्थों) में सम्भवतः जो महत्वपूर्ण संघर्ष हुआ वह यही दस राजाओं का युद्ध ही है।

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्यों के कई दल थे। इन दलों में भरत अनु मत्स्य द्रुह्यु तुर्वसु यदु पुरु आदि विशेष प्रसिद्ध थे। ब्रह्मावर्त में भरत आधुनिक जयपुर अलवर भरतपुर राज्य में मत्स्य पंजाब में अनु तथा द्रुह्यु दक्षिण पूर्व में तुर्वसु पश्चिम में यदु तथा सरस्वती नदी के आसपास की भूमि में पुरु दल वाले निवास करते थे। इन विभिन्न दलों में महत्ता के लिए संघर्ष अनिवार्य था। दस राजाओं का युद्ध उत्तर-पश्चिम में पहले के बसे हुए लोगों तथा ब्रह्मावर्त के बाद के बसे हुए लोगों में हुआ। ऐसी सम्भावना है कि इस युद्ध में सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत (अनार्यों समेत) सम्मिलित था। विश्वामित्र की मन्त्रणा से दस राजाओं का एक संघ बनाया गया ताकि

भरतों के राजा सुदास पर आक्रमण किया जाय। संघ का निर्माण तो हो गया पर भरतों के राजा सुदास ने इसे पराजित कर दिया। सुदास पर अलिना, पक्थ, शिव, भलानस और विषाणिन ने भी आक्रमण किया था पर इसमें सुदास को सफलता मिली। पूर्व में भी सुदास को संघर्ष करना पड़ा था। भेद की अध्यक्षता में अज, शिग्रु तथा यक्षु ने भी सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु सुदास ने इन्हें भी यमुना के निकट पराजित कर दिया। इस प्रकार सुदास ने अपनी विजयों द्वारा अपना प्रभुत्व सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत पर स्थापित कर दिया। पुरोहित का निर्वाचन ही युद्ध का कारण था।

ऋग्वेद में वर्णित अनार्य—ऋग्वेद में अनार्यों को जो प्रमुखता दी गई है उस पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में इन अनार्यों की भर्त्सना की गई है। इन्हें दास, दस्यु या असुर कहा गया है। पिशाच तथा राक्षसों का उल्लेख भी ऋग्वेद में आया है। पहले हम ऋग्वेद में वर्णित अनार्यों पर ध्यान दें। ऋग्वेद के अनुसार ये अनास (चिपटी नाकवाले) देवपीय (देवताओं के विरोधी) अदेवयु (वैदिक देवताओं के प्रति उदासीन) अयज्वन् (यज्ञ न करनेवाले) शिश्नदेव (लिंगपूजक) अकर्मन् (क्रिया अनुष्ठानों से रहित) अन्यव्रत (पृथक् धर्मवाले) मृध्रवाक् (अस्पष्ट भाषा भाषी) अब्राह्मण आदि थे।

यहाँ इस विवरण के आधार पर आर्यों की जो टीका की गई है वह भी उल्लेखनीय है। ऋग्वेद में अनार्यों के उपरोक्त विशेषण आर्यों के लिए भी लागू होते हैं। सुदास के शत्रु दस राजा तथा उनके सहयोगियों को अयज्वन् (यज्ञ न करनेवाले) अनिन्द्र (इन्द्र की पूजा न करनेवाले) कहा गया है।

अनार्यों को हम पूर्णतया असभ्य नहीं मान लेना चाहिए। ऋग्वेद पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने रहने के लिए मकान बनवाये थे जिसे आर्यों ने जला दिया।[1] दासों और दस्युओं के अपने नगर थे जिनके विनाश की प्रार्थना आर्यों ने बार-बार इन्द्र से की है।[2] इसी प्रकार रक्षा तथा युद्ध के लिए वे सेनाएँ भी रखते थे और किलों का निर्माण करके उनमें अपना खजाना रखते थे।[3] अनार्य और कम से कम उनके सरदार तो निश्चय ही धनवान् थे क्योंकि ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे उनको मारकर उनका इकट्ठा धन इन्हें (आर्यों को) दे दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनार्यों को भी असभ्य नहीं कहा जा सकता। हो सकता है उनकी सभ्यता आर्यों से कम रही हो—कम से कम सैनिक दृष्टिकोण से तो वे आर्यों से न्यून थे ही।

आर्यों-अनार्यों का संघर्ष पर्याप्त समय तक चलता रहा। अन्त में आर्यों ने दस्यु या दास जाति वालों (अनार्यों) को बुरी तरह पराजित कर दिया। युद्ध में काम आने के पश्चात् बहुत अधिक संख्या में दस्यु या दास जाति बच गई। इन शेष लोगों को विवश होकर या तो आर्यों से कहीं बहुत दूर जाकर गिरि-कन्दराओं की शरण लेनी पड़ी या तो उन्हें उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। फलतः इस दस्यु या दास जाति के इतने अधिक लोग गुलाम बनाये गये कि दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया।[4] इनके नेताओं[5] का वध कर दिया गया होगा।

[1] ऋग्० ७।५।६॥ [2] ऋग्० १।१०३।३॥१।११७।२१।२।२०।६-७॥ आदि।
[3] ऋग्० ७।६।३॥
[4] ऋग्० ७।८६।७॥८।५६।३॥१०।६२।१० आदि। दास की अंग्रेजी slave है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी रोमनों द्वारा स्लाव जाति को पराजित करके उसे गुलाम बना लेने से हुई थी।
[5] ऋग्वेद में इन नेताओं के नाम पिप्रु, धुनि, चुमुरि, शम्बर आदि दिया गया है।

करने पर भी पर्याप्त समय एवं धैर्य चाहता था। अतः ऐसी दशा में यह अनिवार्य था कि सम्पूर्ण समाज में से कुछ लोग ऐसे चुन लिए जायें जो अपना पूरा समय या अधिकांश समय पूजा पाठ एवं धार्मिक कृत्यों में लगावें। वैदिक मन्त्रों के स्पष्टीकरण के लिए भी कुछ विद्वानों की आवश्यकता थी। अकेले सोम यज्ञ के लिए कई पुरोहितों की आवश्यकता थी। उदाहरणार्थ एक होता चाहिए था—जो मन्त्र सुनाये, एक अध्वर्यु चाहिए था जो क्रिया काण्ड करे और अनिष्ट का निवारण करे, एक उद्गाता चाहिए था जो साम गाये। इनको कई सहायकों की आवश्यकता थी। ऋग्वेद से जान पड़ता है कि ऐसे यज्ञों में बहुधा सात पुरोहित लगते थे। एक ऋचा में इनकी गिनती इस प्रकार की गई है—होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मन्। अस्तु, एक पुरोहित वर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया।[1] धार्मिक कृत्यों की जटिलता के विषय में ऊपर प्रकाश डाला गया है। अतः इतना अधिक कार्य सीखना केवल उनके लिए ही सम्भव था जिन्हें तत्सम्बन्धी शिक्षा विषयक प्रत्येक सम्भव साधन उपलब्ध थे। ये साधन ब्राह्मण के पुत्र पौत्रों को ही सम्भव थे। अतः धीरे धीरे इन ब्राह्मणों का एक पृथक् वर्ग बनता गया। यद्यपि इन्हें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु ये अन्य वर्गों से कन्यायें लेना बहुधा हेय समझते थे और स्वगोत्रीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में इन्हें विशेष सुविधा भी पड़ती थी। अब ब्राह्मण वर्ग की दशा पर भी थोड़ा विचार किया जायगा। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह ज्ञात होता है कि उन्हें समाज में काफी आदर मिलता था और उनका पद काफी ऊँचा था। पुरोहितों को दान रूप में स्वर्ण आभूषण वस्त्र रथ भवन पशु आदि देने का भी उल्लेख किया गया है।[2] ब्राह्मणों के पुरोहित रूप के अतिरिक्त उनके और रूप का भी हमें बोध होता है। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ आदि ऋषियों ने शस्त्र धारण किया था।[3]

अब हम आर्यों के दूसरे महत्वपूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालेंगे। जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकताओं ने आर्यों में ब्राह्मण वर्ग को जन्म दिया उसी प्रकार सैनिक आवश्यकताओं ने क्षत्रिय वर्ग को उत्पन्न किया। सैनिक आवश्यकता तो आर्यों को भारत में प्रसारण करने के शीघ्र पश्चात् से ही पड़ गई तो क्या उसी समय क्षत्रिय वर्ग बन गया था यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। किन्तु हमें ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि उस समय प्रत्येक आर्य समान रूप से रणक्षेत्र में उतरता था।[4] इस प्रारम्भिक अवस्था में युद्ध के लिए किसी वर्ग विशेष की आवश्यकता न थी। कालान्तर में जैसे जैसे सब ब्राह्मणों का एक पृथक् वर्ग बन गया और वे धर्म-कार्य पूजा पाठ में व्यस्त रहने लगे तो स्वभावतः अब एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता पड़ी जो अस्त्र शस्त्र से समाज—अनार्यों में

---

[1] देखिये डा० बेनीप्रसाद की हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता पृष्ठ ४२-४३

[2] ऋग्० १।४४।१०, १२॥२।२।८॥२।२४।९॥१।१।१॥७।३।२॥५।११।२॥७। १७०।४॥ आदि

[3] ऋग्० ३।३३॥७।१८॥

[4] ऋग्० ४-२४।४॥६।२६।१॥ 'रणक्षेत्र में जनता एकत्रित होती है जनता अपना पौरुष दिखलाती है' अथवा ऋग्० ७।७९।२॥ 'उषा इस प्रकार आती है जैसे युद्ध के लिए तैयार जनता।'

अग्नि की रक्षा करे और इस प्रकार धार्मिक कृत्यों में बाधा न पड़ने पावे।१ ऋग्वेद १०। ।८॥ से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है : हम (आर्य) चारों ओर से दस्युओं से घिरे हैं। वे मानव नहीं हैं। ओ शत्रुहन्ता ? उनको मार डालें। आर्य वर्ग का विनाश कर दें। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक था कि सशक्त सैनिक संगठन किया जाय। सैनिक संगठन का कार्य प्रारम्भ में सम्भवतः स्वेच्छानुसार ही अपने को इस कार्य में लगानेवालों का किया गया होगा। पर सैनिक कार्य बड़ा कठोर होता है और इसकी शिक्षा भी अत्यन्त दुष्कर होती है। सैनिक शिक्षा की व्यवस्था भी सुचारु रूप से सक्रिय किये गए पुरुषों को ही मिल सकती थी। दूसरी बात यह भी है कि अपने पूर्वजों के कर्म या व्यवसाय में कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी सहायक होते हैं अतः धीरे धीरे क्षत्रियों का भी एक वर्ग बन गया। यह वर्ग भी ब्राह्मणों की भाँति कालान्तर में अपना एक पृथक् संघटन बनाता गया जिसमें दूसरों का प्रवेश दुर्गम हो गया। वीर पुरुष किसी वीर की पुत्री से ही (जिसके वीरांगना होने की अधिक सम्भावना थी) ब्याह करने में अपना गौरव समझता रहा होगा। अतः वैवाहिक सम्बन्ध भी बिना किसी प्रतिबन्ध के लगाये ही स्वतः अपने वर्ग तक सीमित हो गया। इस वर्ग का उत्तरदायित्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। इन्हें अपने कार्य पर गर्व भी था। सैनिक कार्य स्वभावतः आत्मसम्मान से ओतप्रोत होता है। ऋग्वेद में इस वर्ग की महत्ता का उल्लेख है और साथ ही उन राजाओं की निन्दा की गई है जो व्यर्थ ही क्षत्रिय होने का दावा करते थे।[2] इससे यह भी परिलक्षित होता है कि क्षत्रिय होना इतना महान् समझा जाता था कि कुछ अन्य धनवान भी क्षत्रिय होने का दावा करते थे।

इन दो प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी थे जिनके विषय में हमें ऋग्वेद संकेत मात्र करता है। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल (जिनका रचना-काल दसवें मण्डल के पूर्व माना जाता है) हमें अन्य किसी वर्ग का बोध नहीं कराते। इनसे हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पश्चात् शेष आर्य जनता को विश कहा जाने लगा। विश का सम्बन्ध प्रारम्भ में सम्पूर्ण आर्य जनता से होता था। वास्तव में विश का शाब्दिक अर्थ बैठना है। जब तक आर्य इधर उधर भटक रहे थे तब तक उनका जीवन भ्रमणशील था पर जब वे धरती पर बैठ गये अर्थात् जमीन पर स्थायी रूप से जम गये तब से उनकी बस्तियाँ विश कही जाने लगीं और फिर इसी से वर्ग विशेष का बोध किया जाने लगा। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग से विश एक अलग वर्ग इस प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद के एक मन्त्र में क्षत्रियों के लिये बल की प्रार्थना की गई है और फिर विश के लिये भी वही प्रार्थना की गई है।[3] क्षत्रिय और विश दोनों के लिये प्रार्थना करने का अर्थ है निःसन्देह दो वर्ग हैं। जैसा कि बताया जा चुका है ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल प्राचीनतम हैं और फिर उनके बाद दसवें मण्डल की रचना हुई। इसी दसवें मण्डल से हमें यह ज्ञात होता है कि विराट पुरुष से चार जातियों का जन्म हुआ। ध्यान रहे कि ये चार जातियाँ वही हैं जो उत्तर वैदिक काल महाकाव्य काल आदि से

---

[1] यज्ञादि में बाधक राक्षसों (जो अनार्य थे) के हनन के लिए विश्वामित्र से जो क्षत्रिय राजा दशरथ के पुत्रों को मँगवाया गया वह ऋग्वैदिक कालीन अवस्था की पुनरावृत्ति तो नहीं है ?

[2] ऋग्० ७।१०४।१३॥

[3] ऋग्० ८।३५।१७–१८॥

रूप में आज तक हिन्दू समाज में बना है। इस प्रकार जातियों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र) की इस दैविक उत्पत्ति का उल्लेख ऋग्वेद के उस मण्डल (पुरुषसूक्त) में प्राप्त होता है जो अपेक्षाकृत बाद का है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में कहीं भी वैश्य शब्द नहीं आया है। अतः इससे क्या यह सम्भव नहीं कि या तो विश ही वैश्य थे क्योंकि क्षत्रियों के लिये प्रार्थना करके फिर विश के लिये प्रार्थना की गई और शूद्रों के लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वे दास या दस्यु थे, या यह भी सम्भव हो सकता है कि दसवें मण्डल के पहलेवाले मण्डलों में वैश्य शब्द का प्रयोग न होना यह प्रमाणित करता है कि यह वर्ग प्रथम दो वर्गों के बनने के पश्चात् बना और यह तर्कसंगत भी जान पड़ता है। किन्तु दसवें मण्डल पुरुषसूक्त में जो चारों जातियों की साथ उत्पत्ति का विवरण प्राप्त होता है वह इसका अपवाद है। इसके अनुसार तो उस आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। पर इस वेद-वाक्य पर अधिक टीका न करके यहाँ केवल इतना ही कहना श्रेयस्कर होगा कि हम वर्णों की उत्पत्ति के सामाजिक कारणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए जिसके अन्तर्गत समाज में वर्गों की स्वाभाविक उत्पत्ति आवश्यकतानुसार होती है। वैश्यों का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। ब्राह्मणों के पूजा-पाठ तथा क्षत्रियों के सैनिक कार्य में लग जाने के पश्चात् अब यही एक ऐसा वर्ग बच गया जिस पर समाज की आर्थिक व्यवस्था आधारित थी। शूद्रों को तो चरणों से उत्पन्न होने के कारण चरण-सेवा से फुरसत न थी अतः उत्पादन तथा वितरण का कार्य वैश्यों पर आ गया। यदि थोड़ी देर के लिए हम विश का अर्थ वैश्यों से लें तो वे लोग खेती, पशुपालन, तरह-तरह की दस्तकारी आदि बहुत से व्यवसाय करते थे।[1] ऋग्वैदिक काल में समाज का जो विभाजन हुआ उसे वर्ग-व्यवस्था कहना ही उचित है क्योंकि यह केवल समाज का वर्गीकरण ही था—(वह भी लगभग समान स्तर पर) वर्णव्यवस्था तो काफी बाद में पनपती है यद्यपि उसका मूल समाज के इसी वर्गीकरण में निहित है। दासों का उपवर्ग इन्हीं शूद्रों में से शायद एक था। ये अनार्य थे और या तो युद्ध के बन्दी थे या अन्य प्रकार से आत्मसमर्पण किये हुए व्यक्ति थे। किन्तु भारतीय दास प्रथा तथा यूनान आदि की दास प्रथा में महान् अन्तर था। जहाँ विदेशों में दासों-दासों या दासों-पशुओं के हिंसक युद्धों के दर्शन के लिये दास प्रथा प्रचलित[2] थी वहाँ भारत में केवल इनसे सेवा-कार्य लिया जाता था। दासों के प्रति भारतीयों की क्या धारणा थी इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमें ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में प्राप्त हो जाता है। एक स्थान पर एक ऋषि पुत्रों के साथ साथ दासों के लिये भी प्रार्थना करता है।[3] दासों को सम्पत्ति भी समझा जाता था और तब ऐसी दशा में उनका विनाश या उन्हें किसी प्रकार

---

[1] देखिए डा० बेनी प्रसाद की 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' पृष्ठ ४७। 'विश' ब्राह्मण क्षत्रिय से पृथक थे। ऐसी दशा में अधिक से अधिक यह सम्भव है कि शूद्र भी ये कार्य करते रहे होंगे पर वे दास या नौकर के रूप में ही रहे होंगे। अतः उपरोक्त उद्यम के कर्ता वैश्य ही ठहरते हैं।

[2] विश्व-इतिहास में 'ग्लैडियेटर' या मल्लों का युद्ध प्रसिद्ध है। दो दासों को या एक दास और एक हिंसक पशु को पींजड़े में छोड़कर उन्हें तब तक लड़ते रहने देना जब तक बिल्कुल घायल न हो जायें या मर न जायें सभ्यता के निर्माताओं पर कलंक का एक टीका है।

[3] ऋग्० १।९२।८।

था। यदि ... न अपनी सम्पत्ति की हानि नहीं होने देता था। आर्य लोग अपनी सम्पत्ति समझने का आग्रह करते थे। इस प्रकार ज्ञात होता है कि वे दास रूप में लिए जाते थे। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि त्रसदस्यु नामक राजा ने पचास वधुयें अर्थात् दासियाँ दान रूप में दी थीं।[1] अन्यत्र भी कहा गया है कि अश्वमेध ने ... आदि के साथ वधुमती ... (जो दासियाँ थीं) दीं।[2]

किन्तु सेवा कार्य में व्यवहार होता है और ... में लोगों का व्यक्तिगत परिश्रम करना पड़ता था।[3]

इस प्रकार सम्पूर्ण आर्यों की सेवा करने वाले दासों का जीवन अन्य लोगों से भिन्न था और वे बिल्कुल साधारण जीवन बिताते थे।

पारिवारिक जीवन—आर्यों के सामाजिक संगठन की ... विशेषताओं का और अधिक स्पष्ट रूप से जानने के निमित्त हम उनके पारिवारिक जीवन पर दृष्टिपात करेंगे। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद हमारी कुछ सहायता करता है। आर्य कुटुम्ब पितृसत्तात्मक था पर माता को भी सम्मान प्राप्त था जैसा कि आगे बतलाया जायगा। पिता या पितामह ही कुटुम्ब का प्रधान होता था जिसे गृहपति कहते थे। गृहपति की प्रधानता पर घर के अन्य व्यक्ति निर्भर थे।[4] गृहपति के कर्तव्यों पर भी ऋग्वेद में कुछ प्रकाश डाला गया है और उससे यह ज्ञात होता है कि गृहपति से वीरता तथा उदारता की आशा की जाती थी।[5] गृहपति का पत्नी और कुटुम्ब के अन्य सदस्यों पर उसी प्रकार अधिकार था। अपनी पत्नी एवं अपनी सन्तान की गृहपति सब तरह से पूर्ण रक्षा एवं पालन पोषण करता था। ... आज्ञाकारी एवं सच्चरित्र सन्तान को यह कठोर दण्ड भी देता था। सम्पत्ति का पद वंशानुगत था और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र (सम्भवतः ज्येष्ठ पुत्र) गृहपति बनता था। वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। कभी-कभी भाइयों में उनके सम्पत्ति का बँटवारा भी हो जाता था।[6] पिता की सम्पत्ति का उचित उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था—पुत्री नहीं। पुत्री को यह सम्पत्ति तब प्राप्त होती थी जब वह अपने पिता की अकेली सन्तान होती थी।[7] गोद लेने की प्रथा भी प्रचलित थी।[8] गृहपति की देख-रेख में कुटुम्ब के पुरुष सदस्य जीवनयापन के साधन ... थी। सम्मिलित कुटुम्ब ... करना आवश्यक था। ... होगा। ऐसी दशा में पर ... मृत्यु के पश्चात भ्राता का कर्तव्य अपनी बहन के प्रति बढ़ जाता था। भ्रातृ (भाई) का शाब्दिक अर्थ ही है भरण करने वाला। अतः वह पिता की अनुपस्थिति में बहन का भरण पोषण उसके ब्याह के पूर्व तक करता था। भ्रातृहीन लड़कियों की दुर्दशा का संकेत भी इस ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिसमें एक मंत्र में एक धनहीन एवं भ्रातृहीन लड़की का उल्लेख है जो दुराचार से अपना पेट पालती है।[9]

दैनिक जीवन में कुटुम्ब की समस्याओं को लेकर किसी प्रकार की कटुता आने की

[1] ऋग्० ८।१९।३६॥
[2] ऋग्० ६।२७।८॥
[3] ऋग्० १।८६।७॥
[4] ऋग्० ६।५३।२॥
[5] ऋग्० ६।४९।८॥
[6] ऋग्० १।७०।५॥
[7] ऋग्० ३।३१॥
[8] ऋग्० ७।४।७-८॥
[9] ऋग्० ४।१२४।७॥

बहुत कम आशंका रहती थी क्योंकि कुटुम्ब के सदस्य पारस्परिक प्रेम में बंधे थे। सास श्वसुर, ननद, देवर आदि के साथ रहकर भी वह अपना अस्तित्व बनाये रख सकती थी। वह अपने पति के साथ यज्ञाग्नि करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती और पीती थी।[1] पति-पत्नी का साथ धार्मिक कार्य करने तथा अपनी सन्तान के साथ आनन्द करने का उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[2] पत्नी का आदर घर में कितना होता था, उसके अधिकार और कर्तव्य क्या थे इन सब का सांकेतिक विवरण हम ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि स्त्री घर का प्रबन्ध करती थी तथा अन्य कामों के अतिरिक्त वह ताना बुनने का कार्य भी करती थी।[3] गृहपत्नी की महानता का बोध तो हमें तब होता है जब हम देखते हैं कि कहीं कहीं अग्निदेवता की उपमा गृहपत्नी से दी गई है जो कुटुम्ब के सभी सदस्यों का ध्यान रखता है।[4] ऋग्वेद में उषा देवी के विषय में यह कहना कि वह गृहपत्नी की भांति सोनेवालों को जगाती हुई जाती है[5] यह प्रमाणित करता है कि गृहपत्नी पर घर का पूरा उत्तरदायित्व था और वह कुटुम्ब के सदस्यों को उनके दैनिक कार्यों के लिये प्रातःकाल जगाया करती थी। पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, पत्नी आनन्द है आदि का प्रमाण हम ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में मिलते हैं।[6] इतना सब होने पर भी गृहपति पत्नी पर उचित अंकुश कौटुम्बिक मामलों में अवश्य रखता रहा होगा क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि-दुर्बलता तथा उनके चित्त का संयत न होने का उल्लेख भी ऋग्वेद में किया गया है।[7]

ऊपर के विवरण से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि गृहपति और गृहपत्नी से अपेक्षाएं तथा कर्तव्य कौटुम्बिक जीवन को सफल बनाने सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिये अधिक विस्तृत था। ऋग्वैदिक कालीन कुटुम्ब में तत्सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त एक प्रमुख विशेषता यह देखने को मिलती है कि पुत्र की कामना बहुत अधिक थी। हमारे घर सन्तान से भरे-पूरे हों, हमें वीर पुत्रों की कमी न हो आदि के उदाहरण अनेक मंत्रों में प्राप्त होते हैं।[8] आधुनिक युग में सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के कारण साधारणतया बहु-सन्तान की कामना नहीं की जाती, किन्तु उस प्रारम्भिक युग में जब मनुष्य के रहने एवं कृषि-कार्य करने के लिये भूमि का अभाव न था, उद्योग एवं व्यवसाय में काफी क्षेत्र था, इस प्रकार की कामना स्वाभाविक थी। ध्यान रहे कि ये वीर पुत्रों की कामना करते थे, वह भी काफी अधिक संख्या में। वीर पुत्रों की अधिक से अधिक संख्या में उत्पत्ति होने की कामना का अर्थ स्पष्ट है जिसका अभिप्राय सामरिक है। अपने स्वाभाविक शत्रुओं अनार्यों को दबाने के लिये भी अधिक से अधिक जमीन पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिये उन लोगों को वीर पुत्रों की आवश्यकता थी। यही कारण है कि बार-बार वीर पुत्रों की कामना का वर्णन ऋग्वेद में आया है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है कि गोद लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। पुत्रहीन पिता दूसरे के पुत्र को गोद ले लेता था। पर एक मंत्र से यह परिलक्षित होता है कि गोद लिये हुए पुत्र औरस पुत्र के बराबर नहीं होते थे। समाज में निश्चय ही उस दत्तक पुत्र का वह स्थान नहीं रहा होगा जो कि वास्तविक पुत्र का। इसका कारण यह हो

---

1 ऋग्० १।१२३।३॥५।४३।१५॥
2 ऋग्० ७-८।१५-८॥तथा १ १०५।२॥
3 ऋग्० २।३।६॥२।३८।४॥
4 ऋग्० १।६६।२॥
5 ऋग्० १।१२४।४॥
6 ऋग्० ३।५३।४॥३।५३।६॥
7 ऋग्० ८।३३।१७॥
8 ऋग्० ७।१।११-१२।१९॥ ७।१।२४॥२।१६।५-६॥

वर-वधू चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता था। पर माता पिता भी शादी तय कर देते रहे होंगे क्योंकि प्रत्येक तरुण या तरुणी के जीवन में स्वयं वर-वधू निर्वाचन सम्भव नहीं। इस या किसी अन्य विधि द्वारा शादी तय हो जाने के पश्चात् बड़ी धूम से वैवाहिक प्रथायें पूरी की जाती थीं। वर पक्ष के लोग सज धज कर वधू के घर जाते थे जहाँ उनका पूर्ण स्वागत होता था। पुरोहित द्वारा बताये गये शुभ समय एवं मुहूर्त में वर वधू का पाणिग्रहण करता था और तत्पश्चात वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। पाणिग्रहण के पश्चात् बहुत ही विराट उत्सव होता था—जिसमें सभी लोग सुन्दर सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनकर शामिल होते थे।[1] विवाह-संस्कार के समय जो मंत्रोच्चारण होता था उनसे हमें यह ज्ञात होता है कि वधुओं का हमारे होनेवाले घर में कितना सम्मान होता रहा होगा उनसे वर कितनी मंगल-कामनायें करता था। नीचे एक इसी प्रकार के मंत्र का हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है—

प्राणियों के स्वामी हम सन्तान से कृतार्थ करें अर्यमान् हम वृद्धावस्था तक परिणय के सूत्र में आबद्ध रक्खें। हे वधू! पति के घर में तुम्हारा प्रवेश मंगलकारी हो। हमारे कुल एवं ढोरों पर क्षेम की वर्षा करो।

हे वधू! अपनी सास और श्वसुर को वशीभूत कर लो अपनी ननदों तथा देवरों के बीच में रानी की भाँति शोभायमान हो।[2]

विवाह संस्कार हो जाने के बाद वर वधू को रथ पर बिठाकर अपने घर लाता था। पर ऋग्वेद में अनेक ब्याह का भी वर्णन प्राप्त होता है और राजा-महाराजा या सम्मानित पुरोहित कभी-कभी अनेक ब्याह कर लेते थे।[3] अनेक ब्याह का अर्थ है नारियों का पिसना। पर साथ ही अनेक ब्याह करने पर आधुनिक युग में जिस प्रकार कोई व्यक्ति परेशान हो सकता है ठीक उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी बहु विवाह करने वाला कौटुम्बिक कलह से परेशान रहता था।[4] बहु विवाह केवल उच्च वर्ग (राजा महाराजा या बड़े पुरोहितों) में ही प्रचलित था। अतः साधारण नारियाँ इसके कुप्रभावों से मुक्त थीं।

नारी-जीवन का दूसरा अभिशाप वैधव्य है। जिस समाज में विधवाओं का ब्याह करने की अनुमति नहीं दी जाती उसमें न केवल नारियों के साथ अन्याय किया जाता है वरन् समाज में दुराचार का विष बोने का जान-बूझ कर प्रयास किया जाता है। ऋग्वैदिक काल हमारे आज के इस सभ्य हिन्दू समाज से इस विषय में कहीं आगे बढ़ा था। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से विधवा-जीवन का कारुणिक दृश्य तथा उनसे सम्बन्धित कृत्यों का बोध होता है। एक मंत्र में इस प्रकार का वर्णन है—

उठो स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो चुका है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को तैयार है।[5] उक्त मंत्र से यह तो ज्ञात हो जाता है कि विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु पति के शव के पास श्मशान में बैठी हुई नव विधवा से तुरन्त उसी समय कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने और

---

1. ऋग० ४।५८।९॥
2. ऋग० १०।८५।४३–४६॥
3. ऋग० १।६२।११॥१।७१।१।७।१८।२॥७।२६।३॥
4. ऋग० १।१०४।३॥१।१०५।८॥
5. ऋग० १०।१८।८॥ १०।४०।२॥से भी विधवा विवाह का प्रमाण मिलता है।

सकता है कि गोद रूप मे पुत्र केवल उन्ही से प्राप्त किया जा सकता रहा होगा जो किसी कारणवश अपने पुत्र का भरण-पोषण सुचारु रूप से नहीं चला पाते रहे होंगे।

समाज और नारी[1]—गृहपत्नी के रूप मे नारी का कुछ व्यक्तित्व हमारे सम्मुख आ चुका है पर केवल वही नारी का पूर्ण स्वरूप नही है। वह तो कुटुम्ब और नारी की व्याख्या मात्र रहा। अब हम समाज और नारी पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध मे भी हम पूर्णतया ऋग्वेद का सहारा लेना पड़ेगा।

आर्यों का सामाजिक संगठन ही कुछ इस प्रकार का था कि जो पितृसत्तात्मक होते हुए भी नारी को ऊँचा स्थान देने के लिये बहुधा बाध्य करता था। नारियों का जैसा शारीरिक गठन है उस आधार पर यह आवश्यक हो जाता था कि वे जब तक कुमारी रहती थीं तब तक पिता या भ्राता के संरक्षण में रहती थीं जब विवाहित हो जाती थीं तो पति के देख रेख मे रहती थीं और पति के अभाव में युवक पुत्र या इसी प्रकार के किसी अन्य संरक्षक के निरीक्षण मे रहती थीं। पर्दा प्रथा का कहीं नाम न था। तत्कालीन शिक्षा पद्धति के अनुसार उन्हें भी शिक्षित किया जाता था। उनके विदुषी होने के उदाहरण ऋग्वेद में रचित उनकी रचनायें है।[2] इसी प्रकार क्रिया में वे पुरुषों से किसी प्रकार पीछे न थीं। पर रणक्षेत्र में भी वे कम कौशल नहीं दिखलाती थीं। ऋग्वेद में नारियों के रणक्षेत्र में जाने का उल्लेख मिलता है। इसमें ज्ञात होता है कि विष्पला नामक एक स्त्री रणक्षेत्र में गई थी और जब युद्ध करते करते वह घायल हो गई तो अश्विनों ने उसका उपचार किया।[3] विदुषी एवं वीरांगनाओं को हर प्रकार की स्वतन्त्रता होना स्वाभाविक है। उन्हें विवाह आदि में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। तरुण पुरुषों और स्त्रियों को मिलन-जुलन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी अपनी इच्छानुसार प्यार करते थे और अपनी इच्छा के अनुसार ब्याह कर सकते थे।[4] नारी-सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति का उदाहरण भी हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है। एक स्थान पर यह बताया गया है कि कुछ नारियाँ तो अपने रूप पर फूली नहीं समाती थीं और अपने प्रेमियों के चित्त को लुभाने में बड़ी दक्ष होती थीं। समाज में नारियों का प्रेम रूप भी उपस्थित था जिसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। अन्यत्र भी हम इसी प्रकार का उदाहरण प्राप्त हो रहा है जिसके अनुसार एक युवक मंत्र द्वारा अपनी प्रेमिका के घरवालों को सुलाना चाहता है।[5]

इस सम्बन्ध में हम वैवाहिक प्रथाओं का भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि नारियों की दशा की उच्चता या हीनता अधिकांशतः इसी पर आधारित होती है। आदर्श ब्याह केवल एक ब्याह करना था। अतः हम पहले आदर्श ब्याह का वर्णन करेंगे। नारियों एवं पुरुषों को हिलने मिलने की जो स्वतन्त्रता दी गई थी साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में कोई बंधन नहीं रक्खा गया था उससे लोगों को स्वत

---

[1] ऋग्वैदिक काल की नारियों की दशा के लिए डा० ए० एस० अल्टेकर की *The Position of Women in Hindu Civilisation* मिस बेयर की *Women in Ancient India* इन्दू की *Status of Women in Ancient India* देखिये।

[2] ऋग्० १।१९७।१।१७९।५।२८।६।१०।३।८।२२।

[3] ऋग्० १।११२।१०।१।११६।१५।१।११७।११।१।११८।८।

[4] ऋग्० १।११५।२।५।३।५।९५६।३।

[5] ऋग्० ७।५५।५ ६ ८।

वर-वधू चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता था। पर माता पिता भी शादी तय कर देते रहे होंगे क्योंकि प्रत्येक तरुण या तरुणी के जीवन में स्वयं वर-वधू निर्वाचन सम्भव नहीं। इस या किसी अन्य विधि द्वारा शादी तय हो जाने के पश्चात् बड़ी धूम से वैवाहिक प्रथायें पूरी की जाती थीं। वर-पक्ष के लोग सज धज कर वधू के घर जाते थे जहाँ उनका पूर्ण स्वागत होता था। पुरोहित द्वारा बताये गये शुभ समय एवं मुहूर्त में वर वधू का पाणिग्रहण करता था और तत्पश्चात् वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। पाणिग्रहण के पश्चात् बहुत ही विराट उत्सव होता था—जिसमें सभी लोग सुन्दर सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनकर शामिल होते थे।[1] विवाह-संस्कार के समय जो मंत्रोच्चारण होता था उनसे हमें यह ज्ञात होता है कि वधुओं का हमारे होनेवाले घर में कितना सम्मान होता रहा होगा उसे वर कितनी मंगल-कामनायें करता था। नीचे एक इसी प्रकार के मंत्र का हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है—

प्राणियों के स्वामी हमें सन्तान से कृतार्थ करें अर्यमान् हमें वृद्धावस्था तक परिणय के सूत्र में आबद्ध रक्खें। हे वधू! पति के घर में तुम्हारा प्रवेश मंगलकारी हो। हमारे कुल एवं ढोरों पर क्षेम की वर्षा करो।

हे वधू! अपनी सास और श्वसुर को वशीभूत कर लो अपनी ननदों तथा देवरों के बीच में रानी की भाँति शोभायमान हो।[2]

विवाह संस्कार हो जाने के बाद वर वधू को रथ पर बिठाकर अपने घर लाता था।

पर ऋग्वेद में अनेक ब्याह का भी वर्णन प्राप्त होता है और राजा-महाराजा या सम्मानित पुरोहित कभी-कभी अनेक ब्याह कर लेते थे।[3] अनेक ब्याह का अर्थ है नारियों का पिसना। पर साथ ही अनेक ब्याह करने पर आधुनिक युग में जिस प्रकार कोई व्यक्ति परेशान हो सकता है ठीक उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी बहु विवाह करने वाला कौटुम्बिक कलह से परेशान रहता था।[4] बहु विवाह केवल उच्च वर्ग (राजा महाराजा या बड़े पुरोहितों) में ही प्रचलित था। अतः साधारण नारियाँ इसके कुप्रभावों से मुक्त थीं।

नारी जीवन का दूसरा अभिशाप वैधव्य है। जिस समाज में विधवाओं को ब्याह करने की अनुमति नहीं दी जाती उसमें न केवल नारियों के साथ अन्याय किया जाता है वरन् समाज में दुराचार का विष बोने का जान-बूझ कर प्रयास किया जाता है। ऋग्वैदिक काल हमारे आज के इस सभ्य हिन्दू समाज से इस विषय में कहीं आगे बढ़ा था। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से विधवा-जीवन का कारुणिक दृश्य तथा उनसे सम्बन्धित कष्टों का बोध होता है। एक मंत्र में इस प्रकार का वर्णन है—

'उठो स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो चुका है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को तैयार है।'[5] उक्त मंत्र से यह तो ज्ञात हो जाता है कि विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु पति के शव के पास श्मशान में बैठी हुई नव विधवा से तुरन्त उसी समय कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने और

[1] ऋग्० ४।५८।९॥
[2] ऋग्० १०।८५।४३–४६॥
[3] ऋग्० १।६२।११॥१।७१।१॥७।१८।२॥७।२६।३॥
[4] ऋग्० १।१०४।३॥१।१०५।८॥
[5] ऋग्० १०।१८।८॥, १०।४०।२॥से भी विधवा विवाह का प्रमाण मिलता है।

होय पर इन का तयार हो जाता है यह वस्तु कुछ खटकती है—खटकता इसलिए है कि यह कार्य ठीक शव-दाह के समय होने जा रहा है। वास्तविकता जो भी हो—चाहे विधवा अपने पति की मृत्यु के शीघ्र पश्चात ब्याह कर लेती हो या कुछ काल पश्चात करती रही पर विधवा विवाह की मनाही नहीं थी।

विवाह प्रथा के सम्बन्ध में एक वस्तु और भी महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से ऐसा ज्ञात होता है कि दहेज प्रथा भी प्रचलित थी।[१] पर जहाँ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई थी[२] वहाँ इस प्रकार का पनपना कुछ कठिन सा होता है।

भारतीय आर्यों की विवाह पद्धति से जब हम अन्य प्राचीन सभ्य देशों की पद्धति की तुलना करते है तो यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि इनमें महान अन्तर था। जब कि । अन्य देशवासी इसे केवल भौतिक ने थ। ऋग्वेद में सती प्रथा का कहीं

दैनिक जीवन—दैनिक जीवन के अन्तर्गत हम आर्यों की वेश भूषा उनके रहन-सहन खान पान आमोद प्रमोद आदि का अध्ययन करेंगे।

आर्य तीन प्रकार का वस्त्र धारण करते थे। पहला नीवी (जो नीचे की धोती था) दूसरा वास[३] और तीसरा अधिवास[४] था। ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग ये भली भाँति जानते थे। धनवान सोने के काम के रंगीन वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर वे विशेष वस्त्र धारण करते थे। ऐसे अवसरों पर वे सुनहरे आभूषण भी पहनते थे।[५] आभूषणों में कुण्डल हार अंगद वलय नूपुर आदि मुख्य थे।[६] प्रेमियों का चित्त प्रसन्न करने में (नारियाँ) कुशल होती थी[७] इससे यह ध्वनित होता है कि नारियाँ सजावट शृंगार आदि से पूर्णतया परिचित ही नहीं थी वरन वे उसमें दक्ष भी थी। वे अपने बालों को कंघी से सँवारती थी और तेल (सम्भवत सुगन्धित तेल) से उन्हें बनाती थी। कुछ पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे और उन्हें सँवारते थे।[८] दाढ़ी रखने की भी प्रथा थी।[९] किन्तु कुछ लोग दाढ़ी बनवाते भी थे।[१०] सम्पूर्ण आर्य जाति स्वच्छ जीवन बिताना चाहती थी अतः स्वच्छता की इन्हें सदैव ध्यान बना रहता था। ऋग्वेद में एक स्त्री के चार वेणी (चोटी) करने का उल्लेख आया है।[११]

आर्यों के भोजन में दूध का महत्वपूर्ण स्थान था।[१२] दही[१३] तथा घृत[१४] का भी वे भली भाँति उपयोग करते थे। क्षीर पक्वम-ओदनम (दूध में पका हुआ अन्न) का भी

प्रयोग में किया करते थे और एक प्रकार की मदिरा भी पीते थे।[1] वे रोटियाँ और चावल घी के साथ खाते थे।[2] वे मांसाहारी भी थे और सम्भवतः यज्ञ में मारे गये पशुओं, भेंड़-बकरी का मांस खाते थे। गाय को दुहने अघ्न्या (ऋग्वेद ८।१०१।१५ — १६।।) घोषित कर दिया था। अतः उसका वध नहीं किया जाता था। ऋग्वेद ८।२।१२ से यह ज्ञात होता है कि सुरा पीने से कभी-कभी समाज में दुराचार हो जाता था। अतः इसे वर्जित कर दिया गया।[3] इनका सबसे मधुर पेय पदार्थ 'सोम' या सोमरस था जिसका गुण-गान और उसकी प्राप्ति-स्थल, रासायनिक उत्पादन आदि का विस्तृत वर्णन हमें ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवें मण्डल में प्राप्त होता है।[4]

आर्यों के आमोद-प्रमोद पर भी ऋग्वेद से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रथ-दौड़, घुड़दौड़, नृत्य तथा संगीत उनके आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधन थे। घोड़दौड़ उसके स्थान की नाप आदि का पूर्ण विवरण हमें ऋग्वेद ५।३७।७।।८।४१।४।।८।८०।८।। आदि में प्राप्त होता है। ऋग्वेद २।२९।५ में हमें ज्ञात होता है कि जुआरी पुत्र पिता द्वारा दण्डित किया जाता था। अतः जुआ खेलने की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों नृत्य करते थे।[5] वाद्य यन्त्रों का भी सुन्दर प्रयोग वे भली भाँति जानते थे। दुंदुभि (ऋग्० १।२८।५।।) कर्करि (ऋग्० २।४३।३।।) वीणा (ऋग्० १०।३२।४।।) नाडी (ऋग्० १०।१३५।७।।) आदि का भी उल्लेख किया गया है।

आर्थिक अवस्था

आर्यों की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् हम उनकी आर्थिक व्यवस्था पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे। जैसा कि अन्य प्रारम्भिक सभ्य जातियों में कृषि, गृह उद्योग धन्धे तथा छोटे-छोटे पैमाने पर व्यवसाय जीवन यापन का साधन रहा है उसी प्रकार भारत में भी मनुष्यों का उद्यम कृषि, पशु-पालन, घरेलू उद्योग धन्धे तथा व्यापार था। सुविधा के लिये इनका पृथक-पृथक विवरण किया जायगा।

पशु-पालन—आर्यों की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार पशु-पालन था। गौ तथा बैलों से हल जोतने का काम लिया जाता था। ये अन्नागार तथा खाद्यान्न स्थान तथा अन्य सामान स्थान के लिए गाड़ी खींचने के काम में भी लाये जाते थे। इनके अन्य पालतू पशुओं का उल्लेख हमें ऋग्वेद ५।१९।६।।८।२२।२।।७।९।२।। में प्राप्त होता है जिनमें भेंड़, बकरी, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख हैं। इसी प्रकार चरागाह (गव्यूति ऋग्० १।२१।४।।) चरवाहे (गोपाल ऋग्वेद १०।६०।३।।) का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। स्वामित्व के चिह्न के लिए पशुओं के कानों पर चिह्न बना लिया जाता था।[6] ऋग्वेद १।९१।२३।। में यह ज्ञात होता है कि पशु-हरण भी हुआ करता था। गायों को सारे कल्याणों का आधार मानते थे। घोड़े का महत्व भी उन दिनों कम न था। ये रथ-संचालन के काम में लाये जाते थे।

कृषि—पशु-पालन के पश्चात् कृषि का ही स्थान आता है। कृषि को ऋग्वेद में काफी महत्व प्रदान किया गया है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम पेशा था। प्रमाणस्वरूप वे 'कर्षण' शब्द को देते हैं। कर्षण के लिए

[1] ऋग्० १।४८।१८।।
[2] ऋग्० १०।४५।९।। [3] ऋग्० ७।८६।६।।
[4] ऋग्० १।९३।६।।९।५३।४।।९।६५।२५।।२। १०९।३।।९।९९।८।।९।७४।९।।
[5] ऋग्० १०।१४६।२।। [6] ऋग्० ७।२८।२।।

भारतीय आर्य ईरानी आर्य दोनों कृषि धातु का प्रयोग करते थे। अतः इससे यह परिलक्षित होता है कि इन दोनों शाखाओं के पृथक होने के पूर्व भी कृषि-वृत्ति इनमें प्रचलित हो चुकी थी। बैलों द्वारा हल जोता जाता था। उस समय आजकल की भाँति केवल दो बैलों से हल नहीं जोता जाता था अपितु ६,८ या ११–१२ बैलों तक को हल खींचने के काम में लाया जाता था।[1] ये जव तथा धान्य की खेती करते थे।[2]

पानी की कमी पड़ने पर सिंचाई भी की जाती थी। पशुओं तथा मनुष्यों के पृथक-पृथक कुओं का उल्लेख ऋग्वेद १०।१०।१।७॥ में किया गया है। कुएं से पानी निकाल कर एक बड़े ताल या नहर में सिंचाई के लिये भरा जाता था।[3] 'कुल्य' तथा झीलों में भी सिंचन कार्य के लिये जल प्राप्त किया जाता था।[4]

वे खाद का भी प्रयोग जानते थे उसको करिष कहते थे। इस प्रकार भली भाँति जुताई-बुआई करके तथा खाद द्वारा खेतों की उर्वरता बढ़ाकर और सिंचाई के समुचित साधन एकत्रित करके ऋग्वैदिक काल के मनुष्य काफी अच्छी फसल तैयार करते थे। फसल तैयार हो जाने के पश्चात उसे सिनी या हँसिया से काटते थे और उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे।[5] ऋग्वेद १०।४८।७॥ तथा १०।७१।२॥ से यह ज्ञात होता है कि वे अन्न को रौंदकर डंठल से अलग कर लेते थे और फिर उसे ओसाते थे। ओसानेवाले को धान्यकृत कहते थे।[6] कृषि को क्षति पहुंचानेवाले कीड़े मकोड़े पक्षियों आदि का भी उल्लेख ऋग्वेद १०।६८।१॥ में किया गया है। कभी-कभी अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि से भी कृषि को क्षति पहुंच जाती थी।

आखेट[7]—कृषि तथा पशु पालन के पश्चात इनका अन्य उद्यम आखेट भी था। पर ऐसा ज्ञात होता है कि आखेट केवल निम्न वर्ग के लोग करते रहे होंगे। कम से कम आहार के लिये या यों कहिये कि जीवन-यापन के लिये तो केवल निम्न वर्ग के लोग ही आखेट करते रहे होंगे। धनुष-बाण, जाल, फन्दा। आदि इनके आखेट सम्बन्धी हथियार थे। शेर को गड्ढे में गिरा कर उसे पकड़ते थे।

गृह उद्योग या दस्तकारी—विभिन्न प्रकार की दस्तकारी भी उस समय होती थी। बढ़ई या तक्षण की उन दिनों काफी पूछ थी। यह रथ तथा गाड़ियाँ बनाता था[8]। वह लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी भी करता था।[9] इसके बाद कर्मार या लोहार को स्थान दिया गया है। कर्मकार के कार्यों एवं विधियों का पूर्ण ज्ञान हमें ऋग्वेद १०।७२।७॥५।९।५॥९।११२।२॥५।३०।१५॥९।१।२॥ से होता है। 'हिरण्यकार' या सुनार हिरण्य से आभूषण बनाता था।[10] ऋग्वेद से हमें यह भी ज्ञात होता है कि सिंधु जैसी नदियों में सोना प्राप्त किया जाता था। इन्हें स्वर्ण निर्झरणी कहा गया है।[11] पर कभी कभी यह धरती से खोद कर भी निकाला जाता था जैसा कि ऋग्वेद १।११७।५॥ से ज्ञात होता है। चर्मकार भी विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनाता था। उन्हें चमड़ा पकाने की कला का भली प्रकार ज्ञान था। कताई-बुनाई के कार्य में भी ये पूर्ण दक्ष थे। बिनाई का काम बहुधा स्त्रियाँ ही करती थीं।[12]

---

[1] ऋग्० ८।६।४८॥१०।१०१।४॥
[2] ऋग्० १।११७।२१॥६।१३।४॥ [3] ऋग्० ८।६९।१२॥
[4] ऋग् ३।४५।३॥१।९९।४॥ [5] ऋग्० ८।७८।१०॥१०।१०१।३॥
[6] ऋग्० १०।९४।१३ [7] आखेट सम्बन्धी विवरण के लिये देखिए ऋग्वेद ३।४५।१॥ ९।८३।४॥१०।५१।६॥१०।२८।१०॥ आदि
[8] ऋग्० ९।११२।१॥ तथा ३।३३।९ [9] ऋग्० १।१२२।२॥
[10] ऋग्० १०।८६।५॥ [11] ऋग्० ६।६१।७॥ [12] ऋग्० १-९२।३॥

विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों के करने की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त थी जैसा कि पिछले पृष्ठ में हमने उल्लेख किया है 'मैं कवि हूँ मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पिसनहारिन है।'

व्यापार—उस प्राचीन युग में भारतीय आर्यों ने इस क्षेत्र में जो उन्नति की वह उनके सीमित साधनों को देखते हुए पर्याप्त थी। देशीय तथा अन्तर्देशीय दोनों व्यापारों में ये लोग लगे हुए थे। पहले हम उनके धन मूल्य तथा विनिमय के साधनों पर ध्यान देंगे।

आर्यों ने सिक्कों का निर्माण नहीं किया था। कुछ विद्वानों ने 'निष्क' को सिक्का माना है[1] पर यह किसी प्रकार का एक छोटा आभूषण था। विनिमय द्वारा ही इनका व्यापार होता था। ऋग्वेद में इन्द्र की एक मूर्ति का मूल्य १० गाय लिखा है।[2]

ऋग्वेद में व्यापारी को 'वणिक' कहा गया है।[3] ऋग्वेद में एक स्थान पर मोल भाव करने के 'आगा-पीछा' का वर्णन भी आया है और यह भी उल्लिखित है कि जो मोल एक बार तय हो गया उसका निर्वहण करना आवश्यक था।[4] ऋण का भी विवरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[5]

ऋग्वेद ७।९५।२॥ में समुद्र का प्रयोग किया गया है जिसका पर्याय महासागर से है। इनके सामुद्रिक व्यापार के सम्बन्ध में हम ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को सम्मुख रख सकते हैं।[6] ऋग्वेद १।११६।३ में भुज्यु की कथा है जो वहाँ सुदूर असहाय पड़े हुए थे क्योंकि उनका जलयान टूट गया है। यद्यपि कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं कि आर्यों को ऋग्वैदिक काल में सामुद्रिक यात्रा का ज्ञान प्राप्त हो चुका था, तथापि उपरोक्त साक्ष्य के आधार पर—हम यह स्वीकार करना कि वे सामुद्रिक यात्रा करते थे। तर्कसंगत जान पड़ता है।

विभिन्न उद्योग धंधों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री विनिमय द्वारा पुर या गाँव में होती थी। आन्तरिक व्यापार बहुधा गाड़ियों से होता था। चूँकि पशु ही धन थे अतः विनिमय द्वारा प्राप्त पशुओं को लाने में कुछ कठिनाई का बोध करके लोग अड़ोस पड़ोस से ही व्यापार करते रहे होंगे। ऋग्वेद में तो धन की परिभाषा वही 'वित्त' है। उसमें पशु को धन माना गया है।[7] अश्व को धन बताया गया है।[8] इसी प्रकार वीर को भी धन की संज्ञा दी गई है और योग्य पुत्र को भी धन बताया गया है।[9]

उपरोक्त विवरण में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वैदिक काल में आर्थिक विषमता न थी और लोग सुखमय जीवन बिताते थे।

धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों का वह प्रभात काल है जब उन्होंने अध्यात्म जगत में प्रथम पदार्पण किया था। पर इस प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने इतना अधिक

---

[1] ऋग्० १-१२६।२॥ में १०० निष्क तथा १०० स्तदियों के दान का उल्लेख आया है। [2] ऋग्० ४।२४।१० [3] ऋग्० १-११२-११॥
[4] ऋग्० ५।२४।१०॥ [5] ऋग्० २।२७।४॥१०।३४।१०॥८।४७।१७॥
[6] ऋग्० १।४८।३॥१।२७।४४॥१।४७।६॥ आदि
[7] ऋग्० ५।४।११॥ [8] ऋग्० ६।४१।५॥ [9] ऋग्० २।११।१५॥

उन्नति कर ली थी कि उनकी मान्यतायें, उनकी आस्थायें आज तक अकाट्य हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक क्षेत्र की इस महती उन्नति के पीछे शताब्दियों की शिक्षा और योग्यता है जिसके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। शिक्षा के अभाव मे किसी भी विकसित धार्मिक आस्था का होना असम्भव है। अतः हम सर्वप्रथम ऋग्वैदिक कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाल लेना आवश्यक समझते है।

शिक्षा—अपने विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित ज्ञान को सँजोये रखने के लिये शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीनकाल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा-पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहाँ जान-बूझ कर केवल इसलिये किया गया है कि यह शब्द अध्यापक, गुरु, पण्डित आदि का द्योतक है। अपने घर में अध्यापक विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। ये विद्यार्थी और कोई नहीं स्वयं अध्यापक के पुत्र, प्रपौत्र, भतीजे आदि होते थे। इस प्रकार इसे हम कौटुम्बिक शिक्षा पद्धति कह सकते हैं। ऋग्वेद मे कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मन्त्र रट जाते थे। विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के कथित शब्दों की पुनरावृत्ति का उल्लेख एक मन्त्र में प्राप्त होता है।[1] उच्चारण आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पाठ सम्बन्धी नियम भी कुछ मन्त्रों मे दिये गये हैं[2] और अन्यत्र यह बताया गया है कि विश्वामित्र का वैदिक पाठ कितना प्रौढ़ था।[3] पर हम शिक्षा की प्रमुख पद्धति तप को ही मान सकते हैं। तप या तपस्या द्वारा आत्मशिक्षण सम्भव हो सकता था। विद्यार्थी स्वयं ज्ञानार्जन के निमित्त प्रयास करते थे और गुरु की सहायता आंशिक रूप मे आवश्यक थी। विद्यार्थी के आत्म शिक्षण का प्रमाण हमे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से प्राप्त होता है।[4] आत्मानुभूति के लिये विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद को प्राप्त करते थे।[5] ऋग्वेद में हमे कुछ ऐसा संकेत भी प्राप्त होता है जिससे पाठशाला की-सी कोई संस्था थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी दादुरों की भाँति पढ़ते थे।[6]

उपरोक्त विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का यह प्रारम्भिक रूप भी अत्यन्त ठोस था। वैदिक मन्त्रों को कण्ठाग्र किये बिना किसी प्रकार काम चल ही नहीं सकता था अतः उनके लिये दूसरी कोई शिक्षा-पद्धति उपयोगी नहीं सिद्ध होती।

देवता—ऋग्वैदिक काल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन उनके देवताओं से आरम्भ करना ही अधिक सुगम होगा। अतः हम पहले उन पर ही प्रकाश डालेंगे।

मनुष्य उस आदि काल में प्रकृति के कितना निकट था इसका उदाहरण हम प्रागैतिहासिक काल की सभ्यताओं का अध्ययन करते समय प्राप्त हुआ था। आर्यों ने भी उस प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना आरम्भ की थी। प्रकृति ने उन्हें अधिक प्रभावित किया और जिस शक्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया उसका महत्व

---

[1] प्राचीन आर्यों की धार्मिक अवस्था के विशद अध्ययन के लिये ब्लूमफील्ड व होप्किन्स की *Religion of the Rigveda* देखिये।

[2] ऋग्० ७।१०३।५॥ [3] ऋग्० ३।५३।१५॥

[4] ऋग्० १।१६४।१।१५४।२॥१०।१९०।१॥ आदि।

[5] ऋग्० १०।१३६।२॥१।१२९।२॥५।२६।१॥

[6] ऋग्० ७।१०३।५

अधिक बढ़ गया। ऋग्वेद में कुल ३३ देवता माने गये हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ इन्द्र अग्नि तथा सोम हैं। इन्द्र के लिये २५०, अग्नि के लिये २०० तथा सोम के लिये १०० से अधिक मंत्र रचे गये हैं। द्यौ और पृथ्वी[१] को जगन्माता पिता कहा गया है और ६ मंत्रों में इनका गुणगान है। इसी प्रकार वर्षा के देवता 'पर्जन्य' तथा मरुतों के देवता 'यम' का भी उल्लेख तीन-चार मंत्रों में किया गया है। प्राचीन सभी सभ्य देशों में सूर्य देव पद पाता रहा। भारत में भी इसका देवत्व प्राप्त हुआ था और सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा स्थान दिया गया था। सूर्य की पूजा उसके लगभग पाँच अंशों में की जाती थी (१) सूर्य अपने वास्तविक रूप में, (२) सवितृ जिसकी प्रार्थना में सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र है।[२] (३) पूषण जो सूर्य की मार्गदर्शन शक्ति का द्योतक है। (४) इसका एक अंश मित्र भी था। मित्र की आराधना ईरान में भी अधिक महत्वपूर्ण थी। (५) विष्णु भी, सूर्य का ही एक अंश माना जा सकता है क्योंकि उनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह 'तीन छलांग भरता है'। इसी द्रुतगति के आधार पर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वह भी सूर्य का एक अंश था। पर कालान्तर में यह एक स्वतंत्र देवता हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवता भी अधिक महत्वपूर्ण थे। इनमें द्यौ की पुत्री तथा प्रभात की पुतान देवी उषा प्रसिद्ध है जिसके लिये अनेक सुन्दर मंत्रों की रचना हुई थी। कुछ सुन्दर ऋचाएँ नीचे दी जा रही हैं—

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती। (ऋग्० १।४८।१॥)

अर्थात् हे देव कन्यके उषा! धन सहित हमारे लिये प्रभात करो। विभावरी उषा फल देकर प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो। देवी! दानशाला होकर पशु रूप-धन के साथ प्रभात करो।

अगले छठें मंत्र (मण्डल वही) में उषा की शक्ति तथा उसके गुणों का संकेत मिलता है—

वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती
वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति।

अर्थात् सम्यक् प्रयत्नशील व्यक्ति को तुम (उषे) काम में नियुक्त करती हो। भिक्षुओं तक को तुमसे प्रेरणा मिलती है। तुम नीहार-वर्षी हो और अधिक क्षण तक नहीं ठहरती। अन्नयुक्त धनसम्पन्न उषा तुम्हारा आगमन जानकर उड़नेवाले पक्षी अपने घोंसलों में बैठ नहीं रह सकते।

उपरोक्त मंत्र संसार में प्रकृति-काव्य और प्रीति काव्य का पहला नमूना है।[३]

द्यौ के दूसरे पुत्र अश्विन हैं। ये सदा तरुण और सुन्दर रहते हैं। रुद्र का नाम भी इन देवताओं में विशद उल्लेखनीय है। आगे चल कर ये शिव का रूप धारण कर लेते हैं। मरुत रुद्र के पुत्र माने गये जो अत्यन्त भयंकर और मतवाले थे। वायु और वात भी रुद्र की भाँति जीवन-वर्धक देवता थे।

ऋग्वेद-काल के महत्वपूर्ण देवता इन्द्र पर कुछ अधिक प्रकाश डाल देना विषयकर न होगा। इन्द्र को शत्रु-हन्ता या शत्रु विनाशक शक्तियों से युक्त माना जाता रहा होगा तभी तो उनसे बार-बार शत्रुओं का नाश करने की प्रार्थना की गई है। देखिये—

---

[१] 'स्वर्ग एवं धरा' ऋग्० १।१४३।२॥
[२] ऋग्० ३।६२।१०॥
[३] डा० बेनीप्रसाद, 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृष्ठ ६३

उन्नति कर ली थी कि उनकी मान्यतायें उनकी आस्थायें आज तक अकाट्य हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक क्षेत्र की इस महती उन्नति के पीछे शताब्दियों की शिक्षा और योग्यता है जिसके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। शिक्षा के अभाव में किसी भी विकसित धार्मिक आस्था का होना असम्भव है। अतः हम सर्वप्रथम ऋग्वैदिक कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

शिक्षा—अपने विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित बातों को सजीव रखने के लिये शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीनकाल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहाँ जान-बूझ कर केवल इसलिये किया गया है कि यह शब्द अध्यापक, गुरु, पण्डित आदि का द्योतक है। अपने घर में अध्यापक विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। ये विद्यार्थी और कोई नहीं स्वयं अध्यापक के पुत्र, प्रपौत्र, भतीजे आदि होते थे। इस प्रकार इसे हम कौटुम्बिक शिक्षा पद्धति कह सकते हैं। ऋग्वेद में कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मंत्र रट जाते थे। विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के कथित शब्दों की पुनरावृत्ति का उल्लेख एक मंत्र में प्राप्त होता है।[१] उच्चारण आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पाठ सम्बन्धी नियम भी कुछ मंत्रों में दिये गये हैं[२] और अन्यत्र यह बताया गया है कि विश्वामित्र का वैदिक पाठ कितना प्रौढ़ था।[३] पर हम शिक्षा का प्रमुख पद्धति तप को ही मान सकते हैं। तप का तपस्या द्वारा आत्मशिक्षण सम्भव हो सकता था। विद्यार्थी स्वयं ज्ञानार्जन के लिये प्रयास करते थे और गुरु की सहायता आंशिक रूप में आवश्यक थी। विद्यार्थी के आत्म शिक्षण का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से प्राप्त होता है।[४] आत्मानुभूति के लिये विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद को प्राप्त करते थे।[५] ऋग्वेद में हम कुछ ऐसा संकेत भी प्राप्त होता है जिससे पाठशाला की-सी कोई संस्था थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी दादुरों की भाँति पढ़ते थे।[६]

उपरोक्त विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का यह प्रारम्भिक रूप भी अत्यन्त ठोस था। वैदिक मंत्रों को कण्ठाग्र किये बिना किसी प्रकार काम चल ही नहीं सकता था, अतः उनके लिये दूसरी कोई शिक्षा-पद्धति उपयोगी नहीं सिद्ध होती।

देवता—ऋग्वैदिक काल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन उनके देवताओं से आरम्भ करना ही अधिक सुगम होगा। अतः हम पहले उन पर ही प्रकाश डालेंगे।

मनुष्य उस आदि काल में प्रकृति के कितना निकट था इसका उदाहरण हम प्रागैतिहासिक काल की सभ्यताओं का अध्ययन करते समय प्राप्त हुआ था। आर्यों ने भी उस प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना आरम्भ की थी। प्रकृति ने उन्हें अधिक प्रभावित किया और जिस शक्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया उसका महत्व

[१] प्राचीन आर्यों की धार्मिक अवस्था के विशद अध्ययन के लिये विलसोल्ड महोदय की *Religion of the Rigveda* देखिए।
[२] ऋग्० ७।१०३।५॥ [३] ऋग्० ३।५३।१५॥
[४] ऋग्० १०।१०९।४।१०।१५४।२॥१०।१९०।१॥ आदि।
[५] ऋग्० १०।१३६।२॥१।१२९।२॥५।२६।१॥
[६] ऋग्०७।१०३।५

अधिक बढ़ गया। ऋग्वेद में कुल ३३ देवता माने गये हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ इन्द्र अग्नि तथा सोम हैं। इन्द्र के लिये २५०, अग्नि के लिये २०० तथा सोम के लिये १०० से अधिक मन्त्र रचे गये हैं। द्यौ और पृथ्वी[१] को जगत्माता पिता कहा गया है और ६ मन्त्रों में इनका गुणगान है। इसी प्रकार वर्षा के देवता 'पर्जन्य' तथा परलोक के देवता 'यम' का भी उल्लेख तीन-तीन मन्त्रों में किया गया है। प्राचीन सभी सभ्य देशों में सूर्य देव पद पाता रहा। भारत में भी इसको देवत्व प्राप्त हुआ था और सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा स्थान दिया गया था। सूर्य की पूजा उसके लगभग पाँच अशों में की जाती थी (१) सूर्य अपने वास्तविक रूप में, (२) सवितृ जिसकी प्रार्थना में सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है।[२] (३) पूषण जो सूर्य की सवर्धन शक्ति का द्योतक है।

(१) इन्द्रवयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम्। (ऋग० १।७।५॥) अथवा (२) इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेमसं युधि स्पृधः (ऋग० १।८।३॥) अर्थात (१) इन्द्र हमारे मित्र और सहायक हैं जो शत्रुओं के लिये वज्र धारण करते हैं। अतः हम धन और प्रभूतधन के लिये इन्द्र का आह्वान करते हैं।

(२) हे इन्द्र! तुमसे रक्षित होकर हम कठिन अस्त्र धारणकर द्वेष रखनेवाले शत्रु को पराजित करेंगे।

इसी प्रकार अन्य ऋचाओं से भी इन्द्र की शत्रु हनन शक्ति का बोध होता है।[१]

वरुण न्याय के देवता माने गये हैं। इनका निवासस्थान आकाश माना गया है। इनसे न्याय तथा साथ ही दया की प्रार्थना अनेक मन्त्रों में की गई है। कुछ उदाहरण देखिये—

हे वरुण देव! हमारे पूर्वजों द्वारा किये गये अपराधों को क्षमा करो। व्यक्तिगत रूप से किये गये मेरे अपराधों को भी क्षमा करो। हे वरुणराज वसिष्ठ की तरह अपने खूंटे से गाय के बछड़े को मुक्त करो। अपहृत पशु का भोजन करनेवाले चोर को जो दण्ड मिलता है उससे मुक्त करो।[२]

हे वरुणदेव! यह सारा अपराध अनजाने हम से बन पड़ा है। प्रमाद अथवा सुरापान अथवा द्यूत या अविवेक के कारण अपराध हुआ है। बड़ा भाई भी कभी कभी छोटे को पथ भ्रष्ट कर देता है। अपराध तो हमसे स्वप्न में भी हो जाया करते हैं।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं जिनमें वरुण देवता का रूप एक न्यायाधीश की भांति आया है। उनसे अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना की गई है और कभी कभी उनसे अपराध भी पूछा गया है और इस प्रकार उनके अप्रसन्न होने का कारण पूछा गया है।

उपरोक्त विवरण से हमें ऋग्वैदिक काल के मनुष्यों की धार्मिक स्थिति का बोध हो जाता है और इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि इनके धर्म में बहुदेववाद और प्रकृति उपासना का समन्वय है। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह प्रकृति पूजा अपने स्थूल रूप में न होकर लाक्षणिक थी। वास्तव में प्रकृति के स्थूल रूप में उसकी पूजा तो ऋग्वैदिक काल के हजारों हजार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी के निवासियों में प्रचलित थी। प्राकृतिक वस्तुओं में किसी देवी-देवता का आरोप करना जितना ही प्रकृति-पूजा के निकट है उतना ही बहुदेववाद के भी पास है। इसका मूल कारण यह है कि बहुदेववादी होने के लिये अर्थात विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना के लिये उनमें किसी असाधारण या अमानवी (दैवी) शक्ति की कल्पना करना अनिवार्य है और कल्पना तभी सम्भव है जब कल्पित वस्तु का कभी साक्षात्कार हो चुका हो। प्रकृति (बिजली महान सागर भयंकर आँधियाँ अग्नि आदि) की शक्ति का साक्षात्कार मानव को सर्वप्रथम हुआ अतः इसी शक्ति में उन्होंने देवताओं का आरोपित किया होगा। इस प्रकार इनका धर्म प्रकृति-पूजा पर आधारित बहुदेववाद था।

किन्तु ऋग्वेद काल में यह भी कहें कि ऋग्वेद में एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत किया गया है, वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। इन सारे देवताओं के परे उन्होंने एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है। वह सर्वोपरि शक्ति और कुछ नहीं ईश्वर है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह स्पष्ट हो जायगा—

---

[१] ऋग्० १।८।४॥

[२] ऋग्० ११ ४।४६॥

सृष्टिकर्ता वास्तव में महान् है, वही सबका सृजन तथा पालन करता है, सबके ऊपर उसी का अनुशासन है। भाग्यशाली लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति उस लोक में पाते हैं जहाँ पुरुष सप्तर्षियों के परे निवास करता है।

उपरोक्त मंत्र में ईश्वर की शक्ति, उसके निवास-स्थान का जो संकेत प्राप्त होता है वह प्राचीन आर्यों के एकेश्वरवाद का पुष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार दसवें मण्डल में ८२वाँ मंत्र का सूक्त भी ऐसा ही है।

अब हम ऋग्वैदिक काल के देवताओं तथा मनुष्यों में क्या सम्बन्ध था इस पर थोड़ा विचार करेंगे। प्रकृति-पूजकों की प्रकृति-पूजा की धारणा बहुधा प्राकृतिक शक्ति से भयभीत होकर प्राप्त होती है, उस भयानक शक्ति से अपनी रक्षा के निमित्त वे उसे देवता का रूप देते हैं पर प्रकृति की महान शक्तियों वरुण, मरुत, सूर्य आदि की पूजा आरम्भ करने में इसी भय का हाथ है ऐसा आर्यों के लिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिससे हम देवताओं और मनुष्यों के मधुर पूर्ण सम्बन्ध का बोध होता है। उनके देवता उनके मित्र, पिता, रक्षक आदि थे। वे उनके शत्रुओं से उनकी रक्षा करते थे। इस सम्बन्ध की अनेक ऋचाओं का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अग्निदेव को रक्षक, घर का मालिक तथा निकट सम्बन्धी तक घोषित किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर अग्नि को कृपाशाली मित्र, पिता, भ्राता, पुत्र तथा सबका पालक बतलाया गया है।[१] अग्नि को गृहपति भी कहा गया है।[२] इसी प्रकार इन्द्र को भी पिता-सा माना गया है। एक ऋचा में ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! पिता की भाँति तुम हमारी बात सुनो।[३] सम्पूर्ण देवताओं में प्रेम भाव विद्यमान था ऐसा हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से ज्ञात होता है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि जो देवताओं से प्रेम करते हैं उनसे देवता भी प्रेम करते हैं।[४] सोम को प्रेमी माना गया है[५] तथा अन्यत्र के इन्द्र ऋषि देवताओं को अपना प्रेमी मानते हैं।[६]

ऐसी ही अनेक ऋचायें हैं। जिनके आधार पर कुछ विद्वानों ने भारतीय धर्म-साधना की एक प्रमुख पद्धति भक्ति का बीज ऋग्वेद में निहित पाया है। भक्त एवं भगवान का पिता, माता, सखा सम्बन्धी भावों के लिए निम्नलिखित ऋचायें द्रष्टव्य हैं

ऋ० ४।१७।१७ ऋ० ४।२०।२, ६।१।५ ५। ६।४ ८।८१।२० ८।९८।११ ८।९८।११ तथा १०।७।३ आदि।

अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनायें करते थे। दूध, घृत, सोमरस तथा अन्य खाद्यान्न चढ़ाते थे। यज्ञ की भी प्रधानता रही जो प्रत्येक घर में होता था। धार्मिक कृत्यों का कितना महत्व था इसका पूर्ण विवरण आर्यों के वर्गीकरणवाले परिच्छेद में दिया जा चुका है। अतः उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं।

---

[१] ऋग्० १।९४।१५॥२।१।९॥६।१।५॥
[२] ऋग्० ५।१।५॥५।६।८॥८।४९।१९॥
[३] ऋग्० १।१०४।९॥
[४] ऋग्० ४।२३।५–६॥
[५] ऋग्० ८।६८।७॥
[६] ऋग्० ६।२५।१॥८।४७।२॥

नैतिक आदर्श—ऋग्वैदिक कालीन आर्यों के नैतिक आदर्शों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। ऋग्वेद मे नैतिक आदर्शों पर काफी जोर दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही किसी धर्म की उत्तमता मान्य हो सकती है। कोरा दर्शन ही धर्म में सब कुछ नहीं। नैतिक आदर्श मानव मानव के निकटतम सम्बन्धों को सुन्दर तम बनाने में सहायक होते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है कि देवता मित्रवरुण अनृत को जीत कर ऋत का पालन करते हैं।[१] अन्यत्र इस बात का भी उल्लेख है कि वरुण स्वभावतः अनृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते है।[२] देवता ऋत में पैदा होते है ऋत को पालते हैं और बढ़ाते हैं अनृत से वे घृणा करते हैं ।[३] ऋत की रक्षा के लिये मनुष्यों पर देवता कितना ध्यान रखते हैं इसका भी उदाहरण हमें प्राप्त होता है। एक मन्त्र में कहा गया है कि ऋत की वृद्धि के लिये मित्रवरुण मनुष्यों पर वैसी ही दृष्टि रखते हैं जैसे गड़रिया अपने भेड़ों पर।[४] चरित्र की शुद्धता पर ऋग्वैदिक काल में काफी जोर दिया गया था। ऋग्वेद५।४४।३।।५।६३। ।।आदि मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि मनुष्यों के चरित्र निरीक्षण के लिये देवताओं ने निरीक्षक नियुक्त किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद १।१४७।५।१०।९।५।। आदि से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि झूठ को अत्यधिक घृणित समझा जाता था क्योंकि उक्त मन्त्रों में झूठ की काफी निन्दा की गई है। प्राचीन आर्यों में अतिथि सत्कार का बहुत बड़ा महत्व था। प्राचीन भारतीय सभ्यता के पोषक भारतीय ग्रामों में आज भी इसका काफी महत्व है। यद्यपि आधुनिक भौतिकवादी युग में यह क्रमशः समाप्तप्राय है। ऋग्वेद में अग्निदेव को अतिथि के नाम से सबोधित किया गया है।[४] इसी प्रकार राजा दिवोदास अतिथियों की इतनी अधिक सेवा करता था कि उसे अतिथिग्व की उपाधि प्रदान की गई थी।[५] अन्यत्र यह उल्लेख किया गया है कि घर का सर्वोत्तम कमरा अतिथि के लिये दिया जाता था।[६]

सदाचार एवं सज्जनता को वे कितना महत्व देते थे इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि यदि उसने भाई मित्र साथी पड़ोसी या किसी अपरिचित का कुछ अहित किया हो तो देवता उसका पाप हर लें।

O 8-6

राजनैतिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल की राजनैतिक अवस्था का अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न लिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) कुटुम्ब (गृह या कुल)
(२) ग्राम।
( ) विश।
(४) जन तथा
(५) राष्ट्र।

नीचे इन पर पृथक-पृथक प्रकाश डाला जायगा।

कुटुम्ब—ऋग्वैदिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन करते समय यह बताया गया है कि उनका कौटुम्बिक जीवन काफी सुसंगठित था। यहाँ कुटुम्ब शासन की भी

---

१ ऋग्० ७।६६।१३।। २ ऋग्० ७।६६।१०।। ३ ऋग्० ४।२५।४३।।
४ ऋग्० ७।३।५।। ५ ऋग्० १।५१।६।।१।११३।१४।२।२६।३।।आदि।
६ ऋग्० १।७३।१।। ७ ऋग्० ५।८५।७।।

न्यूनतम इकाई था। कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा गृहपति होता था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधान इसी के हाथ में रहता था। कुटुम्ब बहुधा बड़े-बड़े होते थे।

✓ग्राम—कई कुटुम्बों का एक जगह बस जाना तथा इस प्रकार उस स्थान की आबादी का बढ़ जाना राजनीतिक क्षेत्र में कुछ नई आवश्यकताओं का कारण बन गया। प्रत्येक कुटुम्ब की व्यवस्था के लिये तो कुटुम्ब विशेष का गृहपति पर्याप्त था किन्तु अनेक कुटुम्बों की सम्मिलित व्यवस्था के निरीक्षण के लिये किसी अन्य पदाधिकारी एवं एक दूसरे संगठन की आवश्यकता थी। अतः कुटुम्बों के इस गिरोह को ग्राम[1] कहा जाने लगा और ग्राम के अधिकारी को ग्रामणी[2] कहते थे। ग्रामणी की निर्वाचन-पद्धति क्या थी इस विषय पर कोई प्रकाश ऋग्वेद में नहीं पड़ता है। अतः यह कहना कठिन है कि वह प्रजा द्वारा निर्वाचित होता था या उसका पद वंशानुगत था। पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका पद काफी ऊँचा था और ग्राम शासन व्यवस्था का कर्णधार ग्रामणी ही होता था। ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'व्रजपति' आया है पर यह सम्भवतः ग्रामणी का ही पर्यायवाची शब्द है।

विश—विश के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि ऋग्वेद का विश कोई स्थानीय तहसील (sub division) परगना या कोई वर्ग विशेष था।[3] ऋग्वेद ८।३५।१७।१८। से यह ज्ञात होता है कि विश कोई वर्ग विशेष था।[4] विश का प्रधान 'विशपति' होता था।[5]

जन—कई विश मिलकर 'जन' बनते थे। जन का प्रधान 'गोप' कहलाता था। ऋग्वेद ८।६।४६,४८।। में प्रसिद्ध 'पञ्चजन' का उल्लेख किया गया है। पञ्चजन यदु, तुर्वश, पुरु, अनु तथा द्रुह्यु थे। प्रायः राजा ही जन का प्रधान अर्थात् 'गोप' होता था।

✓राष्ट्र—देश के लिये 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] इससे सभात्मक सरकार होने का अनुमान किया जाता है।

कुछ अन्य राजनैतिक संगठन भी रहे होंगे जिनका उल्लेख ऋग्वेद १०।१७९।२।। तथा ५।५८।१११ में किया है पर इनके सम्बन्ध में कुछ अन्य सामग्रियाँ नहीं प्राप्त होतीं।

✓राजा—ऋग्वेद-काल के राजनैतिक विभाजन का अध्ययन कर लेने के पश्चात उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना सुगम है। राजा जो शासन प्रबन्ध के कर्णधार होता है हमारी विवेचना का प्रमुख विषय होगा।

प्रारम्भ में हम राजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे। ऋग्वेद में 'राजा' शब्द का प्रयोग तो बार-बार किया गया है किन्तु इसकी उत्पत्ति के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।[7] किन्तु बाद के हिन्दू ग्रन्थों में जिनमें ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण

---

[1] ऋग्० १।४४।१०।। [8] ऋग्० १०।६२।११।।१०।१०७।५।।

[2] देखिये श्री राधा कुमुद मुकर्जी की (*Hindu Civilisation* p. 78)

[3] देखिये पिछले पृष्ठों में आर्यों की सामाजिक अवस्था।

[4] ऋग्० ११०७।८।।

[5] ऋग्० ५।४२।१।।

[6] ऋग्वेद १०।१२४।८।। में यह उल्लेख किया गया है कि राजा विहीन जन का रण प्रयास बड़ा कारुणिक रहा (अर्थात् उन्हें राजा के अभाव में हारना पड़ा)

[7] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण १।१४।। राजानम् करवामहे . आदि।

प्रमुख है दो कथायें आती है जिनसे हम राजा की उत्पत्ति का बोध होता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन दोनों ब्राह्मणों की सामग्रियाँ इतिहास के कितना निकट है पर राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी कल्पना का बोध कर लेना भी आवश्यक है।

एतरेय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है—

एक बार देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ। युद्ध में असुरों की विजय हुई और देवताओं की पराजय। देवताओं ने कहा कि हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने के कारण पराजित हुए है। हम लोगों को अपना राजा बनाना चाहिए। इस प्रस्ताव को सब ने स्वीकार कर लिया।[१]

तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है—

एक बार देवताओं तथा असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को इसलिये छिपा दिया कि कहीं असुर उसे मार न डालें। उधर कयाधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को इसलिये छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। किन्तु देवों को ऐसा ज्ञात हुआ कि राजा के बिना युद्ध नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने देव प्रजापति के पास जाकर कहा राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है। तत्पश्चात् यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की।

इस पौराणिक कथा को यदि हम आलोचना की कसौटी पर कसें तो यह बिल्कुल ही तर्कसंगत जान पड़ेगी। हमें देवासुर संग्राम (आर्य अनार्य) संग्राम का पूर्ण विवरण प्राप्त है। संग्राम की क्रियाओं को ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि संग्राम में किसी ऐसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वाधिकारवाला हो तथा जो लोगों की सुरक्षा कर सकता हो। आर्यों को प्रारम्भ में अनार्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा था और इन संघर्षों में न केवल सैनिक संगठन की आवश्यकता थी वरन् संग्राम के लिये धनसंचय उस अशान्तियुग में शान्ति-स्थापना आदि के लिये राजनैतिक संगठन की आवश्यकता थी—अर्थात् सुन्दर शासन-व्यवस्था स्थापित करने तथा उसके संचालन के लिये किसी राजा की आवश्यकता पड़ी थी।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम इसी अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि अनार्यों से संघर्ष करने के लिए यह एक आवश्यकता थी।

ऋग्वेद में मित्र वरुण और अग्नि देवताओं ने अपने राजत्व के विषय में जो बातें कही है उससे अनुमान होता है कि इस लोक के राजा बड़े शानदार होते थे। शान्ति और व्यवस्था कायम रखते थे और लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे।[२]

राजा की उत्पत्ति स्वाभाविक गति से हुई और उसका पद स्वभावतः उच्च हो गया। राजा के उच्च स्थान का बोध हमें ऋग्वेद की ऋचाओं से होता है। पुरुओं का राजा त्रसदस्यु कहता है देवता मुझ वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते है। मैं राजा वरुण [illegible]। देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है

[१] देखिये तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।९॥

[२] उक्त उद्धरण डा० बेनीप्रसाद की पुस्तक 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृष्ठ ६८ से लिया गया है। विद्वान लेखक ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचाओं की ओर संकेत किया है—

३।४३॥५।६९।१॥७।६४।२॥८।५६।१॥६७।१॥ इत्यादि।

[३] ऋग्० ४।४२।

मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।[१] इससे एक ओर तो राजा की महानता का बोध होता है साथ ही दूसरी ओर इससे यह भी ध्वनि आती है कि राजा के दैवी अधिकार में उनका विश्वास रहा होगा। राजा की आज्ञा सर्वमान्य थी और जो लोग राजा की आज्ञा को नहीं मानते थे उनके साथ बल का प्रयोग किया जाता था।[२] लोगों में राजभक्ति थी इसका संकेत हमें ऋग्वेद ४।५०।८।। से प्राप्त होता है। राजा से हर प्रकार की सहायता की आशा की जाती थी। राजा न्यायाधीश के पद से न्याय करता था। दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों का फैसला करता था और फौजदारी के मुकदमों में वह एक विस्तृत विधान-संहिता का उपयोग करता था।[३] राजा 'अदण्ड्य' था और प्रजा को अपराधों पर दण्ड देता था। इस कार्य में वह गुप्तचरों से भी काम लेता था।[४] जहाँ वह अपराधियों को दण्ड देता था वहाँ वह दीन-दुखियों की सहायता भी करता था। राजा लोग उनके उपहार भी लिया करते थे।[५] एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो राजा रक्षा चाहनेवाले ब्राह्मण की सहायता करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं।[६]

राजा तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध (राजा के कर्तव्य तथा अधिकारों) का उल्लेख कर देने के पश्चात् राजा के रहन-सहन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। राजा के सुख-वैभव का बोध हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से स्पष्ट हो जाता है। एक स्थल पर यह कहा गया है कि राजा मित्र और वरुण हजार खम्भोंवाले महल में रहते थे।[७] इतने विशाल भवन की कल्पना यह बताती है कि राजाओं के महल अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर थे। राजाओं की पोशाक का भी बोध हमें ऋग्वेद में होता है जिसमें वर्णन किया गया है कि राजाओं की ओर देखना बहुत कठिन है क्योंकि वे स्वर्ण से चमकते हैं।[८]

शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डालने के पूर्व ऋग्वेद के दो शब्दों राजन्य तथा सम्राट् पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। राजन्य का प्रयोग ऋग्वेद में बार-बार किया गया है। इसका प्रयोग दो अर्थों में किया गया है—(१) जमींदार तथा (२) राजा। ऐसा ज्ञात होता है कि राजा के चारों ओर जमींदार (राजन्य) रहते थे जो राजा की प्रभुता को स्वीकार करते थे और साथ ही वे कुछ विषयों में स्वतन्त्र रूप से भी शासन करते थे। इसी प्रकार सम्राट् शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि कई राजे किसी बड़े राजा की प्रधानता स्वीकार कर लेते थे और तब उसे सम्राट् कहा जाता था।[९] पर इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रामाणिक ढंग से नहीं कहा जा सकता क्योंकि तत्सम्बन्धी साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है।

राजा के मन्त्री—शासन-कार्य चाहे जितना भी प्रारम्भिक रूप में हो उसमें राजा के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वैदिक काल में भी राजा को सुन्दर शासन-व्यवस्था के लिये कुछ सहायकों की आवश्यकता थी। पुरोहित इनमें प्रधान था। पुरोहित का प्रभाव राजा पर अधिक रहता था। ऋग्वेद में अग्नि

---

[१] ऋ० ४।४२
[२] ऋग्० ७।६।५।।१।७।५।।
[३] ऋग्० १।२५।१३।।४।४।३।।
[४] ऋग्० ८।४७।११।।
[५] ऋग्० १।६७।१।।
[६] ऋग्० ५।५०।८-९।।
[७] ऋग्० २।४१।।५।।७।८८।५।।
[८] ऋग्० १।१८५।८।।८।६३८।।
[९] देखिये मैक्डानिल और कीथ Vedic Index पृ०, ४३०।।

प्रमुख है दो कथायें आती है जिनसे हम राजा की उत्पत्ति का बोध होता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन दोनों ब्राह्मणों की सामग्रियाँ इतिहास के कितना निकट है पर राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी कल्पना का बोध कर लेना भी आवश्यक है।

एतरेय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है—

एक बार देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ। युद्ध में असुरों की विजय हुई और देवताओं की पराजय। देवताओं ने कहा कि हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने के कारण पराजित हुए हैं। हम लोगों को अपना राजा बनाना चाहिए। इस प्रस्ताव को सब ने स्वीकार कर लिया।[१]

तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है—

एक बार देवताओं तथा असुरों मे युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को इसलिये छिपा दिया कि कहीं असुर उसे मार न डालें। उधर कयाधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को इसलिए छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। किन्तु देवों को ऐसा ज्ञात हुआ कि राजा के बिना युद्ध नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने देव प्रजापति के पास जाकर कहा, राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है। तत्पश्चात् यत्न करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की।

इस पौराणिक् कथा को यदि हम आलोचना की कसौटी पर कसें तो यह बिल्कुल ही तर्कसंगत जान पड़ेगी। हम देवासुर संग्राम (आर्य-अनार्य) संग्राम का पूर्ण विवरण प्राप्त है। संग्राम की विधियों का ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि संग्राम में किसी एसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वाधिकारवाला है तथा जो लोगों की सुरक्षा कर सकता हो। आर्यों को प्रारम्भ में अनार्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा था और इन संघर्षों में न केवल सैनिक संगठन की आवश्यकता थी वरन् संग्राम के लिये धनसंचय उस अशान्तियुग में शान्ति-स्थापना आदि के लिये राजनैतिक संगठन की आवश्यकता थी—अर्थात् सुन्दर शासन व्यवस्था स्थापित करने तथा उसके संचालन के लिये किसी राजा की आवश्यकता पड़ती थी।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम इसी अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि अनार्यों से संघर्ष करने के लिए यह एक आवश्यकता थी।

ऋग्वेद में मित्र, वरुण और अग्नि देवताओं ने अपने राजत्व के विषय में जो बातें कही हैं उससे अनुमान होता है कि इस लोक के राजा बड़े शानदार होते थे। शान्ति और व्यवस्था कायम रखते थे और लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे।[२]

राजा की उत्पत्ति स्वाभाविक गति से हुई और उसका पद स्वभावतः उच्च हो गया। राजा के उच्च स्थान का बोध हम ऋग्वेद की ऋचाओं से होता है। पुरुओं का राजा त्रसदस्यु कहता है ... देवता मुझ वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। मैं राजा वरुण हूँ। देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है

[१] देखिये तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।९॥

[२] उक्त उद्धरण डा० बेनीप्रसाद की पुस्तक 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृष्ठ ६८ से लिया गया है। विद्वान लेखक ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचाओं की ओर संकेत किया है—

३।४३॥५।६९।१॥७।६४।२॥८।५६।१॥६७।१॥ इत्यादि।

[३] ऋग्० ४।४२।

को बड़ा पुरोहित तथा यज्ञ में सहायक कहा गया है।[१] उसका कार्यालय 'पुरोहिती' और पुरोध कहलाता था।[२] पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय मित्र पथप्रदर्शक दार्शनिक तथा सहायक होता था। वशिष्ठ विश्वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। पुरोहितों का प्रमुख कार्य राजपरिवार के धार्मिक गुरु के रूप में था पर वे राजा के साथ रण क्षेत्र में भी जाते थे जहाँ वे अपने मंत्रों द्वारा राजा की शक्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करने की प्रार्थना करते थे।[३] इस प्रकार धार्मिक कृत्यों में सर्वेसर्वा होने के अतिरिक्त वह राजनैतिक कार्यों में भी अपना प्रमुख हाथ रखता था। पुरोहितों के विषय में डा० कीथ का निम्नलिखित मत भी विशेष उल्लेखनीय है—

पुरोहित राजा के साथ रण-क्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं तथा मंत्रों द्वारा राजा की विजय का प्रयत्न करता था। अपनी इस सेवा के लिये उसे बड़े-बड़े पुरस्कार प्राप्त होते थे। ऐसा जान पड़ता है कि पुरोहित को सबसे बड़े पुरस्कार प्राप्त होते थे। उन दिनों की सामाजिक अवस्था ऐसी थी कि पुरस्कार में वैयक्तिक सम्पत्ति भी जाती थी। भूमि-दान की प्रथा नहीं थी परन्तु उस काल में भी हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि राजा अपने पुरोहित अथवा भृत्य को राज्य की आय का एक वश भाग पुरस्कार में दे सकता था।

डा० कीथ के उपरोक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि पुरोहितों को काफी सम्मान प्राप्त था और उन्हें आर्थिक अभाव भी नहीं था।

पुरोहित के बाद सेनानी का पद आता है। यह भी राज्य का प्रमुख पदाधिकारी था। सेनानी सेनाध्यक्ष होता था।[४] इसकी नियुक्ति सम्भवतः राजा स्वयं करता था।

कुछ अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है जिनमें ग्रामणी का स्थान प्रमुख है। ग्रामणी के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। ग्राम शासन का सम्पूर्ण भार इसी पर था।[५] उपस्ति तथा इभ्य नामक पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है।[६] कुछ समाचारवाहक दूत तथा रक्षा के प्रबन्धकों का भी वर्णन प्राप्त होता है जो अपने कार्य में काफी कुशल बुद्धिमान् तथा राजभक्त थे। इस प्रकार विभिन्न राज-पदाधिकारियों से उक्त राजा शासन करता था।

सभा समिति—राजपदाधिकारियों के पश्चात् हम उन संस्थाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है जो स्वयं राजा तक के निर्वाचन का अधिकार रखती थीं तथा प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थीं। ये संस्थायें सभा या समिति हैं। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सभा का उल्लेख किया गया है।[७] किन्तु दुःख है कि इन ऋचाओं से सभा के कार्यों का बोध ठीक-ठीक नहीं हो पाता है। सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को 'सभेय' कहा

[१] ऋग्० १।४४।१०।३।२।८॥ पुरोहित की महत्ता के लिये ऋग्० १।१।१॥ देखिए।

[२] ऋग्० ७।६०।१२॥ ७।८३।४॥

[३] ऋग्० ७।१८।१३॥

[४] ऋग्० ७।२०।५॥९।९६।१॥

[५] ऋग्० १०।६२।११॥

[६] ऋग्० १०।९७।२३॥ तथा १।६५।४॥ क्रमशः

[७] ऋग्० ७।६११।३॥ १।२५।३॥८।६७।५॥७।६ ।६॥ आदि।

[८] ऋग्० ६।२८।६॥८।४।९॥३।२४।६॥

कुलीन व्यक्तियों (सुजात) की एक सभा का भी उल्लेख किया ग ... तो ऐसा आभासित होता है कि ऋग्वदिक कालीन सभा उच्चकु... यों की सभा थी। किन्तु इस सम्बन्ध म बहुत ही मत-वभिन्य है ... ... डाला जायगा। यहाँ पहले मत-वभिन्य के कारण स्वरूप उपस्थित एक दूसरी सस्था पर कुछ प्रकाश डाल दना आवश्यक है। इस सस्था का ...मिति था। सभा की भाँति समिति का भी ऋग्वेद म यत्र-तत्र उल्लेख किया है किन्तु उसके कार्यों का भी स्पष्टीकरण इन मत्रा से नहा होता। समिति म राजा ... उपस्थिति का विवरण प्राप्त होता है और यह ज्ञात होता है कि वह समिति के प्रधान का आसन ग्रहण करता था।[1] समिति म राजा के प्रभुत्व का सकेत हम कुछ अन्य मत्रा से भी प्राप्त होता है।[2]

सभा और समिति एक ही सस्था है या दो अलग अलग सस्थायें ह और यदि अलग-अलग है तो उनका कत्तव्य और अधिकार क्या था इस विषय म इतिहासकारो म मतभेद है। लुडविग के मतानुसार सभा म उच्चकुलीन (मघवन एव ब्राह्मण) भाग लेते थ और समिति में जनसाधारण भाग लेते थे। जिमर यह तो स्वीकार करते हैं कि समिति म सारी जनता भाग लेती थी किन्तु सभा के विषय म उनका यह विचार है कि यह बठक गाँव के लोगो की थी। कीथ महोदय कहते हैं समिति सम्पूर्ण जाति के कार्यों के लिये जनता की बठक होती थी और सभा समिति के एकत्रित होने का स्थान होता था जहाँ सामाजिक बठकें हुआ करती थी। इस बात का स्पष्ट रूप स सकेत किया गया है कि समिति म राजा उपस्थित रहता था और इसम सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि महान् अवसरो पर जाति के सभी लोग उन समस्याओ पर विचार करने या कम स कम निर्णय लेने के लिये वहाँ एकत्रित होते थे जो उनके सम्मुख जाति के महान् व्यक्तियो द्वारा रखी जाती थी।[4]

किन्तु सभा और समिति को ... मानने के लिये हमें एक भारतीय शास्त्र भी बाध्य करता है।[5]

सभा और समिति चाहे दो सस्थायें हो, अथवा एक पर इनका राजनीति म अधिक महत्व जान पडता है। सभा म उच्चकुली... समिति में स्वय राजा तक का भाग मामला (चाहे वे ग्राम से सम्बन्धित ... विचार विमर्श इन्हीं सस्थाओ म होता था। य निश्चय ही राजा को निरकुश होने से बचाती रही होंगी।

न्याय-व्यवस्था—ऋग्वेद स इस सम्बन्ध म बहुत कम जाना जा सकता है। अत जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं उसी आधार पर ऋग्वदिक काल की न्याय-व्यवस्था का

[1] ऋग्० ३।२४।१३॥, १०।७१।१०॥ तथा ४।२।५॥ भी देखिये।
[2] ऋग्० ७।१।४॥
[3] ऋग्० १०।९७।६॥९।९२।६॥
[4] ऋग्०से१०।१६६।४॥
[5] देखिये कीथ, (*Cambridge History of India Part I* p 6))
[6] देखिये अथर्ववेद ७।१२।१॥ जिसमें सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है।

लगाया गया है। यह प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग है और इसके पूर्व बर्बर युग का बड़ा ही सा बोलबाला था जिसके न्याय का मापदण्ड था 'खून का बदला खून और' (यद्यपि अपने विस्तृत अर्थ में तो यह आज भी लागू है पर उस प्रागैतिहासिक युग में दाशीसका प्रयोग सीमित अर्थ में होता था अर्थात् यदि किसी ने किसी व्यक्ति की नाक कि काट ली तो उसकी भी नाक काट ली जाती थी)। इस मापदण्ड की छाप ऋग्वैदिक काल के आर्यों पर निश्चय ही पड़ी होगी पर इन्होंने अपने बौद्धिक विकास के कारण कुछ सुधार ला दिया। यह सुधार था जीव का मूल्य निर्धारित करना। मनुष्य को शतदाय कहा गया है।[1] अर्थात् एक मनुष्य का मूल्य १०० गाय है। इसी प्रकार वरदय शब्द भी आया है।[2] इनसे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि मनुष्यों के जीवन का मूल्य पहले ही निर्धारित कर दिया गया था और जो व्यक्ति उन्हें जान से मार डालता था उसको उस मृत मनुष्य के सम्बन्धी या उत्तराधिकारी को निश्चित धन देना पड़ता था। इसी से प्रभावित होकर धर्मसूत्रों में एक कदम और आगे बढ़कर यहाँ तक निश्चित कर दिया गया कि अमुक व्यक्ति की हत्या पर इतना और अमुक की हत्या पर इतना गायें देनी होंगी।

पर इसके अतिरिक्त कुछ अन्य दण्ड भी थे। ऋग्वेद में देवताओं तथा मनुष्यों के बन्दीगृह का उल्लेख किया गया है।[3] सम्भवतः कुछ अपराधों पर जलत्याग की भी सजा थी। दीर्घतमस की कथा के आधार पर कुछ अंशों तक यह अनुमान किया जा सकता है कि अपराध साबित करने के लिये पानी और आग की परीक्षाओं का भी प्रचलन था।[4] मध्यमशी शब्द भी बहुत स्थानों पर आया है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कुछ झगड़ों का निपटारा पंच बीच में कर दिया करते थे। अपराधों के विषय में हमें ज्ञात होता है कि चोरी (अधिकतर पशुओं की चोरी) हुआ करती थी परन्तु अन्न वस्त्र द्रव्य आदि भी चुराये जाते थे और पता लग जाने पर उनकी दुर्गति की जाती थी।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी न्याय व्यवस्था अभी पूर्णतया प्रारम्भिक अवस्था में थी पर हाँ यह सुधार की ओर निरन्तर बढ़ रही थी और आगे चलकर इसमें अनेक परिवर्तन आ गये।

युद्ध प्रणाली—युद्ध प्रारम्भिक आर्यों का विशेष गुण था (यद्यपि इन्हें इनकी सभ्यता के मूल भूत-तत्वों के आधार पर सामरिक प्रवृत्ति का कहना उचित नहीं क्योंकि युद्ध सम्बन्धी उन्नति इन्होंने बहुत बाद अनार्यों को पराजित करके अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के हित में किया)। युद्ध के विषय में ऋग्वेद में सामग्रियों का बाहुल्य है। युद्ध बहुधा आत्मरक्षा या विजयों के लिये तथा कभी-कभी लूट के लिये होते थे।[6]

सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्व था। रथों में दो, तीन या चार सात्वी घोड़े लगाये जाते थे।[7] ऋग्वेद में वर्णित अस्त्र शस्त्र निम्नलिखित थे—

---

[1] ऋग्० २।३२।४॥
[2] ऋग्० ५।६१।८॥
[3] ऋग्० ४।१२।५॥
[4] ऋग्० १।१५८।४॥
[5] ऋग्० १।१५।१॥१।४२।२३॥८।२१।६॥७।३८।५॥
[6] ऋग्० १०।१४२।४॥
[7] ऋग्० १०।३३।५॥ तथा २।१८।१॥

(१) धनुष (८।७२।४॥) बाण (६।७५।१७।), (२) कवच (१।३१।१५॥, १०।१०१।८॥), (३) हस्तघ्न (बाहुरक्षक—६।७५।१४) तथा (४) अन्य अस्त्र शस्त्र जैसे असि (तलवार) भाला बर्छी आदि।

रण की भयंकरता का वर्णन हमें दस राजाओं के युद्ध में प्राप्त होता है जिसका वर्णन किया जा चुका है।

ऋग्वैदिक काल की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी अत्यन्त विशाल एवं सर्वोत्तम सभ्यता के लिये जिन मूल भूत-तत्वों की आवश्यकता पड़ती है वे सारे तत्व ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता में विद्यमान हैं कुछ तो इतनी विकसित अवस्था में हैं कि उनमें कोई भी विकास परिवर्तन परिवर्द्धन हम आज तक नहीं कर सके। इस काल की सभ्यता एवं संस्कृति के इतने विकसित रहने का एकमात्र कारण यह है कि यह शताब्दियों की साधना का व युगों की तपस्या का वरदान है।



६ | उत्तर वैदिक काल

वास्तव में सभ्यता के काल का विभाजन अत्यन्त कठिन है और साथ ही सभ्यता का काल विशेष में विभाजन करना भी एक समस्या है। किसी भी सभ्यता के पीछे शताब्दियों की शारीरिक मानसिक क्रियाओं प्रक्रियाओं का केन्द्रीभूत प्रतिफल रहता है—उसमें प्रारम्भिक माध्यमिक तथा पूर्ण विकसित अवस्थाओं का समन्वय रहता है। इतनी मिश्रित प्रवृत्तियों का परिष्कृत रूप लेकर कोई सभ्यता आगे बढ़ती है। इसी प्रगति में जो काल विशेष असंख्य असाधारण देन दे जाता है उस अवधि तक उस सभ्यता का नामकरण उसी काल विशेष के आधार पर कर देते हैं। जिस ऋग्वैदिक काल की सभ्यता का उल्लेख पिछले परिच्छेद में किया गया है वह आर्यों के भारत प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना तथा उसके बहुत पश्चात तक की सभ्यता है। पर ऋग्वेद के पश्चात् जब कुछ अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों की रचना हो जाती है तो इस काल की सभ्यता को ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से पृथक करने का प्रश्न क्यों उठ खड़ा होता है? क्या यह सर्वथा मौलिक नवीन या कोई भिन्न सभ्यता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि सभ्यता भिन्न नहीं है सभ्यता के मूलगत तत्व भिन्न नहीं है पर हाँ कुछ ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य हो जाते हैं जो एक ही सभ्यताधार को दो धारा में विभक्त-सा कर देते हैं। इस महान् परिवर्तन को हम किसी प्रकार प्रगति' की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें कुछ परिष्कार कुछ संशोधन और साथ ही कुछ अन्धानुकरण भी हैं। अतः इसे हम किसी काल विशेष की सभ्यता न कहकर उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि वैदिक कालीन सभ्यता के समस्त परिवर्तन का बोध हम इन्हीं ग्रन्थों से होता है।

साधन

सर्वप्रथम हम उन साधनों के विषय में जान लेना चाहिए जिनसे वाञ्छित सभ्यता पर प्रकाश पड़ता है।

ऋग्वेद के पश्चात आर्यों ने जिस ग्रन्थ का सृजन किया वह सामवेद है। ऋग्वेद के ही कुछ मन्त्रों का संगृहीत करके इस दूसरे वेद की रचना हुई थी। इसमें कुल ७५ मन्त्र मौलिक हैं। तत्पश्चात् यजुर्वेद की रचना हुई। यजुर्वेद के दो संस्करण हैं—(१) कृष्ण तथा (२) शुक्ल। कृष्ण की चार संहितायें हैं जिनमें तीन (तैत्तिरीय काठक तथा मैत्रायणी) पूर्ण हैं तथा चौथा कपिष्ठल अधूरा है। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता को शुक्ल कहते हैं। इसमें ४० अध्याय हैं। यजुर्वेद को यज्ञों में अध्वर्यु (प्रमुख पुरोहित) पढ़ते थे। चौथा तथा अन्तिम वेद अथर्ववेद है जिसकी रचना सम्भवतः यजुर्वेद के पश्चात् हुई थी किन्तु इसके कुछ अंग ऋग्वेद के समान ही प्राचीन हैं। अथर्ववेद में २० भाग हैं जिनमें कुल ७३० मन्त्र हैं।

अकेला ऋग्वेद ही लगभग एक हजार वर्षों की मानवीय सामूहिक एवं विभिन्न भौतिक तथा आध्यात्मिक विकासों का प्रतिनिधित्व करता है यद्यपि यह भी ठीक है कि इसमें वर्णित विचार सर्वाशतः सार्वजनीन और सार्वमतानुमोदित अथवा बहुव्यवहृत

नहीं है। जहाँ मनीषियों द्वारा जनता जनार्दन की आवाज ऋचाओं के रूप में दुहराई जा रही थी वहीं कुछ नये प्रयोग भी किये जा रहे थे जिनसे सर्वसाधारण का उस युग में सहमत होना ही आवश्यक न था। ऋग्वेद संहिता के बाद शेष तीन संहिताओं का स्वर समान ही रहा और वैदिक धर्म भावनाओं में सर्वोच्च एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं ज्ञान-मार्ग ही रहे। कौटुम्बिक सामाजिक और राष्ट्रीय लोक-जीवन के बहुत निकट आनेवाली संहिता है अथर्ववेद संहिता जिसमें घरेलू पारिवारिक, जीवन तथा के अनेकानेक पहलुओं से सम्बन्धित मन्त्र हैं। रोग निवारण जादू-टोने में लेकर प्रेमगीत तक यहाँ उपलब्ध हैं। संहिताओं के बाद ब्राह्मण आते हैं जो भारोपीय गद्य-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें वेदों के एक विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड का पूर्ण विस्तार दिया गया—इतना अधिक कि उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन किया गया। कथाओं द्वारा इनमें कर्मकाण्ड का महत्व भी समझाया गया और साथ ही कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया। इन कर्मकाण्डों तथा कथाओं की धरोहर हमें महाकाव्यों से होते हुये पुराणों के माध्यम से मिलती है।

वेदों की रचना समाप्त हो जाने के पश्चात कुछ ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी जो वेदों के वर्ण्य विषय एवं प्रतिपादित तथ्यों का स्पष्टीकरण कर सकें। वेद अधिकांशतः काव्य या काव्यमयी भाषा में हैं। अतः सर्वसाधारण के लिए गद्यमयी या शुद्ध गद्य में तथा बोलचाल की भाषा में ब्राह्मणों की रचना हुई। इन विभिन्न ब्राह्मणों का सम्बन्ध पृथक-पृथक वेदों से है जैसे ऐतरेय तथा कौषीतकी ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से पंचविंश तथा छान्दोग्य ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से, शतपथ का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से तैत्तिरीय ब्राह्मण का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से तथा गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ, अग्निहोत्र राज्याभिषेक एवं कुछ प्राचीन अभिषिक्त राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है। कौषीतकी ब्राह्मण में कुल ३० अध्याय हैं और यह प्रतिपाद्य विषय में ऐतरेय ब्राह्मण के समान है। इन ब्राह्मणों से प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है जिनके पृथक विवरण की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत प्रसंग वश में इनका उल्लेख आगे किया जायगा।

ब्राह्मणों के उपसंहार रूप में एक भाग आरण्यक है। इस नामकरण का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि इनके गूढ़ मन्त्रों का अध्ययन सम्भवतः अरण्य (वन) में ही सम्भव था। उपलब्ध आरण्यक ऐतरेय कौषीतकी और तैत्तिरीय नामक ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं।

आरण्यक के पश्चात् उपनिषदों का स्थान आता है। ये पूर्णतया दर्शन-ग्रन्थ हैं। उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश कैन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें अधिकांश बहुत बाद के आभासित होते हैं और इनकी परम्परा सम्भवतः बुद्ध काल के कुछ पूर्व तक चलती है।

जिस सभ्यता का अध्ययन हम इस परिच्छेद में करने जा रहे हैं उसके प्रमुख साधन उपरोक्त ग्रन्थ ही हैं। इनके आधार पर ही हम देखेंगे कि उत्तरवैदिककालीन आर्यों आर्यों ने इतने लम्बे अर्से में (लगभग १००० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक) किस क्षेत्र में क्या प्रगति की या उसमें क्या परिवर्तन लाने का प्रयास किया। किन्तु इसके पूर्व कि हम उनकी विभिन्न सामाजिक आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक अवस्थाओं का वर्णन करें हमें आर्यों के नव प्रसार पर प्रकाश डाल लेना चाहिए क्योंकि इनकी भौगोलिक स्थिति का बोध किये बिना इनके विकास के साधनों एवं सुविधा-असुविधाओं का

ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा जिससे उनकी उन्नति के सही मूल्यांकन में बाधा उपस्थित हो सकती है।

भौगोलिक सीमा का सार

ऋग्वैदिक काल की सभ्यता केवल पंजाब तक सीमित थी किन्तु अब आर्यों की अधीनता में भारत के अधिकांश भाग आ गये थे। कुरुक्षेत्र इस युग की सभ्यता का केन्द्र था। मध्यदेश भी इससे सम्बन्धित था। आधुनिक दिल्ली उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गणना मध्य देश में होती थी। यहाँ कुरु पाञ्चाल वंश तथा उशीनर आर्य सम्बन्धित थे। हिमालय तक कुरुओं के निकट उत्तरमद्र थे। उत्तर बिहार में विदेह तथा पूर्वी बिहार में अंग थे। यमुना के किनारे पारावत निवास करते थे। उनके उत्तर में केकय तथा बल्हीकों का प्रभुत्व था। इन आर्य समूहों के अतिरिक्त कुछ अन्य आर्य समूह भी थे जिनमें शिवि वंश मत्स्य द्रुह्य विदर्भ आदि अधिक प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत मध्य भारत (विशेषतया पूर्वी भाग) तथा कुछ दक्षिणी भाग में आर्य फैल चुके थे। एतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र जाति का उल्लेख आया है।[१] किन्तु ये अनार्य थे। पुण्ड्र मूतिब पुलिन्द तथा शबर आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है पर ये भी अनार्य थे।

कुरु-पाञ्चाल—ऊपर अनेक आर्य समूहों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख समूहों का विस्तृत अध्ययन कर लेना आवश्यक है। समस्त आर्य समूहों में मध्य देश के कुरु पाञ्चाल अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी संस्कृति तथा सुन्दर भाषा की प्रशंसा शतपथ ब्राह्मण में की गई है।[२] शतपथ ब्राह्मण में जो यह कहा गया है कि ये सबसे सुन्दर संस्कृत बोलते थे इसका समर्थन कौषीतकी ब्राह्मण से भी हो जाता है जिसमें यह बतलाया गया है कि लोग शुद्ध भाषण के लिए उत्तर की ओर जाते थे।[३] निश्चय ही उत्तर से अभिप्राय उत्तराखण्ड के आर्यसमूह अर्थात् कुरु-पाञ्चाल से है यद्यपि इनके भी उत्तर में मद्र थे किन्तु इनके पक्ष में कोई अन्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

कुरु राजा परीक्षित तथा जनमेजय के शासन-काल में कुरु अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर चुका था।

कोसल काशी तथा विदेह—ये तीनों पौर्वात्य राज्य उत्तर वैदिक काल के प्रमुख राज्य थे। इनका पृथक्-पृथक् अध्ययन करना कुछ कठिन पड़ता है क्योंकि कुछ ऐसी उलझी हुई सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं जिससे यह कहना कठिन हो जाता है कि तीनों का अलग अलग क्या अस्तित्व था। 'एक पश्चात् कालिक निर्देश में जल जातूकर्ण्य विदेहों काशियों और कौशलों का पुरोहित कहा गया है। यदि यह सत्य है तो ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि सम्भवतः ये तीनों राज्य कभी एक थे। साङ्ख्यायन श्रौत सूत्र में भी राजा पर आत्मल तथा विदेह का शासक कहा गया है।[४]

ऋग्वैदिक काल के आर्यों के पूर्व में आने का उल्लेख हमें शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में विदेह-नरेश माधव के वैदिक सभ्यता के केन्द्र सरस्वती से सदानीरा नदी को पार कर विदेह आने का वर्णन प्राप्त होता है। तत्कालीन प्रमुख

---

[१] एतरेय ब्राह्मण ८।१८॥
[२] शतपथ ब्राह्मण ३।२।३।१५॥
[३] कौषीतकी ब्रा० ७।६॥
[४] सा० श्रौ० सू० १६।९।११॥

राजाओं में विदेह के जनक तथा काशी के अजातशत्रु का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उपरोक्त पौर्वात्य राज्यों में से कोसल भी एक था। आधुनिक अवध इसके अन्तर्गत था। इक्ष्वाकु कुल वालों का इस पर अधिकार था। यह बहुत दिनों तक वैदिक सभ्यता की पूर्वी सीमा बना रहा। अयोध्या इसकी प्राचीनतम राजधानी थी।

काशी का सर्वश्रेष्ठ शासक जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अजातशत्रु था। अजातशत्रु ब्रह्मदत्त कुल का था। ब्रह्मदत्ता के पूर्व काशी में जो राजा राज्य कर रहा था वह भरतों के विख्यात पूर्वज पुरुरवा को अपना आदि पुरुष स्वीकार करता था। अजातशत्रु को वैदिक साहित्य में दार्शनिक एवं विद्वान् कहा गया है।

कुरुओं के पश्चात विदेहों का उदय हुआ। विदेह आधुनिक तिरहुत था। जिनके सर्वश्रेष्ठ राजा जनक थे जो प्रकाण्ड विद्वान एवं दार्शनिक थे। जनक के राजदरबार में दार्शनिक एवं विद्वानों की भीड़ लगी रहती थी। याज्ञवल्क्य उसके दरबार का प्रसिद्ध दार्शनिक था। इसके अतिरिक्त श्वेतकेतु उद्दालक आरुणि सत्यकाम जाबाल ऋत्विक वार्ताकि आदि अन्य दार्शनिक एवं विद्वान भी उपस्थित थे।

मगध और अंग तथा अन्य राजनैतिक संगठन——मगध तथा अंग के विषय में यह कहा जाता है कि यह आर्यों की सत्ता के बाहर था कम से कम आर्य धर्म के प्रसार से तो यह था ही। अथर्ववेद में इसे अनार्य देश मानकर ही इस प्रान्त की ओर एक ऋषि ज्वरादि व्याधियों को फेंकता है।[1] इसी ग्रन्थ में इन्हें व्रात्य कहा गया है।[2] अन्यत्र कहा गया है वे जो भाषा बोलने में सरल है (संस्कृत) उसको बोलने में कठिन बताते हैं।[3] अर्थात संस्कृत जैसी सरल भाषा भी वे नहीं बोल पाते।

शतपथ ब्राह्मण में अंग मगध का उल्लेख है।[4] सम्भवतः मगध तथा अंग अब तक ब्राह्मण धर्म में दीक्षित नहीं हो पाये थे। यह भी सम्भव है कि ये अनार्य नहीं थे बल्कि आर्य होते हुए भी ये अन्य आर्य वर्गों की सभ्यता एवं संस्कृति के पाश से मुक्त थे।

इनके अतिरिक्त सिन्धु नदी के दोनों तटों पर गान्धार जनपद था जिसके तक्षशिला तथा पुष्करावती प्रसिद्ध नगर थे। इसी गान्धार तथा व्यास के मध्यस्थ केकय था। अन्य आर्य वर्गों का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है।

ऊपर उत्तर वैदिककालीन आर्यों के राजनैतिक संगठन पर प्रकाश डालने का एक मात्र उद्देश्य उनका प्रसार बताना था। उनकी राजनैतिक व्यवस्था का बोध कराने के अभिप्राय से विभिन्न वर्गों या समूहों के आर्यों के संगठन का उल्लेख ऊपर नहीं किया गया है उनकी राजनैतिक व्यवस्था पर अन्यत्र प्रकाश डालना होगा। यहाँ तो इस विवरण द्वारा आर्य संस्कृति के केवल प्रसार-क्षेत्र का बोध कराना था। अब हम जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल के आर्यों की विभिन्न अवस्थाओं का विवरण दे चुके हैं उसी क्रमानुसार उत्तर वैदिक काल की सामाजिक आर्थिक धार्मिक तथा राजनैतिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालेंगे।

---

[1] अथर्ववेद ५।२२।७॥ इसमें सुदूर पूर्व के कुछ संगठनों का संकेत है।

[2] ,, १५।२।१–४॥ व्रात्य का अर्थ नीच कुलीन से है।

[3] पञ्चविंश ब्राह्मण १७।१।९॥

[4] शो० ब्रा० २।९॥

सामाजिक अवस्था ✓

वर्गीकरण या वर्ग व्यवस्था

ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में आर्यों के समाज का जो वर्गीकरण हो चुका था उसका उल्लेख ऋग्वैदिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन करते समय किया जा चुका है। यह वर्गीकरण अब धीरे धीरे जटिल होता जा रहा था। किन्तु यह जटिलता ऋग्वैदिक काल की लोच तथा सूत्रों के काल की कठोरता के बीच की स्थिति में थी। धार्मिक कृत्यों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई महत्ता तथा जीवन की बदलती हुई भावनायें ही इस परिवर्तन के मूल में हैं। ऋग्वैदिक काल में वैवाहिक नियमों की सरलता में भी अब काफी जटिलता आ गई जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीनों वर्ग अब पूर्णतया वर्ण बन चुके थे। अर्थात् अब इनमें परम्परा का पुट आता जा रहा था। पुरोहित पिता का पुत्र भी पुरोहित (ब्राह्मण) होता था। इसी प्रकार शासक एवं योद्धाओं (क्षत्रियों) का पुत्र भी क्षत्रिय होता था। किन्तु ऋग्वैदिक काल में ऐसी कोई बात न थी। वैद्य पिता के कवि पुत्र तथा पिसनहारिन माता का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा चुका है। शूद्रों का भी उल्लेख उस काल में किया गया था। पर इनमें भी अब महान परिवर्तन आ गया था। वास्तव में परिवर्तन तो वैश्यों से आरम्भ होता है जिन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य आरम्भ कर दिये थे। शूद्रों के विषय में जानने के पूर्व हमें आर्यों तथा अनार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर एक बार पुनः दृष्टि डालनी होगी। हमने आरम्भ में ही यह बतलाया था कि ऋग्वैदिक काल की सभ्यता वास्तव में ऋग्वेद के नवें मण्डल तक में वर्णित सभ्यता है। दसवाँ मण्डल इतने बाद का है कि उसकी सामग्रियों को हम उत्तरवैदिक काल की सभ्यता के लिए ग्रहण कर सकते हैं। हम जानते हैं कि प्रारम्भ में आर्य सिन्धु और यमुना के बीच में निवास कर रहे थे और इन दो नदियों के बीच की भूमि पर अधिकार स्थापित करते समय अनार्यों से इनके जो संघर्ष हुए उसका विवरण ऋग्वेद के नौ मण्डलों में प्राप्त होता है और इस संग्राम का तब तक अर्थात् नौ मण्डलों के समय तक अन्त भी हो जाता है। किन्तु धीरे धीरे जब आर्यों ने पूर्व की ओर अपना प्रसार करना आरम्भ किया तो फिर उसी सामरिक दशा की पुनरावृत्ति हमें ऋग्वेद के दसवें मण्डल में प्राप्त होती है। एक स्थान पर एक ऋषि कहता है कि हम चारों ओर से दस्युओं से घिरे हैं। वे यज्ञ नहीं करते किसी बात में विश्वास नहीं करते उनके व्रत और हैं वे मनुष्य नहीं हैं। हे शत्रुहन्ता! उन्हें मार डालो। दास जाति का नाश कर दो।[1] इसी प्रकार इन्द्र अन्यत्र स्वयं कहता है कि मैंने दस्युओं को आर्य नाम से वंचित कर दिया है ... मैंने दासों के दो टुकड़े कर दिये हैं इसी के लिए वे पैदा हुए थे।[2]

उपरोक्त अंशों से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि दस्युओं को आर्य बनाने का अधिकार नहीं प्राप्त था। अब ये सारे दस्यु कहलाने लगे थे जो सम्भवतः अनार्यों के किसी बड़े वर्ग का नाम था। किन्तु साथ रहने का अधिकार तो उन्हें स्वतः प्राप्त हो गया क्योंकि उन्हें आर्यों की सेवा करना था। जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल में अनार्यों (जिन्हें अब शूद्र कहा जाने लगा था) या दस्युओं के धनी होने का प्रमाण मिलता है उसी प्रकार

---

[1] ऋग० १०।२२।८॥

[2] ऋग० १०।४९।३ ६–७॥

ग्रन्थ जो प्रसंगत इन पर कुछ प्रकाश डालते हैं।[१] इनके आधार पर ही मगध के इतिहास पर प्रकाश डाला जायगा।

बिम्बिसार—पुराणों के अनुसार मगध राजवंश का संस्थापक शिशुनाग था। महावंश से भी इसका समर्थन हो जाता है कि बिम्बिसार नाग कुल का था। उक्त ग्रन्थ ने बिम्बिसार के अन्तिम राजकुमार को नाग दासक बताया है। पुराणों ने बिम्बिसार के पूर्व भी चार राजाओं द्वारा मगध पर शासन करने का उल्लेख किया है पर इस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि बिम्बिसार को पालि अनुश्रुतियों में सेनिय कहा गया है। सेनिय का अर्थ सेनापति से है। तब यह कैसे सम्भव है कि बिम्बिसार के पूर्व उसके कुल के चार राजा राज्य कर चुके थे। सम्भवतः जिस प्रकार सेनानी पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ को (जिसका वह सेनापति था) वध करके राज्य अपने हाथ में ले लिया उसी प्रकार सम्भव है बिम्बिसार ने भी अपने सेनापति पद पर रहकर ही राज्य को अपने अधीन किसी प्रकार बना लिया। किन्तु स्वयं महावंश का यह कथन है कि बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु में सिंहासनारूढ़ हुआ।[२] यह कथन उपरोक्त अनुमान को मानने में बाधा उपस्थित करता है क्योंकि इतनी अल्पायु में कोई वंशानुगत राजा ही हो सकता है नवीन राज्य का संस्थापक नहीं हो सकता।

अब यहीं प्रश्न यह उठता है कि बिम्बिसार के पूर्व मगध पर किस राजवंश का शासन था। डी० आर० भण्डारकर महोदय का इस सम्बन्ध में सुझाव मान्य-सा लगता है जिसे हम नीचे दे रहे हैं—

इस प्रधान बौद्ध ग्रन्थ सुत्त निपात पृष्ठ १८५ ५।१३८॥ में वैशाली के लिए मागधम् पुरम् (अर्थात् मगध की राजधानी) का प्रयोग किया गया है। यदि यह सच है कि वैशाली मगध की राजधानी थी तो वस्तुतः सम्भव है कि वज्जि से ही बिम्बिसार को मगध प्राप्त हुआ था। किन्तु पुराणों के अनुसार मगध पर सर्वप्रथम बार्हद्रथ वंश का शासन रहा। तत्पश्चात् वज्जि वैशालियों ने इसे बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया और बिम्बिसार ने इन्हें गंगा नदी की ओर भगाकर मगध पर अपना अधिकार स्थापित करके राजगृह को अपनी राजधानी बना लिया।

बिम्बिसार का परिवार—महावग्ग बिम्बिसार की ५०० रानियाँ बताता है जिनमें से एक खेमा कुमारी थी। पर ५०० रानियाँ अत्योक्ति का उत्कृष्टतम उदाहरण मात्र है। उसकी दूसरी रानी छलना थी। यह वैशाली के लिच्छिवी गण राज्य के प्रधान चेतक की पुत्री थी।[३] तीसरी पत्नी कोशल देवी थी जो प्रसेनजित के पिता महाकोशल की पुत्री थी। जातक में ज्ञात होता है कि दहेज में महाकोशल ने बिम्बिसार को काशी का राज्य दे दिया था।[४] विदेही वासवी के सम्बन्ध में अमितायुर्ध्यान सूत्र में यह कहा

---

[१] श्री भण्डारकर ने पुराणों के समस्त महावंश की सामग्रियों को अधिक प्रामाणिक सिद्ध किया है और इस सम्बन्ध में उन्होंने तिथिपरक राजाओं के नाम तथा उनसे सम्बन्धित अनेक सामग्रियों को अप्रामाणिक सिद्ध करने का सफल प्रयास कारमाइकल लेक्चर्स पृष्ठ ६७–७ में किया है।

[२] महावंश २।२९ ३०॥

[३] Jacobi Jain Sut as I xii xv S B E Quoted by Dr Mookerji

[४] जातक २–४०३।१५॥

गया है कि इसने विद्रोही पुत्र अजातशत्रु द्वारा बन्दी किये गये अपने पति की रक्षा की थी। पर छलना के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कथा कही गई है जिससे कुछ इतिहासकारों ने छलना और वासवी को एक ही माना है। बिम्बिसार के अनेक पुत्र थे—अजातशत्रु (कुणिक) हल्ल तथा वेहल्ल जो छलना से उत्पन्न थे अभय जो अम्बपाली से उत्पन्न (था नन्दिसेन मेघकुमार आदि। अजातशत्रु को जैन ग्रन्थों में विदेहिपुत्र कहा गया है जिससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वह विदेही वासवी (जो सम्भवतः छलना ही है) का ही पुत्र था अजातशत्रु की नृशंसता के भय से ही सम्भवतः उसके अन्य भाइयों ने मगध का त्याग कर दिया और वे भिक्षु हो गये।

बिम्बिसार का शासन तथा उसकी विजयें—बिम्बिसार की राजधानी गिरिव्रज थी पर बाद में उसने इसे बदल दिया और राजगृह में नवीन राजधानी की स्थापना की। महाभारत के अनुसार गिरिव्रज जरासन्ध की राजधानी थी। बुद्धघोष ने राजगृह को बिम्बिसार पुरी बताया है।

बिम्बिसार ने कौशाम्बी का राज्य स्थानीय द्वारा विजित अंग राज्य को अपने अधीन बनाकर अपने राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर ली थी। उसने अंग को एक पृथक प्रान्त बनाकर कुणिक को उसका गवर्नर बना दिया। कुणिक चम्पा में रहकर अंग का शासनभार सँभालता था।[1] अंग के अन्तर्गत अनेक बड़े-बड़े नगर थे जो अब वे सभी बिम्बिसार की राज्य-सीमा के अन्तर्गत हो गये। इसके राज्य में ८० ००० गाँव सम्मिलित थे। इसका क्षेत्रफल लगभग ९०० मील से भी अधिक था और जिसे अजातशत्रु ने अपनी अन्य विजयों द्वारा १५००० मील कर लिया।[2] बिम्बिसार के राज्य में कुछ गण राज्य भी थे जिनके शासन राजकुमारों के हाथ में थे।

बिम्बिसार का शासन बहुत ही कठोर था। दण्ड विधान में किसी प्रकार की दया का स्थान न था। महामात्र सब्बत्थक 'वोहारिक' सेनापति आदि राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

बिम्बिसार का धर्म—बिम्बिसार के धर्म के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत निर्धारित करना कुछ कठिन इसलिये हो जाता है कि ब्राह्मण जैन तथा बौद्ध तीनों धर्म इसे अपने अपने मत का बताने का प्रयास करते हैं। जैन मतावलम्बियों का यह कहना है कि वह जैन था और महावीर स्वामी का अनन्य भक्त था। उत्तराध्ययन सूत्र २०।५८। में कहा गया है कि बिम्बिसार बहुत ही श्रद्धा एवं आदर के साथ महावीर स्वामी के पास गया था और अपनी पत्नियों नौकरों तथा सम्बन्धियों के साथ जैन मतावलम्बी हो गया। अन्यत्र भी देवि छलना के साथ बिम्बिसार का महावीर की पूजा के निये उनके पास जाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में यह ज्ञात होता है कि बिम्बिसार गौतम से गिरिव्रज में मिल चुका था और यद्यपि अभी वे बुद्ध नहीं हो पाये थे तथापि वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ। महात्मा बुद्ध से भी वह अपनी नई राजधानी राजगृह में मिल चुका था और तब उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[3] उसके बौद्ध होने के अन्य साक्ष्यों में एक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसने अपने राजवैद्य जीवक को बुद्ध के संघ में नियुक्त किया। दूसरे साक्ष्य में यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिये निःशुल्क जलयात्रा करने की आज्ञा दे दी थी।[4]

[1] भगवती सूत्र ३००—चम्पायां कुणिको राजा बभव।
[2] विनय १।१७९॥ सुमंगल १।१४८॥ डा० मकर्जी द्वारा उद्धृत।
[3] सुत्तनिपात ४०८ तथा विनय १।३९॥
[4] ललितविस्तर ५।५२६॥ Quoted by Dr Mookerji.

मृत्यु—अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का अन्त बुद्ध भगवान् के निर्वाण के आठ वर्ष पूर्व अर्थात् ५५१ ई० पू० में कर दिया।[1] सम्भवतः इसके पूर्व ही बिम्बिसार ने हत्या पर तुले अजातशत्रु को सिंहासन दे दिया था।[2]

अजातशत्रु—अजातशत्रु के प्रारम्भिक जीवन के विषय में हम कुछ प्रामाणिक ढंग से नहीं जानते हैं। पितृहन्ता अजातशत्रु को जन्मजात क्रूर सिद्ध करने के अभिप्राय से ही एक बड़ी विचित्र पर अविश्वसनीय कथा का उल्लेख है जिससे यह ज्ञात होता है कि जब वह गर्भ में था तभी पिता के रक्त का प्यासा था। इसीलिये उसका नाम अजातशत्रु रक्खा गया।[3] पर यह कथा पूर्णतया हास्यास्पद है। अजातशत्रु से हमारा प्रथम परिचय उस समय होता है जब वह पिता द्वारा अंग का युवराज निर्धारित किया गया था। बौद्ध ग्रन्थ विनय से हमें अजातशत्रु के काले कारनामे का बोध होता है। उक्त ग्रन्थ में यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध के विरोधी देवदत्त ने अजातशत्रु को भड़का कर बिम्बिसार के विरुद्ध कर दिया और उसने इस राजकुमार को इतना बरगलाया कि एक दिन वह छुरा लेकर पिता की हत्या के लिये उसके अन्तःपुर में पहुँच गया पर प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया। जब बिम्बिसार को पुत्र का यह कुकृत्य तथा उसका मन्तव्य ज्ञात हुआ तो उसने उसे न केवल क्षमा कर दिया वरन् अपना राज्य भी उसे दे दिया। पर अजातशत्रु को इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ और उसने पिता का वध अपने हाथों ही कर दिया। देवदत्त ने उससे कहा था कि जीवन थोड़े दिनों का होता है और शासन सूत्र उसके हाथों में थोड़े दिनों में आ सकता है। अतः राजकुमार अपने पिता का वध करो और राजा बनो।[4] अजातशत्रु ने स्वयं ही महात्मा गौतमबुद्ध के सम्मुख यह स्वीकार किया कि उसने अपने पिता का वध राज्य के लिये किया। आवश्यक सूत्र में यही कथा कुछ दूसरे रूप में इस प्रकार कही गई है। यद्यपि बिम्बिसार ने अपने अन्य पुत्र के स्थान पर केवल अजातशत्रु को ही राजा बनाने का निश्चय कर लिया पर उतावले अजातशत्रु ने बिम्बिसार को बन्दीगृह में डालकर राज्य-सत्ता अपने हाथ में ले ली। बन्दीगृह में छलना अपने पति की देख रेख करती रही। पर सहसा अजातशत्रु की माता ने उससे यह बताया कि उसके पिता उसे कितना प्यार करते थे कि एक बार उसकी पकी उँगली का मवाद जिससे मवाद निकल रहा था पुत्र की पीड़ा हरने के लिये उन्होंने चूसा था। इतना सुनना था कि अजातशत्रु शीघ्रता से लोहे का हथौड़ा लेकर पिता की बेड़ियाँ तोड़ने को दौड़ा। बिम्बिसार ने इसका अर्थ कुछ उलटा समझा और जहर खाकर आत्महत्या कर ली।[5] जैन तथा बौद्ध धर्मों में जिस प्रकार प्रतिस्पर्धा यत्र-तत्र मिलती है उसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन में भी उनमें कुछ विभावसनाएँ आभासित होती हैं। उपरोक्त विवरण उसका एक उदाहरण है। बौद्ध ग्रन्थ ने अजातशत्रु को जब वह धरती पर भी नहीं गिरा था तभी से पितृहन्ता सिद्ध करने का

---

[1] महावंश। यह भी ज्ञात होता है कि उसने ५२ वर्ष राज्य किया था। अतः उसकी राज्यारोहण तिथि ६०३ ई० पू० रही।

[2] चुल्लवग्ग ७।७ ५॥

[3] जातक ३।१२१—२॥

[4] विनय २।१९०॥

[5] उक्त विवरण आवश्यक सूत्र के आधार पर डा० मुकर्जी द्वारा वर्णित कथानक पर पूर्णतया अवलम्बित है।

प्रयास किया है पर जैन ग्रन्थकारों ने इनका खण्डन करने के अभिप्राय से बिम्बिसार से ही आत्महत्या करा दी। वास्तविकता क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

अजातशत्रु की विजय—लगभग ५५१ ई० पू० में अजातशत्रु सिंहासनारूढ़ हुआ। अपने पति की अकस्मात मृत्यु से प्रपीड़िता कोशलदेवी भी अधिक दिन तक वैधव्य न स्वीकार कर सकी और उसका देहावसान हो गया। प्रारम्भ में ही बताया गया था कि प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशला देवी का ब्याह अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार से करने के पश्चात ही काशी नगरी को दहेज रूप में दे दिया था। अब जो विकट परिस्थिति अजातशत्रु के सम्मुख उपस्थित होती है उसके मूल में दहेज में प्राप्त काशी नगरी है। अजातशत्रु पिता के राज्याधीन अन्य नगरों की भाँति काशी को भी अपने अधीन समझता था और इस प्रकार बहुत दिनों तक (निश्चित तिथि बताने में कुछ कठिनाई है) सम्भवतः भावी अन्वेषणा से इस पर कुछ प्रकाश पड़ सके काशी नगरी से कर वसूल करता रहा। पर कोशल देवी की मृत्यु के पश्चात उसका भाई प्रसेनजित यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था कि पितृहन्ता अजातशत्रु का अधिकार काशी पर अब भी पूर्ववत् बना रहे। अतः उसने इसका विरोध किया और फलस्वरूप कोशल मगध में संघर्ष छिड़ गया। प्रारम्भ में प्रसेनजित को पराजित होकर श्रावस्ती भाग जाना पड़ा पर बाद में वह अजातशत्रु को सम्पूर्ण सेना को उसके साथ बन्दी बनाने में सफल हो सका। जातक में इन दोनों के संघर्षों का बड़ा रोचक विवरण मिलता है।[1] अजातशत्रु से पराजित होकर निराश प्रसेनजित जब श्रावस्ती लौट गया था तो भगवान बुद्ध अपने कुछ भिक्षुओं के साथ जिनमें से कुछ राजकर्मचारी रह चुके थे वहीं कहीं निकट ही रुके थे। इनमें से दो भिक्षु एक दिन आपस में युद्धसम्बन्धी वार्ता कर रहे थे और एक ने बलपूर्वक घोषणा की कि यदि प्रसेनजित शकटव्यूह की रचना करके युद्ध करे तो वह अजातशत्रु को मछली की भाँति फँसा सकता है। प्रसेनजित के दूत ने उसे इस विलक्षण विधि से अवगत किया और उसी उपाय द्वारा प्रसेनजित ने अजातशत्रु को बन्दी बना लिया। इसमें कितना सत्य है नहीं कहा जा सकता।

अन्त में दोनों में संधि हो गई और प्रसेनजित ने अजातशत्रु को सेना, उसके राज्य आदि लौटा दिया साथ ही अपनी पुत्री वजिरा का ब्याह भी उससे कर दिया।[2]

अजातशत्रु का दूसरा संघर्ष वैशाली के लिच्छवियों से हुआ। हमें ज्ञात है कि अजातशत्रु वैदेही पुत्र था अर्थात उसकी माता वैदेही अथवा लिच्छवि राजकुमारी थी। अब इन्हीं लिच्छवियों (वज्जियों) से अजातशत्रु ने संघर्ष छेड़ दिया। सुमंगलविलासिनी से यह ज्ञात होता है कि गंगा के तट पर हीरे की एक खान थी जिसके आधे खनिज पदार्थ पर लिच्छवियों तथा अजातशत्रु का आधा-आधा अधिकार निश्चित हो चुका था। लिच्छवियों ने इस समझौते को तोड़ दिया जिसके फलस्वरूप अजातशत्रु को आक्रमण करना पड़ा। जैन साक्ष्यों द्वारा इस संघर्ष का एक दूसरा ही कारण माना जा सकता है। कहा जाता है कि बिम्बिसार ने अपने पुत्र वेहल्ल को कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ दी थीं जिन्हें लेकर वह अजातशत्रु के भय से चेटक की शरण में वैशाली चला आया। अजातशत्रु ने चेटक को चेतावनी दी कि वह वेहल्ल को उसके सुपुर्द कर दे पर उसने शरणागत

---

[1] डा० आर० भण्डारकर द्वारा पुनरुक्त्त कथा के आधार पर हम जातक के तत्सम्बन्धी विवरण का उल्लेख कर रहे हैं।

[2] जातक २।२३७ तथा ४०३-४।।५।।२४३।। धम्मपद टीका ३।२५९।।

को (जो कि उसका पोता भी था) देना स्वीकार नहीं किया। इस पर क्रोधित होकर अजातशत्रु ने चेतक से युद्ध छेड़ने का निश्चय किया। अब उधर ३६ विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों के अगुवा लिच्छिवी तथा चेतक दोनों उसके शत्रु हो गये थे।

वास्तविकता जो भी हो अजातशत्रु को इस द्वितीय संग्राम में बहुत बड़ी शक्ति का सामना करना पड़ा था जिसमें अनेक सम्मिलित शक्तियां थीं। केवल लिच्छिवी ही काफी शक्तिशाली हो चुके थे। उनकी सामरिक शक्ति सच्चरित्रता नियमितता तथा कष्ट सहिष्णुता की चर्चा स्वयं भगवान बुद्ध ने की है और कहा है कि वे अजेय और अभय हैं क्योंकि वे एक गणराज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए सभी आवश्यक तत्वों का पालन करते हैं स्वतन्त्र एवं परिपूर्ण समाज करते हैं मत एवं नीति में एकता रखते हैं, प्राचीन प्रथाओं रीति रिवाजों एवं विश्वासों का पालन करते हैं वृद्धों का आदर करते हैं तथा नारियों एवं संन्यासियों का सम्मान करते हैं आदि-आदि।[१] निश्चय ही अजातशत्रु लिच्छिवियों को पराजित करने में काफी परेशान हो जाता और सम्भवतः अन्त में भी उसे विजय न मिलती। पर उसे यह भलीभाँति ज्ञात हुआ कि लिच्छिवियों के संघ में फूट उत्पन्न करके उनका नाश किया जा सकता है और अन्त में उसने किया भी यही।

निरयावलि सूत्र से ज्ञात होता है कि उधर चेतक ने भी मित्र-संघ के समस्त सदस्य राज्यों को आमन्त्रित करके यह प्रश्न किया कि वे अजातशत्रु से युद्ध करेंगे अथवा नहीं। यह बैठक अजातशत्रु की शक्ति को चुनौती देने के लिये हुई होगी। किन्तु अजातशत्रु ने पूर्वकथित नीति से काम लिया और उसने अपने एक चतुर या अधिक स्पष्ट शब्दों में कुटिल मन्त्री वस्सकार को लिच्छिवियों की संगठित शक्ति में फूट के बीज बोने के लिए वैशाली भेज दिया जिसने निरन्तर तीन वर्षों तक वहीं निवास करके अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर ली और लिच्छिवियों में सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में सर्वत्र मतभेद हो गया। उनकी संचित अजेयता में दीमक लग गई। इस प्रकार अजातशत्रु छल बल तथा कौशल तीनों विधियों को अपनाकर लिच्छिवियों (वज्जियों) का सामना करने में समर्थ हो गया और तब उसने घोषणा की "मैं इन वज्जियों को जड़ से उखाड़ फेंकूँगा और ध्वंसित कर दूँगा भले ही वे शक्तिसम्पन्न एवं वीर हों उनका सर्वनाश कर दूँगा।"[२] अजातशत्रु के लिये राजगृह से गंगा के उस पार लिच्छिवी संघ से युद्ध करना असम्भव था। अतः उसने अपने राज्य की सीमा पर स्थित पाटलिग्राम (जो आगे चलकर पाटलिपुत्र हुआ) में ही युद्ध केन्द्र बनाने का निश्चय किया और वहीं पर अत्यन्त सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण तेजी से किया जाने लगा। इस दुर्ग का निर्माण अजातशत्रु के दो योग्य एवं विश्वस्त मन्त्री सुनीध तथा वस्सकार के निरीक्षण में हुआ। यहीं उक्त मन्त्रियों ने गौतम बुद्ध को आमन्त्रित भी किया और तभी महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि पाटलिपुत्र आर्यावर्त की एक प्रमुख नगरी होगी। दुर्ग बन जाने के पश्चात् अजातशत्रु ने रणभेरी बजा दी।[३] उसकी कूटनीति वास्तव में पूर्ण रूप से सफल हुई थी

---

[१] देखिए डा० राधाकुमुद मुकर्जी *Hindu Civilisation* pp 190 and 191

[२] महापरिनिब्बान सुत्त

[३] जैन ग्रन्थ निरयावलि सूत्र से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने पहले से सीधे चेतक पर आक्रमण कर दिया। चेतक ने जैसा कि पहले ही कहा गया है पूर्ण तैयारी कर ली थी। 'उसकी सहायता के लिये लिच्छिवियों के नौ मित्र संघ मल्लों के नौ मित्र संघ आये। देखिये डॉ० आर० भण्डारकर का कारमाइकल लेक्चर पृ० ७९।

और लिच्छवियों में परस्पर वादविवाद होने लगा कि कौन पहले आगे बढ़े। अन्ततोगत्वा अजातशत्रु की विजय हुई पर उसे इस युद्ध में, जैनग्रन्थों के कथनानुसार १६ वर्ष लगे।[1]

अजातशत्रु की बढ़ती हुई ताकत का प्रतिस्पर्धी अवन्ति का चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत तथा अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार में सुन्दर पारस्परिक व्यवहार था—क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि जिस समय चण्डप्रद्योत पाण्डु रोग से प्रपीडित था उस समय उसकी चिकित्सा के लिये बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। किन्तु अजातशत्रु से इसके सम्बन्ध अच्छे नहीं जान पड़ते क्योंकि प्रद्योत के आक्रमण के भय से ही उसने राजगृह की किलेबन्दी करवाई थी।[2]

अजातशत्रु का धर्म—यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों ने अपने अपने समर्थक राजाओं के साथ पक्षपात किया है और अपने विरोधी या इतर धर्मवाले राजाओं की भरसक निन्दा की है (जिसका प्रमाण इतिहास में उपलब्ध है) तो अजातशत्रु को प्रारम्भ में जैन मतावलम्बी मान सकते हैं। उसे पितृहन्ता माने या न होने के प्रश्न से सम्बन्धित ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाणों से भी उसे प्रारम्भ में जैनमतावलम्बी सिद्ध किया जा सकता है। ज्ञात होता है कुणिक (अजातशत्रु) अपनी पत्नी तथा अपने सहचरों के साथ ज्ञातपुत्र के पास आया करता था जिसमें वह युवराज के पद पर वैशाली में रहा तथा जब वह चम्पा में था तब भी उसने महावीर स्वामी से भेंट की थी। यहाँ उसने जैन भिक्षुओं के प्रति अपने नम्र भक्तिपूर्ण उद्गार प्रकट किये थे।[3] उसने महावीर द्वारा प्रशस्त मार्ग की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की। तत्पश्चात् वह कब बौद्ध हो गया इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही वह बौद्ध हुआ। हमने पिछले पृष्ठों में लिखा था कि महात्मा बुद्ध के प्रतिस्पर्धी देवदत्त का उस पर कितना अधिक प्रभाव था कि उसकी मन्त्रणा से वह अपने पिता की हत्या तक कर सकता था। हमने यह भी लिखा था कि महात्मा बुद्ध के समक्ष अजातशत्रु ने अपना यह जघन्य पाप स्वीकार किया था और क्षमा-याचना की थी। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था।[4]

द्वितीय शताब्दी ई० पू० के भरहुत प्रस्तर लेख से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु तथा भगवान् बुद्ध से भेंट हुई थी। अजातशत्रु भगवतो वन्दते—यह वाक्य जो उक्त प्रस्तर पर उत्कीर्ण है महापरिनिर्वाणसूत्र के 'मागधो अजातशत्रु वेदेहि पुत्तो भगवतो पञ्चावतो गिरमावन्दति' का समर्थन करता है।[5] अजातशत्रु को बौद्ध होने का एक अन्य प्रमाण भी प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् जब उनका दाह-संस्कार हो

---

[1] धर्मघोष गोसाल से जिनकी मृत्यु ५६२ ई० पू० में हुई थी इस युद्ध का कर्ता था और ३६ गणराज्यों का मित्रसंघ जिनके विरुद्ध यह हो रहा था ५४६ ई० पू० तक चलता रहा। अतः १६ वर्षों तक युद्ध का जारी रहना सम्भव ज्ञात होता है।

[2] मज्झिम निकाय ३७॥

[3] औपपातिक सूत्र १२ २७ ३०॥ हेमचन्द्र परिशिष्ट पर्वन ४ सर्ग ॥ आवश्यक सूत्र ६८४ ६८७ डा० मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

[4] डा० मुकर्जी Hindu Civilization p 194

[5] वही।

गया तो भगवान के भस्मावशेष के लिये अजातशत्रु ने एक दूत यह कहलाकर भेजा, "भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे मैं भी क्षत्रिय हूँ। अतः मैं उनके भस्मावशेष के अंश का अधिकारी हूँ। मैं भगवान बुद्ध के भस्मावशेष पर एक स्तूप निर्मित कराऊँगा।"[1] अतः अजातशत्रु को भस्मावशेष का एक भाग मिला और उनसे राजगृह में एक स्तूप निर्मित किया।[2] तत्पश्चात राजगृह में महात्मा बौद्ध के अनुयायियों ने अजातशत्रु से एक ऐसा स्थल माँगा जहाँ वे बुद्ध के उपदेशों का संकलन कर सकें। अजातशत्रु ने इन भिक्षुओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वैभार की पहाड़ी में स्थित सप्तपर्णी गुहा के भीतर एक सभा भवन बनवा दिया। यहीं बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगति हुई जिसमें धम्म एवं विनय का क्रमशः आनन्द तथा उपालि ने सूत्रपाठ किया। ये पाठ त्रिपिटक के प्रथम और द्वितीय प्रामाणिक संग्रह माने गये।[3]

इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि अजातशत्रु अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में जैन धर्म की ओर झुका था पर महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात (जो सम्भवतः उसके राज्यारोहण के आठवें वर्ष में हुआ) वह बौद्ध मतावलम्बी हो गया।

कोसल

कोशल का इतिहास कंस से आरम्भ होता है। कंस के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि इसने ही काशी राज्य को कोशल में मिला लिया था पर इसका भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं प्राप्त है। कोशल का सर्वश्रेष्ठ बुद्धकालीन राजा प्रसेनजित या प्रसनजित कंस के ही वंश का था ? वास्तव में प्रसनजित के शासन-काल में ही कोशल का विकास हो सका।

प्रसेनजित ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने दान के लिए विख्यात था और उसने दो ब्राह्मणों को दो नगर दान दिये थे। उसके कुछ मन्त्रियों का नाम बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—(१) मृगधर (२) सिरि वड्ढ (३) दीघकारायण। प्रसनजित को पाँच राजाओं के दल का प्रधान कहा गया है जिससे यह आभासित होता है कि शाक्यों ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। प्रसनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध से प्रसनजित और बिम्बिसार में पारस्परिक मैत्री थी पर कालान्तर में बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात यही सम्बन्ध अजातशत्रु तथा प्रसेनजित के संघर्ष का कारण बना जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

कोशल के तीन प्रसिद्ध नगर अयोध्या, साकेत तथा श्रावस्ती थे। जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया गया है। प्रसनजित अत्यन्त उदार और दानी था। महात्मा बुद्ध और उसके सम्बन्ध का उल्लेख हमें बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। भरहुत के एक प्रस्तर लेख में भी इनके निकट सम्बन्ध का बोध होता है। मज्झिम निकाय में प्रसनजित कहता है—

भगवापि आसीतिको अहमपि आसीतिको अर्थात भगवान् बुद्ध ८० वर्ष के हैं और मैं भी ८० वर्ष का हूँ। भगवान बुद्ध से एक बार उसने आश्चर्यपूर्वक पूछा था कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध अपने विशाल संघ में शान्ति रखते हैं जब कि वह राजशक्ति रखते हुए भी अपने कुल तथा मन्त्रियों के षड्यन्त्रों से क्षुब्ध रहता है। प्रसनजित सचमुच

---

[1] दीघ २।१६६॥
[2] महापरिनिब्बान सुत्त।
[3] सुमंगल विलासिनी।

अपने मन्त्रियों द्वारा पुत्र के षड्यन्त्रों से क्षुब्ध था। इसका प्रमाण यह है कि एक बार जब वह भगवान बुद्ध से मिलने के लिए शाक्य प्रदेश में गया था तो उसकी अनुपस्थिति में उसके एक मन्त्री दीर्घ ने विद्रोह कर दिया और प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ को गद्दी पर बैठा दिया। यह समाचार पाते ही प्रसेनजित अजातशत्रु (जो उसका दामाद था) की शरण में चला पर राजगृह पहुँचते पहुँचते सिंहद्वार पर ही उसकी मृत्यु हो गई। धम्मपद में इसी कथा का विस्तार देकर लिखा गया है जिससे उक्त घटना की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

प्रसेनजित के पश्चात् उसका पुत्र विडूडभ कोशल के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सर्वप्रारम्भ में कहा गया है कि विडूडभ ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था। इस विद्रोह के पूर्व भी निश्चय ही वह कई प्रयास कर चुका होगा। पिता द्वारा विडूडभ तथा उसकी माता वासभ-खत्तिया[1] का अपमानित होना भी इन विद्रोहों के फल में हो सकता है। ज्ञात होता है प्रसेनजित ने बुद्ध भगवान के प्रति अगाध श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर उनके ही कुल शाक्य कुल से एक शाक्य कुमारी विवाह में माँगी। शाक्यों ने आत्माभिमान से चूर होकर शाक्य कुमारी न देकर एक दासी कन्या को भेज दिया।[2] इसी दासी कन्या वासभ-खत्तिया से विडूडभ उत्पन्न हुआ था और जिस समय प्रसेनजित को इस रहस्य का बोध हुआ तो उसने इन दोनों को राज्यच्युत कर दिया। किन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने-बुझाने पर प्रसेनजित ने उन्हें पुनः सम्मानित किया। इन सारे कार्यों ने विडूडभ को विद्रोही बनाने में भाग लिया। किन्तु अपने अपमान का प्रतिकार केवल पिता से लेकर ही वह मान रहनेवाला न था। इस अपमान का मूल कारण शाक्यों को भी वह भली भाँति ध्वस्त कर देना चाहता था। अतः उसने इन पर आक्रमण कर दिया। अचिरवती नदी पर विडूडभ तथा शाक्यों की मुठभेड़ हुई। कहा जाता है कि उसने शाक्यों को पूर्णतया ध्वस्त कर दिया पर अचिरवती नदी में ऐसी बाढ़ आ गई कि उसमें विडूडभ समस्त सेना सहित बह गया।[3]

अन्त में कोशल मगध की बढ़ती हुई ताकत में विलीन होकर उसका एक विजित प्रदेश हो गया।

बुद्धकालीन भारत की इस राजनीतिक अवस्था के अवलोकन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अनेक छोटे-छोटे गणराज्य विद्यमान थे जिनमें आधुनिक प्रजातन्त्र के अधिकांश तत्व विद्यमान थे। यद्यपि उन गण राज्यों में कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही शासन होता था तथापि बहुमत मान्य था। गण राज्यों के साथ साथ स्वतन्त्र राज्य भी उन्नत अवस्था में थे। मगध राज्य उत्थान के प्रथम सोपान पर पदार्पण कर रहा था। गणराज्यों को अपने में विलीन करके तथा कुछ स्वतन्त्र राज्यों को भी पराजित करके यह एक शक्तिशाली राज्य बनता जा रहा था। फिर भी गण राज्यों का पूर्णरूपेण अन्त नहीं हो गया। विश्वविजय की महती कामना से प्रेरित आक्रमणकारी सिकन्दर को भी इनमें से कुछ गणराज्यों का सामना करना पड़ा था। इस काल की दूसरी विशेषता राजाओं का बुद्ध या जैन धर्म की ओर आकर्षण है। अधिकांश राजा इस ओर आकृष्ट दिखाई पड़ते हैं। पर पक्षपात युक्त विवरण के कारण यह

---

[1] मज्झिम निकाय २।१२४॥

[2] जातक ३।४०५॥ से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित की एक पत्नी का नाम मल्लिका भी था। यह किसी माली के श्रेणी प्रमुख की (जो श्रावस्ती का) पुत्री थी।

[3] धम्मपद अट्ठकथा १।३५॥

निश्चयपूर्वक कहना कठिन हो जाता है कि कौन-कौन से राजा बौद्ध धर्म तथा कौन जैन धर्म के समर्थक थे। यह भी एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु देखने को मिलती है कि राजनीति में अब भी क्षत्रियों की वैदिककालीन महत्ता बनी रही।

Lucknow University

(1) Give a short history of Magadha and Kosala at the time of Buddha (1945)

(2) Give an account of the political condition of Northern India at the time of Buddha (1946)

(3) Give a short history of Magadha under Bimbisara and Ajatsatru What led to the downfall of the Bimbisaran dynasty ? (1947)

(4) Trace the ascendancy of the kingdom of Magadha from the time of Bimbisara to the end of the Nanda rule and mention the factors which had helped its growth (1949)

(५) गौतम बुद्ध तथा महावीर के समय की उत्तर भारत की राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन कीजिए। (१९५०) १६६

(६) बुद्धकालीन भारतीय गणराज्यों की शासन प्रणाली का विवरण लिखिए। (१९५२)

(७) नन्द राजाओं की उत्पत्ति के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनकी सत्ता का अंत किन परिस्थितियों के कारण हुआ ? (१९५२)

(८) बिम्बसार तथा अजातशत्रु के राजकाल का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। बिम्बसार वंश के पतन के क्या कारण थे ? (१९५३)

(९) बिम्बसार के काल से लेकर नंद वंश के अंत तक मगध के राजनैतिक उत्कर्ष का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। (१९५४)

(10) Describe the political condition of Northern India in the sixth century B C (1955)

(11) Trace briefly the successive stages in the growth of Magadha from Bimbisara to Asoka (1956)

(१२) भगवान बुद्ध के समय उत्तरी भारत की क्या दशा थी ? (१९५७)

Agra University

(1) Describe briefly the political condition of the Gangetic basin at the time of the Buddha and Mahabir (1943)

(2) Discuss the relations of the state of Magadha with its neighbours during the period 600 to 350 B C (1944)

(3) Write a note upon the careers of Bimbisara and Ajatasatru What was their attitude towards Buddhism and Jainism ? (1945)

(4) Describe the political condition of India in the time of Buddha in the 6th C B C (1947)

(5) Write a note on the political condition of India when Buddha preached his religion with particular reference to the kingdoms and republics which were the field of his activities (1952)

Allahabad University

(1) Give an account of the Republican States of Northern India in the Sixth century B C (1956)

(2) Discuss the contribution of Nandas to the growth of Magadhan Empire (1956)

(3) Describe briefly the growth of the power of Magadha under the Haryanka Saisunaga and Nanda dynasties (1957)

(4) What was the political condition of India in the 6th century B C ? (1934)

(5) Discribe the decay of the republican type of Government in ancient India from 600 B C to 300 A D (19)

(6) Discuss the origins of the Nandas What was their contribution to the growth of the power of Magadha ? (1958)

(7) Trace the rise of Magadha from the time of Bimbisara to the reign of Mahapadma Nanda (1959)

(8) What do you know of the nonmonarchical communities of Northern India at the time of the Buddha (19 9)

(९) छठी शताब्दी ई० पू० विशेष रूप से महान धार्मिक उत्थान का युग था। (१९४१, १९४७)

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार जैनधर्म काफी पुराना है और महावीर के पूर्व भी २३ तीर्थंकर हो चुके हैं। २४ तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं —

(१) ऋषभदेव (२) अजितनाथ (३) सम्भवनाथ (४) अभिनन्दननाथ (५) सुमतिनाथ (६) सुपद्मनाथ (७) सुपार्श्वनाथ (८) चन्द्रप्रभ (९) पुष्पदन्त (१०) शीतलनाथ (११) श्रेयांसनाथ (१२) वासुपूज्य (१३) विमलनाथ (१४) अनन्तनाथ (१५) धर्मनाथ (१६) शान्तिनाथ (१७) कुन्थुनाथ* (१८) अरनाथ (१९) मल्लिनाथ (२०) मुनिसुव्रतनाथ (२१) नमिनाथ (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ तथा (२४) वर्धमान महावीर।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में इनका कहना है कि ये एक राजा थे और अपने पुत्र भरत के लिए सिंहासन रिक्त करके ये सन्यासी हो गये। तेइसवें तीर्थंकर ही वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। इनकी तिथि अनुमानतः ई० पू० आठवीं सदी है।

पार्श्वनाथ—जैसा कि ऊपर बताया गया है पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। कल्पसूत्र के अनुसार ये इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामा तथा पत्नी का नाम प्रभावती था। इनके पिता बनारस के राजा थे। पार्श्वनाथ ने काशी आश्रमपद नामक उपवन में ३½ दिन तक उपवास करने के पश्चात् सन्यास ग्रहण कर लिया। ८३ दिनों तक गहन चिन्तन के उपरान्त उन्हें ज्ञान (कैवल्य) प्राप्त हुआ। पार्श्वनाथ के साथ आठ गण तथा आठ गणधर थे। इनके नाम इस प्रकार थे—(१) शुभ (२) आर्यघोष (३) वशिष्ठ (४) ब्रह्मचारिन (५) सौम्य (६) श्रीधर (७) वीरभद्र तथा (८) यशस्।

इनके साथ अनेक श्रमण तथा सन्यासियों का भी उल्लेख मिलता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्व ने १०० वर्षों की आयु सम्मेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के प्रमुख चार सिद्धान्त थे —(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय तथा (४) अपरिग्रह।

पार्श्वनाथ के सिद्धान्त तथा उनके परवर्ती तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्त में एकसूत्रता स्थापित करनेवाला भी एक प्रमाण उपलब्ध है। पार्श्व के अनुयायी केशि तथा महावीर के शिष्य गौतम का समागम ही हमें पार्श्व तथा महावीर के विचारों की एकसूत्रता का परिचय देता है।

महावीर

महावीर का जन्म काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के घर में हुआ था। सिद्धार्थ कुण्डग्राम (वैशाली) के एक सम्मानित व्यक्ति थे। वे किसी अपने ग्राम के एक छोटे से कुल के प्रधान थे जिसका नाम ज्ञातृक कुल था। सिद्धार्थ की प्रसिद्धि एवं उनका स्थान अपने समय के कुल प्रधानों में इसलिए ऊँचा हो गया था कि उन्होंने प्रसिद्ध लिच्छवि राजा चेटक की बहन से अपना व्याह किया था। महावीर के पिता सिद्धार्थ के दो अन्य नाम लिये जाते हैं—(१) श्रेयांस (२) यशांस। इसी प्रकार इनकी माता के भी

अनेक नाम दिये गये हैं—(१) त्रिशला (२) विदेहदत्ता (३) प्रियकारिणी। माता पिता की भाँति महावीर के भी अनेक नाम बताये गये हैं—(१) वर्धमान जो घर का नाम था (२) श्रमण (३) महावीर।

महावीर की जन्मतिथि पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। डा० मुकर्जी ने इनकी तिथि पर प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर इस प्रकार तर्क उपस्थित किया है — परम्पराओं के अनुसार महावीर का देहावसान विक्रम की मृत्यु से ४७० वर्ष पूर्व हुआ। विक्रम संवत ५८ ई० पू० में १८ वर्ष पश्चात आरम्भ हुआ। इस आधार पर महावीर की निधन तिथि (४७० + ५८+१८) ५४६ ई० पू० निश्चित होती है। जैन लेखक हेमचन्द्र ने चन्द्रगुप्त का शासन ३१३ ई० पू० में मानकर और इसे महावीर की मृत्यु के १५५ वर्ष बाद मान कर यह तिथि ४६८ ई० पू० निर्धारित की है। बौद्ध ग्रन्थों में महावीर बुद्ध तथा अजातशत्रु को समसामयिक कहा गया है और बुद्ध की निधन तिथि ५४३ ई० पू० मानी गई है (जिस पर आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा) अतः जैसा कि प्रारम्भ में ही निष्कर्ष निकाला गया है ५४६ ई० पू० में महावीर का निधन मानना अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है।

महावीर का ब्याह यशोदा से हुआ था जिससे अनोज्जा या प्रियदर्शना नामक पुत्री भी उत्पन्न हुई।[१]

तीस वर्ष गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात माता पिता के स्वर्गवास के उपरान्त अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर वर्धमान ने गृहत्याग दिया। घर छोड़ते समय उनके साथ असंख्य लोग चले जिन्हें वर्धमान ने शालवन में आकर लौटा दिया। आचारांगसूत्र से ज्ञात होता है कि वर्धमान ने इस वन से कुम्मार नामक ग्राम में निवास किया जहाँ इन्होंने एक अटल तपस्वी-सा ध्यान लगाया। लगभग एक वर्ष तक तो ये वस्त्र धारण किये रहे तत्पश्चात इन्होंने अपने वस्त्र सुवर्ण बालुका नामक नदी में फेंक दिया। अब उनके पास कोई पात्र नहीं था। और वे हाथ में ही भोजन करते थे। बारह वर्षों तक की कठिन तपश्चर्या शारीरिक यंत्रणा के पश्चात उन्हें जृम्भिका ग्राम के निकट ऋजुपालिका नामक नदी के तट पर शाल के वृक्ष के नीचे निर्वाण प्राप्त हुआ और वे जिन या अर्हत् हुए।

महावीर को विभिन्न स्थानों में भ्रमण करना पड़ता था। वे वर्षाऋतु में ही किसी स्थान पर रुकते थे। अस्थिक ग्राम में एक वर्षा ऋतु तीन वर्षा ऋतु में चम्पा तथा पृष्ठि चम्पा में १२ वर्षा ऋतुओं में वैशाली तथा वाणिज्यग्राम में १४ वर्षा ऋतुओं में राजगृह तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में ६ वर्षा ऋतुओं में मिथिला में दो में भद्रिका में एक में आलभिका में एक में पणितभूमि में एक में श्रावस्ती तथा एक और अन्तिम वर्षा ऋतु में उन्होंने पावा में विश्राम किया था।[२]

आचारांग सूत्र से ज्ञात होता है कि इस समस्त यात्राओं में महावीर को कितना शारीरिक कष्ट सहना पड़ा था कितनी कठोर यातनायें दुष्ट अपरिचितों आदि से मिली थीं। वे गृहविहीन नग्न होकर भ्रमण करने लगे। लोग उन्हें मारते और चिढ़ाते थे। लाढ़ में वहाँ के निवासियों ने उन पर काफी अत्याचार किया और उन पर कुत्ते छोड़े। वे इनसे पीड़ित थे और उन पर लात से प्रहार करते थे। वे लोग डण्डे मिट्टी ढेला और बरतनों के टुकड़ों से उन्हें मारते थे। नाना प्रकार के अत्याचारों से वे उनका ध्यान भंग करना चाहते थे।

---

१ आचारांग सूत्र २।१५।१५॥ डा० मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

२ उक्त विवरण के लिये देखिये डा० मुकर्जी *Hindu Civilisation* I 232

लाढ़ या राढ़ पश्चिमी बंगाल का भू भाग कहलाता था। यहाँ अनेक बर्बर जातियाँ रहती थीं जो सूती वस्त्रों के स्थान पर घास के वस्त्र पहनती थीं।

महावीर—धर्म प्रचारक के रूप में—महावीर के जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनमें जो कष्ट-सहिष्णुता थी वह सचमुच अनुपमेय थी। महावीर ने अपने ज्ञान का प्रचार हर प्रकार की यातनायें सहकर भी करने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो वे अकेले ही घूमा करते थे पर कुछ काल पश्चात उन्हें घोषाल नाम का एक सहयोगी भी मिल गया। महावीर तथा घोषाल की पहली भेंट नालन्दा में हुई थी। कोल्लाग नामक स्थान पर ये दोनों लगभग ६ वर्षों तक साथ रहे। पर तत्पश्चात इन दोनों उपदेशकों में कुछ मतमतान्तर हो गया और वे पृथक हो गये। घोषाल महावीर की तथा महावीर घोषाल की आलोचना करते थे। घोषाल को ही आजीविक सम्प्रदाय का निर्माता कहते हैं।

महावीर को धर्म प्रचार करने में साधारण कठिनाइयों का ही सामना नहीं करना पड़ा। उस समय भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय तथा कुछ नवीन धार्मिक मत विद्यमान थे। इनमें बुद्ध बार्हस्पत्य नास्तिक या चार्वाक वेदान्तीय सांख्य अपर वादाय आजीवक त्रैराशिक तथा शून्य मत प्रधान हैं। महावीर के समय में जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है अनेक धार्मिक प्रचारक और उनके मत प्रचलित थे। पुरानकस्सप मक्खलि घोषाल अजितकेसकम्बलिन पकुधकच्चायन आदि के नाम मत स्थापना में प्रमुख थे। क्रियावाद अक्रियावाद अज्ञानवाद आदि अनेक वादों का प्रचलन काफी जोर पर था। इन समस्त वादों की प्रतिस्पर्धा में महावीर को अपना मत स्थापित करना था। महावीर के कुछ अनुयायियों का बुद्ध से मिल जाने का भी उल्लेख मिलता है।[१]

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान में योग देने वाला जो सबसे बड़ा कारण है वह राजाओं का सहयोग है। पिछले पृष्ठों में हमने देखा था कि इनके समसामयिक राजा किसी न किसी मत के समर्थक अवश्य थे। इनमें से कुछ तो पूरे अवसरवादी थे और स्वार्थसिद्धि के लिए ही किसी धर्म विशेष को स्वीकार कर लेते थे या उस पर अपनी विशेष कृपादृष्टि रखते थे और कुछ सच्चे अर्थों में अनुयायी थे। महावीर को जो राज-सहयोग मिला उसमें उनके वैवाहिक सम्बन्ध का ही विशेष हाथ है। हम जानते हैं कि महावीर की माता लिच्छिवी राजा चेटक की बहन थी। चेटक की पाँच पुत्रियाँ थीं जिनका ब्याह समय राजकुलों में हुआ था और जो सम्बन्धी होने के नाते महावीर के प्रति विशेष उदार थे। चेटक की एक पुत्री छलना का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से हुआ था। दूसरी पुत्री प्रभावती जो सबसे बड़ी थी सिन्धु-सौवीर के राजा उद्दयन से ब्याही गई थी। इसकी अन्य पुत्रियाँ पद्मावती मृगावती तथा शिवा क्रमशः चम्पा-नरेश दधिवाहन कौशाम्बी नरेश शतानिक तथा अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योत से ब्याही गई थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर का अंग अवन्ति तथा मगध जैसे विशाल राज्यों से महावीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन राजाओं के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सभी आजीवन पक्के जैन मतावलम्बी तो नहीं रह सके पर इन्होंने जैन धर्म के प्रसार में पर्याप्त भाग लिया। पद्मावती तथा दधिवाहन से उत्पन्न चन्दना ही प्रथम जैन भिक्षुणी हुई और चम्पा नगरी जैन धर्म का केन्द्र हो गई। कौशाम्बी के शतानिक तथा उसकी रानी मृगावती सम्भवतः अन्त तक बौद्ध मतावलम्बी रहे। रानी मृगावती भी पति के देहावसान के पश्चात् भिक्षुणी हो गई थी। उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त कुछ गण राज्यों ने भी महा

---

[१] महावग्ग ५।३।१।। मज्झिमनिकाय ५६।

वार तथा उनके धर्म के प्रति काफी सहानुभूति दिखलाई। स्वयं महावीर भी गण राज्यों से अधिक स्नेह रखते थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उन्होंने अपने भ्रमण काल के १२ वर्ष लिच्छवी गण राज्य वैशाली में बिताये। वैशाली के लिच्छवियों पर इनका बहुत बड़ा प्रभाव था। वज्जि तथा ज्ञातृक भी इनका काफी आदर करते थे। मल्लों के देश में ही महावीर ने उनके राजा मस्तिपाल के राजभवन में पंचत्व को प्राप्त किया।

महावीर के धर्म प्रचार में उनके कुछ प्रमुख शिष्यों ने काफी योग दिया। इनमें (१) आनन्द (२) कामदेव (३) चुलानिपिया (४) सुरदेव (५) चुल्लसयग, (६) कुण्डकोलिय (७) सद्दालपुत्त (८) महासयग (९) नन्दिनीपिया (१०) सालहीपिया आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अथक परिश्रम से असंख्य अनुयायी बनाकर तथा कुछ ऐसे शिष्य तैयार करके जो जैन धर्म की ख्याति बना सकें महावीर ने ५४६ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया। इस तिथि को उनकी निधन तिथि मानकर तथा ७२ वर्ष उनका जीवन-काल मानकर महावीर की जन्मतिथि ६१८ ई० पू० मानी गई है।

जैन सिद्धान्त[1]

महावीर केवल दार्शनिक न थे। उन्होंने दर्शन को जीवन की व्यावहारिकता की कसौटी पर कसकर ही किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके सिद्धान्त अधिकांशतः व्यावहारिक हैं। पर कुछ विशुद्ध दार्शनिक हैं जिनकी मौलिकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। परवर्ती भारतीय दर्शन का काफी प्रभाव इन दार्शनिक सिद्धान्तों पर ज्ञात होता है। जैनधर्म के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों पर नीचे प्रकाश डाला जायगा।

आत्मा—आत्मा के सम्बन्ध में मत निर्धारण ईश्वर में विश्वास या अविश्वास पर निर्भर है। जैन सिद्धान्त में सृष्टि का कर्ता धर्ता किसी अलौकिक व्यक्ति की कल्पना नहीं की गई। ईश्वर में उनका कोई विश्वास नहीं है। जब संसार अनादि और अनन्त है तो जीव भी अनादि और अनन्त है। सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र आत्मा या जीव के तीन स्वाभाविक गुण हैं। पर समस्त आत्माओं में ये तीनों गुण अपने स्वाभाविक रूप में इसलिए नहीं मिलते हैं कि कर्मों का गहन आवरण उन्हें ढँके रहता है। इस प्रकार जो जीव समस्त स्वाभाविक गुणों से युक्त रहते हैं वे शुद्ध जीव हैं और उन्हें मोक्ष प्राप्त हो चुका है, जो जीव कुछ शुद्ध हैं और कुछ विकृत हैं वे मिश्र जीव हैं पर जिनमें स्वाभाविक गुण बिल्कुल ही विकृत हो चुके हैं वे अशुद्ध जीव हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि जैन सिद्धान्त आत्मा को विकृत तो मानता है पर विकार दूर भी किया जा सकता है। सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् ज्ञान से सम्यक् चरित्र प्राप्त होना बताया गया है। सम्यक् चरित्र ही मोक्ष-द्वार है। अतः सम्यक् चरित्र पर जैनियों ने अधिक जोर दिया है।

तत्त्व—जैनियों ने सात प्रकार के तत्त्व बतलाये हैं —

(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा तथा (७) मोक्ष।

जीव के सम्बन्ध में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।

अजीव के पाँच भेद हैं—(१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश

---

[1] जैन तत्सम्बन्धी सामग्री डा० ईश्वरीप्रसाद की 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' से ली है जिनका मैं आभारी हूँ।

तथा (५) काल। स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण युक्त द्रव्य पुद्गल कहलाता है। मोटे तौर पर पुद्गल के दो प्रकार हैं—(१) अणु जो अविभाज्य है तथा स्कंध जो अणुओं का समूह है। दूसरा द्रव्य धर्म है। यह अमूर्तीक और सर्वव्यापी है। यह जीव और पुद्गल की गति में सहायता प्रदान करता है अर्थात् चलने में योग देता है। अधर्म भी अमूर्तीक और सर्वव्यापी है और यह पुद्गल तथा जीव की स्थिति में ठहराव लाता है अर्थात् ठहरने में योग देता है। आकाश चौथा द्रव्य है सब पदार्थों को अवकाश देता है। आकाश के दो भेद लोकाकाश तथा अलोकाकाश है। पांचवां द्रव्य काल समस्त द्रव्यों के परिवर्तन में योग देता है।

कर्म के सम्बन्ध में जैनियों का यह मत है कि राग-द्वेष के कारण शरीर, मन या वचन से जो क्रियाएँ की जाती हैं उनमें कर्मपरमाणु आत्मा के पास खिंच आता है। यही आस्रव कहलाता है। कर्म ही भावी जीवन का निर्धारण करता है। इसमें किसी अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं रहता अतः कर्म को सुन्दरतम बनाना चाहिए।

राग-द्वेष आदि से प्रभावित कर्म के आस्रव को अर्थात् क्रिया के प्रकार के अनुसार कर्मरूपी द्रव्य का आत्मा में संलग्न हो जाने को बंधत्व कहते हैं।

राग-द्वेष आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव के रोकने को ही संवर कहते हैं।

जो कर्म हमारी आत्मा से बद्ध है उनको तप, त्याग आदि से दूर करने को निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष कर्म-बंधन (भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म) से मुक्ति पाने को कहते हैं।

ऊपर जैन धर्म के दार्शनिक पक्ष पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। अब उनके व्यावहारिक नियमों (आचार) पर प्रकाश डाला जायगा। महावीर स्वामी ने अपनी आँखों देखा था कि हिन्दू दर्शन के सिद्धान्त साधारण जनता के लिए उसी प्रकार ग्राह्य नहीं जिस प्रकार बुद्ध काल में धर्माधिष्ठाताओं या धर्मरत व्यक्तियों को हैं। जितने नियम हिन्दू विचारकों ने प्रस्तुत किये हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। सभी तप नहीं कर सकते, सब लोग योग नहीं कर सकते और न सभी यज्ञ कर सकते हैं। अतः उन्होंने दो प्रकार से धर्म का उपदेश देना आवश्यक समझा—(१) संन्यासियों के लिए तथा (२) गृहस्थ या श्रावकों के लिए। महावीर ने सर्वसाधारण के लिए निम्नलिखित पाँच (अणुव्रत) नियम बताये—

अणुव्रत—(१) अहिंसा—छुआछूत, बौद्धों की अपेक्षा काफी अधिक मात्रा में अहिंसा पालन पर जोर दिया है।

(२) सत्य—सदा सत्य बोलना चाहिए। अप्रिय निंद्य कठोर एवं पापमयी बात का त्याग करना चाहिए।

(३) अचौर्य या अस्तेय—चोरी करना, चोरों को माल देना, माल में मिलावट करना, कम तौलना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन चोरी में सम्मिलित है और चोरी स्वयं एक प्रकार की हिंसा है क्योंकि इससे भी किसी के हृदय पर आघात पहुँचता है।

(४) ब्रह्मचर्य—काम वासना को मारना ही ब्रह्मचर्य है।

(५) अपरिग्रह—सांसारिक बंधन से मुक्ति पाने को अपरिग्रह कहते हैं। धन सम्पत्ति से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। दूसरों के धन में तनिक ममता नहीं रखनी चाहिए। जीवन के लिए आवश्यक धन तक ही मनुष्य को सीमित रहना चाहिए।

गुणव्रत—उपरोक्त पाँच अणुव्रतों के अतिरिक्त तीन गुणव्रत भी बताये गये हैं—(१) दिग्व्रत—दिशाओं में गमन की मर्यादा बाँधना (२) अनर्थदण्डव्रत—

प्रयोजनहीन पाप-उत्पादक वस्तुओं का परित्याग तथा (३) भोगोपभोगपरिमाण—भोग्य पदार्थों का परिमाण निर्धारण।

शिक्षाव्रत—शिक्षाव्रत चार हैं —

(१) देशावकाशिक—दिशाओं में भ्रमण की मर्यादा में कमी लाना (२) सामायिक—पाप रहित होकर धर्म चिन्तन करना (३) प्रोषधोपवास—विशेष समय पर उपवास करना तथा (४) वैयावृत्य—दान-पूजा आदि करना।

धर्म के लक्षण—जैन सिद्धान्त में उपर्युक्त समस्त तत्त्वों प्रवृत्तियों के आधार पर धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं —

(१) उत्तम क्षमा—क्रोध का पूर्ण हनन (२) उत्तम मार्दव—मान का अन्त कर मधुरता लाना (३) उत्तम आर्जव—कुटिलता के स्थान पर सरलता ग्रहण करना (४) उत्तम शौच—माया के अनेक रूपों वाले बन्धन से मुक्त होकर आत्मा का शुद्धीकरण करना (५) उत्तम सत्य, (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम आकिंचन्य—आत्मा के ज्ञान स्वाभाविक गुणों में विश्राम करना और यह समझना कि इसके अतिरिक्त हमारा कुछ नहीं और न मैं किसी का हूँ (९) उत्तम ब्रह्मचर्य तथा (१०) उत्तम त्याग।

आभ्यन्तर तप—महावीर ने तप से ज्ञान प्राप्त किया था और जिन कहलाये। अतः जैन धर्म में तप पर भी विशेष जोर दिया गया है। स्वाध्याय को तप में ऊँचा स्थान दिया गया है और इसके पाँच भेद बताये गये हैं—पढ़ना, पूछना, अनुप्रेक्षा (बार-बार अर्थ का मनन करना) अभ्यास तथा धर्मोपदेश। इसके अतिरिक्त पाँच अन्य आभ्यन्तर तप हैं —

(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य अर्थात् ग्लानिरहित भाव से दुखियों का उपकार करना (४) कायोत्सर्ग अर्थात् माता-भाई आदि से ममत्व भाव और समय आने पर भोजन आदि छोड़कर शरीर छोड़ देना तथा (५) ध्यान चिन्तन अनेक भेद बताये गये हैं। ध्यान में एक प्रकार से समस्त जैन सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति कर दी गई है।

परिषह—ऊपर जो नियम बताये गये हैं वे साधारण लोगों के लिए हैं पर भिक्षुओं के लिए कुछ अधिक कठोर नियम बनाये गये हैं। ये बाईस परिषह हैं जिन्हें संन्यासियों को जीतना आवश्यक है —

(१) क्षुधा (२) तृषा (तृष्णा) (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्न (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) दंशमशकादि (१०) आक्रोश (११) रोग (१२) मल (१३) तृणस्पर्श (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कार पुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वधबंधन (२१) निषद्या तथा (२२) स्त्री।

कर्म—कर्म के बन्धन से मुक्ति पाना है। उसका प्रधान स्वरूप ऊपर के नियमों सिद्धान्तों का मनन हुआ था अतः कर्म के सम्बन्ध में भी जैनियों की स्पष्ट धारणा है और जिसका विशद विवरण जैन ग्रन्थों में मिलता है। इस सम्बन्ध में यह प्रकरण पूर्ण है अतः इसकी पूर्ण व्याख्या करना विषय के क्षेत्र से बाहर है। केवल कुछ ग्रन्थों में विषमतर हो गया है। अतः यहाँ केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि जैनियों ने कर्म के आठ भेद बताये हैं —

(१) ज्ञानावर्णीय कर्म—जिससे आत्मा पर सूक्ष्म पर्दा पड़ा रहता है जिससे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता।

(२) दर्शनावर्णीय कर्म—जिससे यथार्थ तत्वज्ञान नहीं हो पाता।

(३) वेदनीय कर्म—जिसमे कुछ दिन मल ही सुख का अनुभव हो पर अन्त दुःख से होता है।

(४) आयु कर्म—जिससे आवागमन का कारण जुटता है।

(५) नामकर्म—जिससे आत्मा देव मनुष्य आदि की गतियाँ निर्धारित होती हैं।

(६) गोत्रकर्म—जन्म व गोत्र की उच्चता लघुता का निश्चय होता है।

(७) अन्तराय कर्म—जिससे सत्कर्म दान लाभ में बाधा उपस्थित होती है तथा

(८) मोहनीय—जिससे आत्मा मदिरलसित-सी हो जाती है।

गुण-स्थान—इसी प्रकार चौदह गुण-स्थानों का उल्लेख किया गया है। गुणस्थान से जीव की विभिन्न स्थितियों का अभिप्राय है। ये १४ गुणस्थान निम्नलिखित हैं —

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरति (५) देशविरत (६) प्रमत्तसयत (७) अप्रमत्तसयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवर्त्तिकरण (१०) सूक्ष्म साम्पराय (११) उपशान्तमोह (१२) क्षीणमोह (१३) सयोगि केवलिजिन तथा (१४) अयोगीकेवलिजिन। चेतनावस्था से लेकर (अर्थात जबसे मनुष्य में झूठ सत्य पाप पुण्य आदि सम्बन्धी क्रियाओं का बोध होता है) मोक्ष के मार्ग तक की समस्त अवस्थाओं का बोध उपरोक्त १४ गुण-स्थानों में कराया गया है।

ज्ञान—ज्ञान का स्थान जैन सिद्धान्त में काफी महत्वपूर्ण है। ज्ञान के पाँच भेद बताये गये है—

(१) मति जिसमें पाँच इन्द्रियों तथा मन से ज्ञान प्राप्त होता है। इसके भी चार उपभेद हैं—अवग्रह ईहा अवाय तथा धारणा।

(२) श्रुतज्ञान—इसका सम्बन्ध मतिज्ञान से सीधा है क्योंकि उसके निमित्त से ही यह होता है। इसके दो भेद हैं—अंगबाह्यश्रुत तथा भावश्रुत।

(३) अवधिज्ञान—जो इन्द्रिय के सहयोग बिना ही आत्मा को हो जाता है।

(४) मनःपर्ययज्ञान—यह भी इन्द्रियजन्य नहीं होता अपितु आत्मा के स्वाभाविक विकास से होता है।

(५) कैवल्यज्ञान—जब आत्मा का चरमोत्कर्ष हो जाता है तब उसे केवल या कैवल्य ज्ञान प्राप्त होता है। तब उसमें भूत भविष्य जानने की क्षमता तक आ जाती है। उपरोक्त भेदों के भी अनेक उपभेद हैं जिनके सम्बन्ध में यहाँ प्रकाश डालना वांछित नहीं।

प्रमाण—पदार्थ व सर्वदेश के ज्ञान प्राप्त करने की विधि को ही प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष तथा (२) परोक्ष। इनके उपभेदों के अन्तर्गत उपरोक्त पाँचों प्रकार की ज्ञानगत स्थितियाँ आ जाती हैं। अतः उनका पुनरावर्तन आवश्यक नहीं।

नय—प्रमाण द्वारा जिस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उस पदार्थ के किसी एक धर्म का विशिष्टरूप से जानना नय कहलाता है। द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय इसके दो भेद हैं।

स्यादवाद—एक ही वस्तु को यदि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाय तो उसका मूलरूप हमारे सम्मुख नये-नये ढंग से आयेगा। एक वस्तु के कई गुण या धर्म हो सकते हैं, अतः जैनियों ने इस पर जोर दिया कि किसी भी वस्तु को केवल एक ही दृष्टि से देखकर मत छोड़ो। हिन्दू आचार्यों ने इसे संशयवाद या अनिश्चयवाद कहकर इसकी कड़ी आलोचना की पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह बिल्कुल सत्य है।

—

महावीर की मृत्यु के पश्चात जैनधर्म की अवस्था।

महावीर स्वामी के सहयोगी या शुभचिन्तक राजाओं के विषय में पिछले पन्नों में प्रकाश डाला गया है और वहीं यह भी बताया गया है कि गण राज्यों की श्रद्धा इनके प्रति कितनी अधिक थी। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि उनकी मृत्यु के पश्चात जैन धर्म की क्या दशा रही।

महावीर स्वामी के ग्यारह शिष्यों में से उनकी मृत्यु के पश्चात केवल एक आर्य सुधर्मन बच गया था जो महावीर के पश्चात् जैनसंघ का आचार्य हुआ। सम्भवतः महावीर के जीवनकाल में उनके जामाता जमालि तथा एक अन्य साथी गोशालपुत्र ने जैनसंघ में कुछ उपद्रव मचाया था। इसका प्रामाणिक कारण नहीं ज्ञात होता है। यह संघ में प्रधानता प्राप्त करने के लिए तो नहीं रहा? जैन अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात भी इनके धर्म को राजकीय सहयोग मिलता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदायिन को कट्टर अनुश्रुतियों में जैनमतावलम्बी माना गया है। इस प्रकार शक्तिशाली मगध राज्य में प्रारम्भ से ही जैन धर्म का पक्ष होकर उदायिन तक चलती रही और तत्पश्चात जब नन्दों का उदय हुआ तो उन्होंने भी इसे प्रश्रय दिया जैसा कि हाथी गुम्फा के अभिलेख में इसका संकेत मिलता है। उक्त अभिलेख में प्रथम जिन की मूर्ति का नन्द राजा के अधिकार में होना बताया गया है। मगध में जैनधर्म ने निश्चय ही अपनी जड़ जमा ली थी (यदि जैन अनुश्रुतियों पर विश्वास किया जाय) और मौर्य साम्राज्य का संस्थापक शक्तिशाली विजयी का विजेता चन्द्रगुप्त ने भी अन्त में जैन धर्म स्वीकार कर लिया जैसा कि आगे बताया जायेगा।

जैनाचार्य सुधर्मन का सम्भवतः ५०८ ई० पू० में देहावसान हो गया और तत्पश्चात उनके उत्तराधिकारी जम्बू ४६४ ई० पू० में मरे। इसके बाद हम जैन संघ का पर्याप्त विवरण प्राप्त करनेवाला ग्रन्थ कल्पसूत्र मिलता है जिस पर अलग प्रकाश डाला जायगा।

पाटलिपुत्र की संगीति—कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु तथा सम्भूतिविजय इन दोनों भद्रों (स्थविरों) के निरीक्षण में बहुत दिनों तक जैनसंघ चलता रहा। सम्भूतिविजय की मृत्यु चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में हुई थी। इधर भद्रबाहु मगध के १२ वर्षीय भीषण अकाल के समय में उत्पन्न होनेवाले अनैतिक आचरणों के भय से दक्षिण की ओर श्रवण-बेलगोला को चले गये। इनके साथ इनके संघ के अनेक सदस्य गये थे। अकाल समाप्त हो जाने के पश्चात् इनके समस्त अनुयायी तो लौट आये पर केवल सम्राट चन्द्रगुप्त ने वहीं एक सच्चे भिक्षु की भाँति उपवास द्वारा शरीर त्याग दिया था। ९वीं शताब्दी ईस्वी के एक अभिलेख से मैसूर में चन्द्रगिरि की चोटी पर भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के पद चिह्नों के पाये जाने का उल्लेख किया गया है। भद्रबाहु भी मगध लौटकर नहीं आये वरन् वे नेपाल चले गये जहाँ तप द्वारा उन्होंने शरीर त्याग दिया। अपनी मृत्यु से पूर्व ही इन्होंने स्थूलभद्र को संघ का नेतृत्व प्रदान कर दिया था। इसी बीच में जैनसंघ में अनेक नये परिवर्तन उपस्थित हो चुके थे। भद्रबाहु के साथ गये हुए जैन संन्यासी जब लौटकर मगध आये तो यहाँ रुके हुए जैन संन्यासियों ने उनकी कटु आलोचना की क्योंकि उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। नियमों एवं सिद्धान्तों में मतैक्य न होने का कारण प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान का अभाव ही था। इस प्रकार के पारस्परिक विवाद का अन्त कर धर्म के सिद्धान्तों का एक निश्चित रूप देने के अभिप्राय से ही मगध के संन्यासियों ने पाटलिपुत्र में एक बैठक की आयोजना की। यह प्रथम सभा थी जो जैन धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उक्त बैठक में जैन छूटे

संन्यासियों ने भाग नहीं लिया। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में (जिनमें ११ अंग तथा १४ पूर्व सम्मिलित हैं) केवल भद्रबाहु को ही योग्यता प्राप्त थी। अन्य किसी व्यक्ति को इनका ज्ञान नहीं था। स्थूलभद्र को भी भद्रबाहु ने केवल प्रथम १० पर्वों की शिक्षा का प्रचार लोगों में करने को कहा था जब वे दोनों नेपाल में मिले थे। इस प्रकार पाटलिपुत्र में जो संगीति हुई और उसमें जिस सिद्धान्त का निरूपण हुआ वह काफी विशृंखल था। अब वस्त्रधारी जैनियों को श्वेताम्बर तथा प्राचीन संन्यासियों को जो अब भी नग्न रहते थे दिगम्बर कहा जाने लगा।

वल्लभी की संगीति—पाटलिपुत्र के पश्चात् जैन धर्मानुयायियों की दूसरी बैठक गुजरात में वल्लभी नामक स्थान में हुई। यह काफी दिनों पश्चात् लगभग छठी शती ई० पू० के आरम्भ में देवर्धिगणि या क्षमाश्रमण के नेतृत्व में हुई थी। इस संगीति का उद्देश्य बिखरे हुए तथा अन्य नियमों को प्रामाणिक ढंग से निष्पन्न करना था। श्वेताम्बरों की पहली बैठक में संकलित सिद्धान्तों का ही यह पुनरावृत्ति (लिपिरूप में) रहा। अतः इसमें भी प्राचीनतम जैन साहित्य नहीं आ सका।

जैनधर्म का क्षेत्र—यह बताया जा चुका है कि अपने समय में महावीर ने अंग अवन्ति मगध आदि राज्यों पर अपना प्रभाव छोड़ा था। गणराज्यों में मल्ल लिच्छवी आदि उनसे बहुत प्रभावित थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी मगध के मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के अन्त में जैन होने का बोध होता है। पर जैनधर्म का प्रसार-क्षेत्र केवल यहाँ तक सीमित न था। उज्जैन तथा मथुरा उन दिनों जैन धर्म का केन्द्र हो गया था। मथुरा में इतना अधिक मात्रा में जैनअभिलेख प्राप्त हुए हैं कि उन उपरोक्त मत का समर्थन स्पष्टतया हो जाता है। उज्जैन और जैन सन्त कालकाचार्य का सम्बन्ध तो एक बहुत ही रोचक कथा जो कि जैन अनुश्रुतियों में दर्शाया गया। जैनधर्म का प्रचार भारत में काफी हुआ और वास्तव में यह अपने प्रतिस्पर्धी बौद्ध धर्म की अपेक्षा भारत में अधिक सफल हो सका। भारत में आज भी इस धर्म के अनुयायी काफी संख्या में पाये जाते हैं। जैन धर्म की इस सफलता के मूल में हिन्दू धर्म से इसका साम्य ही है। इसमें कठिन तप ज्ञान मोक्ष आदि की जो बातें बताई गई हैं वे हिन्दुओं को नवीन या विचित्र नहीं लगीं और वे अपनी रूढ़िवादिता को न त्यागते हुए भी इस नवीन धर्म को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो सके। आज इसीलिए भारत के बड़े बड़े नगरों में जैन मन्दिर धर्मशालायें पाठशालायें आदि काफी हैं।

विद्वान् अधिकतर जैनधर्म को पृथक् धर्म स्वीकार करने में हिचकते थे। लेकिन अब यह पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि बौद्धधर्म की भाँति ही जैनधर्म भी पूर्णतया पृथक् धर्म था। देखिये —

> Buddhism and Jainism were not related to each other as parent and child but rather as children of common parent born at different intervals though at about the same period of time marked by distinct characteristics though possessing a strong family of resemblances. —*M. Williams*

हण्टर महोदय ने भी हमारे इसी मत का अनुमोदन किया है —

> Jainism is as much independent from other sects especially from Buddhism as can be expected from any sects. Notwithstanding certain similarities it differs from Buddhism in its ritual objects of worship. —*H. W. Hunter*

१० | बौद्ध धर्म का अभ्युदय

छठी शताब्दी ई० पू० को धार्मिक क्रान्ति का युग मानने में हमें जो प्रेरणा बौद्ध धर्म के अभ्युदय से होती है उतनी अन्य किसी धर्म से नहीं। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस धर्म ने एक बार विश्व के अधिकांश भागों को प्रभावित किया था और इसके अमर सन्देश से सम्पूर्ण विश्व को शान्ति-स्थापना की प्रेरणा मिली थी। पहले बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जायगा।

गौतम बुद्ध

गण राज्यों का उल्लेख करते हुए यह बताया गया था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्यों के गण राज्य के 'राजन' थे। इनकी माता का नाम मायादेवी था जो कोलिय गण राज्य की राजकुमारी थी। सुत्त निपात में गौतम के कुल को उच्च एवं अमीर बताया गया है।

गौतम की जन्म तिथि का निश्चय उनकी मृत्यु तिथि के आधार पर इस प्रकार किया गया है —

सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार गौतम की निधन तिथि ५४३ ई० पू० है और वे ८० वर्ष तक जीवित रहे। अतः जन्म तिथि ६२३ ई० पू० हुई। पर इस सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है और कुछ यह तिथि ५६६ ई० पू० बताते हैं। परिनिर्वाण की तिथि ४८३ ई० पू० भी मानी गई है।

मज्झिम निकाय तथा निदान कथा से महात्मा बुद्ध के जन्म की कथा का बोध होता है। जिस समय महामाया अपने मायके देवदह जा रही थी उसी समय रास्ते में लुम्बिनी में गौतम का जन्म हुआ। दुर्भाग्यवश जन्म के सात दिन पश्चात् ही माता का देहान्त हो गया और बालक का पालन-पोषण उसकी विमाता महाप्रजापती गौतमी द्वारा होने लगा। महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म-स्थान का एक प्रमुख साक्ष्य अशोक के लुम्मिनी या लुम्बिनी (रुम्मिनदेई) अभिलेख (२५० ई० पू०) है। उक्त अभिलेख में "हिद बुधे जाते सावयमुनीति" (अर्थात् शाक्य मुनि बुद्ध यहाँ पैदा हुए थे) उत्कीर्ण है। यह स्थान नेपाल में बस्ती जिले में स्थित है।

अंगुत्तर निकाय १।१४५।। से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध का बाल्यजीवन विलासिता की गोद में बीता। हर प्रकार के सुन्दर वस्त्रों का वे उपभोग करते थे और नृत्य संगीत का भी आनन्द लेते थे। इनकी पत्नी के कई नाम बताये गये हैं। बुद्धवंश २६।१५ में भद्दकच्चा, जातक-टीका २।८१, ४८५ तथा महावंश-सुत्त में बिम्बा, ललितविस्तर में गोपा तथा उत्तरी बौद्ध-ग्रन्थों में यशोधरा बताया गया है।[१] मज्झिम निकाय की कथा काफी प्रचलित है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार जरा, रोग तथा मृत्यु आदि के दारुण दृश्य को नग्न रूप में देखकर गौतम जीवन के प्रति उदासीन हो गये थे।

---

[१] देखिये राधाकुमुद मुकर्जी *Hindu Civilisation* p. 24 जिसके आधार पर उक्त विवरण दिया गया है।

जिस समय गौतम घर छोड़ने का निश्चय कर चुके थे उसी समय उन्हें पुत्रोत्पत्ति की सूचना मिली और गौतम के मुँह से निकला 'राहुल' (बन्धन) जो बालक का नाम पड़ गया। पर ये सारे बन्धन गौतम को न बाँध सके और उन्होंने २९ वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया।

ज्ञान की खोज में—ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि शाक्य, कोलिय, मल्ल आदि के राज्यों को पार करते हुए वे अनवमेय नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ अपना समस्त आवरण उतारकर इन्होंने छन्दक को दे दिया और स्वयं पीत वस्त्र धारण कर लिया।

सर्वप्रथम गौतम आलार कालाम नामक संन्यासी के पास आये। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हीं शिष्यों के साथ आलार कालाम से गौतम भी शिक्षा लेने लगे पर जिस प्रकाश की खोज में गौतम निकले थे वह यहाँ नहीं मिला। अतः वे और आगे बढ़े। इन्हें एक दूसरा धर्मशिक्षक मिला। इस धर्माचार्य का नाम उद्रक रामपुत्त था। जिसके ७०० शिष्य थे। यहाँ भी गौतम को निराश होना पड़ा। तत्पश्चात गौतम मगध राज्यान्तर्गत उरुवेला नामक स्थान पर आये। यहाँ उन्होंने कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। अन्न का बिल्कुल ही त्याग कर दिया और केवल रस से प्राण रक्षा करने लगे। कुछ ही दिनों में उनका शरीर सूखकर काँटा सा हो गया। यहाँ उनके साथ इनके पाँच ब्राह्मण साथी भी रहे। पर गौतम ने देखा कि इस कठिन तपस्या से भी कोई लाभ नहीं होने को, अतः उन्होंने तपस्या भंग करके आहार ग्रहण किया जिस पर उनके ब्राह्मण साथियों ने उन्हें पदू कहकर उनका साथ छोड़ दिया। बुद्ध का ६ वर्ष इसी प्रकार बीत गया। ३५वें वर्ष में एक दिन जब वे एक पीपल के पेड़ के नीचे (जो आगे चलकर बोधिवृक्ष कहलाया) बैठे थे तो उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। गौतम को जिस प्रकाश की खोज थी वह मिल गया। इस ज्ञान प्राप्ति के पूर्व की अनेक कथायें महावस्तु तथा जातक आदि में मिलती हैं।

धर्मप्रचार—संसार के दुःख से क्षुब्ध होकर ही महात्मा बुद्ध ने भोग विलास को ठुकराया था और अब वे उस प्रकाश को जिससे उन्होंने जीवन के सत्य का स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था संसार के प्राणी प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। महात्मा गौतम बुद्ध को वे पुराने साथी स्मरण रहे। अतः सर्वप्रथम उन्होंने उनको ही अपने ज्ञान की शिक्षा देने का विचार किया। वे पाँचों ब्राह्मण बनारस के निकट सारनाथ के ऋषिपत्तन मृगदाव में मिले जहाँ बुद्ध भगवान् ने उन्हें अपना प्रथम उपदेश दिया। यह धर्म चक्रप्रवर्तन के नाम से विख्यात है।

सारनाथ में महात्मा गौतम बुद्ध के अनेक अनुयायी बनारस में मिले जिनमें यश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या अब लगभग ६० तक पहुँच गई। इनको प्रथम बौद्धसंघ का भिक्षु कहा जा सकता है। बुद्ध बनारस से पुनः उरुवेला लौटे। मार्ग में इनको [illegible]० अनुयायी मिले जिनमें भद्र प्रधान था। उरुवेला में तो गौतम बुद्ध के पहुँचने से एक धार्मिक क्रान्ति-सी आ गई और जटिल कस्सप के ५०० शिष्य नदी के ३०० शिष्य गया के २०० शिष्य अर्थात कुल १०[illegible] जटिल सम्प्रदायवाले अपने गुरुओं के साथ बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। इनके साथ गौतम बुद्ध राजगृह को चले गये जहाँ उनकी बिम्बिसार से भेंट हुई। यहाँ सारिपुत्र तथा मौद्गलायन नामक दो व्यक्ति मिले जिन्होंने महात्मा बुद्ध का धर्म प्रचार में बड़ा योग दिया जिसके फलस्वरूप संजय तथा उनके २[illegible] अनुयायी बौद्ध हो गये। विभिन्न गण राज्यों का भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु आये। अब तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका प्रचार हो चुका था। कपिलवस्तु में उन्होंने धर्मोपदेश दिया। इनके उपदेश से इनका सौतेला भाई नन्द तथा पुत्र राहुल भिक्षु हो गये। नन्द उसी माता का पुत्र था जिसने

गौतम बुद्ध का पालन-पोषण किया था। जिस समय नन्द भिक्षु हुआ उसी दिन उसका राज्याभिषेक तथा एक अत्यन्त रूपवती लड़की से ब्याह होना निश्चित था। तत्पश्चात् जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु से राजगृह लौट रहे थे तो मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर उन्होंने शाक्य राजा भद्दिय को उसके सहचरों अनिरुद्ध, आनन्द, उपालि तथा देवदत्त के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित किया और वे बौद्ध धर्म के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। धर्म प्रचार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना राजगृह में हुई। बुद्ध भगवान् सीतावन (राजगृह) में ठहरे थे। यहीं उनसे प्रभावित होकर सुदत्त नामक एक व्यापारी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इस सुदत्त के दान की [illegible] कथा का बोध होता है। फिर इससे ज्ञात होता है कि सुदत्त ने बौद्ध भिक्षुओं के निमित्त जेत राजकुमार के उपवन को लेने की इच्छा प्रकट की पर जेत ने उस उपवन का मूल्य बताया उसको पूर्णतया ढक देने भर सोना। सुदत्त तैयार हो गया। इस कथा के प्रमाण-स्वरूप भरहुत की प्रस्तरमूर्ति है जिस पर उत्कीर्ण है—

जेतवन अनथपेण्डिको देति कोटिसम्थतेन केता (अनाथपिण्डिक या अनाथपिण्डद सुदत्त की उपाधि थी।[1]

इसी प्रकार पूर्वाराम में भी गौतम बुद्ध को बहुत बड़ा दान विशाखा द्वारा प्राप्त हुआ। अब राजगृह, कपिलवस्तु तथा श्रावस्ती तीनों स्थानों पर बौद्ध संघ स्थापित हो चुके थे। यह महात्मा गौतम बुद्ध के केवल दो वर्ष के प्रयास का प्रतिफल था।

अब तक भगवान् बुद्ध ने केवल पुरुषों को ही भिक्षु बनने की आज्ञा दी थी। पर धर्मप्रचार के पंचम वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिससे द्रवित होकर महात्मा बुद्ध ने नारियों को भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। पर भिक्षुणी होने की आज्ञा देने में महात्मा बुद्ध को कितना संकोच था और इसके लिए आनन्द को कितना परिश्रम करना पड़ा यह उल्लेखनीय है। वैशाली में कूटागारशाला में भगवान् बुद्ध ठहरे थे कि उन्हें पिता के देहावसान की सूचना मिली। तभी इन्हें शाक्यों एवं कोलियों में रोहिणी नदी के जल के लिए जो झगड़ा चल रहा था उसका अन्त करने के निमित्त घर लौटना पड़ा। यहीं आने पर विधवा माता महाप्रजापति गौतमी ने बुद्ध से भिक्षुणी होने की प्रार्थना की पर भगवान् बुद्ध ने तीनों बार उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। अन्त में आनन्द के बहुत कहने पर उसे भिक्षुणी होने की आज्ञा मिली। भिक्षुणी होने की आज्ञा मिल जाने पर गौतम की पुत्री नन्दा तथा स्वयं बुद्ध की पत्नी गोपा ने भी बौद्ध संघ में प्रवेश किया। थेरीगाथा में लगभग ७०–८ भिक्षुणियों का उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध का भ्रमण चलता रहा और वे उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में अपने उपदेश देते रहे। बौद्ध ग्रन्थों में इन यात्राओं का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। अन्त में भगवान् गौतम बुद्ध श्रावस्ती में स्थायी रूप से रहने लगे। अब तक गौतम बुद्ध का धार्मिक नायक के रूप में निर्वाचन हो चुका था। स्वभावतः जो [illegible] भी बुद्ध भगवान् का विरोधी हो गया। मगध राज्य में अजातशत्रु तथा उसके पिता बिम्बिसार में इसने कितनी कटुता उत्पन्न कर दी थी इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। वह संघ पर प्रधानता प्राप्त करने के लिए सदा [illegible] था।

अजातशत्रु पाटलिग्राम में लिच्छवियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए किला बनवा रहा था। वहीं महात्मा गौतम बुद्ध भी आये थे और उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि वह

---

1 [illegible]

जिस समय गौतम घर छोड़ने का निश्चय कर चुके थे उसी समय उन्हें पुत्रोत्पत्ति की सूचना मिली और गौतम के मुँह से निकला 'राहुल' (बन्धन) जो बालक का नाम पड़ गया। पर ये सारे बन्धन गौतम को न बाँध सके और उन्होंने २९ वर्ष की अवस्था में घर छोड़ दिया।

ज्ञान की खोज में—ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि शाक्य, कोलिय, मल्ल आदि के राज्यों को पार करते हुए वे अनुवैनेय नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ अपना समस्त आवरण उतारकर इन्होंने छन्दक को दे दिया और स्वयं पीत वस्त्र धारण कर लिया।

सर्वप्रथम गौतम आलार कालाम नामक संन्यासी के पास आये। इनके ३० शिष्य थे। इन्हीं शिष्यों के साथ आलार कालाम से गौतम भी शिक्षा लेने लगे पर जिस प्रकाश की खोज में गौतम निकले थे वह यहाँ नहीं मिला। अतः वे और आगे बढ़े। इन्हें एक दूसरा धर्मशिक्षक मिला। इस धर्माचार्य का नाम उद्रक रामपुत्त था, जिसके ७०० शिष्य थे। यहाँ भी गौतम को निराश होना पड़ा। तत्पश्चात् गौतम मगध राज्यान्तर्गत उरुवेला नामक स्थान पर आये। यहाँ उन्होंने कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। अन्न का बिल्कुल ही त्याग कर दिया और केवल रस से प्राण रक्षा करने लगे। कुछ ही दिनों में उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया। यहाँ इनके साथ इनके पाँच ब्राह्मण साथी भी थे। पर गौतम ने देखा कि इस कठिन तपस्या से भी कोई लाभ नहीं होने को। अतः उन्होंने तपस्या भंग करके आहार ग्रहण किया जिस पर उनके ब्राह्मण साथियों ने उन्हें पथभ्रष्ट कहकर उनका साथ छोड़ दिया। बुद्ध का ६ वर्ष इसी प्रकार बीत गया। ३५वें वर्ष में एक दिन जब वे एक पीपल के पेड़ के नीचे (जो आगे चलकर बोधिवृक्ष कहलाया) बैठे थे तो उन्हें 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। गौतम को जिस प्रकाश की खोज थी वह मिल गया। इस ज्ञान प्राप्ति के पूर्व की अनेक कथायें महावस्तु तथा जातक आदि में मिलती हैं।

धर्मप्रचार—संसार के दुःख से क्षुब्ध होकर ही महात्मा बुद्ध ने भोग विलास को ठुकराया था और अब वे उस प्रकाश को जिससे उन्होंने जीवन के सत्य का स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था संसार के प्राणी प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। महात्मा गौतम बुद्ध को वे पुराने साथी स्मरण हुए। अतः सर्वप्रथम उन्होंने उनको ही अपने ज्ञान की शिक्षा देने का विचार किया। वे पाँचों ब्राह्मण बनारस के निकट सारनाथ के ऋषिपत्तन मृगदाव में मिले जहाँ बुद्ध भगवान ने उन्हें अपना प्रथम उपदेश दिया। यह धर्मचक्रप्रवर्तन के नाम से विख्यात है।

तत्पश्चात् महात्मा गौतम बुद्ध के अनेक अनुयायी बनारस में मिले जिनमें यश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या अब लगभग ६० तक पहुँच गई। इनको प्रथम बौद्धसंघ का भिक्षु कहा जा सकता है। बुद्ध बनारस से पुनः उरुवेला लौटे। रास्ते में इनको [illegible]० अनुयायी मिले जिनमें भद्र प्रधान था। उरुवेला में तो गौतम बुद्ध के पहुँचते ही एक धार्मिक क्रान्ति सी आ गई और अग्नि कस्सप के ५०[illegible] शिष्य, नदी के [illegible]० शिष्य, गया के २०० शिष्य अर्थात् कुल १०[illegible] जटिल सम्प्रदायवाले अपने गुरुओं के साथ बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। इनके साथ गौतम बुद्ध राजगृह को चल पड़े जहाँ उनकी बिम्बिसार से भेंट हुई। यहाँ सारिपुत्त तथा मोग्गल्लायन नामक दो व्यक्ति मिले जिन्होंने महात्मा बुद्ध को धर्म प्रचार में बड़ा योग दिया जिसके फलस्वरूप संजय तथा उसके २०० अनुयायी बौद्ध हो गये। विभिन्न गण राज्यों का भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु आये। अब तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका प्रचार हो चुका था। कपिलवस्तु में उन्होंने धर्मोपदेश दिया। इनके उपदेश से इनका सौतेला भाई नन्द तथा पुत्र राहुल भिक्षु हो गये। नन्द उसी माता का पुत्र था जिसने

गौतम बुद्ध का पालन-पोषण किया था। जिस समय नन्द भिक्षु हुआ उसी दिन उसका राज्याभिषेक तथा एक अत्यन्त रूपवती लड़की से ब्याह होना निश्चित था। तत्पश्चात् जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु से राजगृह लौट रहे थे तो मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर उन्होंने शाक्य राजा भद्दिय को उसके सहचरों अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि तथा देवदत्त के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित किया और वे बौद्ध धर्म के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। धर्म प्रचार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना राजगृह में हुई। बुद्ध भगवान् सीतावन (राजगृह) में रुके थे। यहीं उनसे प्रभावित होकर सुदत्त नामक एक व्यापारी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इस सुदत्त के दान की महती कथा का बोध होता है। फिर इससे ज्ञात होता है कि सुदत्त ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए जेत राजकुमार के उपवन को लेने की इच्छा प्रकट की। पर जेत ने उस उपवन का मूल्य बताया उसको पूर्णतया ढक देने भर सोना। सुदत्त तैयार हो गया। इस कथा के प्रमाण-स्वरूप भरहुत की प्रस्तरमूर्ति है जिस पर उत्कीर्ण है—

जेतवन अनथपेंडिको देति कोटिसमुथ्यतेन केता (अनाथपिण्डिक या अनाथपिण्डिद सुदत्त की उपाधि थी।)[१]

इसी प्रकार पूर्वाराम में भी गौतम बुद्ध को बहुत बड़ा दान विशाखा द्वारा प्राप्त हुआ।

अब राजगृह, कपिलवस्तु तथा श्रावस्ती नामक स्थानों पर बौद्ध संघ स्थापित हो चुके थे। यह महात्मा गौतम बुद्ध के केवल दो वर्ष के प्रयास का प्रतिफल था।

अब तक भगवान् बुद्ध ने केवल पुरुषों को ही भिक्षु बनने की आज्ञा दी थी। पर धर्मप्रचार के पंचम वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिससे द्रवित होकर महात्मा बुद्ध ने नारियों को भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। पर भिक्षुणी होने की आज्ञा देने में महात्मा बुद्ध को कितना संकोच था और इसके लिए आनन्द को कितना परिश्रम करना पड़ा यह उल्लेखनीय है। वैशाली में कुटागारशाला में भगवान् बुद्ध ठहरे थे कि उन्हें पिता के देहावसान की सूचना मिली। तभी उन्हें शाक्यों एवं कोलियों में रोहिणी नदी के जल के लिए जो झगड़ा चल रहा था उसको अन्त करने के लिए घर लौटना पड़ा। यहीं आने पर विधवा माता महाप्रजापति गौतमी ने बुद्ध से भिक्षुणी होने की प्रार्थना की पर भगवान् बुद्ध ने तीनों बार उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। अन्त में आनन्द के बहुत कहने पर उसे भिक्षुणी होने की आज्ञा मिली। भिक्षुणी होने की आज्ञा मिल जाने पर गौतम की पत्नी नन्दा तथा स्वयं बुद्ध की पत्नी यशोधरा ने भी बौद्ध संघ में प्रवेश किया। थेरीगाथा में लगभग ७०-७३ भिक्षुणियों का उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध का भ्रमण चलता रहा और वे उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में अपने उपदेश देते रहे। बौद्ध कथाओं में इन यात्राओं का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। अन्त में भगवान् गौतम बुद्ध श्रावस्ती में स्थायी रूप से रहने लगे। अब तक आनन्द बुद्ध का सर्वप्रिय शिष्य के रूप में निर्वाचित हो चुका था। देवदत्त जो उनका सम्बन्धी था बुद्ध भगवान् का विरोधी हो गया। मगध राज्य में अजातशत्रु तथा उसके पिता बिम्बिसार में इसने विरोध करना उत्पन्न कर दी थी इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। वह संघ में सब प्रकार प्रधानता प्राप्त करने के लिए सदा तत्पर था।

अजातशत्रु पाटलिग्राम में लिच्छवियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए किलेबन्दी करवा रहा था। वहीं महात्मा गौतम बुद्ध भी आये थे और उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यह

---

[१] भरहुत

बहुत ही उन्नतिशील जगह होगा। यहाँ से वे वैशाली गये जहाँ बेलुआ नामक गाँव में वे बीमार पड़े। यहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की कि अब महीने के अन्त में उनका परिनिर्वाण होगा। यहाँ से बुद्ध अनेक ग्रामों से होते हुए पावा आये जहाँ चुन्द लुहार का दिया हुआ अन्तिम भोजन किया। भोजन करने के बाद ही उन्हें उदर रोग हो गया। यह पेचिश बड़ी भयानक सिद्ध हुई। पर महात्मा बुद्ध ने यहाँ रुकना उचित नहीं समझा

बुद्ध का अपने अन्तिम

का वहाँ पर सब मौन

अन्तिम क्षण है तुम

कुशीनारा के मल्लों को सूचित कर दो। यहाँ ८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण प्राप्त हुआ।

महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के तुरंत बाद ही विभिन्न राज्यों के दूत भस्मावशेष के लिए भेजे गये। अजातशत्रु के दूत भेजने की बात पहले ही बताई जा चुकी है। आधुनिक खुदाइयों द्वारा अनेक स्तूप तथा समाधियाँ प्राप्त हुई हैं जिनसे महात्मा बुद्ध के भस्मावशेषों के समाधिस्थ किये जाने का बोध होता है। पिपरहवा (नेपाल) पेशावर तक्षशिला गुंटूर आदि में इस प्रकार के प्रमाण वहाँ के स्तूपों या समाधियों से प्राप्त हुए हैं।

बुद्ध के मूल सिद्धान्त

गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों को समझने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध (१) ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे (२) आत्मा को नित्य नहीं मानते थे, (३) किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानते थे तथा (४) जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे।

चत्वारि आर्य सत्यानि

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का निरूपण इस प्रकार किया—(१) दुःख (२) दुःखसमुदय ( ) दुःखनिरोध तथा (४) दुःखनिरोधगामी मार्ग।

नीचे इन पर पृथक् पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

(१) दुःख—बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है बुढ़ापा भी दुःख है मरण शोक रुदन—मन की खिन्नता—हैरानी दुःख है। अप्रिय से संयोग प्रिय से वियोग भी दुःख है इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है। संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्ध) दुःख है।[१] पाँच उपादान स्कन्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार तथा विज्ञान हैं।

(२) दुःखसमुदय—दुःख का कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा भव (उत्पन्न होने) की तृष्णा, विभव की तृष्णा आदि ही दुःख के कारण हैं। काम की तृष्णा से दुःख किस प्रकार उत्पन्न होता है इसकी व्याख्या भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार की है—काम (प्रिय भोग) के लिए ही राजा राजाओं से लड़ते हैं क्षत्रिय क्षत्रियों से ब्राह्मण ब्राह्मणों से गृहपति गृहपतियों से माता पुत्र से पुत्र माता से पिता पुत्र से पुत्र पिता से भाई भाई से बहिन भाई से भाई बहिन से मित्र मित्र से लड़ते हैं। वे परस्पर कलह विग्रह विवाद करते हैं, एक दूसरे पर हाथ से दण्ड से शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं। वे मर भी जाते [illegible] और मरण समान दुःख को भी प्राप्त होते हैं।[२]

---

१ महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९)

२ मज्झिम निकाय १।२।३॥

(३) दुःख निरोध—सब के मूल तृष्णा के अन्त करने को दुःख निरोध कहते हैं। तृष्णा के अन्त हो जाने से उपादान का निरोध होता है। उपादान निरोध से भव (संसार) का निरोध होता है और भव निरोध से जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म के निरोध से दुःख के उपकरणों—बुढ़ापा, मरण, शोक आदि का अंत हो जाता है।

(४) दुःख निरोधगामी मार्ग—दुःख निरोधगामी मार्ग का प्रथम उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने पाँच साथियों को दिया था जो धर्मचक्रप्रवर्तन के नाम से विख्यात है। भगवान बुद्ध ने कहा—

भिक्षुओ! इन दो अन्तियों का सेवन नहीं करना चाहिए। (१) काम सुख में लिप्त हो जाना (२) शरीर-यातना में लग जाना। इन दोनों अन्तियों का त्याग (मैंने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है (जो) आँख देनेवाला ज्ञान करानेवाला शान्ति देनेवाला है। वह (मध्यम मार्ग) यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है सम्यक दृष्टि (ज्ञान) सम्यक संकल्प सम्यक वचन सम्यक कर्म सम्यक जीविका सम्यक प्रयत्न सम्यक स्मृति तथा सम्यक समाधि।[1]

उपर्युक्त आठ अष्टांगिक मार्ग में प्रथम दो ज्ञान, अन्य तीन शील तथा अन्तिम तीन समाधि के अन्तर्गत आते हैं।

कायिक वाचिक मानसिक अच्छे-बुरे कर्मों के ठीक-ठीक ज्ञान को ही सम्यक दृष्टि कहा गया है। कायिक बुरे कर्मों में हिंसा चोरी यौन (व्यभिचार) आदि हैं और इनके विनाश सम्बन्धी* [illegible]

धर्मकार्य हैं तथा

ध्यान धारणा है

ठीक बोध करना ही सम्यक दृष्टि कहलाता है। बुद्ध ने बताया कि सम्यक संकल्प का अर्थ है राग प्रतिहिंसा रहित संकल्प। ये दोनों ज्ञान के अन्तर्गत हैं।

शील के अन्तर्गत सम्यक वचन सम्यक कर्म तथा सम्यक जीविका है। सम्यक वचन तथा सम्यक कर्म के अन्तर्गत ऊपर बताए गए कायिक तथा वाचिक कर्म आते हैं। सम्यक जीविका से बुद्ध का अभिप्राय बुरे कर्मों से रहित जीविका से है। प्राणि हिंसा सम्बन्धी जीविका ही बुरी जीविका है। अंगुत्तर निकाय ६ के अनुसार हथियार का व्यापार प्राणि का व्यापार मांस का व्यापार मद्य का व्यापार विष का व्यापार आदि ही झूठी जीविका है।

सम्यक समाधि के सम्यक प्रयत्न सम्यक स्मृति तथा समाधि है। सम्यक प्रयत्न का अर्थ है इन्द्रियों पर संयम करने का प्रयत्न बुरी भावनाओं के दमन तथा सुन्दर भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न उत्पन्न उत्तम भावनाओं को स्थायित्व देने का प्रयत्न करना। काया वेदना, चित्त और मन के धर्मों का ठीक स्वरूप—उनके मलिन, क्षण विध्वंसी आदि होने का सदा स्मरण रखना सम्यक स्मृति है। चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।[2]

अब तक जिन सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला गया है वे महात्मा गौतम बुद्ध के साधारण विचार थे। अब हम उनके दार्शनिक विचारों पर विचार करेंगे।

---

[1] धम्मचक्कपवत्तनसुत्त—संयुत्त निकाय ७५।२।१॥

[2] मज्झिम निकाय १।५।४॥

क्षणिकवाद

अगुत्तर निकाय ३।१।३४ में अनित्य दुःख अनात्म बुद्ध भगवान् के सम्पूर्ण दर्शन का प्रतीक है। इसमें ही उनका सारा दर्शन आ जाता है। अनित्य उनके क्षणिकवाद का द्योतक है। भगवान् बुद्ध ने तत्वों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया—

(१) स्कन्ध (२) आयतन तथा (३) धातु।

स्कन्ध के भी पाँच उपविभाग हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान। रूप में पृथ्वी आदि चारों महाभूत सम्मिलित हैं। सुख-दुःख की अनुभूति ही वेदना है। चिन्तन एवं अभिज्ञान को संज्ञा कहते हैं। मन पर पड़ी छाप या वासना को संस्कार कहते हैं। चेतना एवं मन को विज्ञान कहते हैं। बुद्ध ने इन्हें नश्वर बताया है।

आयतन के बारह रूप हैं—६ इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन) तथा उनके ६ विषय (रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, द्रव्य तथा धर्म)।

धातु के भी १८ रूप हैं—उपरोक्त ६ इन्द्रियाँ, उनके ६ विषय तथा उनके पारस्परिक सम्पर्क से जनित ६ विज्ञान। महानिदान सुत्त तथा अंगुत्तर निकाय में इन सारे तत्वों को अनित्य या क्षणिक कहा गया है।

प्रतीत्य-समुत्पाद—एक वस्तु के विनाश के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है, इसी नियम को भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद कहा है।

अनात्मवाद—गौतम बुद्ध अनात्मवादी थे। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् आत्मा नाम की किसी स्थायी वस्तु में उनका विश्वास न था। उपनिषदों में आत्मवाद की जो वकालत की गई है भगवान् बुद्ध के मतानुसार वह असत्य है।

अभौतिकवाद—अनात्मवादी होते हुए भी भगवान् बुद्ध भौतिकवादी (जड़वादी) कदापि न थे। गौतम बुद्ध के विचार में भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का उसी प्रकार विरोधी है जैसे वह आत्मवाद का विरोधी है। अतः उन्होंने कहा—

वही जीव है वही शरीर है (दोनों एक हैं) ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्य-वास नहीं हो सकता। जीव दूसरा है शरीर दूसरा है, ऐसा मत (दृष्टि) होने पर भी ब्रह्मचर्य-वास नहीं हो सकता।[1]

अनीश्वरवाद—जब-जब भी भगवान् बुद्ध से ईश्वर के सम्बन्ध में पूछा जाता था तो वे या तो बिल्कुल मौन हो जाते थे या कुछ परिहासमय वचनावली में उसके विद्यमान होने में सन्देह प्रकट करते थे। उन्होंने एक स्थल पर यह बताया है कि आदिमानव को ही परवर्ती मानव ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया।

दस अकथनीय (अव्याकृत)—बुद्ध ने निम्नलिखित दस समस्याओं पर मौन रहने की अनुमति दी है —

(अ) लोक
- (१) क्या लोक नित्य है?
- (२) क्या लोक अनित्य है?
- (३) क्या लोक अन्तवान है।
- (४) क्या लोक अनन्त है?

(ब) जीव शरीर
- (५) क्या जीव और शरीर एक हैं?
- (६) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है?

---

[1] दीघनिकाय १।१।२॥

की एकता	(७) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत (मुक्त) होते हैं?
	(८) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत नहीं होते?
(ग) निर्वाण के बाद	(९) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते हैं?
	(१०) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते ही हैं न नहीं ही होते हैं?

सर्वज्ञता में अविश्वास—मज्झिम निकाय से यह ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध सर्वज्ञता को गलत मानते थे। एक स्थान में इस प्रकार लिखा है—

सुना है भन्ते! श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं—(क्या ऐसा कहनेवाले) यथार्थ कहनेवाले हैं? भगवान् की असत्य से निन्दा तो नहीं करते।

वत्स! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं वह मेरे विषय में यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। वह असत्य से मेरी निन्दा करते हैं।

मज्झिम निकाय में ही अन्यत्र कहा है—

ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।

विचारस्वातन्त्र्य—गौतम बुद्ध ने लोगों को अन्धानुकरण के स्थान पर स्वयं उचित अनुचित पर विचार करने की अनुमति दी। केसपुत्र ग्राम के कालामों ने भगवान बुद्ध से एक बार यह कहा कि विभिन्न श्रमण अपना-अपना मत बताते हैं और दूसरे के मत पर असन्तोष प्रकट करते हुए नाराज होते हैं। ऐसी अवस्था में हमें सन्देह होता है—कौन सच कहता है कौन झूठ। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—कालामो! तुम्हारा सन्देह ठीक है सन्देह के स्थान में ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न होता है। जब कालामो! तुम स्वयं ही जानो कि ये धर्म (काम या बात) अच्छे अनिन्द्य विज्ञप्रशंसित हैं यह लेने ग्रहण करने पर हित सुख के लिए होते हैं, तो कालामो! तुम उन्हें स्वीकार करो।[1]

निर्वाण—निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बुझना। गौतम बुद्ध ने इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना अव्याकृत बताया है। तृष्णा के क्षीण हो जाने की अवस्था को ही बुद्ध ने निर्वाण कहा है। आस्रव के न रहने पर ही निर्वाण होता है।

बुद्ध के सिद्धान्तों के उपरोक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म को पनपने का काफी अवसर था क्योंकि हिन्दुओं के लिए बौद्ध सिद्धान्तों में से अनेक ग्राह्य थे। बौद्ध धर्म के प्रचार का विवरण अन्यत्र किया जायगा। भगवान् बुद्ध ने अपने जो कुछ प्रयास किया उसका उल्लेख किया जा चुका है। बौद्ध संघों की बैठकों के लिए पिछले पन्नों में प्रजातन्त्र की समाओं की बैठकों का विवरण देखिये। बौद्ध संगीतियों का यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

बौद्ध धर्म की उन्नति के कारण

बौद्ध धर्म का इस देश में बहुत शीघ्र काफी अधिक प्रचार हो गया था। यहाँ तक विश्व का सर्वप्रमुख धर्म बौद्ध धर्म माना जा सकता है। मैक्समूलर महोदय ने कहा है—

And even at present day Buddhism counts in Asia a more numerous array of believers than any other faith not excluding Mohammadanism and Christianity.
—*Max Mullar*

---

[1] अंगुत्तर निकाय ३।७।५॥

कर लिया था। उनकी दृष्टि में मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं था। इन सब गुणों के कारण बुद्ध के व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षण का समावेश हो गया था। बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व से कोई भी जो उनके सम्पर्क में आया प्रभावित हुए बिना न रहा। जिस सर्वग्राह्य तर्क के साथ ब्राह्मण पंडितों के विवादों का महत्ता उत्तर दिया करते एवं करुणा मैत्री दया आदि जिन मानव भावनाओं से उनके उपदेश सप्राण हो जाते उनके कारण क्या पुरोहित क्या राजा और क्या प्रजा सभी सन्तुष्ट होते थे।[1]

(४) जाति प्रथा का विरोध और समानता की भावना—बुद्ध ने जाति प्रथा का विरोध किया और बतलाया कि जाति भेद अनावश्यक ही नहीं वरन् अस्वाभाविक है। उत्तर वैदिक कालीन सामाजिक रचना में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को निश्चय ही वैश्यों और शूद्रों की अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त था। उधर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी सामाजिक श्रेष्ठता के प्रश्न पर काफी वादविवाद हुआ करता था। ब्राह्मण धर्म अथवा वैदिक धर्म जाति प्रथा के औचित्य का पोषण करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार करता था। ऐसा होने पर यह स्वाभाविक ही था कि अन्य जातियों का सामाजिक स्तर निम्न अथवा हीन प्रतीत हो। फल यह हुआ कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी जातिवालों के लिए बौद्ध धर्म अधिक हितकर मालूम पड़ा क्योंकि यह धर्म मानव मानव की समानता के सिद्धान्तों का पोषक था। उधर पढ़े लिखे चिन्तनशील ब्राह्मणों का भी बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण बढ़ा क्योंकि वे वेदों के कर्मकाण्ड को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझते थे। इस प्रकार से मनुष्य मनुष्य के भेद को शून्य करनेवाली जाति-व्यवस्था का विरोध करके महात्मा बुद्ध ने आर्यावर्त के नक्षत्रों लोगों की श्रद्धा और भक्ति अर्जित की जो आगे चलकर उनके प्रति सक्रिय अनाकारिता में परिवर्तित हो गई और लोगों ने उनके द्वारा चलाये हुए धर्म को स्वीकार कर लिया।

(५) लोक भाषा का प्रयोग—सर जार्ज ग्रियर्सन ने महात्मा तुलसीदास के विषय में लिखते हुए कहा है कि वे महात्मा बुद्ध के बाद उत्तरी भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे। ग्रियर्सन महोदय का लोकनायक शब्द का बुद्ध के लिए प्रयोग सर्वथा उचित है ठीक उसी प्रकार जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास के लिए। यदि हम ललितविस्तर के साक्ष्य को मानें तो हमें विदित होता है कि महात्मा बुद्ध ने कई भाषाओं पर अधिकार किया था और वे महान विद्वान थे। किन्तु उन्होंने विद्वानों और पण्डितों की भाषा में अपने उपदेश न देकर लोकभाषा में अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। यदि गोस्वामी जी ने अपने अमर महाकाव्य की रचना संस्कृत में की होती तो सर्वसाधारण में उसका इतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था जितना कि आज है। इसी प्रकार यदि बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार लोकभाषा में न किया होता तो उन्हें इतनी शीघ्र सफलता न प्राप्त हुई होती जैसी कि उन्हें अपने जीवनकाल में मिली थी। किसी बौद्ध ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक बार बुद्ध के किसी ब्राह्मण शिष्य ने उनसे प्रश्न किया कि आप संस्कृत में अपने उपदेश क्यों नहीं देते। इस पर तथागत ने उत्तर दिया मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूँ। बुद्ध भली भाँति जानते थे कि संस्कृत का प्रयोग केवल सुशिक्षितों में ही प्रचलित है। अतएव संस्कृत में उपदेश देने से उनकी शिक्षाओं का प्रचार केवल थोड़े से पढ़े लिखे व्यक्तियों के बीच ही सकेगा अतएव अपने हृदय की सच्ची लोकानुरागता का परिचय देते हुए बुद्ध ने जनभाषा में

---

[1] प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

हो उपदेश दिये जिससे उनकी शिक्षायें जनसाधारण तक पहुँच सकीं। बौद्ध धर्म की शीघ्र ही बहुत अधिक उन्नति होने का यह एक प्रधान कारण था।

(६) प्रचार-शैली की रोचकता—लोकभाषा के साथ ही साथ बुद्ध ने जिस प्रचार-शैली को अपनाया वह नितान्त सरल, सुबोध और लोक रुचि के अनुकूल थी। उन्होंने साथ-कथाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों को अपनी शिक्षाओं में प्रचुरता से प्रयोग किया। अपने सिद्धान्तों को समझाने के लिये वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती था। बुद्ध संसार के उन थोड़े से व्यक्तियों में से थे जो गूढ़ तत्वज्ञानी होने के साथ व्यावहारिक जीवन में भी निपुण थे। उनके द्वारा दिये दृष्टान्त उनकी व्यावहारिक निपुणता का परिचय देते हैं। उनके जीवन से एक उदाहरण दे देना अनुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इसके द्वारा उनके व्यक्तित्व पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। एक बार एक ब्राह्मण ने क्रोध में आकर बुद्ध भगवान को सैकड़ों गालियाँ सुनाईं। बुद्ध चुपचाप गालियाँ सुनते रहे। ब्राह्मण अन्त में निराश होकर चुप हो गया। जब उसका क्रोध शान्त हो गया तो बुद्ध ने उसे अपने निकट बुलाया और कहा, "ब्राह्मण, तुम्हारे घर कभी कोई अतिथि आया होगा। तुमने उसका सत्कार भी किया होगा?" ब्राह्मण ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। फिर बुद्ध ने पूछा कि "यदि तुमने अतिथि के स्वागतार्थ जो भोजन बनाये उनको वह ग्रहण न करे तो भोजन किसका समझा जाता।" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "वह भोजन मेरा समझा जायगा और उसे मैं ग्रहण करूँगा।" बुद्ध ने कहा कि "मैंने तुम्हारे द्वारा दी हुई गालियाँ अस्वीकार कीं। अब इन्हें तुम अपने साथ वापस ले जाओ।" इस पर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ और उसने तथागत से क्षमा माँगी। इस उदाहरण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि बुद्ध में जहाँ अपने विरोधियों को शान्त कर देने की कला विद्यमान थी वहाँ उनमें अन्य यह भी गुण था कि लोक चित्त के ऊपर वे अपना प्रभाव जमा लेते थे। पालि-ग्रन्थों में बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जो यह स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि बुद्ध मानव मनोविज्ञान के भी प्रगाढ़ पण्डित थे और संन्यासी होने पर भी उनको जीवन का निकटतम अनुभव था। लोकभाषा के प्रयोग तथा प्रचार-शैली की सरलता से बुद्ध को अपनी शिक्षाओं का प्रचार करने में बहुत बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अपने शिष्यों को भी इसी नीति का अनुसरण करने की शिक्षा दी जिससे बौद्ध धर्म का प्रचार-कार्य सरल हो गया।

(७) मठों की स्थापना—महात्मा बुद्ध केवल एक महान दार्शनिक और धर्म प्रचारक ही न थे वरन् उनमें संगठन की भी अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया कि सुव्यवस्थित संगठन के अभाव में कोई भी धर्म अधिक दिनों तक नहीं टिकता। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियों को एक सुदृढ़ संगठन में बाँध जाने का संदेश दिया। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए संघ-पद्धति की व्यवस्था की। संघ-पद्धति उन्होंने अपने समकालीन गणतन्त्रों से भी ली थी जिनके विषय में उनको काफी ज्ञान था। बौद्ध संघ के भिक्षुओं के आवास के लिए बुद्ध भगवान् ने मठों का निर्माण कराया। इन मठों में उनके धनिक गृहस्थ अनुयायियों ने उनकी सहायता की। बौद्ध मठों में रहकर भिक्षु सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे और सबके साथ रहने के कारण वे भ्रातृत्व की भावना से अनुप्राणित हो जाते थे। इसमें कदाचित् कोई अत्युक्ति नहीं कि बौद्ध धर्म के

प्रचार का सबसे प्रमुख कारण इसकी अनुपम संगठन शक्ति थी। इसीलिए तभी तो स्मिथ ने कहा है—

The well organised body of monks and nuns were the most effective instrument in the hands of this religion —V. Smith

(८) राज प्रश्रय—यह प्रश्न ही कहा जा सकता है कि बुद्ध का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और उनका प्रभाव सभी वर्ग के लोगों पर था। उनके समकालीन नरेश उनका बड़ा आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। बिम्बिसार (मगध का राजा) तथा प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। कुछ दिनों बाद उदयन भी बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से कुछ प्रभावित हो गया था। इसके अतिरिक्त वैशाली, शाक्य, मोरिय तथा बुद्ध के समय के गणतन्त्रों के शासकों पर भी उनका काफी प्रभाव था। यह सत्य है कि राज प्रश्रय से कोई धर्म लोकप्रिय नहीं हो सकता किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजकीय सहायता से धर्म प्रचार के कार्य को बल प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म में अन्य गुण तो थे ही जब इसे राजाओं और श्रीमानों की सहायता प्राप्त होने लगी तो इसके प्रचार का कार्य सुगम हो गया। अशोक महान के प्रयत्नों ने गंगा की घाटी के एक सम्प्रदाय को विश्वव्यापी धर्म में परिणत कर दिया। कनिष्क और हर्ष जैसे राजाओं का भी इस धर्म को प्रश्रय प्राप्त था। समाज के धनी मानी लोग भी बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके दान से मठों का खर्च चलता था जिनमें रहनेवाले भिक्षु उत्साह से अपने धर्म का प्रचार करते थे। यद्यपि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना के प्रचलन होने के कारण सभी सम्प्रदायों को राजकीय सहायता प्राप्त होती रही तथापि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि राज प्रश्रय से बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई और इसका अभाव हो जाने पर इसके प्रचार की गति अवरुद्ध हो गई।

(९) प्रचारकों का उत्साह—महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों में अपूर्व उत्साह का संचार किया था। स्वयं उन्हीं के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व से शिक्षा लेकर उनके अनुयायी भी धर्म के प्रचारार्थ सब सुखों का परित्याग करने को तत्पर हो जाते थे। सब प्रकार की कठिनाइयों की अवहेलना करते हुए वे अपने गुरु और उपदेशक के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए सुदूर प्रान्तों की यात्रा करते थे और देश के बाहर भी जाते थे। बौद्ध भिक्षुओं के अदम्य उत्साह के फलस्वरूप ही इसका प्रचार न केवल देश के प्रत्येक भू भाग में ही अपितु संसार के अन्य कई देशों में भी हो गया।

——— ——— ——— ——— ——— ——— ——— ——— ——— प्रचारकों

प्रचार

से बौद्ध

धर्म काफी समय तक देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फलता फूलता रहा।

बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का उदय हमारी संस्कृति के लिए कई विषयों में बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ। भारतीय संस्कृति की श्रीसम्पन्नता में इस धर्म के कारण काफी अभिवृद्धि हुई और इस देश के लोगों को जीवन के प्रति अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण के विकास करने में काफी सहायता प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म की देनों का विवेचन हम अध्ययन की सुविधा के लिए कतिपय भागों के अन्तर्गत करेंगे।

(१) कला की उन्नति—बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख देन कला के क्षेत्र में है। यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमें हिन्दू धर्म की कला के जो स्वरूप भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध कला के ही नमूने हैं। मूर्ति कला और शिल्प कलाओं का तो उद्भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक बात यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बौद्ध कलाकारों ने जिन कलाकृतियों का निर्माण किया उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नहीं है। क्रिसमस हम्फ्रे का कथन है कि यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला का अनुभव हम सबों के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। सभी क्षेत्रों में—चित्र-कला में, शिल्प में, वास्तुकला में और कारीगरी में—बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियाँ उत्पन्न की हैं जो पाश्चात्य कला की उत्कृष्टतम कृतियों के समक्ष रखी जा सकती हैं।[1] बौद्ध कला के कुछ गुणों को पश्चिम की श्रेष्ठतम कला भी नहीं पा सकती। इसकी गति तथा लयपूर्णता और सजीवता पाश्चात्य कला में अज्ञात है। इसी प्रकार चित्त में भाव और रस उत्पन्न करने की शक्ति भी भारतीय कला में अधिक है। मिस्टर क्रिसमस हम्फ्रे का कथन है कि छठी शताब्दी तक भारत की सबसे उत्तम कला बौद्ध कला है और जब से चीन तथा जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कला बौद्ध है और लंका, बर्मा तथा स्याम की समस्त सच्ची कला बौद्ध है, बोरबादूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नेपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्ध कला है।[2] यद्यपि हम क्रिसमस साहब के इस उत्साहमय कथन को पूरी तरह से नहीं मान सकते तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धों ने भारत की कला को एक नई स्थिति पर धारा प्रदान की और भारतीय कला की भावनाओं पर बौद्धों का काफी प्रभाव है।

(२) साहित्य-सृजन में बौद्ध धर्म की देन—केवल कला ही नहीं वरन् साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण देन है। बौद्ध भिक्षुओं ने साहित्य ग्रन्थों के प्रणयन पर भी ध्यान दिया। बुद्धचरित नामक महाकाव्य तथा सारिपुत्रप्रकरण नामक नाटक बौद्धों की ही देन हैं। संस्कृत के मञ्जुश्री मूलकल्प तथा दिव्यावदान नामक ग्रन्थ जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास के विषय में काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है बौद्ध ग्रन्थ हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि बौद्ध साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा

---

[1] It is clear that the experience of Buddhist art must have a profound experience for us. In all fields—in painting, sculpture, architecture and handicraft—Buddhism has produced works of art that can be placed by the side of the highest creation of western art.

Quoted by Christams Humphreys in *Buddhism* p. 205

[2] The finest Indian art up to the sixth century A. D. and the finest of Chinese and Japanese art at any period since the introduction of Buddhism is Buddhist art, that all great art in Ceylon, Burma and Siam is Buddhism art, that the stupa of Borbodur is Buddhist art and that the religious art of Tibet and Nepal is equally Buddhist.

में भी ग्रन्थों का प्रणयन किया यद्यपि उनके आदि-ग्रन्थ पाली में ही हैं। पाली के विस्तृत धार्मिक साहित्य का संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर सम्भव नहीं, लेकिन इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता केवल इसीलिए नहीं है कि उनके द्वारा हम इस धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण जैसे दुरूह कार्य में विद्वानों की काफी सहायता की है। जातक कथाओं का महत्व इस दृष्टि से काफी है। इन कथाओं का प्रभाव विद्वानों ने अरेबियन नाइट्स की कथाओं पर खोजा है। थेरगाथा और थेरीगाथा के गीत बड़े मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं। 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे संस्कृत ग्रन्थ विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण हैं यद्यपि मूलतः उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति के लिए की गई थी। मिलिन्द पन्हो तथा महावस्तु नामक ग्रन्थों में भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। बौद्धों के सम्पूर्ण साहित्य को देखकर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि यह प्रचुर और विशाल है।

( ) दर्शन की उन्नति—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत में एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के ही नहीं निखिल विश्व के दार्शनिकों में गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धों का दार्शनिक साहित्य केवल प्रचुर और समृद्ध ही नहीं अपितु विचारोत्तेजक भी था। स्वयं बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। प्रतीत्य समुत्पाद, शून्यवाद, योगाचार, सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो गया। असंग, वसुमित्र, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन बिना किये हुए कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता। बौद्धों के दार्शनिक विचारों का खण्डन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनमें भगवान् शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य है। यदि हम भारत के परवर्ती दार्शनिक साहित्य का विवेचन करें तो यह सिद्ध हो जाता है कि उसके सृजन में बौद्ध दर्शन का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष योगदान रहा है।

(४) भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार—बौद्धों की भारतीय संस्कृति को यह एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने भारतीय सीमाओं के बाहर सुदूर देशों में इसको प्रसारित किया। सम्राट अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं के जत्थे पड़ोस के देशों में तथागत की शिक्षाओं का प्रचार करने गये थे। फिर उसके बाद कनिष्क के समय में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा मध्य एशिया में हुआ। इन देशों में बौद्धधर्म ने अपनी जड़ें बहुत गहरी जमा ली। यहाँ के निवासियों के लिए भारत एक पवित्र देश हो गया। उन्होंने तथागत की शिक्षाओं के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को भी ग्रहण किया। भारत का सुदूर पूर्वी एशिया के साथ घनिष्ठता का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ उसका श्रेय बौद्धधर्म और उसके उत्साह सम्पन्न प्रचारकों को दिया जा सकता है।

(५) ब्राह्मण धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—यह कहा जा चुका है कि बौद्धधर्म का उदय उस धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था जो वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड प्रधान रूप के विरुद्ध की गई थी। जब ब्राह्मणों ने अपने धर्म का प्रचार कम होते और बौद्धधर्म का प्रचलन होते हुए देखा तो उन्होंने अपने धर्म में सुधार करने की ओर ध्यान दिया। ब्राह्मण धर्म में अहिंसा का महत्व बहुत अधिक समझा जाने

लगा। यह ठीक है कि अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है तथापि उनका व्यापक प्रचार बौद्धधर्म के द्वारा ही हुआ। ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म की बहुत-सी श्रेष्ठ बातों को ग्रहण कर लिया और अपने धर्म का परिष्कार किया।

(६) बौद्ध संघों की स्थापना—इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध संघों की स्थापना भगवान बुद्ध के मस्तिष्क की मौलिक उपज थी और बौद्ध धर्म की यह एक प्रमुख देन थी। संन्यास का आरम्भ बुद्ध ने उस समय की प्रचलित ब्राह्मण विचार-धारा से ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन किया। यह बात ठीक है कि बौद्ध धर्म से पूर्व भी ब्राह्मण संन्यासी कल्याण की भावना से प्रेरित थे। उनमें दूसरा ... थे। वे समाज की नैतिक और आचार सम्बन्धी समस्याओं के निमित्त तथा जनपदों में उपस्थित होते थे परन्तु उनकी साधना उनके कुछ व्यक्तिगत हो जाती थी। वे ... थे तथापि वे सामूहिक जीवन बिताने की शिक्षा न देते थे। बुद्ध ने अपने भिक्षु संन्यासियों के संघ की स्थापना की। बुद्ध के पूर्व भारत में गणतन्त्र थे और उन्हीं संघ्य के प्रतिरूप में इन्होंने धार्मिक संघ बौद्धों का अपना विशिष्ट रूप था। परन्तु धार्मिक संघ बना थे।

बौद्ध और जैन धर्मों की तुलना

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही उन सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिनिधि थे जिसका उत्कर्ष भारत में मानवी अथवा छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग हुआ था। अतएव इनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वाभाविक है। दोनों धर्मों ने समान रूप से वैदिक कर्मकाण्ड आदि यज्ञ तथा ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। वेदों की अपौरुषेयता न तो जैनियों ने ही मानी और न बौद्धों ने ही। अहिंसा पर दोनों ही धर्मों ने जोर दिया। ईश्वर के प्रति दोनों ही उदासीन रहे। सदाचार की प्रधानता दोनों सम्प्रदायों में बतलाई गई है। दोनों धर्म पुनर्जन्म तथा मोक्ष (कैवल्य तथा निर्वाण) आदि विचारधारा को स्वीकार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह विचारधारा समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। संस्कृत भाषा के प्रयोग का दोनों ही सम्प्रदायों ने प्रारम्भ में बहिष्कार किया। बौद्धों ने अपने ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे और जैनियों ने प्राकृत में। परन्तु कालान्तर में दोनों ने ही संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन धर्मों में कुछ विभिन्नताएँ भी थीं। बौद्धों ने भी पौराणिक कथाओं की सृष्टि की। ब्राह्मणों की भाँति जैनियों और बौद्धों ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध नहीं किया। बौद्धों और जैनियों की पौराणिक कथाओं में कुछ सामान्य तत्त्व थे। यद्यपि सदाचार जीवन की दोनों ही सम्प्रदायों में प्रधानता बतलाई गई है तथापि गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। गृहस्थों तथा संन्यासियों के लिए कतिपय विभिन्न आचार नियमों का विधान हुआ। न ही किया है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि जैन और बौद्ध धर्मों पर अनार्य विचार धारा का प्रभाव है। डा० आर० सी० मजूमदार का विचार है कि प्रतिमाओं की पूजा अनार्यों का ... धर्म की देन है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मुनि के प्रभाव को स्वीकार कर लेना इस तथ्य का द्योतक करता है कि दोनों सम्प्रदाय अनार्य विचारधारा से प्रभावित थे। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की आशावादिता की दोनों ही सम्प्रदायों में अभाव है और दोनों ही जीवन को आदि से अन्त तक दुःखपूर्ण समझते हैं।

इन समानताओं के साथ ही साथ बौद्ध और जैन धर्मों में परस्पर विभिन्नतायें भी हैं। यद्यपि दोनों ही जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं और इससे मुक्ति पाने का एक

मात्र साधन कवल्य या निवाण ही समझत है तथापि लक्ष्य प्राप्ति क माध्यम या साधन क विषय म दाना धर्मो का विचारधारा म महान् अन्तर है। हम दख चुक हैं कि बौद्ध धम निवाण प्राप्ति क लिए मर्यादा पटिपदा अथवा मध्यम पथ का आवश्यक बतलाता है किन्तु जन धम म उपवास उग्र तपस्या तथा प्राण-त्याग आदि कठिन कर्मों को कवल्य प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बौद्धा का निर्वाण सम्बन्धी धारणा जनों का कवल्य सम्बन्धिनी धारणा स काफी भिन्न है। बौद्धों क निवाण स अभिप्राय उस स्थिति स है जब मनुष्य क हृदय म कोई वासना नही रह जाती और वह अपन व्यक्तित्व का पूण रूप स समाप्त कर दता है। बौद्ध लाग यह विश्वास करत हैं कि निवाण क लिए मत्यु आवश्यक नहीं है। इस जीवन म भी इसकी प्राप्ति सम्भव है। जन विचारधारा क अनुसार दुःखा स मुक्त हो जानवाली स्थिति का नाम माक्ष अथवा कवल्य है जिसकी प्राप्ति मत्यु क बिना सम्भव नही है। यद्यपि दोना सम्प्रदायों म अहिंसा पर बल जोर दिया गया है तथापि बौद्ध धम म अहिंसा का महत्व उतना अधिक नहीं है जितना कि जन धम म। जनियों क लिए हत्या आदि का विचार करना भी पातक है परन्तु भारत क बाहर बौद्ध लाग सदा स मासाहार करत आय हैं। जनियों की अहिंसावादिता परा काष्ठा तक पहुचा दी गई है और कुछ लोगों की दृष्टि म तो यह उपहासास्पद प्रतीत होती है। बौद्ध लोग अनात्मवादी हैं किन्तु जन विचारधारा क अनुसार प्रत्यक जीव म आत्मा का निवास है। डा० स्मिथ का कथन है कि बौद्ध धम म भिक्षुओं का जितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उपासको (गृहस्थों) का नहीं। किन्तु इसक विपरीत जनधम म सन्यासियों की अपेक्षा गहस्थों को ही अधिक महत्व दिया गया है। जनधम न हिन्दू धम स कभी भी स्पष्ट पथकता का सम्बन्ध नही स्थापित किया जब कि बौद्धधम न पथकता की नीति का ही अवलम्बन किया। बात यह थी कि बौद्धों का दृष्टिकोण आरम्भ स ही क्रान्तिकारी था जिसस व प्रचलित धार्मिक विश्वासों क साथ सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सक। परन्तु जन धम का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। यद्यपि जनमत की शिक्षाओं म भी जाति भद का विरोध किया गया यह विरोध बौद्ध क विरोध की तुलना म कहीं अधिक नम और हल्का है। स्वयं भगवान बुद्ध ने कई स्थानों पर जाति भद की तीव्र शब्दों म निन्दा की और यज्ञयागादि का खण्डन भी किया। परन्तु जनियों न तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओं का खण्डन भी किया। परन्तु जनियों न तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओं पर कोई प्रबल कुठाराघात नहीं किया। कालान्तर म जनियों और वष्णवों म आचरण की इतनी अधिक समानता हो गई कि उनम भद करना कठिन हो गया। आज भी जनियों और वष्णवों का आचरण बिल्कुल एक सा है। सम्प्रदायों म त्रिरत्न का विधान है किन्तु इनक त्रिरत्न विभिन्न हैं। जनियों क त्रिरत्न म सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान तथा सम्यक आचरण हैं और बौद्धों क त्रिरत्न हैं बुद्ध धम तथा सघ।

बौद्ध धम का स्रोत

यह विचार करना भ्रमपूर्ण है कि बौद्ध धम का आदि स्रोत कोई अभारतीय विचार धारा थी। स्मिथ साहब न बौद्ध धम क संस्थापक भगवान बुद्ध को मगोल कहा है। किन्तु उनका यह कथन बिल्कुल निराधार है। जिस प्रकार उनका यह मत कि लिच्छवी गणतन्त्र क लोग अभारतीय थ अमान्य है उसी प्रकार यह धारणा तनिक भी तकसगत नहीं है कि बुद्ध किसी विदेशी जाति क थ। बुद्ध न भारतीय जनता को जो शिक्षायें दीं व अपन मूलरूप म उपनिषदों म विद्यमान थीं। यज्ञ इत्यादि का खण्डन अहिंसा

जाति भेद की व्यर्थता इत्यादि बातें उपनिषदों में मिलती हैं। कर्मवाद का सिद्धान्त, पुनर्जन्म की धारणा, भिक्षु जीवन की कल्पना इत्यादि बातों के लिए बुद्ध उपनिषदों के ऋणी थे। इन विषयों की शिक्षा देने में कोई सृजनात्मक मौलिकता नहीं दिखाई। हाँ जनता के सामने इन्होंने उनको जिस रूप में रक्खा उसमें अवश्य मौलिकता थी। बुद्ध ने अपने धर्म सिद्धान्त भी उपनिषदों से ग्रहण किये। बौद्ध धर्म की निराशावादिता का स्रोत भी उपनिषदों में खोजा जा सकता है। बौद्धों का निर्वाण उपनिषदों के मोक्ष से कोई विशेष भिन्न नहीं है। बौद्धधर्म में जो वेद विरोधी स्वर मिलता है उसका स्पष्ट अंकुर कठोपनिषद मुण्डक तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में निहित है। कठोपनिषद में स्पष्ट घोषणा की गई है कि न तो आत्मा वेद ज्ञान से मिलता है न मेधा से और न बहुत पाठ्य श्रवण से। इतना ही नहीं उसने समस्त अपराविद्या को जिसमें वेद भी सम्मिलित हैं अविद्या (सच्ची विद्या का अभाव) स्वीकार किया है। मुण्डक ने एक स्थान पर (१।२।७) यज्ञीय कर्मकाण्ड को श्रेयस्कर मानने वालों को मूढ़ तक घोषित किया है और स्वर में स्वर मिलाते हुए बृहदारण्यक (१।४।१०) में देवों को आहुति देने वाले व्यक्तियों की तुलना उन पशुओं से की गई है जो अपने स्वामी के लिए काम करते हैं। अतः सुधार की भावना उपनिषदों ने ही जागृत कर दी थी। इन मतवादों को ध्यान में रखते हुए यह सोचना त्रुटिपूर्ण नहीं कि बौद्ध धर्म एक सुधार-वादी आन्दोलन था और इसके बीज भारत की परम्परागत आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारधारा में ही सन्निहित थे।

बौद्ध कालीन संस्कृति

पिछले परिच्छेद में हमने बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया था। यहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विवेचन करेंगे। पहले सामाजिक अवस्था पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक अवस्था

सामाजिक वर्गीकरण—रूढ़ियाँ। जाति-व्यवस्था के समर्थक एवं निर्माता ब्राह्मण थे। फूलता देखते हुए महात्मा गौतम बुद्ध ने जाति भेद एवं वर्ग भेद के समूल विनाश के लिए सतत प्रयास किया था जिसके प्रमाण में उनके अमर उपदेश आज भी विद्यमान हैं। मानव की समानता का सन्देश महात्मा बुद्ध ने वर्ग भेद की जंजीरों में जकड़े हुए अनुदार हिन्दू समाज को सुनाया और मुक्त द्वार सबके लिए खोल दिया। किन्तु जड़ता में आग्रह कट्टरता की यह चिनगारी उतनी प्रभावपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक नहीं सिद्ध हो सकी जितनी जीवन के अन्य क्षेत्रों में इसने अपनी ज्योति दिखलाई। समाज में अस्पृश्यता का रोग पूर्ववत् बना रहा जिसका उदाहरण सेतकेतु जातक (तृतीय २३२) में प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि एक ब्राह्मण किसी चाण्डाल के पास से स्पर्श भय से अभिभूत होकर भाग रहा है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण मातंग जातक (चतुर्थ ३८८) में प्राप्त होता है जिसमें यह दिखलाया गया है कि किसी चाण्डाल को पद से नदी के बहाव की ओर (नीचे की ओर) केवल इसलिए कष्ट दिया गया कि उसकी दातून स्नान करते समय किसी ब्राह्मण की शिखा में उलझ गई थी। एक अन्य उदाहरण चित्तसम्भूत जातक (चतुर्थ ३९१-९२) का है जिसमें दो चाण्डाल लड़कों का [illegible] वर्णन दे रहा है जो नगर के द्वार पर दो सम्भ्रान्त महिलाओं के सम्पर्क में आ गये थे जिसके फलस्वरूप महिलाओं को मंगल-गमन स्थगित करना पड़ा और इसके साथ प्रस्तावित भोजन और पान के वितरण से वंचित रह गये। जिन सुधारशील कट्टरता की सीमा इतनी आगे बढ़ गई थी कि उसे मानवता का अनि

ही कहा जा सकता है और उस समाज म चाण्डाल की दशा कसी रही होगी इसकी कल्पना हम सहज म ही कर सकते हैं। बुद्धकालीन भारत क पूव जब यहाँ ब्राह्मणो का बोलबाला था उस समय की स्थिति की ओर एक बार पुन दृष्टिपात कीजिये। गौतम न यह घोषणा की थी कि अगर शूद्र कभी वेद सुन ल तो कान म लाख भर देनी चाहिये अगर उच्चारण कर तो जबान काट लनी चाहिये अगर याद रक्खे तो शरीर के दो टकड कर देन चाहिय।[1] जातक तथा उक्त ब्राह्मण ग्रन्थ क उद्धरणो को देखन से यह ज्ञात होता है कि उक्त व्यवस्था म था । नीच भर आ गया था जो सम्भवत राजनीतिक कारणो वश था अयथा समाज म अब भी अछूत समझ जानवाल थ और उन्हें दण्डित किया जाता था। जातको मे और बहुत एसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनसे स्पृश्यास्पृश्य की भावना का बोध होता है।

महात्मा गौतम बुद्ध के पूव लगभग सम्पूण भारत म ब्राह्मणो का प्रभुत्व स्थापित था। उनका वर्गीकरण समस्त देश म मान्य था किन्तु बौद्ध धम क उत्थान क पश्चात सामाजिक परिस्थिति म परिवतन आ गया उसी काल म राजनीतिक सत्तासीनता म भी परिवतन आया। पश्चिमी भारत मे तो अब भी ब्राह्मणो का वही दबदबा था और सम्पूण जनता ब्राह्मण कमकाण्ड एव ब्राह्मण व्यवस्था को मानती थी। ब्राह्मणो के विरुद्ध चलन का साहस उनमे न था। इस प्रकार समाज मे ब्राह्मणो का सर्वोच्च स्थान था। उनके नीचे क्षत्रिय तथा अन्य लोग थ। किन्तु पूर्वी भारत म अवस्था कुछ भिन्न थी। यहाँ क्षत्रियो का प्राधान्य था। व अपन को ब्राह्मणो से किसी प्रकार नीचा समझने को प्रस्तुत न थ। व स्वय को ब्राह्मणो के समकक्ष मानते थ और ब्राह्मणो के समान ही धर्माधिष्ठाता तथा धम रक्षक समझते थे। यह ब्राह्मण-क्षत्रिय विद्वेष भी समाज की जाति भद सम्बन्धी दुरूपता का अन्त नहीं कर सका और न तो इन दोनो की सत्ता ही समूल नाश हो सका कि समाज मे जाति भद का प्रश्न ही समाप्त हो जाता।

जातको म जहाँ चाण्डालो के स्पश से दूषित उदाहरण दिये गये हैं वहीं य भी मिलता है कि जन्म और जाति से अभिमान उत्पन्न होता है देवो के लोक म तो सभी—क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य शूद्र चाण्डाल और पुक्कस—समान मा प्राप्त कर मनि के धर्म लाभ म सदाचार का पालन कर चुक हैं। ब्राह्मणो के जातीय मान भञ्जन का भी प्रयास जातको म किया गया है और उनके स्थान म यदि जन्म पर ही विचार किया जाय तो सामाजिक विधान म क्षत्रियो को विशेष स्थान देना उचित समझा गया है। इसके प्रमाण हम अनेक बौद्ध ग्रन्थो म प्राप्त होते हैं।[2]

किन्तु हम यह नहीं भूल जाना चाहिये कि स्वय बौद्ध भिक्षुओ क समाज म भी जातिपाँति की विशुद्धता का बडा ध्यान रक्खा जाता था। वे भी रक्त को प्रधानता प्रदान करत थ। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि शाक्यो न कोशल-नरेश प्रसेनजित को शाक्यपुत्री न देकर दासीपुत्री दी।

ब्राह्मणो द्वारा स्थापित जाति-व्यवस्था म लाच निश्चय हो आ गया था जसा कि जातको से ज्ञात होता है पर उसका मूलरूप अपरिवर्तित ही रहा। जातको तथा कुछ जैन ग्रन्थो क आधार पर हम तत्कालीन समाज को निम्नलिखित वर्गों म विभक्त कर सकते हैं —

---

[1] गौतम का धमसूत्र १२।४-६॥

[2] अम्बष्ठ सुत्त अस्सलायन सुत्त सम्भव जातक (पटकम २७) आदि।

गया है पर साथ ही वह उदाहरण भी हमारे सम्मुख है कि शाक्य दासीपुत्री को ग्रहण करना हेय समझा गया। इन उदाहरणों से हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व पूर्ववत बना था वहाँ तो वर्ण भेद कुछ कठोर था पर जो क्षेत्र इनके प्रभाव से जिस मात्रा में मुक्त था उसी अनुपात से वहाँ लचीलापन अधिक था। रक्त की शुद्धता पर बौद्ध भिक्षु भी जोर देते थे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके लिए जो प्रसेनजित का उदाहरण दिया जाता है राजनीति का विषय है और दासी पुत्री प्रदान करने में अपमान करने की भावना का अंश अधिक ज्ञात होता है। वास्तविकता जो भी हो समाज की प्रारम्भिक बुराइयों में जो कुछ सुधार इस काल में हुआ वह बहुत सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता।

नारी का स्थान—स्त्रियों की दशा के सम्बन्ध में हम बौद्धग्रन्थों में मार्मिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध भी इनकी ओर से उदासीन-से जान पड़ते हैं। जिस समय इनकी विमाता तथा इनकी पालनकर्त्री महाप्रजापति गौतमी ने कपिलवस्तु में आकर एक भिक्षुणी के रूप में संघ प्रवेश करने का आदेश बुद्ध भगवान से माँगा था तो उन्होंने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी। भगवान स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति देने के पक्ष में नहीं दिखलाई पड़ते हैं।[1] किन्तु कालान्तर में उन्हें अपने इस नियम में परिवर्तन करना पड़ा क्योंकि जिस समय वे वैशाली में रह रहे थे तो महाप्रजापति ने पुरुष-वेश धारण करके अपने साथ अनेक शाक्य स्त्रियों को लेकर रोती हुई भगवान से संघ प्रवेश की प्रार्थना की और बुद्ध भगवान के प्रिय शिष्य आनन्द ने काफी सिफारिश की थी। फलतः उन्होंने स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी पर साथ ही आठ ऐसे कठोर प्रतिबन्ध भी लगा दिये जिनसे उनका संघ-जीवन बहुत कष्टदायक हो गया और साथ ही इससे उनका स्थान भी निम्नतम हो गया। इन आठ कठोर नियमों में से एक यह भी था कि सौ वर्ष की भिक्षुणी को भी पहले भिक्षु की अभ्यर्थना करनी पड़ती थी उसके सम्मुख आसन रिक्त करके खड़ा हो जाना पड़ता था और करबद्ध प्रार्थना करनी पड़ती थी चाहे भिक्षु केवल एक दिन का ही क्यों न दीक्षित हुआ हो।[2] भिक्षुणियाँ भिक्षुओं के पास स्वेच्छा से जाकर वार्तालाप नहीं कर सकती थीं पर भिक्षुओं के लिए यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे भिक्षुणियों के पास जाकर बातचीत करें।[3] इन नियमों से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि समाज में नारियों का स्थान निम्न था तथा उस दिन से (संघ में प्रवेश करते ही) भिक्षुणियों को भिक्षुओं के साथ सहालाप करना निषिद्ध कर दिया जाता था । इससे यह भी प्रतिध्वनित होता है कि इनको संयमहीन तथा असुसंगठित चरित्र भी माना जाता था। ओल्डनबर्ग महोदय तो भिक्षुणियों द्वारा भिक्षुओं की वन्दना कराने वाले नियम की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि भिक्षुणियों को यह अधिकार नहीं प्राप्त था कि वे किसी भिक्षु पर दोषारोपण करें किन्तु भिक्षुओं को यह अधिकार प्राप्त था।

भगवान बुद्ध ने संघ में स्त्रियों को प्रवेश करने की अनुमति तो दे दी पर उनके आगे के प्रवचन से ऐसा परिलक्षित होता है कि वे इस कार्य से प्रसन्न न थे। उन्होंने आनन्द से यह वाक्य कहे— पर अब जब स्त्रियों का प्रवेश हो गया है आनन्द ! धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष

[1] विनय का प्रथम नियम (विनयपिटक चुल्लवग्ग १०।१।)
[2] विनय का आठवाँ नियम वही। [3] विनयपिटक (चुल्लवग्ग १०।१।)

होते हैं चोरों द्वारा विशेष रूप से लूटा जाता है कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था इस सूत्र और विनय की समझनी चाहिए जिसमें स्त्रियाँ घर का परित्याग करके गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं। धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा। जिस प्रकार धान के खेत पर पाला पड़ जाय तो वह अधिक दिन नहीं टिक सकता अथवा जिस प्रकार गन्ने के खेत लाल रोग में जिससे पौधे मर जाते हैं मारा जाता है इसी प्रकार आनन्द! इस सूत्र और विनय को ऐसा होना है जिसमें स्त्रियों को घर छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाय। वह धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकता। फिर भी आनन्द! मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है जिससे जल बाहर न बहने लग जाय इसी प्रकार आनन्द! मैंने ये आठ गुरु नियम बना दिए हैं जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है। जब तक धर्म है उन नियमों के पालन में प्रमाद न होना चाहिए।[1]

भगवान बुद्ध के इन वाक्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि समाज में स्त्रियों का स्थान पहले से गिर गया था और उनके चरित्र पर भगवान बुद्ध जैसे निष्पक्ष व्यक्ति को भी विश्वास न था। सम्भवतः वस्तुस्थिति भी कुछ ऐसी ही रही होगी। ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष होते हैं चोरी विशेष रूप से होती है इससे भगवान बुद्ध का आशय यह भी रहा है कि स्वयं वे स्त्रियाँ भी परस्पर मिलकर चोरियों को चोरी करती हैं जैसा कि आज भी प्रमाण ऐसा में अधिक होता है? यदि ऐसी स्थिति रही तो निश्चय ही सामान्यतः या स्त्रियों का नैतिक पतन हो चुका था जिससे भगवान बुद्ध ने उन्हें संघ प्रवेश की सहज अनुमति नहीं दी किन्तु साथ ही उन्होंने इनके चारित्रिक उत्थान के लिए भी कोई सुनिश्चित मार्ग नहीं बनाया और न ही तो कठोर प्रतिज्ञा द्वारा उन्हें भिक्षुणी बनने में भी हतोत्साहित किया जिससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ हाँ यदि अधिकांश स्त्रियाँ भिक्षुणी हो गई होती तो सम्भवतः काफी सुधार हो सकता होता। संघप्रवेश के पश्चात लगभग सौ भिक्षुणियों ने मिलकर थेरीगाथा नामक बौद्ध ज्ञानसंग्रह की रचना की थी जिसमें संघ प्रवेश के पश्चात उनके बौद्धिक विकास का परिचय मिलता है।

नारियों का साधारणतया घर की चहारदीवारी में रहना पड़ता था। गृह-चातुर्य तथा सगान उनके मुख्य गुण माने जाते थे। लड़कियों का विवाह बहुधा माता पिता या अभिभावक ही निश्चित करते थे किन्तु किसी विशेष अवस्था में उन्हें अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार था।

ग्राम तथा नगर संगठन एवं आर्थिक व्यवस्था

बौद्धप्रथा में नगर तथा ग्राम-संगठन पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है जिसका अध्ययन डेविड्स महोदय ने वैज्ञानिक एवं विस्तृत रूप से किया है। उनके आधार पर ही हम यहाँ ग्रामों तथा नगरों के संगठन पर प्रकाश डालेंगे।

ग्राम-संगठन—ग्रामों पर ही सामाजिक संगठन आधारित था किन्तु उनके संगठन के सम्बन्ध में हम पूर्ण विवरणों से अनजान हैं। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विभिन्न दिशाओं के भिन्न भिन्न ग्रामों में रीति रिवाज भूमिस्वत्व तथा ग्रामीणों के सामाजिक अधिकार भिन्न भिन्न थे। इस विभिन्नता के मूल में प्राकृतिक तथा राजनीतिक विभिन्नता ही रही। किन्तु इस विभिन्नता में भी एक साम्य था जो पारस्परिक मिलन का रहता था। लोग पुष्ट बनाकर अथवा संगठित होकर ग्रामों में रहते थे। किसी अकिंचन

[1] विनयपिटक (चुल्लवग्ग १।१॥)

घरों का उल्लेख हमें वहाँ नहीं मिलता है। ग्रामीण घरों के बीच में पतली पतली गलियाँ थीं। घरों के क्षेत्र के चारों ओर बन्धा धान के खेत प्रसारित थे। ग्रामों में चरागाहों की भी व्यवस्था थी जिनमें सामूहिक रूप से ग्रामीणों के पशु चरा करते थे। कुछ जंगल भी छोड़ दिये जाते थे जिन पर समस्त ग्रामीण जनता का समानाधिकार था। ग्रामीण जनता सामूहिक रूप से चरवाहे या पालक नियुक्त करते थे जो खेत कट जाने के पश्चात उन क्षेत्रों में पशुओं को चराया करते थे।

खेत की बुआई साथ होती थी और सिंचन कार्य के लिए सामूहिक नालियाँ बनी थीं जिनमें जल प्राप्त करने के लिए नियम बने हुए थे। ग्राम प्रमुख इसका निरीक्षण करता था।

ग्रामीण अर्थ-नीति भूमि के स्वतन्त्र स्वत्व पर आधारित थी। यद्यपि कृषक अपनी भूमि का स्वामी था तथापि वह ग्राम-पंचायत अथवा परिषद की अनुमति बिना अपना खेत बेंच या रेहन नहीं रख सकता था। किसान या तो अपने खेत को स्वयं जोतता था अथवा कृषि-श्रमिकों या दासों द्वारा जुतवाता था। पर इससे उसका भूमि-स्वत्व नहीं छीना जा सकता था। कुछ ग्रन्थों से भूमि विक्रय के तीन उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनमें से एक वन भूमि था। एक ब्राह्मण ग्रन्थ में बलि शुल्क के रूप में भूमि देने का उल्लेख किया गया है। किन्तु इसके ठीक बाद के लेख से ज्ञात होता है कि भूमि का हस्तान्तरण उचित नहीं था।[2]

[illegible]

भूमि भाइयों में बराबर बराबर बाँटी जाती थी। कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों (गौतम धर्मसूत्र आदि) में इसका उल्लेख मिलता है कि ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अतिरिक्त भाग भी प्रदान किया जाता था किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रथा का लोप हो जाता है। वस्त्राभूषण नारियों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी जिस पर पुत्रियों का अधिकार था। भूमि पर उनका कोई अलग अधिकार नहीं होता था क्योंकि अपने पति या भ्राता के हिस्से में से केवल उत्पादन के उपभोग का अधिकार उन्हें दिया जा सकता था।

जब वैयक्तिक भूमि का विक्रय कठिन था तो भला सामूहिक भूमि चरागाह आदि के विक्रय का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार क्रय या उत्तराधिकार द्वारा इस पर स्वत्व नहीं प्राप्त कर सकता था। राज्य का भूमि पर केवल इतना अधिकार था कि वह कृषकों से कृषि कर प्राप्त करे। यह कृषि कर कृषि उपज का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{12}$ वाँ भाग तक हुआ करता था। कृषि-कर वसूल करने के लिए राज्य की ओर से ग्राम भोजक नामक पदाधिकारी नियुक्त था। ग्राम भोजक का पद कभी तो पैतृक होता था और कभी ग्राम सभा राज्य के लिए इसका निर्वाचन करती थी। इन पदाधिकारियों का कर्तव्य था कि वे सड़कों का निर्माण करें और किसी राजकुलीन व्यक्ति या उच्च अधिकारियों के आगमन पर उनके भोजन की व्यवस्था करें। ग्राम भोजक कृषकों पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव नहीं डाल सकते थे क्योंकि कृषकों को यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे उच्च अधिकारियों के सम्मुख अपनी कठिनाइयों को रख सकें।

---

[1] विनय पिटक २।१५८॥ जातक ।१६७॥

[2] शतपथ ब्राह्मण १३।७ १५॥

सम्पन्न थे। इसीलिए उनमें ब्राह्मण भी नहीं ले जाता था। कभी-कभी ग्रामीण जनता सहकारिता के आधार पर सम्मिलित श्रमदान द्वारा अपने ग्रामों में सड़कों का संरक्षण करते थे, बाँध बनाते थे तथा इसी प्रकार के अन्य सामूहिक स्थानों, विश्रामगृह आदि का निर्माण करते थे। सार्वजनिक कार्य में नारी तक भी स्त्रियाँ अपना गर्व समझती थीं।[1]

ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में डेविड्स महोदय ने लिखा है—

इन ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था सरल थी। कोई भी घर आधुनिक ढंग से धनी नहीं बन सकता था पर साथ ही यहाँ साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन थे, सुरक्षा और स्वतंत्रता थी। न तो वहाँ जमींदार थे और न भिखारी।

ग्रामों में अपराध बहुत कम होते थे। बहुधा सरकार इन पर पूर्ण नियंत्रण रखती थी। इतना ही नहीं अपराधों को रोकने के लिए सरकार सदैव तत्पर रहती थी जिससे ग्रामीणों का जीवन शान्तिमय था।[2]

ग्रामीण जनता को कभी-कभी संकटापन्न स्थिति का सामना करना पड़ता था जो यह दुर्भिक्ष द्वारा था। डेविड्स महोदय ने यह बताया है कि यद्यपि मेगस्थनीज ने यह लिखा है कि सिंचाई की समुचित व्यवस्था के कारण अकाल नहीं पड़ते थे पर हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि देश में दुर्भिक्ष के कारण ग्रामीण तथा अन्य जनता प्रभावित थी। स्पष्ट पटना के निकटवर्ती जिलों में ही जहाँ यात्री रुका था ऐसे दुर्भिक्ष पड़े थे। यात्री के भ्रमण-काल और विचाराधीन काल में कुछ अन्तर आया था अतः यात्री के विवरण पर अक्षरशः विश्वास करना यहाँ उचित नहीं अथवा यह भी सम्भव है कि दुर्भिक्ष निरन्तर प्रत्येक का भी वर्ष याद यात्री जाता है जब परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी होंगी। इस दृष्टिकोण से यात्री के विवरण की पूर्णतया काट भी नहीं की जा सकती है हाँ इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है और इसलिए इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है जैसा कि मेगस्थनीज के अधिकांश विवरणों में करना पड़ता है।

नगर—बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नगरों (निगमों) का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ प्रमुख नगर ये हैं—

मगधों की राजधानी राजगृह (राजगह), वत्स की कौशाम्बी, कोशल की श्रावस्ती (सावत्थी), वज्जियों की वैशाली (वेसाली), अंग की चम्पा, शाक्यों की कपिलवस्तु, अवन्ती की उज्जैनी (उज्जयिनी), वाराणसी, अयोध्या (अयोज्झा), मथुरा, पाटन, तक्षशिला आदि।[3] मगध की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र तब केवल एक ग्राम पाटलि ग्राम के नाम से विख्यात था। उपरोक्त नगर सारी नदियों के तटों पर ही बने थे और ये अन्तर्देशीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। दीघनिकाय के अनुसार उस काल के छः प्रमुख नगर ये थे—

(१) चम्पा (२) राजगृह (३) श्रावस्ती (४) साकेत (५) कौशाम्बी तथा (६) वाराणसी।[4]

नगरों की संख्या तो हमें अधिक नहीं ज्ञात होती और न उनके नव निर्मित नगरों का ही उल्लेख प्राप्त होता है, हाँ केवल उस परम्परा का पता अवश्य दिखाई पड़ता

---

१ जातक १।१९९॥
२ विनय ४।२२०॥ जातक २।१४९ ३६७॥ ५।१९३॥ ६।४८७॥
३ सुत्त निपात श्लोक ९७७।
४ महापरिनिब्बान सुत्त (दीघनिकाय)

है कि समस्त सुप्रसिद्ध नगर नदियों के तट पर ही स्थित हैं। प्राचीनस्थान की सभ्यताओं की यह विशेषता हम बौद्धकालीन भारत में देखने को मिलती है। सरयू के तट पर अयोध्या, राप्ती के तट पर श्रावस्ती, गंगा के तट पर वाराणसी (काशी), यमुना के किनारे मथुरा एवं कौशाम्बी तथा गोदावरी के तट पर पोतन (अश्मक प्रदेश की राजधानी) नगर बसा था।

इन नगरों के अतिरिक्त जातकों में कुछ अन्य नगरों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें तक्षशिला प्रमुख है। तक्षशिला प्राचीन भारत का सर्वोत्तम नगर था। इसका महत्व शिक्षा की दृष्टि से ही बहुत बढ़ा था। तक्षशिला विश्वविद्यालय से ही पाणिनी जीवक, कौटिल्य जैसे विद्वान स्नातक निकले थे जिन्होंने भारतीय दर्शन एवं साहित्य की अभिवृद्धि में अद्वितीय योग दिया।

नगर साधारणतया दुर्गाकार एक दीवार (प्राकार) से घिरे हुए होते थे। रक्षा के लिए खाइयाँ थीं, पर इस प्रकार के नगरों का उदाहरण अब उपलब्ध नहीं है। नगरों में धनाढ्य और निर्धन दोनों प्रकार के लोग निवास करते थे, अतः यहाँ भिन्न भिन्न ऊँचाई और बनावट के मकान थे। श्रीमानों की उच्च अट्टालिकायें ईंटों की बनी होती थीं और उनमें चित्रकारी तथा रंगाई की जाती रहती थी। भवन निर्माण में पत्थर का प्रयोग नाममात्र का होता था, अन्यथा मकान लकड़ी तथा ईंट के होते थे। भवन में प्रकाश एवं वायु का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। उनमें सड़क की ओर खुलनेवाली खिड़कियाँ भी थीं। भवनों के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है जिससे हमें भवनों में प्रयुक्त सामग्रियों तथा उनकी बनावट के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से ज्ञात होता है।[1] उच्चकुलीन व्यक्तियों के निवासस्थान के सम्बन्ध में बताते हुए विनय पिटक में भवन की पूर्ण बनावट पर प्रकाश पड़ता है।[2]

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जिन रेलिंग और स्तम्भों का उल्लेख इन ग्रन्थों में किया गया है वे लकड़ी के निर्मित थे अथवा पत्थर के। छठी शताब्दी ई०पू० से पहले भी हमें भवन निर्माण में पत्थर के प्रयोग का उल्लेख मिलता है—गिरिव्रज में एक गढ़ी (दुर्ग) का पत्थर की दीवारों से घेरा गया था। किन्तु बुद्धकालीन भारत में पत्थरों का प्रयोग निश्चय ही स्वल्प हो गया था और केवल स्तूप या जीने में ही इसका प्रयोग होता था। पत्थर की इमारत का उल्लेख केवल एक बार किया गया है वह भी परियों की दुनियाँ में बताया गया है।[3] इन समस्त प्रमाणों के आधार पर हमें अपने पूर्व निश्चित मत अर्थात भवनों में ईंट तथा लकड़ी के प्रयोग को ही मान्य समझना होगा। धनाढ्यों के भवनों के चित्रित होने का उल्लेख हमने पिछले पृष्ठ में किया था इस सम्बन्ध में भी बौद्ध ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक लिखा गया है। चित्रकारों के नमूने, लेप बनाने की विधि (pla ter) जिन पर ये चित्र बनाये जाते हैं आदि का विस्तृत विवरण विनय में दिया गया है। चित्रकारी के चार प्रमुख नमूनों के भी वृत्तान्त सुरक्षित हैं। वे इस प्रकार हैं —

(क) मालाकार (Wreath work)
(ख) लताकार (Creeper work)
(ग) पंचसूत्राकार (Five ribbon work) तथा
(घ) नागदन्ताकार (Dragon s Tooth work)।

---

[1] विशद विवरण के लिए देखिये रीज डविड्स *Buddhist India* pp 47 51
[2] विनयपिटक ३।१९६।। १०४–११५ १६०–१८०।।
[3] जातक २। २६९।।

चित्रकला के उक्त आदर्शों को जान कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि भी दीवारों पर चित्र बनाने की कला उतनी उन्नति न कर सकी जो जितनी अजन्ता की कला में पाई जाती है तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि अब इसमें कलात्मकता का पुट अधिक दिया जाने लगा था और यह उन्नति के पथ पर अग्रसर थी।

विशाल भवनों का प्रवेश द्वार भी विशाल था जिसके दायें-बायें खजाना था, अन्न भण्डार थे। प्रवेश द्वार में जाने के बाद भी भीतरी बरामदे थे जिनके ऊपर चौड़ी छत (उपरिपासादतल) थी जिस पर भवन का स्वामी बैठता था। यह कक्ष भोजन गृह कार्यालय तथा शृंगार कक्ष का भी काम देता था।

राजाओं के महलों में सम्पूर्ण राज-काज के लिए स्थान था। रनिवासों की सुन्दरता निश्चय ही अद्वितीय रही होगी। सम्भवत राजमहल के अतिरिक्त कोई भी ऐसा कार्यालय नहीं था जहां राजकीय कार्य किया जाता हो। अत ऐसा जान पड़ता है कि समस्त सरकारी कार्यालयों का राजमहल के भीतर होना ही आवश्यक था।

डविड्स महोदय ने बौद्ध ग्रन्थों में सात मंजिलवाले भवन का भी उल्लेख पाया है जिसे सप्त भूमक पासाद कहते थे। दुर्भाग्यवश अब इनमें से किसी का भी भग्नावशेष तक नहीं रह गया किन्तु एक परवर्ती काल का ऐसा भवन आज भी पुलस्तिपुर (लंका) में है तथा दूसरा जो एक हजार पाषाण स्तम्भों पर २ शताब्दी ई० पू० अनुराधपुर में खड़ा किया गया था इसी द्वीप का दर्शनीय अवशेष है।

इस सामूहिक द्यूत गृहों का भी विवरण कुछ ग्रन्थों से प्राप्त होता है। इन द्यूत-गृहों का सम्बन्ध राजमहल से था और ये राजमहल के सामान्य भाग थे। आप स्तम्भ २।२५॥ में यह उल्लेख आया है कि इस सार्वजनिक द्यूत गृहों की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य था तथा परवर्ती पुस्तकें इस रहस्य का उद्घाटन करता है कि द्यूत की जीत में राजा को भी कुछ भाग मिलता था और वह धन राजकोष में संगृहीत होता था। एक जातक में द्यूत सम्बन्धी विशेष सूचनायें प्राप्त होती हैं।

स्नान भवनों का भी इन दिनों अपना स्थान था। ये अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से बने होते थे। इनमें एक साथ सकड़ों आदमियों के बैठने के लिए स्थान था। विनय ३।१०५–११० २९७॥ में इसका पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। आधुनिक टर्किश बाथ जैसा स्थान इन दिनों भी यहाँ होता था यह कुछ आश्चर्य की बात है। स्नानागार दो प्रकार के थे—एक उष्ण वायु स्नान भवन (Hot air baths) तथा दूसरा सामान्य स्नानागार जो खुला हुआ होता था। इन स्नानागारों को काफी सजाया जाता रहा होगा और उपवन-वाटिकाओं से इन्हें शोभायमान किया जाता रहा होगा।

डविड्स महोदय ने आगे निर्धनों की झोपड़ियों का भग्न चित्रण करते हुए लिखा है कि धनाढ्यों के भवनों की संख्या कम थी। निर्धनों के एक मंजिल वाले मकान नगर की बदबूदार तंग गलियों में घने बने थे डविड्स महोदय के ही शब्दों में—

There was probably a tangle of narrow and evil smelling streets of one storied wattle and daub huts with thatched roofs the meagre dwelling places of the poor

---

१ जातक १।२२७ ३४६॥ ४।३७८॥ ५।४२६॥ ६।५७७॥

२ *Mr Cave* की *Ruined Cities of Ceylon* (Plate xii) में इसका चित्र दिया गया है।

३ जातक ६।२८१॥

नगरों में बाजारों की पंक्तियां थीं जहाँ दुकानें साधारण रूप में सजा रखी थीं। बाजारों का पथक-पथक क्षेत्र रहा होगा यह भी सम्भव है।

नगरों में बरसाती पानी निकालने के लिए छोटी बड़ी नालियां थीं और बड़े बड़े दुर्गों में बड़ी प्रणालियाँ रही जिनसे पानी बाहर जाता था। नगर में सफाई रखने के लिए साधारण व्यवस्था थी।

श्रमणों तथा अन्य बुद्धों में शवों का शवदाह के पश्चात् उनके भस्मावशेष पर स्तूप बनाकर चिरस्मरणीय बनाया जाता था। साधारण लोगों के शव सम्भवत यों ही खुले छोड़ दिये जाते थे जो पशु पक्षियों का आहार बनते थे। स्तूपों का भी बुद्धकालीन नक्शे में विशेष स्थान है।

शिल्प-कला—भवन निर्माण के सम्बन्ध में विचार करते समय हमने तत्सम्बन्धी कला का निर्देश किया था। यहाँ शिल्पकला पर विचार किया जायगा। बुद्धकालीन कला विकासोन्मुखी थी। चित्रकारों की भाँति स्वर्णकार कुम्भकार तथा अन्य वास्तु विशारदों की कला भी दर्शनीय थी। इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन उद्योग धन्धों में किया जायगा।

आर्थिक व्यवस्था

बुद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था की न्यूनतम पर मूल इकाई कृषि के सम्बन्ध में हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा था। यहाँ कृषि-सम्बन्धी उद्योग-धन्धों सहायक उद्योगों तथा कुछ प्रमुख उद्योग धन्धों एवं व्यापारों पर विचार किया जायगा।

कृषिसम्बन्धी उद्योग धन्धे तथा अन्य सहायक उद्योग धन्धे—कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में बसता था जिनका प्रमुख पेशा कृषि था किन्तु कृषि के अतिरिक्त लोग तत्सम्बन्धी उद्योग तथा सहायक उद्योग धन्धे भी किया करते थे।

जातक में कुल १८ प्रकार के उद्योग धन्धों का उल्लेख किया गया है पर दुर्भाग्य से उनकी सूची प्राप्त नहीं है केवल चार प्रकार के उद्योगों का ही नामांकन किया गया है—जैसे बढ़ई लोहार चमकार तथा चित्रकार। डेविड्स महोदय ने इन अट्ठारह प्रकार के उद्योग धन्धों की सूची (अनुमान से) इस प्रकार दी है—

(१) बढ़ई (२) लोहार (३) प्रस्तरकार (४) बुनकर (५) चमकार (६) कुम्भकार (७) हाथीदांत के कारीगर (८) रंगरेज (९) जौहरी (१०) मछुए (११) कसाई (१२) बहेलिया (१३) बावर्ची (१४) नाई (१५) माली (१६) नाविक, (१७) टोकरी बनानेवाले (आधुनिक धरिकार जो ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी टोकरी बनाने का काम करते हैं) तथा (१८) चित्रकार।

उपरोक्त शिल्पियों में से कुछ ने अपनी श्रेणियां स्थापित कर ली थीं और कुछ असंगठित रूप से काम करते थे। इनमें अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते थे और कृषक ही उनकी आय के प्रमुख साधन थे। उच्च कोटि के कलाकार नगरों में रहते थे।

नीचे इन शिल्पियों पर पृथक-पृथक विचार किया जायगा।

(१) बढ़ई—बढ़ई केवल लकड़ी के सामान्य काम ही नहीं करते थे प्रत्युत वे गाड़ियां—जलयान भवन आदि भी बनाते थे। इनका कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत था अतः आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण हाथ रहा होगा।

(२) लुहार—ये आधुनिक लुहारों के लगभग समस्त कार्य करते थे। कृषि औजारों का बनाना सम्भवतः इनका मुख्य कार्य रहा होगा। ये हथियार भी बनाते थे। अच्छी अच्छी सुइयाँ भी ये सुन्दर ढंग से बना लेते थे।

(३) प्रस्तरकार—भवनों में प्रयुक्त पत्थरों को ये सुन्दर और सुडौल बनाते थे। मूर्तियाँ छज्जे आदि बनाने में ये काफी निपुण थे। प्रस्तर स्तम्भ भी ये सुन्दर बना लेते थे। इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ बिल्लौर की प्यालियाँ (Crystal bowl) तथा तिजोरियाँ थीं जिनके उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

(४) बुनक—इस काल के बुनक अपनी कला में काफी दक्ष थे। वे न केवल साधारण कपड़े बुनते थे वरन् सुन्दर-सुन्दर मिश्रित के वस्त्र भी तैयार करते थे। वे बहुमूल्य कम्बल तथा कालीन आदि भी बनाते थे।

(५) चर्मकार—ये जूता बनाने के अतिरिक्त चर्म की मूल्यवान वस्तुयें भी बनाते थे।

(६) कुम्भकार—दैनिक प्रयोग के मिट्टी के बरतन ये बड़ी कुशलता से बनाते थे।

(७) हाथीदाँत के कारीगर—हाथीदाँत का काम मौर्य काल में पहले से ही उन्नत अवस्था में था। इस काल के कारीगरों ने इस कला में अभिवृद्धि की और ये हाथीदाँत की साधारण वस्तुओं से लेकर कीमती वस्तुयें तक भी बनाते थे। इनके बनाये हुए आभूषण सुन्दरता में अद्वितीय थे।

(८) रंगरेज—ये कपड़ों की रंगाई करते थे।

(९) जौहरी—इनकी कृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं जिन्हें देखकर हम उनकी कला की प्रौढ़ता का अनुमान लगा सकते हैं तथा उनकी शैली का भी वर्णन कर सकते हैं।

(१०) मछुए—रीज डेविड्स महोदय का यह विचार है कि ये केवल नदियों में ही शिकार किया करते थे। समुद्री मछलियों का शिकार ये नहीं करते थे।

(११) कसाई—इनकी दुकानों तथा कसाईखानों का उल्लेख ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्राप्त होता है।

(१२) बहेलिया—इनके सम्बन्ध में भी पुस्तकों में विवरण प्राप्त होता है। ये वन उपजों तथा पशुओं को शहरों में गाड़ियों पर लादकर बिक्री के लिए लाते थे। वन उपजों के अतिरिक्त पशुओं की खालों की भी काफी माँग थी अतः इनके व्यवसाय को काफी प्रोत्साहन दिया जाता रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनकी कोई श्रेणी बनी थी अथवा नहीं।

(१३) बावर्ची तथा हलवाई—इनके कार्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। सम्भवतः इन्होंने अपनी श्रेणी बना ली थी।

(१४) नाई—नाइयों ने भी अपना संगठन बना लिया था।

(१५) माली—मालियों का काम फूल बेचना था। ये सम्भवतः साधारण फल के बगीचे भी लगाते रहे होंगे।

(१६) नाविक—प्रमुख नगर बड़ी-बड़ी नदियों के तट पर ही बने थे। अतः अन्तर्देशीय व्यापार तथा गमनागमन में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। ये सामुद्रिक यात्रा भी करते थे। जातकों में सामुद्रिक यात्रा का यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है।

(१७) टोकरी बनानेवाले—इनके सम्बन्ध में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं।

(१८) चित्रकार—भवन निर्माण के सम्बन्ध में लिखते समय इनकी कला का निर्देशन किया गया है। बहुधा चित्रकार भित्ति चित्रों में ही अधिक रुचि लेते थे।

निगम या श्रेणी—शिल्पियों के संगठन का निर्देशन ऊपर किया गया है। इन संगठनों को निगम अथवा श्रेणी कहा जाता था। लगभग सभी प्रमुख उद्योगों व कारीगरों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। इन श्रेणियों में प्रशिक्षा प्राप्त करनेवालों को अन्तेवासिक कहते थे। अन्तेवासिक का शाब्दिक अर्थ वहाँ के रहनेवाले हैं। निगम का प्रधान जेटठक (ज्येष्ठक) कहलाता था। जातक-ग्रन्थ (१।३०८॥ ३।४ २॥ ४।१३७॥) में मालियों नाविकों काष्ठिकार व्यापारियों, रथकारों तथा डाकुओं के जेटठकों का उल्लेख किया गया है।

सेटिठ—कुछ ग्रन्थों में सेटिठ शब्द प्रयुक्त हुआ है जो सम्भवतः प्रमुख अथवा प्रधान व्यापारी थे। इसी के अर्थ में ही सेटिठ का प्रयोग होता रहा होगा। जातकों में *महासेटिठ तथा अनुसेटिठ शब्द आये हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि सेटिठयों* में भी उनकी स्थिति के अनुसार छोटे व बड़े थे।

वाणिज्य और व्यापार—अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापार उन्नत अवस्था में थे। रेशम, मलमल, मूल्यवान वस्तु, अस्त्र-शस्त्र, पिन, जरी के काम या नक्काशी, कालीन, औषधि, हाथीदांत की वस्तुएँ, आभूषण आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ थीं। व्यापार के सम्बन्ध में डेविड्स महोदय ने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है जिससे ज्ञात होता है कि काफिला बनाकर अथवा नाव द्वारा व्यापारी दूर-दूर तक यात्रा करते थे और हर दूसरे देश में प्रवेश करते समय उन्हें चुंगी देनी पड़ती थी।[१]

सख जातक में एक ब्राह्मण व्यापारी का उल्लेख मिलता है जिसने एक नाव को सुवर्णभूमि की यात्रा के लिए विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं से भरा।[२]

इन विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि अन्तर्देशीय व्यापार के लिए यातायात की पूर्ण सुविधा न थी, काफिलों द्वारा होनेवाले व्यापार को डाकुओं से क्षति पहुँचने की आशंका बनी रहती थी तथापि ये दोनों व्यापार हुआ करते थे। मार्ग की प्रबल शक्ति का ही इसमें प्रमुख हाथ रहा होगा।

---

[१] therewere merchants wo conveyed th ir goods either up and down the great rivers or along the coasts in boats or right across country in carts travelling in caravans These caravans long lines of small two wheeled carts each drawn by tow bullocks were a distin tive feature of the times There were no made roads and no bridges The carts struggled along slowly through the forests along the tracks from village kept open by the peasants The pace never exceeded tw miles an hour Smaller streams were crossed by gullies leading d wn to fords the larger ones by cart ferries There were taxes and octroi duties at each different country entered and a heavy item in the cost was the hire of volunteerpolice who let themselves out in bands to protect caravans against robbers on the way The cost of such carriage must have been great so great that only the more costly goods could bear it —*Buddhist India* pp 60 61

[२] जातक ४।२१ में इसका उल्लेख है। सुवर्णभूमि' का संकेत बर्मा तथा स्याम से है—देखिये Dr Mabel Bodem the *Sasana Vamsa* p 12 Quoted by Mr Rhys Davids

व्यापार-मार्ग—पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में व्यापार-मार्गों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु उसके बाद के ग्रन्थों में इनका निर्देशन किया गया है। ये मार्ग दोनों प्रकार के अर्थात् जलीय और स्थलीय थे। डवि स महोदय ने इन व्यापार मार्गों की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम का मार्ग—सावत्थी से पतिट्ठान (पैठान) तक जिसमें पड़नेवाले प्रमुख स्थान महिस्सति उज्जैनी गोनद्ध विदिशा, कौशाम्बी तथा साकेत थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व का मार्ग—सावत्थी से राजगह (राजगृह) तक जिसमें सेतव्य, कपिलवस्तु, कुसीनारा पावा, हत्थिगाम भंडगाम वैशाली पाटलिपुत्र तथा नालन्दा प्रमुख स्थान पड़ते थे जहाँ व्यापारी रुकते थे। यह मार्ग सीधे न जाकर काफी घूमकर जाता था।

(३) पूर्व से पश्चिम का मार्ग—यह प्रधानतः जल मार्ग था और बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा यातायात होता था। गंगा में सुदूर पश्चिम सहजाति तक तथा यमुना में उसी दिशा की ओर कौशाम्बी तक नावें जाती थीं। आगे चलकर नावें गंगा के मुहाने तक जाने लगीं और वहाँ से सामुद्रिक मार्ग पकड़कर बर्मा चली जाती थीं।

जातकों तथा अन्य ग्रन्थों में इन मार्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यापार मार्गों का भी उल्लेख किया गया है। इनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) विदेह से गान्धार तक
(२) मगध से सोवीर तक,
(३) भरुकच्छ से बर्मा तक
(४) बनारस से बर्मा तक (गंगा के मुहाने से होते हुए) तथा
(५) चम्पा से बर्मा तक।

जातक ४।१३७। में हमें भरुकच्छ (सम्भवतः भड़ौच) बन्दरगाह का उल्लेख मिलता है। दिव्यावदान महावंश तथा धम्मपद-टीका में सुप्पारक (डा० वा० सा० ला के मतानुसार सुपारा) नामक दूसरे बन्दरगाह का उल्लेख किया गया है।

बाजार, विनिमय का माध्यम तथा साझेदारी—उद्योग धन्धों तथा कृषि-द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए स्थान-स्थान पर बाजार थे। वस्तु विनिमय (Barter) प्रथा का पूर्ण ह्रास हो चुका था। अब कार्षापण (कहापण)[1] नामक एक

---

[1] कार्षापण का प्रयोग पाणिनी ने भी प्राचीन काल की प्रचलित मुद्राओं के रूप में किया है। श्री दुर्गाप्रसाद ने अपने निबंध में (ज० आर० ए० एस० बी० न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेन्ट संख्या ४५ भाग ४८ ७७) मौर्यपूर्व मुद्राओं पर विचार करते हुये बताया है कि मुद्राओं के ऊपर चिह्न विभिन्न प्रकार के मिश्रित चिह्न होते हैं, जैसे सूर्य, तीर की नोक, बैल के प्रतीक मोर कुत्ते, धनुष अथवा पहाड़ी हाथी बारहसिंगा, मेढक, आदि। मुद्राओं के दूसरी ओर वाले चिह्न मुद्रा को जाँच करने वाले सर्राफों तथा परख करने वालों के हैं।—श्री एन० एन० घोष द्वारा उद्धृत।

राज्य ही मुद्राओं का निर्माता या संचालक न था अपितु उनके अधिकारी अथवा बड़े-बड़े वणिक 'सेट्ठक' आदि भी अपना अपना प्रतीक इन पर अंकित करते जाते थे। इस प्रकार जिस मुद्रा पर जितने ही अधिक चिह्न होंगे उन्हें उतनी ही पुरानी समझना चाहिये।

प्रकार के सिक्के का व्यवहार क्रय विक्रय में होता था। काहापण तांबे का बनता था जिसकी तौल १४६ ग्रेन था और जिस पर विविध चिह्न अंकित होते थे। चाँदी के सिक्कों का प्रयोग नहीं होता था। सम्भवतः आधा तथा चौथाई काहापण भी प्रयोग में लाये जाते थे अन्य किसी प्रकार के काहापण का प्रयोग नहीं किया जाता था। स्वर्ण-मुद्रायें भी प्रचलित नहीं हुई थीं। अब तक राज्य द्वारा वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रण नहीं हुआ था। आगे चलकर मनुस्मृति में हमें इस प्रकार की व्यवस्था का बोध होता है। छठी शताब्दी ई० पू० में मूल्य निर्धारक का उल्लेख मिलता है जिसका कार्य बाजार में वस्तुओं का मूल्य निर्धारण नहीं था बल्कि वह राजप्रासाद के लिए क्रय की जानेवाली वस्तुओं का मूल्य तय करता था। व्यापार में उधार चलता था। ब्याज पर रुपया भी दिया जाता रहा होगा क्योंकि ब्याज का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है यद्यपि ब्याज की दर का निर्देशन नहीं है।

व्यापार में साझेदारी भी होती थी जिसका उल्लेख कूट वाणिज्य जातक में किया गया है। साझे में ईमानदारी न बरतने का भी विवरण प्राप्त होता है और बेईमानी करनेवाले को असफल होकर अन्त में बराबर-बराबर अंश देना पड़ता है। सुधारक जातक से भी साझेदारी का विवरण प्राप्त होता है। कथा इस प्रकार है—कुछ सामूहिक व्यापारियों ने व्यापार के लिए नौका ठीक करके उसे एक अन्ध नाविक के संरक्षण में दे दिया जो हर प्रकार की सामुद्रिक आपत्तियों को झेलकर तथा उन पर विजय पाकर सफलतापूर्वक नौका वापस लेकर आया। लाभ में प्राप्त बहुमूल्य वस्तुओं का बराबर-बराबर वितरण सभी साझेदारों में कर दिया गया। यह आर्थिक व्यवस्था प्रारम्भिक रूप में होते हुए भी काफी उन्नतिशील ज्ञात होती है।

भाषा और साहित्य

बुद्धकालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् हम तत्कालीन भाषा और साहित्य की गतिविधियों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

लेखन कला का उदय और विकास—यहाँ हम भारत के उस इतिहास पर विचार कर रहे हैं जो लगभग एक हजार बारह सौ वर्ष पूर्व से संसार के ज्ञान में विश्व में अपना प्रमुख स्थान रखता चला आ रहा था जिसमें समस्त धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था और उनका भाष्य अनेक धार्मिक ग्रन्थों पर जम चुकी थी। यह वह काल है जहाँ तक पहुँच कर भारत ने अपने बौद्धिक विकास के अनेक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये थे। पिछले परिच्छेदों में हम ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। ये सारे ग्रन्थ अपनी विशिष्टता तथा साहित्यिकता के लिए आज भी विख्यात हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि भारतीयों ने अब तक लिखना पढ़ना नहीं सीखा था। ये सारे ग्रन्थ बिना लिखे पढ़े ही रचे गये थे। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रारम्भ में लेखनी से अछूते रहे और वे केवल ब्राह्मणों के मस्तिष्क पर उनकी जिह्वा के बार बार पिष्टपेषण से निकले गये थे। अनुमानतः सातवीं आठवीं शताब्दी ई० पू० से पहले भारत में लेखन कला का विकास नहीं हो सका था। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि उस समय की हस्तलिखित पुस्तकों आदि का कोई निर्देशन किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता जब कि तत्कालीन अथवा कुछ पश्चात् के ग्रन्थ व्यक्ति या समुदाय की वैयक्तिक या सामाजिक वस्तुओं को गिनाते समय उनकी छोटी से छोटी वस्तुओं से लेकर भारी से भारी वस्तुयें तक गिनाई जाती हैं। हस्तलिपियों अथवा पुस्तकों की भी गणना उक्त सूची में की गई होती किन्तु इनकी अनुपस्थिति में इसका कोई प्रश्न नहीं उठता था।

यह विचारणीय वस्तु है कि भारत जैसे उन्नत देश में इतने बाद में लिखना आरम्भ किया गया किन्तु इसमें भी एक रहस्य है। ब्राह्मणों को अपने स्वर्गीय मन्त्र का उच्चारण परम गुप्त बनाना था वे अपने ज्ञान को अपने वर्ण तक ही सीमित रखना चाहते थे। ऐसी दशा में वैदिक ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने के स्थान पर उन्हें लिखने का कम प्रश्रय मिल सकता था।

दूसरा कारण यह था कि उस उच्च बौद्धिक स्तर पर पहुँचकर शिक्षा की इस प्रारम्भिक अवस्था लिखना पढ़ना पर लौटना उन्हें हेय लगता रहा होगा अत प्रारम्भ में उन्होंने इसकी अवहेलना की होगी जो स्वाभाविक भी है।

तीसरा कारण यह रहा होगा कि जिस समय उन्हें लेखन-कला का ज्ञान प्राप्त हुआ उस समय तक वे लेखन-सम्बन्धी सभी आवश्यक सामग्रियों से परिचित नहीं हो सके थे पर किसी विषय को कण्ठाग्र कर लेना अत्यन्त सरल-सा हो गया था क्योंकि यह प्रथा पीढ़ियों से चली आ रही थी।

विनय महावग्ग ७६, चतुर्थ ०८ पञ्चम ७ आदि में ही सर्वप्रथम लेख (लिखने) का उल्लेख मिलता है।

उक्त ग्रन्थों के उदाहरणों के आधार पर डेविड्स महोदय ने इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

इन (विनय आदि) ग्रन्थों की रचना के समय लिखने का प्रचार था इसका प्रयोग राज्यादेशों के प्रकाशन तथा व्यक्तियों के निजी पत्र व्यवहार में होता था। लेखन कला जानना जीविका का साधन तथा सम्मानित साधन था लेखन कला सीखना किसी वर्ग विशेष की बपौती न थी बल्कि सर्वसाधारण तथा स्त्रियाँ भी सीखती थीं।

किन्तु डेविड्स महोदय ने आगे यह भी बताया है कि उस समय जिस स्तर पर लेखन कला पहुँच सकी थी वह पुस्तक रचना के लिए पर्याप्त न थी और अभी इसमें काफी समय लगने को था जब यह स्तर पर पहुँच सकता कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने के स्थान पर लिखा जाता। लिखित पुस्तकों के उल्लेख का अभाव तो इसका सबसे बड़ा प्रमाण है ही जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है साथ ही कुछ ऐसे भी उदाहरण प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तब तक पुस्तकें कोई लिखित रूप नहीं प्राप्त हो सकी थीं। अंगुत्तर निकाय २।१०७॥ ।१३६॥ विनय पिटक ४।१ ६ ॥ आदि के उद्धरणों से डेविड्स महोदय ने सफलतापूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि उस समय तक समस्त धार्मिक नियम तथा अन्य विषय कण्ठाग्र किये जाते थे और इनकी सुरक्षा का उपाय इनको स्मृति में बनाये रखने का सतत प्रयास किया जाता था अत यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि उस समय तक के समस्त ग्रन्थ विद्वानों के मस्तिष्क में थे किसी प्रकार के कागज पर उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

हम अब प्रारम्भिक भारतीय वर्णमाला पर विचार करना होगा। जिस समय सर्वप्रथम लेखन कला का उदय हुआ भारतीयों ने उत्तरी समाइट अथवा दक्षिणी समाइट की वर्णमाला का अनुकरण किया।[१] इस सम्बन्ध में तर्क वितर्क के पश्चात डेविड्स

---

[१] the conclusion hitherto drawn has been either with Weber and Buhler that the Indian Alphabet is derived from the Northern Semites or with Dr Deecke Isaac Taylor and others that it is derived from that of the Southern Semites in South Arabia — *Buddhist India* p 71

महोदय ने अपना विचार प्रकट किया है जो उपर्युक्त मत का खण्डन करता है और वे भारतीय लिपि वर्णमाला की प्रेरणा स्रोत पूर्व सेमिटिक लेखनशैली के मूल स्रोत को बतलाते हैं जिसका प्रयोग दजला नदी की घाटी में होता था।[1]

सातवीं शताब्दी ई० पू० अथवा आठवीं शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में ही सम्भवतः बेबीलोनिया में व्यापार करनेवाले भारतीय व्यापारियों द्वारा सेमिटिक लिपि भारत में लाई गई होगी। इस लिपि में कालान्तर में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार काफी परिवर्तन परिवर्धन हुआ और इसी लिपि को लगभग १ हजार वर्ष बाद ब्राह्मी लिपि कहा जाने लगा किन्तु इस बीच में इसका क्या नाम था यह ज्ञात नहीं है। वर्णमाला के आविष्कार के पश्चात् लेखन सम्बन्धी सामग्रियों का भी क्रमशः आविष्कार हुआ किन्तु जैसा कि बार-बार बताया गया है सकीर्ण मनोवृत्तिवाले हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने अपनी धार्मिक पुस्तकों को लिपिबद्ध करना उचित नहीं समझा क्योंकि इससे उनका रहस्यात्मक धर्म सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य हो जाता, शूद्र भी उसे पढ़ सकते और इस प्रकार धार्मिक ग्रन्थ को अपवित्र बना सकते थे एवं अन्ततोगत्वा उनका रोजगार मारा जाता। डेविड्स महोदय ने निश्चयात्मक ढंग से यह कहा है कि—

हमें इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि छाल या पत्रादि पर लिखी हुई प्राचीनतम भारतीय हस्तलिपि बौद्ध ग्रन्थ की हैं पत्थर अथवा लौह पत्रों पर उत्कीर्ण प्राचीनतम लेख भी बौद्धों के हैं बौद्ध मतावलम्बियों ने ही सर्वप्रथम अपने पौराणिक ग्रन्थों की रचना में लिखने का प्रयोग किया।[2]

इस प्रकार साहित्यिकों एवं विद्वानों द्वारा सकीर्णता में बाँधे साहित्य को असाहित्यिक व्यापारियों के परिश्रम द्वारा किये गये लेखन कला के प्रचार से पूर्ण विकास का रूप मिला। प्रारम्भिक लेख पाली में अधिक लिखे गये (सम्भवतः केवल पाली में लिखे गये) और संस्कृत का स्थान बाद में आया यद्यपि यह हजारों वर्ष से बोली जा रही थी।

भाषा—भाषा के सम्बन्ध में बहुत तर्क वितर्क प्रस्तुत किया जाता है। कुछ विद्वानों ने संस्कृत की प्रधानता स्थापित करने का भी प्रयास किया है किन्तु यह तर्क संगत नहीं है। छठी शताब्दी ई० पू० तथा उसके पश्चात् काफी समय तक ब्राह्मणों की ठेकेदारी की व्यवस्था कम होता रहा। संस्कृत भाषा सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती थी ब्राह्मण इसके लिए जोर भी नहीं दे सकते थे। संस्कृत भाषा के नाटकों के अध्ययन से हम इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगा सकते हैं कि संस्कृत तो किसी प्रकार भी जनभाषा नहीं थी। संस्कृत नाटकों के उच्चकुलीन पात्र तो शुद्ध संस्कृत में सम्भाषण करते हैं किन्तु साधारण पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राकृत ही जनसाधारण की भाषा थी। वास्तव में साहित्यकारों की जनभाषा में भी बनावटी भाषा समझना और साहित्यिकता का पुट होता है। वे शुद्ध ग्रामीण या जनसाधारण की बोली को भी साहित्यिक रूप प्रदान करके उसके प्रयोग करते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि न तो संस्कृत ही जन भाषा थी और न प्राकृत ही।

---

[1] Indian letters were derived neither from the alphabet of Northern nor from that of the Southern Semites but from that source from which these in turn had been derived from the pre Semitic form of writing used in the Euphrates Valley —देखिए वही

[2] डेविड्स *Buddhist India* pp 74-75

अब हम तत्कालीन भाषा के लिए एक दूसरे पहलू पर विचार करना होगा जिससे वस्तुस्थिति काफी स्पष्ट हो जायगी।

छठी शताब्दी ई० पू० में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हो चुका था। इनमें परिव्राजकों का स्थान प्रमुख था। ये गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में घूमते थे और अपनी शिक्षाओं का प्रचार जनता में करते थे। ये अन्य शिक्षकों को भी वाग्विवाद के लिए आमन्त्रित करते थे। ऐसी अवस्था में उनकी भाषा क्या थी यह सोचा जा सकता है। निश्चय ही उनकी भाषा लोक भाषा या इससे काफी मिलती-जुलती भाषा रही होगी। साथ ही इन परिव्राजकों की भाषा का प्रचार एवं विकास भी काफी सम्भव था क्योंकि ये देश के बहुत से भाग में निरन्तर भ्रमण किया करते थे। कौशल राज्य की स्थापना का इस भाषा पर आगे चलकर बहुत लाभप्रद प्रभाव पड़ा क्योंकि इस विस्तृत राज्य की सीमा में इस भाषा को पर्याप्त प्रश्रय दिया गया। किन्तु स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अन्य बोलियाँ भी काफी प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा उच्चकुलीन ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण विद्वन्मण्डली में, प्राकृत साहित्यकारों की रचनाओं में तथा उसका विकृत रूप कुछ क्षेत्र के लोगों में और पाली उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग में प्रचलित रही होगी।

साहित्य—पालिग्रन्थ—विवादग्रस्त काल में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करने का प्रयास सर्वप्रथम धर्मावलम्बियों ने किया होगा क्योंकि अब तक लिपि का पर्याप्त विकास हो चुका था। हिन्दू ग्रन्थों के सम्बन्ध में पहले ही विचार किया जा चुका है। जैन ग्रन्थों की रचना सम्भवतः इस काल में नहीं हो सकी थी यद्यपि जैनी अपने धार्मिक ग्रन्थों की प्राचीनता साबित करते हैं। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ पाली में हैं और इनकी रचनातिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अनुमानतः इनकी रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण के बीच में हुई। कुछ पुरातात्विक प्रमाणों (भरहुत-साँची आदि के अभिलेख) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य तथा शुंगवंश के उत्थान के पूर्व धम्म और विनय की रचना हो चुकी थी। साहित्यिक साक्ष्य मिलिन्द पञ्ह से भी यह ज्ञात होता है कि तीनों पिटक तथा पाँचों निकाय उसके पूर्व विद्यमान थे। महावग्ग तथा चुल्लवग्ग की रचना अशोक के पूर्व हो चुकी होगी क्योंकि इनमें बौद्ध संगीति के सम्बन्ध में ये मौन हैं। चुल्लवग्ग में सुत्तविभंग तथा पाँचों निकाय का उल्लेख किया गया है। अतः ये ग्रन्थ और भी प्राचीन सिद्ध होते हैं। त्रिपिटक में से अन्तिम अभिधम्मपिटक का उल्लेख उक्त ग्रन्थ में नहीं है। अतः छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य पश्चात् से लेकर ५० ई० पू० के बीच में विनयपिटक के पर्याप्त भाग तथा सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों की रचना हो चुकी थी।

ओल्डेनबर्ग आदि ने धार्मिक पाली ग्रन्थों की अन्तर्साक्षियों का गहन अध्ययन करने के पश्चात् इनको इनकी प्राचीनता के आधार पर इस प्रकार रखा है—

(१) बौद्ध सिद्धान्तों का सरल विवरण जिनकी पुनरावृत्ति अब सभी पुस्तकों के पदों या अनुच्छेदों में उन्हीं शब्दों में पाई जाती है।

(२) व्याख्यान जो अब दो या अधिक उपलब्ध पुस्तकों में समान शब्दों में मिलते हैं।

(३) सील, [illegible] १६ कविताओं का संग्रह पारायण, चार या आठ कविताओं का संग्रह अट्ठक, सिक्खापद।

(४) दीघ प्रथम भाग मज्झिम संयुत्त, अंगुत्तर तथा १५२ नियमों से युक्त प्रारम्भिक पातिमोक्ख।
(५) दीघ भाग द्वितीय तथा तृतीय थेर थेरी-गाथा ५०० जातक सुत्तविभंग पतिसम्भिदामग्ग पुग्गलपञ्ञति तथा विभंग
(६) महावग्ग चुल्लवग्ग पातिमोक्ख (२२७ नियम) विमानवत्थु पेतवत्थु धम्मपद कथावत्थु
(७) चुल्ल तथा महानिद्देस, उदान इतिवुत्तक सुत्त निपात धातुकथा यमक पट्ठान।
(८) बुद्धवंस चर्यापिटक अपदान।
(९) परिवारपाठ।
(१०) खुद्दक पाठ

धार्मिक साहित्य के इतर अन्य पाली साहित्य की रचना भी हुई किन्तु वह काफी बाद की रचना है। प्रारम्भ में लोगों की प्रवृत्ति धार्मिक ग्रन्थों की ओर ही रही।

छठी शताब्दी ई० पू० के कुछ प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठों में हमने महावीर तथा गौतम बुद्ध के विषय में प्रकाश डाला है। वास्तव में बौद्धिक क्रान्ति का इतिहास न तो उक्त दो धार्मिक नेताओं तक ही सीमित है और न इससे ही इसकी इतिश्री होती है। महावीर तथा गौतम के पूर्व तथा उनके समय में भी भारत में अनेक विचारकों के सम्प्रदाय विद्यमान थे। इन सम्प्रदायों की संख्या अतिरंजित रूप में बताई जाती है। पाली ग्रन्थ ब्रह्मजाल में बताया गया है कि जिस समय भगवान बुद्ध ने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय देश में ६२ विभिन्न सम्प्रदाय थे। जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग में तो यह संख्या ३६३ बताई गई है। किन्तु यह दोनों संख्यायें अतिरंजित लगती हैं। जान पड़ता है कि जैन तथा बौद्ध प्रचारकों ने सम्प्रदायों की वास्तविक संख्या में कम से भावी सम्प्रदायों की संख्या भी जोड़ दी है जिससे उन सम्प्रदायों की भी कटु आलोचना हो जाय और भविष्य में भी कोई व्यक्ति इन धर्मों (जैन बौद्ध) के इतर किसी धर्म को स्वीकार न करे। वास्तविकता जो भी हो इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन दोनों धर्मों के उदय होने के पूर्व भी देश में कुछ अन्य धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे और अंगुत्तर निकाय की तालिका जिसमें दस सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है काफी प्रामाणिक है। तालिका इस प्रकार है—

(१) आजीविक	(६) मागण्डिक
(२) निगन्थ (निग्रन्थ)	(७) तेदण्डिक
(३) मुण्डसावक	(८) अविरुद्धक
(४) जटिलक	(९) गौतमक तथा
(५) परिव्राजक	(१०) देवधम्मिक।

नीचे इनकी विशेषतायें संक्षेप में बताई जायेंगी।

(१) आजीविक—इस सम्प्रदाय के अनुयायी नग्न रहा करते थे और जीविकोपार्जन के सम्बन्ध में विशेष जटिल नियमों एवं विधियों का अनुसरण करते थे।

(२) निगन्थ (निग्रन्थ)—जैन मतावलम्बियों को निग्रन्थ कहा गया है।

(३) मुण्डसावक—बुद्धघोष ने निग्रन्थ तथा मुण्डसावक सम्प्रदाय को एक ही सम्प्रदाय स्वीकार किया है।

(४) जटिलक—ये ब्राह्मण थे और अपनी जटा [illegible] रहते थे। [illegible] के निकट उरुवेला में इनका प्रमुख केन्द्र था।

(५) परिव्राजक—ये भी ब्राह्मण समाज के अन्तर्गत थे और संन्यास ग्रहण करके इधर उधर घूमा करते थे।

(६) मागन्दिक—बौद्ध ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

(७) तेदण्डिक—सिर के बाल मुड़ाये तथा हाथ में दण्ड लिये चलने वाले ब्राह्मण भिक्षुओं को यह नाम दिया गया था।

(८) अविरुद्धक—इनके सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि ये स्वयं को सबका मित्र घोषित करते थे और किसी का विरोध नहीं करते थे।

(९) गोतमक—ये गोतम के अनुयायी थे किन्तु इस गोतम से गौतम बुद्ध का अर्थ नहीं लेना चाहिए। ये महात्मा बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त के अनुयायी थे। देवदत्त तथा गौतम बुद्ध के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनकी सत्यता में निश्चय ही सन्देह है पर इतना तो विश्वास किया ही जा सकता है कि देवदत्त ने गौतम बुद्ध के विरुद्ध एक पृथक सम्प्रदाय खड़ा किया था।

(१०) देवधम्मिक—जो देवताओं के धर्म को मानते थे उन्हें देवधम्मिक कहते थे किन्तु इसका अभिप्राय किस सम्प्रदाय से है यह अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है।

आत्मा के अस्तित्व (सत्य के उपादान) [illegible] इनके अचल होने, संसार के चिरन्तन होने अथवा न होने, इसके ससीम अथवा निस्सीम होने, वस्तुओं की उत्पत्ति के कारण अकारण आदि समस्याओं पर विभिन्न दार्शनिक चिन्तन और वाद विवाद किया करते थे। ब्रह्मजालसुत्त में इन समस्याओं की एक सूची दी गई है जिन पर श्रमण ब्राह्मण परिव्राजक आदि चिन्तन किया करते थे। समस्याओं के सम्बन्ध में गहन चिन्तन के पश्चात जो सिद्धान्त निश्चित किये जाते थे उन्हें वाद का नाम दिया जाता था और उनके अनुयायियों को वादिन कहा जाता था। मगध ही इस दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र था। इस युग के चिन्तकों के सम्बन्ध में कुछ मान्यतायें प्राप्त हैं जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

कालवाद जिसके अनुसार काल या समय ही सृष्टि का मूल है और वही इसका नियामक है।

स्वभाववाद जिसके अनुसार बिना किसी कारण के ही वस्तुओं की उत्पत्ति स्वभावतः होती है।

नियतिवाद जो संसार की समस्त घटनाओं को नियति का प्रतिफल मानता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था का परिणाम स्वीकार करता है।

यदृच्छावाद जिसके अनुसार संयोग (chance) ही प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के मूल में है भाग्य का इसमें कोई हाथ नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थों में अबौद्ध सम्प्रदाय के छः प्रसिद्ध नेताओं के नाम दिये गये हैं और

के तित्थकर (सम्प्रदायों के जन्मदाता) कहे गये हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इन धार्मिक नेताओं का विवरण प्रभावोत्पादक रूप में दिया गया है।[१]

ये नेता भगवान बुद्ध से पहले के थे क्योंकि स्वयं बौद्ध ग्रन्थों ने यह स्वीकार किया है कि उनकी तुलना में बुद्ध कम आयु के थे और धार्मिक जीवन में अभी बिल्कुल नये थे। नीचे इन धार्मिक नेताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा —

(१) पुराण-कस्सप—इन्होंने अकार्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार न तो भले एवं शुभ कार्य करने से कोई पुण्य और न किसी की हत्या करने से कोई अशुभ कार्य होता है। पुराण-कस्सप किसी प्रकार के शुभ अशुभ कार्य की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते थे अतः कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता उनके लिए कोई महत्व नहीं रखती थी। ये ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि अपने ज्ञान की पूर्णता के कारण ही इनका 'पुराण' नाम पड़ा था। इनके ८० हजार अनुयायी थे।

(२) मक्खलि गोसाल—इन्होंने कर्म और उसके प्रभाव दोनों का खण्डन किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य के चरित्र में दोष और दूषण आ सकते हैं किन्तु पुनर्जन्म ही उनके दूर करने का प्रमुख साधन है। मक्खलि गोसाल ने मनुष्य के भी जीवन तथा चरित्र पर उसके शुभाशुभ कर्मों का प्रभाव नहीं स्वीकार किया है। उनके मतानुसार चौरासी लाख योनियों में निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़े रहने से मूर्ख तथा विद्वान सभी अपने दुःखों से छुटकारा पा लेंगे। मक्खलि गोसाल के अनुयायी 'आजीविक' कहलाते थे। अशोक के समय में भी इनका अस्तित्व महत्वपूर्ण था तथा तेरहवीं शताब्दी के अभिलेखों तक में इनका उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक वत्त प्राप्त होते हैं किन्तु यह आजीविकों द्वारा लिखे हुए न होकर मक्खलि गोसाल के आलोचकों द्वारा लिखे गये हैं।

(३) अजित केसकम्बलिन—इनका मत था कि मृत्यु के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है और कर्म द्वारा किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है। शरीर के विनष्ट हो जाने पर मूर्ख तथा विद्वान सभी समान रूप से विनष्ट हो जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् वे नहीं रह जाते। अजित केसकम्बलिन का सिद्धान्त 'उच्छेदवाद' कहलाता था।

(४) पकुध कच्चायन—इनका सिद्धान्त था सनातच्छि विनासो असतानत्थि सम्भवो अर्थात् जो कुछ है उसका विनाश नहीं किया जा सकता और जो नहीं है उसकी (होने की) सम्भावना नहीं। इन्होंने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का खण्डन करते हुए सात स्थायी पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना की है जो (१) भूमि (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) सुख (६) दुःख तथा (७) आत्मा है।

(५) निगण्ठनातपुत्त—समस्त बन्धनों से मुक्त होने के कारण ही इन्हें निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) कहा जाता था। ये जैन धर्म के संस्थापक थे।

(६) संजय बेलट्ठपुत्त—इन्होंने अपने चरित्र प्रश्नों का विचित्र उत्तर देकर निराशा से मगध के प्राचीन निवासियों के लिए तर्क और चिन्तन का विषय बने हुए

१ समन ब्राह्मण संघिनोगणिनोगणाचार्य ञाता यसस्सिनो तित्थकरो साधुसम्मता बहुजन ■ अर्थात् श्रमण तथा ब्राह्मण धार्मिक नेता सम्प्रदायाध्यक्ष, सम्प्रदायाचार्य तथा सम्प्रदायों के जन्मदाता के रूप में विख्यात तथा बहुत से लोगों द्वारा सम्मानित। इस प्रकार उनका प्रभावपूर्ण विवरण बौद्ध ग्रन्थों में दिया गया है जिससे उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का बोध होता है।

थे। उदाहरणार्थ जब अच्छे और बुरे कर्मों का क्या परिणाम होता है इसके उत्तर में इन्होंने कहा—

(१) परिणाम होता है (२) परिणाम नहीं होता है ( ) परिणाम होता भी है और नहीं भी होता है (४) न तो परिणाम होता ही है और न यही है कि परिणाम न हो। सञ्जय के उक्त प्रकार के उत्तर में बचाव की भिन्नता सम्भावना है यह स्पष्ट ही है। सम्भवतः ये कुछ भी निश्चयात्मक रूप में नहीं कहना चाहते थे।

उपर्युक्त धार्मिक नेताओं के सिद्धान्तों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम चार नेताओं के विचारों में पर्याप्त साम्य है। ये भाग्यवादी भौतिकवादी या अपने शब्दों में अक्रियावादी थे। इन सब ने मनुष्य के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व तथा उसके शुभाशुभ कर्मों के गुणावगुणों का पूर्ण खण्डन किया है किन्तु वे पुनर्जन्म में विश्वास करते थे और तपस्या भी करते थे। वे पुनर्जन्म का कारण प्राकृतिक नियम को मानते हैं न कि कर्मों को।

बौद्ध पाली ग्रन्थों में इन छः नेताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य धार्मिक नेताओं के नाम भी प्राप्त होते हैं जो अपनी साधुता और शुद्धता के लिए काफी विख्यात थे। गोदावरी-तट पर एक बावरि नामक ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जिसके सोलह शिष्य थे और इनके भी बहुत से अनुयायी थे। ये सब विद्या तथा संस्कृति के केन्द्रों का भ्रमण किया करते थे।

भागवत सम्प्रदाय

बुद्धकालीन ब्राह्मण धर्म की स्थिति का बोध हमें समसामयिक ब्राह्मण ग्रन्थों से होता है। संहिताओं तथा परवर्ती उपनिषदों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म में जिस भागवत सम्प्रदाय का उदय उपनिषदों के युग में हुआ था उसका चरम विकास प्रायः इसी युग में होता है। इस समय पांचरात्रिक नाम से यह सम्प्रदाय चलता है। वासुदेव इस सम्प्रदाय के आराध्य देव थे। भगवान कृष्ण को भी महत्व मिलना आरम्भ हो जाता है। भक्ति तत्व की प्रधानता ही इस ब्राह्मण धर्म की विशेषता रही। उस समय निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति प्रचलित थी।

ऊपर आजीविकों का जो उल्लेख किया गया है उनके सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन यहां कर लेना आवश्यक है। भगवतीसूत्र (४०० ई० पूर्व) में महावीर तथा आजीवक मक्खलि गोसाल की यात्रा का जो विवरण मिलता है उसमें अनेक स्थानों पर वासुदेव व बलदेव के मन्दिरों का उल्लेख है तथा गोसाल की चार घटनायें वैष्णव मन्दिरों में ही घटित बताई गई हैं। वराहमिहिर ने आजीवकों का जो उल्लेख किया है और उसके टीकाकार उत्पल ने उसकी जो यह व्याख्या की है—अमवृद्धश्रावक ग्रहणम माहेश्वर आश्रितानाम इसके आधार पर कर्न महोदय ने आजीविकों को कट्टर वैष्णव कहा था और बूह्लर ने इस मत का समर्थन किया था। किन्तु डा० डी० आर० भण्डारकर ने इस मत का जोरदार खण्डन किया है और डा० बरुआ ने तथ्य इनकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है डा० भण्डारकर ने उत्पल भाष्य की इस व्याख्या की भयंकर भूल के सुधार द्वारा बहुत बड़ी सेवा की है जिसने प्रो० कर्न तथा बूह्लर और उदमट सम्मत पण्डितों को यह सोचने की प्रेरणा दी थी कि आजीवक नारायण के उपासक अर्थात भागवत थे।

बौद्ध धर्म का इतिहास एक आलोचनात्मक अध्ययन

महात्मा बुद्ध को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ। एक नूतन प्रतिभा मस्तिष्क को समलंकृत हुई। संसार के प्रति अब उनकी एक अभिनव दृष्टि उन्मीलित हुई। वस्तुतः यह एक क्रान्ति थी। महात्मा बुद्ध के जीवन में पूर्णतया परिवर्तन था। तथागत आनन्द विभोर हो उठे। उन्होंने एक विचित्र विजय प्राप्त की थी। सर एडविन एरनोल्ड (Sir Edwin Arnold) ने महात्मा बुद्ध के मुखारविन्द से इस अपूर्व अवसर पर निम्नांकित शब्द कहलाए हैं—

> Many a house of life
> Hath held me seeking ever him who wrought
> These prisons of the senses sorrow fraught
> Sore was my ceaseless strife !
> But now
> Thou builder of this Tabernacle—Thou !
> I know Thee ! Never shalt thou build again
> These walls of pain
> Nor raise the roof tree of deceits nor lay
> Fresh rafters on the clay
> Broken Thy house is and the ridge pole split !
> Delusion fashioned it !
> Safe pass I thence deliverance to obtain

इस अप्रतिम ज्ञान चक्षु से सम्पन्न हो महात्मा बुद्ध ने विश्व के कल्याण के लिए अपना अमूल्य ज्ञान वितरित करने का निश्चय किया। धम्म के ही प्रचार के लिए इस मानवताप्रेमी ऋषि ने देश के कोने कोने में यात्राएं कीं। इस महर्षि ने यह घोषणा करता था—

विश्व के अन्धकार में मैं अमरत्व का ढोल पीटूंगा। सबसे प्रथम प्रवचन के पात्र थे वे पांच उनके सहयोगी जिन्होंने कि तथागत का साथ कुछ मास पूर्व छोड़ दिया था। वाराणसी की ओर प्रयाण कर सारनाथ नामक स्थान पर आषाढ़ की पूर्णमासी को उन्होंने धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र किया। इस प्रवचन में तथागत ने तप तथा भोग के दो अतिमार्गों की ओर मध्यम मार्ग की ओर जो कि वस्तुतः में श्रेय पथ इन दो अतियों के मध्य स्थित है इन शिष्यों की दृष्टि आकर्षित की। उसने चार सत्यों की शिक्षा दी। दुख एवं दुख का कारण दुख का निरोध तथा दुख के निरोध के लिए अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख किया। कौण्डिन्य महात्मा बुद्ध का प्रथम शिष्य बना। महात्मा बुद्ध का यह धर्म प्रारम्भ में गौरवशाली मध्य में गौरवशाली अन्त में गौरवशाली था।

धीरे धीरे तथागत के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई। इस महान धर्म प्रचारक के शिष्य अपने गुरु के विचारों से पूर्ण प्रभावित हो अपना सर्वस्व ही बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लगाने के लिए तत्पर हो उठे। इन शिष्यों ने जिस कर्मठशीलता त्याग उत्कट

साम्य एवं लगन का परिचय दिया है वह इतिहास में बेजोड़ है। बौद्ध धर्म के विस्तृत प्रचार का यही रहस्य है। महात्मा तथागत ने अपने शिष्यों को धर्म प्रचार के लिए आह्वान करते हुए कहा था।

हे भिक्षुओ ! विश्व के प्रति करुणा से युक्त, बहुतों के कल्याण के लिए, बहुतों के लाभ के लिए, मानवता तथा देवताओं की भलाई, लाभ एवं कल्याण के लिए अपनी यात्रा पर प्रयास करो।

महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने जिस इस स्थानीय धर्म को विश्वव्यापी धर्म बना दिया। इस चीन, जापान, कोरिया, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, बर्मा, लंका तथा वियतनाम में फैला दिया। स्वयं तथागत ने भी अपने जीवन पर्यन्त अपने धर्म के प्रचार के लिए विभिन्न स्थलों में पर्यटन किया था। उनके इस अध्यवसायी जीवन से उनके शिष्यों को प्रेरणा मिली थी। देवदत्त नामक एक शिष्य ने तथागत के जीवन में ही संघ में फूट डालने का प्रयास किया था। मौद्गल्यायन तथा सारिपुत्र नामक बुद्ध के शिष्यों ने इस दराग्रह पालने वालों को अपने तर्कों से प्रभावित कर उन्हें पुनः बौद्ध संघ में आने के लिए उन्मुख किया। देवदत्त अन्त में संघ का सदस्य बन गया और अपनी मृत्युपर्यन्त बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा। इस प्रकार बौद्ध धर्म में फूट का आविर्भाव न हो सका। ४५ वर्षों तक महात्मा बुद्ध ने इस धर्म का प्रचार किया और अन्त में पावा नामक स्थान पर उन्हें निर्वाण की प्राप्ति हुई। तथागत के अन्तिम शब्द थे—

Decay is inherent in all component things! Work out your own salvation with diligence

संसार की नश्वरता का किनारा पाटते हुए महात्मा बुद्ध भी काल के ग्रास बन गए। अस्थिरता की वायु द्वारा बुद्ध के प्रकाश को शान्त कर दिए जाने पर पुनः संसार अन्धकार के वातावरण में खो गया। मतभेदों एवं व्यक्तिगत व्याख्या ने इस धर्म में एक हलचल-सी मचा दी। धर्म प्रवर्तक की मृत्यु उपरान्त धर्मानुयायियों में विभिन्न विषयों पर मतमतान्तर प्रारम्भ हो गए। तथागत के जीवन में ही देवदत्त ने अपनी विशिष्ट परम्परा अपना कर इस क्षेत्र में—इन विघटनकारी प्रवृत्तियों में—एक जीवन-सा फूंक दिया था। यद्यपि तथागत के जीते जी यह फूट क्रियान्वित नहीं हो सकी थी। लेकिन आन्तरिक मतभेदों को तब स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ जब कि गौतम बुद्ध का प्रभावशाली हाथ इन पर से सदैव के लिए उठ गया।

संघ का एक अधिवेशन आमन्त्रित किया गया जिसमें कि पिटकों के मूलरूप निर्धारित किए जायें। यह अधिवेशन राजगह (राजगृह) में हुआ था। कस्सप ने इस सम्मेलन को सभापतित्व किया। उपालि ने विनयपिटक का संशोधन किया। उपालि सबसे वयोवृद्ध शिष्य था। उसे संघ के अनुशासन के नियमों से पूर्ण परिचय था। आनन्द ने सुत्त पिटक का संकलन किया। यह पिटक प्रवचनों का सार है। कस्सप ने अभिधम्मपिटक का सम्पादन किया। यह पिटक बौद्ध धर्म के आधिभौतिक मनोविज्ञान एवं दर्शन का संग्रह है।

परन्तु संगीतियों की श्रृंखला का यह प्रारम्भ था। १०० वर्ष बाद वैशाली में बौद्ध धर्म की दूसरी संगीति का सम्मेलन हुआ। संघ के एक सम्प्रदाय ने जब बौद्ध धर्म के कठोर नियमों में कुछ शिथिलता किए जाने की माँग की। यह दल युग की माँग के अनुसार धम्म में भी कुछ संशोधन का अभिलाषी था। यह प्रगतिवादी दल महासांघिक नाम से विख्यात है। अन्त में अपने ध्येय में असफल हो जाने पर इन्होंने बौद्ध धर्म से

अपने को अलग कर लिया। स्थविरों का इस प्रकार से बौद्ध धर्म के दर्शन पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित रहा। यही स्थविर आधुनिक काल में थेरवादियों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लेकिन बौद्ध संघ में इस भीषण दरार का कारण था दोनों दलों में कुछ महत्वपूर्ण सैद्धांतिक मतभेद। स्थविरों एवं महासंघियों के बुद्धत्व प्राप्त करने के साधनों में भिन्न-भिन्न मत थे। स्थविरों का मत था कि बुद्धत्व तभी प्राप्त हो सकता है जब नियमों का कठोरता से पालन किया जाय। महात्मा बुद्ध के द्वारा निर्देशित मार्ग का दृढ़तापूर्वक अनुगमन किया जाय। लेकिन महासंघियों के अनुसार बुद्धत्व पूर्व से ही आत्मा में विद्यमान है। उसका केवल विकास ही होना चाहिए। महासंघिकों ने स्थविरों से अपने को पृथक कर अपने अनुयायियों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। इस प्रकार महात्मा बुद्ध के मरने के १०० वर्ष पश्चात् ही उनका धर्म दो स्पष्ट दलों में विभाजित हो गया।

इस संगीति के पश्चात् बौद्ध धर्म का इतिहास लगभग १०० वर्षों तक अस्पष्ट एवं अनिश्चय के वातावरण में पलता। हमको इस शताब्दी के बौद्ध धर्म के विषय में कुछ भी प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध नहीं है। इस अंधकारपूर्ण आवरण को दूर करनेवाला था सम्राट अशोक। २७० ई० पू० में यह महान नरेश भारत का शासक घोषित हुआ। कलिंग के संग्राम के पश्चात यह विजेता धम्म का उपासक बन गया। तत्पश्चात इसने अपने विशेषानुराग के कारण इस स्थानीय धर्म को विश्वव्यापी धर्म बना दिया। उसका धम्म था दया एवं सहानुभूति का, समस्त जीवों के लिए बंधुतुल्य स्नेह का, न्याय एवं सत्य का एवं श्रेष्ठ जीवन के लिए अथक प्रयास था। उसने अपनी जनता के लिए अपने जीवन निर्वाह द्वारा एक आदर्श भी उपस्थित किया। उसने उनके लिए चिकित्सालय खुलवाये। कूप एवं सरोवर खुदवाये। प्रत्येक स्थान पर गौरवशाली स्तूपों की रचना की। इन मानवताप्रिय कार्यों से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति मानवमात्र का आकर्षण बढ़ाया। शीघ्र ही यह धर्म भारत का प्रमुख धर्म बन गया।

अशोक ने केवल धर्म प्रचार का ही कार्य नहीं किया बल्कि उसने धम्म में पड़ते हुए विभाजनों को भी दूर करने की जीतोड़ कोशिश की। पाटलिपुत्र में उसने बौद्ध विद्वानों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। यह सम्मेलन बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति के नाम से विख्यात है। तिस्स इस संगीति का सभापति था। तिस्स मोग्गलि का पुत्र था। ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बौद्ध धर्म में नाना प्रकार के आडम्बर लाने में प्रयत्नशील थे। इन कर्मकाण्डी प्रवृत्तियों से संघ को सुरक्षित रखने के लिए ही अशोक ने एक बार फिर से पिटकों का संशोधन एवं पुष्ट करने की अनिवार्यता का अनुभव किया था। यही सब कारण थे जिनसे विवश हो महान सम्राट ने अपने तत्त्वावधान में यह सम्मेलन आमन्त्रित किया था। कुछ विद्वानों ने इस संगीति की प्रामाणिकता में भी सन्देह उपस्थित किया है। इन विद्वानों के मत का आधार है उत्तरी सिद्धांत के ग्रन्थों में इस संगीति का न उल्लिखित होना। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अधिवेशन केवल थेरवादियों के ही द्वारा सञ्चालित हुआ था। इस प्रकार बौद्धधर्म में भारी दरार की प्रतीति एक सार्वजनिक तथ्य बन गया था।

इस परिस्थिति से लाभ उठा ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ बौद्ध धर्म में प्रवेश पाने को आतुर हो रही थीं। अशोक की मृत्यु ने इन शक्तियों में एक जीवन फूंक दिया। वे सिद्धांत जिनके लिए बौद्धधर्म का अपना विशिष्ट स्थान था अब अपना महत्त्व खोने लगे। इनके स्थान पर ब्राह्मण धर्म के सिद्धांतों ने जिनसे महात्मा बुद्ध को अत्यधिक चिढ़ थी बौद्ध धर्म में अपना घर करना प्रारम्भ कर दिया। ब्राह्मण

धर्म की अपनी इस सफलता के लिए बौद्धधर्म की सहिष्णुता ही उत्तरदायी कही जा सकती है। उदार मत व उदार धर्म ने अपने में प्रवेश पाती हुई कुरीतियों को नहीं रोका। इसी का परिणाम यह हुआ कि शाक्य मुनि तथागत के धम्म में कई सम्प्रदाय हो गए। महायान के उदय में इस तथ्य को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। यद्यपि महायान के उदय के कारण और भी बहुत से हैं लेकिन सबसे प्रमुख कारण तो हमने प्रस्तुत कर ही दिया है। अन्य कारणों को भी हम नीचे संक्षिप्त उपस्थित करने का प्रयास करेंगे। महायान तथा हीनयान शब्दों के मूल तथा अर्थ के विषय में भिन्नता है। यान शब्द का साहित्यिक अर्थ होता है मार्ग, आवागमन का साधन या गाड़ी। महा का अर्थ है बड़ा तथा हीन का अर्थ है छोटा। इन शब्दों का आविष्कार महायानियों ने किया था क्योंकि उनके सिद्धान्तानुसार मानव मात्र को मोक्ष का अधिकार प्राप्त है। हीन यानियों ने अपने को परम्परावादी या स्थविरों के सिद्धान्त का अनुयायी कहा है। इनका दावा है कि वे महात्मा बुद्ध के द्वारा बताए गए मार्ग का ही प्रचार करते हैं और उनके निर्देशानुसार ही बोधत्व प्राप्त करते हैं।

महायान की उत्पत्ति—महायान की उत्पत्ति के विषय में दो अतिमार्गी मत हैं। एक मत है कि यह महात्मा बुद्ध का व्यक्तिगत सिद्धान्त था जो उसने अपने अनुयायियों को दिया था। दूसरी ओर यह बौद्धधर्म विरोधी निन्दनीय विचारों का संग्रह माना जाता है। इसी संग्रह ने महात्मा बुद्ध के शुद्ध सिद्धान्त को कलंकित किया। दोनों अतिमार्गी मतों में सत्यता का पर्याप्त अंश है। महायान मत में किसी भी अन्य धर्म की तुलना में अधिक मात्रा में व्यक्तिगत प्रतिभा का संकलन है। इस मत ने तर्क के मुकाबले 'हृदय' को प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रकार यह महात्मा बुद्ध के सत्यों का मूल रूप है न कि उनका संशोधन या परिवर्द्धन। दूसरी ओर आधुनिक काल में महायान में कई ऐसे सिद्धान्तों ने अपना स्थान कर लिया है जो कि महात्मा बुद्ध द्वारा बताए गए पथ से बिल्कुल विपरीत हैं। इस प्रकार हमने दोनों अतिमार्गियों में सत्यता का अंश पाया।

महायान की उत्पत्ति के लिए दूसरा मत मनोवैज्ञानिक है। कई विद्वानों ने यह बात बड़े प्रभावशाली रूप से कही है कि महायान का उदय वस्तुतः तर्कवाद से एक विद्रोह था और यह विद्रोह अनिवार्य था। भारतीय जनजीवन हीनयान के नास्तिक एवं नैतिक सिद्धान्तों से पूर्णतया सन्तुष्ट हो चुका था। वह इन कठोर प्रतिबन्धों से कुछ राहत चाहता था। दूसरी बात यह थी कि भारतीय मस्तिष्क ने रहस्यवादी तत्वों की श्रेष्ठतम प्राप्तियों को धरोहर के रूप में प्राप्त किया था अतएव उसका इस ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। हीनयान वस्तुतः आत्म-संयम का काव्य से शून्य रूप था। धार्मिक उत्साह से एवं हास्य के भाव से रहित जीवन का प्रतीक था। सामान्य जनता के लिए इन सिद्धान्तों में कोई आकर्षण नहीं था। राधाकृष्णन (Radhakrishnan) ने भारतीय दर्शन (Indian Philosophy) में हीनयान की वस्तुस्थिति इस प्रकार प्रकट की है—

> Such a cold passionless metaphysics devoid of religious teaching could not long inspire enthusiasm and joy The Hinayana ignored the groping of the spirit of man after something higher and wronged the spiritual side of man

इस प्रकार हीनयान का नकारात्मक दर्शन लोकप्रिय धर्म बनने में समर्थ न हो सका। जनता जनार्दन कभी भी उस धर्म का अनुगमन नहीं कर पाती जिसमें उसके दिन प्रतिदिन के जीवन में व्यर्थ के प्रतिबन्ध आरोपित किए जाते हैं। जनता की शक्ति

एवं सामीप्य के अन्तर्गत आए हुए धर्म भी जनता में प्रचलित होते हैं। जब जनता में कोई कठोर नियमों वाला धर्म लोकप्रिय हो जाय तो अनिवार्य रूप से जनपुञ्ज उन नियमों में शिथिलता ला देता है। जब बौद्ध धर्म विश्व-व्यापी धर्म बन गया और उसकी आत्मा का क्षेत्र संकुचित न रह गया तो जन अभिलाषाओं के अनुसार उसको ढालना अनिवार्य बन गया। हीनयान की कठोरता विषम कर दी गई। अब एक उदार तथा आत्म संयमी जीवन के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण वाले धर्म की उत्पत्ति आवश्यक हो गई। यही रूप महायान में निखर आया।

सम्राट अशोक की मृत्यु के १०० वर्ष में ही बौद्धधर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए। अब उन सिद्धान्तों ने भी इस धर्म में प्रवेश पा लिया जिसके लिए इस धर्म के प्रवर्तक ने आजीवन संग्राम किया था। महात्मा बुद्ध को मनुष्यत्व पद से उठाकर उनमें देवत्व की स्थापना कर दी गई। अब बौद्धधर्म में विभिन्न देवी देवताओं ने अपना प्रवेश पा लिया। हिन्दू धर्म ने इस नए परिवर्तन में अपना प्रभावकारी हाथ दिखाया था। अर्हत सिद्धान्त ने जिसमें एक मनुष्य स्वयं प्रयत्नों से बुद्धत्व को प्राप्त होता है अब बोधिसत्व का रूप लिया। यह बोधिसत्व मानवमात्र के कल्याण के लिए है। अब प्रज्ञा के स्थान पर करुणा को स्थान सर्वोपरि दिया गया। अब मोक्ष प्राप्ति के लिए विश्वास का सहारा लिया गया। औरों के कल्याण के लिए अपने पुण्यों के स्थानान्तरण का विधान किया गया। भक्ति-योग को व्यावहारिक रूप दिया गया। अब थेरवाद के नकारात्मक दर्शन के स्थान पर अमर सिद्धान्तों का सकारात्मक रूप उपस्थित किया गया।

इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों के होते हुए भी कभी भी महायान ने यह मत प्रचारित नहीं किया कि उस थेरवाद या उसके किसी अंश पर आपत्ति है। उसने हीनयान का कभी भी तिरस्कार नहीं किया। चीन एवं जापान में अब भी कितने सम्प्रदाय हैं जो पाली ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं। मैकगवर्न (Mc Govern) ने महायान बौद्धधर्म की भूमिका (Introduction to Mahayan Buddhism) में लिखा है—

> While Hinayana regards Mahayan as a corruption of the original Buddhism or at the best a false and decadent branch Mahayana regards Hinayana not as false or contrary to true Buddhism but simply as incomplete or the superficial doctrine which Sakyamuni taught to those who were incapable of comprehending the more profound truths of Mahayana

यहाँ नहीं महायानियों ने कभी भी अपने को एक पृथक् धर्म की संज्ञा नहीं दी है। उन्होंने अपने धर्म को हीनयान का विस्तार ही कहा है। श्री जान ब्लोफल्ड (John Blofeld) ने अपनी पुस्तक The Huang Po Doctrine of Universal Mind की भूमिका में लिखा है—

> The Hinayana view is that Mahayana is a later development which constitutes a great departure from the real teaching of the Buddha The Mahayana view is that the Buddha taught various aspects of truth at different stages in his life specially adapted to the capabilities of people whose powers of understanding were at different levels

दोनों सम्प्रदायों में एक विशिष्ट पृथकता का अस्तित्व अनिवार्य रूप से उभर आया। इन सम्प्रदायों में चाहे कितनी भी समता क्यों न हो लेकिन आज यह दो पूर्ण पृथक मत हैं। दोनों के अपने सिद्धांत हैं, अपने नियम हैं और अपने विचार हैं। क्राइस्ट-मस हम्फ्रीज (Christmas Humphreys) ने लिखा है—

The Mahayana refused to be inhibited the Hinayana was bound by the Canon The former was speculative metaphysical the latter rational and authoritarian The Mahayana was fearless in its logic and its mystical flights the Theravada was content to be the guardian of Dhamma as handed down The closed circle of intense self development became a religion for all and a formula of salvation branched out into a heterogeneous mixture of apparently opposed and incompatible teaching

चतुर्थ संगीति—अशोक की मृत्यु के पश्चात बौद्धधर्म का इतिहास पुनः अंधकार युग में प्रवेश करता है। नागसेन तथा मिलिन्द के वार्तालापों में जाकर यह अंधकार नष्ट हो जाता है। मिलिन्द ग्रीक-बैक्ट्रियन नरेश मिनण्डर (Menander) था। यह नरेश ईसा पूर्व प्रथम या दूसरी शताब्दी में भारत आया था। मिलिन्द प्रश्न में नागसेन ने स्थविरों के अनुसार बौद्धधर्म की व्याख्या की है। लेकिन इस पुस्तक में हमें महायान के दो महत्वपूर्ण सिद्धांत भी प्राप्त होते हैं। एक तो है विश्वास के आधार पर निर्वाण तथा दूसरा बोधिसत्व सिद्धांत। मिलिन्द के शासन के शीघ्र पश्चात भारत में कुषाणों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। कनिष्क इस वंश का सबसे महान सम्राट था। इसका शासन काल प्रथम शताब्दी ईसवी माना जाता है। इसने बौद्धधर्म के प्रचार में अशोक जैसी लगन प्रदर्शित की और उसी नरेश के पदचिह्नों का अनुगमन करते हुए एक संगीति का आयोजन भी किया। यह संगीति चतुर्थ संगीति के नाम से विख्यात है। महायान सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व अशोक द्वारा बुलाई गई सभा में नहीं था अतएव उन्होंने उस सभा का अपनी पुस्तकों में उल्लेख ही नहीं किया है लेकिन इस सम्मेलन में महायान सम्प्रदाय की पूरी छाप थी। केवल थेरवादियों के एक छोटे से सम्प्रदाय ने जिसे सार-वास्तिवादिन कहा जाता है इस सम्मेलन में सहयोग दिया था। इस अधिवेशन द्वारा कनिष्क महायान एवं हीनयान की बढ़ती हुई खाई को पाटने का प्रयास करना चाहता था लेकिन सम्राट अपने उद्देश्य में आंशिक रूप से ही सफल हुआ। ललित विस्तर नामक ग्रन्थ ने कनिष्क की इस भावना को काफी ठेस पहुंचाई थी।

भारत में बौद्ध धर्म का पलायन

ईसा की सातवीं शताब्दी के आते-आते बौद्धधर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। भारत के जनमानस में बौद्धधर्म अपना स्थायी घर न बना सका। हिंदू धर्म ने अपना पतनोन्मुख अवस्था से ऊपर उठकर पुनः राष्ट्रीय धर्म का रूप ग्रहण किया। यद्यपि हर्ष ने बौद्धधर्म के जीर्ण भवन का पुनरोद्धार कराने का प्रयास किया था लेकिन हिंदू धर्म के उदित होते हुए उत्साह के सम्मुख इस नरेश के यह प्रयास असफल ही रहे। हूणों ने बौद्धधर्म की शोचनीय अवस्था को और भी गम्भीर रूप प्रदान किया। उन्होंने मठों, स्तूपों को धूल-धूसरित और उन्हें अग्नि देवता की भेंट चढ़ा दिया। ह्वेनसांग जो भारत में सातवीं शती में आया था इस चिन्ताजनक स्थिति से हमें अवगत कराता है। इत्सिंग (सातवीं शताब्दी के अंत में) बौद्धधर्म की मृत्यु पर आंसू गिराता हुआ खेद व्यक्त

करता है। पाल वंश के अंतर्गत बौद्धधर्म की झलक फिर से एक बार हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। लेकिन १० ईसवी के आते आते मुसलमानों को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए बौद्धधर्म के कम ही स्मारक प्राप्त हुए थे। इसका कारण था भारत में बौद्धधर्म का द्रुतगति से पलायन। यद्यपि बौद्धधर्म अपनी जन्म भूमि में सातवीं शताब्दी में पतनो न्मुख हो गया था लेकिन देश के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में यह अब भी फल फूल रहा था और चीन जापान कम्बोडिया इण्डोनेशिया बर्मा एवं लंका में १४वीं *शताब्दी तक प्रमुख धर्म रहा और अब भी यह कई देशों का राष्ट्रीय धर्म है।*

Questions

आगरा विश्वविद्यालय

(१) बुद्ध के जीवन चरित्र तथा धर्म प्रचार सम्बन्धी कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए (१९४२ १९४८)

(२) गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर एक टिप्पणी लिखिए। उनकी शिक्षाओं की मुख्य बातें क्या हैं। (१९४६)

(३) बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख स्थान कौन से हैं ? आप हीनयान और महायान से क्या समझते हैं। (१९५०)

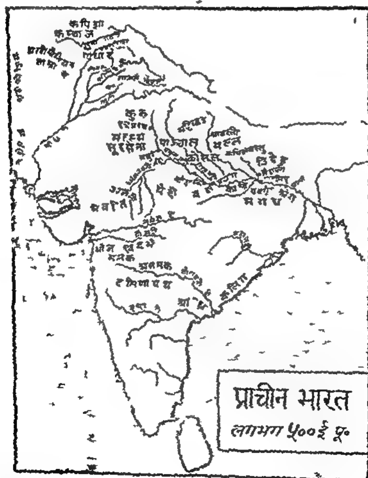
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(१) गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र पर एक टिप्पणी लिखिए। उनकी शिक्षाओं की मुख्य बातें क्या हैं ? (१९४५)

(२) बुद्ध एवं महावीर की शिक्षाओं में क्या अन्तर है ? (१९४५)

(३) बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए उसके पतन के कारण लिखिए। (१९४६ १९५१)

पिछले अध्याय में हमने छठी शताब्दी ई० पू० की राजनैतिक अवस्था का वर्णन करते हुए मगध पर कुछ प्रकाश डाला था। चौथी शती ई० पू० तक मगध एक साधारण राज्य के रूप में रहता है। बिम्बिसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु के समय में मगध



के उत्थान का विवरण दिया जा चुका है। यहाँ अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों पर प्रकाश डाला जायगा।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विभिन्न अनुश्रुतियों या ग्रन्थों में प्रतिवाद है। इनमें सिंहली अनुश्रुतियाँ अशोकावदान परिशिष्टपर्वन पुराण आदि सम्मिलित हैं। इन समस्त साक्ष्यों में बौद्ध साक्ष्य अधिक प्रामाणिक है जिनके आधार पर अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

उदयभद्र या उदायन—जैसा कि ऊपर कहा गया है अजातशत्रु के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में साक्ष्यों का मतैक्य नहीं। पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात उसका पुत्र दर्शक सिंहासनारूढ़ हुआ। इसी आधार पर महाकवि भास ने अपने नाटक स्वप्न वासवदत्ता में दर्शक का उल्लेख किया है और बताया है कि दर्शक की बहन का ब्याह कौशाम्बी के राजा उदयन के साथ हुआ था। पर इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है। पुराणों ने दर्शक का राज्य २ वर्ष तक बताया है।

महावंश के आधार पर अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयभद्र था। बौद्ध ग्रन्थों ने इसे अजातशत्रु का पुत्र स्वीकार किया है। जैन ग्रन्थों से यह पता चलता है कि उदयभद्र कुणिक का पुत्र था। बौद्ध अनुश्रुतियाँ उदयभद्र को भी अजातशत्रु की भाँति पितृहन्ता बताती हैं किन्तु जिस प्रकार अजातशत्रु के सम्बन्ध में इन दोनों (जैन तथा बौद्ध) ग्रन्थों का मतवैभिन्य है उसी प्रकार उदयभद्र के सम्बन्ध में भी है और जैन अनुश्रुतियाँ उदयभद्र को पितृहन्ता नहीं स्वीकार करतीं। उनके अनुसार अपने पिता की मृत्यु पर उदयभद्र शोकातुर होकर मूर्छित हो गया था।[1] उस समय वह चम्पा का वाइसराय था। सम्भवत पिता की मृत्यु के पश्चात वह चम्पा से पाटलिपुत्र आया। वायुपुराण के अनुसार उदायी (उदयभद्र) ने कुसुमपुर (नवीन पाटलिपुत्र) की स्थापना की। आवश्यक सूत्र से ज्ञात होता है कि उदयभद्र जैनमतावलम्बी था और उसने नगर के मध्य में एक चैत्यगृह का निर्माण करवाया था। अवन्तिराज को सम्भवत उदयभद्र ने पराजित किया था। अवन्ति तथा मगध की परम्परागत शत्रुता का यहीं से अन्त होता है और अब उत्तर में मगध राज्य के समान दूसरा कोई राज्य न था। कथासरित्सागर के अनुसार अवन्ति के राजा का नाम पालक था। वह उदयभद्र के पिता के शत्रु प्रद्योत का पुत्र था। एक अनुश्रुति के अनुसार उदयभद्र एक षड्यन्त्र द्वारा मार डाला गया था। इस षड्यन्त्र का कारण यह बताया जाता है कि उदयभद्र ने किसी राजा को युद्ध में पराजित करके मार डाला था और अवन्तिनरेश पालक ने उस राजा के पुत्र को प्रश्रय देकर यह षड्यन्त्र किया था। महावंश इसका राज्य-काल ५ ३ ई पू तक बताता है।

उदयभद्र के उत्तराधिकारी—उदयभद्र के पश्चात अनुरुद्ध और मुण्ड का नाम आता है। इन्होंने ८ वर्ष तक राज्य किया था अर्थात ४९५ ई० पू० तक राज्य किया। अंगुत्तर निकाय में इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वह शव को नहीं छोड़ना चाहता था।[2]

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार मुण्ड के पश्चात नागदासक राजा हुआ। इसने २४ वर्षों तक (४७१ ई पू तक) राज्य किया।

---

[1] परिनिष्टपर्वन आवश्यक सूत्र आदि।

[2] अंगुत्तरनिकाय ३।५७–६३॥ डा राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा उद्धृत। इसमें यह भी बताया गया है कि मुण्ड पाटलिपुत्र में निवास करता था। एक घर द्वारा इसे आश्वासित किये जाने का वृत्तान्त सम्भवत धार्मिक प्रचार से सम्बन्धित है।

पुराणों में उदयिन के उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन तथा महानन्दिन थे। जैन साक्ष्यों के अनुसार उसका कोई उत्तराधिकारी ही नहीं था।[1]

उदयभद्र अनुरुद्ध मुण्ड नागदासक आदि का उल्लेख पुराण कहीं नहीं करते हैं। पुराणों का दर्शक ही सम्भवतः नागदासक है। नागदासक के पश्चात् शिशुनाग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने १८ वर्षों तक ४५३ ई० पू० तक राज्य किया। शिशुनाग के सम्बन्ध में बताते हुए कि वह एक मंत्री था और तब प्रजा द्वारा राजा बनाया गया। सिंहली अनुश्रुतियाँ यह भी सूचित करती हैं कि अजातशत्रु से लेकर नागदासक तक सभी राजे पितृहन्ता थे और इसीलिए जनता ने विद्रोह करके मंत्री शिशुनाग को राजा बनाया। पुराणों में शिशुनाग राजा का उल्लेख है जिसने अवन्ति राज्य के प्रद्योत को पराजित करके मगध में मिला लिया। इसने अब राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर पुनः गिरिव्रज में कर ली और अपने पुत्र को बनारस का प्रान्तीय शासक बना दिया। किन्तु कुछ इतिहासकारों ने इसकी ऐतिहासिकता में (विशेषकर इसे बिम्बिसार और अजातशत्रु का उत्तराधिकारी मानने में) अविश्वास किया है।[2]

शिशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। कालाशोक का दूसरा नाम काकवर्ण (पुराण) तथा काकवर्णिन (अशोकावदान) भी मिलता है। इसने सम्भवतः २८ वर्षों तक (४२५ ई० पू०) तक राज्य किया।

कालाशोक के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने २२ वर्षों तक (४० ई० पू० तक) सम्मिलित राज्य किया।

नन्दवंश का उदय

नन्दवंश के अभ्युदय के सम्बन्ध में हमें देशीय तथा विदेशीय दोनों सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। देशीय सामग्री बाण का हर्षचरित है। उक्त ग्रन्थ में यह ज्ञात होता है कि काकवर्णी शिशुनागि को छुरा भोंककर मार डाला गया था। बाण की इस घटना का तथ्य सम्भवतः कर्टियस की निम्न घटना से है —

कर्टियस ने लिखा है कि अग्रमीज का पिता नाई था जिसने किसी प्रकार रानी का प्यार पा लिया और अन्त में उसने राजा का वध कर दिया। राजा कालाशोक के वध के पश्चात् वह उसके १० पुत्रों का अभिभावक बना और अन्त में उनका भी वध करके राजा बन बैठा। किन्तु अग्रमीज के पिता से कर्टियस का क्या अभिप्राय है? महाबोधि वंश में नन्दवंश के संस्थापक का नाम उग्रसेन बताया गया है। उग्रसेन का पुत्र औग्रसैन्य सम्भवतः यूनानी भाषा का अग्रमीज है। यूनानी लेखक नन्दवंश के संस्थापक को नाई बताते हैं। भारतीय साक्ष्य इसका समर्थन करते हैं। जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन् ने नन्द को नाई का पुत्र कहा है। पुराणों ने भी इसे शूद्र जाय कहा है।

कालाशोक के १० पुत्रों में से एक का नाम नन्दिवर्धन भी था जिसे पुराणों ने नन्दों का पूर्वज माना है पर इसका वर्णन उपर्युक्त घटना कर रहा है।

महाबोधि वंश में कालाशोक के १० पुत्रों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं —

भद्रसेन कोरण्डवर्ण मंगुर सर्वञ्जह जालिक उभक संजय कोरव्य नन्दिवर्धन तथा पंचमक।[3]

---

[1] परिशिष्टपर्वन ६।२३६॥

[2] देखिए राधाकुमुद मुकर्जी *Hindu Civilisation* p 273

[3] *Political History of Ancient India fifth edition* p 222

किन्तु इन नामों में से केवल नन्दिवर्धन का उल्लेख ही पुराणों में किया गया है। खारवेल के हाथिगुम्फा अभिलेख में इस राजा का नाम उत्कीर्ण है।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने महाबोधि वंश द्वारा प्रस्तुत ९ नन्द शासकों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं —

(१) उग्रसेन, (२) पण्डुक (३) पण्डुगति (४) भूतपाल (५) राष्ट्रपाल (६) गोविशाणक (७) दाससिद्धक (८) कैवर्त तथा (९) धन।[1]

कर्टियस द्वारा दिये गये मत पर प्रकाश डाला जा चुका है जिससे यह ज्ञात होता है कि नन्दवंश का संस्थापक हीन कुल का व्यक्ति था। परिशिष्टपर्वन् भी इसे नाई-पुत्र बताता है। आवश्यक सूत्र ने इसे नापितदास (नाई-दास) घोषित किया है।

पुराणों के अनुसार प्रथम नन्द शासक का नाम महापद्म या महापद्मपति तथा महाबोधिवंश के अनुसार उग्रसेन था। पुराण इसे शूद्रगर्भोद्भव बताते हैं।

महावंश की टीका में प्रथम नन्द शासक को एक योद्धा बताया गया है जो चोर डाकुओं का शक्तिशाली नायक-सा लगता था। यह भी उसके हीन कुलीन होने का सूचक है। ये सारे साक्ष्य नन्द-वंश के संस्थापक को शूद्र घोषित करते हैं। कर्टियस ने जो यह लिखा है कि (अग्रमीज) का पिता वास्तव में नाई था और उसने रानी का प्यार पाकर उसके राजा को मारकर पुत्रों का अभिभावक बन गया तथा अन्त में पुत्रों की भी हत्या करके राज्याधिकारी बन गया यह कुछ दूसरी ओर को भी संकेत करता है। राजा की हत्या से अभिप्राय कालाशोक-काकवर्ण की हत्या से ही सकता है जिसकी निर्मम हत्या के सम्बन्ध में हर्षचरित बताता है। जिन पुत्रों के सम्बन्ध में कर्टियस महोदय लिखते हैं वे इसी कालाशोक-काकवर्ण के ही सकते हैं। सिंहली अनुश्रुतियों द्वारा प्रस्तुत शिशुनाग वंश के पतन एवं नन्दों के उदय तथा यूनानियों द्वारा वर्णित अग्रमीज वंश की उदय की घटनायें परस्पर काफी साम्य रखती हैं किन्तु यूनानियों का विवरण पुराणों से मेल नहीं खाता जो अन्तिम शिशुनाग की शूद्र नारी से उत्पन्न पुत्र को ही प्रथम नन्द शासक बताता है और पुत्रों का कोई उल्लेख नहीं करता। किन्तु जैसा कि पहले ही बताया गया है अग्रमीज संस्कृत का औग्रसैन्य अर्थात् उग्रसेन का पुत्र हो सकता है।

महापद्म—पुराणों ने नन्दवंश के संस्थापक महापद्म को सर्वक्षत्रान्तक (समस्त क्षत्रियों का विनाशक) कहा है। उसे एकराट की भी उपाधि प्रदान की है। इससे यह परिलक्षित होता है कि उसने शिशुनाग राजाओं के समकालीन इक्ष्वाकु पांचाल काशी हैहय, कलिंग अश्मक कुरु मैथिल शूरसेन वीतिहोत्र आदि राजाओं को पराजित कर दिया था। जैन ग्रन्थ से भी नन्दों के विशाल साम्राज्य का बोध होता है।[2] कथासरित्सागर तथा हाथिगुम्फा अभिलेख से नन्दों द्वारा कलिंग विजय का दिग्दर्शन होता है। 'नवनन्द देहरा' नामक नगर (गोदावरी-तट पर नान्देर) से यह बोध होता है कि दक्षिण में नन्दों की सत्ता स्थापित थी। मैसूर के कुछ प्राचीन अभिलेखों से कुन्तल (बम्बई का दक्षिणी भाग तथा मैसूर का उत्तर-पश्चिमी भाग) पर नन्दों का आधिपत्य ज्ञात

---

[1] *Age of Imperial Unity* p 31

नव नन्दों से नवीन नन्दों का अर्थ भी लिया गया है। इस प्रकार पुराणों में शिशुनाग वंश के अंतिम दो शासकों नन्दिवर्धन तथा महानन्दिन को पूर्वनन्द माना गया है जिनके बाद 'नव' नन्दों का अधिकार स्थापित हुआ।

[2] समुद्रवसनेभ्यश्च आसमुद्रमपि श्रियः।

उपायहस्तैराकृष्य ततः सोऽकृत नन्दसात्। परिशिष्टपर्वन् ७।८१॥

होता है। इनमें से अधिकांश साक्ष्य पौराणिक साक्ष्य का समर्थन करते हैं। कुछ भी हो इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि नन्दों ने एक बहुत बड़े भू भाग पर अपना सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

महापद्मनन्द को हम भारत का प्रथम महान् ऐतिहासिक सम्राट मान सकते हैं और यदि यह शूद्र था (जैसा कि वह था) तो यह भारतीय इतिहास की एक विशिष्ट घटना होती है कि सर्वप्रथम क्षत्रियों की राजनीतिक सत्ता को तिरस्कृत करके, धर्म में ब्राह्मणों की अवहेलना करके, शूद्रों ने राज्य स्थापित किया। इस सम्बन्ध में डा० मुकर्जी ने अपने उद्गार बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में प्रकट किये हैं जिनमें उन्होंने क्षत्रिय सरदार गौतम बुद्ध तथा महावीर को ब्राह्मणों को धर्म में नीचा दिखाते हुए तथा शूद्रों को राजनीति से पृथक करते हुए दिखलाया है।[1]

मत्स्यपुराण प्रथम नन्द शासक का शासन-काल ८८ वर्ष (अष्टाशीति) बताता है पर यह २८ वर्ष (अष्टाविंशति) की जगह पर भूल से उल्लिखित है क्योंकि वायु पुराण में इसका शासन-काल २८ वर्ष ही बताया गया है। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने नन्द का शासन २९ वर्ष बताया है। सिंहली विवरणों के अनुसार नन्दों ने २२ वर्ष तक राज्य किया।

महापद्म उग्रसेन के पश्चात उसके आठ पुत्रों ने बारह वर्ष तक (पुराणों के अनुसार) राज्य किया। महाबोधिवंश द्वारा दी गई ९ नन्दों की तालिका पिछले पृष्ठ में प्रस्तुत की गई है। इनमें अन्तिम धन ही सम्भवत यूनानियों का अग्रमीज है।

कर्टियस के अनुसार प्रथम नन्द शासक ने अपने उत्तराधिकारियों को न केवल एक विस्तृत साम्राज्य छोड़ा वरन् उसने एक सुसंगठित विशाल सेना भी दी जिसमें २०,००० अश्वारोही, २०,००० पैदल २,००० रथ तथा ३,००० हाथी थे। डियोडोरस (Diodorus) तथा प्लूटार्क भी इसका समर्थन करते हैं। वे हाथियों की संख्या क्रमश ४,००० तथा ६,००० बताते हैं। मिलिन्द पञ्हव में सेनापति भद्रसाल का नाम आया है।

नन्दों की अतुल धनराशि का विवरण हम भारतीय तथा विदेशीय साक्ष्यों से प्राप्त होता है। धननन्द नाम ही सम्भवत लक्ष्मीपति होने के कारण पड़ा था। कथा सरित्सागर के अनुसार इसके पास ९९० करोड़ स्वर्ण मुद्रायें थीं।[2] महावंश में इस प्रकार का उल्लेख है—

सबसे छोटे भ्राता को उसकी धन लिप्सा के कारण धननन्द कहा जाता था उसने ८० कोटि धन गङ्गा (गंगा) की तलहटी की खड्ड में सगृहीत किया था। काफी गहरी खुदाई करके उसने वहीं धन गाड़ा था चमड़ा गोंद पत्थर आदि पर तथा अन्य वस्तुओं पर भी कर लगाकर ही उसने उसी प्रकार दूसरा कोष भी गाड़कर रखा।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इसकी अतुल धन राशि का उल्लेख किया है। उसने

---

[1] In any case sixth and fifth centuries B C hold out strange phenomena before us—Kshatriya chiefs founding popular religious sects which menaced the Vedic religion, and Sudra leaders establishing a big empire in Aryavart on the ruins of Kshatriya kingdoms

[2] टानी कृत अंग्रेजी अनुवाद १।२१॥

पाटलिपुत्र के पाँच स्तूपों को सम्राट् नन्द के सात प्रकार के अमूल्य रत्नों के पाँच घन कोषों का प्रतीक बताया है।

नन्दों के सम्बन्ध में कुछ और अधिक प्रकाश जैन ग्रन्थ आवश्यक सूत्र से ज्ञात होता है। प्रथम नन्द का मन्त्री कल्पक था। इसी ने प्रथम नन्द को क्षत्रिय राजवंशों के विनाश के लिए प्रोत्साहित किया था। नन्दों के शासन काल में मंत्री का पद वंशानुगत होता था। नवें नन्द के मंत्री का नाम सकताल (Sakatala) था जिसके दो पुत्र स्थूलभद्र तथा श्रीयक थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् स्थूलभद्र को पद दिया गया पर उसने इसका त्याग कर दिया और जैन भिक्षु बन गया। तब श्रीयक पदासीन हुआ।[१]

नन्दवंश का अन्तिम शासक धननन्द सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध पर राज्य करता था और तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा उसका अन्त कर दिया गया जिससे मगध में दूसरा राजवंश प्रतिष्ठित हुआ।

नन्दों का महत्व राजनीतिक दृष्टिकोण से अधिक है। इन्होंने ही विभिन्न छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त भारत को राजनीतिक एकता के पथ पर अग्रसर किया जिससे भावी सम्राटों को एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने में पर्याप्त योग मिला। नन्दों के सामरिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती यद्यपि उनकी आर्थिक नीति शोषण पर आधारित थी। नन्दों के पतन तथा मौर्य वंश की स्थापना के इतिहास पर अगले परिच्छेद में विचार किया जायगा।

Question

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

(१) नन्द कौन थे? नन्द शक्ति के उत्थान एवं पतन का वर्णन कीजिए। (१९४८)

---

[१] देखिये *Age of Imperial Unity* pp. 34-35

१२ | विदेशी आक्रमण

पारसीक अभियान

पिछले परिच्छेद में हमने भारत की राजनीतिक एकता के निर्माण का शैशव काल देखा था। मगध साम्राज्य में देश के आन्तरिक भाग के अनेक राज्य सम्मिलित हो चुके थे किन्तु दक्षिण और उत्तरी-पश्चिमी भारत के राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होते जा रहे थे। छठी शताब्दी ई० पू० के द्वितीय चरण में उत्तरापथ मध्यदेश तक विभिन्न राज्यों में विभक्त हो चुका था जिनमें कम्बोज, गान्धार तथा मद्र प्रमुख थे। पूर्व में तो उसी समय से मगध राज्य उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर था और अन्त में उग्रसेन महापद्म ने समस्त पूर्वी राज्यों को एक सूत्र में बाँध लिया किन्तु उत्तर या उत्तर-पश्चिम भारत में इस प्रकार का कोई पराक्रमी सम्राट नहीं हुआ जो दुर्बलता का मूल इस राजनीतिक अनेकता को विच्छिन्न करके देश के महत्वपूर्ण भाग की विशेषतया सामरिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण भाग की राजनीतिक एकता स्थापित करके सम्पन्न बनाता। उनकी इस दुर्बलता का परिणाम भी उन्हें शीघ्र भुगतना पड़ा और फारस साम्राज्यवादी अखामनी (Achaemenian) सम्राटों की लोलुप दृष्टि इस पर पड़ी।

कभी ये ईरानी मित्र के रूप में भारतीयों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गए थे, कभी ये परस्पर एक स्थान पर निवास भी कर चुके थे और सम्भवतः उसी समय का द्वेष (देवासुर-संग्राम में पराजित हो जाने का द्वेष) बना रहा जिससे हजारों वर्ष पश्चात ये पुनः भारत पर आक्रमणकारी हुए।[१]

---

१ प्राचीन बेबीलोनिया में उत्तम वस्त्रों के लिए 'सिन्धु' शब्द के प्रयोग का पता लगना तथा भारतीय काष्ठ का उस देश के भग्नावशेषों में मिलना हमें यह संकेत करता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी भारत तथा पाश्चात्य देशों का सामुद्रिक व्यापार होता था। फिनीशियन, अरब तथा भारतीय पर्शियन गल्फ, अदन तथा पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों पर मिलते थे और अपने देश की वस्तुओं (बहुमूल्य पत्थर तथा मोती, वस्त्र और अन्य आवश्यकता की वस्तुओं) का विनिमय करते थे। बावेरु जातक से भी हमारे विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध का बोध होता है। उक्त ग्रन्थ में बेबिलोन से भारतीय व्यापारी द्वारा मोर पहुँचाने का उल्लेख किया गया है। यह घटना जातकों के संग्रह के पूर्व की होगी। बुद्धकालीन भारत की कला एवं साहित्य पर प्रकाश डालते समय हमने बताया था कि विदेशियों के सम्पर्क के फलस्वरूप ही यहाँ लेखन-कला का आविर्भाव हुआ और इसका श्रेय भारतीय व्यापारियों को है जिन्होंने आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० में विदेशी-यात्रा करके इस कला से भारतीयों को परिचित कराया। अभी हाल में ही (१९०७ ई० में) बोगजकोई (पश्चिमी एशिया) में कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें मितानि जाति के राजाओं तथा हत्ती राजाओं का एक सन्धिपत्र प्राप्त हुआ है। उक्त सन्धिपत्र पर ह्यूगो विक्लर महोदय ने इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के नाम पढ़े हैं जिन्हें सम्भवतः सन्धिपत्र में साक्षी बनाया गया है। ईरानी धार्मिक

साइरस—अखामनी साम्राज्य के निर्माता साइरस ने ५५८ से ५२९ ई० पू० अपने राज्य के बीच जिस समय सिया होकर कभी भारत पर आक्रमण किया था किन्तु इतिहासकार स्ट्रैबो के कथनानुसार उसे किसी प्रकार केवल सात आदमियों के साथ आत्मरक्षा करके वापस लौट आना पड़ा।[1] किन्तु साइरस को काबुल की उपत्यका में अधिक सफलता मिली। हेरोडोटस टीसियस एक्सनोफन तथा स्ट्रैबो एवं एरियन के विवरणों से हम इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती है। अपनी पूर्वी विजयों में उसने ड्रेनजिअना (Drangiana) सत्तगीडिया (Sattagydia) गांधारिस (गन्धार) पर अधिकार स्थापित कर लिया था।[2] ये जिले ईरान और भारत की [illegible]

[illegible] कर रहे होंगे। एक्सनोफन ने लिखा है कि साइरस ने बक्ट्रिया के लोग तथा भारतीयों को अपने शासनाधीन किया और उसने अपना भाग यरीथियन (Erythrean) सागर तक अर्थात् हिन्दमहासागर तक प्रसारित किया। एक्सनोफन ने आगे यह बताया है कि किसी भारतीय राजा द्वारा धन प्राप्त करके (सम्भवतः कर रूप में) साइरस वापस लौट गया। इन विदेशी इतिहासकारों के विवरणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साइरस ने भारत ईरान-सीमा भूमि को विजित किया और उत्तरी भारत के एक राजा से कर भी प्राप्त किया।

हमने साइरस के भारत आक्रमण के निष्फल प्रयास का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया था जिसमें साइरस को निराश लौटना पड़ा था। प्रायः सभी यूनानी लेखक जो सिकन्दर के समकालीन थे भारत पर फारस के सफल आक्रमण को अस्वीकार करते हैं। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय कभी भी विदेशी युद्ध में नहीं पड़े थे और न तो उन पर किसी विदेशी द्वारा आक्रमण किया गया या उन्हें पराजित किया गया केवल हेराक्लीज (Heracles) तथा डायोनिसस (Dionysus) द्वारा और थोड़े में मकदूनिया निवासियों द्वारा पराजित होने को छोड़ कर। मेगस्थनीज ने सेमिरमिस (Semiramis) नामक असीरियन रानी का उल्लेख किया है जो भारत पर आयोजित अपने आक्रमण के पूर्व चिरशान्ति को प्राप्त हो जाता है। वह आगे लिखता है यद्यपि पारसियों ने भारत की एक जाति क्षुद्रकों को रख लिया था तथापि उसने उस देश पर आक्रमण नहीं किया। एरियन ने मेगस्थनीज के कथन की पुनरावृत्ति करते हुए लिखा है कि

ग्रन्थ अवेस्ता तथा वेद में जिस भीषण संग्राम (जिसे हम देवासुर संग्राम कहते हैं) का उल्लेख समान रूप से प्राप्त होता है उस आधार पर भी हमें दोनों के कभी एक साथ रहने का संकेत मिलता है। इस युद्ध में ईरानी नेताओं को पराजित होकर भागना पड़ा था।

[1] देखिये *Political History* राय चौधरी [illegible] Edition page 240

[2] डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने ड्रेनजिअना को सीस्तान का भाग बताया है तथा सत्तगिडिया के ठीक-ठीक स्थिति निर्धारण में असमर्थता प्रकट की है। उन्होंने बताया है कि कुछ विद्वान् इसे गजनी और गिलजई में रखते हैं तथा कुछ हजारा में। देखिये—*Age of Imperial Unity* पृष्ठ ३९।

[3] देखिये वही पृष्ठ ४०।

सिकन्दर के पूर्व किसी विदेशी ने भारत पर आक्रमण नहीं किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नियरकस तथा मगस्थनीज दोनों ही का मत है कि भारत पर साइरस ने कभी भी आक्रमण नहीं किया। किन्तु यूनानी लेखक सिन्धु को भारत की पश्चिमी सीमा मानते हैं और यहाँ यह सम्भव है कि साइरस सिन्धुपूर्व भारतीय सीमा पर आक्रमणकारी हुआ हो। प्लिनी का मत भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। उसके अनुसार घोरबन्द घाटी में कपिसा पर साइरस ने विजय प्राप्त की थी। इसके समर्थन में एरियन का कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि सिन्धु तथा काबल (कोफेन) नदियों के बीच में रहनेवाले भारतीय प्राचीन काल में असीरियन, मिडी तथा अन्त में साइरस के समय में पारसियों के अधीन रहकर साइरस द्वारा लगाया कर उसे देते थे। एड० मेयर (Ed Mayer) ने इस सारे साक्ष्य का सुन्दरतम निष्कर्ष इस प्रकार निकाला है 'लगता है साइरस ने पैरोपनिसस (हिन्दुकुश) तथा काबल की घाटी की भारतीय जातियों को अपनी प्रजा बनाया—विशेषतया गान्धारवालों को। डेरियस स्वयं सिन्धु तक आगे बढ़ आया।'[1]

साइरस की मृत्यु (५५० ई० पू०) के पश्चात उसके उत्तराधिकारी कम्बिसस ने आठ वर्षों तक शासन किया किन्तु आन्तरिक विद्रोहों में बुरी तरह फँसा रहने के कारण उसे भारत की ओर ध्यान देने का बिल्कुल ही अवसर नहीं मिला।

डेरियस—डेरियस (दारा या दारायवहु) अखामनी राजवंश का तृतीय सम्राट था। इसने ५२२ से ४८६ ई० पू० तक शासन किया। इसके भारतीय आक्रमण या अभाक्रमण के सम्बन्ध में स्वयं उसके अभिलेख बताते हैं। ये अभिलेख निम्नलिखित हैं—

(१) बहिस्तून-अभिलेख ५२० से ५१८ ई० पू०।
(२) पर्सिपोलिस-अभिलेख ५१८ से ५१५ ई० पू०।
(३) नक्शरुस्तम-अभिलेख ५१५ ई० पू० तथा
(४) हमदन अभिलेख।

बहिस्तून अभिलेख से डेरियस के सम्पूर्ण साम्राज्य के २३ प्रान्तों की सूची प्राप्त होती है किन्तु इसमें भारत का कोई निर्देश नहीं किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि भारत उसकी राज्य-सीमा के बाहर था और उक्त अभिलेख के समय तक डेरियस ने भारत पर कोई आक्रमण भी नहीं किया था।

पर्सिपोलिस तथा नक्शरुस्तम के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि हिन्दुओं (गान्धार देश के निवासी) पर भी इसका अधिकार था क्योंकि उक्त अभिलेखों में सूची में यह नाम भी सम्मिलित है।[2] इस आधार पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि डेरियस ने उत्तरी पंजाब पर ५१८ ई० पू० के पश्चात विजय प्राप्त की थी।

हमदन स्वर्ण एवं रजत पत्र-लेख भी सिन्धु को अखामनी साम्राज्य का एक प्रान्त बताता है किन्तु इन सारे अभिलेखों के अध्ययन से यह नहीं स्पष्ट होता कि भारतीय भू भाग पर अखामनी साम्राज्य की सत्ता डेरियस ने स्वयं स्थापित की थी अथवा ये भाग उसे साइरस द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त हुए थे किन्तु किसी प्रकार यह परिनिश्चित

[1] Geschichte des Alterturms III 97 Quoted by Dr R K Mukherji in *The Ag of Imperial Unity* p 40
[2] An ... P
Inscriptio
199 Quot

प्राय एक ही आर्य रक्त दोनों की नसों में वर्तमान है। उनकी भाषाओं और परम्पराओं में काफी समानता है तथा इसी प्रकार उनके धार्मिक विश्वासों, संस्कार विधियों, व्यवहारों एवं रीतिरिवाजों में काफी साम्य है।[1]

यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात रही। ऐतिहासिक काल में भी इनके पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण प्राप्त होता है जिसके विषय में परिच्छेद के प्रारम्भ में भी बताया जा चुका है। यह भी बताया गया था कि व्यापारियों ने फारस में लेखन कला की धानी लाकर भारतीयों को सौंपी, किन्तु केवल व्यापारियों द्वारा ही लेखन कला का प्रचार होना कुछ कठिन-सा लगता है। निश्चय ही इसमें पारसी लेखकों का हाथ होगा जिन्हें भारत में अखामनी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप इन दोनों देशों में प्रतिष्ठापित राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध के पश्चात यहाँ आने का अवसर प्राप्त हुआ होगा। इन्हीं पारसी लेखकों ने भारत में अरेमिक (Aramic) ढंग की लेखन प्रणाली का प्रचलन किया जिसका विकास अशोक-काल तथा उसके पश्चात खरोष्ठी लिपि के नाम से हुआ। यह अरबी लिपि की भाँति दाहिने से बाईं ओर को लिखी जाती थी। भवन निर्माण-कला के क्षेत्र में भी कुछ विद्वान पारसीक प्रभाव का अनुमान करते हैं और उनका ऐसा विचार है कि अशोक का पाटलिपुत्र का स्तम्भोंवाला विशाल भवन, लेख, स्तम्भों एवं शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा स्तम्भों का घण्टाशीर्ष आदि ये सारी शैलियाँ पारसीक देन हैं। इस मत में काफी सत्यता भी प्रकट होती है। अशोककालीन तक्षण कला का नमूना इसके पूर्व भारत में नहीं प्राप्त होता है और सम्भवतः अशोक के पूर्व तो स्तम्भ खड़ा करने की परिपाटी ही न थी।[2]

कुछ विद्वान भारतीय राजाओं के दरबारी जीवन पर भी इस सम्बन्ध का प्रभाव दिखाते हैं और उनका अनुमान है कि चन्द्रगुप्त का राज दरबार में केश सिंचन पारस के सम्राटों की ऐसी प्रथा के आधार पर प्रचलित हुआ था। पारसीक आक्रमण और पारसीक सम्पर्क की स्मृति लगभग आगामी दो-तीन शताब्दियों तक बनी रही इसका मान्य प्रमाण स्वयं अशोक अभिलेख हैं जिसमें राजा पारसीक सम्राटों की ओर संकेत करता है—

देवानां पिया पियदसि राजा एवं आह-धातिय दारयवौष् क्षयाथिय ।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पारसीक आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा। यह प्रभाव अपना तात्कालिक परिणाम ... र लेते हैं जैसा कि अधिकांश ... पारसीक देन है तो हम अपने ... क्योंकि अभिलेखों के अभाव में हमारे इतिहास के अनेक क्षेत्र तिमिराच्छादित ही रह गये होते और कुछ इतिहासकारों को इतिहास लिखने के स्थान पर इतिहास गढ़ना पड़ता।

---

[1] *Cambridge History of India* Part I p 341

[2] To the Persians is also attributed the introduction of the *Kharoshthi* alphabet the Persepolitan capital and words like dipi (rescript) and *nipishta* ('written') occurring in the inscriptions of Asoka. Persian influence has also been tracted in the preamble of Asokan edicts —रायचौधरी, *Political History* p 243

उत्तर-पश्चिम भारत

पारसीक आक्रमण के समय उत्तर पश्चिम भारत के राज्यों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया था। अन्यत्र यह भी सकेत किया गया था कि अन्त में डरियस ततीय के शासनकाल में साइरस द्वारा स्थापित भारत के उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों का पारसीक राज्य अब शिथिल होता जा रहा था। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक तो य ... रहो चुके थे और अब असख्य छोटे छोटे राज्यों या राजनीतिक विभागों में सम्पूर्ण ... विभक्त हो गया था। सीमान्त प्रदेश के इन विभिन्न राज्यों में से कुछ प्रमुख राज्यों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। यहाँ यह भी सूचित कर देना आवश्यक है कि इनमें कुछ तो राजतन्त्रात्मक थे और कुछ गणतन्त्रात्मक।

(१) अस्पेसियन (Aspasian)—यह काबुल की सहायक अलिसग-कूनार बजौर की घाटियों में था। यहाँ के निवासियों का नाम ईरानियों के अस्प से लिया गया है जो संस्कृत का अश्व अथवा अश्वक है। इस आधार पर अस्पेसियन को अश्वक की पश्चिमी शाखा का माना जा सकता है।

(२) गुरेइन या गौर—(Guraeans) यह अस्पेसियन तथा अस्सेकेनियन के मध्य में पंजकौर नदी की घाटी में था।

(३) अस्सकेनस या अश्वक (Assakenos)—यह पूर्व में सिन्धु नदी तक प्रसारित था। इसकी राजधानी मस्सग थी जो मालकन्द दर्रे के निकट स्थित थी। इसका नाम कभी सुवास्तु या उद्यान भी था। इनकी सेना में २० हजार अश्वारोही ३० हजार से अधिक पैदल तथा ३० हाथी थे।

(४) नीसा (Nysa)—यह काबुल तथा सिन्धु के मध्य एक पर्वतीय राज्य था जिसका शासन गणतन्त्रात्मक था। एरियन के कथनानुसार नीसा के निवासी भारतीय न होकर डायोनिसस के साथ आये हुए लोगों के वंशज थे। योन-कम्बोज का एक साथ उल्लेख मज्झिम निकाय में किया गया है। गौतम बुद्ध तथा आस्सलायन के समय में यवन राज्य का उल्लेख विशिष्ट है। होल्डिक के मतानुसार आधुनिक स्वात नगर में कोहेनूर की घाटी में ही कभी नीसा नगर स्थापित था।[1]

(५) प्यूकेलाटिस (Peukelaotis)—एरियन के मतानुसार यह काबुल से सिन्धु के भाग में पड़ता था। यह संस्कृत का पुष्करावती है जिससे प्राचीन पश्चिमी गान्धार का बोध होता है। इसकी राजधानी पुष्करावती पेशावर के उत्तर पूर्व १७ मील पर आधुनिक मीरजियारत तथा चारसड्डा थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ का शासक अस्तस (Astes) हस्ति अथवा अष्टक था।

(६) तक्षशिला (Taxila)—सिन्धु तथा झेलम के बीच में यह नगर स्थित था। स्ट्रैबो ने लिखा है— सिन्धु तथा हैडस्पीज (Hydaspes झेलम) के मध्य सुन्दर नियमों द्वारा अनुशासित एक विशाल नगर तक्षशिला था। इसकी राजधानी गान्धार की प्राचीन राजधानी के पूर्वी भाग में थी।

(७) अरसक या उरशा (Arsakes)—यह आधुनिक हजारा जिला तथा कश्मीर का एक भाग था।

---

[1] स्मिथ E H I IV Edition p ... Camb Hist I p 353 Quoted by Raychaudhuri

(८) अभिसार (Abhisar)—इसमें काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग सम्मिलित था। उरशा की भाँति यह भी प्राचीन कम्बोज का ही एक भाग था जिसमें उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के हजारा जिले का एक भाग भी सम्मिलित था।

(९) पौरव राज्य (Elder Poros)—यह झेलम तथा चनाब के बीच आधुनिक गुजरात तथा शाहपुर का भाग था। स्ट्रबो[१] के कथनानुसार यह एक उर्वर एवं विशाल जिला था जिसमें ३०० नगर थे। डायाडोरस[२] के अनुसार पोरस की सेना में ५० हजार पैदल, ४ हजार अश्वारोही, एक हजार से अधिक रथ तथा १३० हाथी थे।

(१०) ग्लागनिकाई (Glauganikai)—इनका राज्य चनाब के पश्चिम में था। इनमें अनेक समृद्धशाली नगर थे जिनमें ५ हजार से कम जनसंख्या न थी और कुछ नगरों में तो यह संख्या १० हजार तक थी।

(११) गान्दरिज (Gandaris)—यह राज्य साधारण कोटि का था और चेनाब तथा रावी नदियों के बीच की भूमि में स्थित था।

(१२) अद्रस्ताई (Adraistai)—ये सम्भवतः महाभारत के आद्रिज हैं। ये रावी के पूर्वी तट पर बसे थे। पिम्प्रम इनका प्रमुख नगर था।

(१३) कठ (Kathaioi)—यह झेलम तथा चनाब के मध्य में कठ जाति का गणतन्त्र था। कुछ इतिहासकार इसे रावी तथा चनाब के मध्य में बताते हैं। युद्ध कला में ये अद्वितीय थे। ये सुन्दरता के भी उपासक थे और सुन्दरतम पुरुष इनका राजा चुना जाता था।[३]

(१४) सौभूति राज्य (Kingdom of Sophytes)—यह सम्भवतः झेलम के तट पर स्थित था। स्मिथ महोदय के विचार में सौभूति राज्य की स्थिति स्ट्रबो के विवरण के आधार पर झेलम से सिन्धु तक के मध्यस्थ भाग में निर्धारित की जा सकती है जिसमें नमक की बहुत बड़ी चट्टानें थीं। किन्तु यह अधिक तर्कसंगत इसलिए नहीं जान पड़ता कि प्राचीन लेखकों ने इसे झेलम के पूर्व में बताया है। कर्टियस इनके विषय में लिखता है कि असभ्यों की दृष्टि में ये बहुत सुन्दर और नियमित जीवन बिता रहे थे। इनका अनुशासन बहुत सुन्दर था। माता पिता एवं अभिभावक की इच्छा पर बच्चे का पालन-पोषण नहीं होता था प्रत्युत यह कार्य चिकित्साधिकारियों पर निर्भर था क्योंकि यदि इनके राज्य में बच्चे के अवयव में किसी प्रकार का दोष रहता था तो वे उसकी हत्या की आज्ञा दे देते थे। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते समय उच्च कुल का ध्यान नहीं रक्खा जाता था वरन् सुन्दरता का जिससे सुन्दर सन्तान उत्पन्न हो सके।

(१५) फगल (Phegelas)—यह सम्भवतः संस्कृत का भगल है जो क्षत्रियों का ही एक गोत्र है। इनका गणतन्त्र रावी तथा व्यास नदी के बीच में था।

(१६) सिबोई (Siboi)—संस्कृत ग्रन्थ तथा जातक में इनका उल्लेख विभिन्न रूप में किया गया है। ऋग्वेद में शिव लोगों का उल्लेख किया गया है। जातक शिवि नगर का उल्लेख करता है और इसके अन्तर्गत अरिष्टपुर तथा जेतुत्तर नगरों का निर्देश

---

[१] H and F Str III p 91

[२] *Invasion of Alexander* p 274

[३] मैक्रिन्डल *Ancient India as described in Classical Literature* p 38

करता है।[1] बहुत कुछ सम्भावना है कि शिव, शिबि सिबि तथा सिबाई समान हैं। शारकोट अभिलेख में उल्लिखित शिबिपुरा से इसकी समता की जा सकती है और यह सब संगत है। इस समस्त साक्ष्यों के आधार पर शिबि या सिबाई राज्य को झेलम तथा चनाब के संगम के नीचे झंग जिले में माना जा सकता है।[2]

महाभारत में भी शिबि राष्ट्र का उल्लेख किया गया है जिसके शासक का नाम उशिनर दिया गया है और उक्त राष्ट्र को यमुना से दूर नहीं बताया गया है।[3]

(१७) अगलेसाई (Agalassoi)—ये सिबोई या शिबि राज्य के निकट थे और इनके पास ४० हजार पैदल तथा ३ हजार अश्वारोही थे।

(१८) क्षुद्रक (Oxydrakai)—कर्टियस तथा डायाडोरस के कथनानुसार हम उन्हें उपरोक्त दो जातियों के पास ही कहीं मान सकते हैं। झेलम तथा चनाब के संगम के नीचे की भूमि पर इनका अधिकार था। यूनानियों के 'आक्सिड्राइ (Oxydrakai) के लिए, महाभारत में क्षुद्रक शब्द आया है।[4] ये पंजाब की प्रसिद्ध लड़ाकू जातियों में से थे।

(१९) मालव (Malloi)—इनका राज्य सम्भवतः रावी के निचले भाग की ओर दाहिने तट पर था। उनके राज्य में ही चनाब का सिन्धु से मिलन का उल्लेख मिलता है।[5] मल्लोइ का अर्थ संस्कृत के मालव से है। कात्यायन ने क्षुद्रक मालव का साथ साथ उल्लेख किया है। कर्टियस के अनुसार क्षुद्रक और मालवों के पास ९० हजार पैदल १० हजार अश्वारोही तथा ९०० रथ थे। श्री भण्डारकर महोदय ने पाणिनी के आधार पर मालवों को शस्त्रोपजीवी बताया है।

(२०) अम्बष्ठ (Abastanoi)—विभिन्न विद्वानों ने इनके भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। चनाब के नीचे की ओर मालव के निकट (चनाब सिन्धु-संगम के ऊपर) कहीं इनका राज्य था। संस्कृत तथा पालि ग्रन्थों में अम्बष्ठ का उल्लेख किया गया है। एतरेय ब्राह्मण में अम्बष्ठ राजा का उल्लेख है जिसका पुरोहित नारद था। महाभारत भी अन्य उत्तर-पश्चिमी जातियों शिबि-क्षुद्रक, मालव आदि के साथ इनका उल्लेख करता है। विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में इनके व्यवसाय के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय अम्बष्ठ एक शक्तिशाली जाति थी जिसका शासन गणतन्त्रात्मक था और जिसके पास ६० हजार पैदल, ६ हजार अश्वारोही तथा ५०० रथ थे।

(२१-२२) क्षत्रि तथा वसाति (Xathroi and Ossadioi)—मैकक्रिण्डल के अनुसार क्साथ्रोई (Xathroi) संस्कृत का क्षत्रि है जिसको मनु ने वर्णसंकर बताया

---

[1] वेसन्तर जातक ५४७।

[2] *Invasion in India by Alexander* p 232

[3] Cf Siba Cunn A G I revised edition pp 160 161 Quoted by Ray Chaudhuri

[4] महाभारत ११ ५२ १५, ७।६८ ९

[5] *Magasthenes and Arrian* 2nd edition 1961 राय चौधरी महोदय ने इसे उद्धृत करते हुए इस सम्बन्ध से अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

The accuracy of this statement may be doubted The Malli territory seems to have included part of the Jhang district besides a portion of South Lyallpur West Montgomery and perhaps North Multan

है। इसी प्रकार यूनानी ओस्साडिवोई (Ossadioi) महाभारत का वसाति है। ये चेनाब के निचले भाग में चेनाब रावी तथा चेनाब सिन्धु के संगम के मध्य में बसे थे।

(२३-२४) शूद्र तथा मस्सनोई (Sodrai and Massanoi)—पंजाब की नदियों के संगम-स्थल के नीचे पंजाब (मिठान-कोट क्षेत्र) तथा बहावलपुर रियासत के निकटवर्ती भू भाग पर उत्तरी सिन्ध पर इनका अधिकार था। 'सिन्धु नदी के प्रतिकूल तटों पर इन दोनों जातियों का संघ था'।

(२५) मूषिक (Mouskanos)—मूषिक राज्य में आधुनिक सिन्ध का अधिकांश भाग सम्मिलित था। सक्खर जिले के अलोर में इसकी राजधानी थी। एरियन के कथनानुसार यहाँ ब्राह्मणों का नगर में काफी प्रभुत्व था।

ये सार्वजनिक रूप से खुले में भोजन करते थे। इनका आहार आखेट का होता था यद्यपि इनके पास सोने चाँदी की खानें थीं किन्तु ये इन धातुओं का उपयोग नहीं करते थे। दासों के स्थान पर वे अपने तरुणों से काम लेते थे, चिकित्सा विज्ञान को वे सर्वोपरि विज्ञान मानते थे और उसका विशेष अध्ययन करते थे। उनके कानून में वध एवं व्यभिचार के अतिरिक्त और किसी अपराध का विधान नहीं क्योंकि उनका कहना था कि यदि राजा नाम तो जाते हैं तो प्रतिपक्ष को अपने अनुचित विश्वास का दण्ड मिलना ही चाहिए।[१]

(२६) प्रौस्थ (Oxikanos)—कनिंघम के अनुसार लरखान के पास सिन्ध के पश्चिम में ये बसे हुए थे।

(२७) सम्बस या शाम्ब (Sambos)—मूषिक के निकट सम्बस किसी पर्वतीय प्रदेश का शासक था। इसकी राजधानी सिन्ध के तट पर सिन्दिमान (=सेहवान) थी।

(२८) पटल (Patalene)—यह सिन्ध प्रान्त के दक्षिणी भाग में सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित था और इसकी राजधानी पटल आधुनिक महमनाबाद में थी।

डियोडोरस ने इसके विषय में लिखा है—

(यह) विशाल नगर था और इसका शासन विधान स्पार्टा की भाँति था। दो विभिन्न कुलों के दो वंशागत राजाओं में युद्ध का नेतृत्व निहित था और सम्पूर्ण राज्य की शासन-व्यवस्था वृद्धों की एक सभा करती थी।

पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्ध—पिछले पृष्ठों में सिकन्दर कालीन उत्तर पश्चिमी भारत के कुछ प्रमुख राजनीतिक सत्तायुक्त जातियों एवं राजनीतिक संगठनों का उल्लेख किया गया है। यहां उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है जिससे उनकी वास्तविक शक्ति का बोध हो सके।

उपरोक्त राज्यों की यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि वे परस्पर मैत्री स्थापित करके राजनीतिक एकता को प्रश्रय देना नहीं चाहते थे। कर्टियस के अनुसार तक्षशिला-नरेश आम्भी तथा अभिसार और पौरस में युद्ध होता रहा। इसी प्रकार एरियन के कथनानुसार पौरस तथा अभिसार केवल तक्षशिला के ही शत्रु न थे वरन स्वायत्त शासनवान पड़ोसियों पर भी इनकी वक्रदृष्टि गड़ी हुई थी और वे उनके भी शत्रु थे। क्षुद्रक तथा मालव के विरुद्ध भी इन दोनों ने रणयात्रा की थी। एरियन ने यह भी बताया है कि पौरस तथा उसके भतीजे में भी शत्रुता थी। शाम्ब तथा मूषिक में भी शत्रुता का सम्बन्ध ज्ञात होता है।

[१] स्ट्रैबो, *Ancient India* पृष्ठ ४१।

यूनानी आक्रमण

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि उत्तर पश्चिम भारत न केवल विभिन्न छोटे-छोटे राज्यो म विभक्त था वरन इनम पारस्परिक ईर्ष्या एव दोष का इतना प्राबल्य था कि इनकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही थी। राजनीतिक अनेकता की दशा मे किसी भी सुसगठित साम्राज्य को यह स्वण अवसर प्राप्त होता है कि वह उन समस्त छोटे-छोटे राज्यो का उन्मूलन सरलतापूवक कर दे। भारत म ही इस प्रकार का एक विशाल साम्राज्य मगध म स्थापित हो चुका था। नन्दो की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही थी किन्तु मगध साम्राज्य क साम्राज्यवादी शासको म से किसी ने उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) के इन छोटे-छोटे राज्यो के उन्मूलन का विचार नही किया और यह काय उन्होंने एक विदेशी के लिए छोड़ दिया।

पारसी आक्रमण क सम्बन्ध म हम पिछल परिच्छेद म च चुके हैं। यहाँ भारत पर उस तूफानी आक्रमण का वणन किया जायगा जिसन एक बार न केवल उत्तर-पश्चिम भारत वरन् विश्व क अधिकाश भागो को दहला दिया और अपनी भयकरता एव भापणता का स्मारक बहुत दिनो के लिए स्थायी बना दिया। यूनानियो को भारतवष क सम्बन्ध मे विशष जानकारी पारसियो स प्राप्त हो चुकी थी। जसा कि पहल ही बताया जा चुका है भारतीय सना ने पारसीक सेना के साथ कइ स्थलो पर उनके शत्रुओ क विरुद्ध युद्ध किया था। किन्तु इसक पूव भी यूनानियो को भारतवासियो के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त थी।

प्रो० रौलिनसन (Rawlinson) ने सुकरात तथा किसी भारतीय दाशनिक के मिलन की कहानी यूसीबियस (Usebeus) के आधार पर उद्धत की है। इसस यह परिलक्षित होता है कि भारत तथा यूनान म पारस्परिक सास्कृतिक सम्बन्ध पहल से ही स्थापित था।

३३१ ई० पू० सिकन्दर न गौगमेला (Gaugamela) अथवा अरबला (Arbela) के युद्ध म अखामनी साम्राज्य की नीव झकझोर कर और ३३० ई० पू० म पर्सिपालिस (Persepolis) नामक उनकी राजधानी को भस्मसात् कर अखामनी साम्राज्य के शासक डरियस ततीय को युद्ध मे पूणतया पराजित कर दिया। तत्पश्चात उसने भारत विजय के स्वप्नो को सत्य बनाने के लिए सशक्त कदम बढाए। सवप्रथम उसन सीस्तान पर अधिकार स्थापित कर लिया। तत्पश्चात् उसका आक्रमण अफगानिस्तान पर हुआ और वहाँ मार्गों की सन्धि पर उसने अराकासियो का सिकन्दरिया (Alexandria among the—Arachosions) कान्धोसिया का सिकन्दरिया (Alexandria under the Caucasus) नामक नगर बसाय प्रथम नगर आधुनिक कन्धार है तथा द्वितीय हिन्दुकुश पवत के निकटस्थ आधुनिक चारिकार कटना (बग्राम) क स्थान पर निमित किया गया था। बक्ट्रिया पर अपना अधिकार स्थापित करना सिकन्दर ने सामरिक दृष्टिकोण से आवश्यक समझा था। इसीलिए उसने बक्ट्रिया तथा उसक समीपवर्ती भू भाग पर आक्रमण कर दिया और वहाँ अपना पूण अधिकार स्थापित कर लिया। बक्ट्रिया से सिकन्दर काबुल की ओर मुडा और अब यहाँ से भारत विजय की तयारियाँ करने लगा। सना के बड़े भाग को उसने खवर के दर्रे से प्रस्थान करने का आदेश दिया। इस प्रकार ३२७ ई० पू० तक सिकन्दर ने बक्ट्रिया तथा आधुनिक बालारा पर सरदारियो तक छापा मारकर पूर्वी ईरान पर हिन्दुकुश तक विजय प्राप्त कर ली थी। मई ३२७ ई० पू० में वह भारत की ओर मुड़ा।

सीमान्त जातियाँ—उत्तर पश्चिमी भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि सम्पूर्ण भाग छोटे छोटे राज्यों एवं गणतन्त्रों में विभक्त था। इन राज्यों की पारस्परिक फूट का दिग्दर्शन हमने किया था। इन राज्यों को अपनी वृद्धि का उतना ध्यान न था जितनी पड़ोसी के पतन की चिन्ता थी। अतः इन राज्यों ने ही स्वयं अपने हाथों विदेशी के विनाश के लिए आक्रमणकारी को द्वार खोल दिये। हिन्दुकुश के उत्तर शशिगुप्त नामक एक भारतीय राजा था जो ईरानियों के साथ सिकन्दर के विरुद्ध लड़ा। किन्तु हार जाने के बाद वह सिकन्दर का मित्र हो गया और उसने उसे भारत आक्रमण में सहायता दी। कुछ विद्वानों का यह मत है कि निकाइया से ही सिकन्दर ने तक्षशिला के राजा सिंधु पूर्व के अन्य राजकुमारों के पास अपना दूत अपने उद्देश्य के प्रकाशनार्थ भेजा था। उसने इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए उन्हें आमन्त्रित भी किया था। कहा जाता है कि जब सिकन्दर बोख्तारा में था तभी तक्षशिला के शासक आम्भीक ने सिकन्दर के पास भारत आक्रमण का निमन्त्रण भेजा था और उससे अपने राज्य का आक्रमण सफल करने की प्रार्थना की थी। कर्टियस के कथनानुसार उसने सिकन्दर के पास सामयिक उपहार भी भेजे थे जिनमें ६५ हाथी विशिष्ट आकार प्रकार की अनेक भेड़ें तथा उत्तम नस्ल के तीन हजार बैल थे। आम्भी ने अत्यन्त स्वार्थ युक्त क्षुद्र भावों से प्रेरित होकर ऐसा किया था। उसने अपने पड़ोसी सशक्त पोरस (पौरव) को जो झेलम तथा रावी नदियों के मध्यस्थ भूमि का शासक था विनष्ट करने के अभिप्राय से ही ऐसा किया था। पोरस अपने समीपवर्ती भूभागों पर तीव्रता से अधिकार जमाता जा रहा था और उसने रावी तक अपना अधिकार स्थापित करके तक्षशिला के सीमान्त को पश्चिम में दहला दिया था। इसकी बढ़ती हुई ताकत को रोकने के लिए ही आम्भी ने सिकन्दर को आमन्त्रित किया था। यदि पंजाब के ये दो शक्तिशाली नरेश आपस में मिलकर आक्रमणकारी का सामना किये होते तो सम्भवतः प्रारम्भ में ही सिकन्दर को भारत प्रवेश की कल्पना छोड़ देनी पड़ी होती और इस प्रकार भीषण नरसंहार एवं रक्तपात से देश बच गया होता। किन्तु इसके प्रतिकूल आक्रमणकारी को निमन्त्रण मिला और वह निर्भीक होकर भारत की सीमा पर पहुँचकर आक्रमण की तैयारियाँ जोर शोर से करने लगा।[1]

---

[1] भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति एवं नीति पर प्रकाश डालते हुए एक विदेशी लेखक ने लिखा है—

At this time north western India was occupied by a number of small heterogeneous principalities and village communities ... these Principalities and free communities differed much in manners and religion they had no tendency to unity or combination the free tribes feared and hated the princes the princes strove with one another ... And these states were not all of the *same* race ... An invader therefore had no common resistance to fear he had to deal with the states one by one ... and he could be assured that many would welcome him out of hatred for their neighbours ... The prince of Taxila hoped great things from the Macedonian conqueror especially the downfall of his rival Porus He visited Alexander at Nicaea laid himself and his kingdom at the great

अस्पसी मस्सग नीसा—काबुल नदी के उत्तरवर्ती भाग में अभियान करते हुए कुनार एवं स्वात घाटियों के पर्वतीय प्रदेश में सिकन्दर को सर्वप्रथम अस्तक नामक वीर भारतीय आदि का सामना करना पड़ा। वहाँ वीरता से अस्तकों ने आक्रमणकारी का सामना किया। एरियन महोदय ने भी इनके भयंकर युद्ध का उल्लेख किया है। इनकी वीरता का समर्थन अन्य इतिहासकारों ने भी किया है।[१] रक्तप्लावित युद्ध के पश्चात सिकन्दर की विजय हुई और उसने यहाँ के ४० हजार मनुष्यों तथा २ लाख ० हजार बैलों को पकड़ा। उत्तम नस्ल वाले बैलों को तो उसने कृषि-कार्य के लिए मकदूनिया भेज दिया तथा अन्य को अपने साथ सेना के प्रयोग के लिए रक्खा।

अस्वकों को अनेक युद्धों में पराजय अवश्य हुई किन्तु उन्हें गर्व शरणागत प्राप्त हो गया। यह था उनका सुदृढ़ दुर्ग मस्सग। यहाँ सम्भवतः इनकी जस्सकियों' (Asnasian) के अश्वक की पूर्वी शाखा निवास करता था। इनके पास ३० हजार अश्वारोही ० हजार पैदल तथा ३० हाथी थे। इनकी राजधानी मस्सग की प्राकृतिक बनावट पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह स्वयं एक दृढ़ भित्ति था। मस्सग के पूर्व में एक तीव्रगामिनी पर्वतीय नदी थी जिसका तट बिल्कुल सीधा खड़ा था। पश्चिम तथा दक्षिण में प्रकृति ने विशाल चट्टानों एवं गहरी घाटियों में किलाबन्दी की थी।[२] इन प्राकृतिक रक्षकों के अतिरिक्त ऊँची चौड़ी प्राचीरें तथा एक गहरी खाई भी इसकी रक्षा के लिए निर्मित थी। सिकन्दर की सारी युद्ध कला यहाँ शिथिल पड़ गई और विजय-श्री असम्भव-सी लगने लगी। दुर्भाग्यवश अस्वकों के नेता अस्वकेनस को एक तीर लग गया और वह धराशायी हो गया।[३] नेता के धराशायी हो जाने के पश्चात भारतीय युद्ध प्रणाली में शेष सेना का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता था। अस्वकों की माँ रानी ... हुई और सिकन्दर ने उन्हें आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। सम्भवतः अस्वकेनस की पत्नी को सिकन्दर ने बलपूर्वक छीन लिया जिससे जस्टिन महोदय के कथनानुसार का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[४]

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर उन दिनों ऐसी वीर जातियाँ थीं जिनकी जीविका ही किसी के ओर से युद्ध करना था। मस्सग के युद्ध में भी अस्वकों की ओर से ७ हजार ऐसे आयुधजीवियों ने भीषण संग्राम किया था। युद्ध के पश्चात सिकन्दर तथा अस्वकों में जो संधि हुई उसके अनुसार इन आयुधजीवियों को शान्तिपूर्वक लौट जाने देना भी शर्त थी जिसे सिकन्दर ने स्वीकार किया था किन्तु इनके भीषण प्रहार को आक्रमणकारी न भूल सका और उसने अपनी प्रतिज्ञा की अवहेलना करते हुए आयुधजीवियों पर दुर्ग से बाहर निकल जाने तथा अरक्षित स्थान में पहुँच जाने के पश्चात पीठ में आक्रमण कर दिया और अधिकांश सैनिकों का वध कर दिया। उन्होंने उसके इस व्यवहार का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया और कहा कि सिकन्दर ने शपथपूर्वक की हुई संधि को भंग कर नाश किया है और इस प्रकार उसने उन देवताओं को भी अपवित्र कर दिया है जिन्हें साक्षी बनाकर

---

emperor's feet and promised his aid in subduing India. Other chiefs on the other side of the Indus also made submission. —जे० बी० बरी, *A History of Greece*, pp. 800-801

[१] मककिण्डल, *Ancient India*, p. 6.
[२] कर्टियस ८।१०॥ मककिण्डल पृष्ठ १९५।
[३] एरियन ४।२७॥ मककिण्डल पृष्ठ ६८।
[४] १२।७॥ मककिण्डल, पृष्ठ ३२२।

सन्धि का गई थी।[१] किन्तु सिकन्दर ने छलपूर्ण उत्तर दिया कि उसने उन्हें दुर्ग से बाहर निकल जाने देने के लिए शपथ ली थी न कि उनसे मैत्री स्थापित रखने की। अन्त में आयुधजीवियों ने भी शस्त्र उठा लिये और तब सिकन्दर को जिस भीषणता का सामना करना पड़ा। जिस प्रकार उसे उन पर विजय प्राप्त करनी पड़ी वह बड़ी महंगी पड़ी। सिकन्दर के सम्मुख और सम्भवत विश्व के सम्मुख यह पहला उदाहरण रहा कि जिस समय पुरुष धराशायी होने लगे स्त्रियों ने उनका कार्य भार सम्भाला और युद्ध को जारी रखा। किन्तु कहा उतनी विशाल यूनानी सेना और कहाँ कुछ हजार आयुधजीवी। अन्त में सिकन्दर ने भीषण रक्तपात का दिग्दर्शन कराया और आयुधजीवियों की मृत्यु गौरव सिद्ध हुई जिसके बदले परतंत्र जीवन स्वीकार करना उन्होंने अत्यन्त घृणित समझा।[२] सिकन्दर अस सैनिक का यह कार्य सदैव घृणित है। एक सैनिक के लिए सन्धि के नियम इस प्रकार तोड़ देना उसके चरित्र पर धब्बा लगाना है। सिकन्दर के पराक्रमी सैनिक जीवन पर भी यह एक काला धब्बा है जिसे इतिहास भुला नहीं सकता। स्वयं यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क ने उसके इस कार्य की निन्दा करते हुए लिखा है—यह आचरण उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है।

अश्वका के कुछ पश्चिम तथा कोहेमूर का निचला शृंखला में नासिया का गणतंत्र था जो अपने को यूनानी देवता डायोनिसस का वंशज मानते थे। सिकन्दर को सगोत्र सिद्ध कर देने के पश्चात नासा ने उसे अपना हितैषी बना लिया। आक्रमणकारी भी विश्रामस्थल चाहते थे वह इससे सुन्दर कहीं और नहीं मिल सकता था। निदान सेना को कुछ दिनों तक यहा विश्राम करने का आदेश मिला। यूनानी सुरा-सुन्दरी में तल्लीन हो गये।

नासियन का अपने को यूनानी जाति से सम्बन्धित बताना छल या वास्तविकता थी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अधिक सम्भावना छल की है क्योंकि आक्रमणकारी की भयंकरता एवं प्रचण्डता से उनका भयभीत हो जाना स्वाभाविक था किन्तु इस सम्बन्ध में ब्यूरी महोदय ने लिखा है —

The name Nesa immediately awakened in the minds of all the Greeks the memory of their god Dionysus For mount Nysa was the mythical place where he had been nursed by nymphs when he was born from the thigh of Zeus The mountain was commonly supposed to be in Thrace but an old hymn placed it near the steams of Nile it had no place on the traveller s chart But here was an actual Nysa and close to the town was a hill whose name resembled meros the Greek word for thigh and whose slopes were covered with the god s own ivy Therefore Nysa they said was found by Dionysus the god had fared eastward to subdue India and now Alexander was marching on his tracks Everywhere on their further march the Greeks and Macedonians were alert to discover traces of the progress of the bacchic god

---

[१] डियोडोरस १७।८४।। मैकक्रिण्डल पृष्ठ २६९

[२] वही।

उक्त विवरण से तो यह परिलक्षित होता है कि नीसा शहर से डायनिसस का सम्बन्ध स्थापित करने में स्वयं यूनानी ही पहले प्रभावित हुए थे। वास्तविकता जो हो नीसा को यूनानी आक्रमणकारी ने विध्वंस नहीं किया और वहाँ वह कुछ दिनों तक विलास में लीन रहा।

अष्टक[1]—नीसा में विश्राम करती हुई यूनानी सेना को अपने दूसरे दल के आगमन की सूचना मिली। यह दल खैबर के दर्रे को पार करके पेशावर में उतर रहा था। पेशावर का भू भाग जैसा कि पिछले परिच्छेद में बताया गया है अष्टक के अधीन था। अष्टक के राजा ने आत्मसमर्पण नहीं किया और वह दल-बल के साथ अपनी राजधानी पुष्कलावती के दुर्ग में चला गया। किन्तु आक्रमणकारियों के सम्मुख उसे झुकना पड़ा। अन्त में सिकन्दर ने निकटवर्ती उत्तरी पर्वतीय जातियों का विनाश कर पुष्कलावती को भी अपने अधीन कर वहाँ फिलिप नामक व्यक्ति की अध्यक्षता में एक यूनानी स्कन्धावार की स्थापना की। भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर अपना स्कन्धावार स्थापित करना सिकन्दर ने आवश्यक समझा था। सिन्धु नदी के पश्चिमी इलाकों को भी उसने निकानर की अधीनता में कर दिया था। इस प्रकार यहाँ दो स्कन्धावार स्थापित कर दिये गये। आक्रमणकारी ने अपनी सेना के एक भाग को नौका द्वारा सिन्धु नदी पार करने का आदेश दिया और स्वयं ओहिन्द नामक स्थान में अटक से १६ मील ऊपर की ओर अपनी प्रमुख सेना से जा मिला जहाँ पर सिन्धु पार करने की व्यवस्था नौका-सेतु का निर्माण करके उसके सेनापतियों ने पहले से ही कर दी थी। सिन्धु तट पर भी सिकन्दर को उसी प्रकार लोहे के चने चबाने पड़ते जैसा कि झेलम-तट पर पड़े किन्तु हमें ज्ञात है कि सिन्धु के ठीक पूर्व में तक्षशिला का राज्य था जिसके शासक आम्भीक ने अपने हाथों भारत का द्वार विदेशी के लिए खोल दिया था। सिकन्दर की सेना बिना किसी दुर्घटना का सामना किये हुए नदी पार कर गई। सिकन्दर ने आम्भीक को उसके देशद्रोही होने का पुरस्कार दिया और उसे अपना सामन्त बनाकर तक्षशिला में ही अधिष्ठित कर दिया।

भारतीय साधुओं से भेंट—अप्रासंगिक होते हुए भी भारतीय साधुओं से सिकन्दर की भेंट का उल्लेख कर देना इसलिए आवश्यक जान पड़ता है कि एक तो सिकन्दर अभियान के अधिकांश लेखकों ने इसका उल्लेख किया है और दूसरे इससे तत्कालीन यतियों की शारीरिक यातना का भी बोध अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस सत्य का सर्वप्रथम उद्घाटन इन्हीं विदेशी लेखकों ने किया है।

जिस समय सिकन्दर तक्षशिला में था उसी समय उसे भारतीय साधुओं की सूचना मिली जिनसे आकर्षित होकर उसने अपने एक कर्मचारी आनसिक्रिटस (Onesicritus) को जो डायोजिनीज (Diogenes) का शिष्य था उन साधुओं को सादर बुलाने के लिए भेजा। स्ट्रेबो महोदय ने आनसिक्रिटस का लेख सुरक्षित रक्खा है जिससे ज्ञात होता है कि नगर से लगभग १० मील की दूरी पर उसे पन्द्रह साधु दिखाई पड़े थे जो कड़ी धूप में जिसमें चट्टानों पर नंगे पैर चलना तक असम्भव था जड़ की तरह बिल्कुल नंगे लेटे हुए थे। आनसिक्रिटस ने उन साधुओं को सिकन्दर का यह संवाद सुनाया कि वह उनसे कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अत्यन्त लापरवाही से एक साधु

[1] सिकन्दर ने काबुल में ही अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया था जिसमें से बड़ा भाग खैबर के दर्रे से चला था।

ने उसका उत्तर दिया—कोई भी विजेता का अभिमान लेकर योरोपीय वेष में—घोड़े पर चढ़कर लबादा पहने हुए चौड़े सिरे की टोपी लगाकर तथा ऊँचे जूते पहने हुए (जैसा कि मकदूनिया वाले पहनते थे) उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता।[1] एक दूसरे साधु ने सिकन्दर की तत्व-ज्ञानार्जन सम्बन्धी जिज्ञासा के लिए प्रशंसा की किन्तु उसने यह भी बताया कि केवल द्विभाषिका के माध्यम से ज्ञान कराना तथा ज्ञानार्जन दोनों असम्भव है। साधुओं ने आनेसिक्रिटस से यह पूछा कि क्या यवनों ने भी तत्व चिन्तन किया है। उत्तर में उसने पाइथागोरस (Pythagores) सुकरात (Socrates) तथा अपने गुरु डायोजिनेज का उल्लेख किया। अन्त में आम्भीक के विशेष आग्रह पर एक साधु ने लौकिक वस्त्रों में सिकन्दर के साथ जाना स्वीकार किया जिसके लिए अन्य साधुओं ने उसकी निन्दा की। यूनानियों ने इस साधु का नाम कालानास रखा जो सम्भवतः इसलिए पड़ा कि यूनानियों ने इस साधु को अपने देशवासियों से विदा होते समय 'कल्याण' का उच्चारण करते हुए सुना था।[2]

पुरु—तक्षशिला के आत्मसमर्पण के पश्चात् अन्य निकटवर्ती राज्यों ने भी भयभीत होकर आत्मसमर्पण कर दिया। तक्षशिला से ५ हजार योद्धा तथा पर्याप्त रसद लेकर सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ा और वह झेलम के तट तक चढ़ आया। तक्षशिला से ही सिकन्दर ने पुरु (पोरस) को आत्मसमर्पण कर देने के लिए निमन्त्रण भेजा था जिसके उत्तर में उसने दूत से यह कहला दिया कि वह सिकन्दर से रणक्षेत्र में ही मिलेगा। झेलम तट पर पहुँचकर सिकन्दर ने उस पार सेना खड़ी पाया। पुरु ने अभिसार के राजा से सहायता माँगी थी किन्तु उसने ठीक अवसर पर सहायता देना अस्वीकार कर दिया था।

सिकन्दर ने राह चुराई—झेलम के इस पार यूनानी सेना तथा उस पार भारतीय सेना खड़ी थी। सिकन्दर को बढ़ी हुई झेलम को पार करना वैसे ही कठिन था दूसरे भारतीय सेना का दल बल साहस देखता जा रहा था। अन्त में उसने धारा से पार करना[3] निश्चित किया। सिकन्दर के उस वाक्य की स्मृति यहाँ सहसा आ जाती है 'सिकन्दर विजय चुरायेगा नहीं'। ईरान जीतने के पहले जब यूनानी सेना रात्रि में दारयवहु की विस्तृत सेना के सम्मुख खड़ी थी कुछ यूनानी सेनापतियों ने इस भय से कि कहीं दिन के प्रकाश में असंख्य ईरानी सेना को देख यूनानी सेना डर न जाय सिकन्दर को सलाह दी थी कि रात्रि के अन्धकार में ही ईरानियों पर आक्रमण कर दिया जाय। इस पर उन्हें धिक्कारते हुए सिकन्दर ने कहा था कि 'सिकन्दर विजय चुरायेगा नहीं' पर आज वह राह चुराने के लिए भी प्रस्तुत है। सिकन्दर ने अपने स्कन्धावारों में नाच रंग खेल-तमाशों की व्यवस्था कर दी जिससे शत्रु को यह विश्वास हो जाय कि इस समय यूनानी आक्रमण नहीं होगा। किन्तु झेलम के बहाव के ऊपर १६ मील की दूरी पर उस स्थान से जहाँ नदी के बीच में एक द्वीप बन गया था सिकन्दर ने अपनी सेना की ११ हजार की एक चुनी हुई टुकड़ी पार उतार दी।[4] स्कन्धावारों की सुरक्षा के

---

[1] Cambridge History of India Part I p 354 तथा Strabo XV C 714

[2] एरियन, सप्तम २-४ स्ट्राबो (C 714 f)

[3] देखिये एरियन का लेख।

[4] कुछ विद्वानों ने यह शंका प्रकट की है कि यूनानी वृत्तान्तों से यह निश्चय करना कठिन है कि सिकन्दर ने १६ मील ऊपरी अथवा निचले भाग की ओर जाकर नदी पार की थी।

लिए उसने क्रतिरस को एक प्रबल सेना देकर नियुक्त कर दिया तथा स्कन्धावारों एवं पार उतरने के स्थान के मध्य में मिलिगर को रख दिया। तीव्र वर्षा एवं बिजलियों की कौंध में सिकन्दर ने राह चुरा ली और जब पुरु को यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पुत्र पौरव को २ हजार योद्धा तथा १२० रथ देकर आक्रमणकारियों का सामना करने को भेजा किन्तु कहाँ सिकन्दर जैसे वीर सेनानायक की अध्यक्षता में युद्ध करनेवाली इतनी बड़ी सेना और कहाँ दो हजार की एक छोटी-सी टुकड़ी जिसका संचालक बीस वर्षीय राजकुमार। पौरव की सेना का ध्वंस यूनानियों ने सरलतापूर्वक कर दिया और तब स्वयं पुरु रणक्षेत्र में उतर पड़ा। यूनानी लेखकों के कथनानुसार पुरु की सेना में ५० हजार पदल ३ हजार अश्वारोही १००० रथ तथा १३० हाथी थे।[१] पुरु की व्यूह रचना भी अपने ढंग की अनोखी थी। उसने सामने तो हाथियों को खड़ा कर दिया और इनके अगल-बगल तथा पीछे पदाति सेना थी। दोनों पार्श्वों में अश्वारोही तथा उनके सामने रथ खड़े किये गये। पुरु की सेना इस प्रतीक्षा में थी कि यूनानी आक्रमण करें। इस प्रकार तैयार खड़ी दोनों सेनायें वर्षा के रणक्षेत्र में आमने-सामने थीं। शत्रु की सेना देखकर सिकन्दर का भी साहस छूटने लगा।[२] सिकन्दर ने कहा— आज का खतरा मेरे साहस का अतिक्रमण कर रहा है आज का युद्ध जंगली जन्तुओं एवं असाधारण वीरों से है। तभी यूनानी अश्वारोहियों ने भारतीय सेना को बाएँ दक्षिण पर तीरों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। इधर भारतीय अश्वारोही कुछ शिथिल पड़े। भारतीय सैनिकों का सबसे बड़ी असुविधा यह पड़ी कि वे अपने लम्बे धनुष को वर्षा जल से भीगी गीली भूमि पर स्थिर नहीं कर पाते थे। रथों को भी इस जलवृष्टि ने अनुपयोगी सिद्ध किया। प्लूटार्क के कथनानुसार (पिछली रात की) वर्षा के कारण बने हुए दलदल तथा कीचड़ में वे बराबर फँस जाया करते थे तथा किसी प्रकार भी आगे नहीं बढ़ पाते थे।[३] तत्पश्चात् स्वयं सिकन्दर सम्मुख आया। फिर भी भारतीय सेना वीरता में लगी रही और प्लूटार्क के कथनानुसार दिन की आठवीं घड़ी तक युद्धभूमि में उन्होंने अपनी प्रवीणता दिखलाई। किन्तु दलदली भूमि में पुरु का जिन पर अधिक भरोसा था वे धनुर्धर तथा रथ बिलकुल असमर्थ हो गये। इधर हाथियों की भी दशा बड़ी शोचनीय थी। चतुर यूनानी सैनिकों ने भारतीय सेना के बिलकुल पास आकर और जान हथेली पर रखकर कुल्हाड़ियों से इनके पैर काटने आरम्भ कर दिये तीरन्दाजों ने उनकी आँखों का अपना निशाना बनाया जिससे ये हाथी पागल हो गये और भागते समय इन्होंने अपनी सेना को ही काफी क्षति पहुँचाई। सेना में भगदड़ मच चुकी थी पर वीर पुरु अपने हाथी पर बैठा वार पर वार करता रहा और यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक उनकी नसों में रक्त-संचार जारी था। अन्त में वह मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा और मूर्छितावस्था में ही बन्दी बनाया गया। युद्धों के पुराने सिकन्दर ने भी अपने जीवन में ऐसा वीर नहीं देखा था। पुरु की वीरता से प्रभावित तथा राजनीतिक चालों से प्रेरित सिकन्दर ने यहाँ दयालु होने का सुन्दरतम अभिनय किया और उसने पुरु को न केवल उसका राज्य लौटा दिया प्रत्युत पूर्व के अधिकृत प्रदेशों को भी उसमें सम्मिलित करके उसे अपना सहायक मित्र बना लिया।

---

१ प्लूटार्क ने यह संख्या इस प्रकार बताई है—२० हजार पदल तथा २ हजार अश्वारोही-मक्क्रिण्डल, पृष्ठ ३१०।

२ कर्टियस, १४। मक्क्रिण्डल, पृष्ठ २७९।

३ कर्टियस अष्टम् पृष्ठ २०८।

सिकन्दर के लिए यह महान् विजय थी, अतः उसने इसकी स्मृति में दो नगरों की स्थापना की—(१) निकाइया तथा (२) अपने मृत अश्व बुषफेला के नाम पर बुकफेला नगर।

ग्लाउसाई अथवा ग्लाउगनिकाई एवं कनिष्ठ पोरस की पराजय—पुरु विजय के पश्चात् यूनानियों ने देवताओं की पूजा एवं नाचरंग में कुछ दिन बिताये। तत्पश्चात् सिकन्दर ने ग्लाउसाई के ३७ नगरों को छान लिया। तभी सिकन्दर को अपने विरुद्ध विद्रोह की सूचना प्राप्त हुई। सिंधु के पश्चिमी प्रदेश का यूनानी क्षत्रप निकानर था। विद्रोहियों ने उसकी हत्या कर दी। सिकन्दर के मित्र शशिगुप्त ने जो सिकन्दर की ओर से ओरनस के दुर्ग का रक्षक था यह सूचना उसके पास भेजी। सिंधु की इन पार्श्ववर्ती जातियों को सिकन्दर बहुत पहले पदाक्रान्त कर चुका था किन्तु इनका विद्रोह यह सिद्ध करता है कि सिकन्दर से पराजित होने वाली इन वीर जातियों को अपनी स्वतन्त्रता अब भी प्यारी थी और वे उसके लिए भारी से भारी खतरा उठाने को तैयार थीं। सिकन्दर को जब यह सूचना प्राप्त हुई तो उसे कुछ विशेष चिन्ता हुई। पर पड़ोसी क्षत्रप तिरियास्प तथा तक्षशिला के रेजिडेन्ट फिलिप ने विद्रोह का दमन कर दिया। तभी थ्रेस से नवीन सेना आ जाने एवं अप्रत्यक्ष रूप से विद्रोह में सम्मिलित होनेवाले अभिसार के राजा के पुनः आत्मसमर्पण के पश्चात् सिकन्दर आगे बढ़ा और उसने चनाब पार करके राजा पुरु के भतीजे कनिष्ठ पोरस को पराजित कर उसके राज्य को पुरु के राज्य में सम्मिलित कर दिया। ग्लाउसाई का राज्य भी पुरु को ही दे दिया गया।[१]

पिम्प्रमा पर अधिकार—तदनन्तर सिकन्दर ने ३२६ ई० पू० की वर्षा के अन्त में रावी को पार करके अपस्तई (आद्रिज) के प्रमुख दुर्ग पिम्प्रमा पर अधिकार स्थापित कर लिया।

कठ या कथवाय— साहस एवं रणकौशल में कठों की अद्वितीय प्रसिद्धि थी।[२] कठों ने बड़ी वीरता से सिकन्दर का सामना किया और युद्ध की भयंकरता के कारण सिकन्दर को सहायतार्थ अपने मित्र पुरु को बुलाना पड़ा। पुरु ५ हजार सैनिकों के साथ पहुँच आया।[३] यह बहुत सम्भव था कि पुरु की इस सहायता के अभाव में सिकन्दर का विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता। एरियन ने भी इसका समर्थन किया है और लिखा है कि जब सिकन्दर ने कठों के सगल नामक दुर्ग को घेरा तब उन्होंने यूनानी सेना के छक्के छुड़ा दिये।[४] कठों के १७ हजार सैनिक काम आये तथा ६० हजार बन्दी हुए जिनमें ५०० अश्वारोही तथा ३०० गाड़ियाँ भी रहीं। इन ६० हजार बन्दी जनों में निश्चय ही सामान्य नागरिक भी रहे होंगे। कठों के भयंकर युद्ध से क्रोधित होकर सिकन्दर ने दुर्ग को पूर्ण विध्वस्त कर दिया। विद्रोहों के भय से पष्ठ भाग की रक्षा के निमित्त ग्रीक सेना नियुक्त कर सिकन्दर आगे व्यास की ओर बढ़ा। सोभूति तथा फेगस ने पहले ही आत्मसमर्पण कर दिया था।

ग्रीक सेना का विद्रोह—व्यास के तट पर पहुँच जाने के पश्चात् यूनानी सेना ने सहसा आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। महान संगठनकर्ता कुशल सेनानायक एवं वीर

१ स्ट्रैबो मैक्क्रिण्डल पृष्ठ ३७।
एरियन ५।२२। *Invasion by Alexander* पृष्ठ ११५।

३ वही ५।२४ वही पृष्ठ ११९।

४ वही ५।२४।। मैक्क्रिण्डल, पृष्ठ ११९।

५ वही।

सिकन्दर की मुख्य स्थित सेना का यह विद्रोह आश्चर्यजनक हो रहा। सिकन्दर के जोशीले भाषणों के सम्मुख भी सेना केवल आँसू बहाकर रह गई।[1] सेना ने आगे बढ़ने से क्यों इन्कार कर दिया इस सम्बन्ध में इतिहासकारों ने दो प्रकार के कारण बताये हैं। पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। आन्तरिक कारणों में सैनिकों की शिथिलता, व्याधि-ग्रस्तता, वस्त्राभाव तथा उनका गृहासक्त होना सम्मिलित है तथा बाह्य कारणों में भारत के सैनिकों की रणकुशलता एवं भावी खतरे की आशंका है।

किन्तु आन्तरिक कारण सम्बन्धी कठिनाइयाँ तो सभी लम्बे अभियान में पड़ सकती हैं जिसके लिए सैनिक तैयार रहते हैं और केवल इन्हीं कठिनाइयों से पराजित होकर रणभेरी बन्द कर दी गई हो यह तर्कसंगत नहीं ज्ञात होता। निश्चय ही बाह्य कारणों का इसमें अधिक हाथ है। प्लूटार्क के विवरण से भी हमें इसका बोध होता है। वह लिखता है कि पोरस के साथ ने मकदूनिया वालों के दिल बैठा दिये और भारत में और आगे बढ़ने की उनकी कामना सर्वथा नष्ट हो गई। वे जानते थे कि केवल २० हजार पैदल तथा दो हजार अश्वारोहियों की सेनावाले उस पोरस को जीतने में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था और इसीलिए जब उसने गंगा पार करने की जिद की तब उन्होंने उसका आदेश स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर दिया।[2] भारतीय सेना की वीरता की प्रशंसा करते हुए एरियन ने भी यह लिखा है कि एशिया में उस समय जितनी जातियाँ बसती थीं उनमें भारतीय युद्ध-कला में सबसे अग्रगण्य थे।[3] सिकन्दर अपनी सेना को आगे बढ़ने के लिए जितना ही ललकारता था सैनिकों का विद्रोह उतना ही भयंकर रूप धारण करता जा रहा था। उन्होंने सुन रक्खा था कि आगे भयानक नदियाँ, कष्टकर मरुभूमि तथा विशाल सेना युक्त लड़ाकू जातियाँ हैं। कर्टियस ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है 'गंगा के उस पार गंगरिडाई तथा प्रेसिआइ नामक जातियाँ निवास करती हैं जिनका राजा अग्रमिस अपने देश की रक्षा के लिए सीमा पर २० हजार अश्वारोही, दो लाख पदाति, चार घोड़ोंवाले २ हजार रथ तथा इन सबसे भयानक ३ हजार गज सेना तैयार रखता है।'[4] प्लूटार्क से भी इस कथन का समर्थन हो जाता है जिसने लिखा है कि 'गंगरिडाई तथा प्रेसियाई उनका (यूनानियों का) सामना करने के लिए ८० हजार अश्वारोही, २ लाख पदाति, ८ हजार रथ तथा ६ हजार गज-सेना लिये प्रतीक्षा कर रहे थे।' इसमें निश्चय ही कोई अत्युक्ति न थी क्योंकि इसके शीघ्र बाद ही एण्ड्रोकोट्टस ने जो तब तक गद्दी पर बैठ चुका था सिल्यूकस को ५०० हाथी दिये और स्वयं ६ लाख सेना से सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला।[5] निश्चय ही यूनानी सेना ने भारत की भयंकर लड़ाकू जातियों के भय से आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया और जैसा कि एरियन ने लिखा है 'जब उन्होंने अपने सम्राट को खतरे पर खतरे मोल लेते और प्रयास पर प्रयास करने पर कमर कसते देखा तब उनके दिल बैठ गये।'

---

[1] प्लूटार्क, ६२, *Invasion by Alexander* पृष्ठ ३१०, एरियन ५।२२।

[2] वही ६२। वही ३१०। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि प्लूटार्क ने व्यास को गंगा बता दिया है और पोरस की सेना के सैनिकों की संख्या कम बताई है।

[3] एरियन, ५, ४।

[4] कर्टियस ९, २, *Invasion by Alexander* पृष्ठ २२१–२२।

[5] प्लूटार्क ६२, वही पृष्ठ ३१०।

ग्रीक सेना ने अपनी अलग सभाओं का भी आयोजन किया। सभा के आयोजन का अर्थ है संगठित विद्रोह। सेना की सभाओं के सम्बन्ध में लिखते हुए एरियन ने लिखा है जिनमें (सभाओं में) अपेक्षाकृत शान्त लोगों ने अपनी दशा पर विलाप किया और तीव्रतर सैनिकों ने स्पष्ट कह दिया कि सिकन्दर चाहे स्वयं ही उनका नेतृत्व क्यों न करे वे कदापि आगे नहीं बढ़ेंगे।[1]

कर्टियस के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने सेना में अपील की—सैनिको ! मुझे ज्ञात है कि इस देश के निवासियों ने पिछले दिनों में अनेक प्रकार की किंवदंतियां प्रचारित कर रखी हैं जिनका अभिप्राय तुम्हारे अन्दर केवल भय का संचार करना है। किन्तु तुम्हारे अनुभव में इस प्रकार के मिथ्यासंवाद नये नहीं हैं।[2] सेना पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और कोइनस ने कहा यद्यपि यह सत्य है कि बर्बरों की संख्या सम्बन्धी अफवाहों में सचेत अत्युक्ति है तथापि उन मिथ्या अफवाहों से भी

अधिक होगी।[3] डाल

ा की दया पर और इन

आतंक से भर रहे हैं मैं

िकन्दर के इन वाक्यों का

होकर कहा निस्सन्देह

हित करता रहा हूं जिनके

हृदय त्रास से भर गये हैं।[4] अन्त में सिकन्दर को स्वदेश की ओर सेना का मुंह मोड़ देना पड़ा।

पूर्वाभिमुख विजय सीमा के निर्धारण के निमित्त सिकन्दर ने यूनानी देवताओं के नाम पर १२ वेदिका-स्तम्भों का निर्माण सम्भवतः व्यास के दक्षिणी तट पर किये और तब स्वदेश-यात्रा की तैयारी की।

सिकन्दर की वापसी—स्वदेश लौटने के पूर्व सिकन्दर ने विजित प्रदेशों के शासन की व्यवस्था कर देना आवश्यक समझा अतः उसने अपने मित्र पोरस को व्यास और झेलम नदियों की सम्पूर्ण मध्यवर्ती भूमि तथा ५ हजार नगरों से युक्त १५ गणतन्त्रों का शासक बनाया। उसने आम्भी को झेलम की पश्चिमवर्ती भूमि का तथा अभिसार के राजा को काश्मीर एवं उर्षा का शासक बना दिया। इन भारतीय राजाओं के भावी विद्रोहों के दमनार्थ सिकन्दर ने भारत में निर्मित यूनानी नगरों में पर्याप्त यूनानी सैनिक रख दिये।

सौभूति ने सिकन्दर का आत्मसमर्पण कर दिया तब जलयात्रा की तैयारियां होने लगीं क्योंकि झेलम में उत्तर जाने के बाद सिकन्दर किसी प्रकार के खतरे को ध्वंसित किये बिना अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकता था। अक्तूबर के अन्त में सिकन्दर की नावें नदी में उतर गई। इन नावों की रक्षा के लिए दोनों तटों पर हेफिस्तियन तथा क्रतिरस की अध्यक्षता में कुशल सैनिक दल चले। इसी प्रकार सिकन्दर रावी एवं चनाब के संगम पर पहुंच गया।

---

[1] एरियन ५ २५, *Invasion by Alexander* पृष्ठ १२१।

[2] कर्टियस ९ २ वही पृष्ठ २२३।

[3] वही ९ ३ वही पृष्ठ २२९।

[4] वही पृष्ठ २२६।

[5] वही।

सिकन्दर के मार्ग अवरोधक

सिकन्दर की सेना चिन्ताविहीन हो विजय व गौरव में फूलकर स्वदेश लौट रही थी। सेना को अपने विद्रोह की सफलता पर भी कुछ प्रसन्नता होने लगी पर वे क्या जानते थे कि अभी उन्होंने जितने भयंकर संग्रामों का सामना किये हैं उनसे अधिक भयावह युद्धों का सामना करना बाकी था। सिकन्दर का मार्ग रोकनेवाली उन भारतीय जातियों का नाम इतिहास में अमर है।

शिवि या सिबोई और अगलसाई—रावी और चनाब के संगम की समीपवर्ती भूमि पर शिवि तथा अग्लसाई दो जातियाँ थीं। वे क्रमशः ४०–४० हजार पदाति एवं ३ हजार अश्वारोही लेकर सिकन्दर की प्रतीक्षा कर रही थीं। शिवि का दमन तो सिकन्दर ने सफलतापूर्वक कर लिया किन्तु अग्लसाई जाति (अग्रश्रेणी) आक्रमणकारी का सामना करती रही और उन्होंने उसकी सेना को कुछ क्षति भी पहुँचाई। पर सिकन्दर की असंख्य सेना ने उन्हें हतप्रभ कर दिया। कर्टियस ने लिखा है कि जब इस वीर जाति ने यह देखा कि अब पराजय अनिवार्य है तो वे अपने घरों में आग लगा कर स्त्रियों एवं बच्चों सहित आग की धधकती लपटों में जल मरे।[1] यह सम्भवतः भारतीय इतिहास में जौहर व्रत का प्रथम उदाहरण है।

मालव और क्षुद्रक—ये दो परस्पर विरोधी जातियाँ विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने के लिए मित्र बन गईं और इन्होंने संयुक्त शक्ति से युद्ध की तैयारियाँ कीं। ९० हजार पदाति, १० हजार अश्वारोही तथा ९०० रथों की एक विशाल सेना लेकर इन वीर जातियों ने यूनानियों पर आक्रमण कर दिया। जिस समय सिकन्दर मालवों के दुर्ग पर आक्रमण कर रहा था उस समय उसे एक बहुत घातक घाव लगा। अत्यधिक नर-संहार एवं रक्त-प्लावन के पश्चात् बड़ी कठिनता से वह दुर्ग को विजित कर सका। यह युद्ध इतना भयावह रहा कि सिकन्दर के सैनिक हताश होकर फिर विद्रोह के शब्दों में अपने राजा को बुरा भला कहने लगे।[2] वे सन्देह करने लगे कि सिकन्दर ने युद्ध करना बन्द किया है वरन् युद्धस्थल बदल लिया है। 'मुझे भारत में गौरवमय लौट आने दो, मुझे बकरी की भाँति भागने को बाध्य न करो।'[3] ये करुण वाक्य आक्रमणकारी के मुँह से निकले जिसका अनुकूल प्रभाव सैनिकों पर पड़ा। फिर क्या था सेना में काम करने वाले सिपाही मालवों पर यूनानी सेना टिड्डी दल-सा टूट पड़ी।[4] यह आकस्मिक आक्रमण भला कौन रोक सकता था। मालवों की लाशों से खेत पट गये। अन्त में कुछ ने समीप के नगर में शरण ली तथा कुछ ब्राह्मणों के एक नगर में शरणार्थ चले गये। किन्तु "ऐसे कि मालव वीर थे उनमें केवल कुछ ही बन्दी किये जा सके और शेष मृत्यु के शिकार हुए।"[5] एरियन के अनुसार सिकन्दर ने तत्पश्चात् आयलिक अंग एवं मान्टगुमरी जिलों की सीमा पर स्थित मालवों के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया जहाँ उसे भीषण युद्ध का सामना करना पड़ा और जैसा कि ऊपर बताया गया है स्वयं सिकन्दर को इस युद्ध में घायल हो जाना पड़ा। सिकन्दर को घायल होते देख यूनानी सेना मालवों पर भूखे

---

[1] कर्टियस ९, ४।

[2] वही, *Invasion by Alexander* पृष्ठ २३४।

[3] वही पृष्ठ २३५।

[4] एरियन ६, ६, *Invasion by Alexander* पृष्ठ १४०।

[5] एरियन ६, ७, वही पृष्ठ १४४।

सिर-सा टूट प । और फिर तो जिस क्रूरता स मानव मर्त्रों स्त्रिया-बच्चों की निमम हत्या की गई वह यूनानियों की युद्ध-नीति पर एक दूसरा धब्बा ब ता है। यहाँ सिक न्दर न यह चालाकी की थी कि मालवा और क्षुद्रको की शक्ति के संगठित एव सयत्त होने के पूर्व ही उसने मालवो पर आक्रमण कर दिया था। क्षुद्रको क पास शक्ति न थी कि व सिकन्दर का अकेले सामना करते अत उन्होंने सधि कर ली। सिकन्दर ने इन दोनों गणराज्यों को सी सा फिलिप की अध्यक्षता म कर दिया जिससे यूनानी सत्ता स्थाय हो सक।

अवस्तनोई—सिकन्दर का माग रोकने क लिए अवस्तनोई अथवा अम्बष्ठ नामक जाति सी ६० हजार पदाति ६ हजार अश्वारोही तथा ५०० रथो क साथ तयार थी पर इनका सामना करने के लिए पडिकस पहल ही भज दिया गया था और सिकन्दर चनाव तथा सिन्ध के सगम पर पडिकस की प्रतीक्षा में तब तक रुका रहा जब तक वह अम्बष्ठो को विजित कर नहीं लौट आया। अम्बष्ठो न स्वतन्त्रता की रक्षा क लिए काफी प्रयत्न किया पर वे असफल रहे।

सिन्ध घाटी के निचले भू भाग की विजय—सिन्ध नदी क मुहाने तक पहुचने म निम्नलिखित जातियो न आत्मसमपण किये—

क्षत्रि वसाति शूद्र तथा अवस्तनोइ। इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं। यहा सिकन्दर ने मषिक प्रास्थ तथा साम्ब को पराजित किया।

ब्राह्मण विरोध—उस समय इन प्रदेशों म ब्राह्मणो का राजनीति म बहुत ब ा प्रभाव था। विदेशी क सम्मुख इस प्रकार झुक जाना उन्हें सह्य न था। अत उन्होंने मुषिक एव भोस्य को विद्रोह क लिए ललकारा। फलत इनके साथ ब्राह्मणो का भी वध कर दिया गया। एरियन न ब्राह्मणो को वीर नेता की उपाधि दी है।[1] शस्त्र धारी के सनिको न शस्त्र-क्षत्र म पदापण किया यह कोई आश्चय की बात न थी क्योकि प्राचीन भारत म ऐसे अनक उदाहरण है जब ब्राह्मणो ने क्षात्रधम स्वीकार कर लिया।

पटल—यह सिकन्दर द्वारा अधिकृत अन्तिम नगर था। सिकन्दर ने इस सरलता पूवक जीत लिया था।

अंतिम विदा—३२५ ई० पू के सितम्बर क आरम्भ मे ही भारत छोडने क लिए पटल म ही सिकन्दर न अपनी सेना के कई भाग कर दिये जिनम स एक दल नियाकस (Nearchus) क सरक्षण म जलमाग स चल पडा तथा दूसरा क्रेटरस (Creterus) की अधीनता मे बोलान क दर्रे स चला। स्वय सिकन्दर एक तीसरे दल के साथ अत्यन्त कष्टमय मरुभूमि स होकर चला। अनेक बाधाएँ झलता हुआ वह अपने साथियो स ईरान के मरुस्थल म मिला।[2]

आक्रमण का प्रभाव

यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि आखिर इस तूफानी आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पडा। सिकन्दर क आक्रमण का बहुत कम प्रत्यक्ष प्रभाव पडा हाँ अप्रत्यक्ष प्रभावो की सख्या भी कम नहीं है। सिकन्दर के आक्रमण के क्षत्र बहुत सीमित थ और साथ ही देश क सीमान्त भाग पर। भला ऐसी अवस्था म वह देश पर कोई स्थायी प्रभाव कम छोड सकता था। भारतीय साहित्य म इस आक्रमण का कहा भी

[1] एरियन ६ ७ वही पृष्ठ १५४।

[2] अत्यन्त कष्टप्रद माग चुनने में सिकन्दर का क्या अभिप्राय था यह स्पष्ट नहीं हो पाता। क्या वह कष्टयातना द्वारा अपनी खिन्नता को मिटाना चाहता था ?

उल्लेख न होना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। फिर भी कुछ सामान्य तौर से तो इस आक्रमण ने भारत को प्रभावित किया ही। डा० स्मिथ ने लिखा है—

भारतवर्ष अपरिवर्तित रहा। युद्ध का घाव शीघ्र ही भर गया। जैसे सन्तोषी बैलों तथा उनसे अधिक सन्तोषी किसानों ने अपने अपने अवरुद्ध कार्यों को प्रारम्भ किया वैसे ही विनष्ट क्षेत्र पुनः लहलहा उठे और वह स्थान जहाँ असंख्य नर-हत्यायें हुई थी पुनः असंख्य प्राणियों से परिपूर्ण हो गये। ... भारत पर यूनानियों का प्रभाव नहीं पड़ा। भारत अपना भव्य एकाकी जीवन बिताता रहा और शीघ्र ही यूनानी तूफान को भूल गया। हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन किसी भी भारतीय लेखक ने सिकन्दर या उसके कार्यों का नाममात्र का भी सकेत नहीं किया है।

इनके समर्थक अनेक इतिहासकार है। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी जोरदार शब्दों में यह घोषणा की है कि सिकन्दर के आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि यूनानी और भारतीयों की सच्ची लड़ाई तो हो ही नहीं पाई, केवल कुछ पर्वतीय या सामान्य जातियों को पराजित कर देने से ही यह कार्य सम्पन्न नहीं हो गया। वास्तविकता जो भी हो इस आक्रमण का तात्कालिक राजनीतिक प्रभाव स्पष्ट ही है।

राजनीतिक प्रभाव—सीमान्त प्रदेशों की छोटी छोटी जातियों को पराजित करके सिकन्दर ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर दी जिससे चन्द्रगुप्त को भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का अवसर मिला।[1] पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्थापित उसकी क्षत्रपीय व्यवस्था यद्यपि उसकी मृत्यु के पश्चात् ही समाप्त हो गई तथापि उससे भारतीय राजनीतिज्ञों को प्रेरणा मिली।[2] भारतीय इतिहास के कुछ पन्नों को सिकन्दर के लेखक साथियों ने प्रकाशित करने में भी योग दिया।

यातायात एवं वाणिज्य पर प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप स्थल एवं जल के चार स्पष्ट मार्गों की खोज हुई जिससे भारत तथा पाश्चात्य देशों में व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध जो पहले से ही स्थापित था घनिष्ठतर हो गया। इन दोनों व्यापारिक सम्बन्धों की घनिष्टता का परिचय बेबीलोनिया की ढली प्रचुर मुद्रायें हैं जो उत्तर पश्चिम भारत में काफी मात्रा में मिली हैं। यह व्यापारिक सम्पर्क पहले से स्थापित था किन्तु वाणिज्य मार्गों की खोज के पश्चात् तो इसमें अभिवृद्धि हुई। भारत में स्थापित यूनानी नगरों की माँग ने भी यूनान तथा भारत के व्यापार को बढ़ाया होगा।

सांस्कृतिक प्रभाव—राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों के अतिरिक्त इस आक्रमण का सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा। यूनानी नागरिकों के सम्पर्क में आकर भारतीय नागरिकों ने उनसे कुछ सीखा और इस प्रकार संस्कृति का आदान प्रदान हुआ। एशिया में सिकन्दर ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी जिनमें एक बैक्ट्रिया में भी था। बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों ने अशोक के दुर्बल उत्तराधिकारियों के शासन काल में भारत पर आक्रमण किया और पंजाब तथा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर उन्होंने पुनः यूनानी सत्ता

---

[1] रायचौधरी महोदय ने ठीक ही लिखा है कि उग्रसेन महापद्म (महापद्मनन्द) चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वी साम्राज्य का निर्माता रहा था तो उस साम्राज्य की नींव उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में बढ़ करने वाला सिकन्दर था। Political History 1 Edition पृ० २६३

[2] देखिये क० हिन्दू भाग १ पृष्ठ, ४३३–३४।

स्थापित की। इन शासकों ने भारतीय मुद्रा का परिष्कार किया। तक्षशिला में इण्डो ग्रीक शासकों की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। वे सुन्दरता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन मुद्राओं की सुन्दरता से ही प्रभावित होकर सम्भवतः आगे चलकर भारतीयों ने भी इनका अनुकरण किया और प्राचीन मुद्रा निर्माण शैली का त्याग किया। भारत में यूनानी उल्लू शैली तथा चाँदी के द्रम्म (दाम) सिक्कों का प्रचलन विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ बैक्ट्रिया प्रदेश कनिष्क के शासन काल में भारतीय शासन के अन्तर्गत था और इसके फलस्वरूप किस प्रकार भारत में गान्धार शैली का उदय हुआ इसके सम्बन्ध में हम आगे पढ़ेंगे।

किन्तु ये सारे प्रभाव गिनने भर को ही हैं। इनमें किसी में उतनी गम्भीरता नहीं है। वास्तव में कुछ काल तक हिंसक नृशंस आक्रमणकारी के रूप में रहनेवाली जाति किसी जाति पर जिस पर वह आक्रमण कर रही है और जो उसे इस आक्रमण के कारण घृणित दृष्टि से देखती है क्या प्रभाव डाल सकती है वह भी उस दशा में जब प्रभावित की जाने वाली जाति उससे सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में किसी प्रकार पिछड़ी न हो।

Questions

Lucknow University

1 Give a short account of the political condition of the Punjab and Sind at the time of Alexander's invasion

Agra University

1 Show how far the Indian rulers were responsible for the success of Alexander the Great in his Indian Campaign (1942)

2 Give a short history of Alexander's campaign in the Punjab with special reference to the Battle of Hydaspes (1943)

3 Discuss the main incidents in the retreat of Alexander the Great Why did he not advance beyond the Bias? (1944)

4 Describe the political condition of the Punjab when Alexander invaded India (1948)

5 Discuss the part played by (a) the kings and (b) the republics of the Punjab and Sind in resisting Alexander's invasion of India (1952)

6 From the Indian standpoint its importance lies chiefly in the fact that it opened up a free intercourse between India and the west For the rest there is nothing to distinguish this raid in Indian history Do you agree with the above remark of Dr R C Majumdar about the invasion of Alexander?

Give a brief account of Alexander's invasion of North western India (1959)

मौर्य-काल | १२
चन्द्रगुप्त मौर्य

यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर जिस समय भारतवर्ष के सीमान्त प्रदेशों पर अपना विनाशकारी आक्रमण कर रहा था और द्वेष एवं वैमनस्य से ग्रस्त भारतीय राजाओं की शक्ति का अपहरण करने में लगा था उसी समय मगध के विशाल साम्राज्य में एक भारतीय नवयुवक अपनी राजनीतिक शक्ति का संचय कर रहा था। वह युग राजनीतिक अनेकता का युग था। सम्पूर्ण भारतवर्ष में (कम से कम उत्तरी भारत में) मगध ही एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित राज्य था। सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख करते हुए पिछले परिच्छेद में हमने यह बताया था कि विश्व विजेता सिकन्दर की अजेय सेना ने किस प्रकार नन्द-सेना की विशालता की कल्पना मात्र से ही भयातुर होकर आगे बढ़ने में असमर्थता प्रकट की थी। दूसरी ओर एक अकेला व्यक्ति इस विशाल साम्राज्य को पराजित करने की सोच रहा था। उसकी महत्वाकांक्षायें केवल कल्पना मात्र न थीं वरन् उसने नन्दों को समूल नष्ट करके सचमुच भारतीय इतिहास में एक नये युग का निर्माण किया। इस उत्साही वीर पुरुष का नाम चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उसके साम्राज्य का नाम मौर्य साम्राज्य है।

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन—इस अज्ञात पिता के विख्यात पुत्र चन्द्रगुप्त का जन्म लगभग ३४५ ई० पूर्व में हुआ था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के समय मौर्यों की सत्ता का अन्त हो चुका था। इन्हीं मौर्यों के प्रधान का पुत्र चन्द्रगुप्त अपनी विधवा माता द्वारा किसी प्रकार पाला जा रहा था। इसके शेष प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालने के पूर्व इसकी जाति की जटिल समस्या को सुलझाने का प्रयास किया जायेगा। भारतीय इतिहास में किसी भी सम्राट की जाति के सम्बन्ध में इतने मत नहीं प्रचलित हैं जितने कि चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के सम्बन्ध में प्राप्य हैं। इतिहासकारों तथा अनुश्रुतियों एवं नाटककारों में चन्द्रगुप्त की जाति पर मतभेद है। कुछ इसे क्षत्रिय मानते हैं तथा कुछ शूद्र घोषित करते हैं। यूनानी लेखक जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का जन्म निम्न कुल में हुआ था। जैन अनुश्रुति के अनुसार भी यह किसी बहुत ऊँचे कुल का नहीं था अपितु इसका जन्म एक ऐसे गाँव के प्रधान के घर में हुआ था जिसमें 'मयूर पोषक' (मोर पालनेवाले) रहा करते थे। मयूर पोषक कुल में उत्पन्न होने के नाते चन्द्रगुप्त को मौर्य की ख्याति प्राप्त हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य को निम्न कुल का बतानेवाला दूसरा साधन विष्णु पुराण है। मौर्य शब्द के आधार पर ही विष्णुपुराण में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म नन्द राजा की मुरा नामक स्त्री से हुआ था। किन्तु संस्कृत-व्याकरण के अनुसार मुरा से 'मौरेय' शब्द बनेगा न कि 'मौर्य'। टीकाकार वास्तव में चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध राजकुल से जोड़ना चाहता है किन्तु देवकथाओं एवं अनुश्रुतियों की छाप उसके मस्तिष्क पर पड़ी जिसके फलस्वरूप उसने चन्द्रगुप्त की माता का नाम शूद्र स्त्री-सा रख दिया। श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने

लिखा है कि विष्णुपुराण का टीकाकार व्याकरण के नियमों का पालन करने की अपेक्षा चन्द्रगुप्त को एक मौर्य द्वन्द्व देने के लिए अधिक इच्छुक है। मुकर्जी ने यह भी बतलाया है कि टीकाकार ने मुरा को शूद्र भी नहीं लिखा है। बृहत्कथा में भी चन्द्रगुप्त को तुच्छ कुल का बतलाया गया है। विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य को वृषल शब्द से सम्बोधित किया गया है। कहीं-कहीं इसे कुल हीन भी कहा गया है। कुछ विद्वान् इन शब्दों का अर्थ शूद्र अथवा निम्न जाति से लेते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों का यह मत है कि कुलहीन का अर्थ जाति बहिष्कृत न होकर छोटे परिवार से है। इसी प्रकार वृषल का अर्थ भी वृष अथवा राजाओं का प्रधान से लिया जाता है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मुद्राराक्षस की रचना बृहत्कथा के आधार पर हुई है। अतः इस विषय में इसकी कोई मौलिकता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जस्टिन साहब विष्णुपुराण की टीकायें बृहत्कथा तथा मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य को तुच्छ कुल का बतलाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई

कहता है देवि अहं क्षत्रिय वंश पनाग्रं परिमक्षयामि अर्थात् देवि मैं क्षत्रिय हूँ प्याज कैसे खा सकता हूँ। स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त भी क्षत्रिय ही रहा होगा तथा उसका वंश अशोक स्वयं को क्षत्रिय घोषित करता है। इसी प्रकार एक अन्य बौद्ध ग्रंथ महावंश चन्द्रगुप्त को मोरीय क्षत्रिय कुल का मानता है।[२] मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण हमें एक अन्य प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथ महापरिनिब्बान सुत्त[३] से प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में मोरियों को पिप्पलि वन का शासक बतलाया गया है। इस ग्रंथ में यह लिखा हुआ है कि पिप्पलि वन के मोरियों ने मल्लों के पास महात्मा गौतम बुद्ध के पावनावशेष का कुछ अंश मांगने के लिए एक दूत यह कहला कर भेजा कि महात्मा गौतम बुद्ध क्षत्रिय वंश के थे और हम लोग भी क्षत्रिय हैं। इस विवरण से मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त हो जाता है और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य निश्चय ही इन्हीं मोरियों से सम्बन्धित क्षत्रिय कुल का रहा होगा। दिव्यावदान का क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रंथों से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना सिद्ध हो जाता है। इन जैन ग्रंथों में परिशिष्टपर्वण तथा कल्पसूत्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

एलियन सर जान मार्शल तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी[४] भी चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय स्वीकार करते हैं।

---

[१] कावेल तथा नील का संस्करण, पृष्ठ ३७०। इसी ग्रन्थ में अशोक अपने को क्षत्रिय कहता है।

[२] मोरियानाम् खत्तियानाम् वंसे जातं।

[३] SBE *Sacred Books of the East* XI pp 134 135

[४] The ancestry of Chandragupta is not known for certain Hindu literary tradition connects him with the Nanda dynasty of Magadha Tradition recorded in Mediaeval inscriptions however represents the Maurya family from which he sprang as belonging to the solar race From Mandhatri a prince of that race sprang

चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति पर प्रकाश डाल लेने के पश्चात् इसके तिमिराच्छादित प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा। इस विषय में हमें बौद्ध अनुश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इनके अनुसार चन्द्रगुप्त मोरियों के प्रधान का पुत्र था। पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी पुष्पपुर (कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र) में रहने लगी थी जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। बालक विभिन्न कठिनाइयों का सामना करता हुआ महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य की दृष्टि में पड़ा जिसने उसकी अद्वितीय प्रतिभा को लक्ष्य कर उसे अपने साथ तक्षशिला लाने का निश्चय किया। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की भेंट-सम्बन्धी कथाओं की संख्या अगणित है। इस विषय में प्रामाणिक ढंग से कुछ कहना कठिन है। कहा जाता है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं विद्याओं की शिक्षा दी। कुछ दन्तकथाओं तथा अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट उस समय होती है जब एक ओर नन्द राजा का सेनापति चन्द्रगुप्त अपने स्वामी से किसी कारणवश असन्तुष्ट होकर प्रतिकार की भावना से राज्य छोड़ रहा था तथा दूसरी ओर अपनी कुरूपता के कारण नन्द राजा द्वारा अपमानित चाणक्य नन्दवंश का समूल नाश करने का प्रण करके प्रयत्नशील होने जा रहा था। चन्द्रगुप्त तथा अन्तिम नन्दराजा के संघर्ष की कथा मिलिन्दपन्हो, पुराण, मुद्राराक्षस नाटक, महावंश टीका तथा परिशिष्ट पर्वन में मिलती है। वास्तविकता जो भी हो इतना सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य दोनों ही नन्द राजा से असन्तुष्ट थे। साथ ही नन्द राजाओं की क्रूरता एवं नृशंसता से प्रपीड़ित जनता भी मुक्ति की प्रतीक्षा कर रही थी। इतना ही नहीं भारतवर्ष पर सिकन्दर द्वारा स्थापित विदेशी शासन भी भारतीय जनता को प्रिय न था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश-वासियों को इस विदेशी शासन से कितनी अधिक घृणा थी। चाणक्य ने अपने ग्रंथ में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि विदेशी विजेता किस प्रकार देश का आर्थिक शोषण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त के सम्मुख दो भारी समस्यायें उपस्थित थीं (१) नन्द वंश का अन्त करके देश-वासियों को नृशंसता एवं निर्दयता से मुक्त कराना तथा (२) विदेशी शासन का अन्त करके देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए चन्द्रगुप्त पंजाब में सिकन्दर से मिला और उसने विदेशी आक्रमणकारी को मगध पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। उस समय तक सिकन्दर की सेना विद्रोही हो चुकी थी। अतः वह कुछ न कर सका। यूनानी इतिहासकार जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त अत्यन्त

---

to the Maurya line In the Rajputana Gazetteer the Moris (Mauryas) are described as a Rajput Clan

In the Mahaparinibban Sutta the Moriyas are represented as the ruling clan of Pippalivan and as belonging to the Kshatriya caste As the Mahaparinibban Sutta is the most ancient of the works referred to above (Parisishtaparvan Mahavamsa and Divyavadan) and forms part of the early Buddhist cannon its evidence should be preferred to that of later compositions It is therefore practically certain that Chandragupta belonged to a Kshatriya community viz the Moriya (Maurya) clan

दृप्त युवक था। उसके अहंकार ने यूनानी विजेता को इतना अप्रसन्न कर दिया कि चन्द्रगुप्त को विवश होकर यूनानी कैम्प छोड़ना पड़ा।[१] इतिहासकार प्लूटार्क भी चन्द्रगुप्त का सिकन्दर के पास जाना स्वीकार करते हैं।[२] किन्तु इस बात का कोई तर्कसंगत प्रमाण नहीं मिलता कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करके नन्द राजा का पतन करने के लिए आमन्त्रित किया था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने यह सोचा हो कि यूनानी आक्रमणकारी अपनी सशक्त सेना द्वारा नन्द सेना का विध्वंस करके वापस लौट जायगा और तब राजनीतिक अव्यवस्था द्वारा प्रस्तुत दुर्बलता से लाभ उठा कर मगध राज्य पर आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर कुछ इतिहासकार चन्द्रगुप्त द्वारा सिकन्दर को मगध आक्रमण के लिए आमन्त्रित करने की बातें करते हैं। भारतीय यूनानी राज्यों की राजनीतिक दुर्बलता पर ध्यान देते हुए यूनानी अधिकार के पश्चात् मगध राज्य का दुर्बल हो जाना भी तर्कसंगत जान पड़ता है जो दूरदर्शी चाणक्य की कल्पना के अन्दर आ सकता था। चाणक्य सीमा प्रान्त का मूल निवासी था। नन्द राज्य में भी उसने काफी समय व्यतीत किया था अतः उसे दोनों स्थानों की राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष ज्ञान रहा होगा। किन्तु यहाँ भी वही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट इस घटना के पूर्व होती है अथवा पश्चात्। अतः जब तक कोई विशेष तर्कसंगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता सिकन्दर द्वारा मगध राज्य का विनाश कराने की बात संदिग्ध ही रहेगी। चन्द्रगुप्त और चाणक्य का किसी प्रकार भी नन्दवंश का अन्त करके शासन सत्ता को अपने हाथ में लेना था और इसके लिए वे दोनों प्रयत्नशील थे।

अब हम विदेशियों से देश को मुक्त कराने की समस्या पर प्रकाश डालेंगे। इसके लिए तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सीमाप्रान्त की जनता यूनानी शासन से असंतुष्ट थी। उसने अपने यूनानी क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी थी। चन्द्रगुप्त ने इस अशान्ति से पूरा लाभ उठाया। उसने विद्रोही जनता को प्रोत्साहित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। विद्रोह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सिकन्दर को जब यह सूचना मिली तब वह पूर्णतया विवश था। उसकी सेना किसी प्रकार भी विद्रोह दबाने को लौट नहीं सकती थी। अतः उसे अपने भारतीय मित्र राजाओं पुरु तथा आम्भी पर भरोसा करना पड़ा। उसने उनसे सीमा प्रान्त के यूनानी शासक यूडेमो की अध्यक्षता में इस विद्रोह का दमन करने की इच्छा प्रकट की किन्तु वे कुछ न कर सके। ३२३ ई० पूर्व के जून में जब सिकन्दर की अकाल मृत्यु हो गई तो चन्द्रगुप्त तथा विद्रोहियों के लिए परिस्थिति और भी अनुकूल

[१] This man Chandragupta wa of humble origin but was stimulated to aspire to regal power by supernatural encouragement for having offended Alexander by his boldness of speech and orders *being given to kill him he saved himself by swiftness of foot*

[२] Androkottus (Chandragupta) himself who was then a lad saw Alexander himself and afterwards used to declare that Alexander might easily have conquered that whole country as then the king was hated by his subjects on account of his mean and wicked disposition —*Life of Alexander XII*

हो गई। चन्द्रगुप्त की सफलता में मालव तथा क्षुद्रक जातियों की राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रप्रियता का प्रमाण मिल चुका था। वह इस बार जाति से काफी प्रभावित था। महावंश टीका के अनुसार चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त ने सीमाप्रान्त की विभिन्न जातियों से सेना के लिए रंगरूटों की भर्ती की थी। चन्द्रगुप्त की सेना का उल्लेख जस्टिन साहब ने भी किया है और उन्होंने चन्द्रगुप्त के सैनिकों को पंजाब के गणतन्त्र का निवासी बतलाया है। हिमालय राजा पर्वतक से भी चन्द्रगुप्त ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मित्रता स्थापित कर ली थी जिसका उल्लेख मुद्राराक्षस तथा परिशिष्ट पर्वन (जैन ग्रन्थ) में किया गया है। पर्वतक द्वारा चन्द्रगुप्त को सैनिक सहायता प्राप्त हुई थी जिसका प्रमाण मुद्राराक्षस है। चन्द्रगुप्त ने भारत के यूनानी शासक फिलिप तथा इसके स्वामी की मृत्यु के बाद दो वर्षों (३२५–३२३ ई० पूर्व) में सेना तैयार कर ली थी। जस्टिन महोदय के विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने सैनिक संगठन कर लेने के पश्चात स्वयं को राजा घोषित कर दिया और तत्पश्चात् उसने सिकन्दर के प्रतिनिधियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जिसमें उसको सफलता प्राप्त हुई। यूनानी लेखकों के विवरणों के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने ३२१ अथवा ३२ ई० पूर्व के पहले ही सिंध घाटी के निचले भाग में स्वातन्त्र्य संग्राम आरम्भ किया था और उसे ३१७ ई० पूर्व में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी क्योंकि इसी समय यूनानी क्षत्रप यूडेमस ने भारत को हमेशा के लिए छोड़ दिया था। इस प्रकार १७ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त पंजाब तथा सिंध का शासक बन गया।

राज्यारोहण—अब चन्द्रगुप्त अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति की ओर झुका क्योंकि वह केवल सिंध या पंजाब का शासक नहीं होना चाहता था वरन् उसे तो नन्दों का विशाल साम्राज्य चाहिए था।

चन्द्रगुप्त द्वारा मगध राज्य अधिकृत किये जाने के प्रामाणिक विवरण का अभाव है। महावंश टीका में एक कहानी आती है जिसमें चन्द्रगुप्त के प्रथम प्रयास की भूल का बोध होता है। एक माता अपने बच्चे को पुआ को किनारों को छोड़ बीच से खाता है और ऊपरी छिलके को फेंक दे रहा है, चन्द्रगुप्त से कहती है जो मगध राज्य पर आक्रमण करने में पहली बार विफल हो चुका था। एक जैन अनुश्रुति भी इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के मगध आक्रमण की तुलना उस बच्चे से करती है जो जलता हुआ दलिया को किनारे के ठंडे भाग से न खाकर बीच से खाता है। इन विवरणों से ऐसा परिलक्षित होता है कि चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य पर पहले भी आक्रमण किया था जिसमें वह असफल रहा। बौद्ध अनुश्रुति चन्द्रगुप्त की दूसरी सैनिक भूल का उल्लेख करती है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने इस बार सीमा प्रान्त से सैनिक प्रयाण किया और उसने अनेक राष्ट्र तथा जनपदों को जो मार्ग में पड़े पराजित किया। किन्तु उसने एक भारी भूल यह की कि अपनी विजयों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सैनिक दल की नियुक्ति विजित प्रदेशों में नहीं की थी। जब चन्द्रगुप्त अपनी भूलों का सुधार करके ३१४ ई० पूर्व में मगध राज्य पर आक्रमणकारी हुआ। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त ने नन्द सेना का विध्वंस करके मगधराज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया इसका विस्तृत किन्तु अत्युक्तिपूर्ण विवरण मिलिन्द पन्हव, पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा मुद्राराक्षस नाटक में प्राप्त होता है। मिलिन्द पन्हव में मगध सेना के विनाश का विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ नन्दों के विनाश का श्रेय कौटिल्य अर्थात् चाणक्य को देते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी नन्दों के विनाश तथा चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाने का श्रेय चाणक्य को दिया जाना ही परिलक्षित होता है। मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य द्वारा यह कहलाया गया है कि उसने नन्दों का स्वयं

नाश किया। इन कथाओं में ऐतिहासिक तथ्य कहाँ तक निहित है यह नहीं कहा जा सकता और इसीलिए यह निश्चय करना कठिन है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य में नन्द वंश का विनाश करने का श्रेय किसको दिया जाय। वास्तविकता जो भी हो इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पंजाब तथा सीमाप्रान्त से एक बड़ी सेना तैयार करके चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया और उसने घनानन्द को मार डाला। विष्णुपुराण में यह उल्लेख प्राप्त होता है—ततश्च नवचैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि के विषय में कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है। नन्दवंश का अन्त सम्भवतः सिकन्दर के लौटने के शीघ्र पश्चात् हुआ। इससे चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि लगभग ३२१ ई० पूर्व मानी जा सकती है। एक अन्य प्रमाण द्वारा भी इस तिथि का समर्थन हो जाता है। सिंहली प्रमाण के अनुसार शिशुनागवंश का अन्त ३४३ ई० पूर्व में हुआ तथा नन्द राजाओं ने केवल २२ वर्षों तक राज्य किया। इस साक्ष्य के आधार पर गणना करने से नन्दों का अन्त तथा चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण (३४३–२२) ३२१ ई० पूर्व में माना जा सकता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजय—कुछ वर्ष पूर्व का एक साधारण युवक मगध के सुविख्यात राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ निश्चय ही यह एक बड़ी बात थी। अब तक के भारतीय इतिहास का सम्भवतः यह पहला उदाहरण था कि अपने बल बूते एवं पौरुष पर एक साधारण स्थिति का व्यक्ति सम्राट् बना। चन्द्रगुप्त के लिए सन्तोष का अधिक अवसर था किन्तु महत्वाकांक्षी चन्द्रगुप्त के हृदय में एक अत्यन्त विस्तृत एवं सुसंगठित साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा थी। वह किसी प्रकार भी इस सीमित मगध राज्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। सौभाग्यवश संसार का सम्भवतः पहला साम्राज्यवादी नीतिज्ञ चाणक्य उसका मन्त्री तथा आचार्य था। अतः दो साम्राज्यवादियों की संयुक्त इच्छा ने साम्राज्य विस्तार के लिए सैनिक प्रयाण को आरम्भ किया। मात्र चन्द्रगुप्त की केवल महत्वाकांक्षा को ही इस दिग्विजय का कारण नहीं कहा जा सकता अपितु स्वदेश में राजनीतिक एकता स्थापित करके विदेशियों से इसकी रक्षा करने की भावना भी इस सैनिक प्रयाण के मूल में है। दिग्विजय का एक तीसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का भली भाँति अध्ययन किया था। उसने यह देखा था कि देश का छोटे छोटे विभिन्न राज्यों में विभक्त रहना कितना हानिप्रद होता है और इसमें बाह्य आक्रमणकारी की सफलता तथा देशी राज्यों की असफलता को कितना प्रोत्साहन मिलता है। चन्द्रगुप्त ने जिस परिश्रम द्वारा मगध का राज्य प्राप्त किया था उसे स्थायित्व तथा दृढ़ता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार करे जिससे विशाल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् सैनिक तथा आर्थिक स्थिति काफी अच्छी हो सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद, स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से चन्द्रगुप्त को दिग्विजय के लिए रणघोष करना आवश्यक था। एक चतुर्थ किन्तु गौण कारण इस रणघोष का यह भी था कि सिंहासनारोहण के पश्चात् भी नन्द कुल से सम्बन्धित अथवा उनके हितैषी राजे चन्द्रगुप्त से द्वेष एवं ईर्ष्या रखते थे। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के अनेक वैरियों का उल्लेख किया गया है। नन्द राजा का मन्त्री राक्षस चन्द्रगुप्त के विरुद्ध अनेक प्रकार का षड्यन्त्र करता हुआ उक्त नाटक में दिखलाया गया है। मन्त्री राक्षस मल ही

ऐतिहासिक व्यक्ति न हो और वह विशाखदत्त की कल्पना-जनित व्यक्ति हो, पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि राज्यारोहण के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त को अपने शत्रुओं से भय था। वे शत्रु निश्चय ही राज-कुल के रहे होंगे और उनके दमन के लिए विस्तृत एवं सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना तथा सैनिक शक्ति की वृद्धि आवश्यक थी। चन्द्रगुप्त के शत्रुओं की उपस्थिति का प्रमाण हमें मेगस्थनीज के विवरण से भी प्राप्त हो जाता है। उसने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का जीवन सदैव संकटमय था। फलस्वरूप उसे रात्रि में कमरा बदल बदल कर सोना पड़ता था।

सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त ने पंजाब पर आक्रमण किया और वहाँ से यूनानी विजय के अवशेष चिह्नों का सर्वदा के लिए अन्त कर दिया। अब भारतवर्ष में यूनानी राज्य का नाम तक नहीं अवशेष रह गया था। देश को विदेशियों के हाथ से मुक्त कराने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने भारत के अन्य प्रान्तों को जीतने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त की इन विजयों का विस्तारपूर्वक वर्णन हमें प्राप्य नहीं है पर कुछ विदेशी लेखों से हमें इन विजयों का संकेत प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते समय उसकी विजयों का उल्लेख किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के अधिकांश भूभाग के बीच के राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। चन्द्रगुप्त की सैनिक शक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें जिस घटना से मिलता है वह सिल्यूकस की पराजय है।

सिल्यूकस की पराजय—जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्य के विस्तार में संलग्न था उसी समय भारत पर एक नई आपत्ति आई जिससे पूर्व की भाँति पुनः देश को राजनीतिक तथा आर्थिक क्षति होने की आशंका थी किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चन्द्रगुप्त ने राज्यारोहण के पश्चात् ही अपनी सैनिक शक्ति इतनी प्रबल कर ली थी कि वह बड़ी से बड़ी आपत्ति झेलने तथा भयंकरतम आक्रमण रोकने में समर्थ था। यह आपत्ति थी यूनानी सेनापति सिल्यूकस का आक्रमण।

यूनानी विजेता सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो चुका था। सेनापतियों में महत्त्व के लिए स्पर्द्धा स्वाभाविक था। उन्हीं प्रतिस्पर्द्धी सेनापतियों में सिल्यूकस नामक सेनापति अत्यधिक शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर के साम्राज्य के पूर्वी भाग का अधिकारी था। यूनानी सिकन्दर द्वारा विजित स्थानों पर अपना उत्तराधिकार समझते थे। सिल्यूकस ने भी भारत का वह भाग जिस पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी अपने अधीन करने का निश्चय किया। ३०५ ई० पूर्व तक उसने सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। तदुपरान्त उसने भारत की ओर अपना विशाल सेना का मुँह मोड़ दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश वह भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से पूर्णतया अनभिज्ञ था। उसे ३२४–२३ ई० पूर्व के भारत तथा ३०५ ई० पूर्व के भारत की राजनीतिक परिस्थितियों का अन्तर नहीं ज्ञात था। सिकन्दर कालीन भारत तथा चन्द्रगुप्त कालीन भारत में महान् अन्तर था। सिकन्दर को छोटे-छोटे केवल भारतीय राजाओं का सामना करना पड़ा था, उसका सामना उन राज्यों से हुआ था जिनमें न केवल सैनिक दुर्बलता थी प्रत्युत् उनमें पारस्परिक द्वेष एवं ईर्ष्या भी कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसके प्रतिकूल सिल्यूकस एक ऐसी शक्ति का सामना करने जा रहा था जो अपने राजनीतिक एवं सैनिक संगठन में अब तक के भारतीय इतिहास में अद्वितीय है।

३०५ ई० पू० में सिल्यूकस सिंध पहुँचा। निश्चय ही यूनानी लेखकों ने इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया और इस प्रणाली में अनिश्चित किया था, शक्ति के लिए यूनानी सेना का दमन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। किन्तु यह चन्द्रगुप्त ने यूनानी शिविर में इस एक प्रणाली की शिक्षा प्राप्त की थी। अतः युद्धात्मक सिद्धान्तों, नीतियों एवं चालों से पूर्णतया परिचित था। सिल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के संघर्षों के विस्तृत वर्णन का अभाव है और यूनानी लेखक युद्ध का परिणाम मात्र बतलाकर चुप हो जाते हैं।[1] किन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दो शक्तियों में कुछ समय तक अवश्य ही संघर्ष हुआ होगा। अन्त में सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त के सामने घुटने टेकने पड़े। शायद इसी समय सिल्यूकस को अपने एक शत्रु एन्टीगोनस से युद्ध करने के लिए पश्चिम लौट जाना था। चन्द्रगुप्त की अजेय शक्ति तथा अपनी सामयिक परिस्थिति का ध्यान रखते हुए सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त द्वारा प्रस्तुत संधि की सभी शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। इस संधि के अनुसार सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को निम्नलिखित चार प्रान्त दिये — एरिया (हेरात) एराकोसिया (कन्धार) परोपनिसादै (पेरोपनिसस—काबुल की घाटी) और जेड्रोसिया (बलूचिस्तान)। बदले में चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को ५०० गजराज भेंटस्वरूप में दिए। सिल्यूकस ने इन्हीं ५०० हाथियों की सहायता से एन्टीगोनस को ३०१ ई० पू० में इप्सस के मैदान में युद्ध करके परास्त किया। ऐसा प्रसिद्ध है कि संधि की पुष्टि वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा हुई।[2] इसके अनुसार सिल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से कितनी निश्चित है नहीं कहा जा सकता।[3] कुछ इतिहासकार जिनमें ... चन्द्रगुप्त का व्याह हुआ था इस

---

[1] It will be seen that the classical writers do not give us any detailed record of the actual conflict between Seleukos and Chandragupta. They merely speak of the results. There can be no doubt that the invader could not make much headway and concluded an alliance which was cemented by a marriage contract.—डा० रायचौधरी *Political History*

[2] इस सम्बन्ध में मत-वैभिन्य होते हुए भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि युद्ध का अन्त संधि द्वारा हुआ और संधि में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। डा० रायचौधरी ने इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला है—

Appian informs us that the fight went on until they (i.e. the Syrian and Indian kings) came to an understanding with each other and contracted a marriage relationship (Kedos) — Age of the Nandas and Mauryas, edited by K. A. Nilkanta Sastri

[3] चौधरी महोदय ने वह ठीक स्ट्राबो के दृष्टिकोण से इस स्ट्राबो का उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें स्ट्राबो ने भारत की सीमा में स्थित स्थानों का नामोल्लेख करते हुए बतलाया है कि इन स्थानों पर किसी समय आधिपत्य था पर कालान्तर में सेल्यूकस ने इन स्थानों को दहेज रूप में दे दिया —

Seleukos Nikator gave them to Sandrocottus (Chandragupta) upon terms of intermarriage (Epigamia) and of receiving in exchange five hundred elephants

सिल्यूकस की पुत्री न बतलाकर कोई अन्य यूनानी राजकुमारी बतलाते हैं।[1] कोई भी तत्संगत ऐतिहासिक प्रमाण इस सम्बन्ध में नहीं प्राप्त होता है। अतः इसके सत्यासत्य का निर्णय करना प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में कठिन है। पर चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस की पारस्परिक मित्रता को बनाये रखनेवाला एक अन्य साधन का ऐतिहासिक प्रमाण हमें प्राप्त है। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज नामक राजदूत को भेजा जिसने पाटलिपुत्र में बहुत दिनों तक निवास करके भारत की विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया। मेगस्थनीज ने भारत पर एक पुस्तक लिखी जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह पुस्तक अपने मूल रूप में नहीं प्राप्य है तथापि अन्य लेखकों द्वारा उद्धृत उद्धरणों से हमें तत्कालीन भारत के इतिहास का कुछ बोध हो जाता है।

अंतिम दिन—इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त के शेष जीवन का इतिहास नहीं मिलता है। उसके साम्राज्य विस्तार को देखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का शेष जीवन भी साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धों में व्यतीत हुआ होगा। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन मतावलम्बी होकर अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में मगध में भयंकर अकाल पड़ने के कारण राज्य का परित्याग करके जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण में मैसूर की ओर चला गया था। मैसूर में (जो श्रवण बेलगोला के नाम से प्रसिद्ध है) अब भी कुछ अभिलेख भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त का जैन साधुओं की भाँति निवास करने का संकेत करते हैं। वहाँ जिस पहाड़ी पर भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त निवास करता था वह आज भी चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित चन्द्रगुप्त बस्ती नामक मंदिर भी पाया जाता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने एक सच्चे जैन भिक्षु की भाँति उपवास करके अपना प्राणान्त कर दिया।[2] इसकी मृत्यु तिथि २९८ अथवा ३०० ई० पू० बतलाई जाती है। यूनानी लेखकों के विवरण से उक्त जैन अनुश्रुति का खण्डन हो जाता है। इन लेखकों के मतानुसार चन्द्रगुप्त ने हिंसा को कभी नहीं छोड़ा था। ऐसी दशा में चन्द्रगुप्त का जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर जाना तथा वहाँ अनशन करके प्राण त्यागना सम्भव नहीं है। किन्तु जब तक कोई तत्संगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

---

[1] डॉ० स्मिथ ने लिखा है कि हमें इसका ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि सेल्यूकस ने अपनी ही पुत्री का ब्याह चन्द्रगुप्त के साथ किया था ये प्रमाण केवल 'वैवाहिक सम्बन्ध' का समर्थन करते हैं। देखिये डॉ० स्मिथ का 'अशोक' तृतीय संस्करण पृष्ठ १५—डॉ० चौधरी द्वारा उद्धृत।

[2] Jain tradition avers that towards the end of his life he became a convert to the religion of the Tirthankaras after the rival teachers had been discomfited in a synod. It is also affirmed that when Magadha was confronted with a famine of twelve years Chandragupta abdicated in favour of a son named Simhasena and retired to Sarvan Belgola in Mysore with the Saint (Sruta Kevalin) Bhadrabahu. There he starved himself to death in the Jain fashion.—*Age of the Nandas and Mauryas* p 165

साम्राज्य विस्तार

बहुधा चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है। हमारे पास इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ हैं जिनके आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य के विस्तृत साम्राज्य की सीमाओं का निर्धारण किया जा सकता है। यूनानी लेखक प्लूटार्क तथा जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का अधिकार सम्पूर्ण भारतवर्ष पर था। प्लूटार्क महोदय ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि चन्द्रगुप्त ने ६ लाख सैनिकों की विशाल सेना लेकर सम्पूर्ण भारत को रौंद दिया था।[१] इस सत्य का समर्थन कुछ अन्य प्राप्त साक्ष्यों द्वारा हो जाता है। हमें ज्ञात है कि अशोक ने अपने जीवन-काल में केवल एक बार कलिंग राज्य से युद्ध किया। उसके पिता बिंदुसार ने साम्राज्य विस्तार के लिए कोई प्रयास नहीं किया था। अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों पर विचार करने से हम चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह अभिलेख दक्षिण में मैसूर तथा भारत के प्राकृतिक सीमा से प्रसार के सरहद पर उत्तर पश्चिम में पाये जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस साम्राज्य पर अशोक ने राज्य किया उसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही किया था।

एक दूसरे प्रमाण से भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा का निर्धारण किया जा सकता है। वह है जूनागढ़ का शक राजा रुद्रदमन का अभिलेख। इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र मौर्य साम्राज्य का एक प्रान्त था। यहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य शासन करता था। सपारा (आधुनिक थाना जिले में) प्राप्त अशोक के अभिलेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सपारा भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक अंग था।

तमिल ग्रन्थों से भी चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-सीमा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यहाँ के दो लेखक ममुलनार तथा परणार के लेखों से यह ज्ञात होता है कि मौर्यों ने सुदूर दक्षिण में त्रिचनापल्ली जिले की पादियिल पहाड़ी तक आक्रमण किया था। निश्चय ही यह आक्रमण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में ही हुआ होगा। जस्टिन साहब भी दक्षिण भारत पर चन्द्रगुप्त का अधिकार स्वीकार करते हैं।[२] बौद्ध ग्रन्थ महावंश भी सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पर चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करता है। डा० राधाकुमुद का भी यह मत है कि चन्द्रगुप्त ही पहला सम्राट् था जिसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत को एक शासनसूत्र में बाँधकर राजनीतिक एकता स्थापित की थी। किन्तु अर्थशास्त्र में वर्णित चक्रवर्ती क्षेत्र केवल उत्तरी भारत से सम्बन्ध रखता है। डा० एन० पी० चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का दक्षिण भारत पर अधिकार होना स्वीकार नहीं करते। उनका यह मत है कि चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार ने दक्षिण विजय की थी।

---

[१] With an army of six hundred thousand men (Chandragupta) overran and subdued all India. —Quoted by Dr H C Raychaudhuri

[२] डा० चौधरी ने भी विन्ध्योत्तर भारत पर चन्द्रगुप्त का अधिकार बताते हुए लिखा है—

When the statements of Plutarch Justin Mamulahar and the Mysore inscriptions referred to by Rice are read together they seem to suggest that the first Maurya did conquer a considerable portion of trans Vindhyan India —*Political History of Ancient India* Sixth edition p 2 0

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का प्रश्न काफी जटिल है। अधिकांश विद्वान उसका राज्य बंगाल से हिन्दुकुश तक मालवा गुजरात सौराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के कुछ भू भागों पर मानते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध के अध्ययन के पूर्व तत्कालीन असुविधाओं का निर्देश कर देना आवश्यक होगा। चौथी शताब्दी ई० पू० में यातायात तथा सन्देश-वाहन के साधनों की हीनावस्था की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। तब तक कोई भी विशाल साम्राज्य नहीं स्थापित हो सका था और इसके अभाव में लम्बी लम्बी सड़कों सरायों आदि का होना असम्भव था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन संगठन की असुविधा शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में यातायात तथा सन्देशवाहकों तथा साम्राज्य विशालता की थी। प्रभा से लेकर दक्षिण भारत तक विस्तृत इस साम्राज्य का समुचित शासन प्रबन्ध करना निश्चय ही एक कठिन कार्य था। मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से साम्राज्य के कोने-कोने में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव था। किन्तु चन्द्रगुप्त स्वयं एक कुशल शासक तो था ही सौभाग्यवश उसे चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ का सहयोग प्राप्त था। चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन केन्द्रीयकरण की पद्धति पर न करके प्रान्तीय शासन व्यवस्था की नींव डालकर किया जिसके विभिन्न रूपों पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की इण्डिका तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है मेगस्थनीज की यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है पर भारतीय तथा यूनानी लेखकों द्वारा उद्धृत अंशों से हमें चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का विवरण प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो चन्द्रगुप्त के शासन की मूलभूत प्रणालियों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। कुछ विद्वान् अर्थशास्त्र के रचयिता को तथा इस ग्रन्थ को चन्द्रगुप्त कालीन नहीं स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह सन्देह अधिक मान्य नहीं है और अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त कालीन अथवा उसके काफी निकट का मानना ही युक्तिसंगत है।[1]

[1] अर्थशास्त्र की तिथि के सम्बन्ध में डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है— 'निश्चय ही बाण (सातवीं शताब्दी ई०) तथा जैनियों के नन्दिसूत्र (जो पाँचवीं शताब्दी ई० के बाद का नहीं है) के पूर्व अर्थशास्त्र विद्यमान था। किन्तु यह सन्देहास्पद है कि अपने वर्तमान रूप में यह प्रथम मौर्य सम्राट के काल जितना प्राचीन है।"

इस सम्बन्ध में डा० चौधरी ने जो तर्क उपस्थित किया है उसका कुछ अंश मूलरूप में उद्धृत किया जा रहा है—

"The work was known not only to Bana the author of the Kadambari who flourished in the seventh century A D but to the Nandi utra and Painnas of the Jainas which may have existed in the early centuries A D and probably also to the Nyava Bhashya of Vatsyayana which is criticised by Dignag and perhaps by Vasubandhu too According to some scholars the Arthasastra literature as later than the Dharmasastras and dates only from about the third century A D

साम्राज्य शासन—चन्द्रगुप्त स्वयं शक्तिशाली था। वह शासन-सत्ता पूर्णतया अपने हाथ में रखना चाहता था। अन्य शब्दों में शासन में साम्राज्य का श्रेष्ठ और प्रधान राजा होता था जिसके हाथ में सेना, न्याय व्यवहार आदि सम्बन्धी कार्य थे। मेगस्थनीज के कथनानुसार राजा शासन में बहुत कम हाथ बटाता था। उसके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि राजा दिन रात राज्य के कार्यों में लगा रहता था और अपनी प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए वह हर समय तैयार रहता था। युद्ध काल में राजा को सेना का नेतृत्व करना पड़ता था और युद्ध सम्बन्धी नीतियों पर वह सेनापति से विचार विमर्श भी करता था। मेगस्थनीज के इस कथन की पुष्टि कि राजा दरबार में आवेदकों वक्ता से अपने शरीर की मालिश कराते समय भी प्रजा का सुख-दुख सुनने के लिए मिल सकता था, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी हो जाती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह बताया है कि राजा को राजद्वार पर न्याय की प्रतीक्षा में खड़े प्रतिवादियों को खड़े रखना उचित नहीं है। उसे चाहिए कि वह बिना विलम्ब हो उनका आवेदन सुने और उस पर अपना निर्णय दे। राजा का दूसरा महत्त्वपूर्ण काम यह था कि वह साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वयं करता था। आय व्यय का निरीक्षण भी राजा के हाथ में था। परराष्ट्र-नीति शासन का महत्त्वपूर्ण अंग है अतः राजा इस विषय पर राजदूतों से स्वयं परामर्श करता था। गुप्तचरों से देश की आन्तरिक अवस्था तथा प्रजा के विषय में ज्ञान प्राप्त करना भी राजा का कर्तव्य था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को यह अधिकार था कि वह नये कानून का निर्माण कर सके। वह प्रजा के लिए शासन की घोषणा भी करता था। उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य शासन प्रणाली के अन्तर्गत राजा या सम्राट का महत्त्वपूर्ण हाथ था। उसे हर प्रकार के विशेषाधिकार भी प्राप्त थे पर साथ ही उसके कर्तव्य भी असीमित थे। सम्पूर्ण साम्राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित रखने के लिए उस राजनीतिक उथल-पुथल के युग में राजा को शक्तिशाली बनाना आवश्यक था।

श्री के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने भारतीय राजत्व सिद्धान्तों की ओर दृष्टि डालते हुए कहा है कि प्राचीन काल में राजा विधानों का संरक्षक मात्र था, निर्माता नहीं। विधानों की अनुमति धर्म एवं सामाजिक परम्पराओं के समन्वय द्वारा होती थी और शासक को भी इन दोनों वैधानिक अधिकारों के साधनों का पालन करना पड़ता था। श्री शास्त्री ने इस सम्बन्ध में कात्यायन का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया है—

Johnston (J R A S 1929 January p 77 ff) points out that the Kautiliya Arthasastra is not separated by a great interval from Asvaghosha and is distinctly earlier than the Jatakmala of Aryasura (who flourished before 434 A D Winternitz Ind Lit Vol II 76) An early date is also suggested by the absense of any reference to the Denarius in Bk II Chs 12 and 19 But the mention of Chinabhumi and Chinapatta in Bk II Ch II precludes the possibility of a date earlier than the middle of the third century B C A post Chandraguptan date for the Arthasastra is also suggested by (a) the reference to parapets of brick instead of wooden ramparts (II 3) in connection with the royal seat and (b) the use of Sanskrit at the Secretariat (II 10) —*Political History of Ancient India* 6th edition p 10

१— न्यायशास्त्राविरोधेन देशदृष्टस्तथैव च।
यत्र धर्मं स्थापयेद्राजा न्यायेन न राजसम आसनम।

शास्त्री महोदय ने आगे बताया है कि कौटिल्य ने आदिकाल से प्रचलित इस राजत्व सिद्धान्त के विरुद्ध अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार राजा के प्रभुत्व का अपना पृथक् अस्तित्व और मान्यता था और यह प्रभुत्व धर्म, व्यक्तिगत सन्धि या समझौते तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध भी स्थापित हो सकता था। कौटिल्य ने न्याय को शास्त्र से भी बड़ा माना है और पहले को प्रधानता प्रदान की है (ऐसे अवसर पर जब दोनों में किसी प्रकार का मतभेद उपस्थित हो जाय)। उसने अपने तर्क की पुष्टि इस प्रकार की है कि समय की लम्बी मंजिल तय करने के साथ साथ शास्त्र दोषयुक्त हो जाता है।

मन्त्री परिषद्—राजकार्य को सुचारुरूप से सञ्चालित करने के लिए एक मन्त्रि परिषद् भी थी। राजा योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन इस परिषद् में करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें १८ पदाधिकारियों का बोध होता है। ये पदाधिकारी अपने अपने विभाग के अध्यक्ष होते थे। ये निम्नलिखित थे —

(१) मन्त्री	(१०) प्रशास्ता 'कमिश्नर'
(२) पुरोहित	(११) नायक 'नगर रक्षक'
(३) सेनापति	(१२) पौर 'कोतवाल'
(४) युवराज	(१३) व्यावहारिक प्रधान 'न्यायाधीश'
(५) दौवारिक 'द्वारों का रक्षक'	(१४) कर्मान्तिक 'आकर तथा कारखानों का अध्यक्ष'
(६) अन्तर्वशिक 'अन्तःपुर का अध्यक्ष'	(१५) मन्त्रि परिषदाध्यक्ष
(७) प्रशास्त्रीय कारागाराध्यक्ष	(१६) दण्डपाल 'पुलिस का प्रधान'
(८) समाहर्ता 'आय-संग्रहकर्ता'	(१७) दुर्गपाल
(९) सन्निधाता 'कोषाध्यक्ष'	(१८) अन्तपाल 'सीमाओं के रक्षक'

अधिकारियों की उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तत्कालीन राज्य के लिए जिन आवश्यक विभागों का होना आवश्यक समझा उनकी स्थापना करके उन विभागों की देख रेख के लिए योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की

1 According to the general theory of Hindu Polity the King was only the guardian of law not its maker laws depended for its validity on their intrinsic conformity to the standard of equity (Dharma) and on the sanction of social usage and every decree of the king and to conform to both these sources of legal right With Kautilya on the other hand the royal decree has an independent validity of its own moreover its validity is of so over riding a character that it must be taken to prevail against equity private treaty or contract and social usage Kautilya also exalts reason (Nyaya) the prescription of texts (Sastras) in cases of conflict between the two and boldly justifies the course on the plea that texts become corrupt with lapse of time —*Age of the Nandas and Mauryas* p 174

थी। उपर्युक्त पदाधिकारी अपने विभाग के उपप्रधान थे। इनके अतिरिक्त कुछ विभागों के स्वामी भी थे जिन्हें 'अध्यक्ष' कहा जाता था। इन अध्यक्षों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं —

(१) नागाध्यक्ष
(२) आकराध्यक्ष
(३) लोहाध्यक्ष
(४) लक्षणाध्यक्ष टकसाल का स्वामी
(५) लवणाध्यक्ष
(६) सुवर्णाध्यक्ष
(७) कुप्याध्यक्ष वन सम्बन्धी आय का प्रबन्धकर्ता
(८) पण्याध्यक्ष सरकारी व्यवसायों का अध्यक्ष
(९) आयुधाध्यक्ष अस्त्र शस्त्र का रक्षक
(१०) पौतवाध्यक्ष बटखरे आदि का निरीक्षक
(११) मानाध्यक्ष समय तथा स्थान का निर्णायक
(१२) सीताध्यक्ष सरकारी खेती का प्रबन्धकर्ता
(१३) शुल्काध्यक्ष
(१४) सूनाध्यक्ष कताई-बुनाई विभाग का अध्यक्ष
(१५) सुराध्यक्ष
(१६) सूताध्यक्ष कसाईखाने का अध्यक्ष
(१७) मुद्राध्यक्ष पासपोर्ट का अध्यक्ष
(१८) द्विताध्यक्ष
(१९) विविताध्यक्ष चरागाह का अध्यक्ष
(२०) बन्धनागाराध्यक्ष
(२१) गवाध्यक्ष पशुनिरीक्षक अध्यक्ष
(२२) नौकाध्यक्ष
(२३) पत्तनाध्यक्ष बन्दरगाहों का अध्यक्ष
(२४) गाविकाध्यक्ष सेना के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष
(२५) सस्याध्यक्ष
(२६) देवताध्यक्ष

उपर्युक्त अध्यक्षों की अधीनता में अन्य छोटे-छोटे पदाधिकारी भी थे।

प्रान्तीय शासन—जैसा कि पहले बताया जा चुका है शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। प्रान्तीय शासन भी अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। राजधानी के निकटवर्ती प्रान्तों का शासन तो स्वयं सम्राट की देख रेख में होता था किन्तु दूरस्थ प्रान्तों का शासन 'राजकुमार' अथवा राजकुलीन व्यक्तियों द्वारा होता था।

चन्द्रगुप्त के समय में प्रान्तों की संख्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है किन्तु उसके प्रपौत्र के शासन-काल में सम्पूर्ण साम्राज्य निम्नलिखित पाँच प्रान्तों में विभक्त था[1]—

---

[1] डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने उपरोक्त पाँच प्रान्तों में से उत्तरापथ, अवन्तिरट्ठ तथा प्राच्य को चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याधीन बताया है किन्तु उन्होंने आगे यह भी लिखा है 'यह बिल्कुल ही असम्भव-सा नहीं है कि दक्षिणापथ भी चन्द्रगुप्त के प्रान्तों में से एक था' —*Political History of Ancient India* 6th edition p 288

१ उत्तरापथ	राजधानी	तक्षशिला
२ अवन्तिरट्ठ		उज्जयिनी
दक्षिणापथ	,	सुवर्णगिरि
४ प्राच्य		पाटलिपुत्र
कलिंग		तोसलि

प्रान्तीय शासकों की वार्षिक आय १२००० पण थी।

पूर्वी तथा मध्य देशों के प्रान्तों का शासन मगधराजा की सहायता से सम्राट स्वयं करता था। चन्द्रगुप्त का मन्त्री चाणक्य कूटनीति के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। अतः इसकी मन्त्रणा से चन्द्रगुप्त ने गुप्तचर विभाग की ओर विशेष ध्यान दिया था। प्रान्तीय शासकों तथा नौकरशाही के पदाधिकारियों की गतिविधियों का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल-सा बिछा दिया था। ये गुप्तचर प्रान्तीय शासकों के कार्यों की सूचना सम्राट को लगातार दिया करते थे। इन गुप्तचरों का राजनीति में इसलिए विशेष महत्त्व था कि ये प्रान्तीय शासकों तथा अन्य अधिकारियों की मनमानी से प्रजा की रक्षा करते थे। निश्चय ही इनके अभाव में प्रान्तीय शासक प्रजा पर अत्याचार कर सकते थे और इस प्रकार प्रजा से धन-सम्पत्ति ग्रहण करके वे अपनी आर्थिक स्थिति तो भी अच्छी बना सकते थे। यद्यपि यह प्रान्तीय शासक राजकुमार अथवा राजकुलीन व्यक्ति होते थे तथापि चन्द्रगुप्त यह कदापि नहीं चाहता रहा होगा कि वे इतने सशक्त हो जायें कि मलयकेतु आदि की भाँति विद्रोह या षड्यन्त्र कर सकें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस विभाग का विशद वर्णन किया गया है।

नगर-शासन—यद्यपि चन्द्रगुप्त का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों शासन उच्चकोटि का था किन्तु इसका नगर शासन अपनी प्रौढ़ता तथा विशेषता के लिए भारतीय इतिहास में अपना ऊँचा स्थान रखता है। नगर शासन (म्युनिसिपल शासन) का पूर्ण विवरण हमें मेगस्थनीज के विवरण में प्राप्त होता है। ध्यान रहे कि राजदूत मेगस्थनीज ने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में ही निवास किया था अतः उसका विवरण पाटलिपुत्र की म्युनिसिपैलिटी का ही वर्णन समझना चाहिए। सम्भव है पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी नगर शासन रहा हो पर उनका शासन इससे कुछ भिन्न अवश्य रहा होगा। पाटलिपुत्र बहुत बड़ा नगर था अतः इसके लिए विशेष प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। इस बड़े नगर में ही शिल्पी, व्यापारी, विदेशियों तथा यात्रियों आदि की भीड़ लगी रहती होगी। इसी बड़े नगर में उद्योग धन्धे भी थे जो अधिक मात्रा में उत्पादन भी करता था। यहाँ की जनसंख्या भी अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक थी। इसलिए इन अवस्थाओं में यह आवश्यक था कि नगर में एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था की जाय।

नीचे मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर नगर-शासन का वर्णन किया जा रहा है।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर के प्रबन्ध के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की ६ समितियाँ होती थीं। इन समितियों के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित थे—

(१) **शिल्पकला समिति**—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है पाटलिपुत्र में कला कारीगरों की भी भरमार थी। औद्योगिक कलाओं की काफी उन्नति हो चुकी थी। अतः औद्योगिक कलाओं के निरीक्षण के लिए शिल्पकला समिति का निर्माण किया गया था। यह समिति कलाकारों, शिल्पियों और अन्य श्रमिकों की पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी।

औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा के लिए भी यह समिति उत्तरदायित्व लिए थी। पर साथ ही साथ यह उनके उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी।

(२) **वैदेशिक समिति**—यह समिति राज में निवास करनेवाले विदेशियों की देख रेख के लिए बनी थी। उसका कर्तव्य यह था कि विदेशियों के आवागमन उनके निवास स्थान आवश्यकता पड़ने पर औषधि आदि का प्रबन्ध करे साथ ही इस समिति के ऊपर उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अंतिम क्रिया भी यही समिति करती थी तथा उनके धन सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

मेगस्थनीज के इस विवरण से यह परिलक्षित होता है कि मौर्य साम्राज्य में विशेषकर पाटलिपुत्र में विदेशियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके लिए एक पृथक विभाग की स्थापना करनी पड़ी थी। विदेशियों की उपस्थिति तत्कालीन भारत के सामाजिक जीवन पर निश्चय ही प्रभाव डालती रही होगी और इस प्रकार इसका विशेष सांस्कृतिक महत्व है क्योंकि चौथी शताब्दी ई० पूर्व के विश्व इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय लगभग सभी देशों में छठी शताब्दी ई० पू० में उदित धार्मिक एवं बौद्धिक क्रांति के परिणाम-स्वरूप जनसाधारण में नई चेतना एवं नव जागरण का प्रस्फुटन हो रहा था।

(३) **जनसंख्या समिति**—यह समिति जन्म मरण का लेखा जोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जनसंख्या की गणना करना ही न था या इसके आधार पर केवल राज कर ही नहीं लगाना था अपितु जन्म मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार को नागरिकों के जन्म मृत्यु चाहे वह उच्च कुल की हो अथवा निम्न कुल की का पूर्ण ज्ञान कराना भी था। जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य स्पष्ट है और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जनगणना की रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्व की अपेक्षा आर्थिक महत्व अधिक रहा होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। मौर्य कालीन औद्योगिक विकास का ध्यान रखते हुए यदि हम इस विषय को समझने का प्रयास करें तो हम जनगणना का महत्व स्पष्ट हो जायगा।

(४) **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इस चौथी समिति का महत्व विशेष उल्लेखनीय है। यह समिति व्यापारियों एवं वणिकों के कार्य की देख रेख के लिए निर्मित की गई थी। एक ओर तो यह उनकी वस्तुओं का जनता को सूचना द्वारा उचित समय पर बिकवा देने का प्रबन्ध करती थी तथा दूसरी ओर जनता के हित के लिए इस बात का ध्यान रखती थी कि व्यापारियों तथा बनियों के झूठ तौल या माप से जनता ठगी न जाय। कोई भी व्यक्ति बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय नहीं कर सकता था और जो व्यक्ति एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करता था उसे अनुपात में अधिक कर भी देना पड़ता था।

(५) **वस्तु निरीक्षक समिति**—पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य के औद्योगिक स्थानों में से प्रमुख था। अतः वस्तुओं के उत्पादन की देख रेख के लिए एक पृथक समिति की आवश्यकता थी। इसी अभिप्राय से उद्योगपतियों के उत्पादन पर निरीक्षण करना इस पाँचवीं समिति का मुख्य कर्तव्य निश्चित किया गया था। यह समिति इस बात की देख रेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट कर उद्योगपति अनुचित लाभ न उठावें। नई तथा पुरानी वस्तुयें किसी प्रकार भी नहीं मिलाई

जा सकता था और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि वे पृथक्-पृथक् बेची जायें। नियम भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ता था।

(६) कर समिति—यह समिति बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। यह भी काफी महत्त्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था उसे प्राण-दंड दिया जाता था।

ऊपर नगर शासन का जो विवरण दिया गया है वह यूनानी राजदूत के वर्णन पर आधारित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर शासन अथवा उसके इस प्रकार विवरण का उल्लेख नहीं मिलता है। कहीं किसी स्थल पर इसका निर्देशन मात्र है। इस विषय में अर्थशास्त्र का मौन रहना यात्री के विवरण अर्थात् ६ समितियों तथा उनके कर्तव्यों अधिकारों के विवरण की सत्यता में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं उत्पन्न कर सकता। अर्थशास्त्र भी सर्वथा मौन नहीं है उसमें 'नागरक' अथवा नगराध्यक्ष को नगर का शासक बतलाया गया है और उसके अधीन 'स्थानिक' तथा 'गोप' नामक पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है।

मेगस्थनीज ने नगर शासन का विवरण समाप्त करते हुए यह लिखा है कि वैसे तो अपने-अपने पृथक् विभाग का निरीक्षण ये समितियाँ करती ही थीं पर साथ ही सामूहिक रूप से नगर के सामान्य हित सम्बन्धी विषयों से भी उनका सम्बन्ध था। उदाहरणार्थ सार्वजनिक इमारतों की सुरक्षा तथा उनकी मरम्मत कराना, मूल्य सम्बन्धी नियमों पर ध्यान देना, बाजार नियंत्रण, बन्दरगाहों तथा मन्दिरों की देख रेख करना सामूहिक उत्तरदायित्व का विषय था।

जिला-शासन—नगर शासन के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के जिला शासन पर भी प्रकाश डाला है। वह जिला शासन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनके ऊपर नदियों की देख रेख, भूमि की पैमाइश तथा सिंचाई की नहरों की शाखा प्रशाखाओं के निरीक्षण का भार था। इन भूमि तथा सिंचाई के अधिकारियों के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने कृषि, जंगल, सड़क, खान आदि के अधिकारियों का भी उल्लेख किया है।

जनपद या देहात शासन—ग्राम शासन की निम्नतम इकाई था। इसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। पाँच या दस ग्रामों का शासक 'गोप' कहा जाता था। गोप के ऊपर 'स्थानिक' नामक अधिकारी होता था। यह जनपद के चतुर्थ भाग पर शासन करता था। पूर्वलिखित पदाधिकारी प्रदेष्टा और समाहर्ता की देख रेख में काम करते थे।

सैन्य संगठन

नन्द वंश का अन्त कर देने के पश्चात् चन्द्रगुप्त को मगध की एक विशाल सेना प्राप्त हुई थी। इस सेना की विशालता के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ सुनकर ही यूनानी विजेता सिकन्दर की अजेय सेना का साहस छूट गया था और उसने आगे बढ़ने से साफ इन्कार कर दिया था। मगध की इस पुरानी सेना के अतिरिक्त साम्राज्य-वृद्धि एवं देश की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने काफी संख्या में नये सैनिकों की भर्ती भी की थी।

राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के सैन्य-संगठन का भी पूर्ण विवरण देता है। उसके कथनानुसार इस सेना में ६० ००० लाख से भी अधिक पैदल सिपाही थे। और सेना के अन्य अंग इस प्रकार—

३ ००० अश्व ९ ०० गज तथा ८००० रथ।

चेइतना विशाल सेना के प्रबन्ध एवं रथ के लिए एक अलग सैनिक विभाग की आवश्यकता थी जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त ने अत्यंत कुशलतापूर्वक की थी। इस सैनिक विभाग द्वारा संगठन ६ समितियों द्वारा होता था। प्रत्येक समिति में ५–५ सदस्य होते थे। इनका पूर्ण विवरण इस प्रकार है—

समिति	नं	(१)	नौ सेना
	नं०	(२)	पदाति-सेना
	नं०	(३)	अश्व सेना
	नं०	(४)	रथ सेना
	नं०	(५)	गज सेना
	नं	(६)	सेना-यातायात तथा युद्ध सामग्री वाहिनी

मेगस्थनीज ने छठी समिति का कार्य बतलाते हुए लिखा है कि यह समिति सेना सम्बन्धी सामग्रियों की निवासी व्यवस्था या के अधिकारियों को सहयोग देती थी।

मेगस्थनीज के कथनानुसार समाज में किसानों के पश्चात सैनिकों की ही संख्या अधिक थी। इनके वेतन के विषय में मेगस्थनीज ने यह लिखा है कि उन्हें नियमित रूप से वेतन मिलता था। राज्य भाग उन्हें अस्त्र शस्त्र भी मिलता था। मेगस्थनीज ने सैनिकों की राज्य द्वारा प्राप्त सुविधाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उनका वेतन इतना था कि वे इससे सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। मौर्य सैनिक स्वतन्त्रता का भोग पूर्णरूपेण करते थे। युद्ध काल में ही उन्हें कठिन परिश्रम करना पड़ता था पर अवकाश के समय वे इच्छानुसार मनोरंजन करने के लिए स्वतन्त्र थे। युद्ध काल में भी जब वे शिविरों में रहते थे तो उन्हें नौकर मिलते थे जो उनके अस्त्र शस्त्र को साफ करते थे घोड़ों की देख रेख करते थे तथा उनके रथों का संचालन करते थे।

न्याय विधान

मौर्यकालीन न्याय प्रधान भारतीय इतिहास में उच्चकोटि का है। राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश होता था। मौर्यकालीन दण्ड की कठोरता का उल्लेख मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने किया है। उसमें से एक अंग भंग से लेकर प्राणदण्ड तक का विवरण प्राप्त होता है। प्राण दण्ड अन्धा बनाना या हत्या कर देना अथवा बिक्री की वस्तुओं पर कर न देने के अभियोग में दिया जाता था। व्यभिचारियों तथा चोरों को अंग भंग का दण्ड दिया जाता था। राजकर्मचारियों की चोरी के छोटे अपराधों पर भी प्राणदण्ड दिया जाता था। अपराधी से अपराध स्वीकार कराने के लिए अनेक प्रकार के कष्टदायक साधनों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त का दण्ड विधान आवश्यकता से अधिक कठोर था जिसे यदि अमानुषिक कहा जाय तो अनुचित न होगा। किन्तु हम इस निर्णय देने के पूर्व तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर भी एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी। चन्द्रगुप्त मौर्य के विरोधी तथा नन्दराजा के समर्थक नन्दों के अन्त के पश्चात भी जीवित थे। मुद्राराक्षस में यह बतलाया गया है कि मौर्य राजा (चन्द्रगुप्त) अपने विरोधियों का अन्त कठोर दण्ड द्वारा करता है जो प्राणदण्ड होता है। राक्षस मंत्री के मित्र एवं सहायक एक महाजन को घमकी

रते हुए उक्त नाटक में चाणक्य से ऐसा कहलाया गया है। इस विवरण से चन्द्रगुप्त के कठोर विधान की कठोरता का आभास मिलता अपितु इससे यह भी परिलक्षित होता है कि नन्द राजा से छिपा कर दिया तब वन गए। उनके षड्यन्त्रों के दमनार्थ तथा उस राजनैतिक उथल पुथल के युग में व्याप्त अव्यवस्था को समाप्त करके जन जीवन को सुखी एवं शान्तिमय बनाने के लिए इस विधान की कठोरता आवश्यक था।

अर्थशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय विद्यमान थे।

(१) धर्मस्थीय (दीवानी) तथा (२) कण्टकशोधन (फौजदारी) इन न्यायालयों के अतिरिक्त ग्राम पंचायतें भी अपने प्रारम्भिक रूप में चल रही थीं जो छोटे मोटे झगड़ों को अन्य बहुधा समझौता द्वारा तय किया करती थीं।

आय व्यय के साधन

भूमि-कर ही आय का मुख्य साधन था। बहुधा उपज का ¼ भाग कर रूप में लिया जाता था किन्तु देश-काल के अनुसार यह कम-ज्यादा भी हुआ करता था। भूमि कर के अतिरिक्त वन-सामग्री पर लगनेवाले विक्री कर घाटों पर लगनेवाले कर जुर्माना आदि (मालें) भी आय के साधन थे।

व्यय के साधन भी बहुत थे। सेना नौकरशाही प्रजाहितकारी आदि कार्यों में काफी आय खर्च हो जाता था। राजा तथा राज-परिवार के ऊपर भी आय का काफी भाग खर्च हो जाया करता था।

सम्राट् का नगर, राजमहल तथा उसका व्यक्तिगत जीवन

पहले हम चन्द्रगुप्त के नगर पाटलिपुत्र का वर्णन करेंगे।

मगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र गंगा तथा सोन नदियों के संगम पर स्थित है। यह भारत का सबसे बड़ा नगर है। यात्री ने नगर की लम्बाई ८० स्टेडिया (९¼ मील) तथा चौड़ाई १५ स्टेडिया (१ मील १२७० गज) बतलाई है। नगर की सुरक्षा के लिए ६० फीट गहरी तथा २०० गज चौड़ी खाई नगर के चारों ओर बनी हुई थी जो सदा सोन के पानी से भरी रहती थी। खाई के अतिरिक्त लकड़ी की एक दीवार भी बनी हुई थी। इस प्रकार नगर की सुरक्षा के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए गए थे। नगर की चहारदीवारी में ६४ फाटक तथा ५७० मीनारें थीं।[1]

अब हम चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन तथा उसके राजमहल पर प्रकाश डालेंगे। पहले हम उसके राजमहल को ही लेंगे। यह विवरण भी हम यूनानी लेखकों द्वारा प्राप्त

1 The largest city in India named Palimbothra is in the land of the Prasians where is the confluence of the river Erannobaos and the Ganges which is the greatest of rivers Megasthenes says that on the side where it is longest this city extends 80 *stades* (9 miles) in length and that its breadth is fiteen (13 miles) that the city has been surrounded with a ditch in breadth 6 *plethra* (600 feet) and in depth 30 cubits and that its wall has 570 towers and 64 gates —*Arrian's India* Chapter X Quoted by Dr H C Raychaudhuri in his *Political History of Ancient India* 6th ed two p 2 4

होता है। चन्द्रगुप्त ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करना पसन्द करता था। अतः अपने निवास के लिए उसने एक बहुत विशाल एवं सुन्दर महल का निर्माण कराया था। राजमहल के चारों ओर सुन्दर उद्यान बना हुआ था। 'उसमें स्तम्भ सुनहले थे तथा उद्यान कृत्रिम मत्स्य ह्रद तथा निभृत कुञ्ज थे। तत्कालीन भवन निर्माण कला की प्रचलित प्रणालियों तथा कुछ मौलिक शैलियों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह राजमहल प्रायः काष्ठ का था। फलस्वरूप वह काल के कराल गाल में विलीन हो गया और आज उसका स्मृति चिह्न भी अवशेष नहीं। तथापि यूनानी लेखकों के प्रामाणिक विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन भारतीय भवनों में इस राजमहल का स्थान बहुत ऊँचा था। इस राजमहल के सौन्दर्य के समक्ष शूषा तथा इकबताना के ईरानी राज प्रासादों की सुन्दरता भी फीकी पड़ जाती है।'[1] जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है काष्ठ निर्मित होने के कारण राजप्रासाद के तो अंशों का अवशेष विशेष रूप से नहीं पाया जाता किन्तु आधुनिक पटना के समीप कुम्रहार गाँव में इस राजमहल के आधार के अवशेष अब भी पाये जाते हैं।

चन्द्रगुप्त के चारों ओर शरीर रक्षिकाओं की भीड़ लगी रहती थी। इतिहासकार स्ट्रैबो के कथनानुसार ये नारियाँ एक प्रकार की गुलाम होती थीं जिन्हें उनके माता पिता से खरीद लिया जाता था। अर्थशास्त्र के अध्ययन और चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन के सम्मिलित अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि अन्य कार्यों की भाँति चन्द्रगुप्त

---

[1] चौधरी महोदय ने इस सम्बन्ध में एलियन का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है—

In the Indian royal palace where the greatest of all the Kings of the country resides besides much else which is calculated to excite admiration (and with which neither Susa nor Ekbatana can vie for methinks only the well known vanity of the Persians could prompt such a comparison) there are other wonders besides In the parks tame peacocks are kept and pheasants which have been domesticated there are shady groves and pasture ground planted with trees and branches of trees which the art of the woodsman has deftly interwoven while some trees are native to the soil others are brought from other parts and with their beauty enhance the charms of the landscape Parrots are natives of the country and keep hovering about the king and wheeling round him and vast though their number be no Indian ever eats a parrot The Brahmans honour them highly above all other bird —because the parrot alone can imitate human speech Within the palace grounds are artificial ponds in which they keep fish of enormous size but quite tame No one has permission to fish for these except the Kings Sons while yet in their childhood These youngsters amuse themselves while fishing in the unruffled sea of water and learning how to sail their boats — मैक्रिण्डल *Ancient India as described in Classical Literature* pp 141-42

के दैनिक कार्य तथा उसका व्यक्तिगत जीवन भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के द्वारा अनुशासित था। चन्द्रगुप्त जब मृगया के लिए जाता था तब भी वह नारियों द्वारा रक्षित रहता था। मृगया के समय भी उसके पास दो या तीन शस्त्रयुक्त नारियाँ रहती थीं। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में यह लिखा है कि प्रातःकाल शय्या से उठते समय राजा का स्वागत धनुर्धारिणी नारियों द्वारा होना चाहिए। राजा की रक्षा के लिए यवनियों की नियुक्ति की प्रथा भारत में मौर्यकाल के बहुत बाद तक चलती रही। इसका प्रमाण हमें कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय नामक नाटकों से प्राप्त होता है जिनमें नाटककार रंगमंच पर शार्ङ्ग लिये यवनी का प्रवेश कराता है। सम्राट् को अपने चारों ओर षड्यन्त्रों का कितना अधिक भय बना रहता था इसका उल्लेख हम मुद्राराक्षस नामक के आधार पर पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। सम्भवतः गुप्त शत्रुओं से सुरक्षा के लिए धनुर्धारिणी नारियाँ अथवा नारी शरीर रक्षकों की नियुक्ति अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती थी। इतना ही नहीं सम्राट् की सुरक्षा के लिए अन्य उपाय भी किए गए थे। जिस समय सम्राट् मृगया के लिए राज प्रासाद से बाहर निकलता था उस समय उसका मार्ग रस्सियों से घिरा रहता था। जो व्यक्ति इन रस्सियों के लाँघने का प्रयास करता था उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। राजा केवल चार अवसरों पर राज प्रासाद से बाहर निकलता था—(१) युद्ध (२) यज्ञानुष्ठान (३) न्याय विधान तथा (४) आखेट। इस राजसी ठाट-बाट का वर्णन भी यूनानी लेखकों में प्राप्त होता है। धार्मिक या अन्य सार्वजनिक उत्सव के अवसरों पर सम्राट् सुनहली पालकी पर निकलता था। धार्मिक उत्सव के अवसरों पर शाही जलूस की चमक-दमक अद्वितीय होती थी। अनेक सोने चाँदी से सुसज्जित हाथी, रथ, चौपाए, वनपशु तथा पालतू सिंहों एवं पक्षियों से यह जलूस भरा रहता था। चन्द्रगुप्त का अधिक समय राज काज में ही व्यतीत होता था पर उसे खेल-कूद आदि में काफी शौक था। मेढ़ों, साँडों, गैंडों आदि की लड़ाई देखने में उसे विशेष आनन्द आता था। रथ-दौड़ तथा घुड़दौड़ भी इसके मनोरंजन के साधन थे।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सम्राट् जहाँ एक ओर कुशल शासक, कठोर सैनिक तथा योग्य न्यायकारी का जीवन व्यतीत करता था वहाँ दूसरी ओर विलासमय जीवन भी व्यतीत करता था।

चन्द्रगुप्त का भारतीय इतिहास में स्थान—ऐतिहासिक काल के वर्णपात के साथ जिस सम्राट् का आविर्भाव भारतवर्ष में हुआ वह केवल इसीलिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है कि वह इस काल का प्रथम सम्राट् था अपितु उसका चरित्र कुछ ऐसे अनोखे ढंग का था जो उसे भारतीय इतिहास तो क्या विश्व इतिहास के श्रेष्ठ सम्राटों की श्रेणी में रखता है। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जिस

---

[1] डा० चौधरी ने चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन की जो झाँकी प्रस्तुत की है वह विशेष उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—

'वह (चन्द्रगुप्त) कभी-कभी मदिरापान भी करने से नहीं झिझकता था पर सम्भवतः केवल भोजन के समय किन्तु कभी भी इतना अधिक नहीं पीता था कि महलों में रहने वाली नारियों के अनुचित षड्यन्त्रों का निशाना बने। वह दिन में नहीं सोता था और रात्रि को यदा-कदा षड्यन्त्रों से आत्मरक्षा के ध्यान से उसे बिस्तर बदलना पड़ता था'—
Age of the Nandas and Mouryas P 160

निम्न स्थिति में उसका जन्म हुआ था उस स्थिति में जन्मा कोई बिरला ही इतने ऊँचे पद पर पहुँच सका है। ऐसी आश्चर्यजनक प्रगति का उदाहरण नेपोलियन जैसे दो एक व्यक्ति ही मिल सकते हैं। बाल्यकाल में विधवा माता द्वारा पालित यह लगभग अनाथ बालक भारत के सबसे बड़े साम्राज्य का सम्राट बनता है। यह और कुछ नहीं व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसके विकास का एक आश्चर्य है। बाल्यकाल के संघर्षों पर ध्यान देने पर तथा प्रारम्भिक जीवन की अगणित कठिनाइयों पर विचार करने पर हमें चन्द्रगुप्त का चरित्र और निखरा हुआ जान पड़ता है। भारत के साम्राज्य-संस्थापकों का इतिहास देखने पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त, हर्ष, खिलजी या मुगल साम्राज्य जैसे सुप्रसिद्ध एवं सुविस्तृत साम्राज्य के संस्थापकों में से किसी सम्राट में वह तत्व नहीं जो चन्द्रगुप्त मौर्य में था। चौथी शताब्दी ई० पूर्व के पश्चात सोलहवीं शताब्दी ई० पूर्व में मुगल साम्राज्य का संस्थापक केवल बाबर ही एक ऐसा साम्राज्य-संस्थापक मिलता है जिसने अपने बाहु बल द्वारा भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की। किन्तु बाबर के पास छोटी ही सही पैतृक सम्पत्ति के रूप में एक रियासत थी, अपनी एक सेना थी अतः साम्राज्य संस्थापक के रूप में चन्द्रगुप्त अद्वितीय कहा जा सकता है।

चन्द्रगुप्त प्रारम्भ से ही विद्रोही प्रकृति का था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार नन्द राजा का दरबार इसे केवल इसलिए छोड़ना पड़ा कि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह भारी से भारी वस्तु से टकरा सकता था। सिकन्दर के शिविर को भी इसे इसलिए छोड़ना पड़ा कि वह किसी के सम्मुख झुकना नहीं चाहता था। चन्द्रगुप्त[1] के चरित्र का यह वास्तविक रूप था किन्तु कुछ साहित्यिक साक्ष्यों ने इसका चरित्र कुछ और ही चित्रित किया है। मुद्राराक्षस का नाम इसमें विशेष उल्लेखनीय है। नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ का खिलौना प्रदर्शित किया है। तब से चन्द्रगुप्त को चाणक्य का कठपुतला मानने की एक परम्परा निकल पड़ी। परन्तु यह किसी भी दशा में सत्य नहीं। चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति था और अपने कार्यों में किसी का अनुचित हस्तक्षेप उसे सह्य न था।

एक दिग्विजयी के रूप में भी चन्द्रगुप्त श्रेष्ठ सम्राट समझा जा सकता है। उत्तर पश्चिम के भू भाग पर अत्यधिक सफलतापूर्वक शासन कर लेना चन्द्रगुप्त के वश की ही बात थी। यह प्रदेश भारत के सभी कालों में सभी सम्राटों से अछूता रह गया है।

---

[1] यहाँ हमें जस्टिन के उन वाक्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है जिसमें वह बताता है कि सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त मौर्य की निर्भीक वाकपटुता देखकर उसकी हत्या का आदेश दिया था—

having offended Alexander by his boldness of speech and orders being given to kill him

[2] जो व्यक्ति सिकन्दर जैसे विजेता के सम्मुख नहीं झुक सका और निर्भीक होकर बोलता रहा भला वह चाणक्य के हाथों की कठपुतली कैसे हो सकता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। उपरोक्त साक्ष्य हमें यह बताता है कि चन्द्रगुप्त में वाक निर्भीकता (boldness of speech) थी और यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसमें यह गुण होगा वह व्यक्ति किसी के हाथ का खिलौना बनने की अपेक्षा मर जाना सुन्दर समझता है। अतः हमारे विचार से मुद्राराक्षस के चाणक्य की यह चारित्रिक दुर्बलता स्वयं विशाखदत्त की कल्पना की देन है।

महान् विजेता तो भारत के अन्य सम्राट भी हुए जिनमें प्राचीन भारत में ही समुद्रगुप्त का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है किन्तु अन्य साम्राज्य-संस्थापकों ने राष्ट्र-निर्माण के ध्यान से दिग्विजय नहीं की। चन्द्रगुप्त के सम्मुख जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है दो प्रमुख समस्याएं थीं—(१) विदेशियों को देश से बाहर निकालना तथा (२) मगध राज्य का उन्मूलन अथवा भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांधना तथा राष्ट्र का निर्माण करना। साम्राज्य निर्माण के साथ-साथ राष्ट्र निर्माण का ध्यान रखना चन्द्रगुप्त की एक बहुत बड़ी विशेषता है। उत्तर पश्चिम के अतिरिक्त दक्षिण में भी चन्द्रगुप्त ने अपनी विजय पताका फहराई। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य निर्माता तथा राष्ट्र निर्माता के रूप में चन्द्रगुप्त काफी ऊंचा स्थान रखता है।

विजेता बाबर ने भी मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी किन्तु शासन प्रबन्ध के विषय में उसने कुछ नहीं किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक महान् विजेता की भांति केवल विस्तृत साम्राज्य की स्थापना ही न की थी वरन् उसने अपने विशाल साम्राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए सुसंगठित शासन प्रबन्ध की भी व्यवस्था की थी। उसने भारतीय सम्राटों को इस क्षेत्र में प्रेरणा दी। बिन्दुसार के नगण्य शासन तथा अशोक के धार्मिक राज्य के समय में मौर्य साम्राज्य जितनी शीघ्रता से बना था उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया होता पर यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध की ही विशेषता थी कि वह इतने दिनों तक चल सका। जिस सेना का संगठन चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था वह अशोक के धर्मपरायण युग में अस्त्र शस्त्र से विमुख होने के पश्चात् भी इतनी सशक्त एवं भयंकर थी कि किसी भी आन्तरिक या बाह्य प्रताड़ना द्वारा साम्राज्य की शान्ति भंग न हो सकी। चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध के अन्तर्गत दण्ड विधान में कठोरता का समावेश प्राप्त होता है और इसी आधार पर जस्टिन महोदय ने उसे निर्दयी एवं क्रूर कहा है। किन्तु मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त को अवतरित देवता घोषित किया गया है जो सुख तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए स्वर्ग से उतरा है। मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की भूरि भूरि प्रशंसा की है। दण्ड विधान की कठोरता तत्कालीन परिस्थितियों की मांग थी।

सौभाग्यवश चन्द्रगुप्त को तत्कालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ चाणक्य का सहवास प्राप्त हो गया था जिससे वह कूटनीति में भी पूर्णरूपेण दक्ष हो गया।

चन्द्रगुप्त की कलाप्रियता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उसका राजमहल है। जिस राजसी ठाट-बाट से चन्द्रगुप्त अपना जीवन व्यतीत करता था वह आदर्श विलासिता कहा जा सकता है। आदर्श विलासिता से हमारा अभिप्राय नैतिकता की रक्षा करते हुए विलासी जीवन से है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्य निर्माता राष्ट्र निर्माता शासक तथा मनुष्य प्रत्येक रूप में पूर्ण था।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इतिहासकार स्ट्रेबो के कथनानुसार सैन्ड्राकोटस (चन्द्रगुप्त) का पुत्र तथा उत्तराधिकारी का नाम एलिट्रोकेटस था। कुछ अन्य इतिहासकार बिन्दुसार को अनेक नामों से पुकारते हैं। ये सभी नाम संस्कृत के 'अमित्रघात' (रिपुघातक) के रूपान्तर प्रतीत

होते हैं।[1] जैन ग्रंथ राजबलिकथा में बिन्दुसार को सिंहसेन कहा गया है। इन सभी विदेशी लेखकों तथा भारतीय ग्रंथों ने चन्द्रगुप्त मौर्य का जो नामकरण किया है उनमें पुराणों द्वारा दिया गया नाम ही ग्रहण किया गया है और उसके आधार पर ही हम उसे बिन्दुसार कहते हैं। बिन्दुसार के शासन का पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल के पश्चात् रचित ग्रंथों में थोड़ी बहुत सामग्री बिन्दुसार के विषय में मिल जाती है।[2] पर वह भी बिल्कुल अपर्याप्त है। यदि आर्यमंजुश्री मूलकल्प के लेखक तथा तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ का विश्वास किया जाय तो चाणक्य ने कुछ समय तक बिन्दुसार का भी मंत्रित्व किया था। तदुपरान्त दिव्यावदान में वर्णित खल्लाटक बिन्दुसार का प्रधान सचिव निर्वाचित हुआ था और उसके बाद राधगुप्त मंत्री हुआ।

विद्रोह—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि मौर्य साम्राज्य में अभी विद्रोहियों की संख्या काफी थी। गुप्तरूप से षडयंत्र रचने वालों की संख्या तो और भी अधिक थी। दिव्यावदान के कथनानुसार हमें बिन्दुसार के शासनकाल में होनेवाले उपद्रवों का ज्ञान प्राप्त होता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त की अदम्य शक्ति के सम्मुख इन विद्रोहियों को झुक जाना पड़ा था और इन्होंने कभी सर उठाने का साहस नहीं किया किन्तु नये राजा को दुर्बल समझकर विद्रोहियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु हम इस धारणा को अक्षरशः सत्य नहीं मान सकते क्योंकि दिव्यावदान तक्षशिला में होनेवाले जिस विद्रोह का वर्णन करता है उसके दमनार्थ जिस समय बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा तो वह तक्षशिला पहुँचकर मार्ग में ही जनता से मिला जिसने निम्नलिखित बयान दिया—न तो हम लोग राजकुमार के विरुद्ध हैं और न सम्राट के अपितु उन दुष्ट मंत्रियों के विरोधी हैं जो हमारा अपमान करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दुसार के समय में प्रान्तीय शासकों की निरंकुशता काफी अधिक बढ़ चुकी थी। इससे बिन्दुसार के प्रान्तीय शासन की ढिलाई का बोध होता है। यहाँ तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के निम्नलिखित उल्लेख का वर्णन कर देना विषयान्तर न होगा—

अमात्यों तथा १६ नगरों के राजाओं के विध्वंस और पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों के मध्यस्थ राज्यों का अधिकारी बनाने में चाणक्य साधन सिद्ध हुआ। कुछ विद्वान तारानाथ के उपर्युक्त वर्णन से यह अर्थ लगाते हैं कि बिन्दुसार ने दक्षिण विजय की थी किन्तु विषय पर तर्क वितर्क अन्यत्र किया जायगा। यहाँ तारानाथ के वर्णन के प्रथम भाग का सम्बन्ध हम किसी जनविद्रोह से स्थापित कर सकते हैं जिनके दमन में चाणक्य ने बिन्दुसार की मदद दी होगी। अमात्यों से तारानाथ का अभिप्राय उच्च कुलीन व्यक्तियों से है तथा १६ नगरों के राजाओं का अभिप्राय जनपदों से हो सकता है क्योंकि दक्षिण विजय में अमात्यों के विध्वंस का कोई प्रश्न न था।[3]

---

[1] अमित्रघात शब्द का प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य ३।२।२। से मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में क्रमशः 'अमित्राणां हन्ता' तथा 'अमित्रघातिन्' उपाधियों का प्रयोग योद्धा राजकुमारों के लिए किया गया है।

[2] दिव्यावदान, पृष्ठ ३७२।

[3] 'The statement of Taranath if based on authentic tradition need mean nothing more than the suppression of revolts of the type alluded to in the Divyavadan in the vast stretch of territory

वाह्यनीति—बिन्दुसार का पालन-पोषण उस राजप्रासाद में हुआ था जिसमें न केवल एक यूनानी रानी थी अपितु यूनानी युवतियों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। सम्भवतः उन स्त्रियों के प्रति बिन्दुसार का कुछ आकर्षण रहा होगा। उसने अपने पिता चन्द्रगुप्त तथा यूनानियों के सम्बन्ध को भी देखा था। बिन्दुसार ने यह भी देखा था कि स्त्रियों की देख रेख के लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक् विभाग का निर्माण किया था। यही थी उसकी वाह्य नीति को प्रभावित करने वाली पृष्ठभूमि। दुर्भाग्यवश हमें बिन्दुसार के विभिन्न वैदेशिक सम्बन्धों का विवरण न प्राप्त होकर केवल यूनानियों से उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। यूनानी इतिहासकारों ने एन्तिओक प्रथम सोटर तथा बिन्दुसार के पत्रव्यवहार का एक नमूना सुरक्षित रखा है। उससे ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट बिन्दुसार ने सीरिया के सम्राट एन्तिओक से मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक की माँग की थी। उसके यूनानी मित्र ने बिन्दुसार की प्रथम दो माँगों की पूर्ति करते हुए जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

हमें इन्हें भेजने में बड़ी प्रसन्नता होती है परन्तु अभाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी न कर सकेंगे क्योंकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।

मेगस्थनीज के पश्चात् डेमाकस नामक एक दूसरा राजदूत सीरिया सम्राट द्वारा बिन्दुसार के दरबार में भेजा गया था।[1] प्लिनी के कथनानुसार मिस्र के राजा टॉल्मी फिलाडेल्फस (–२४७ ई० पूर्व) ने भी डायोनीसस नाम का राजदूत भारतीय राजदरबार में भेजा था पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि डायोनीसस बिन्दुसार अथवा अशोक में से किसके राजदरबार में आया था।

दक्षिण विजय—मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि दक्षिण के अधिकांश भाग पर चन्द्रगुप्त ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अगले परिच्छेद में हम यह भी देखेंगे कि अशोक के साम्राज्य में दक्षिणापथ का विस्तृत भाग सम्मिलित था। अतः यह विचारणीय है कि दक्षिण का विस्तृत देश किस प्रकार अशोक की अधीनता में आया। अशोक ने तो अपने प्रथम तथा अन्तिम युद्ध कलिंग-युद्ध के रक्तपात से दुःखी होकर सदा के लिए अस्त्र शस्त्रों को सूर्य की किरणों से दूर कर दिया अतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि दक्षिण विजय अशोक ने नहीं की। दक्षिण विजय का श्रेय या तो हम चन्द्रगुप्त को दे सकते हैं या बिन्दुसार को। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के कथनानुसार बिन्दुसार ने पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों की सारी भूमि का अपने को स्वामी बना लिया। तारानाथ के इस विवरण के आधार पर तो दक्षिण विजय का श्रेय बिन्दुसार को भी दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अमित्रघातक (शत्रुघातक) इस विचार को और

---

between *Surashtra* and the *Gangetic delta*. No Greek or Indian record of any date connects the name of Bindusara Amitraghata with the conquest of any large tract of Peninsular India. Inscription of Kalinga and Mysore which tell us so much about the Nandas, Chandragupta and Asoka are silent about the second Maurya." *Age of the Nandas and Mauryas*, p. 168.

[1] स्ट्रैबो २।१।९।। मेगस्थनीज तथा एरियन पृष्ठ १२ १९

होते है।[1] इन ग्रंथ राजवलि कथा में बिन्दुसार को सिंहसेन कहा गया है। इन सभी विदेशी लेखकों तथा भारतीय ग्रंथों ने चन्द्रगुप्त मौर्य का जो नामकरण किया है उनमें पुराणों द्वारा दिया गया नाम ही ग्रहण किया गया है और उसके आधार पर ही हम उसे बिन्दुसार कहते हैं। बिन्दुसार के शासन का पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल के पश्चात् रचित ग्रंथों में थोड़ी बहुत सामग्री बिन्दुसार के विषय में मिल जाती है।[2] पर वह भी बिल्कुल अपर्याप्त है। यदि आर्यमंजुश्री मूलकल्प के लेखक तथा तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ का विश्वास किया जाय तो चाणक्य ने कुछ समय तक बिन्दुसार का भी मन्त्रित्व किया था। तदुपरान्त 'दिव्यावदान' में वर्णित खल्लाटक बिन्दुसार का प्रधान सचिव निर्वाचित हुआ था और उसके बाद राधगुप्त मंत्री हुआ।

विद्रोह—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि मौर्य साम्राज्य में अभी विद्रोहियों की संख्या काफी थी। गुप्तरूप से षड्यंत्र रचने वालों की संख्या तो और भी अधिक था। दिव्यावदान के कथनानुसार हम बिन्दुसार के शासनकाल में होनेवाले उपद्रवों का ज्ञान प्राप्त होता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त की असाधारण शक्ति के सम्मुख इन विद्रोहियों को झुक जाना पड़ा था और इन्होंने कभी सर उठाने का साहस नहीं किया किन्तु नव राजा को दुर्बल समझकर विद्रोहियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु हम इस धारणा को अक्षरशः सत्य नहीं मान सकते क्योंकि दिव्यावदान तक्षशिला में होनेवाले जिस विद्रोह का वर्णन करता है उसके दमनार्थ जिस समय बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा तो वह तक्षशिला पहुँचकर मार्ग में ही जनता से मिला, जिसने निम्नलिखित बयान दिया—न तो हम लोग राजकुमार के विरुद्ध हैं और न सम्राट के अपितु उन निर्दयी मन्त्रियों के विरोधी हैं जो हमारा अपमान करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दुसार के समय में प्रान्तीय शासकों की नृशंसता काफी अधिक बढ़ चुकी थी। इससे बिन्दुसार के प्रान्तीय शासन की शिथिलता का बोध होता है। यहाँ तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के निम्नलिखित उल्लेख का वर्णन कर देना विषयान्तर न होगा—

अमीरों तथा १६ नगरों के राजाओं के विध्वंस और पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों के मध्यस्थ राज्यों का अधिकारी बनाने में चाणक्य साधन सिद्ध हुआ। कुछ विद्वान तारानाथ के उपर्युक्त वर्णन से यह अर्थ लगाते हैं कि बिन्दुसार ने दक्षिण विजय की थी किन्तु विषय पर तर्क वितर्क अन्यत्र किया जायगा। यहाँ तारानाथ के वर्णन के प्रथम भाग का सम्बन्ध हम किसी जनविद्रोह से स्थापित कर सकते हैं जिनके दमन में चाणक्य ने बिन्दुसार की मदद दी होगी। अमीरों से तारानाथ का अभिप्राय उच्च कुलीन व्यक्तियों से है तथा १६ नगरों के राजाओं का अभिप्राय जनपदों से हो सकता है क्योंकि दक्षिण विजय में अमीरों के विध्वंस का कोई प्रश्न न था।[3]

---

[1] अमित्रघात शब्द का प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य ३।२।२। से मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में क्रमशः 'अमित्राना हन्ता तथा अमित्रघातिन्' उपाधियों का प्रयोग योद्धा राजकुमारों के लिए किया गया है।

[2] दिव्यावदान पृष्ठ ३७२।

[3] The statement of Taranath if based on authentic tradition need mean nothing more than the suppression of revolts of the type alluded to in the Divyavadan in the vast stretch of territory

बाह्यनीति—बिन्दुसार का पालन-पोषण उस राजप्रासाद में हुआ था जिसमें न केवल एक यूनानी रानी थी अपितु यूनानी युवतियों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। सम्भवतः उन विदेशियों के प्रति बिन्दुसार का कुछ आकर्षण रहा होगा। उसने अपने [illegible] बिन्दुसार ने यह भी [illegible] विभाग का निर्माण किया [illegible]। दुर्भाग्यवश हमें बिन्दुसार के विभिन्न वैदेशिक सम्बन्धों का विवरण न प्राप्त होकर केवल यूनानियों से उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। यूनानी इतिहासकारों ने अन्तियोक प्रथम सोटर तथा बिन्दुसार के पत्र-व्यवहार का एक नमूना सुरक्षित रखा है। उससे ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट् बिन्दुसार ने सीरिया के सम्राट् अन्तियोक से मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक की माँग की थी। उसके यूनानी मित्र ने बिन्दुसार की प्रथम दो माँगों की पूर्ति करते हुए जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

'मुझे इन्हें भेजने में तो बड़ी प्रसन्नता होती है परन्तु दुर्भाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी न कर सकूँगा क्योंकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।'

मेगस्थनीज के पश्चात् डेमाकस नामक एक दूसरा राजदूत सीरिया सम्राट् द्वारा बिन्दुसार के दरबार में भेजा गया था।[1] प्लिनी के कथनानुसार मिस्र के राजा टालमी फिलाडेल्फस (८—२४७ ई० पू०) ने भी डायोनीसस नाम का राजदूत भारतीय राजदरबार में भेजा था पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि डायोनीसस बिन्दुसार अथवा अशोक में से किसके राजदरबार में आया था।

दक्षिण विजय—मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि दक्षिण के अधिकांश भाग पर चन्द्रगुप्त ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अगले परिच्छेद में हम यह भी देखेंगे कि अशोक के साम्राज्य में दक्षिणापथ का विस्तृत देश सम्मिलित था। यहाँ यह विचारणीय है कि दक्षिण का विस्तृत देश किस प्रकार अशोक की अधीनता में आया। अशोक ने तो अपने प्रथम तथा अन्तिम युद्ध कलिंग-युद्ध के रक्तपात से क्षुब्ध होकर सदैव के लिए अस्त्र शस्त्रों को सूर्य की किरणों में दूर कर दिया अतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि दक्षिण विजय अशोक ने नहीं की। दक्षिण विजय का श्रेय या तो हम चन्द्रगुप्त को दे सकते हैं या बिन्दुसार को। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के कथनानुसार बिन्दुसार ने पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों की सारी भूमि का अपने को स्वामी बना लिया। तारानाथ के इस विवरण के आधार पर तो दक्षिण विजय का श्रेय बिन्दुसार को ही दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अमित्रघातक (शत्रुघातक) इस विचार की ओर

---

between Surashtra and the Gangetic delta No Greek or Indian record of any date connects the name of Bindusara Amitraghata with the conquest of any large tract of Peninsular India Inscriptions of Kalinga and Mysore which tell us so much about the Nandas Chandragupta and Asoka are silent about the second Maurya *Age of the Nandas and Mauryas* p 168

[1] स्ट्रैबो २।१।९।। मेगस्थनीज तथा एरियन पृष्ठ १२,१९

भी प्रौढ़ता प्रदान करता है किन्तु जसा कि ऊपर कहा जा चुका है तारानाथ के इस विवरण का सम्बन्ध किसी विद्रोह से है। दक्षिणापथ को जीतना सरल काय न था और इतनी बडी सनिक सफलता करनेवाले व्यक्ति के इतिहास के विषय म पर्याप्त सामग्री का अभाव हो यह कुछ तक सगत नही जचता। जन अनुश्रुतियो के अनुसार भी चन्द्रगुप्त द्वारा दक्षिणापथ की विजय को स्वीकार करना अधिक तकसगत है क्योकि वे चन्द्रगुप्त का सम्पक मसूर से जोडती है।

बिन्दुसार का परिवार—केवल अशोक ही बिन्दुसार का अकेला पुत्र न था क्योकि अशोक ने पाँचवें शिलालेख म यह बतलाया है कि उसके कई भाई और बहनें थीं। दिव्यावदान म अशोक के दो भाइयो का नाम सुसीम तथा विगताशोक बतलाया गया है। सिंहली अनुश्रुतियां इन्हे क्रमश सुमन तथा तिष्य कहती है।

बिन्दुसार की तिथि—अब हम बिन्दुसार की तिथि पर विचार करेंगे। पुराणो के अनुसार चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार ने क्रमश २४ तथा २५ वष तक राज्य किया। बौद्ध अनुश्रुतियो के आधार पर बिन्दुसार का शासनकाल २७ या २८ वष माना जा सकता है अत यदि हम यह स्वीकार कर लें कि ३२४ ई० पूव म चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ होकर ३०० ई० पूव तक राज्य करता है तो हम बिन्दुसार का शासन काल लगभग ३०० ई० पूव स २७३ ई० पूव तक मान सकते है।[1]

अशोक

बिन्दुसार की मत्यु के पश्चात पाटलिपुत्र के सिंहासन पर उस महान सम्राट का पदापण होता है जो भारत तो क्या विश्व इतिहास म अपना प्रमख स्थान रखता है। यह सम्राट केवल अपने साम्राज्य की विशालता के लिए ही विख्यात नही है वरन वयक्तिक चरित्र तथा अपने उद्देश्य एव आदश के लिए भी यह विशषरूप स प्रसिद्ध है। इस महान् सम्राट को इतिहास म अशोक महान कहा जाता है। अशोक ने जिस साम्राज्य पर शासन किया वह भारत का सबसे बडा साम्राज्य था। विश्व म विशालता के दष्टिकोण से अनेक साम्राज्य तथा उनके शासक प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु विस्तत साम्राज्य का सवश्रेष्ठ सम्राट होने के साथ साथ सव श्रेष्ठ मानव होना कठिन ही नही असम्भव है। श्रेष्ठ सम्राट कुशल शासक तथा आदश मानव एक साथ एक व्यक्ति ही हो यह और कुछ नही प्रकृति का आश्चय है। इस परिच्छेद म हम उसी महान विभूति अशोक के विषय म पढेंगे।

अशोक का राज्याभिषेक—चन्द्रगुप्त ३२४ ई० पूव म गद्दी पर बठा और ३०० ई० पूव म उसकी मृत्यु हो गई। तदुपरान्त बिन्दुसार सिंहासनारूढ माना है जिसने पुराणो मे

---

[1] बिन्दुसार की तिथि के सम्बन्ध में डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है—'जसा कि प्लूटाक तथा जस्टिन के प्रमाणो से परिलक्षित होता है चन्द्रगुप्त ३२६–२५ ई० पू० तक सिंहासनारूढ नहीं हुआ था और पुराणो के अनुसार उसने २४ वर्षों तक राज्य किया, (अत) उसका उत्तराधिकारी ३०१ ई० पू० के पहले राजसिंहासन किसी प्रकार नहीं प्राप्त कर सका होगा निश्चय ही इस नये सम्राट ने २७०–६९ ई० पू० से राज्य करना प्रारम्भ किया होगा बिन्दुसार के शासन-काल सम्बन्धी साक्ष्यो में मतक्य नहीं है। पुराण इसे २५ वष बताते है। बर्मी तथा सिंहली अनुश्रुतियां क्रमश २७ तथा २८ वष घोषित करती है।'— *Age of Nandas and Mauryas* p 166

अनुसार २५ वर्ष तक राज्य किया। इस साधन से बिन्दुसार की निधन तिथि २७३ ई० पूर्व मानी जा सकती है। ये सारे विवरण पुराणों के आधार पर लिए गए हैं जिनके अनुसार अशोक के राज्याभिषेक की तिथि २७३ ई० पूर्व मानी चाहिए किन्तु बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार बिन्दुसार ने २७–२८ वर्ष तक राज्य किया। यदि हम इस साक्ष्य को सत्य मानें तो बिन्दुसार की निधन तिथि २७३–७ ई० पूर्व सिद्ध होता है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष पश्चात अर्थात २६८–९ ई० पूर्व में हुआ।

राज्याभिषेक का यह चार वर्ष का अन्तर (यदि वास्तव में कोई अन्तर रहा हो[१]) इतिहासकारों के समक्ष एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित कर देता है जो मौर्य अशोक के चरित्र से सम्बन्धित है। इस चार वर्ष के अन्तर का कारण भी सिंहली अनुश्रुतियों में आभासित हो जाता है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक अत्यन्त निर्दयी तथा रक्तपिपासु था जिसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात ९९ भाइयों की हत्या करके गद्दी प्राप्त की थी।[१] डा० स्मिथ इतना तो स्वीकार करते हैं कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और इसीलिए राज्याभिषेक में देर हुई किन्तु वे ९९ भाइयों की हत्या करना स्वीकार नहीं करते। वे केवल सौतेले बड़े भाई सुसीम से संघर्ष होना ही स्वीकार करते हैं।[२] डा० भण्डारकर भी सिंहली अनुश्रुतियों का खंडन करते हुए स्मिथ महोदय

---

[१] श्री नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि जिस समय बिन्दुसार मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था उसी समय अशोक उज्जैनी छोड़कर पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) चला आया और उसने साम्राज्य के शासन भार को ग्रहण किया। नीलकान्त महोदय ने यह बताया है कि अनुश्रुतियों के कथनानुसार अशोक ने बिन्दुसार की इच्छा के विरुद्ध शासन-सत्ता पर अपना अधिकार जमाया।

सिंहली अनुश्रुतियाँ दो भिन्न विवरण प्रस्तुत करती हैं—एक यह है कि अशोक ने अपने ९९ भाइयों की हत्या करके साम्राज्य प्राप्त किया जैसा कि ऊपर बताया गया है कि पाटलिपुत्र का सिंहासन करवा दी (महावंश ५।४०।) मृत्यु शय्या पर पड़े हुए बिन्दुसार ने अपने पुत्र सुसीम को राजतिलक देने का निश्चय किया तो उसके मंत्रियों ने सुसीम के स्थान पर अशोक को राज्याधिकारी निर्वाचित कर दिया और जब बिन्दुसार को इस छल का पता चला तो वह बहुत क्रोधित हुआ। उस समय अशोक ने दैवी शक्तियों तथा देवताओं का आवाहन करके राज्य पर अपना अधिकार प्रमाणित किया। किन्तु इसी ग्रन्थ में अशोक अपने शत्रुओं को मारकर राज्य-सत्ता प्राप्त करने की बातें करता है।

[२] 'The fact that his formal consecration or coronation (abhisheka) was delayed for some four years until 269 B C confirms the tradition that his succession was contested and it may be true that his rival was an elder brother named Susima —*The Oxford History of India* P 93

डा० स्मिथ ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'अशोक' में, जो कुछ महीनों बाद ही प्रकाशित किया गया था, लिखा है—"यह सम्भव है कि यह देरी झगड़े में पड़े हुए उत्तराधिकार के कारण हुई हुई जिसमें अधिक रक्त-प्लावन हुआ किन्तु ऐसे किसी संघर्ष का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। देखिये *Political History of Ancient India* p 30.

का समर्थन करते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों से यह भी ज्ञात होता है कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और उसने राधगुप्त की सहायता से अपने सौतेले भाई सुसीम के समक्ष विजय पाई थी। राज्याभिषेक में चार वर्ष देरी होने का एक दूसरा कारण डा० जायसवाल ने यह बतलाया है कि राज्याभिषेक के समय अशोक की आयु २५ वर्ष से कम थी और उन दिनों २५ वर्ष से कम वाले राजकुमार का राज्याभिषेक नहीं होता था। इसलिए राज्यारोहण में तीन चार वर्ष की देरी हुई।[१] किन्तु राय चौधरी ने इसका खंडन किया है और अपने मत के समर्थन में यह लिखा है कि पुराणों में विचित्र वीर्य का राज्याभिषेक उसके बाल्य-काल में होना कहा गया है।[२] दीपवंश में ९९ भाइयों की हत्या का जो वर्णन किया गया है वह भी तर्कसंगत नहीं। अब हम उपर्युक्त मतों की वास्तविकता पर थोड़ा विचार करेंगे अर्थात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करेंगे कि अशोक को सिंहासन के लिए ९९ भाइयों की हत्या करनी पड़ी अथवा केवल सुसीम के साथ संघर्ष या उसका वध करना पड़ा अथवा बिना संघर्ष के ही उसका राज्याभिषेक हो गया। अशोक स्वयं अपने अभिलेखों में इस बात का निर्देश करके कि उसका राज्याभिषेक गद्दी प्राप्त होने के चार वर्ष पश्चात् हुआ हमें यह स्वीकार करने को प्रेरित करता है कि बिना किसी कारण के राज्याभिषेक में चार वर्ष बीत जाना सम्भव नहीं। हम यह भी जानते हैं कि जिस समय अशोक अपने पिता बिन्दुसार के शासन-काल में उज्जैनी का शासक था उसी समय तक्षशिला का शासक अशोक का अग्रज सुसीम अथवा सुमत था। जिस समय तक्षशिला की जनता ने विद्रोह किया उस समय सुसीम की अयोग्यता का परिचय सम्राट को प्राप्त हुआ। सुसीम किसी प्रकार भी विद्रोह का दमन न कर सका पर अशोक का तक्षशिला पहुंचना था कि जनता उससे मिल गई और विद्रोह शान्त हो गया। निश्चय ही यह सुसीम के लिए बहुत अपमानजनक घटना हुई। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक का अग्रज सुसीम गद्दी पर बैठना चाहता था पर ऐसा नहीं हुआ। अपने अधिकार के लिए सुसीम का अशोक के साथ संघर्ष करना अनिवार्य था। मौर्य साम्राज्य पर अशोक का शासन स्थापित होता है तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सुसीम तथा अशोक में जो संघर्ष हुआ उसमें या तो सुसीम का वध कर दिया गया या उसने सदा के लिए अशोक की अधीनता स्वीकार कर ली पर अधिक सम्भावना उसके वध की ही की जा सकती है।

जहां तक ९९ भाइयों के वध करने का प्रश्न है यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसमें कोई सार नहीं। इन ९९ भाइयों अशोक तथा सुसीम को लेकर बिन्दुसार के १०१ लड़के हुए? यह पूर्णतया कपोलकल्पित एवं हास्यास्पद बात है। जब ९९ भाइयों का होना ही असम्भव है तो उनके वध का कोई प्रश्न नहीं।

उपर्युक्त तर्क से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अशोक को सिंहासन के लिए केवल अपने अग्रज सुसीम से संघर्ष करना पड़ा था। स्वयं अशोक ने अपने शिलालेख चतुर्थ तथा पंचम में सम्बन्धियों के साथ अनुचित व्यवहार करने की अवहेलना की है और उसने अपने भाई बहनों तथा सम्बन्धियों के साथ सुन्दर व्यवहार का वर्णन किया

---

१ JBORS 1917 page 438 Quoted in the above book

२ विचित्रवीर्यश्च तथा
बाल अप्राप्तयौवनम
कुरुराज्ये महाबाहुर
अभ्यसिंच ततनन्तरम। महाभारत १।१०१।१२

है। अतः अशोक के ये अभिलेख सिद्ध कर देते हैं कि अशोक किसी प्रकार भी अपने भाइयों की हत्या नहीं कर सकता था। पर यहाँ सन्देह यह है कि तत्र के अशोक और अभिलेख के अशोक भिन्न हैं। बौद्ध ग्रन्थों में अशोक को प्रारम्भ में क्रूर बताये जाने के आधार पर भी उसको भाइयों का वध करने वाला मानना तर्कसंगत नहीं। क्योंकि इस कालाशोक या चण्डाशोक घोषित करने में बौद्ध ग्रन्थों का अपना निजी स्वार्थ निहित है। वे बौद्ध धर्म स्वीकार करने से पूर्व अशोक को क्रूर बताकर बौद्ध धर्म की शक्ति में चमत्कार को स्वीकार कराना चाहते हैं।

सम्राट अशोक की कलिंग विजय—सिंहासन पर बैठने के पूर्व अशोक उज्जैन का शासक रह चुका था। सम्राट होने के पश्चात चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र अशोक की भी साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा रही होगी। बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने स्वश नगर को पराजित किया था किन्तु अशोक के अभिलेखों में हमें इस प्रकार की केवल एक ही घटना का विवरण प्राप्त होता है और वह है कलिंग विजय।

महानदी तथा गोदावरी के बीच स्थित कलिंग राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजयी सेना से अछूता रह गया था और इस प्रकार वह अब भी स्वतन्त्र था। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि नन्दराजा महापद्म ने ई० पूर्व चौथी शताब्दी में कलिंग को पराजित कर दिया था और वहाँ से विजयस्मारिका के रूप में एक जैन तीर्थंकर-मूर्ति पाटलिपुत्र उठा लाई गई थी। बिन्दुसार के राज्यकाल में जब विद्रोहों का प्रारम्भ हुआ तो सम्भवतः कलिंग राज्य पुनः स्वतन्त्र हो गया। वास्तविकता जो भी हो, अशोक के समय में कलिंग स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य था। अशोक के १३वें शिलालेख से हमें कलिंग विजय का विवरण प्राप्त होता है। किन्तु कल्हण के राजतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने सर्वप्रथम काश्मीर पर विजय प्राप्त की थी। काश्मीर के इतिहास के अध्ययन से भी यह प्रतीत होता है कि अशोक ने काश्मीर पर विजय प्राप्त की थी क्योंकि इस इतिहास में अशोक को मौर्य वंश का प्रथम सम्राट घोषित किया गया है। कल्हण लिखता है कि सत्यसन्ध अशोक ने धरती पर राज्य किया। इस राजा ने जिसने पापों से मुक्ति पा ली है और जैन मत स्वीकार कर लिया है शुष्कलेत्र के तथा वितस्तात्र को स्तूपों से ढक दिया है। वितस्तात्र नगर में धर्मारण्य विहार की सीमा में उसका बनवाया हुआ एक चैत्य है जिसकी ऊँचाई तक दृष्टि का पहुँचना कठिन है। इस सुप्रसिद्ध सम्राट ने श्रीनगरी की स्थापना की। इस पापहीन राजा ने विजयेश्वर के प्राचीन घेरे (enclosure) को हटाकर उसके स्थान पर पत्थर का एक नवीन घेरा बनवा दिया। उसने विजयेश के घेरे के भीतर तथा उसके निकट दो मन्दिरों का निर्माण करवाया जिन्हें अशोकेश्वर कहा जाता था।

इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि काश्मीर चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार की शासन-सत्ता से मुक्त था और अशोक ने सर्वप्रथम उस पर अधिकार स्थापित किया। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अशोक ने केवल एक ही बार रण प्रयाण किया और उसका फल था कलिंग विजय। कल्हण के राज-तरंगिणी या काश्मीरी इतिहास का कथन एक दूसरे रूप में सत्य भी हो सकता है। सम्भव है काश्मीर ने सर्वप्रथम अशोक की अधीनता स्वीकार की हो और इसके पूर्व वहाँ स्वायत्त शासन रहा हो क्योंकि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में भी कुछ स्वायत्त शासनवाले छोटे-मोटे राज्यों का पता चलता है। बिन्दुसार ने काश्मीर पर आक्रमण किया हो इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है अतः अशोक का काश्मीर पर आक्रमण करना तथा उस पर विजय प्राप्त करना कुछ अस-

यह तीर्थयात्रा पूर्णतया धार्मिक दृष्टि से रही, ऐसा इतिहासकारों ने अनुमान लगाया है।

(४) कुछ इतिहासकार शिलालेखों का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार बतलाते हैं। वे अपनी पुष्टि में चार लघु-स्तम्भ-लेख, दो तराई स्तम्भ-लेख, बराबर गुहा के तीन अभिलेख, चौदहवाँ शिलालेख तथा विशेषकर भब्रु शिलालेख का उल्लेख करते हैं।

(५) ह्वेनसांग के कथनानुकूल अशोक ने एक विशाल सेना के साथ बोधगया, लुम्बिनी वन, कपिलवस्तु, ऋषिपत्तन (सारनाथ), श्रावस्ती तथा कुशीनगर आदि के तीर्थ स्थानों की यात्रा की पर अशोक के अभिलेखों में सारनाथ, जहाँ बुद्ध ने पहली बार धर्म चक्र प्रवर्तन किया था और कुशीनगर जहाँ परिनिर्वाण हुआ था, के नाम तीर्थ यात्राओं के सम्बन्ध में कहीं भी उल्लिखित नहीं हैं। ऐसा आभासित होता है कि ह्वेनसांग ने अशोक के आठवें शिलालेख तथा लघु स्तम्भ लेख में क्रमशः बोधगया तथा लुम्बिनी वन की यात्रा से यह अनुमान लगा लिया कि अशोक ने शेष बौद्ध तीर्थ स्थानों की भी यात्रा की होगी।

(६) अशोक ने अपने प्रथम लघु शिलालेख में संघउपयीत लिखा है। इस शब्द को लेकर विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। पाठों की भिन्नता यहाँ समस्या को अधिक जटिल बना देता है। अशोक का संघउपयाते से क्या अर्थ था यह कहना बड़ा कठिन सा लगता है। क्या उसने बौद्ध संघ को अपना निवास-स्थान बना लिया अथवा संघ का सहायक बन गया—अथवा उसने बौद्ध संघ का दौरा किया? इससे अशोक का बौद्ध भिक्षु होना भी प्रमाणित होता है और दूसरी ओर यह भी परिलक्षित होता है कि एक धार्मिक सम्राट के नाते अशोक ने बौद्ध संघों का दौरा किया।

(७) अशोक संघउपयीत के आधार पर बौद्ध भिक्षु हो गया था, इसका समर्थन इत्सिंग के इस विवरण से हो जाता है कि उसने भिक्षु के वेष में अशोक की एक मूर्ति देखी थी।

(८) दीपवंश तथा महावंश आदि बौद्ध ग्रंथों में तो अशोक का एक बाल पंडित द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

(९) अशोक ने लगभग ८४ हजार स्तूपों का निर्माण कराया जिनका मतव्य स्पष्ट है।

(१०) अशोक के बौद्ध होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि उसने मोग्गलि पुत्त तिष्य के सभापतित्व में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया जिसका उद्देश्य महात्मा बुद्ध के उपदेशों के पाठ आदि को शुद्ध कराना था।

(११) सम्राट अशोक ने अपने साम्राज्य में पशु बलि निषेध की आज्ञा दे दी थी। उसके अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसने स्वयं मांस भक्षण तथा मृगया का त्याग कर दिया था। उसने ब्राह्मण यज्ञों तथा अनुष्ठानों का भी निषेध कर दिया था। यह सब निश्चय ही ब्राह्मण धर्म का विरोध था।

(१२) बौद्ध अनुश्रुतियाँ हमें यह भी बतलाती हैं कि अपने अगणित स्तूपों में अशोक ने आठ स्तूपों में सुरक्षित महात्मा गौतम बुद्ध के भस्मावशेष को वितरित करके रखवाया था।

(१३) बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक ने बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को देश विदेश में भेजा था।

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने अशोक का बौद्ध होना स्वीकार किया है और इस विषय में उन्होंने लिखा है "इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है कि अशोक बौद्ध बन गया था। भब्रू शिलालेख में उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि बौद्ध, धर्म तथा संघ में उसका विश्वास था। उसने बुद्ध जी के जन्म-स्थल तथा ज्ञान प्राप्ति के स्थान की तीर्थ यात्रा की थी और जन्म स्थान पर उसने पूजा भी की थी। उसने इस बात की धारणा कर दी थी कि जो कुछ बुद्ध जी ने कहा था वह ठीक ही कहा था। उसने बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या करवाने में कुछ दिलचस्पी ली थी जिससे वह अधिक दिनों तक टिक सकें। अपने धर्म परिवर्तन के एक-आध वर्ष बाद वह संघ में सम्मिलित हो गया था तब से उसने अपने को सदैव संघ के सम्पर्क में रखा। उसने भिक्षुओं से कहा कि सच्चे सिद्धान्तों की व्याख्या की आवश्यकता है और उसने संघ के कार्यों को देखने के लिए कुछ विशेष कर्मचारियों की नियुक्ति की। उसने संघ में एकता स्थापित रखने और मत भेद को रोकने के लिए भी प्रयत्न किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक अपने समय के प्रचलित चार सम्प्रदायों (१) देवोपासक (२) आजीवक ( ) निर्ग्रन्थ तथा (४) बौद्ध में से अन्तिम बौद्ध सम्प्रदाय का था। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक ने जो कुछ प्रयास किया उसका वर्णन हम अगले पृष्ठों में करेंगे। यहाँ अशोक के व्यक्तिगत धर्म पर कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

अभी हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी था किन्तु इस विशाल प्रतिभासम्पन्न पूर्ण मानव अशोक को किसी सम्प्रदाय विशेष की संकीर्ण सीमा में बाँधना उसकी महानता पर पर्दा डालना है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी हो सकता है—उसी प्रकार जैसे महात्मा गौतम बुद्ध आर्य (हिन्दू) थे किन्तु अशोक का हृदय एवं मस्तिष्क सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न जीवधारियों का शुभेच्छु था। केवल बौद्ध रह कर वह इतना न कर पाता जितना कि उसने सम्पूर्ण जीवधारियों के लिए किया।

विद्वानों ने धर्म के चार विभाग बतलाया है—(१) दर्शन (२) नैतिक आदर्श (३) कर्मकाण्ड तथा (४) कला या साहित्य। धर्म के चारों विभाग किसी-न किसी रूप में विश्व के सभी धर्मों में पाये जाते हैं पर नैतिक आदर्श धर्म का सार होता है। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि संसार के सभी धर्मों के नैतिक आदर्श प्रायः समान होते हैं। आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी नियमों का प्रत्येक धर्म में समान होना स्वाभाविक है। अशोक भी इसी मत का कट्टर समर्थक था। उसका आदर्श नैतिक आदर्श था और उसका धर्म नैतिक धर्म था चाहे यह नैतिकता बौद्धधर्म की श्रेणी में पड़े अथवा हिन्दू, मुसलमान या ईसाई धर्म की धारा में परिवर्तित हो। तब अशोक सम्पूर्ण मानव जाति के मानव धर्म का अनुयायी था जिस धर्म का स्थान सर्वकाल तथा सभी नैतिक आदर्शों पर आधारित हो सकता था। यही था अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण जिसके अन्तर्गत विश्व के सभी धर्मों का समावेश हो जाता है।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अशोक के धर्म के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अशोक के अभिलेखों के आधार पर ही अपने मत का निर्धारण किया है। अपनी प्रजा तथा सम्पूर्ण मानव जाति के लिए अशोक ने जो शिक्षायें दी हैं तथा उसके व्यक्तिगत जीवन का जो विवरण हमें प्राप्त होता है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अशोक के धर्म का मूल तत्त्व नैतिक परिष्कार था

सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित था और इसी सुन्दर पारिवारिक सम्बन्ध में व्यक्ति तथा समुदाय, व्यक्ति तथा समाज और व्यक्ति तथा विश्व के पारस्परिक सुन्दर व्यवहारों का मूल निहित है। अशोक का यह दृढ़ विश्वास था कि धर्म का प्रारम्भ घर की चहारदीवारी से होता है और वही विकसित होकर सम्पूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बाँध लेता है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति को जिन विभिन्न लोगों तथा समुदायों के सम्पर्क में आना पड़ता है उनके साथ सुन्दरतम व्यवहार करना ही धर्म के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति है। चरित्र, आचरण तथा व्यवहार धार्मिक कर्मकाण्डों से बहुत ऊँचे हैं। साम्प्रदायिकता को प्रथम दर्जा धर्म की अवहेलना है। साम्प्रदायिकता का अन्त करने के अभिप्राय से ही अशोक ने, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, विश्व के समस्त धर्मों के समान तत्वों को ग्रहण करके उन्हें प्रधानता देने का प्रयास किया। इस क्रम में उसने दूसरा प्रयास यह किया कि किसी भी धर्म की कटु आलोचना करना अनुचित ठहराया। इसके अतिरिक्त उसने धार्मिक सभाओं में विभिन्न धर्मावलम्बियों को सम्मिलित होने का प्रोत्साहन दिया। चौथा उपाय उसने यह किया कि लोगों को बहुश्रुत होने की प्रेरणा दी जिससे वे अन्य धर्मवालों के दर्शन, नैतिक आदर्श तथा कर्मकाण्ड आदि से परिचित हो सकें और इस प्रकार संकीर्ण दृष्टिकोण छोड़कर धर्मसहिष्णु बन सकें।

अशोक के धार्मिक उपदेशों को स्पष्ट रूप से समझ लेने पर हम उसके धर्म को भली भाँति जान सकते हैं। अशोक के धार्मिक उपदेश निम्नलिखित थे —

(१) अपचिति (२) सम्प्रतिपत्ति (३) सचेय (४) सौचय (५) दृढभक्तिता (६) मैत्री। अशोक के इन सिद्धान्तों को पृथक्-पृथक् स्पष्ट किया जायेगा।

(१) अपचिति—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है अशोक धर्म का श्रीगणेश घर से करना चाहता था, अतः उसने माता पिता गुरुजनों तथा वयोवृद्धों की सेवा पर जोर दिया।

(२) सम्प्रतिपत्ति—समन्वयवादी अशोक ने विभिन्न सम्प्रदायों या अन्य लोगों में सुन्दर सम्पर्क स्थापित करने के लिए ही ब्राह्मणों, श्रमणों, सम्बन्धियों, मित्र-बन्धुओं आदि के प्रति दान एवं उचित व्यवहार की प्रशंसा की है।

(३) सचेय—दान, दया तथा सत्य।

(४) सौचय—चित्त शुद्धि

(५) दृढभक्तिता—साधुता, संयम, कृतज्ञता, दृढभक्तिता

(६) मैत्री—माधुर्य।

अन्तिम तीन सिद्धान्त अशोक द्वारा धर्म के गुण बतलाये गये हैं। (द्वितीय स्तम्भ लेख, सप्तम शिलालेख)।

तृतीय स्तम्भ लेख में अशोक ने यह बतलाया है कि क्रोध, निष्ठुरता, अभिमान, ईर्ष्या आदि से उत्पन्न पापों से मुक्ति पाना ही धर्म है। अशोक ने भावनाओं की शुद्धि, धार्मिकता के विकास एवं आचरण के उत्थान के लिए मनुष्यों को आत्म निरीक्षण (पच्चवेक्षा) करने को कहा।

अशोक के उपर्युक्त धार्मिक सिद्धान्त जिसमें सम्पूर्ण मानव के हित की व्यवस्था की गई है विश्व के किसी भी धर्म में पाये जा सकते हैं। अतः अशोक को किसी धर्म विशेष से बाँधना तर्कसंगत नहीं।

अशोक के धर्म की विशेषताएँ—अशोक के धार्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए यह बतलाया है कि अशोक का धर्म सभी धर्मों का सार है अर्थात् इसके सिद्धान्त

अन्य धर्मों के सिद्धान्तों के समान ही हैं। फिर भी इस धर्म की कुछ अपनी मौलिकता एवं विशेषता है। इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

सार्वभौमिकता—अशोक के धर्म में कहीं भी साम्प्रदायिकता नहीं मिलती। साम्प्रदायिकता से रहित इस धर्म में विश्व के सभी धर्मों के मूल भूत तत्व निहित हैं। यह सार्वभौमिकता साधारण बात नहीं है।

अहिंसा—प्रथम शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि अशोक अहिंसा का कितना बड़ा पुजारी था। उसने उन यज्ञों को पूर्णतया बन्द करा दिया जिनमें पशु-बलि दी जाती थी। ब्राह्मणों को पशु-बलि निषेध का आदेश अखरा किन्तु अहिंसा का कट्टर पुजारी अशोक इस विषय पर कोई समझौता करने को तैयार न था।

धार्मिक सहिष्णुता—साम्प्रदायिकता से रहित होने के कारण अशोक के धर्म में किसी भी धर्म से स्पर्धा एवं द्वेष करने का आदेश नहीं था। प्रत्येक धर्मावलम्बी का आदर करना और उनके धर्म को अपने धर्म सा ही समझना अशोक के धर्म की एक बड़ी विशेषता है।

नैतिक आदर्शों का प्राधान्य—धर्म के चार अंग होते हैं नैतिक आदर्श, कर्मकाण्ड तथा दर्शन। इसमें से अशोक ने नैतिक आदर्शों पर ही विशेष जोर दिया। अपने धर्म को सार्वभौमिकता सहिष्णुता तथा इसी प्रकार की अन्य विशेषताओं से युक्त करने के लिए नैतिक आदर्शों पर जोर देना अशोक के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

प्रायोगिकता—धर्म में दर्शन केवल विद्वानों एवं आचार्यों की वस्तु होती है। धर्म का उद्देश्य अपने अनुयायियों के दार्शनिक ज्ञान का विकास करना ही नहीं है अपितु उन्हें सत्य मार्ग पर चलाना ही उसकी उद्देश्य-पूर्ति है। पर इस की प्रायोगिकता का बहुत कम महत्त्व होता है। दर्शन को महत्त्व न देकर व्यावहारिक कर्तव्यों को प्रधानता देने का एक बहुत बड़ा फल यह हुआ कि अशोक ने विडम्बनाओं से लोगों की रक्षा की। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत की बुराइयों तथा कमियों को दूर करने के लिए जितने सुधारकों ने प्रयास किया उन्होंने उसी प्रकार के एक नये मत या सम्प्रदाय को जन्म दे दिया। इस प्रकार कूड़ा साफ करने के नाम पर कूड़े के नये-नये ढेर लग गये। इसका एकमात्र कारण यह था कि उन धार्मिक नेताओं तथा सुधारकों ने व्यावहारिकता पर या तो ध्यान ही नहीं दिया या दिया भी तो बहुत कम।

बौद्ध धर्म प्रचारक अशोक

अब तक हमने अशोक के व्यक्तिगत धर्म का अध्ययन किया है। अब हम यह देखेंगे कि उस धर्म-परायण सम्राट ने बौद्ध धर्म के प्रचार में क्या उद्योग किया।

कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह रणघोष के स्थान पर धम्मघोष करेगा। अपने सप्तम स्तम्भलेख में भी उसने कहा— मैं धर्म की धारणा करूँगा। धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करूँगा। जो लोग उसे सुनेंगे उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रवृत्त होंगे उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वृद्धि के साथ उनकी अभिवृद्धि होगी। यह स्पष्ट है अशोक के धर्म प्रचार के उद्देश्य का बोध कराता है। इसी उद्देश्य को लेकर अशोक ने धर्म प्रचार के लिए निम्नलिखित साधनों को अपनाया —

अहिंसा का उपासक बनना—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए यह आवश्यक समझा कि वह पहले इस धर्म के प्रधान सिद्धान्त अहिंसा पर जोर दे, स्वयं इस सिद्धान्त का आदर्श अनुयायी बन कर जनता को अहिंसा का पुजारी बनावे। बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा विरोधी ब्राह्मण धर्म था जो अपने कर्मकाण्डों में पशु-बलि तथा अन्य कार्यों में हिंसा को प्रोत्साहित करता था। अतः असंख्य जनता को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए यह आवश्यक था कि उसमें अहिंसा भाव का संचार किया जाय। अतः अशोक ने अपने भोजनालय के लिए, समाजों के लिए अथवा राजकीय भोजों के लिए होनेवाले जीव-वध को एक राजाज्ञा देकर (प्रथम शिलालेख) बन्द करवा दिया। पंचम स्तम्भ-लेख द्वारा अशोक ने उस पशु वध को भी बहुत कुछ कम कर दिया जो प्रजा द्वारा किया जाता था।

बौद्धधर्म को राज धर्म घोषित करना—अशोक ने बौद्ध धर्म को राज धर्म घोषित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अशोक की प्रजा भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने को प्रवृत्त हुई। अशोक के उत्तराधिकारियों ने भी इसे अपना पैतृक धर्म समझकर स्वीकार किया जिससे यह धर्म बहुत दिनों तक राजधर्म बना रहा। यहाँ यह कह देना विषयांतर न होगा कि अशोक ने इसे राजधर्म स्वीकार करके भी अन्य धर्मावलम्बियों को बौद्धधर्म स्वीकार करने के लिए कदापि बाध्य नहीं किया। इतिहास में धर्म प्रधान सम्राट द्वारा जनता से अपना धर्म (राजधर्म) बल पूर्वक स्वीकार कराने के उदाहरण का अभाव नहीं।

दान—अशोक ने दीन हीन निरीह तथा साधु-संतों को सहायता देकर बौद्ध धर्म के प्रचार में जो योग दिया वह विशेष प्रशंसनीय है। वह स्वयं तो दान देता ही था साथ ही अपने भाई बन्धुओं, परिवार के अन्य सदस्यों तथा सम्बन्धियों से भी दान दिलवाता था। सप्तम स्तम्भ लेख से यह ज्ञात होता है कि उसने दान विभाग की देख रेख के निमित्त कर्मचारियों की नियुक्ति की थी जो उसके तथा उसकी रानियों एवं राजकुमारों के दान का पूर्ण विवरण रखते थे। इस प्रमाण में हम इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण रानी के अभिलेख को रख सकते हैं जिसमें आम्र वाटिकाओं, प्रमोदोद्यान, दान गृह तथा अन्य वस्तुओं के दान का उल्लेख है। सप्तम स्तम्भ लेख से हमें अशोक के दान का उद्देश्य स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है। इस स्तम्भ लेख में यह निर्देश है "मैंने यह इस उद्देश्य से किया है कि लोक धम्म का यथानुसार पालन करें"।

धर्म विभाग की स्थापना—अशोक के पंचम शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष उसने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की है। स्मिथ महोदय ने उन धर्म महामात्रों को विनय के निरीक्षक की संज्ञा दी है किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। स्मिथ महोदय के विचार में धर्म महामात्रों का कार्य गुप्त रूप से नैतिक अथवा धार्मिक नियमों का पालन न करनेवालों का पता लगाना तथा उनकी सूची तैयार करना था। वास्तविकता यह है कि यह धर्म महामात्र प्रजा में धार्मिक भावों का संचार करके तथा उनको नैतिकता का पाठ पढ़ा कर अशोक द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ले जाना चाहते थे जिससे वह सुखी जीवन बिता सकें। धर्म महामात्र धर्म विभाग का प्रधान होता था। इसकी सहायता के लिए अन्य छोटे छोटे पदाधिकारी भी थे। निश्चय ही इस विभाग ने बौद्ध धर्म के प्रचार में काफी योग दिया है।

धर्म-यात्रा—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ रण-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा

की व्यवस्था की। वह स्वयं धर्म-यात्रायें किया करता था तथा अपने अधिकारियों को भी धार्मिक स्थानों की यात्रा करने को भेजता था।

धार्मिक प्रदर्शन—धर्म विभाग की देख-रेख में अशोक धार्मिक दृश्यों के प्रदर्शन की भी व्यवस्था करता था। इनमें स्वर्ग लोक के दृश्य दिखलाये जाते थे जिससे जनता को प्रेरणा मिलती थी कि वह धार्मिक कार्यों में दत्तचित्त रह कर स्वर्गिक सुख का आनन्द प्राप्त कर सके।

मठों का निर्माण—अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न भागों में मठों का निर्माण कराया तथा पुराने मठों को आर्थिक सहायता दी। इन मठों में बहुत अधिक भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ रहा करती थीं।

धर्म-श्रावण—अशोक ने धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद तथा भाषण की व्यवस्था की थी। यह आयोजन धार्मिक विषयों में रुचि रखनेवाले एवं सर्वसाधारण के हित के लिए किया जाता था। राजुक, व्युष्ट, प्रादेशिक, युक्त आदि पदाधिकारी इन आयोजनों को सफल बनाने के उत्तरदायी थे।

धर्मलिपि—धर्म प्रचार में विशेषतया उसको स्थायित्व देने में अशोक ने जो प्रयास किया उसमें धर्म लिपि की व्यवस्था का प्रमुख स्थान है। पर्वत की शिलाओं, पाषाण के स्तम्भों तथा गुफाओं पर धार्मिक सिद्धान्तों एवं उपदेशों को लिखा कर अशोक ने सर्वसाधारण को इनसे परिचित कराया। धर्म लिपि की व्यवस्था के मुख्य दो उद्देश्य थे—

१. पाषाण स्तम्भों या शिलाओं पर उत्कीर्ण होने के कारण धर्म-लेख स्थायी रहेंगे।

२. इससे भविष्य में भी जनता को लाभ होगा और वह अशोक द्वारा बतलाये गये मार्ग का अनुसरण करेगी।

धर्म-मंगल की व्यवस्था—अशोक ने धार्मिक तथा सामाजिक आडम्बरों को समाप्त करके धर्म के वास्तविक रूप को जनता के सम्मुख रखने का प्रयास किया। इसके लिए उसने जन्म, मृत्यु, शादी-ब्याह तथा अन्य अवसरों पर होने वाले निरर्थक अनुष्ठानों को बन्द कराने का आदेश दे दिया। इसी प्रकार बलि प्रथा, यज्ञों को भी बन्द करा दिया गया। इन सब का प्रभाव बौद्ध धर्म के प्रचार के पक्ष में पड़ा।

लोक हित कार्य—अशोक ने सम्पूर्ण जीवधारियों के सुखपूर्वक जीवन बिताने के प्रसाधनों को एकत्रित करने का सफल प्रयास किया था। पशुओं की चिकित्सा के लिए उसने औषधालयों का निर्माण कराया था। इसी प्रकार मनुष्यों की चिकित्सा के लिए भी औषधालय खोले गये थे जहाँ उन्हें निःशुल्क दवा तथा भोजन दिया जाता था। राजपथों का निर्माण, कोस-कोस में विश्राम गृहों की स्थापना, कुओं का निर्माण आदि ऐसे कार्य थे जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में बौद्ध धर्म के प्रचार में योग दिया।

पाली भाषा में बौद्ध ग्रन्थों के लिखने की व्यवस्था—जन भाषा पाली में बौद्ध ग्रन्थों को लिखवा कर अशोक ने धर्म प्रचार में काफी योग दिया।

पशुवध निषेध—बौद्ध धर्म के मूल मन्त्र अहिंसा पर अधिक से अधिक जोर देकर अशोक ने बौद्ध प्रचार को प्रोत्साहन दिया। उसने पशु-वध की मनाही कर दी। राजकीय बावर्चीखाने में भी अब पशु-वध नहीं होता था। यज्ञों में पशु-वध करने की अनुमति न देकर अशोक ने ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को रुष्ट अवश्य कर दिया पर इससे धर्म प्रचार में कोई बाधा नहीं पड़ी।

बौद्ध संगीति का आयोजन—सिंहली अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने बौद्ध भिक्षु मोग्गलीपुत्त तिष्य के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में अपने राज्याभिषेक के अठारहवें वर्ष तथा महात्मा गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष पश्चात् एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया था। कुछ विद्वानों ने संगीति की ऐतिहासिकता पर सन्देह किया है किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अशोक का भाब्रू अभिलेख है। इस अभिलेख में हम अशोक को स्वयं भिक्षुओं के सम्मुख मगध नरेश के नाम से अभिहित करते हुए पाते हैं। डा० भण्डारकर का उपर्युक्त मत सर्वथा तर्कसंगत है क्योंकि जो भिक्षु संगीति में एकत्रित हुए थे इनमें कुछ मगध साम्राज्य के बाहर से भी आये थे इसीलिए अशोक ने मगध के सम्राट के रूप में अपना परिचय देना आवश्यक समझा। उक्त अभिलेख में सम्राट अशोक ने कहा है मगध के प्रियदर्शी सम्राट संघ का अभिवादन कर संघवासियों के स्वास्थ्य तथा निष्कंटक रूप से विचरण करने की कामना करते हैं। अशोक ने संघ के आचार्यों का स्वागत करते हुए उक्त वाक्य कहा है। इसी अभिलेख में आगे इस प्रकार आता है पूज्य भन्ते यह तो आपको विदित ही है कि बुद्ध धम्म और संघ में हमारी कितनी महती श्रद्धा है। जो कुछ भगवान बुद्ध ने उपदेश दिये हैं हे भन्ते वे कितने अच्छे रूप से व्यक्त किये गये परन्तु हे भन्ते यदि हम इस सन्मय धर्म की दीर्घकालीन स्थिति के निमित्त कुछ निर्देश करें तो यह व्यक्त करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। भन्ते ये धम्म विषयक ग्रन्थ हैं। धर्म विषयक ग्रन्थों का नाम सम्राट आगे गिनाता है जो सुत्त पिटक तथा विनय पिटक आदि हैं। तत्पश्चात् अशोक बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने की इच्छा प्रकट करता है— जितने भी भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ हैं उनमें से अधिक से अधिक संख्या में इन सभी ग्रन्थों के पाठ सुनते रहें सुनने के पश्चात् उन पर मनन किया करें।[1]

अभिलेख में बौद्ध भिक्षुओं के पाठों को श्रवण की जो बात कही गई है उससे ऐसा परिलक्षित होता है कि तत्कालीन बौद्ध संघ में कुछ मत भेद आते जा रहे थे जिनके निवारणार्थ ही अशोक ने उन्हें धर्म के मूल तत्त्वों को ग्रहण करने के लिए कहा। इस प्रकार इस संगीति द्वारा अशोक ने बौद्ध धर्म में आई हुई बुराइयों एवं शिथिलताओं को समाप्त कर के उसे नव जीवन प्रदान किया। इतना ही नहीं इस संगीति द्वारा अशोक ने संगीति परम्परा को आगे बढ़ाने में योग दिया और सम्भवतः कनिष्क द्वारा बौद्ध संगीति की व्यवस्था के मूल में अशोक की तृतीय बौद्ध संगीति ही है।

सम्भवतः तृतीय बौद्ध संगीति के पश्चात् ही अशोक ने सारनाथ कौशाम्बी तथा साँची के लघु स्तम्भ लेखों में बौद्ध मत में उत्पन्न संघ भेद के दमनार्थ अनुशासन दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध संगीति तथा उसके पश्चात् के अभिलेखों द्वारा अशोक ने बौद्ध धर्म का काफी प्रचार किया।

विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारकों की नियुक्ति—सिंहली अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने विदेशों में बौद्ध धर्म के सर्वाङ्गीण प्रचार में [illegible] भेजे थे।

---

[1] अशोक ने उक्त शिलालेख में संघ के भिक्षु एवं भिक्षुणियों को जिन पाठों का अध्ययन स्वीकृत किया है वे निम्नलिखित हैं —

(१) विनय-समुक्कस सुत्त (२) अलिय वस (३) अनागत भय (४) मुनिगाथा (५) मोनेयसुत्त (६) उपतिस्सपसिना एवं (७) राहुलोवाद। उपर्युक्त पाठों में प्रथम एवं षष्ठम को छोड़ कर शेष पाठ त्रिपिटक के माने गये हैं।

सिंहल जानेवाली इस मंडली का नेतृत्व अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा उसकी पुत्री संघमित्रा ने किया था। जब यह प्रचारक-मंडली सिंहल द्वीप पहुँची तो वहाँ के राजा तिस्स ने उनका स्वागत किया। इसी प्रकार अशोक ने दक्षिण की विभिन्न तामिल रियासतों, बर्मा, सीरिया, मिस्र, साइरीन, मकदूनियाँ, चीन तथा जापान आदि देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को भेजा था। अपनी इस धर्म विजय के विषय में सम्राट अशोक स्वयं कहता है "देवानाम प्रिय धर्म के द्वारा इस विजय को मुख्य विजय समझता है। यहाँ पर ऐसी प्रथा, यहाँ तक कि ६०० योजन दूर के देशों में भी यह विजय देवानाम प्रिय को मिली है।"

अशोक के समय में एशिया के दक्षिणी तथा पश्चिमी भागों में हीनयान बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हुआ था।

अशोक की धार्मिक नीति

अशोक के धर्म तथा उसके धर्म प्रचार के विषय में आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् हमें उसकी धार्मिक नीति पर भी विचार करना होगा। सम्पूर्ण साम्राज्य में जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण मत, आजीवक आदि अनेक सम्प्रदाय के लोग निवास कर रहे थे। ऐसी स्थिति में एक सम्राट के रूप में अशोक के लिए व्यवहार करना एक कठिन समस्या थी। अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था यह हम स्पष्ट रूप से जानते हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि वे धर्मातीत सिद्धान्त पर आधारित उसके कुछ व्यक्तिगत धार्मिक सिद्धान्त भी थे। जहाँ तक कि सिद्धान्तों के अनुयायी होने का प्रश्न है जैसा कि हम देख चुके हैं किसी भी धर्म से उसका सिद्धान्त भिन्न नहीं हो सकता था किन्तु बौद्ध अशोक प्रजा के सभी सम्प्रदायों को प्रसन्न रख सके यह कुछ कठिन कार्य था। ब्राह्मण धर्म बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त अनीश्वरवाद के कारण उसका विरोधी था। अहिंसा के प्रश्न पर भी लगभग यही ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म में काफी मतभेद था। जैन धर्म बौद्ध धर्म के प्रचारक थे और अशोक के साम्राज्य में उनके मानने वाले विद्यमान थे। किन्तु बौद्ध अशोक ने इन सब सम्प्रदायों की स्थिति को बड़े सुन्दर रूप में कार्य में किया। सबसे पहले तो उसने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया जिससे प्रत्येक सम्प्रदायवाले समान समझे जाने लगे। सबको समान रूप से नागरिक अधिकार दिये गये। उनके सामाजिक अधिकार भी समान थे। कुछ इतिहासकारों ने अशोक की धार्मिक सहिष्णुता पर यह आरोप लगाया है कि अशोक ने बलिपूर्वक यज्ञों को बंद करके ब्राह्मण मतावलम्बियों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाया है किन्तु यह तर्कसंगत नहीं। कोई भी सरकार अपने राज्य में नरबलि को स्वीकार नहीं कर सकती। अशोक के लिए क्या छोटे क्या बड़े सब समान थे। वह प्रत्येक में समान आत्मा समझता था और प्रत्येक जीव को समान प्यार करता था। ऐसी दशा में वह पशुबलि के प्रश्न पर ब्राह्मणों से किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकता था। उसने पशुबलि निषेध बौद्ध धर्म के सिद्धान्त के अनुसार ही नहीं किया अपितु इस नियम के पीछे उसका व्यक्तिगत चरित्र है। अशोक के कलिंग युद्ध से हम उसी समय से परिचित हैं जब वह कलिंग के रणक्षेत्र में एक सैनिकों द्वारा हुए भी रक्तपात एवं मुर्दों को देखकर काँप उठा था। उसी समय सौभाग्यवान चन्द्रगुप्त का पौत्र तथा मगध का सम्राट होते हुए भी उसने अपनी शक्ति का तनिक ध्यान न रखते हुए रणघोष के स्थान पर धर्मघोष की प्रतिज्ञा की। इस सम्राट ने पशुबलि निषेध के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का आग्रह

की जा सकती है ? अतः अशोक ने पशु-बलि निषेध की जो आज्ञा दी वह सर्वदा उचित थी। अशोक की धार्मिक नीति की एक दूसरी विशेषता यह थी कि उसने प्रत्येक धर्मावलम्बी को बहुश्रुत होने की प्रेरणा दी। वह यह चाहता था कि साम्प्रदायिकता का अन्त हो जाय और सम्पूर्ण विश्व में बन्धुत्व की भावना का प्रसार हो। इसीलिए उसने अपनी प्रजा को प्रत्येक धर्म के विषय में जानकारी रखने की अनुमति दी।

विदेशियों से मैत्री भाव स्थापित करने में उसकी धार्मिक नीति ने बहुत कुछ योग दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण, श्रमण, आजीवक आदि को प्रसन्न रखते हुए अशोक ने सफलतापूर्वक अपने धर्म का प्रचार किया। उसकी धार्मिक नीति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो बौद्ध धर्म का प्रसार तथा ब्राह्मणों आदि का कोई विद्रोह न करना ही है। अशोक जैसा कि हम जानते हैं पशुवध निषेध कर के ब्राह्मण यज्ञों की अवहेलना कर चुका था। ऐसी दशा में ब्राह्मणों का विद्रोह करना कोई कठिन कार्य न था किन्तु अशोक ने अपनी प्रजाप्रियता तथा अन्य चारित्रिक गुणों द्वारा अपनी धार्मिक नीति को सफल बनाया।

अशोक के साम्राज्य का विस्तार

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अशोक ने अपने शासन काल में केवल एक बार रण-यात्रा की थी जिसके फलस्वरूप उसे कलिंग राज्य प्राप्त हुआ। इसके बाद अशोक ने अन्य कोई विजय नहीं की। अतः अशोक के साम्राज्य विस्तार के अध्ययन का अर्थ है अशोक के पूर्वजों द्वारा उन विजित राज्यों का अध्ययन करना जिन पर अशोक का अधिकार बना रहा। अशोक के साम्राज्य विस्तार का बोध हम उसके अभिलेखों द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाता है अतः हम अशोक के साम्राज्य विस्तार को उसके अभिलेखों के आधार पर निर्धारित करेंगे। पहले हम यह देखेंगे कि दक्षिण पश्चिम में उसका राज्य विस्तार कहाँ तक था क्योंकि दक्षिण पश्चिम सीमा ही सैनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति कर्नाल जिले में इरागुडी नामक स्थान पर प्राप्त हुई थी। धौली (पुरी) जौगढ़ (गंजाम) नामक स्थानों में चतुर्दश शिलालेख की दो प्रतियाँ मिली हैं। इसी प्रकार चितलदुर्ग (मैसूर राज्य) से भी लघुशिला लेखों की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर मैसूर अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के भीतर था।

कालसी (देहरादून) रुम्मिनदेई निग्लीव (नेपाल की तराई) में अशोक के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हिमालय पहाड़ तक अशोक का साम्राज्य फैला हुआ था।

तक्षशिला, शाहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा के अभिलेखों से भी टहरागन्दाक पंजाब तथा सम्पूर्ण उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत को अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत किया जा सकता है। उक्त अभिलेखिक प्रमाण का समर्थन ह्वेनसांग के वृत्तान्त से हो जाता है। गिरनार (जूनागढ़ के निकट) तथा सोपारा (थाना जिला) में भी चतुर्दश शिलालेख की अन्य प्रतियाँ मिली हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सौराष्ट्र तथा दक्षिण पश्चिमी भारत पर अशोक का आधिपत्य स्थापित था। रुद्रदामन जूनागढ़ वाले शिलालेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र पर तुषास्प नामक अशोक का प्रान्तीय शासक शासन करता था। काश्मीर पर अशोक का आधिपत्य होने का वृत्तान्त कल्हण के राजतरंगिनी से प्राप्त होता है। ह्वेनसांग भी इसका समर्थन करता है। इसी प्रकार ललितपाटन तथा रामपुरवाल स्मारकों से चम्पारन जिला तथा नेपाल की घाटी पर

अशोक का अधिकार ज्ञात होता है। बंगाल पर भी अशोक का अधिकार था इसका बोध हमें दिव्यावदान तथा ह्वेनसांग के वृत्तान्त से होता है। अशोक के द्वितीय एवं त्रयोदश शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि चण्ड्य पाण्ड्य केरलपुत्र सतियपुत्र उसकी सत्ता के अधीन नहीं रहे।

अशोक के अभिलेख

विश्व इतिहास में अशोक को उच्च स्थान प्राप्त करने के प्रमुख कारणों में उसके अभिलेख भी हैं। अभिलेखों के विषय अशोक की महानता का निदर्शन मात्र ही नहीं करते अपितु मौर्य कालीन भारतीय इतिहास पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं अतः अशोक का अध्ययन करते समय हम उसके अभिलेखों का अध्ययन करना आवश्यक है।

अभिलेखों का महत्व—नीचे हम अशोक के अभिलेखों के महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे। निम्नलिखित दृष्टिकोणों से अशोक के अभिलेखों का काफी महत्त्व है—

साम्राज्य सीमा का निर्धारण—अशोक के साम्राज्य विस्तार का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि इस विषय में हम पूर्णतया उसके अभिलेखों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अभिलेखों के प्राप्ति स्थान के आधार पर ही हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य चोल सत्यपुत्र केरलपुत्र आदि को छोड़ कर सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था।

अशोक के धर्म का निर्धारण—यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी था इस मत के समर्थक इन्हीं अभिलेखों का सहारा लेते हैं। अशोक के व्यक्तिगत धर्म का बोध भी हमें इन्हीं अभिलेखों से होता है।

अशोक के चरित्र का निरूपण—इन अभिलेखों में अशोक का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। दान दया सेवा आदि नैतिक आदर्शों के पोषक के रूप में अशोक हमारे सम्मुख इन्हीं अभिलेखों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कलिंग विजय के पश्चात अशोक ने अपने अभिलेखों में उस हृदयस्पर्शी घटना तथा युद्ध न करने के निश्चय का प्रकाशन किया जिसमें उसके दृढ़ निश्चय तथा कोमल हृदय का बोध होता है। अभिलेखों से ही हम उसके महादानी होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक का वैदेशिक सम्बन्ध—अशोक के अभिलेख हमें इस बात का ज्ञान कराते हैं कि अशोक ने सीरिया एपीरस मिस्र मेसीडन आदि देशों में अपने राजदूत भेज कर इन राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। इन अभिलेखों से हमें अशोक की विदेश नीति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक कालीन शासन-व्यवस्था का अनुशीलन—यद्यपि अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक (नैतिक) था तथापि उनमें तत्कालीन शासन-सम्बन्धी राज्य आज्ञाओं का बोध होता है जिन्हें अशोक ने समय-समय पर प्रकाशित की थी। अशोक ने प्रजा के हित के लिए जो कुछ किया उसका भी बोध हमें अभिलेखों से होता है।

अब हम अशोक के अभिलेखों पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे। मोटे तौर पर अशोक के अभिलेखों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(अ) शिलालेख (ब) स्तम्भलेख तथा (स) गुहालेख।

(अ) शिलालेख

चतुर्दश शिलालेख—इनकी संख्या १४ है। कभी इन्हें चतुर्दश शिलालेख का नाम दिया गया है ये १४ शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुए हैं—

(१) शहबाज गढ़ी (पेशावर जिला) (२) मनसहरा (हजारा जिला)

(३) कालसी (देहरादून जिला) (४) गिर्नार (जूनागढ़ के निकट)
(५) धौली (पुरी जिला) (६) जौगढ़ (गंजाम जिला)
(७) इरागुडी (कर्नाल जिला) (८) सोपारा (थाना जिला)

कलिंग के लेख—एकादश तथा त्रयोदश शिलालेखों के बजाय लिखे हुये धौली और जौगढ़ के दो पृथक कलिंग अभिलेख हैं।

दो लघु शिलालेख—इनमें से प्रथम लघु शिलालेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुआ है—

(१) रूपनाथ (जबलपुर जिला) (२) सहसराम (आरा जिला) (३) बराट (जयपुर के निकट) (४) मस्की (रायचूर जिला) (५) सिद्धपुर (६) ब्रह्मगिरी (७) जतिंग ये तीनों स्थान मैसूर राज्य के चीतल द्रुग जिले में हैं।

द्वितीय लघु शिलालेख (१) सिद्धपुर (२) जतिंग तथा (३) ब्रह्मगिरी में पाया गया है।

(ब) स्तम्भ-लेख

स्तम्भ लेख के अन्तर्गत सप्त स्तम्भ लेख तथा लघु स्तम्भ लेख सम्मिलित किये जाते हैं।

सप्त स्तम्भ लेख—ये निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुए हैं—
(१) टोपरा—दिल्ली (२) मेरठ—दिल्ली
(३) कौशाम्बी—इलाहाबाद (४) रामपुरवा
(५) लौरिया—अरराज (६) लौरिया—अरराज।

लघु स्तम्भ लेख—ये लघु स्तम्भ लेख सांची कौशाम्बी (इलाहाबाद) सारनाथ (बनारस) रुम्मिनदेई तथा निग्लिवा आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं।

(स) गुहा-लेख

गुहा-लेख में बराबर पहाड़ी के तीन अभिलेख सम्मिलित हैं। गया से लगभग १९ मील उत्तर की ओर बराबर नामक पहाड़ी स्थित है। इसी पहाड़ी की चार गुहाओं की तीन दीवारों पर ये अभिलेख अंकित हैं।

अभिलेखों की भाषा एवं लिपि—मानसेहरा तथा शाहबाज गढ़ी के लेखों के अतिरिक्त शेष समस्त अभिलेखों की भाषा प्राकृत तथा ब्राह्मी है। ब्राह्मी लिपि को वर्तमान नागरी लिपि का मूल कहा जाता है जो बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती है। मानसेहरा तथा शाहबाज गढ़ी के अभिलेखों की लिपि खरोष्ठी है। यह उर्दू की भांति दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती है।

यहाँ उपर्युक्त अभिलेखों से जिन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है उनका संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

चतुर्दश शिलालेखों का निर्माण काल २५७ तथा २५६ ई० पूर्व माना गया है। इन अभिलेखों में हमें अशोक के शासन तथा उसके नैतिक सिद्धान्तों का बोध होता है। कलिंग अभिलेखों से नव विजित कलिंग राज्य तथा वहाँ की जंगली जातियों पर की जानेवाली शासन विधि का बोध होता है।

दो लघु शिलालेख २५८ २५७ ई० पूर्व के हैं जिनमें प्रथम लघु शिलालेख अशोक के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालता है तथा द्वितीय अशोक की भक्ति एवं उसकी धर्मनिष्ठा का बोध कराता है। सप्तम स्तम्भ लेख २४३ २४२ ई० पूर्व के हैं। उनसे अशोक की नीति का बोध होता है।

लघु स्तम्भलेख धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में लिखे गये हैं। इनकी तिथि २४२ और २३२ ई० पूर्व है। मब्रु शिलालेख बौद्ध धर्म के इतिहास में अधिक महत्त्व रखता है। तराई स्तम्भ लेख द्वारा अशोक की तीर्थयात्रा का विवरण प्राप्त होता है। बराबर दरीगृह के गुहालेख अशोक की धार्मिक सहिष्णुता का बोध कराते हैं। इनकी रचना-तिथि २९४ ई० पूर्व है।

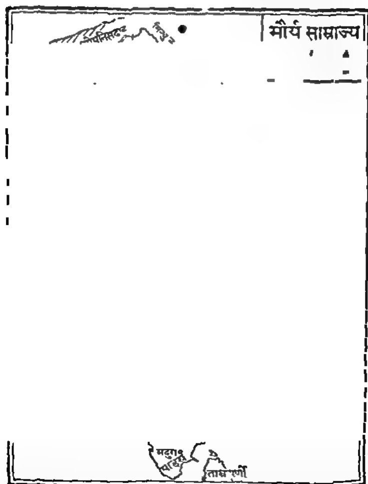
चट्टान अभिलेख एवं लघु चट्टान अभिलेख स्तम्भ अभिलेख सम्भावित सीमा—

१ पाण्ड्य	
२ चोल	
३ केरलपुत्र	कौशाम्बी
४ ताम्रपर्णी	प्रयाग
५ नलौर	३४ चमनवना नदी
६ सतियपुत्र	३५ कराह (मात्रा)
७ सिरपुर	३६ मथुरा
८ कोपवल	३७ यमुना नदी
९ मास्की	३८ गंगा नदी
१० कृष्णा नदी	३९ मिगाढ
११ आन्ध्र	४० इन्द्रप्रस्थ
१२ कलिंग	४१ टोपरा
१३ गोदावरी नदी	४२ कालसी
१४ जौगढ	४३ शतद्रु नदी
१५ धौली (तासली)	४४ विपाशा नदी
१६ राष्ट्रिक	४५ इरावती नदी
१७ सोपारा	४६ असिक्नी नदी
१८ पुलिन्द	४७ वितासा नदी
१९ पिटिनिक	४८ सिन्धु नदी
२० ताप्ती नदी	४९ मानसेरा
२१ नर्मदा नदी	५० महवाज नदी
२२ गिरनार	५१ परोपनिसदाई
२३ सौराष्ट्र	५२ अराकोशिया
२४ महानदी	५ चन्द्रगुप्त द्वारा सेल्यूकस निकेटर से प्राप्त भाग
२५ ताम्रलिप्ति	५४ कपिलवस्तु
२६ रूपनाथ	५५ श्रावस्ती
२७ सांची	५६ निगलिव
२८ चम्पा	५७ रुमनदेई
२९ सहसराम	५८ ललित पाटन
३० पाटलिपुत्र	५९ रामपुरवा
३१ मगध	६० लौरिया नंदनगढ़
	६१ लौरिया अरराज

अशोक का शासन प्रबन्ध

अशोक को उत्तराधिकार के रूप में केवल एक विस्तृत साम्राज्य ही नहीं प्राप्त

हुआ था अपितु सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था भी जो कुशल शासक चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा प्रतिपादित की गई थी प्राप्त हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन एवं परिवर्धन करके ही अशोक ने शासन प्रबन्ध किया। अशोक के शासन प्रबन्ध का आधार चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-व्यवस्था है। अशोक को अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध में जो कुछ भी थोड़ा बहुत परिवर्तन-परिवर्धन करना पड़ा उसका मूल कारण उसकी नैतिकता एवं धार्मिकता है। अशोक के शासन प्रबन्ध का अध्ययन करने के पूर्व हम उसके राजत्व सिद्धान्त पर विचार कर लेना आवश्यक है।



अशोक का राजत्व सिद्धान्त—अशोक एक आदर्श मानव था। उसकी नैतिकता उसके जीवन की अनुप्राणित था। कलिंग विजय के पूर्व तो अशोक साम्राज्यवादी था किन्तु इस रक्तप्लावित घटना के पश्चात् तो अशोक पहले मानव और तब सम्राट

था—सम्राट था इस अर्थ में कि वह कम से कम अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को अपना पुत्र समझ सके, उसका रक्षक बन सके। मानव होने के नाते तो वह सम्पूर्ण धरती के विभिन्न जीवधारियों का शुभचिन्तक था। कलिंग शिलालेख अशोक तथा धरती के सम्पूर्ण मनुष्यों के निकटतम सम्बन्ध का निर्देश इस प्रकार करता है 'सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं प्रजा के लौकिक एवं पारलौकिक हित की कामना करता हूँ।' अशोक अपने अभिलेखों में यह अंकित करते हुए नहीं अघाता है कि सब लोक हित से बढ़कर दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं है । प्रजा के लिए मैं उत्थान (परिश्रम) तथा अर्थ-कर्म (राज काज) करने में अघाता नहीं।

अशोक अपने चौथे स्तम्भलेख में प्रजा के प्रति वात्सल्य हो फूट पड़नेवाले अपने हार्दिक उद्‌गारों को इस प्रकार प्रकट करता है—'जिस प्रकार मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण धाई को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि वह धाई मेरे बालक को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के अभिप्राय से रज्जुक (राजुक) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं। इससे अधिक स्पष्ट और कोई प्रमाण अशोक की प्रजाप्रियता का नहीं हो सकता। प्रजा की सेवा में वह कितना दत्तचित्त जागरूक तथा संलग्न था इसकी सुख समृद्धि के लिए वह कितना सचेत था तथा प्रजाहित कार्य में निरन्तर प्रयत्नशील रहने का वह कितना आकांक्षाएँ रखता था इसका साक्षात प्रमाण उसका चतुर्थ स्तम्भलेख हो है—"मैंने यह प्रबन्ध किया है कि सब समय में—चाहे मैं भोजन करता होऊँ चाहे अन्तःपुर में रहूँ चाहे शयनागार में चाहे उद्यान में—सर्वत्र मेरे प्रतिवेदक प्रजा के कामों की मुझे सूचना दें। मैं प्रजा के कार्य सर्वत्र करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक कार्य किया जाय और यदि महामात्रों में उस विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मंत्रि परिषद उसे अस्वीकार करे तो तत्क्षण ही और हर समय मुझे इस बात की सूचना दी जाय क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम क्यों न करूँ कितना ही राज्य काज क्यों न करूँ मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। प्रजा हित काम करने के उद्देश्य एवं उत्तरदायित्व को बतलाते हुए अशोक अपने उक्त अभिलेख में आगे इस प्रकार कहता है— मैं जो कुछ पराक्रम (श्रम) करता हूँ वह केवल इसलिए कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है मैं उससे उऋण हो जाऊँ और इस लोक में लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। अशोक प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए उसके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुन्दर बनाने के लिए कितना चिन्तित रहता था यह हम उसके निम्नलिखित कथन से भी स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है—

यह धर्मलेख चिरस्थायी हो और मेरे पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र लोक हित के लिए प्रयत्न (पराक्रम) करें। अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य बड़ा कठिन है।

अशोक ने अपनी प्रजा को बहुश्रुत होने की अनुमति दी थी और जैसा कि उसका नियम था प्रजा को किसी कार्य के लिए प्रेरित करने के पूर्व वह स्वयं उस कार्य को करता था। अतः अशोक स्वयं बहुश्रुत था। विभिन्न राजतत्त्व सिद्धान्तों का उसे पूर्ण ज्ञान था। राजनीति के आदर्श सिद्धान्तों का वह पंडित था। उसकी राजनीति में चाणक्य की कूटनीति का समावेश न था या यदि था भी तो अपने धर्म-परिवर्तन के साथ-साथ उसने इसे पूर्णतया भुला दिया था। पवित्रता आदर्शवादिता प्रजाप्रियता, नैतिकता तथा मौलिकता इसके राजत्व सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ हैं, मौलिकता इसलिए

कि अशोक के पूर्व या पश्चात् भी भारतीय इतिहास में इस प्रकार का कोई सम्राट नहीं जो प्रजा के लिए जीने मरने को तैयार हो।

इस पृष्ठभूमि में हम अशोक के शासन प्रबन्ध को भली भाँति समझ सकते हैं।

स्वायत्त शासन—अशोक के तेरहवें शिलालेख के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने यह अनुमान लगाया है कि अशोक के अधीन कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो अप्रत्यक्ष रूप से अशोक की अधीनता स्वीकार करते थे किन्तु उन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त था जैसे यवन कम्बोज नाभक नाभपंक्ति आन्ध्र भोज तथा पारिन्द आदि। विद्वानों ने उक्त प्रदेशों में से कुछ की स्थिति का अनुमान इस प्रकार लगाया है—यवन तथा कम्बोज राज्य सम्भवतः उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में, भोज पश्चिमी समुद्रतट अथवा बरार में और आन्ध्र सम्भवतः कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्य प्रदेश में थे।

मन्त्रि परिषद्—चाणक्य ने शासन प्रबन्ध के विषय में लिखते हुए यह कहा गया था कि उसके शासन प्रबन्ध में भी मन्त्रि परिषद् का बहुत बड़ा महत्त्व था। अशोक ने भी मन्त्रि परिषद् को स्थापित रखा। वह भी राज काज में मन्त्रियों की राय को मान्यता प्रदान करता था। उसके छठें शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रि परिषद् को इस बात की काफी स्वतन्त्रता थी कि सम्राट से किसी गए विषय पर वाद विवाद कर सके तथा अपना मत सम्राट को उसकी (महामात्रों के) कोई दानसम्बन्धी अथवा मेरे द्वारा की गई किसी मौखिक घोषणा के सम्बन्ध में अथवा महामात्रों के सुपुर्द कर दिये गये किसी आवश्यक कार्य के विषय में विवाद या सुधार का प्रस्ताव उपस्थित किया जाय तो उसकी सूचना मुझे उसी क्षण मिलनी चाहिए मैं कहीं भी रहूँ और कोई भी समय हो।

अशोक अपने मन्त्रियों को नैतिक एवं धार्मिक शिक्षाओं में दक्ष होना आवश्यक समझता था अतः उसके मन्त्री सर्वदा उसी की भाँति सोचते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन के दृष्टिकोण से जैसा कि अभिलेखों से ज्ञात होता है सम्पूर्ण साम्राज्य चार केन्द्रों में विभाजित था। ये निम्नलिखित थे —

(१) तक्षशिला (२) उज्जैनी (३) तोसली तथा (४) सुवर्णगिरी।

राजा का सहायक उपराज होता था। यह राजकुलीन व्यक्ति होता था। अशोक का भाई तिष्य उसका उपराज था। युवराज भी राजकाज में सम्राट की सहायता करता था। इसी प्रकार अग्रमात्य भी राजा का प्रमुख सहायक था। अशोक के समय में राध-गुप्त अग्रमात्य थे। राजकुमारों (कुमार अथवा आर्यपुत्र) से भी सम्राट शासन प्रबन्ध में सहायता लेता था। इनकी नियुक्ति सुदूरस्थ प्रान्तों में की जाती थी क्योंकि उनसे राजभक्ति की पूर्ण आशा थी और सुदूरस्थ प्रान्तों में इसी कोटि के शासक की आवश्यकता थी।

ऊपर जिन चार प्रमुख केन्द्रों का वर्णन किया गया है उनका शासन भी राजकुलीन व्यक्तियों द्वारा होता था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक का पुत्र कुणाल तक्षशिला का वायसराय था। फाहियान इसे धर्म अभिवर्धन कहता है उसे गान्धार प्रान्त का वायसराय बताता है।

अशोक के पदाधिकारी—अशोक के अभिलेखों से हमें विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों का बोध होता है उनमें से अधिकांश अर्थशास्त्र में उल्लिखित पदाधिकारियों से मिलते-जुलते हैं। केवल धर्म सम्बन्धी पदाधिकारी नवीन हैं। डा० हेमचन्द्रराय

चौधरी ने निम्नलिखित बारह प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख किया है —

(१) महामात्र (२) राजुक (३) रथिक (४) प्रादेशिक (५) युत अथवा युक्त (६) पुलिश (७) प्रतिवेदक (८) व्रच भूमिका (९) लिपिकार (१०) दूत (११) आयुक्त तथा (१२) कारणक।

नीचे इन पदाधिकारियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

धर्म महामात्र—चन्द्रगुप्त के शासन-काल में धर्म महामात्र नामक पदाधिकारी नहीं था। अशोक ने इनकी नियुक्ति सर्वप्रथम की थी। स्मिथ महोदय ने धर्म महामात्रों को निरीक्षक (Censor) कहा है। पर स्मिथ महोदय ने उनके कर्तव्यों का समझने में कुछ भूल की है। वास्तव में धर्म महामात्रों का कार्य केवल निरीक्षण ही न था वरन् उनके ऊपर कुछ और भी धार्मिकता एवं नैतिकता सम्बन्धी उत्तरदायित्व थे। अशोक का पंचम शिलालेख स्वयं ही धर्म महामात्रों के कर्तव्यों का स्पष्टीकरण कर देता है—

आज के पूर्व निकट अतीत में कभी धर्ममहामात्र नहीं रहे। अपने राज्याभिषेक के तरह वर्ष के पश्चात मैंने ही उनकी नियुक्ति की। वे सभी सम्प्रदायों के बीच नियुक्त किये गये हैं और उनका कार्य धर्म की स्थापना करना, धर्म की घोषणा करना तथा धर्मानुरागियों की सतत सुरक्षा एवं आनन्द के लिए प्रयत्न करना है। सभी वर्ग के लोगों के बीच उपस्थित रह कर क्या ब्राह्मण क्या गृहपति, क्या अनाथ और क्या वृद्ध अथवा बहु-संतान के भार से दबे हुए अथवा शोषित जन अथवा धर्म टेक ग्रहण कर भिक्षा या भिक्षान्न पर निर्वाह करनेवाले सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार उचित सहायता देना इन्हीं धर्ममहामात्रों का कर्तव्य था।

महामात्र—साम्राज्य के जिलों तथा नगरों में महामात्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। अशोक के शिला-लेखों से हम यह भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र कौशाम्बी तोषली स्वर्णगिरि समापा तथा इसिल में महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। विभिन्न प्रकार के महामात्रों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में किया गया है। उदाहरणार्थ कलिंग शिलालेख में 'नगलक' तथा 'नगर वियोहलक' महामात्रों का उल्लेख किया गया है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के मतानुसार ये क्रमशः अर्थशास्त्र के 'नागरक' तथा 'पौर व्यावहारिक' हैं। प्रथम स्तम्भलेख में भी अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। यह सम्भवतः अर्थशास्त्र का अन्तपाल है। इसी प्रकार बारहवें शिला-लेख में 'इथिझक' महामात्र का उल्लेख किया गया है। यह सम्भवतः स्त्र्यध्यक्ष है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र अपने अपने विभागों के अध्यक्ष थे तथा उस विभाग का पूर्ण उत्तरदायित्व इनके ऊपर था।

राजुक—डा० स्मिथ के कथनानुसार राजुक भी गवर्नर होता था किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। ये भूमि तथा न्याय के अधिकारी थे। इनके अधिकार विस्तृत थे। अशोक के चतुर्थ स्तम्भलेख का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है जिसमें अशोक रज्जुक (राजुक) की नियुक्ति की घोषणा करता है। इस अभिलेख से राजुकों के महत्व का बोध होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वह कई लाख मनुष्यों पर शासन करता था। जनपदों की देखभाल करना इनका प्रमुख कार्य था। किसी को सम्मानित एवं दण्डित करने का भी इन्हें पूर्ण अधिकार था। रथिक तथा युक्त राजुकों की सहायता करते थे।

प्रादेशिक—प्रादेशिक का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। अशोक के शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा वाइसराय के नीचे थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में मौर्यकालीन दो प्रान्तीय गवर्नरों के नाम प्राप्त होते हैं (१) पुष्यगुप्त जो चन्द्रगुप्त के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था तथा (२) तुषास्प जो अशोक के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था। तुषास्प पारसीक नाम है अतः इससे ज्ञात होता है कि राज कर्मचारी की नियुक्ति में सम्राट् अशोक किसी प्रकार जातीय या देशी विदेशी भेद नहीं रखता था। यह उसकी धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है।

युत अथवा युक्त—प्रादेशिक के बाद युत अथवा अर्थशास्त्र के युक्त का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। ये अपने सहायक उपयुक्त की सहायता से जिलाधिकारी की देख रेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूल करना तथा खर्च करना, लेखा जोखा करना आदि काम करते थे। मनु ने भी अपनी स्मृति में इस पदाधिकारी का उल्लेख किया है और उसका कर्तव्य खोई हुई वस्तुओं की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् रक्षा करना बतलाया है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में युक्त का उल्लेख करते हुए उसे राजसम्पत्ति का प्रबन्धक बतलाया है।

अशोक के अधिकारी सर्वदा इस बात का ध्यान रखते थे कि कोई भी ऐसा काम न करें जिससे अशोक की धार्मिकता को ठेस पहुँचे। प्रतिवेदकों को उसने यह आज्ञा दे रखी थी कि वे महामात्रों या मन्त्रि परिषद के कार्यों की सूचना उसे बराबर देते रहें। इसी प्रकार पूर्व लिखित पदाधिकारियों को भी उसने सर्व प्रजाहित कार्य में सचेष्ट रहने की आज्ञा दी थी।

अशोक का शासन सुधार

अशोक के राजत्व सिद्धान्त के विषय में लिखते हुए यह बतलाया गया है कि वह राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की सेवा करना समझता था। अतः प्राचीन शासन प्रणाली में कुछ सुधार करना अत्यन्त आवश्यक था। सर्वप्रथम उसने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की जो प्रजा के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न करते थे। धर्ममहामात्र प्रजा को सुखी बनाने के लिए उनमें दान वितरण भी करते थे। अशोक के पंचम शिलालेख से यह भी विदित होता है कि ये धर्ममहामात्र वृद्ध अथवा अधिक संतानवाले बन्दियों की मुक्ति अथवा कारागार की अवधि कम करने की भी सिफारिश करते थे। दूसरा नवीन सुधार जो अशोक ने किया वह यह था कि राज्य के प्रधान कर्मचारी राजुक प्रादेशिक युक्त आदि पंचवर्षीय अथवा त्रिवर्षीय अनुसंधान (दौरा) किया करते थे जिससे वे ग्रामीण जनता के निकट सम्पर्क में आकर उनकी आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का अध्ययन कर सकें और उनके कष्ट को दूर करें। अशोक के तृतीय शिलालेख तथा प्रथम कलिंग शिलालेख से हमें उपयुक्त बात ज्ञात होती है। अब तक गुप्तचर विभाग केवल राजनीतिक विषयों की सूचना सम्राट् को देते रहे किन्तु

कि ये सम्पूर्ण

शिलालेख)।

अपने राज्या

भिषेक की वर्षतिथि के दिन बन्दियों को मुक्त कर देता था और प्राणदण्ड पाये हुए अपराधियों की जीवन अवधि तीन दिन और बढ़ा देता था (पाँचवाँ तथा चौथा शिलालेख)। तत्कालीन भारतीय राजनैतिक सिद्धान्त के अनुसार दो पड़ोसी राज्य बैरी समझे जाते थे और शक्तिशाली राजा अपने पड़ोसी राज्य को हर प्रकार से शक्तिहीन बनाने का प्रयास किया करता था किन्तु अशोक ने अपने पड़ोसी जातियों के अभयदान

कार्षापण। इस प्रकार की—सीमान्त जातियाँ मुझसे भय न खाएं व मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख प्राप्त करें। वे कभी दुःख न पावें और इस बात का भी विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा करना सम्भव है राजा उनके साथ करेगा।

सम्राट अशोक ने शासन प्रबन्ध में सबसे बड़ा सुधार यह किया कि उसने सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाकर जीवन-स्तर ऊंचा करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने कुछ हिंसात्मक समाजों एवं उत्सवों को बन्द करा दिया। मदिरा-मांस, नृत्य आदि में समय अथवा धन का अपव्यय होता था उसे रोकने का भी अशोक ने पूर्ण प्रयास किया।

पशुवध निषेध भी इस क्षेत्र में नवीन एवं महत्त्वपूर्ण सुधार था। भारतीय इतिहास तथा विश्व-इतिहास में कोई ऐसा सम्राट नहीं मिलता जिसने पशु-वध निषेध की चेष्टा की हो और वह इस कार्य में इतना अधिक सफल हुआ हो।

प्रजा के हित के लिए प्राचीन भारत के अधिकांश सम्राटों ने अनेक कार्य किए किन्तु अशोक के सम्मुख उनके प्रजा हितकारी कार्य फीके पड़ जाते हैं। यद्यपि हम सुधारों को कोटि में नहीं रखा जा सकता पर अशोक ने इसे अपना प्रमुख कर्तव्य बना लिया था अपने शासन प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य घोषित कर चुका था। अतः यह एक प्रकार का सुधार-कार्य कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के शासन प्रबन्ध तथा तत्सम्बन्धी सुधारों पर उसकी नैतिकता प्रधान धार्मिकता की पूर्ण छाप थी। जिन नये पदाधिकारियों की नियुक्ति अशोक द्वारा की गई वे राजनीतिक क्षेत्र में भले ही महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सके हों पर सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया। तब तक के सांस्कृतिक इतिहास में जिन नवीन पृष्ठों को जोड़ कर जिस आदर्श भारतीय संस्कृति का उदाहरण अशोक ने प्रस्तुत किया वह चिरस्मरणीय है। अशोक के शासन प्रबन्ध में उसके शिथिल सैनिक संगठन के सम्बन्ध में कुछ भी कहना उस अद्वितीय शासन प्रबन्ध की मौलिकता एवं महत्ता को घटाना है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संगठित सेना अशोक के शासन-काल में अस्त्र शस्त्रों के स्थान पर नैतिक आदर्शों की पूजा कर रही थी। अशोक की सैनिक दुर्बलता के सम्बन्ध में अगले पृष्ठों में लिखा जायगा।

अशोक के निर्माण-कार्य

अशोक केवल इसलिए नहीं प्रसिद्ध है कि उसने धार्मिक क्षेत्र में अद्वितीय प्रगति कर ली थी अपितु वास्तु-कला के क्षेत्र में भी उसने आश्चर्यजनक प्रगति ला दी थी। इस क्षेत्र में अशोक ने सबसे महान कार्य यह किया कि उसने लकड़ियों तथा ईंटों के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग कराया। उसे नगरों का निर्माण तथा उन्हें सुसज्जित कराने का काफी शौक था। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने काश्मीर में श्रीनगर तथा नैपाल में ललिता पाटन नामक नगरों का निर्माण कराया था। अनुश्रुतियाँ अशोक को महान निर्माता के रूप में उपस्थित करते हुए बतलाती हैं कि उसने नगरों की सज-धज का काफी प्रयास किया। महावंश के अनुसार अशोक ने अपने उप राजाओं द्वारा सम्पूर्ण भारत में चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। ह्वेनसांग ने भी अनुश्रुतियों का समर्थन करते हुए लिखा है कि अशोक ने महात्मा गौतम बुद्ध के आठ स्तूपों में सुरक्षित अस्थि-अवशेषों को चौरासी हजार स्वनिर्मित स्तूपों में रखवाया।

फाहियान ने पाटलिपुत्र में अशोक का राजभवन देखकर चकित होकर कहा था कि इसे कोई भी मानव हाथ इस संसार में न बना सकता।

बराबर नामक जिन गुफाओं का निर्माण गया जिले में आजीवकों के निवासार्थ करवाया गया था उनकी छतें तथा दीवारें बालापन के कारण शीशे-सा चमकता हैं। अशोक के भवन निर्माण कार्यों में स्तम्भ निर्माण सबसे श्रेष्ठ है। ये स्तम्भ चुनार के पत्थरों से बने हैं जो नीचे चौड़े और ऊपर पतले हैं। इनकी ऊंचाई ४० से ५० फुट तथा वजन लगभग ५० टन है। शिखर पट्टिका पर ये घण्टाकार हो गये हैं और बिल्कुल ऊपर सिंह बैल गज अथवा अश्व की आकृतियाँ बनी हैं। पशु आकृतियाँ अत्यन्त सजीव हैं। इनकी पालिश तथा सजीवता को देख कर ही पाश्चात्य कला विशारदों ने इन्हें किन्हीं ग्रीक अथवा पारसी शैलियों से प्रभावित बतलाया है। इनकी पालिश तो निश्चय ही आश्चर्यजनक है और अनेक विद्वानों ने प्रारम्भ में इन्हें पाषाण निर्मित न जानकर धातु निर्मित समझने की भूल की थी। स्मिथ महोदय ने इन स्तम्भों की प्रशंसा में लिखा है कि इनका निर्माण स्थानान्तर तथा स्थापन मौर्य कालीन शिल्पाचार्यों एवं शिला तक्षकों की बुद्धि और कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं। स्तम्भों की सुन्दरता से भी अधिक विलक्षण वस्तु उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना था। चुनार की पहाड़ियों को काटकर बनाये हुये स्तम्भ पाँच या छः सौ मील दूर मेरठ जैसे स्थान पर ले जाकर निर्मित किए जायें और वह भी उस युग में जब यातायात के साधन बहुत सीमित थे एक आश्चर्य ही था। स्मिथ महोदय ने तारीखे फिरोजशाही के आधार पर स्तम्भों के स्थानान्तरण की कठिनाई का उदाहरण प्रस्तुत किया है। वर्णन इस प्रकार है कि फिरोजशाह तुगलक अम्बाला के निकट टोपरा नामक स्थान से एक स्तम्भ जिसे अब टोपरा दिल्ली स्तम्भ कहते [redacted] केवल बारह मील दूर दिल्ली लाना चाहता था। उसे ४२ पहियों वाली गाड़ियों में ८४ हजार आदमियों को लगाने ... सर्वप्रथम हाथियों का प्रयोग ... प्रकार हम देखते हैं कि जिन ... की पहाड़ियों तथा तीव्रगति वाली गहरी नदियों को पार कर आठ-नौ सौ मील दूर चुनार से हैदराबाद राज्य में २५१ ई० पूर्व में लगभग ले गया था उन्हीं स्तम्भों में से एक को केवल १२ मील दूर ले जाने में १३५१ ई० में फिरोज तुगलक को नाकों चने चबाने पड़े।

अशोक का शासन सुधार

अशोक के व्यक्तिगत जीवन के विषय में उसके अभिलेखों से बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पंचम शिलालेख में उसने अपने भाइयों बहनों तथा अन्य सम्बन्धियों के प्रति अपनी जो शुभ इच्छायें प्रकट की हैं उससे स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि वह पारिवारिक जीवन को काफी महत्व देता था और उसे सुखी बनाने का सतत प्रयास करता था। स्तम्भलेख सात से यह ज्ञात होता है कि अशोक की कई रानियाँ तथा पुत्र थे। साहित्यिक स्रोतों से अशोक की पाँच रानियों का बोध होता है (लघु स्तम्भलेख में उल्लिखित कारुवाकी को छोड़ कर अन्य चार रानियाँ)। इससे यह भी पता चलता है कि अशोक के ज्येष्ठ पुत्र का नाम महेन्द्र तथा ज्येष्ठ पुत्री का नाम संघमित्रा था जिनकी माता का नाम शाक्यकुमारी था। अशोक ने अपने सम्बन्धियों की दान-व्यवस्था का भी प्रबन्ध कर दिया था जिससे उनमें उच्चकोटि की नैतिकता का संचार हो सके। इस प्रकार हम अनुमान लगा सकते हैं कि अपने परिवार में मानव

अशोक की स्थिति काफी सुदृढ़ थी और उसके परिवार के सदस्य उसे अपना पथप्रदर्शक मान कर उसका अनुकरण करने लगे होंगे।

अशोक ने स्वयं अपने अभिलेख में कहा है कि वह राज-काज करने में अथक लगा था। इससे यही परिलक्षित होता है कि उसका अधिकांश समय प्रजा की सेवा में व्यतीत हो जाता था। जो कुछ समय राज-काज के पश्चात् बच जाता था उसमें वह धर्म प्रचार, धर्मश्रावण, धर्म चिन्तन आदि करता था। बाह्य विडम्बनाओं से दूर रहनेवाला अशोक भोग विलास को क्या महत्त्व देता रहा होगा इसे स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि अशोक वास्तविकता को समझने वाला होने के नाते राज-सुख से ही सन्तुष्ट रहा। उसने अपने अभिलेखों में अपनी प्रजा को इहलोक तथा परलोक में सुखी रहने की कामना प्रकट की है। किन्तु अशोक इहलोक के सुख से क्या अर्थ लेता था यह उसके अभिलेखों में नहीं बतलाया गया है। फिर भी इसको अन्यत्र भौतिक सुख से मान कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अशोक अपनी प्रजा की आर्थिक एवं जीवन सम्बन्धी अन्य उन्नति के लिए इच्छुक रहता था जिसका प्रयोग वह अपने वैयक्तिक जीवन में भी करता था।

अशोक का इतिहास में स्थान

अशोक के कल्याणकारी कार्यों के विषय में, उसके श्रेष्ठ शासन प्रबन्ध के विषय में एवं कुशल आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों से हम लोग पूर्णतया परिचित हैं। सम्राट् अशोक जैसा नरेश भारतीय इतिहास में ही नहीं किन्तु विश्व के इतिहास में भी प्राप्त होना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने उसकी तुलना विभिन्न प्रसिद्ध सम्राटों से की है। कुछ लोगों ने उसे रोमन सम्राट् कान्स्टैन्टाइन के समान कोटि में रखा है। जब कान्स्टैन्टाइन को ईसाई धर्म की पतन की स्थिति पर पहुँचाने का उत्तरदायित्व दिया जाता है तब ही अशोक का बौद्ध धर्म स्वीकार करना और उसको संघ में प्रवेश करना बौद्ध धर्म की अवनति का कारण बना। डॉ० राइस डेविड्स (Dr Rhys David) ने लिखा है—

> Asoka's conversion to Buddhism and his munificent endowments to the Samgha were the first step in the downward path of Buddhism, the first step to its expulsion from India. (*Buddhism*)

परन्तु सम्राट् अशोक की कान्स्टैन्टाइन से तुलना करके उसे बौद्धधर्म के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। किसी एक विद्वान के शब्दों में—

> Constantine espoused a winning cause where Asoka put himself at the head of a religion which had made little headway. Constantine was calculating, shrewd, suspicious, often cruel, cynical, whose one great instance of consummate foresight entitles him to be called Great.

परन्तु भण्डारकर के अनुसार अशोक ने बौद्धधर्म को एक स्थानीय धर्म से उसे विश्वव्यापी धर्म बनाया था। उन्हीं के शब्दों में—

> Asoka on the other hand was possessed of lofty ideals and employed his shrewdness and calculating powers to raise Buddhism from a narrow provincial sect that it was to the position of a

worldwide religion

कान्स्टैन्टाइन राजनैतिक कारणों के कारण ही सहिष्णु बना था। परन्तु अशोक की सहिष्णुता सहृदयता एवं शुद्ध सदाचार का प्रत्यक्षीकरण थी। क्योंकि किसी भी प्रकार के राजनैतिक दृष्टिकोण से वह प्रभावित नहीं था। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कान्स्टैन्टाइन धर्म के प्रति उसके विचार परिवर्तित हो गए थे। भण्डारकर महोदय के शब्दों में दोनों सम्राटों के विचारों में आकाश पाताल का अन्तर—

Constantine displayed a reaction toward paganism and at its best his religion was a strange jumble. Asoka never evinced such moral degeneration and from beginning to end he held fast to the same Dhamma.

मकफेल (Macphail) ने अपनी पुस्तक में अशोक की तुलना मार्कस औरेलियस एण्टोनियस (Marcus Aurelius Antoninus) से की है जिसने कि १२१ ई० से १८० ई० तक रोम पर शासन किया था। यद्यपि वह व्यक्तिगत सदाचार के लिए अशोक की कोटि में रखा जाता है परन्तु आदर्श की श्रेष्ठता तथा उत्साह एवं लगन की एकता के प्रदर्शन में भारतीय सम्राट औरेलियस को मात कर देता है। औरेलियस के विषय में कहा जाता है—

He was Roman in civil nobility and pride, Roman in tenacity of imperial aim and that the profession of Christianity remained under the inner Hellenism and the Christians as such were judiciable liable to death just because the prevalence of Christianity was incompatible with his ideal of Roman prosperity.

परन्तु सम्राट अशोक इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्तियों से संचालित एवं प्रेरित नहीं था। उसने सम्पूर्ण मानव समाज की उन्नति एवं प्रगति के लिए अथक प्रयास किया था। अतएव औरेलियस से भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती है। सम्राट अशोक विश्व का अद्वितीय एवं अपूर्व सम्राट रहा था एवं रहेगा।

मकफेल ने इस सम्राट की तुलना में कुछ अन्य नरेशों के नाम उद्धृत किए हैं जैसे अलफ्रेड, चार्लमेन, उमर खलीफा प्रथम आदि। यद्यपि विश्व में अनन्त से कुशल शासक एवं निपुण योद्धा नरेश हुए हैं परन्तु सम्राट अशोक की जैसी विजय शायद ही किसी ने प्राप्त की हो। सम्राट की विजय जनता जनार्दन के हृदय एवं दिल पर विजय थी। उसकी विजय स्थायी एवं अमर विजय है।

केवल जिस सम्राट से उसकी तुलना वस्तुतः सार्थक एवं न्यायसंगत है वह सम्राट भारत का ही एक विभूति है और जिसने मध्यकालीन युग में देश में राष्ट्रीयता की लहर से सबको आप्लावित किया था। अकबर महान ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिए एवं अपनी जनता की सब सुविधा के लिए कठोर अध्यवसाय किया था। परन्तु जिस क्षेत्र में उसकी तुलना सम्राट अशोक से की जाती है वह है उसकी धार्मिक सहिष्णुता। उसने दीन इलाही नामक एक एकेश्वरवाद धर्म की स्थापना भी की थी। परन्तु अन्ततः अकबर की यह सब नीतियाँ राजनैतिक स्वार्थ से प्रेरित होती थीं। तभी तो एक विद्वान ने कहा है—

Akbar was before all things a politician and a man of the world and was in no mood to endanger his sovereignty for the cause of religious truth.

यही नहीं दीन इलाही के प्रचार के लिए उसमें उत्कट लगन एवं अध्यवसाय का अभाव था और यद्यपि वह एक शक्तिशाली सम्राट था तथापि तब भी दीन इलाही सम्प्रदाय अपनी सीमाओं से परे नहीं व्याप्त हो सका और संस्थापक की मृत्यु के साथ इस नवोदित सम्प्रदाय की भी अंतिम संस्कार क्रिया कर दी गई।

विश्व के महान इतिहासकार विश्व के महानतम सम्राटों में सिकन्दर महान, सीज़र एवं नेपोलियन को रखते हैं। वे वस्तुतः समाज में बहुत बड़े थे भी महान योद्धा एवं महान शासक थे। परन्तु किसी का योद्धा एवं शासक में महान होना उसे महान सम्राट की उपाधि से विभूषित नहीं कराता। एच० जी० वेल्स (H G Wells) पूछता है—

What were their permanent contributions to human ...—these three who have appropriated to themselves so many of the pages of our history?

इन तीन व्यक्तियों ने अपने राष्ट्र के लिए यद्यपि बहुत कुछ किया था परन्तु मानवता के कल्याण के लिए इन तीनों ने कुछ विशेष कार्य नहीं किया था। परन्तु अशोक वास्तविक रूप में उपयुक्त तथाकथित महान सम्राटों से भिन्न था। उसने जनता के कल्याण के लिए भगीरथ प्रयास किया था। अतएव इस दृष्टि से प्रत्येक अंग में महान सम्राटों की कोटि में रख सकते हैं। तभी तो एच० जी० वेल्स ने लिखा है—

Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of history, their majesties and graciousnesses and serenities and royal highnesses and the like, the name of Asoka shines and shines almost alone, a star. From the Volga to Japan his name is still honoured. China, Tibet and even India, though it has left his doctrine, preserves the tradition of his greatness. More living men cherish his memory today than have ever heard the names of Constantine or Charlemagne.

डा० कोप्लेस्टन (Dr Copleston) ने अशोक को एक साथ दो महान व्यक्तियों के तुल्य बताया है। लिखिए—

He was not merely the Constantine of Buddhism, he was Alexander with Buddhism for Hellenism, an unselfish Alexander with mettam in the place of glories.

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने अशोक के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"Asoka is one of the most interesting personalities in the history of India. He had the energy of a Chandragupta, versatility of a Samudragupta and the catholicity of an Akbar. He was tireless

in his exertion and unflagging in his Zeal—all directed to the *promotion of the spiritual and material welfare of his people* whome he looked upon as his children

अशोक के उत्तराधिकारी

अशोक की मृत्यु के उपरान्त मौर्य साम्राज्य का इतिहास अत्यन्त तिमिरावृत हो जाता है। उसके उत्तराधिकारियों का जो विवरण बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है वह इतना अस्पष्ट और परस्पर विरोधी है कि उसके आधार पर मौर्य साम्राज्य के परिवर्ती इतिहास का निर्माण करना अतीव दुष्कर कार्य प्रतीत होता है। इतना निश्चित है कि अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति दिनोदिन गिरती ही गई। ऐसा एक भी प्रतापी और पराक्रमी नरेश नहीं हुआ जो पतन की इस तीव्रगामी प्रक्रिया को रोककर अपने वंश के गौरव को प्रतिष्ठित करता। परिणाम यह हुआ कि पराक्रमी चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित साम्राज्य शीघ्र ही ध्वस्त हो गया।

अशोक के पाँच पुत्रों का उल्लेख विभिन्न स्रोतों में किया गया है। इनके नाम हैं कुणाल, तीवर, महेन्द्र, कुस्तन और जालौक। इनमें से अशोक के उपरान्त सिंहासनारूढ़ कौन हुआ इस बात पर बौद्ध, जैन और ब्राह्मण अनुश्रुतियों में परस्पर काफी अंतर है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के बाद कुणाल का पुत्र सम्पदी या सम्प्रति राजा हुआ। वायु पुराण का साक्ष्य है कि अशोक के राज सिंहासन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुणाल हुआ जिसने आठ वर्षों तक शासन किया। किन्तु एक अन्य अनुश्रुति उसे अन्धा बतलाती है। कहा जाता है कि उसके नेत्रों की सुन्दरता के कारण उसका नाम कुणाल पड़ा था और अपनी विमाता तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या के कारण उसे अपने नेत्रों से हाथ धोना पड़ा था। यदि वह अन्धा था तो सम्भवतः उसकी स्थिति महाभारत के धृतराष्ट्र की सी थी और यद्यपि वह सम्राट समझा जाता था तथापि उसकी शक्ति नाममात्र की ही थी। शारीरिक दृष्टि से अयोग्य होने के कारण राज्य भार उसके प्रिय पुत्र सम्प्रति को दे दिया गया जिसको बौद्ध और जैन लेखकों ने अशोक का उत्तराधिकारी बतलाया है।[1]

कुणाल के उत्तराधिकारियों के विषय में भी अनुश्रुतियाँ परस्पर विरोधी बातें कहती हैं। वायु पुराण के अनुसार अशोक का पुत्र बन्धुपालित था। दिव्यावदान तथा जिन प्रभसूरि के पाटलिपुत्र कल्प के अनुसार वह सम्पदी या सम्प्रदी या सम्प्रति था और तारानाथ के अनुसार विगतशोक महान सम्राट अशोक का पुत्र था। या तो ये राजकुमार एक ही व्यक्ति थे अथवा ये भाई थे। यदि भाई होनेवाला सिद्धान्त ठीक हो तो बन्धुपालित का समीकरण दशरथ के साथ किया जा सकता है। दशरथ की ऐतिहासिकता के प्रमाण उपलब्ध हैं। दशरथ की प्रवृत्ति धर्म की ओर अधिक थी। उसने नागार्जुनी की पहाड़ियों में आजीविकों के लिए कन्दरा-गृहों का निर्माण करवाया था। इससे मालूम पड़ता है कि इस समय भी आजीविकों का सम्प्रदाय विद्यमान था। दशरथ के समय में मगध साम्राज्य से कलिंग का प्रान्त पृथक हो गया था। अभिलेखों में अशोक की भाँति दशरथ के लिए भी 'देवानांप्रिय' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। दशरथ सम्भवतः पुत्रहीन था अतएव उसका भाई सम्प्रति उसका

---

1 *Polical History of Ancient India* p 3,1

उत्तराधिकारी हुआ। सम्प्रति का नाम अधिकांश पौराणिक वंशावलियों में आता है। इसके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध लेखकों ने भी उसका उल्लेख किया है। अतएव सम्प्रति को भी ऐतिहासिक मगध का शासक मानना समीचीन जान पड़ता है। अशोक के बाद मौर्यवंश में जितने भी शासक हुए उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण सम्प्रति ही था। उसने मगध के सभी भागों पर अपना अधिकार बनाये रक्खा। डा० स्मिथ का कथन है कि दशरथ और सम्प्रति एक ही समय में पश्चिमी-पूर्वी भारत में शासन कर रहे थे। स्मिथ साहब के कथनानुसार अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। परन्तु अनेक विद्वानों को स्मिथ की यह धारणा मान्य नहीं है। सम्भवतः सम्प्रति ने दो राजधानियों का प्रयोग किया था। उसकी एक राजधानी पाटलिपुत्र और दूसरी अवन्ति में थी। जैन ग्रन्थों में सम्प्रति को सम्पूर्ण भारत का राजा कहा गया है। बौद्ध अनुश्रुति में जो स्थान अशोक का है वही जैन अनुश्रुति में सम्प्रति का है। सम्प्रति ने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था और जिनप्रभसूरि के अनुसार वह एक महान अर्हन्त था जिसने अनार्य देशों में भी श्रमणों के लिए विहार बनवाये थे।

सम्प्रति के बाद मौर्य वंश का इतिहास और भी अधिक अन्धकारमय है। किन्तु सम्भवतः यह बात ठीक जान पड़ती है कि बृहद्रथ मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट था। वह विलासी और अकर्मण्य था और सेना के सम्पर्क से सर्वथा विलग रहता था। फलतः उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के सामने ही उसका वध कर दिया और मौर्य साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

मौर्य साम्राज्य का पतन अपेक्षाकृत शीघ्र ही हुआ। जिस राज्य की नींव चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान सम्राट ने डाली थी और जिसे कौटिल्य जैसे बुद्धिमान दूरदर्शी तथा कूटनीतिज्ञ अमात्य ने सुविकसित तथा सुदृढ़ शासन व्यवस्था से परिपुष्ट किया था और जिसके गौरव की अभिवृद्धि अशोक महान ने की थी उसका इतनी शीघ्र धराशायी हो जाना कुछ विस्मय अवश्य उत्पन्न करता है। सबसे पहले मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों पर महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने विचार किया था। विद्वान पण्डित अनेक तर्क वितर्क के बाद इस तर्क पर पहुँचे थे कि अशोक की ब्राह्मण विरोधिनी नीति ने मौर्य साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया और अन्त में एक ब्राह्मण सेनानायक ने ही इसका उन्मूलन भी किया। किन्तु डा० राय चौधरी ने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तर्कों द्वारा महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के प्रत्येक तर्क का खण्डन कर दिया है।[1] इसके अतिरिक्त राय चौधरी महोदय ने उन कारणों का उल्लेख भी किया है जिन्होंने मौर्य साम्राज्य के पतन को एक शीघ्रगामी प्रक्रिया और कालान्तर में एक अवश्यम्भावी तथ्य बना दिया। हम उन्हीं कारणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

मौर्य साम्राज्य के पतन का सबसे प्रबल और महत्त्वपूर्ण कारण था इसकी विघटनात्मक प्रवृत्ति। अशोक के समय तक तो इस विशाल साम्राज्य के ऊपर एक सुदृढ़ शासन सत्ता का प्रभाव जमा रहा किन्तु बाद में ज्योंही उसकी मृत्यु हुई साम्राज्य के विभिन्न भाग इससे पृथक् होने का विचार करने लगे। अवसर प्राप्त होते ही विभिन्न

[1] इस विषय के पूर्ण विवरण के लिए देखिए *Political History of Ancient India* pp 3[illegible]4—361

प्रान्तों के शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार अशोक का दूसरा पुत्र काश्मीर में स्वतन्त्र शासक बन बैठा। उसने कन्नौज तक के देश को विजित भी किया। उसके लिए यह भी कहा है कि उसने 'म्लेच्छों' के आक्रमणकारी दल का दमन किया। इस दमन से तात्पर्य सम्भवतः बैक्ट्रियन यूनानियों के आक्रमण के दमन से है। एक प्रान्तीय शासक का इतना अधिक शक्तिशाली हो जाना इस बात को सिद्ध करता है कि इस समय साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति का सवेग ह्रास हो रहा था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार अशोक के एक वीरसेन नामक उत्तराधिकारी ने गान्धार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। कदाचित् वीरसेन मौर्य साम्राज्य का एक प्रान्तीय शासक था किन्तु जब उसने साम्राज्य की शक्ति को क्षीण होते देखा तो तुरन्त अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि विदर्भ भी साम्राज्य से पृथक् हो गया था। यूनानी लेखक पोलिबियस ने उत्तरी पश्चिमी सीमा के एक स्वतन्त्र भारतीय शासक का उल्लेख किया है। इसका नाम सोफगसानस (Sophagasenus) (सुभगसेन) बतलाया है। सुभगसेन शायद वीरसेन का ही एक उत्तराधिकारी था। पोलीबियस के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुभगसेन एक स्वतन्त्र नृपति था छोटा मोटा सरदार या प्रान्तीय शासक नहीं। इसी प्रकार अशोक की मृत्यु के बाद किसी समय कलिंग का राज्य भी मौर्यों के हाथ से निकल गया। इस तरह हम देखते हैं कि अशोक के मरने के बाद मौर्य साम्राज्य में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति इतनी बलवती हो गई कि उसको बाद में रोका न जा सका। इसको रोकने के लिए किसी शक्तिशाली नरेश की आवश्यकता थी किन्तु अशोक के उत्तराधिकारियों में से कोई भी प्रभावशाली न निकला। अतएव मौर्य साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि प्रान्तीय शासकों का प्रजाजनों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं था। वे उनको उत्पीड़ित करते थे। दिव्यावदान नामक ग्रन्थ द्वारा इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ता है। बिन्दुसार के समय में तक्षशिला के लोगों ने मन्त्रियों के प्रजापीड़क शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। दिव्यावदान का कथन है "अथ राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राजा बिन्दुसारेण अशोको विसर्जितः ... यावत् कुमारश्चतुरङ्गेण बलकायेन तक्षशिलां गतः श्रुत्वा तक्षशिला निवासिनः पौराः प्रत्युद्गम्य च कथयन्ति न वयं कुमारस्य विरुद्धा नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य अपितु दुष्टामात्या अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति।" अर्थात् तक्षशिला का नगर राजा बिन्दुसार के विरुद्ध हो गया। वहाँ पर राजा बिन्दुसार के द्वारा अशोक भेजा गया। जब तक कि कुमार चतुरंगिणी सेना लेकर पहुँचते हैं उनके आगमन का समाचार सुनकर तक्षशिला नगर के निवासी नागरिक पहुँचकर कहते हैं हम कुमार के विरुद्ध नहीं हैं और न राजा बिन्दुसार के ही। किन्तु दुष्ट मन्त्रिगण हमारा अपमान करते हैं। अशोक के समय में एक बार फिर तक्षशिला के नागरिकों ने विद्रोह कर दिया और इस बार भी विद्रोह का कारण मन्त्रियों का प्रजापीड़न ही था। इस बार अशोक ने विद्रोह का दमन करने के लिए अपने पुत्र कुणाल को भेजा। कुणाल को भी नगरनिवासियों द्वारा वही उत्तर प्राप्त हुआ जो कुछ समय पूर्व अशोक को मिला था। दिव्यावदान के साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय अधिकारी प्रजावत्सल नहीं थे। अशोक के एक अभिलेख से भी दिव्यावदान के कथन की पुष्टि होती है। इस अभिलेख से पता चलता है कि राजकीय पदाधिकारियों का

कुशासन केवल गान्धार के दूरवर्ती प्रान्त तक ही सीमित नहीं था वरन् उज्जैन आदि प्रान्तों की स्थिति गान्धार की स्थिति से कुछ विशेष अच्छी न थी। इस प्रकार जब जनता का विश्वास मौर्यों की शासन सत्ता के प्रति न रह गया तो उनके पतन की प्रक्रिया और अधिक तीव्र हो गई।

मौर्य साम्राज्य के पतन में अशोक कहाँ तक उत्तरदायी था इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अशोक की अहिंसावादी नीति ने साम्राज्य की सैनिक शक्ति और सामरिक प्रवृत्ति को शिथिल कर दिया। परन्तु अन्य विद्वान यह कहते हैं कि यद्यपि अशोक ने भेरी घोष के स्थान पर धम्मघोष सुनने का प्रण कर लिया था तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसने अपनी सैन्य शक्ति कम कर दी थी। लेकिन हमारा विश्वास है कि अशोक की अहिंसात्मक नीति साम्राज्य के विकास अथवा उसको चिरस्थायी करने की दृष्टि से अनुकूल नहीं थी। उसने रण नीति का त्याग करके अपने साम्राज्य में धर्म और अध्यात्मवाद के जिस वायुमण्डल का निर्माण किया उसके लिए कोई भी इतिहासकार उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता परन्तु उसकी इस नीति ने सैनिकों की रण-कुशलता और सामरिक प्रवृत्ति का निस्सन्देह दमन किया। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि धर्म और आध्यात्मिकता के इस वातावरण में जहाँ से सभी प्रकार की हिंसा का निर्वासन कर दिया गया हो सैनिकों की रणकुशलता को कोई प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो सकता। अशोक के शान्तिमय शासन काल ने एक ऐसे युग को जन्म दिया जिसमें शान्ति सामाजिक उन्नति धर्म प्रचार का व्यापक रूप से प्रसार होता है किन्तु उसके साथ ही राजनैतिक अचेतनता और पराजित सैनिक दुर्बलता भी आ जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि सबल साम्राज्य की सैनिक शक्ति धीरे धीरे नष्टप्राय हो जाती है। कदाचित साम्राज्य की सैनिक शक्ति के ह्रास के कारण ही प्रान्तीय शासकों को स्वाधीनता की घोषणा करने की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी क्योंकि उन्होंने भलीभाँति सोच लिया कि उनके विद्रोह को कुचलने के लिए मौर्य सम्राटों के निकट समुचित साधन नहीं हैं। इसी प्रकार श्याम के यूनानी राजाओं ने अशोक की धर्मानुरागिता की नीति को उसके जीवनकाल तक तो स्वीकार किया किन्तु उसके मरते ही उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया और उन्होंने भारतीय सीमा पर अपनी गृद्ध दृष्टि जमायी। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि अशोक की शान्ति और अहिंसा नीति मौर्य साम्राज्य के पतन के अनेक कारणों में से केवल एक कारण के ही रूप में थी इसको सबसे बड़ा कारण बताना ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करना है।

दिव्यावदान से एक अन्य बात का भी संकेत प्राप्त होता है जिससे मौर्य साम्राज्य के पतन का रहस्य खुल मिलता। दिव्यावदान की एक कथा से ज्ञात होता है कि अशोक बौद्ध संघ को इतना प्रभूत दान देता गया कि उसका राजकोष खाली होने लगा। एक बार जब उसने फिर एक बौद्ध संघ को काफी दान देने का विचार किया तब उसके अमात्यों ने उसका विरोध किया और इस बात का निर्देश किया कि [illegible] जा रहा है। एक अनुश्रुति यहाँ तक कहती है कि अशोक का राज्य छीन लिया गया और उसके बाद राजसिंहासन उसके पौत्र सम्प्रति को प्राप्त हुआ। यद्यपि हम इन अनुश्रुतियों को अक्षरशः सत्य नहीं मान सकते तथापि इस बात की सम्भावना अवश्य प्रतीत होती है कि अशोक की दानशीलता साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को उसी प्रकार खोखला कर रही थी जिस प्रकार धर्म नीति सैनिक शक्ति का

ह्रास कर रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक की दानवीरता उसके व्यक्तित्व का एक उज्वल पक्ष हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उसका यह उज्वल पक्ष दूरदर्शितापूर्ण नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य छोटे मोटे कारणों से भी मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। मौर्य साम्राज्य की सीमायें इतनी दूर तक फैली थीं कि एक ही केन्द्रीय व्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण साम्राज्य के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करना असम्भव तो नहीं किन्तु कष्टसाध्य अवश्य था। उन दिनों जब कि यातायात और गमनागमन के सुविकसित साधनों का अभाव था मौर्य साम्राज्य का एक शताब्दी तक सुव्यवस्थित शासन के अधीन शान्तिपूर्ण अवस्था में रहना सचमुच विस्मय उत्पन्न करता है। परन्तु योग्य शासकों के अभाव में इतने विशाल भूभाग का एक ही शासन सत्ता के अधीन रहना असम्भव था। अतएव अशोक के बाद जब शासन अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में शासन सूत्र गया तब साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने लगे। इसी प्रकार अन्तःपुर तथा राजदरबारियों के षड्यन्त्रों से भी साम्राज्य की शक्ति को एक प्रबल आघात पहुंचा होगा। मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि बृहद्रथ के समय में मौर्य सम्राट की राजसभा में दो परस्पर विरोधी दलों का निर्माण हो गया था। एक दल सेनापति का था और दूसरा प्रधान सचिव का। इन दोनों दलों में सदैव पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बनी रहती थी जिससे सहयोगपूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं होने पाती थी। फल यह हुआ कि सम्राट तथा साम्राज्य की शक्ति का दिनोंदिन ह्रास होता गया। अन्त में बृहद्रथ के समय में पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य सम्राट का वध करके राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया।

Questions

Lucknow University

1. Describe after Megasthenes the municipal administration of Chandragupta Maurya (1944)

2. Write a critical note on Chandragupta Maurya under the following heads (1945)
   - (a) his ancestry
   - (b) date of accession
   - (c) his conquest (1946)

3. Give an account of the ancestry and early life of Chandra Maurya (1946)

4. मेगस्थनीज (Megasthenes) ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सैन्य विभाग के संगठन (Military Organization) के विषय में क्या लिखा है? विस्तार पूर्वक लिखिए। (१९५०)

5. चन्द्रगुप्त मौर्य कौन था? उसके प्रारम्भिक जीवन और राज्य विस्तार के विषय में आप क्या जानते हैं? (१९५१)

6. मेगस्थनीज के वृत्तान्त के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पाटलिपुत्र नगर की शासन व्यवस्था का उल्लेख कीजिए। (१९५३)

7 What do you know about the Maurya administration? Describe it in detail (1955)

८ चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन प्रणाली तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालिए। (१९५७)

9 What do you understand by the Dhamma of Asoka? State the doctrines and practices making up the Dhamma which the empire presents in his edicts (1945)

10 State the innovations introduced by Asoka in the Mauryan system of administration (1946)

11 Classify the inscriptions of Asoka What light do their find spots throw on the question of the extent of his empire? What are the other sources to be taken into consideration for the purpose (1947)

12 State the evidence bearing on Asoka's personal religion (1948)

13 What are the main principles of Asoka's Dhamma? Specify the measures adopted by him for the propagation both within and outside his empire (1949)

१४ अशोक ने भारत तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए क्या किया?

१५ अशोक के लेख किन स्थानों पर प्राप्त हुए हैं? उनके आधार पर उसके राज्य का विस्तार निर्धारित कीजिए। (१९५२)

१६ अशोक के धम्म की विवेचना कीजिए। भारत में तथा विदेशों में उसके प्रसार के लिए उसने कौन-कौन से साधनों का उपयोग किया? (१९५३)

१७ मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए। (१९५४)

१८ अशोक ने अपने 'धम्म' प्रचार के लिए किन किन साधनों का प्रयोग किया। (१९५५)

१९ मौर्य वंश के पतन के कारणों का विश्लेषण कीजिए। (१९५६)

२० अशोक को आतीय सम्राट कहा जा सकता है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।

Agra University

1 Indicate the plan on which was modelled the Mauryan Municipal administration with its various departments and specify their respective functions (1943)

2 Describe the successive stages of the growth of Mauryan empire Draw also a map of India showing the provinces in the empire of Asoka over which Kumar Gupta I held no political sway in c 430 A D (1945)

3 Describe the career and achievements of Chandra Gupta Maurya Compare the extent of his empire with that of Chandra Gupta II of the Gupta dynasty (1946)

4 What light does Megasthenes and *Artha astra* throw on the civic administration and economic condition in the empire of Chandra gupta Maurya (1947)

5 Describe the successive stage of the growth of the Mauryan empire under Chandragupta and Bindusara (1952)

6 Classify the inscriptions of Asoka and indicate their find spots (1942)

7 What are the special features of the Dhamma of Asoka? What are the measures adopted by that emperor to popularize his religion both within and outside his empire? (1943)

8 What were the ideals of kingship that were followed by Asoka? What was his contribution towards the unification and security of India? (1944)

9 Amidst the tens and thousands of names of monarch that crowded the columns of history the name of Asoka shines and shines almost alone a star (H G Wells)

Comment upon the above remark

10 Write a short note on the inscription of Asoka and assess the value of these inscriptions for an estimate of the great empire? (1947)

11 State the innovation which Asoka introduced in the Mauryan system of administration (1948)

12 State the religious policy of Asoka (1948)

13 (a) What are the evidences that Asoka was a Buddhist?
(b) State his religious policy (1951)

14 Discuss the causes of the downfall of the Mauryan empire (1951)

15 Asoka was a great builder How far does the testimony of his monuments bear the truth of this remark? (1959)

Allahabad University

1 Describe the administrative system under Chandragupta Maurya on the basis of Indian and Greek source (1955)

2 Discuss fully the nature and importance of the various source of Mauryan history (195)

3 Form an estimate of the achievements of Chandragupta Maurya (1958)

4 What do you know of the origin and early life of Chandragupta Maurya? (1959)

5 Comment on the religious policy of Asoka and how far it was responsible for the downfall of India (1955)

6 What do you understand by Asoka's Dhamma Describe the methods adopted by him for its propagation (1956)

7 Describe the Dhamma of Asoka and his missionary activities (1957)

8 Give a critical estimate of Asoka's administration (1957)

9 Analyze critically the causes of the downfall of Mauryan Empire (1957)

10 How did the Kalinga war make a new era in the history of India (1958)

11 Form an estimate of Asoka as a ruler (1950)

12 Analyze the causes of the downfall of the Mauryas (1959)

I A S Questions

1 Give with reference to sources full account of the administrative system of the Mauryan empire indicating the changes introduced into it by Asoka (1947)

१४ | मौर्यकालीन सभ्यता, संस्कृति और समाज

मौर्य युग का भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांस्कृतिक उपलब्धियों (Achievement) और सामाजिक संगठन के क्षेत्र में इसकी गौरवशालिनी सफलतायें आज भी इतिहास के विद्यार्थी को विस्मय में डाल देती हैं। सुदूर व्यापिनी [illegible] काल [illegible] निक [illegible] और संस्कृति की पुष्टता प्राप्त हुई। अन्य देशों के इतिहास में भी प्रायः यह देखा गया है कि राजनीतिक गौरव के साथ ही साथ सांस्कृतिक अभ्युत्थान का अध्ययन भी प्रारम्भ होता है। पेरीक्लीज के समय का एथेन्स, आगस्टस के समय का साम्राज्यवादी रोम और सम्राज्ञी एलिजाबेथ के काल का इंगलैंड इसी प्रकार की विचारधारा को पुष्ट करते हैं। यदि हम भारतीय इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण चाहते हों तो हमारी दृष्टि में सबसे प्रथम स्थान मौर्य युग को ही प्राप्त होता है। आगे चलकर गुप्तों के शासनकाल और मुगल सम्राट अकबर के समय में भी हम यही बात दिखलाई पड़ती है। एक बात ध्यान में रखकर कि कभी कभी सांस्कृतिक विकास की यह धारा प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर भी प्रवहमान रहती है हम मौर्य साम्राज्य की राजनीतिक सफलताओं पर केवल विहंगम दृष्टि डालते हुए इसकी सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं पर विचार कर लेना चाहते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर लिखते हुए डा० विन्सेंट स्मिथ कहते हैं "इस प्रकार भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट ने आज से दो हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व उस वैज्ञानिक सीमा को पार किया जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में मुगल सम्राटों ने भी पूर्णतया अपने अधिकार में नहीं रक्खा।" भारत की इस वैज्ञानिक सीमा का अतिक्रमण कर हिन्दूकुश की चोटी पर अपनी कीर्ति ध्वजा फहराने वाले पराक्रमी चन्द्रगुप्त मौर्य ने सुदूर दक्षिण तक अपनी सैन्य-सफलताओं का सिक्का जमाया। बिन्दुसार और अशोक की सैनिक सफलताओं ने न केवल इस विस्तृत साम्राज्य सीमा को सुदृढ़ और पूर्ण बनाने में सहायता की अपितु इसका और अधिक विस्तार भी किया। कलिंग का समृद्ध प्रान्त मौर्य साम्राज्य का एक अंग बन गया और सुदूर दक्षिण के तामिल राज्य भी इसमें मिला लिये गये। इस विशाल भू भाग पर उचित रूप से शासन करने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सुसंगठित शासन-व्यवस्था का विकास किया। एक दीर्घ कालीन शासन अवधि तक मौर्य सम्राटों ने इसी शासन व्यवस्था की सहायता से भारतवर्ष को बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों एवं विप्लवों से विमुक्त रक्खा। शासन-व्यवस्था कुछ कठोर अवश्य थी क्योंकि अपराधों को कम करने के लिए सम्राट ने एक अति कठोर दण्डनीति का आश्रय ग्रहण किया लेकिन कठोरता के बावजूद भी इस शासन-व्यवस्था में अनेक गुण थे जिन्हें हम भुला नहीं सकते। प्रसिद्ध विद्वान

श्री इ० वी० हवेल ने उन गुणों की प्रशंसा करते हुए ठीक ही कहा है "चन्द्रगुप्त ईरान के राजाओं की भाँति निरंकुश नहीं था उसने कभी भी ईरानी ढंग के एकतन्त्र शासन का व्यवहार में लाने की चेष्टा नहीं की—उसकी नीति तो वास्तव में आर्यावर्त को शक्तिशाली बनाना था इसलिए उसने कई आर्यकुलों में प्रचलित शासन के प्रजातान्त्रिक स्वरूप को समाप्त नहीं होने दिया और ग्राम पंचायतों के परम्परागत अधिकारों और उनके स्थानीय स्वायत्त शासन को एक उच्च कोटि के कर्मचारितन्त्र की स्थापना करने के बाद भी अक्षुण्ण बना रहने दिया। आर्यावर्त के प्रचलित विधान के अनुसार वह सदा एक वैधानिक शासक के रूप में व्यवहार करता था। अर्थशास्त्र में कठोर नियमों की व्यवस्था भले ही की गई हो किन्तु यह राजा के स्वेच्छाचारी अधिकारों का प्रदर्शन कभी नहीं करता। जनता के प्रति उसके विभिन्न और अनेक कर्तव्यों का उल्लेख उसमें बार बार मिलता है। चिकित्सालयों और स्वच्छता की ओर जो ध्यान दिया गया था दुर्भिक्ष के समय में कृषकों और दरिद्रों के लिए जो व्यवस्था की गई थी तथा कर वसूल करने के लिए जिन नियमों की सावधानी के साथ रचना की गई थी वे सभी चन्द्रगुप्त की कुशल तथा उदार राजनीतिज्ञता का परिचय देते हैं। विशाल साम्राज्य ने स्वामियों को आर्थिक समृद्धि के अनेक अभिनव साधन प्रस्तुत किये जिससे उनके वैभवपूर्ण भौतिक जीवन की नींव पड़ी। आर्थिक समृद्धि के कारण उनके हृदयों में मनुष्य के इहलौकिक पक्ष जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ जिससे सभ्यता का विकास हुआ। शान्ति सुख और समृद्धि के वातावरण में सफल कलाओं और समस्त विद्याओं के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो गईं जिससे सांस्कृतिक उन्नति का मार्ग निष्कण्टक हो गया। 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते' की नीतिवित मौर्य काल में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो गई।

सामान्य विशिष्टताएँ

मौर्यकालीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों पर हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे किन्तु पहले उसकी कतिपय सामान्य विशिष्टताओं पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। मौर्यकाल प्रधान रूप में विचारों की स्वतन्त्रता का युग था। विचारों की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought) को आजकल पाश्चात्य संस्कृति का एक विशिष्ट गुण समझा जाता है किन्तु भारतीय संस्कृति में इस तत्त्व को ही एक सम्मानित स्थान प्राप्त रहा है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही हम विचार-स्वातन्त्र्य के दर्शन पाते हैं जहाँ एक ऋषि नासदीय सूक्त में सृष्टि की रचना पर विचार करता है। उपनिषदों की रचना ऐसे ही वातावरण में सम्भव हो सकती थी जहाँ पर पूर्ण रूप से विचार-स्वातन्त्र्य विद्यमान रहा हो। मौर्य काल में इस विचार-स्वातन्त्र्य के कारण अनेक बौद्धिक क्रियाओं का एक प्रबल उत्थान हुआ जिसकी तुलना हमें अन्य देशों के इतिहास में कठिनता से ही मिल सकती है। जैन और बौद्ध धर्म, भागवत धर्म, [illegible] विचारधारा तथा दर्शन के षट्सम्प्रदाय मौर्य युग के विचार जगत में प्रमुख उपलब्धियाँ थीं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इनका उद्भव इस युग में न हुआ और न इनके विकास की परम्परा ही इस युग तक [illegible] हो। अवरुद्ध हुआ। किन्तु इनके दार्शनिक स्वरूप का निर्माण मौर्य-युग में ही हुआ। मानव सम्बन्धी विचार [illegible] इच्छा [illegible] विद्यार्थी के लिए इन मान्यताओं [illegible] मगध मौर्य साम्राज्य और उसकी सुनियन्त्रित शासन-व्यवस्था ने [illegible] [illegible] हैं।

भाषा, साहित्य और कला के क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसके लिए मौर्य कालीन संस्कृति का महत्त्व विशेष है। वैदिक संस्कृत के स्थान पर पाणिनीय व्याकरण के नियमों द्वारा परिचालित साहित्यिक संस्कृत का विकास प्रमुखतया इसी युग में हुआ। प्राकृत के विभिन्न रूपों का जन्म भी मौर्य काल में ही समझना चाहिए। लेखन कला का विकास मौर्य काल की एक अत्यंत प्रमुख देन है। राजनीति विज्ञान और आयुर्वेद आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में काव्य और नाटक का जन्म इसी युग की विशेषतायें है।

भारतीय कला का इतिहास वास्तविक रूप में इसी युग से प्रारम्भ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ववर्ती युगों में कला थी अवश्य क्योंकि साहित्यिक कृतियों में कला की विभिन्न शाखाओं के उल्लेख प्राप्त होते है किन्तु केवल सिन्धु घाटी की कलाकृतियों को छोड़ कर हमें किसी प्राक्‌मौर्य कालीन भारतीय कला के नमूने नहीं प्राप्त होते। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य काल के पहले कलाकृतियों के निर्माण में ईंट और काठ का प्रयोग किया जाता था। इस समय से ईंट और काठ के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग किया जाने लगा। पत्थर की बनी हुई विशाल इमारतों और मूर्तियों का निर्माण मौर्य काल से बनना प्रारम्भ हुआ और कला की एक स्वदेशी परम्परा निश्चित हो गई। यह एक अचरज का विषय है कि मौर्यकाल की कुछ कलाकृतियां जिन्हें भारतीय कला के प्रथम नमूने कहा जा सकता है निर्माण-कौशल एवं सौष्ठव की दृष्टि से आज भी अनुपमेय हैं। उनकी तुलना में कोई अन्य वस्तु उपस्थित करना सरल नहीं। अशोक के स्तम्भ शीर्ष कला-नैपुण्य की एक पराकाष्ठा का निदर्शन करते हैं। किन्तु मौर्य काल की कलात्मक उपलब्धियों को सर्वथा ध्यान में रखते हुए भी हम फरग्यूसन महोदय का यह कथन नहीं स्वीकार कर सकते कि भारतीय कला का इतिहास उसके क्रमिक पतन को सूचित करता है (The History of Indian Art is written in decay)। आगे चलकर कला के क्षेत्र में भारतवासियों ने और अधिक उन्नति की ओर उनकी कला का स्तर कभी भी अत्यधिक निम्न नहीं होने पाया।

मौर्यकालीन संस्कृति का गौरव एक विशेष कारण से इसलिए भी है कि इस युग में भारतवासियों का विदेशियों के साथ अधिक निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ। विदेशी जातियों के सम्पर्क से उन्होंने कुछ नवीन बातें सीखीं और उनको अपनी जातीय विशेषताओं के अनुकूल अपनी राष्ट्रीय संस्कृति में मिश्रित कर लिया। मौर्य-युग की संस्कृति उदारता और दृष्टिकोण की विशालता के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस समय लोगों का जीवन परम्पराओं के बोझ से मुक्त था। उनकी विचारधारा में संकीर्णता अथवा असहिष्णुता का समावेश नहीं था। समुद्र पार कर अन्य देशों की यात्रा करने और वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार करने में उन्होंने किसी प्रकार की धार्मिक अथवा नैतिक बाधा का अनुभव नहीं होने दिया। यह सत्य है कि भारतवासी विदेशियों के सम्पर्क में काफी पहले हो आ चुके थे किन्तु इस काल में वह सम्पर्क काफी पुष्ट हुआ और सांस्कृतिक आदान प्रदान का कार्य इसी समय से प्रारम्भ हुआ। अशोक के धर्म महामात्रों ने महात्मा बुद्ध के दिव्य उपदेशों और भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों का प्रचार विदेशों में किया। कुछ ही समय में भारतीय जन न केवल मध्य एशिया, सीरिया और चीन में बस गये अपितु अफ्रीका और यूरोप महाद्वीपों के कुछ भागों में भी उन्होंने अपनी संस्कृति का प्रसार किया। अनेक देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का कार्य भी प्रारम्भ

हुआ और वृहत्तर भारत की नींव डालने का गौरव इस कारण से मौर्य काल को ही दिया जा सकता है।

मौर्यकालीन संस्कृति की एक अन्य विशेषता यह थी कि इसमें इहलौकिक तत्वों का उचित मात्रा में समावेश था। इस समय के भारतवासी अपने इहलौकिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं थे यद्यपि उनका ध्यान मनुष्य के पारलौकिक जीवन की ओर भी जाता था। इस काल के भौतिक जीवन का ज्ञान हमें इससे पूर्ववर्ती किसी भी युग के भारतीयों की अपेक्षा अधिक है। लोगों का जीवन साधारणतः सरल और सादा होते हुए भी ऐश्वर्यमय था। विशेष अवसरों पर वे भाँति भाँति के सुन्दर आभूषण और मन्कार वस्त्र धारण करते थे। लोगों को आभूषण इत्यादि से काफी अनुराग था। उनकी पोशाक पर जरी का काम किया होता था और उसमें रत्न जड़े होते थे। इसके अलावा वे बारीक मलमल के जालीदार कपड़े पहनने के भी शौकीन थे। उनकी रुचि कलात्मक थी। देश में धन धान्य की प्रचुरता थी।

सामाजिक अवस्था

समाज की रचना

मौर्यकालीन समाज की रचना का ज्ञान हमें अर्थशास्त्र और मगस्थनीज के विवरण द्वारा होता है किन्तु इन दोनों साधनों से जो सूचना प्राप्त होती है वह परस्पर कुछ विभिन्न प्रतीत होती है। अर्थशास्त्र में चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। इनके कर्तव्यों और साधारण जीवन के वर्णन में अर्थशास्त्र अन्य धर्मशास्त्रों से पर्याप्त समानता रखता है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह इन चारों वर्णों और उनके आश्रम धर्म की रक्षा करे। मगास्थनीज ने जाति-व्यवस्था का वर्णन कुछ विचित्र प्रकार से किया है। उसने सात जातियों का उल्लेख किया है और लिखा है कि सम्पूर्ण जनता इन्हीं जातियों में विभक्त है। ये जातियाँ निम्नलिखित थीं—(१) दार्शनिक (२) कृषक (३) गोपालक (४) कारीगर (५) सैनिक वर्ग (६) गुप्तचर या निरीक्षक और (७) अमात्य या राज्य के उच्च पदाधिकारी। मगास्थनीज ने इन जातियों का वर्णन करने के बाद लिखा है कि किसी को भी अपनी जाति के बाहर विवाह करने का अधिकार नहीं है और न कोई व्यक्ति अपनी जाति तथा व्यवसाय परिवर्तित ही कर सकता है। जातिगत नियमों की यह कठोरता निस्संदेह ब्राह्मण-ग्रन्थों का अनुसरण करता है परन्तु इस विषय में सन्देह किया जा सकता है कि मगस्थनीज का यह कथन उस युग की वास्तविक स्थिति का सूचित करता है। अन्तर्जातीय विवाह मौर्य-युग में प्रचलित थे और लोगों के व्यवसाय परिवर्तन के उदाहरण भी मिल जाते हैं। अन्तर्जातीय विवाह की पुष्टि कौटिल्य ने भी की है। मगास्थनीज के इस जाति-वर्णन के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि इससे यह प्रतीत होता है कि उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक अवस्था को समझने में त्रुटि की। उसने सम्भवतः लोगों के व्यवसायों और पेशों को उनकी जातियाँ समझ लिया। मालूम होता है कि जातियों की अपेक्षा यह लोगों के व्यवसायों से ही अधिक परिचित था। मगास्थनीज ने अपने विवरणों में कहीं भी चातुर्वर्ण्य का उल्लेख नहीं किया है। इससे कदाचित् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य-युग में समाज का विभाजन अधिकांश रूप में जातियों और व्यवसायों के

सम्मिश्रण पर ही आधारित था। ब्राह्मण ग्रन्थों में नियमों की जिस कठोरता का उल्लेख किया गया है वह समाज में प्रायः अज्ञात थी।

मेगास्थनीज के विवरणों से जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में हम चाहे जैसा समझें परन्तु इस विषय में सन्देह नहीं कि उससे तत्कालीन मौर्य काल की सामाजिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। दार्शनिकों के विषय में उसने जो कुछ भी लिखा है काफी महत्त्वपूर्ण और मनोरञ्जक है। उसने दार्शनिक वर्ग को दो भागों में विभाजित किया है (१) ब्राह्मण और (२) श्रमण। ब्राह्मण दार्शनिकों से अभिप्राय सामान्यतः ब्राह्मणों से है और श्रमण वर्ग के अन्तर्गत बौद्ध संन्यासी आते हैं जो किसी भी जाति के हो सकते थे। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित संन्यासी भी श्रमण कहे जाते थे।

मेगास्थनीज के लेखों के अनुसार ब्राह्मणों का जीवन दो अवस्थाओं में विभाजित था। प्रथम अवस्था वह थी जब ब्राह्मण सरल जीवन व्यतीत करता था। वह नगर के सम्मुख किसी कुञ्ज में निवास करता था और मद्य मांसादि वस्तुओं एवं समस्त इन्द्रिय सुखों के उपभोग से विरक्त रहता था। उसका सम्पूर्ण समय दार्शनिकों के श्रवण अथवा वार्ता में, विचारमग्न करने में व्यतीत होता था। जीवन के सैंतीस वर्षों तक इन नियमों का पालन करने के बाद वह पुनः सविलासमय जीवन में प्रवेश करता था। इस समय वह अपनी इच्छानुसार कई स्त्रियों से विवाह करता था और सुन्दर वस्त्रों तथा मांस इत्यादि का प्रयोग उसके लिए वर्जित नहीं था। मेगास्थनीज का यह वर्णन ब्राह्मणों के दो आश्रमों ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के उस वर्णन से काफी मिलता जुलता है जो हम स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रों में मिलता है।

दार्शनिकों का दूसरा वर्ग अर्थात् श्रमण दो वर्गों में विभक्त था। श्रमणों में जो लोग काफी विख्यात थे वे वनों में तपस्या और साधना का जीवन बिताते थे। वे वृक्षों की पत्तियों और फलों पर जीवन निर्वाह करते थे और वृक्षों की छाल के ही वस्त्र पहनते थे। श्रमणों के अन्य वर्ग में वे लोग आते थे जो चिकित्सक होते थे। वे लोगों का निःशुल्क चिकित्सा करते थे और इसके बदले में समाज उनके भरण पोषण के लिए उत्तरदायी होता था।

यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के अनुसार ये चिकित्सक रोगों की चिकित्सा करने में अधिकतर उन्हें भोजन में नियन्त्रण रखने पर जोर देते थे औषधियों के सेवन पर अपेक्षाकृत कम। सर्प-दंश की चिकित्सा में भारतीय चिकित्सक बड़े निपुण होते थे जब कि यूनानियों को इसका ज्ञान बिल्कुल नहीं था।

समाज में ब्राह्मणों और श्रमणों का बड़ा सम्मान होता था। अन्य वर्गों की अपेक्षा ये संख्या में अवश्य कम थे किन्तु सम्मान की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोच्च था। राजाओं और अनेक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न व्यक्तियों की ये उनके धार्मिक कार्यों के सम्पादन में सहायता करते थे। ये ब्राह्मण तथा श्रमण लोगों के साधारण स्वास्थ्य एवं ऋतु इत्यादि के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ करते थे जिससे जनता को काफी लाभ पहुँचता था। मेगास्थनीज के इस कथन की पुष्टि कि दार्शनिकों का समाज में अत्यन्त आदरणीय स्थान था अन्य पश्चिमी यूनानी लेखकों ने भी की है।

अशोक के अभिलेखों द्वारा भी मौर्य काल के सामाजिक संगठन पर प्रकाश पड़ता है। परिव्राजकों और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख स्थान स्थान पर मिलता है। परिव्राजक और भिक्षु अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य का प्रचार करते थे। ये उपदेश और व्याख्यान द्वारा ज्ञान का प्रसार करते थे। अभिलेखों में चारों वर्णों

का भी उल्लेख हुआ है। ये वर्ण हैं ब्राह्मण सैनिक और उनके सामन्त (भटमाय) जो क्षत्रिय थे इभ्य अथवा वैश्य और दास तथा सेवक (दासभटक) अर्थात् शूद्र। अशोक के अभिलेखों और कतिपय बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट सूचित होता है कि वर्णों के नियमों में इस समय पर्याप्त विनमनशीलता थी। लोग अपना व्यवसाय बदल सकते थे अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे।

विवाह प्रथा—

पारिवारिक जीवन की आधार शिला उन दिनों भी आज की भाँति विवाह संस्था ही थी। अर्थशास्त्र में विवाह की निम्नलिखित आठ विधियाँ बतलाई गई हैं—

(१) ब्राह्म विवाह—इस विवाह पद्धति में कन्या का पिता वर को अपने घर पर बुलाकर अपनी पुत्री को वस्त्राभूषणों से सजाकर उसे सौंप देता था। इस विवाह में संस्कारों की प्रधानता थी। वर के चुनाव में उसके कुल शील सनाथता आयु विद्या वित्त और वपु (शरीर) पर ध्यान दिया जाता था।

(२) दैव विवाह—इस विवाह पद्धति के अनुसार कन्या का पिता किसी ऐसे ऋत्विज को अपनी पुत्री सौंप देता था जो योग्य और सुशील होता था एवं अपने धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में जिससे वह (पिता) सहायता प्राप्त करता था।

(३) आर्ष विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता वर पक्ष की ओर से गौओं को जोड़ा प्राप्त करता था। बाद में वह विवाह हो जाने पर पुनः इसे वर को दान में दे देता था।

(४) प्राजापत्य विवाह—इस विवाह का प्रधान लक्ष्य सन्तान की अभिप्राप्ति था। इस विवाह पद्धति में धर्म अर्थ और काम में कन्या और वर का अधिकार समान होता था। इसमें कन्या का पिता वर वधू को यह आशीर्वाद देता था कि तुम दोनों साथ मिलकर धर्म का आचरण करो। यह आशीर्वाद दे देने के उपरान्त वह कन्या को वर के हाथ सौंप देता था।

(५) आसुर विवाह—जिस विवाह पद्धति में कन्या के सम्बन्धी वर पक्ष की ओर से अपनी पुत्री व्याहने के लिए स्वच्छानुसार धन प्राप्त करते थे उसे आसुर विवाह कहा जाता था। स्पष्ट है कि इस विवाह में कन्या का विक्रय किया जाता था।

(६) गान्धर्व विवाह—इस विवाह में वर और कन्या बिना अपने अपने माता पिता की आज्ञा के एक दूसरे से संयुक्त हो जाते थे। इस पद्धति में पारस्परिक आकर्षण को प्रधानता प्राप्त थी।

(७) राक्षस विवाह—किसी कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर लेने और उसके साथ विवाह कर लेने को राक्षस विवाह की संज्ञा दी गई थी।

(८) पैशाच विवाह—इस विवाह पद्धति में किसी मादक वस्तु का सेवन करा देने से उन्मत्त हुई अथवा मूर्च्छित कन्या के साथ छल या बल द्वारा विवाह कर लिया जाता था।

इन आठ विवाह पद्धतियों में से सामान्यतः प्रथम चार को स्वीकृत किया गया है और शेष चार को धृणित बतलाया गया है। लेकिन इन समस्त विवाह पद्धतियों की धर्मानुकूलता के विषय में सभी शास्त्रकार एकमत नहीं हैं। यद्यपि प्रथम चार पद्धतियों को प्रायः सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है अन्य पद्धतियों में से कुछ ने असुर और गान्धर्व को भी शास्त्रानुमोदित ठहराया है। राक्षस विवाह को केवल

क्षत्रियों के लिए ही उचित बतलाया गया है अन्य जातियों के लिए इसे विगर्हित ही कहा गया है। पैशाच विवाह की सभी ने एक स्वर से निन्दा की है। इन आठ-पद्धतियों की तुलनात्मक शास्त्र सम्मतता के विषय में शास्त्रकारों में मतवैभिन्य भले ही हो इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि ये सभी पद्धतियाँ प्रचलित अवश्य थीं। मेगास्थनीज का विवाह पद्धति के सम्बन्ध में एक कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि भारतीयों की विवाह पद्धति में बैलों के एक जोड़े के उपहार को प्रधानता प्राप्त है। इस कथन से ऐसा मालूम पड़ता है कि मौर्य काल में आर्ष पद्धति सबसे अधिक लोकप्रिय थी।

सामान्य रूप में अपनी ही जाति के अन्दर विवाह करना उचित समझा जाता था। लेकिन सिद्धान्त के रूप में चाहे जो कुछ रहा हो वास्तविक स्थिति बिल्कुल सिद्धान्तानुकूल नहीं थी। सभी स्रोतों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे और उस समय का कानून उनको स्वीकार भी करता था। अपनी ही जाति के अन्दर विवाह सम्बन्ध करने पर भी कतिपय नियन्त्रणों को स्वीकार करना पड़ता था। अपने ही गोत्र अथवा प्रवर की कन्या के साथ विवाह निषिद्ध समझा जाता था। इसी प्रकार सपिण्ड विवाह भी अनुचित ठहराया गया था। किन्तु कुछ जातियों जैसे शाक्य और मौर्य में सगोत्र विवाह का भी प्रचलन था। दक्षिण में मातुल कन्या से विवाह कर लेने की प्रथा थी किन्तु उत्तर में ऐसा नहीं था। मनु तथा अन्य शास्त्रकारों ने इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया है। अर्थशास्त्र में विवाह योग्य अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। बारह वर्ष की अवस्था में कन्यायें यौवन को प्राप्त होती थीं और सोलह वर्ष के हो जाने पर बालक युवा हो जाते थे। कौटिल्य ने इन्हीं अवस्थाओं को विवाह योग्य बतलाया है। विवाह में दहेज भी मान्य था।

उस समय की विवाह पद्धति से यह स्पष्ट है कि समाज में पुरुष को नारी की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि नारी को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था तथापि यह अधिकार पुरुषों के अधिकार की तुलना में काफी कम था। पुरुष अपनी इच्छानुसार अपनी एक परिणीता पत्नी के जीवित रहने पर ही कई अन्य स्त्रियों से विवाह कर सकता था। अर्थशास्त्र और मेगास्थनीज दोनों स्रोतों से पुरुषों के बहुपत्नीत्व पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने यह स्पष्ट लिखा है कि एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिए हैं। मेगास्थनीज का कहना है कि कुछ स्त्रियों को लोग सन्तान के लिए अपनी पत्नी बनाते थे और कुछ को केवल शारीरिक सुख के लिए। स्त्रियों को भी फिर से विवाह करने का अधिकार था किन्तु इसके लिए उनके सामने कुछ शर्तें थीं जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। ये शर्तें थीं—यदि पति बहुत दिनों से विदेश से न आया हो और स्त्री की व्यवस्था न कर गया हो अथवा पति में कोई शारीरिक मानसिक विकार हो इत्यादि। तलाक के विषय में कौटिल्य ने स्त्री और पुरुष को सामान्य रूप से समान अधिकार दिये हैं और इस सम्बन्ध में वे मनु की अपेक्षा काफी उदार प्रतीत होते हैं। यदि स्त्री के दुराचारिणी होने का कोई प्रमाण मिल जाता था तो पुरुष को इस बात का पूरा अधिकार था कि वह उसका परित्याग कर दे। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री के बहुत दिनों तक पुरुष सन्तान उत्पन्न न होती थी तो उसका पति उसे त्याग सकता था। किन्तु ऐसी अवस्था में स्त्री के पति को उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। कौटिल्य का यह विधान मनु के विधान की तुलना में कहीं अधिक उदार

है क्योंकि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि स्त्री के कटुभाषिणी होने या अधिक बोलने पर उसका परित्याग किया जा सकता है।

कौटुम्बिक जीवन और नारी का स्थान —मौर्य काल में संयुक्त परिवार की प्रथा विद्यमान थी, यद्यपि कभी कभी संयुक्त परिवार का विच्छेद भी हो जाता था। वैसे साधारण तौर पर पति पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक स्नेह और सच्चाई पर आधारित था किन्तु दाम्पत्य जीवन में कुछ कमियाँ भी आ गई थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा इन कमियों के लिए उत्तरदायिनी थी। अपनी ही जाति की कन्या से विवाह सम्बन्ध द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती थी उसका सामाजिक स्तर उन सन्तानों के सामाजिक स्तर की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा था जिनका जन्म अन्य जातियों की कन्याओं के गर्भ से होता है। उत्तराधिकार इत्यादि के प्रश्न पर इस प्रकार की असमानतायें काफी महत्वपूर्ण समझी जाती थीं जिससे पति पत्नी के सम्बन्ध में कटुता अवश्य उत्पन्न हो जाती रही होगी। बहुपत्नीत्व की प्रथा ने न केवल पारिवारिक जीवन का रूप विकृत कर दिया अपितु इससे परिवार के जीवन में पत्नी का स्थान काफी निम्न हो गया।

पारिवारिक जीवन में पत्नी का स्थान अपेक्षाकृत निम्नतर हो जाने पर भी मौर्य काल में स्त्रियों की स्थिति कुछ विषयों में सन्तोषजनक कही जा सकती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि विच्छेद (तलाक) के सम्बन्ध में कौटिल्य ने स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार प्रदान किए हैं। विधवा विवाह की भी इस समय व्यवस्था थी। पति के दुर्व्यवहार करने पर स्त्री न्यायालय से न्यायोचित व्यवहार की माँग कर सकती थी। उसे परिवार की सम्पत्ति में भाग का अधिकार प्राप्त था। उसे विवाह के अवसर पर दहेज अथवा उपहार आदि के रूप में जो सम्पत्ति प्राप्त होती थी उस पर उसका पूर्ण अधिकार होता था और वह अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती थी। स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार का अनौचित्य कठोर से कठोर दण्ड का विषय था। इस सम्बन्ध में कारखानों और बन्दीगृह के कर्मचारियों के कृत्यों पर भी नियन्त्रण था। स्त्री हत्या का अपराध इतना ही गुरुतर समझा जाता था जितना कि ब्रह्म हत्या का (अर्थशास्त्र पृ० १४६)। इस समय नियोग की भी प्रथा का प्रचलन था जिसका विस्तृत उल्लेख हमें महाभारत में मिलता है।

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्यक्षेत्र से काफी भिन्न था। इस विषय में कौटिल्य का विधान अन्य ब्राह्मण स्मृतिकारों के विधानों से काफी मिलता-जुलता है। कौटिल्य ने स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा को निषिद्ध बतलाया है। कौटिल्य का यह मत उनके दृष्टिकोण से स्वाभाविक ही प्रतीत होता है क्योंकि वे स्त्रियों को सन्तान उत्पन्न करने का साधन मात्र समझते थे। स्त्रियाँ प्रायः घर में ही रहा करती थीं और कार्यों के लिए सार्वजनिक कार्यों में स्वतन्त्रता से भाग लेने की कोई व्यवस्था नहीं थी। शिक्षा से वंचित होने पर साधारण रूप में स्त्रियों का मानसिक क्षितिज सकुचित हो जाता था। वे नाना प्रकार के विधि विधानों में विश्वास करती थीं। अशोक के एक शिलालेख से इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रायः स्त्रियाँ अपनी मंगल-इच्छाओं की प्रतिपूर्ति के लिए विविध प्रकार के अंधविश्वासों को अपनाती थीं।

लेकिन उपर्युक्त चित्र सामाजिक जीवन का केवल एक ही पहलू है। इसका दूसरा पहलू कुछ अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है। समाज में कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो बौद्धिक जीवन व्यतीत करती थीं और उच्च दार्शनिक चिन्तन एवं मनन में अपने समय का सदुपयोग करती थीं। इसी प्रकार की शिक्षित नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है,

ब्रह्मवादिनी जो धार्मिक ग्रन्थों का आजन्म अध्ययन करती थीं और सद्योवाहा जो अपना अध्ययन क्रम केवल विवाह पर्यन्त ही जारी रखती थीं। कात्यायन ने अपनी वार्तिक में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है जो अध्यापन कार्य करती थीं। इन्हें उपाध्याया अथवा उपाध्यायी कहते थे और अध्यापकों की पत्नियाँ उपाध्यायानी से भिन्न होती थीं। कात्यायन की वार्तिक से ऐसा प्रतीत होता है कि महिला शिक्षिकाओं की संख्या समाज में अधिक थी। बौद्ध और जैन धर्मों ने नारियों के निमित्त उच्च चिंतन और अध्ययन की पर्याप्त सुविधायें प्रस्तुत की थीं। बौद्ध और जैन धर्म-ग्रन्थों में बार बार ऐसी महिलाओं का उल्लेख मिलता है जो अपना अध्ययन निरन्तर जारी रखने के लिए अविवाहित जीवन बिताती थीं। बौद्ध परिव्राजिकाओं के अनेक गीतों का संकलन थेरीगाथा में किया गया है। ये परिव्राजिकायें कुलीन एवं सुशिक्षिता होती थीं और अपने आध्यात्मिक विकास के लिए संसार का त्याग कर देती थीं।

नारियों को कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधायें उपलब्ध थीं। कुछ स्त्रियाँ संगीत, नृत्य तथा चित्रकला आदि ललित कलाओं में निपुणता प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं, सैनिक व्यवसाय अपनाने का मार्ग भी स्त्रियों के लिए सर्वथा अवरुद्ध नहीं था। मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। वह कहता है कि कुछ स्त्रियाँ रथों पर, कुछ घोड़ों पर एवं कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं और वे प्रत्येक प्रकार के शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी अभियान के लिए जा रही हों। परन्तु सैन्य व्यवसाय ग्रहण करने वाली स्त्रियों में अधिकांशतः विदेशी जातियों की होती थीं। महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी हुआ है।

समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा इस व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। समाज में वारांगनाओं का अपना एक पृथक स्थान होता था और उन्हें उपेक्षा या घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वे समाज में ललित कलाओं का प्रचार किया करती थीं और इस कार्य के लिए उन्हें समाज का आदर व सम्मान प्राप्त होता था। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि भारत में मौर्य काल के पूर्व भी गणिकाओं का सामाजिक स्तर निम्न अथवा हेय नहीं था। महात्मा बुद्ध के समकालीन वैशाली की सुविख्यात नगरशोभिनी आम्रपाली तत्कालीन समाज में काफी उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। प्राचीन गणतन्त्रों में प्रजातन्त्रात्मक राज्य को छोड़कर समाज के किसी भी अन्य अंग में वेश्याओं को उतना सम्मान नहीं दिया जाता था जितना कि प्राचीन गणराज्यों में। आम्रपाली के साथ ... की प्रसिद्ध गणिका ... एवं ... है। ... कि एक बार ... के ऊपर एक परिषद् ... समर्थन स्थापित करने का आरोप लगाया गया। वैशाली में आम्रपाली को ... के सबसे प्रसिद्ध महात्मा गौतम बुद्ध को भोजन के लिए आमन्त्रित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बुद्ध जी ने ... निमन्त्रण को स्वीकार कर ... उदारता एवं भारत की सुन्दर नैतिक मान्यता का परिचय दिया। ... के प्रणेता ने वेश्यावृत्ति को राज्य के लिए प्रचुर आय का साधन बताया है और साथ ही साथ इस व्यवसाय के नियन्त्रण का भी आदेश दिया है। प्रत्येक वारांगना को प्रतिमास अपनी दो दिनों की आय राज्य को देनी पड़ती थी। अपने सौन्दर्य, यौवन और गुणों के कारण जो वारांगना सबसे अधिक विख्यात होती थी वह एक सहस्र पणों की मासिक आय पर राज्य की ओर से समस्त वारांगनाओं की निरीक्षिका नियुक्त कर दी जाती थी। राज भवन में सेवार्थ भी उनकी नियुक्ति

कर ली जाती थी। कुछ कन्यायें दूसरे का विचार जानने की कला भी सीखती थीं और सुगन्धित द्रव्य तथा विभिन्न प्रकार के हार बनाने में निपुणता प्राप्त करती थीं।

आमोद प्रमोद

मौर्यकाल के लोगों का जीवन अत्यन्त सुखी और आमोद प्रमोदमय था। उनके मनोरञ्जन के साधनों की प्रचुरता एवं विभिन्नता से उनके लौकिक जीवन की समृद्धि का स्पष्टतया निदर्शन होता था। इस युग में राग रंग और आमोद प्रमोद के विषय में किसी प्रकार के नैतिक प्रतिबन्ध का कोई स्थान प्राप्त नहीं था। जीवन में इनकी महत्ता और इनकी आवश्यकता का अनुभव भली तरह से किया जा चुका था। समाज में लोग मनोरञ्जन को इतना अधिक आवश्यक समझते थे कि अनेक व्यक्तियों ने ऐसे व्यवसाय ग्रहण किये थे जिनके द्वारा वे समाज के लिये मनोरञ्जन के साधन प्रस्तुत करते थे। आमोद प्रमोद द्वारा सत्कार करना स्वयं एक पेशा उद्यम बन गया था जिसके द्वारा अनेक प्रकार के नर्तकों और नर्तकियों, गायकों और गायिकाओं तथा कुशीलवों (अभिनेता और अभिनेत्रियों) का जीवन यापन होता था (कौटिल्य अ० शा० सी० एकादश षष्ठ अध्याय ७ ८० ८२–८३)। अर्थशास्त्रकार ने तो मनोरञ्जन की आवश्यकता समझकर स्पष्ट लिखित विविध साधनों का उल्लेख किया था। उन्होंने यह विधान बना दिया था कि जो व्यक्ति जनता के आनन्दोत्सव के संगठन में सहायता न दें वे अर्थदण्ड के भागी बनाये जायें। गांवों में सार्वजनिक शालायें होती थीं जहां सामूहिक रूप से उत्सवों इत्यादि का आयोजन होता था। अशोक के शिलालेखों में उत्सवों तथा समाजों का उल्लेख मिलता है। इन अवसरों पर लोग मस्त होकर गाते बजाते थे। विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों का प्रयोग इन अवसरों पर एक प्रमुख दृश्य समझा जाता था। समाजों और उत्सवों के संगठनकर्ताओं को इस कार्य के लिए राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। समाजों और उत्सवों का संचालन सरस्वती, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं के नाम में किया जाता था। ऐसे अवसरों पर मल्लयुद्ध हुआ करते थे जिनमें भाग लेने के लिए दूर दूर से पहलवान आया करते थे। एलियन Aelian नामक यूनानी लेखक ने इन मल्लयुद्धों के विषय में लिखा है। उसने मनुष्यों और हाथियों तथा अन्य पशुओं के द्वन्द्वों का उल्लेख किया है। उसने रथों की दौड़ के विषय में कहा है कि पाटलिपुत्र में ये रथ-दौड़ें अधिकता से हुआ करती थीं जिनमें अच्छे अच्छे बैल जोते जाते थे जो बड़े तेज होते थे। मनुष्यों और पशुओं के मल्लयुद्धों में प्रायः भीषण रक्तपात हो जाया करता था। इसलिए अशोक ने ऐसे समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। परन्तु अन्य प्रकार के आमोद प्रमोदों की आवश्यकता को उसने भी समझा था। उसने मनोरञ्जन के साधनों को एक उत्कृष्ट उद्देश्य जनसाधारण के नैतिक उत्थान की प्रतिपूर्ति का साधन बनाया। अपने एक अभिलेख में अशोक कहता है कि उसने मनुष्यों और पशुओं को सुन्दर दृश्य दिखाये और उनके स्थान पर खुले आकाश में भांति भांति के रूपों के चित्रों की व्यवस्था की जिससे लोगों का मनोरञ्जन तो हो ही साथ ही उन्हें धार्मिक शिक्षा भी मिले। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में नाटकों द्वारा भी लोगों का मनोरञ्जन होता था।

भोजन पान—

मौर्य-कालीन भारत की आर्थिक समृद्धि का परिचय हमें उस समय के लोगों के भोजन पान के द्वारा भी प्राप्त होता है। लोगों का भोजन सुरुचिपूर्ण और पुष्टिकर

होता था। सामान्य रूप से वे परिमित और स्वच्छ भोजन ही ग्रहण करते थे। भोजन मे विविध प्रकार के अन्न दूध और मास का समावेश होता था। यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसावादिता मे मास भक्षण को कोई स्थान नही प्राप्त था तथापि अधिकाश लोग मास खाते थे। नगरो मे आजकल की भाँति अनेक दुकानें होती थी जहाँ पर भोज्य सामग्रिया हर समय तयार मिलती थी। इन दुकानों पर पक्वान्न माम रोटी चावल आदि वस्तुओ का विक्रय होता था। कौटिल्य के कथनानुसार राज्य की ओर से पशु पक्षियो की प्राप्ति के लिए वनो की व्यवस्था होती थी और पशुओं के बचाव व निदान गृह बनाये जाते थे। दूध भारतीयो का प्रमुख पेय पदार्थ था किन्तु अन्य पेय सामग्रिया का भी उल्लेख मिलता है जिनमे अंगूर का रस मद्य शरबत (ये आम जम्बू तथा अन्य विविध प्रकार के फलो से तयार किये जाते थे) और फलो के रस सम्मिलित थे। फलो और वल्लियो से भी पेय पदार्थों का निर्माण किया जाता था। सुरा का प्रयोग प्रचलित था किन्तु इसके क्रय विक्रय पर राज्य का नियत्रण होता था। कौटिल्य ने विविध प्रकार की मदिरा का उल्लेख किया है और उनकी निर्माणविधि भी बतलाई है। उन्होने इस बात का भी स्पष्ट निर्देश किया है कि सुरा केवल कुछ थोडे से नामकुलीन व्यक्तियो को ही दी जानी चाहिए और वह भी परिमित परिमाण मे। मेगास्थनीज ने लिखा है कि विशेष अवसरो को छोडकर साधारणतया भारतीय मद्य से दूर रहते हैं। परन्तु मेगास्थनीज का यह कथन केवल ब्राह्मणो के लिए ही माना जा सकता है अन्य जातियो मे सुरा सेवन का प्रचलन था। अर्थशास्त्र का साक्ष्य इस विषय मे बिल्कुल स्पष्ट है कि क्षत्रियो मे मद्य पान की रीति काफी प्रचलित थी। बौद्ध और जैन धर्मों ने इसके प्रचार को कम करने का प्रयास अवश्य ही किया होगा किन्तु जन साधारण मे इसका प्रयोग कभी भी पूरी तरह वर्जित नही समझा जा सका। मेगास्थनीज ने भारतीयो के भोजन करने के ढग पर लिखा है जब भारतीय भोजन करने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख तिपाई के आकार की मेज रख दी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमे सबसे पहले चावल डाल जाते हैं। ये ऐसे उबले होते है जैसे उबले जौ। इसके बाद दूसरे ढग से पक्वान्न रक्खे जाते है जो भारतीय विधि से तयार होते हैं। वह आगे यह भी लिखता है कि भारतीय जन अकेले ही भोजन करते हैं और सामूहिक भोजन के लिए उनके यहा कोई समय निश्चित नही होता। जब जिसकी इच्छा होती है भोजन करता है।

दास प्रथा—

दास प्रथा अति प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक जीवन का एक मान्य व्यवस्था रहा है। मौर्य काल मे भी यह प्रचलित थी यद्यपि यूनानी लेखको के प्रमाण इसके विरुद्ध है। एरियन लिखता है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमे से एक भी दास नही है। मेगास्थनीज ने भी इसी प्रकार की बात कही है और स्ट्रैबो ने उसके मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नही रखता। परन्तु अन्य साक्ष्यो से दास प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण इतनी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं कि यूनानी लेखको का कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र तथा स्मृतियो मे दासो का उल्लेख किया गया है। अशोक ने अपने अभिलेखो मे दासो तथा भृत्यो के मजदूरो मे विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह सम्भव है कि मेगास्थनीज को भारत के किसी विशेष भू भाग मे दास प्रथा

बिल्कुल न दिखाई पड़ी हो जिससे उसने समझ लिया कि भारतवर्ष में दास प्रथा है ही नहीं। इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज के यह लिखने का कि भारत में दास प्रथा है ही नहीं, एक महत्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ पर यूनान के ठीक विपरीत दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। प्रसिद्ध विद्वान रीज डविड्स ने लिखा है कि 'भारत में दास अधिकांश रूप में घरेलू नौकर होते थे एवं उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था और उनकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम होती थी।'

समाज का उच्च नैतिक स्तर

मौर्य-युग के भारतीयों के सामाजिक जीवन का सबसे मुख्य और प्रशंसनीय पक्ष है उनका उच्च नैतिक स्तर। यदि हम वात्स्यायन के कामसूत्र को इसी युग की रचना मानें तो इसके द्वारा सामाजिक जीवन पर जो प्रकाश पड़ता है उससे यह प्रतीत होता है कि समाज के एक वर्ग विशेष का जीवन विलासितापूर्ण था। लोगों की अभिरुचि कलात्मक और सामाजिक कार्यों की ओर काफी अधिक थी और उनके सामाजिक जीवन में सुरा सुन्दरी का स्थान काफी महत्वपूर्ण था परन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि समाज में चारों ओर रोमन गणतन्त्र के अन्तिम दिनों की भाँति भोगवाद और कामपरता का साम्राज्य था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि भारतवासियों ने निरवच्छिन्न रूप से काम की उपासना नहीं किया अपितु इसे जीवन का एक आवश्यक अंग मानकर समुचित मात्रा में ही इसका सेवन किया। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों में जन साधारण के उच्च नैतिक स्तर की प्रशंसा मेगास्थनीज ने मुक्त कण्ठ से की है। उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए वह लिखता है 'अपने आचरण में सादे और मितव्ययी होने के कारण भारतीय काफी सुख से रहते हैं। यज्ञों को छोड़कर वे कभी सुरापान नहीं करते। चोरी की घटना बहुत ही कम होती है। वे अपने घरों और अपनी सम्पत्तियों को प्रायः अरक्षित अवस्था में छोड़ जाते हैं। उनके कानूनों और समझौतों की सरलता इस बात में सिद्ध होती है कि वे बहुत ही कम न्याय की शरण लेते हैं।' आगे वह फिर लिखता है 'सत्य और गुण का वे आदर करते हैं। इसलिए वे वृद्ध जनों को कोई विशेष बहुमान नहीं प्रदान करते जब तक कि उनमें अधिक उत्कृष्ट ज्ञान नहीं होता।'[१]

सामाजिक जीवन की विवेचना

मौर्य युग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं के सम्बन्ध में पहले ही कुछ कहा जा चुका है। हम यह पहले देख चुके हैं कि लोगों की अभिरुचि उनके इन्द्रियपरक जीवन के प्रति बढ़ती जा रही थी। उस समय के धर्मग्रन्थों में जीवन की निराशावादिता का ही प्रतिपादन अधिकतर किया गया है परन्तु लोगों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण किसी भी प्रकार निराशात्मक नहीं था। इस युग के कुछ पहले महात्मा बुद्ध के समय में संन्यास ग्रहण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। साधारण सा दुःख आ पड़ने पर भी जीवन से मुँह मोड़ कर संसार त्याग देना एक सामान्य बात हो गई थी। सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए भी स्वास्थ्य-सम्पन्न नवयुवक परिव्राजक का जीवन व्यतीत करने लगते थे। बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार की अनेक घटनाओं के

[१] मेगस्थनीज के इस कथन की पुष्टि मनुस्मृति के इस प्रसिद्ध श्लोक द्वारा होती है— "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥"

उल्लेख प्रचुरता से मिलते है। सम्भव है उनमे कुछ अतिशयोक्ति भी हो परन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि इस युग मे सन्यास प्रवृत्ति प्रबल था। मौर्य युग में आकर यह प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा काफी कम हो गई। हाँ यह बात सत्य है कि समाज में परिव्राजकों का मान इस समय भी पहिले की ही तरह किया जाता था। इस युग के अधिकांश लोग जीवन के सुखमय पक्ष को और उसके आनन्द को भाव न करते थे। हमें पाठ उनके भोजन पान तथा मनोरंजन के साधनों का जो विचार किया है उससे उनकी जीवनानुरागिता स्पष्ट परिलक्षित होता है। अभिजात वर्ग के जीवन का विलास प्रियता का स्पष्ट वात्स्यायन कृत कामसूत्र म होता है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है यह समझना भूल होगी कि लोगों का जीवन निरा भौतिकवादी था। मनुष्य के इस जीवन के प्रति अनुराग के साथ साथ उसके पारलौकिक जीवन के प्रति आस्था, यह जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की अपनी विशेषता है। इस काल में भारत वासी प्राचीन मिश्र यूनान और रोम इत्यादि सभी देशों के निवासियों से भिन्न थे। भारतवासी कभी भी भौतिक सुखों में इतने अधिक आसक्त न हुए कि उनके सम्मुख से उच्चतर ज्ञान की कल्पना ही विलुप्त हो जाय। मौर्य-युग में हम सबसे पहले भारतीयों का यह जीवन दर्शन कुछ अधिक स्पष्टता के साथ दिखलाई पड़ता है। बाद में चलकर गुप्त युग में जो हमारे इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है इसका और अधिक विकास हुआ।

जीवन के प्रति इस सन्तुलित दृष्टिकोण का निर्माण करने में भारत के मनीषियों ने तर्क व ... विचारपूर्ण पद्धति का आश्रय ग्रहण किया। जीवन को त्रि...—अर्थ काम और धर्म में विभाजित कर उन्होंने इनके बीच सन्तुलन और समन्वय—स्थापित करने का उपदेश दिया। जीवन की स्वीकृति और इसका समादर ... । बाद में ... किया कि ... काम और धर्म में से न तो किसी की अवहेलना हो। अर्थ और न किसी की आवश्यकता से अधिक महत्व हो दिया जाय। यह सत्य है कि काल और परिस्थिति के अनुकूल कभी एक को दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया[1] परन्तु इन तीनों के सन्तुलन पर सदैव बल दिया गया। धर्मार्थकामों समन्वय सभी

... ... अर्थ ... इस विचारधारा की पुष्टि करते है। संस्कृत के समूचे ... इस ... प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। बाद में निबन्ध में एवं और पुराणों में। ... न से जीवन के प्रति उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की लोकप्रियता प्राप्त ... लिए भारत की संस्कृति संसार में आज भी अपना महत्व बनाये

हुए है। ... अध्यात्मवाद के कारण भारतवासियों ने स्वार्थ से मुँह को और ... म ... व यूनानी भारत की सीमा में प्रविष्ट हुए तो उन्हें इस बात से बड़ा अचम्भा ... कि भारतवासी अपने मतों के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं करते अपितु ... आचरण को ही सत्य के ... उनकी स्मृति को पुष्ट रखने के लिए पर्याप्त मानते हैं। यही कारण है कि प्राचीन भारत में ... भिन्न ... परिस्थिति ... भी

[1] कौटिल्य ने त्रिवर्ग में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण अर्थ को बतलाया है क्योंकि उनके अनुसार काम और धर्म की प्राप्ति अर्थ द्वारा ही सम्भव है। इसके विपरीत महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है। इसलिए धर्म का ही सेवन करना चाहिए।

किसी वस्तु के स्थान नहीं पाते। मेगास्थनीज के विवरण को पढ़कर हमारा यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है कि भारत का आध्यात्मवाद केवल ज्ञान और धर्म के ग्रन्थों तक ही सीमित न रहा वरन असंख्य लोगों का यही जीवन दर्शन बन गया। उसने भारतीयों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का वर्णन इन शब्दों में किया है "उनके लिए मृत्यु एक सामान्य चर्चा का विषय है। वे इस जीवन को ऐसा समझते हैं जब गर्भस्थ शिशु परिपक्व होता है और मृत्यु को वे ज्ञान के पुजारियों के लिए एक यथार्थ और सुखमय जीवन में प्रवेश के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि वे मृत्यु की तैयारी के लिए काफी अनुशासनपूर्ण जीवन बिताते हैं।"

आर्थिक जीवन

मौर्य काल में भारतवासियों का आर्थिक जीवन काफी विकसित और सुव्यवस्थित हो गया। आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास होने से कृषि, उद्योग धन्धों और व्यापार की असाधारण उन्नति हुई। इस युग के पहले भी आर्थिक जीवन काफी विकसित था। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध के समय में भी विभिन्न उद्योग धन्धे और आन्तरिक एवं वाह्य व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। परन्तु मौर्य-युग में आर्थिक जीवन का इतना चतुर्मुखी विकास हुआ कि यदि हम उस पर विचार करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। इस आर्थिक विकास के पीछे मौर्य सम्राटों की सुदूरव्यापिनी साम्राज्य सामग्री तो थी ही, राजकीय प्रयत्नों और नियन्त्रणों ने इस ओर अधिक पुष्ट किया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था में ऐसे अनेक तत्व विद्यमान थे जिनका उद्देश्य समाज के आर्थिक भाव को पुष्ट और शक्तिशाली बनाना था। मौर्य शासन में ऐसे विभाग थे जिनके अन्तर्गत वे कार्य आते थे जिनसे लोक कल्याण भी होता था और आर्थिक उन्नति भी। चन्द्रगुप्त के राज्य में सार्वजनिक हित के निर्माण अत्यन्त सुव्यवस्थित थे और उनके क्षेत्र तथा कार्य भी अनेक प्रकार निश्चित थे। इन निर्माण कार्यों के साथ हुए कार्यों का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उसमें अन्य कार्यों के अतिरिक्त खानों को चलाना, सिंचाई का प्रबन्ध करना, कारखानों की स्थापना, शिकार के लिए वन, लकड़ी तथा पशुओं के लिए चरागाह और इसी प्रकार से कृषि तथा व्यापार यातायात के जल और स्थल सम्बन्धी मार्गों की सुविधाओं का प्रबन्ध, सड़कों और नालियों की रचना, फल फूल के वृक्ष, औषधि तथा जड़ी-बूटियों का आरोपण, अनाथ तथा अपाहिजों, अनाथों और छोटे छोटे बच्चों की रक्षा का भार आदि सम्मिलित था। इस प्रकार मौर्य शासन में वे सभी सुविधायें प्राप्त थीं जिनके लिए एक आधुनिक समाजवादी तंत्र को कहा जाता। मेगास्थनीज और कौटिल्य दोनों के ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिए राज्य ने काफी प्रयुक्त की। राज्य की सरकार ने ही उन संस्थाओं में कुछ मूलभूत परिवर्तन भी किया जिनका उद्देश्य नागरिक जीवन के साथ देश की आर्थिक रचना को मजबूत बनाना था।

कृषि—इस काल की भाँति मौर्य-युग का आर्थिक जीवन भी कृषि पर ही अवलम्बित था। कृषि गाँवों में होती थी और उस समय के ग्राम सुखमय जीवन तथा समृद्धि के केन्द्र थे।

कौटिल्य ने उस समय के ग्रामों का बड़ा यथार्थवादी चित्र खींचा है। ग्राम की भूमि का निर्माण इन भागों में होता था—(१) कृष्ट (जोती हुई भूमि) (२) अकृष्ट

(बगर जुती हुई भूमि) (३) स्थल (ऊँची और सूखी जमीन), (४) केदार—फसलों से बोए हुए खेत, (५) आराम-कुञ्ज (६) षण्ड—फल इत्यादि फल-वृक्षों के आरोपण, (७) मूल-वाप—वे खेत जिनमें विभिन्न जड़ें या गाँठ जैसे अदरख हल्दी सलजम मूली इत्यादि उगाई जाती थीं (८) वाट—गन्ने के आरोपण-स्थान, (९) वन जहाँ से ईंधन की सामग्री तथा आवश्यक वस्तुएं प्राप्त होती थीं (१०) विवीत—ग्राम पशुओं के लिए चरागाह और (११) पथ—राजमार्गों की भूमि।[1] उपर्युक्त भागों के अतिरिक्त उस समय के ग्रामों में निम्नलिखित वस्तुओं का होना भी आवश्यक था—(१) वास्तु—वह क्षेत्र जिसमें घर बने होते थे। यह बस्ती का भाग होता था। (२) चैत्य—पवित्र वृक्ष (३) देवगृह—मन्दिर (४) सेतुबन्ध (बाँध इत्यादि) (५) श्मशान (६) सत्र—दान-गृह (७) प्रपा—पीने योग्य जल के एकत्र करने का स्थान (८) पुण्यस्थान पवित्र जगह और (९) प्रेक्षागृह—जहाँ पर जनसाधारण के लिए सार्वजनिक आमोद प्रमोद की व्यवस्था होती थी।

कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से हितकर कानूनों का निर्माण किया गया था। किसानों की सुविधाओं का ध्यान रक्खा जाता था और उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने पाता था। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगास्थनीज सिंचाई व्यवस्था का वर्णन करते हुए ऐसे अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनका कर्तव्य भूमि को नापना और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनमें होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके। एक स्थान पर यूनानी राजदूत ने लिखा है कि भूमि का अधिकांश भाग सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष में दो-दो फसल तैयार हो जाती हैं। अर्थशास्त्र में भी जल सिंचन व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर सिंचाई की चार प्रणालियों का निर्देशन पाया जाता है—

(१) हाथ के द्वारा सिंचाई

(२) मोटा के द्वारा सिंचाई

(३) कतिपय जलयन्त्रों के द्वारा सिंचाई

सिंचाई की व्यवस्था का उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ़वाले अभिलेख में भी किया है जिसमें यह वर्णन आता है कि पुष्यगुप्त ने एक दुर्ग और एक चट्टान के बीच बहनेवाले एक जलस्रोत को बाँधकर सुदर्शन नामक भील बना लिया। परन्तु उसे पूरा तुषास्प ने किया। जूनागढ़ सौराष्ट्र प्रान्त के अन्तर्गत था और पुष्यगुप्त चन्द्रगुप्त के समय में वहाँ का शासक तथा तुषास्प अशोक के समय में शासक रह चुका था।

जल सिंचन की वैज्ञानिक प्रणालियों के द्वारा जिनका प्रमाण हमें मेगास्थनीज कौटिल्य और रुद्रदामन के जूनागढ़वाले अभिलेख से मिलता है भूमि की उर्वरा शक्ति बहुत बढ़ गई होगी। अर्थशास्त्र में उन तमाम फसलों का उल्लेख किया गया है जो इस समय उत्पन्न की जाती थीं। ये फसलें इस प्रकार थीं—विभिन्न प्रकार के चावल कोद्रव—मोटा अनाज तिल प्रियंगु कई तरह की दालें जैसे मुद्ग माष और मसूर

1 Age of Imperial Unity p 400

कुलुत्थ, यव, गोधूम (गेहूँ), कलाय, अलसी, सर्षप, शाक और मूल (तरकारियाँ) तथा विभिन्न प्रकार के फल जिनमें केले, अंगूर तथा गन्ना इत्यादि प्रमुख थे। कौटिल्य ने कृषि पर लगाये जानेवाले विभिन्न करों का भी उल्लेख किया है—(१) भाग—कृषि से होनेवाली आमदनी पर राज्य का भाग[1] (२) बलि—यह ऐसा कर था जो भाग के अतिरिक्त भी कृषकों पर लगाया जा सकता था (३) कर—यह समय-समय पर सम्पत्ति के आधार पर लगाया जाता था (४) विवीत—चरागाहों पर लगाया जानेवाला कर (५) रज्जु—फसल की उपज के नाप-जोख के लिए लगनेवाला कर और (६) चोररज्जु—चौकीदारी का कर। युद्ध और दुर्भिक्ष के समय कृषि की फसलों पर अतिरिक्त कर भी लगाया जा सकता था। इसके अलावा कभी-कभी किसानों से बेगार भी कराई जाती थी।

उद्योग धंधे—मौर्य-युग में उद्योग-धंधों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग धंधा वस्त्र तैयार करना था। यह उद्योग भारत के प्राचीनतम व्यवसायों में से है। वैदिक साहित्य में तन्तु, ओतु, तसर, वसन आदि जो शब्द मिलते हैं उनसे सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भी यह एक लोकप्रिय धंधा था। वस्त्र तैयार करने के धंधे में सबसे पहला स्थान सूती वस्त्र का था। इस देश की उष्ण जलवायु के कारण यहाँ पर सूती वस्त्र की आवश्यकता सबसे अधिक पड़ती थी। सूती वस्त्र की बनी हुई वेशभूषा का उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थों और यूनानियों के लेखों में प्रचुरता से होता है। मालव गणतन्त्र के द्वारा सिकन्दर को जो वस्तुयें उपहार रूप दी गई थीं उनमें सूती वस्त्र काफी बड़े परिमाण में सम्मिलित था। यद्यपि सूती वस्त्र का उद्योग धंधा सम्पूर्ण देश में प्रचलित था तथापि कुछ स्थानों में इस उद्योग के केन्द्र बन गये थे। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में बनारस के बढ़िया वस्त्र (कासिकुत्तम् या कासिकावत्थ) का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा सिवि देश के वस्त्र (सिवेय्यक) का भी जिक्र आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूतीवस्त्र-उद्योग के केन्द्रों की कुछ अधिक विस्तृत सूची मिलती है। ये केन्द्र थे—(१) मदुरा—पाण्ड्य देश की राजधानी (२) अपरान्त—कोंकण या पश्चिमी समुद्रतट (३) काशी (४) वंग (५) वत्स-कौशाम्बी के निकटवर्ती प्रदेश और (६) महिष। इसी प्रसंग में अर्थशास्त्र में विशेषरूप से उन तीन प्रकार के वस्त्रों (दुकूल) का उल्लेख हुआ है जो अपने रंग और स्थान के कारण एक दूसरे से भिन्न थे। ये वस्त्र इन स्थानों के थे—(१) वंग—पूर्वी बंगाल (२) पुण्ड्र उत्तरी बंगाल और (३) सुवर्णकुड्य कामरूप में एक स्थान था। ये क्रमशः श्वेत, काले और उदय होते हुए सूर्य के रंग के थे। इसी सम्बन्ध में कौटिल्य ने सन के बने वस्त्रों (क्षौम) जो काशी तथा पुण्ड्र में तैयार किये जाते थे का भी उल्लेख किया है। मगध तथा सुवर्णकुड्य के सन के वस्त्रों का भी जिक्र अर्थशास्त्र में किया गया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी इनका (क्षौम) का वर्णन प्राप्त होता है।[2] अधिक बहुमूल्य वस्त्रों में

[1] प्राचीन स्मृति-ग्रन्थों में कृषक की आय पर राज्य कर की दर १/४ से लेकर १/६ तक रखी गयी। कौटिल्य ने सामान्य रूप से १/४ भाग ही राज्य का बतलाया है। अशोक ने लुम्बिनीग्राम को कि बुद्ध जी का जन्म स्थान था का कर घटा दिया था। यह कर १/८ भाग हो गया था।

[2] Age of the Nandas and Mauryas, pp. 362-363, edited by K. A. Nilakanta Shastri.

रूप से सचेष्ट था। कौटिल्य ने उन स्थानों का उल्लेख किया है जहाँ से विभिन्न वस्तुयें प्राप्त की जा सकती थीं। एक अनाम उपाध्याय के अनुसार जिसे कौटिल्य ने उन्धृत किया है बहुमूल्य वस्तुयें जैसे हाथी घोड़े, सुगन्धित पदार्थ हाथी दाँत, पशु चर्म सोना तथा चाँदी आदि हिमालय में बहुलता से सुलभ थे। कौटिल्य की सम्मति में कम्बल पशु चर्म और घोड़े को छोड़कर अन्य वस्तुयें विशेषतया शंख हीरे रत्न मणियाँ तथा सोना इत्यादि मूल्यवान वस्तुओं की अधिकता दक्षिण में थी। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अन्य वस्तुओं और उनके उत्पत्ति-स्थान की जो सूची दी है उससे भारत के आन्तरिक और विदेशी व्यापार पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इन वस्तुओं और इनके उत्पत्ति स्थानों में से ये प्रमुख थीं—बंगाल आसाम बनारस कोंकण और पाण्ड्य के वस्त्र चीन के सिल्क नेपाल के ऊनी वस्त्र हिमालय प्रदेश के पशु चर्म आसाम लंका तथा हिमालय के सुगन्धित पदार्थ लंका अलकनन्दा और विदर्भ के रत्न तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुयें।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत के प्राचीन विदेशी व्यापार को मौर्यों की सुव्यवस्थित राज्य संस्था द्वारा काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सेल्यूकस की पराजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने पड़ोस के यूनानी राज्य के साथ मैत्री की जो बुद्धिमत्तापूर्ण नीति अपनाई उसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रक्खा। इस नीति ने भारत के विदेशी व्यापार को पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में फैला दिया। यूनानी लेखकों के अनुसार भारत और यूनानी राज्यों का व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। भारत के लिए पश्चिमी जगत के साथ यह व्यापारिक सम्बन्ध काफी महत्वपूर्ण और हितकर था। यहाँ से हाथी दाँत कछुए की पीठ मोतियाँ नील आदि रंग और बहुमूल्य लकड़ी का निर्यात मिस्र देश को होता था। व्यापारियों के संघों जिनका निर्माण काफी पहले हो चुका था का संगठन इस युग में काफी सुदृढ़ हो गया।

व्यापार और उद्योग धंधों के प्रति राज्य की नीति के सम्बन्ध में कुछ कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध में राज्य की नीति नियन्त्रण की नीति कही जा सकती है। राज्य संस्था ने राजपथों इत्यादि के निर्माण में जो कार्यशीलता दिखलाई उससे व्यापार को स्वाभाविक रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हो गया परन्तु कौटिल्य ने व्यापारियों और कारीगरों के प्रति आवश्यकता से अधिक उदारता नहीं दिखलाई। कौटिल्य ने उनको नाम से तो नहीं किन्तु वास्तव में चोर कहा है। इसलिए उनसे जनता की रक्षा करने के लिए उसने अनेक विधान बनाये और बेइमानी रोकने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की। परन्तु ये विधान जनहित की दृष्टि से कठोर नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि मौर्यों के उदय ने भारत के देशी और विदेशी दोनों व्यापारों को काफी क्षति पहुँचाया। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि कारीगर को हानि पहुँचाने वाला कठोर दण्ड का भागी होता था। स्ट्रैबो के कथनानुसार यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी के हाथ काट डालता या आँख फोड़ देता था तो उसको फाँसी दी जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की सरकार मुद्रा नियन्त्रण पर बहुत ध्यान देती थी। अर्थशास्त्र में सोने चाँदी और ताँबे के सिक्कों का बिल्कुल स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सोने के सिक्के को सुवर्ण या निष्क चाँदी के सिक्के को कार्षापण या धरण और ताँबे के सिक्कों को मषक तथा कार्षापण कहते थे। अधिकतर चाँदी के सिक्कों का ही प्रयोग प्रचलित था। ताँबे के कार्षापण सिक्के का वजन १४९ ग्रेन

से कुछ अधिक था। चांदी के कार्षापण सिक्के की तौल, जिसे पुराण या धरण कहा जाता था, ५८ ग्रेन से कुछ अधिक होती थी।

धार्मिक अवस्था

मौर्य काल के भौतिक वैभव और राजनीतिक ऐश्वर्य को देखकर उनकी प्रखरता से हमारे नेत्र सहसा चकाचौंध हो जाते हैं, किन्तु हम इस युग के धार्मिक जीवन के महत्व को भुला नहीं सकते। जिस समय भारत के राजनीतिक नभोमण्डल में मगध राज्य एक विशाल साम्राज्य रूपी सूर्य के रूप में उदित हो रहा था उसी समय भारत के धार्मिक विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। यदि हम नन्दों के उत्थान को भी अपने युग के अन्तर्गत मान लें तो[1] मौर्य युग के धार्मिक जीवन का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। धर्म के दृष्टिकोण से मगध के उत्थान के प्रारम्भिक दिन भारतीय इतिहास में सबसे अधिक घटनापूर्ण दिनों में थे। ब्राह्मण धर्म के भीतर महान परिवर्तन घटित हुए। प्राचीन विचार परिवर्तित हो गये। नये विचारों का एक सशक्त रूप में उदय हुआ। लोकप्रिय धर्म-सम्प्रदायों और विश्वासों को उच्च वर्ग के लोगों ने स्वीकार किया और जैसे-जैसे उपनिषदों में सर्वप्रथम आध्यात्मिक स्वतन्त्र विचार शक्ति के उदय के साथ लोगों का पशु-यज्ञों और यज्ञीय रीतियों के प्रति विश्वास कम होता गया, मानववादी और आस्तिक आन्दोलन ने शक्ति तथा वेग प्राप्त किया। ब्राह्मणों की पवित्र भूमि के बाहर आध्यात्मिक नेतृत्व पुरोहितों, ब्रह्मवादियों और राजाओं के हाथ से निकल कर संन्यासियों और परिव्राजकों के हाथों में चला गया, जो समस्त जीवों के प्रति अहिंसा और संसार की वस्तुओं के प्रति अभिलाषा त्याग देने पर सबसे अधिक जोर देते थे।

इस युग की धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम बौद्ध धर्म ग्रन्थों, अशोक के अभिलेखों और यूनानी लेखकों के विवरणों पर अवलम्बित होना पड़ता है। सभी साक्ष्यों का अवलम्बन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस समय मुख्यतः ये धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—ब्राह्मण, संन्यास-आन्दोलन, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, आजी-

[1] नन्द-युग की धार्मिक विचारधारा को मौर्य-युग के धार्मिक जीवन के साथ सम्बद्ध करने का हमारा यह प्रयास निराधार नहीं है क्योंकि जिस स्थूल रूप में हम राजनीतिक घटनाओं का विभाजन कर सकते हैं उसी रूप में हम सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को विभाजित नहीं कर सकते। कारण यह है कि राजनीतिक घटनायें जब कि सीमित रहती हैं, सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ और मान्यतायें युग-युगों तक जारी रहती हैं। साम्राज्यों का उदय होता है, वे विकास को प्राप्त होते हैं और काल के विनाशकारी प्रभाव में पड़ कर भूगर्भ में समा जाते हैं, किन्तु संस्कृति की धारा किसी न किसी रूप में बहती ही रहती है। नन्दों के साम्राज्य के पतनोपरान्त उस के ध्वंसावशेष पर मौर्यों के विशाल साम्राज्य की भित्ति खड़ी होती है और मौर्यों के उज्ज्वलतर प्रकाश में नन्दों की आभा धूमिल हो जाती है (So doth the greater glory bloomed) परन्तु नन्दों के समय में जो धार्मिक हलचल होती है उसका अक्षय प्रभाव मौर्य युग की धार्मिक विचारधारा पर पड़ता है और इस दृष्टि से दोनों युग परस्पर एक दूसरे से दृढ़ शृंखला में आबद्ध हो जाते हैं।

[1] An Advanced History of India Part I pp 81 82

विक और आस्तिक आन्दोलन। हम इन सब की अलग-अलग संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

ब्राह्मण धर्म—इस युग के ब्राह्मण धर्म में अन्य युगों की भाँति वैदिक तथा गृह्य रीतियों का प्राधान्य था। मेगास्थनीज के मत से, जिसे हम सामाजिक जीवन के अन्तर्गत उद्धृत कर चुके हैं, इस कथन की पुष्टि होती है। ब्राह्मण लोग यज्ञादि में लगे रहते थे। अशोक ने अपने अभिलेख में जिन देवपूजकों का उल्लेख किया है उनसे अभिप्राय उन्हीं ब्राह्मण पुरोहितों से है जो यज्ञ किया करते थे और नास्तिक धर्म के आन्दोलन से पृथक रहा करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में वैदिक यज्ञों और रीतियों का जो उल्लेख किया गया है उसके द्वारा भी इस युग में उनका महत्व सिद्ध होता है। बौद्ध-ग्रन्थ ब्राह्मणों के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख करते हैं जिन्हें ब्राह्मण महाशाल कहा जाता था। इन लोगों को राजा द्वारा दान में दी हुई भूमि का कर प्राप्त होता था। ये ब्राह्मण बड़े धनाढ्य होते थे और व्ययसाध्य यज्ञों का अनुष्ठान करने की क्षमता रखते थे। ये अपने घरों में बहुत से शिक्षार्थियों को रखते थे जो देश के विभिन्न भागों से आते थे और उनके चरणों के निकट बैठकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। कभी-कभी इन शिक्षार्थियों की संख्या तीन सौ से लेकर पाँच सौ के बीच में होती थी। ये ब्राह्मण बड़े सम्मानित होते थे और न केवल जन्म द्वारा नितान्त विशुद्ध होते थे बल्कि उन्हें देवों का रंग (ब्रह्मवर्णि) और देवों की चमक (ब्रह्मवर्चस) प्राप्त होती थी। वे मधुरवाणी सम्पन्न होते थे। लेकिन वैदिक अनुष्ठानों का पालन करनेवाले सभी ब्राह्मण ऐसे निष्कलंक और विशुद्ध चरित्र के नहीं होते थे। कुछ ब्राह्मणों में लोभ का दुर्गुण अवश्य आ गया होगा। यज्ञों में निरीह पशुओं के वध से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। सुत्तनिपात में ब्राह्मणों के ऊपर जो दोष लगाये गये हैं वे पूरी तरह निराधार नहीं प्रतीत होते।

केवल वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान ही ब्राह्मण धर्म का सर्वस्व नहीं था। इसमें कुछ सूक्ष्म तत्व भी थे जो मनुष्य की आत्मा का परिष्कार करके उसे ऊपर उठाने की क्षमता रखते थे। यदि वैदिक क्रियावाद ब्राह्मण धर्म का स्थूल रूप था तो उपनिषदों का ज्ञानवाद उसका सूक्ष्म रूप। यह सम्भव है कि इस युग के ब्राह्मण धर्म में अभी भी वैदिक कर्मों और अनुष्ठानों का प्राधान्य था किन्तु ब्राह्मण धर्म के बौद्धिक और आध्यात्मिक पक्ष से भी अनेक लोग प्रभावित थे। हमने पीछे जिन अरण्यवासी ब्राह्मणों के जीवन का वर्णन किया है उनके जीवन में कर्मकाण्ड प्रधान धर्म का कोई महत्व नहीं था। तप और मनन द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाना एवं मन, वचन तथा कर्म की विशुद्धता द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना यही उनके लिए कर्तव्य कर्म थे। न तो उन्हें मृत्यु की शंका होती थी और न सांसारिक वस्तुओं के प्रति कोई अनुराग। ज्ञान की प्राप्ति और दूसरों को ज्ञान का दान देने में ही वे अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करते थे। मेगास्थनीज ने मण्डनिस नामक एक ऐसे ही ब्राह्मण का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि एक बार सिकन्दर ने मैण्डनिस के यश से प्रभावित होकर उसे अपनी राजसभा में बुलाने के लिए अपना एक दूत भेजा। दूत ने जाकर उस तपस्वी ब्राह्मण को सिकन्दर का सन्देश कह सुनाया और विपुल धन का प्रलोभन दिया। किन्तु ब्राह्मण ने सिकन्दर के निकट जाने से इन्कार किया और मृत्यु की धमकी का भी उसके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने सिकन्दर को यह उत्तर भिजवाया, सम्राटों का सम्राट ईश्वर दुष्टता का कर्ता नहीं है अपितु प्रकाश, शांति, जीवन, जल, मानव शरीर और आत्माओं का सृजनहार है और जब उनको मृत्यु (आत्माओं) मुक्त कर

देती है, क्योंकि वे किसी प्रकार भी दूषित कामनाओं के अधीन नहीं रहता, तब वह उनका स्वागत करता है। वही मेरे सम्मान का देवता है जो नर-संहार से घृणा करता है और युद्धों को कभी प्रोत्साहन नहीं देता । इसे भली भाँति जान लो कि सिकन्दर मुझे जो कुछ दे रहा है अथवा जो कुछ भेंट करने का वचन दे रहा है वे मेरे लिए नितान्त निरर्थक वस्तुएं हैं किन्तु जिन वस्तुओं का मैं मूल्य समझता हूँ और जो मेरे लिए यथार्थ सुख और प्रयोग की वस्तुएं हैं वे हैं—ये पत्तियाँ जिनसे मैं अपना घर बनाता हूँ, ये लहलहाते हुए पादप जो मुझे कोमल भोजन प्रदान करते हैं और जल जिसे मैं पीता हूँ। जब कि वे सभी वस्तुएं जिनका संग्रह लोग बड़ी ही आतुरता और सावधानी से करते हैं संचयकर्ताओं के लिए विनाशकारी प्रमाणित होती हैं और केवल दुःख तथा चिन्ता ही उत्पन्न करती हैं जिनसे प्रत्येक दीन मरणशील प्राणी (मनुष्य) पूरी तरह से आक्रान्त है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं वन की पत्तियों पर लेटता हूँ और अपने निकट कुछ भी रक्षणीय पदार्थ न रखने के कारण मैं अपने नेत्र एक प्रशान्त निद्रा में बन्द कर लेता हूँ, लेकिन यदि मुझे अपने धन की रक्षा करनी होती तो मेरी निद्रा नष्ट हो गई होती । सिकन्दर मेरा शीश कटवा सकता है किन्तु वह मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकता। केवल मेरा शीश जो इस समय चुप है रह जायगा परन्तु मेरी आत्मा शरीर को एक जीर्ण वस्त्र की भाँति पृथ्वी पर छोड़कर जहाँ से यह (शरीर) लिया गया था वहीं अपने स्वामी के पास चली जायगी। उस समय मैं एक आत्मा के रूप में होकर ईश्वर के पास पहुँच जाऊँगा। मेगास्थनीज का यह विवरण बिल्कुल यथार्थ प्रतीत होता है क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण धर्म का हमने जो अध्ययन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नन्द मौर्य युग में वैदिक अनुष्ठान एवं औपनिषदिक विचार धाराएं दोनों ही धार्मिक जीवन की सक्रिय शक्तियाँ थीं। राजाओं, सामन्तों और सम्पन्न ब्राह्मणों का विश्वास कर्म के कर्मकाण्ड में ही अधिक था परन्तु दूसरी ओर समाज में ऐसे भी विचारशील जन थे जो बाह्य आडम्बरों में न पड़ कर सत्य के यथार्थ रूप को जानना चाहते थे। ये लोग अरण्यों या नगरों से दूर अनिकेतवासी होकर कठोर तप और संयम का जीवन बिताते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार करने की चेष्टा किया करते थे।

संन्यास आन्दोलन—हमने ऊपर जिन तपस्वियों का उल्लेख किया है वे ब्राह्मण होते थे परन्तु समाज में श्रमण कहे जाने वाले अन्य संन्यासी भी होते थे। हमने सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में इनका जिक्र किया है। बौद्ध ग्रन्थों में चार प्रकार के श्रमण बतलाये गये हैं—(१) मग्ग जिना जो मार्ग के अन्त तक पहुँच चुके थे और जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया था (२) मग्गदेसक—वे लोग जो उच्चतम लक्ष्य का मार्ग दिखलाते थे (३) मग्ग जीवात—जो मार्ग के अनुसार रहते थे और (४) मग्गदूसी—जो अभिमानी, वाचाल और संयमहीन होते थे और जो धार्मिक पुरुषों का वेष भूषा धारण करके अपने सम्प्रदाय और गुरु को बदनाम करते थे।

आजीविक—आजीविक सम्प्रदाय की उत्पत्ति तो महात्मा बुद्ध के समय में या उससे भी पूर्व हो चुकी थी किन्तु इसकी उन्नति के विषय में मौर्य काल के पूर्व का विवरण नहीं प्राप्त होता। मक्खलि गोशाल इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। आजीविकों के नियमों का उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है। ये लोग नियतिवादी होते थे और किसी प्रकार के कारण-परिणाम में विश्वास नहीं रखते थे। आजीविकों के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सब बौद्ध-ग्रन्थों से। आगे चलकर इस युग में अशोक के अभिलेखों द्वारा भी आजीविक-सम्प्रदाय के ऊपर

प्रकाश पड़ता है। अशोक अपने स्तम्भ लेख सात में आजीविकों का बौद्धों और निर्ग्रन्थों के साथ उल्लेख करता है और कहता है कि मैंने उनके कल्याण और उन्नति की देख रेख करने के लिए महामात्र नियुक्त कर दिये हैं। इतना ही नहीं अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष में अशोक ने बाराबर पहाड़ियों की तीन गुफायें आजीविकों को दान में दे डाली। इस सम्प्रदाय का पूरे मौर्य-युग तक काफी मान रहा परन्तु बाद में धीरे धीरे इसका प्रभाव घटता ही गया और आगे चलकर यह बिलकुल नष्ट ही हो गया। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी नागार्जुनी पहाड़ियों की कुछ गुफायें आजीविकों को दी थी। आजीविक लोग श्रमण वर्ग के थे। ये भी प्राय वनों में रहते थे। आजीविक सम्प्रदाय में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों संन्यासी थे किन्तु उनके भिन्न भिन्न समूहों में विभक्त होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

जैन धर्म—चन्द्रगुप्त के शासन काल में जैन धर्म के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई और इसके स्वरूप में एक महान परिवर्तन उपस्थित हो गया। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन और जैन धर्म का छठवां थेर (स्थविर) था। जैन अनुश्रुति के अनुसार उसी ने मौर्य सम्राट को जैन धर्म में दीक्षित कर लिया था। जब कि भद्रबाहु जैन धर्म के थेर थे मगध में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा और संन्यासियों को भिक्षा प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होने लगा। अनिष्ट की आशंका से भद्रबाहु ने मगध छोड़ कर कर्णाट देश की राह पकड़ी। वहाँ से जैन स्थूलभद्र के नेतृत्व में मगध में ही रह गये। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने के बाद भद्रबाहु के कुछ शिष्य मगध लौट आये परन्तु भद्रबाहु स्वयं नेपाल चले गये। जैनियों का कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य भी आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया था और मैसूर के श्रवण बेलगोल नामक स्थान में उसने अनाहार व्रत द्वारा अपने प्राण त्यागे थे। नेपाल में भद्रबाहु ने भी तपस्या द्वारा अपना शरीर त्याग किया। मगध में जो जैन साधु बचे थे उन्होंने पाटलिपुत्र में एक बहुत विशाल सभा का आयोजन किया। उनका विश्वास था कि जैन धर्मशास्त्रों का शुद्ध रूप काफी विकृत हो चुका है इसलिये इनका परिष्कार करना चाहिए और प्रामाणिक धर्मशास्त्रों का संग्रह करना चाहिए। इस सभा का आयोजन इसी उद्देश्य से किया गया था। इसी बीच जो जैन साधु मैसूर चले गये थे उनमें और जो यहाँ रह गये थे एक मतभेद उठ खड़ा हुआ। मगध के जैनियों ने श्वेत वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया परन्तु भद्रबाहु के शिष्यों ने महावीर की शिक्षाओं का पालन करते हुए नग्न रहना ही पसन्द किया। इस प्रकार प्रथम संघ भेद की नींव पड़ी जिससे जैन संघ दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में विभक्त हो गया। कहा जाता है कि अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी जिसका नाम सम्प्रति था जैन धर्म का अनुयायी था और इसने अपने पितामह की भांति अपने धार्मिक विश्वासों को फैलाने का प्रयास किया। परन्तु मौर्य काल में जैन धर्म का बहुत अधिक प्रचार न हो सका। बाद में अवश्य यह धर्म पश्चिमी और दक्षिणी भारत में फैल गया।

बौद्ध धर्म—यद्यपि अशोक के पूर्व ही बौद्ध धर्म की काफी उन्नति हो चुकी थी तथापि इसके देशव्यापी प्रचार और विदेशों में इसके प्रसार का श्रेय इसी मौर्य सम्राट को दिया जा सकता है। उसने न केवल बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्रदान किया बल्कि इसकी उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न भी किये। इनके विषय में आप अशोक वाले अध्याय में पढ़ चुके हैं। यहाँ पर हम उस बौद्ध-संगीति के विषय में जान लेना चाहिये जो अशोक के शासन काल में हुई थी। इस संगीति में अध्यक्ष पद को आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स

ने सुशोभित किया था। इस सभा ने दो महत्वपूर्ण कार्य किये। पहला कार्य था त्रिपिटक का सङ्कलन। दूसरा कार्य था एकता का प्रयत्न। बौद्ध धर्म में अब तक जो सम्प्रदाय उत्पन्न हो चुके थे उनमें सामञ्जस्य और सद्भावना स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। साथ ही इसी संगीति के निश्चय के अनुसार धर्म प्रचारकों के कुछ जत्थे संगठित किये गये जो काश्मीर गान्धार, महीशमण्डल (मैसूर) वनवासी (उत्तरी कनारा) अपरान्त (बम्बई का उत्तरी भाग) महाराष्ट्र यवन प्रान्त (गान्धार के उत्तर पश्चिम) हिमवन्त (हिमालय प्रदेश) सुवर्ण भूमि (ब्रह्मा) और लंका को भेजे गये। इस संगीति में धर्मशास्त्र का जो प्रामाणिक संस्करण स्थिर हुआ उसी के आधार पर अशोक ने संघ भेद के विरुद्ध राजाज्ञायें निकालीं। इतिहासकारों का विश्वास है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जो प्रयत्न किये उनमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

आस्तिक आन्दोलन—भक्तिवादी आस्तिक आन्दोलनों का प्रचलन मौर्य-युग के धार्मिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वासुदेव अथवा कृष्ण इस समय देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे। यूनानी लेखकों ने उन्हें हेराक्लीज का नाम दिया है। मेगास्थनीज ने लिखा है शूरसेनों के निवासियों विशेष रूप से शूरसेनी (Sourasenoi) द्वारा जो कि भारतीयों का एक वर्ग था और जिनके पास मथुरा (Methora) और कृष्णपुर (Kleisobora) नामक नगर थे हेराक्लीज की पूजा की जाती थी। कुछ विद्वानों का कथन है कि मौर्य युग में भागवत धर्म का विशेष प्रचार नहीं था परन्तु मेगास्थनीज ने हेराक्लीज और पाण्डवों का साथ मिलाकर सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य देश की जो कथा कही है उससे और पाण्ड्य देश की राजधानी के नाम मदुरा में जो सम्भवतः मथुरा नाम से लिया जान पड़ता है कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भागवत धर्म इस समय ही (ईसा के चतुर्थ शताब्दी पूर्व) सुदूर दक्षिण तक फैल गया था। कर्टियस के लेख से भी वासुदेव पूजा का प्रमाण मिलता है। उसने लिखा है कि जब पोरस ने सिकन्दर के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए अपनी सेना खड़ी की तो सेना के आगे आगे हेराक्लीज की मूर्ति ले जाई गई थी। कर्टियस के कथन से यह भी सिद्ध होता है कि इस समय मूर्ति पूजा का प्रचलन था। इस विषय में हमें अन्य साक्ष्यों से भी प्रमाण मिलते हैं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस बात का उल्लेख किया है कि मौर्यकाल में शिव स्कन्द तथा विशाख की प्रतिमाओं का क्रय विक्रय होता था। परन्तु [illegible] कुतर जनसाधारण में
हो था [illegible] से दया करते थे।
जानमा [illegible] वर्ग था जिनका ज्ञान
प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत होता है।

लोक धर्म—ऊपर हमने जिन जिन धार्मिक सम्प्रदायों का वर्णन किया है उनमें से किसी को भी हम लोक धर्म नहीं कह सकते। ब्राह्मण धर्म के दोनों रूप (१) वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान और (२) उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा प्रधान—जनसाधारण के लिए अग्राह्य और दुर्बोध थे। आजीविक और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के अनुयायियों की संख्या अत्यन्त अल्प थी और इन सम्प्रदायों की तपश्चर्या एवं संसारविमुखता साधारण जन के लिए असम्भव तो नहीं किन्तु कष्टसाध्य अवश्य थी। बौद्ध धर्म का प्रचार इस समय तक काफी अधिक हो चुका था और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के दो वर्ग—श्रमणों का वर्ग और उपासकों का वर्ग बन गये थे जिससे स्पष्ट प्रतीत होता

है कि गृहस्थ लोग भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर रहे थे। परन्तु बौद्ध धर्म की निरीश्वरवादिता और एक करुणाशील देव के पुण्यप्रसाद के एकान्त अभाव ने जनसाधारण की आध्यात्मिक और धार्मिक पिपासा को तृप्त करने में असफलता ही पाई होगी।[1] भागवत धर्म की सरलता और भक्तिवादिता ही ऐसे तत्व थे जिनके साथ जनसाधारण की धार्मिक मनोवृत्ति मेल खा सकती थी परन्तु इस धर्म का अभी पर्याप्त प्रचार नहीं होने पाया था जिससे यह धर्म भी लोकधर्म न हो सका।

लोक धर्म में मूर्ति-पूजा की प्रधानता थी। देश में बहुत से मन्दिर होते थे जहाँ पर लोग मूर्तियों की पूजा करते थे। कौटिल्य ने उन अनेक देवी-देवताओं का नाम गिनाया है जिनकी जनसाधारण द्वारा पूजा की जाती थी। मन्दिर (कोष्ठ) नगर के उत्तरी पश्चिमी भाग में बनाये जाते थे। जिन देवी-देवताओं के सम्मान में मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था उनके नाम इस प्रकार थे—अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण (कुबेर), अश्विन और श्री (लक्ष्मी)। वास्तु और दिक की पूजा भी प्रचलित थी। प्राकृतिक विपत्तियों के निवारण और अभीष्ट के वरदानों की अभिप्राप्ति के लिए लोग अग्नि की पूजा करते हुए देवी देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उनकी सेवा में विविध प्रकार के उपहार समर्पित करते थे। नदियों, पर्वतों, वनों, राक्षसों के चैत्यों तथा समुद्र-तटों की भी लोग पूजा करते थे। नाग यक्षों की आराधना किया करते थे। नाग प्रतिमाओं या ध्वज प्रतिमाओं की भी, जो कि इन देवताओं की प्रतीक स्वरूप होती थीं लोग पूजा किया करते थे। जो लोग जादू की क्रियाओं में विश्वास किया करते थे वे इन लोगों का आवाहन करते थे—बलि, सम्बर, वैरोचन, अनेक नरकों के अधिपति देव, नारद, देवल, सावर्णि, गालव और मनु आदि साधु, देवों तथा देवलोकों, वैदिक पण्डितों, सिद्धों, तापसों, ब्रह्मा, ब्रह्मानी, पौलोमि, तन्तुकच्छा—एक असुर और उसी के वर्ग के अन्य नाग। लोक धर्म में अंधविश्वासों का पर्याप्त मात्रा में समावेश था। स्वर्ग और नरक में लोगों का बहुत अधिक विश्वास था। अशोक ने लोकधर्म के इस दोषगत स्वरूप का अन्त करके एक सरल एवं उन्नत धर्म को लोगों के सामने रखने की चेष्टा की थी परन्तु इसमें उसे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई इसका विवरण हमें प्राप्त नहीं। यह एक स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि बौद्ध ग्रन्थों में महात्मा बुद्ध स्थान-स्थान पर लोकधर्म की निंदा करते हुए दिखलाये गये हैं क्योंकि उसमें असंख्य कुरीतियों और अंधविश्वासों का प्राधान्य था। बौद्ध ग्रन्थों में उस समय के लोक धर्म के प्रत्येक पक्ष का विस्तृत उल्लेख मिलता है और उसकी तीव्र शब्दों में निन्दा की गई है जिससे लोग उससे पृथक् रहें। परन्तु इन प्रयत्नों के उपरान्त भी लोकधर्म जारी रहा।

भाषा और साहित्य

जिस युग की सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था का अब तक हमने अध्ययन किया है उसका महत्त्व इस बात में भी है कि इस युग में न केवल प्राकृत जैसी लोक भाषाओं की ही न अधिक उन्नति हुई वरन् इनमें साहित्य सृजन का भी कार्य हुआ। लिपि का

---

[1] हमें यह न भूलना चाहिए कि अभी तक बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय का उद्भव नहीं हुआ था जो लोकभाव के अधिक निकट था। हीनयान धर्म की कठोर आचारवादिता और शुष्क सैद्धान्तिकता को ठीक-ठीक समझना साधारण लोगों के मानसिक क्षितिज के बाहर की बात थी।

व्यापक रूप से प्रचार इस युग की एक प्रमुख सांस्कृतिक देन है। लिखने की प्रणाली का सर्वसाधारण में प्रचार था केवल साहित्यिक रचनाओं आदि के लिए नहीं बल्कि सार्वजनिक उद्योग धन्धों और नित्यप्रति के व्यवहारों के लिए भी। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ हम जिन्हें कहते हैं उनका कितना अधिक प्रचार था और वे कितने पहले से व्यवहृत होती जा रही थीं। ये लिपियाँ भारत की वर्तमान प्रचलित भाषाओं के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली संस्कृत और फारसी लिपियों की जननी हैं। अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है जिसमें स्थानीय प्रयोगों और व्यवहारों का पुट पाया जाता है। इससे एक बड़ा लाभ तो यह हुआ कि सर्वसाधारण उसे पढ़ और समझ सकते थे। इससे यह भी पता चलता है कि साक्षरता का कितना अधिक प्रचार था और वह केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं था। लिखने का प्रयोग पत्र-व्यवहारों में लोग प्राय नियमित रूप से करते थे और लिखित पत्र आदि सुरक्षित रक्खे जाते थे। इस युग के साहित्यिक विकास की एक प्रमुख विशेषता है इहलोकपरक साहित्य की रचना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस समय धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे ही नहीं गये वरन् हमारे इस कथन से अभिप्राय यह है कि पाणिनि के व्याकरण को छोड़कर अन्य किसी लौकिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ का प्रणयन इस युग के पहले नहीं हुआ था जब कि इस युग में पहुँचकर काव्य, नाटक आदि साहित्य शाखाओं को हम फलित होते देखते हैं और अर्थशास्त्र की रचना से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मण ने राजनीति जैसे लौकिक और शुष्क विषय को संस्कृत छन्दों का विषय बनाया। कामसूत्र का रचना काल भी कुछ विद्वान् मौर्य युग के अन्तर्गत ही रखते हैं

कात्यायन का पाणिनीय व्याकरण पर भाष्य इसी युग की रचना कही जाती है। बृहत्कथा के संस्कृत संस्करण हरिषेण के जैन बृहत्कथाकोष और बौद्ध-ग्रन्थ मंजुश्री मूलकल्प में नन्द चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के एक ब्राह्मण मन्त्री सुबन्धु का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने सुबन्धु का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख किया है, और उसको वासवदत्ता नाट्यधारा नामक एक विचित्र नाटक का रचयिता बताया है। जैन बृहत्कथाकोष में एक अन्य मन्त्री कवि का उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा चाणक्य और सुबन्धु के साथ की गई है। कवि इस समय का प्रमुख साहित्यकार जान पड़ता है किन्तु उसकी रचनाओं का हमें कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। पतञ्जलि के महाभाष्य द्वारा इस युग की साहित्यिक समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है। महाभाष्य में वररुचिकृत वाररुच काव्य का उल्लेख मिलता है। भोज के शृंगार प्रकाश में वसन्ततिलका वृत्त का एक आधा श्लोक उद्धृत किया गया है जिसे कात्यायन द्वारा प्रणीत बताया गया है। अन्य काव्यों का प्रणयन जिनका पतञ्जलि ने उल्लेख किया है इसी समय हो चुका होगा—इस प्रकार ययाति यवक्रीत प्रियंगु सुमनोत्तरा भैमरथ वासवदत्ता और देवासुर एवं राक्षसासुरह आदि कथाओं के आधार पर आख्यानों तथा आख्यायिकाओं की रचना हो चुकी थी।

धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण रचना-कार्य हुआ। इस समय जनता के धार्मिक जीवन में जो तीन प्रमुख धारायें थीं उनके अनुसार धार्मिक साहित्य की रचना हुई। वैदिक धर्म बौद्ध धर्म और जैन धर्म तीनों के धार्मिक साहित्य का प्रचुर निर्माण हुआ। वैदिक धर्म के अन्तर्गत इस काल में अनेक गृह्यसूत्र धर्मसूत्र और वेदांग ग्रन्थ

का प्रणयन किया गया। बौद्ध साहित्य की दृष्टि से यह युग काफी महत्त्व रखता है। बौद्ध त्रिपिटकों की रचना का समय तृतीय बौद्ध-संगीति जो सम्राट अशोक के राजत्व काल में हुई थी, के कुछ बाद बताया जाता है। इस संगीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अभिधम्मपिटक के कथावत्थु की रचना की। अन्य कई सूत्रों की रचना भी कुछ विद्वानों के अनुसार मौर्य-युग में ही हुई थी। जैन धर्म के प्रसिद्ध नेतागण जम्बू स्वामी, प्रभव और स्वयम्भव की रचनायें इसी युग में लिखी गईं। इस काल के जैन नेताओं में शीर्ष-स्थान को अधिकृत करनेवाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जैन अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने मौर्य सम्राट को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भद्रबाहु ने नियुक्ति अर्थात् प्रारम्भिक धर्म-ग्रन्थों पर एक भाष्य का प्रणयन किया। जैनियों के धार्मिक साहित्य के सृजन और संकलन की दृष्टि से तो मौर्य युग और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, उपासक दशांग, प्रश्न व्याकरण आदि महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों के अधिकांश भाग इसी समय लिखे गये।

कला की उन्नति—हम मौर्य-युग की कला के क्षेत्र में उपलब्धियों और उसके महत्त्व पर इस अध्याय के प्रारम्भ में ही विचार कर चुके हैं। मौर्य कला का प्रारम्भ अशोक के राजत्व काल से होता है। अशोक का यश केवल उसकी धर्म विजय पर ही नहीं वरन् कला और वास्तु के क्षेत्रों में उसके निर्माण कार्यों पर भी अवलम्बित है। जनश्रुति ने काश्मीर में श्रीनगर तथा नेपाल में ललित पाटन नगर के निर्माण का श्रेय उसे दिया है। फाह्यान के लेखानुसार उसने राजभवन और राजधानी के सम्बन्ध में भी प्रभूत निर्माण किये। परन्तु अशोक के शासन काल की कलात्मक उपलब्धियाँ भवन शास्त्र के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं अपितु उसने अन्य प्रकार की कलाकृतियों का भी निर्माण कराया। श्री आर० सी० मजूमदार ने अशोक के शासन काल की कलात्मक उपलब्धियों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है—

(१) स्तूप
(२) स्तम्भ
( ) गुफायें और
(४) निवास सम्बन्धी भवन

ईंटों या मजबूत पत्थरों से बने हुए ठोस गुम्बदों को स्तूप कहा जाता था। इन स्तूपों का निर्माण बौद्ध या जैन लोग किया करते थे। इनके निर्माण का उद्देश्य या तो किसी महत्त्वपूर्ण घटना अथवा पवित्र स्थान की स्मृति को सुरक्षित रखना था अथवा बुद्ध भगवान या अन्य धार्मिक सन्तों के अस्थ्यवशेषों की रक्षा करना था। स्तूपों का आकार छोटे से छोटा १ फुट से भी कम ऊँचा और बड़े से बड़ा भी हो सकता था। अशोक ने विशाल स्तूपों का बहुत बड़ी संख्या में निर्माण कराया था। अनुश्रुति के अनुसार उसने ८४००० स्तूप बनवाये थे। नौ सौ वर्षों बाद चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अफगानिस्तान और भारत में विभिन्न स्थानों पर इन स्तूपों को देखा था। दुर्भाग्य से अशोक द्वारा बनवाये गए स्तूपों में से अब केवल कुछ ही अवशिष्ट रह गए हैं। साँची का विशाल स्तूप अशोक का ही बनवाया बताया जाता है परन्तु जिस रूप में इसका अशोक ने निर्माण कराया था उसमें आगे चलकर काफी परिवर्तन हो गया। अशोक के समय में साँची स्तूप का निर्माण ईंटों के द्वारा हुआ था। एक शताब्दी बाद

इसका आधार ऊँचा करवा दिया गया और इसको पत्थर से ढकवा दिया गया। अशोक द्वारा सारनाथ में निर्मित धर्मराजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है।

अशोक द्वारा निर्मित कलाकृतियों में सबसे अधिक महत्त्व उसके स्तम्भों का है। इस समय यह सम्भव नहीं कि हम अशोक की आज्ञा पर बनाये गये स्तम्भों की बिल्कुल ठीक-ठीक संख्या बता सकें, परन्तु तीस से चालीस के बीच की संख्या अनुमानतः ठीक जान पड़ती है। स्तम्भों का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है। स्तम्भ आधार की ओर तो मोटे हैं किन्तु ऊपर की ओर पतले होते गये हैं। इनके तीन भाग किये जा सकते हैं—(१) ध्वज या स्तम्भ का तना जो बिल्कुल सादा परन्तु अत्यन्त चिकना और चमकीला है (२) अण्ड या गला जो घण्टा बना हुआ है और नानाविध अलंकारों—चक्र, पशु, पक्षी, लता, पुष्प आदि—से विभक्त और अलंकृत है (३) सबसे ऊपर स्तम्भ का शीर्ष है—जिसमें सिंह, हस्ति, अश्व, वृषभादि की मूर्तियाँ—एक या एक साथ बनी हैं।' स्तम्भ का निर्माण एक ही पत्थर से किया जाता था और पत्थर पर इतना सुन्दर तथा कुशलता के साथ पालिश किया गया है कि बहुत से लोगों ने स्तम्भों को धातु निर्मित समझ लिया था। सारनाथ का स्तम्भ मौर्य-युग की कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके निर्माण-कौशल की प्रशंसा सभी कला समालोचकों ने मुक्तकण्ठ से की है। स्तम्भ पर पशुओं की जो आकृतियाँ बनी हैं उनकी सजीवता और सुन्दरता सचमुच सराहने योग्य है। स्मिथ साहब ने ठीक कहा है कि सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष की तुलना में प्राचीन काल की पशु-स्थापत्य कला का इससे सुन्दर उदाहरण नहीं मिल सकता। सर जॉन मार्शल ने भी इस कला की अत्यन्त अधिक प्रशंसा की है। कुछ विषयों में स्तम्भों का निर्माण कला की पराकाष्ठा सूचित करता है। इनके द्वारा मौर्य शासन की सांस्कृतिक समृद्धि में काफी अभिवृद्धि होती है। इन स्तम्भों का निर्माण स्थापत्यकार और स्थापना मौर्य-युगीन शिल्प आचार्यों और शिल्प-संस्था की बुद्धि एवं कुशलता का अत्यन्त प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं। —(वी० ए० स्मिथ)।

अशोक के समय में भिक्षुओं के निवासार्थ विहारों तथा गुफाओं (Cave dwellings) का निर्माण कराया गया था। बाराबर की पहाड़ियों में ऐसी सात गुफाएँ अवस्थित हैं जिनमें भिक्षु निवास करते थे। इन गुफाओं की दीवारें इतनी चमकदार हैं कि वे दर्पण के सदृश जान पड़ती हैं और निर्माणकर्ताओं के असीम अध्यवसाय एवं सच्ची कला निपुणता का निदर्शन करती हैं। अशोक ने जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कई भवनों का निर्माण भी कराया था किन्तु वे इस समय नहीं मिलते। चीनी यात्री फाह्यान ने अशोक निर्मित एक भवन को देखा था जिसके निर्माण-कौशल को देखकर वह विस्मय विमुग्ध हो गया था। उसने समझा कि ऐसा अद्भुत भवन अशोक ने दानवों द्वारा बनवाया होगा क्योंकि इसका निर्माण साधारण मनुष्यों द्वारा सम्भव नहीं।

मौर्यों के बाद का भारत | १५

ब्राह्मण साम्राज्य

मौर्य साम्राज्य के अनन्तर भारत की दशा—मौर्य साम्राज्य का प्रखर सूर्य भारत के राजनीतिक गगन पर एक शताब्दी तक अपने पूर्ण प्रकाश के साथ चमकता रहा परन्तु इसके उपरान्त उसे भी अस्ताचल की ओर गमन करना पड़ा। अशोक के उपरान्त ही विशाल साम्राज्य, जिसके लिए उसने चतुर्दश शिलालेख में लिखा था "महालके हि विजितं" अर्थात् मेरा साम्राज्य सुविस्तृत है, अपने मध्याह्न सूर्य के उत्कर्ष से पतन की ओर अग्रसर होने लगा। सम्राट अशोक के उत्तराधिकारियों में से कोई भी अपने पूर्वज (चन्द्रगुप्त) की तरह पराक्रमी नहीं हुआ और न किसी में अशोक की सी शासननिपुणता ही थी। अशोक के इतने बड़े राज्य के लिए उस जैसे या उससे भी अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी किन्तु दुर्भाग्य से उसके उत्तराधिकारी राजनीति की दृष्टि से अकर्मण्य प्रमाणित हुए। मौर्यों के अधीन जिस भारत ने एक प्रचण्ड राजनीतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का अनुभव किया था उसी भारत में अशोक की मृत्यु के अनन्तर शीघ्र ही विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। इस बात में सन्देह नहीं कि अशोक के बाद भी मौर्य-वंश के नरेश भारत पर राज्य करते रहे किन्तु अशोक मौर्य वंश का अन्तिम महान सम्राट था क्योंकि उसके बाद कौन सिंहासनारूढ़ हुआ हमें इस बात की ही ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो पाती। इस विषय में विभिन्न साक्ष्यों में जो जानकारी मिलती है वह परस्पर एक दूसरे से इतनी भिन्न और सन्दिग्ध है कि हम यह सुनिश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उसके बाद मौर्य-वंश की राजगद्दी पर कौन बैठा। बात यह मालूम पड़ती है कि अशोक के मरते ही देश में विकेन्द्रीकरण और राज्य विद्रोह की प्रवृत्ति इतनी अधिक प्रधान हो गई कि पाटलिपुत्र और उसके स्वामी को जिन्हें कुछ ही दिनों पूर्व क्रमशः समस्त भारत की राजधानी और उसका चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव प्राप्त था, महत्व बिल्कुल घट गया। यदि कोई प्रतापी राजकुमार अथवा सम्राट विकेन्द्रीकरण की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोक कर अपने वंश के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करता तो उसके विजय संकीर्तन भी तो हम उस समय के साहित्य द्वारा सुनने को मिलते या उसके विजय चिह्न के अवशेष ही हमें प्राप्त होते। परन्तु स्थिति को सुधारना तो दूर रहा दिनोदिन इसके बिगड़ते रहने को भी कोई रोक न सका। शनैः शनैः मौर्य-साम्राज्य के विभिन्न प्रान्त इससे पृथक होने लगे और केन्द्रीय शक्ति का प्रभाव कम हो जाने पर चारों ओर अराजकता तथा अव्यवस्था फैलने लगी। ज्यों ही पाटलिपुत्र के केन्द्रीय शासन शिथिल पड़े कई प्रान्तों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपनी-अपनी स्वाधीनता का दुन्दुभिनाद किया। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि अशोक के मरते ही उसके पुत्र जालौक ने अपने को काश्मीर का स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया और इसी प्रकार वीरसेन भी गान्धार प्रदेश का अधिकारी बन बैठा। दूर के प्रान्तों की यह हाल देखकर निकटवर्ती प्रदेशों ने भी उसी नीति का अनुसरण किया। स्वाधीनताप्रिय कलिंगवासियों ने, जिनको अपने अधीन करने में अशोक को भयंकर नरसंहार करना पड़ा था, उसके मरते ही अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुन

प्राप्त कर ली। पड़ोस के महाराष्ट्र प्रदेश ने भी ऐसा ही किया और आन्ध्र भी अपनी स्वतन्त्रता सत्ता स्थापित करने में पीछे न रहा। मौर्य-वंश का प्रभाव अस्ताचलगामी क्षिप्तकिरण सूर्य की भाँति दिनों दिन सीमित होता और सिकुड़ता गया। दक्षिण का प्रदेश न केवल साम्राज्य से पृथक् ही हो गया अपितु उसने विशाल मौर्य साम्राज्य के लघु अवशिष्ट भाग के राजनीतिक गौरव को चुनौती भी देना आरम्भ किया। देश की विशृंखलित राजनीतिक स्थिति से लाभ उठाने की इच्छा रखनेवाले यवनों ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को पार किया और गान्धार (उत्तरी पश्चिमी सीमा) साकल (उत्तर मध्य पंजाब) तथा अन्य स्थानों पर अपने शक्तिशाली राज्यों की स्थापना की। मगध में भी एक महान् राजनीतिक उत्क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप एक नया राजवंश सत्तारूढ़ हुआ। यह वंश था शुंगवंश और इस क्रान्ति का नेता था पुष्यमित्र शुंग।

पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ का वध करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। पुराणों में इस राजनीतिक क्रान्ति का विवरण प्राप्त होता है।[1] बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हर्षचरित में लिखा है कि जिस समय बृहद्रथ अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था सेनानी (पुष्यमित्र) ने उसको तलवार के घाट उतार दिया।[2] पुष्यमित्र के विषय में कुछ जानने के पहले हम शुंगों की जाति के विषय में अवश्य कुछ जान लेना चाहिए।

शुंगों की जाति

शुंगों की जाति के विषय में काफी मतविभिन्नता दिखलाई पड़ती है। दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रन्थ पुष्यमित्र द्वारा मौर्य साम्राज्य के ध्वंस किये जाने की बात तो कहता है परन्तु इस ग्रन्थ में उसे मौर्यवंश का ही बतलाया गया है। कुछ विद्वानों ने शुंगों को ईरानी बतलाकर अभारतीय प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि चूँकि ईरान में मित्र (सूर्य) की बहुत पूजा की जाती थी और शुंग वंश के प्रत्येक नरेश के नाम में 'मित्र' अवश्य लगा हुआ है इससे यह वंश ईरानी प्रतीत होता है। परन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। केवल नाम के आधार पर शुंगों को ईरानी प्रमाणित करने का हमें कोई औचित्य नहीं दिखलाई पड़ता। अधिकांश मत है कि वे किस गोत्र के हैं। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में अग्निमित्र को बैम्बिक वंश और काश्यप गोत्र का बतलाया है। महर्षि पाणिनि ने शुंगों को विख्यात भरद्वाज गोत्र का बतलाया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में शुंगों को आचार्य कहा है। उपनिषदों में भी शुंगकुल का उल्लेख मिलता है। शुंगकुल की एक पुत्री में उत्पन्न एक प्रसिद्ध विद्वान् का जिक्र आता है जिसे शौंगीपुत्र कहा गया है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने स्पष्ट रूप से शुंगों को ब्राह्मण कहा है। एक स्थान पर तो तारानाथ ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण राजा कह दिया है। इन सब साक्ष्यों के आधार पर शुंगों का अभारतीय होना तो निराधार प्रमाणित हो ही जाता है उनको ब्राह्मण जाति का मानना कुछ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

[1] पुष्यमित्रस्तु सेनानी समुद्धृत्य बृहद्रथम्

[2] 'प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यम् ए[...] पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।'

अब प्रश्न यह उठता है कि बुद्धिजीवी ब्राह्मण ने जिसका प्रमुख कर्तव्य तत्व-चिन्तन, शास्त्रों का अध्यापन और आत्मिक विकास करना था, अपने हाथ में शस्त्र-ग्रहण क्यों किया। लेकिन पुष्यमित्र का अपने हाथों में तलवार पकड़ना और एक राजा को सिंहासन च्युत करना उसके लिए कोई अनातिकुनशाल बात नहीं थी। भारतीय साहित्य और इतिहास में इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण ने शास्त्राध्ययन छोड़कर शस्त्राभ्यास को अपनाया है। परशुराम, जिनको भगवान का अवतार माना गया है, एक परम पराक्रमी ब्राह्मण योद्धा थे। इसी प्रकार महाभारत में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण हमारे सम्मुख योद्धा और शस्त्राभ्यासी के ही रूप में आते हैं, शास्त्र चिंतक के रूप में नहीं। देश और धर्म की रक्षा करने के लिए सिन्धु की निचली घाटी में ब्राह्मणों ने यवन आक्रमणकारी सिकन्दर का सामना किया था और विदेशी विजेता के विरुद्ध पड़ोस के क्षत्रिय राजाओं और उनके प्रजाजनों को प्रोत्साहित किया था। यहाँ पर जगत विजेता सिकन्दर को एक ऐसे समुदाय से लोहा लेना पड़ा था जो अपने राज्य की तुच्छ सीमाओं की रक्षा के लिए प्रयत्नशील न था वरन अपने धर्म की पवित्रता और अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं को म्लेच्छों से बचाना चाहता था। इसी उदाहरण को ध्यान में रखकर सम्भवतः पुष्यमित्र शुंग ने अपने हाथ में शस्त्र ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त उसके सम्मुख कुछ ही शताब्दियों पूर्व के ऐसे राजनीतिक विप्लव का उदाहरण था जिसका नियामक एक ब्राह्मण ही था। यह ब्राह्मण था इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य, जिसने स्वयं तो कदाचित् शस्त्र नहीं ग्रहण किया परन्तु जिसकी बुद्धिमत्ता, कूटनीतिज्ञता ने नन्दों का उन्मूलन करने में चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की। चाणक्य के इस उदाहरण को ध्यान में रखने पर हमें पुष्यमित्र के कार्य का औचित्य समझ में आ जाता है।

पुष्यमित्र का साम्राज्य निर्माण

बृहद्रथ की हत्या करने के उपरान्त पुष्यमित्र मगध राज्य का स्वामी तो बन गया परन्तु उसके राज्य की स्थिति अभी बड़ी डाँवाडोल थी। हम देख ही चुके हैं कि पड़ोस के राज्यों कलिंग, आंध्र और महाराष्ट्र ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी और मगध राज्य को वे चुनौती देने पर तुले हुए थे। मगध के हाथों से सीमान्त प्रान्त निकल जाने से इसकी शक्ति खोखली हो गई थी और पड़ोस के राज्यों की बढ़ती हुई शक्ति इसके स्वामी के लिए एक अत्यन्त विकट समस्या थी। अतएव मगध पर अधिकार जमा लेने के बाद पुष्यमित्र ने सबसे पहले अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। प्राची, कोसल, आकर, वत्स और अवन्ति को जो अभी भी मगध के अधीन थे, पुष्यमित्र ने पुनः संगठित किया और इन प्रान्तों पर अपनी सत्ता का दृढ़ सिक्का जमाने का पूरा प्रयत्न किया। अवन्ति का राज्य मगध से कुछ दूर पड़ता था और मौर्य सम्राटों के बाद अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाने से शासन-व्यवस्था शिथिल तथा विशृंखलित हो गई थी जिससे पाटलिपुत्र से अवन्ति पर केन्द्रीय शक्ति का अधिकार पूर्ण रूप से जमा रखना दुस्साध्य प्रतीत हो रहा था। अतएव पुष्यमित्र ने आकर प्रान्त के मुख्य नगर विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। विदिशा में उसने अपने पुत्र अग्निमित्र को राज्य प्रतिनिधि के रूप में रक्खा। अग्निमित्र का उसने आकर अवन्ति प्रान्त सुदृढ़ कर लेने के बाद पुष्यमित्र ने अपना ध्यान साम्राज्य विस्तार की ओर दिया। परन्तु देश की विकट राजनीतिक अवस्था के कारण वह सुदूर राज्यों को अपने अधिकार में नहीं कर सका। विदर्भ राज्य के साथ उसका संघर्ष हुआ जिसमें उसके आतंक का सिक्का अच्छी तरह से जम गया।

विदर्भ के साथ पुष्यमित्र की सफलता—पुष्यमित्र के पुत्र और विदर्भ राज्य के साथ जो संघर्ष हुआ उसका विवरण हमें महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' से प्राप्त होता है। नाटक में इस संघर्ष की घटना का विवरण इस प्रकार से दिया गया है—दक्षिण में विदर्भ राज्य था जो अग्निमित्र की राजधानी विदिशा के काफी निकट था। विदर्भ राज्य की स्थापना अभी कुछ ही दिनों पूर्व हुई[1] थी और उसकी शक्ति सुदृढ़ नहीं होने पाई थी। विदर्भ का शासक यज्ञसेन था जिसे कुछ विद्वान अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सम्बन्धी मानते हैं सम्भवतः वह मौर्य सम्राट् की ओर से विदर्भ का शासन करने के लिए नियुक्त किया गया था परन्तु बृहद्रथ की मृत्यु के बाद उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। कदाचित् वह पुष्यमित्र शुंग या उसके पुत्र की अधीनता स्वीकार करने के लिए किंचित् भी तैयार नहीं था। नाटक के आधार पर डा० रायचौधरी[2] ने यह अनुमान लगाया है कि बृहद्रथ के राजत्वकाल में ही राज्य के दो परस्पर विरोधी दल बन गये। एक दल था मौर्य-सेनापति पुष्यमित्र शुंग का और दूसरे दल का नेतृत्व कर रहे थे मौर्य-सचिव। इन दोनों दलों में पारस्परिक वैमनस्य अवश्य ही रहा होगा। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक नियुक्त किया गया था। यह हम ऊपर देख चुके हैं। विदर्भ का शासक इस समय यज्ञसेन था जो मौर्य सचिव का साला था। नाटक में यज्ञसेन को शुंगों का स्वाभाविक शत्रु कहा गया है जिससे दोनों के पारस्परिक वैमनस्य के विचार की पुष्टि होती है। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन, अपने भाई का साथ न देकर अग्निमित्र का मित्र था। यज्ञसेन को बिना किसी प्रकार की सूचना दिये वह विदिशा में गुप्तरूप से अग्निमित्र से मिलने जा रहा था। किन्तु ऐसा करने के पूर्व ही उसे यज्ञसेन के सीमारक्षकों ने बन्दी बना लिया। इस पर अग्निमित्र को बड़ा क्रोध आया और उसने यज्ञसेन के पास इस आशय का सन्देश भेजा कि माधवसेन को शीघ्र ही मुक्त किया जाय। किन्तु यज्ञसेन ने माधवसेन को इस शर्त पर मुक्त करने का वादा किया कि यज्ञसेन का साला, जो मौर्यों का सचिव था और जो इस समय शुंगों का बन्दी था, अविलम्ब कारागृह से छोड़ दिया जाय। इस शर्त को सुनकर अग्निमित्र के क्रोध का ठिकाना न रहा और उसने वीरसेन को तुरन्त विदर्भ पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। वीरसेन के आक्रमण का फल यह हुआ कि यज्ञसेन को आत्म समर्पण कर देना पड़ा। माधवसेन कारागृह से मुक्त हो गया और विदर्भ राज्य को दोनों चचेरे भाइयों के बीच बाँट दिया गया। वरदा नदी उनके राज्यों की सीमा निर्धारित हुई। दोनों ही राज्यों ने शुंगों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार दाक्षिणात्य के कुछ भाग पर पुनः मगध राज्य का अधिकार हो गया। सम्भवतः पुष्यमित्र और उसके पुत्र मगध राज्य की सीमा का विस्तार करने का प्रयत्न करते परन्तु एक बहुत बड़ी विपत्ति ने उनका ध्यान उस ओर से बिल्कुल हटा दिया। यह विपत्ति थी—यवनों का आक्रमण।[1]

यवनों का आक्रमण—पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी यवनों का आक्रमण और उसका शुंगों द्वारा प्रबल प्रतिरोध। मौर्य-वंश के पतन

---

[1] इसी बात को कहने के लिए महाकवि कालिदास ने अपने कविजनोचित शब्दों का प्रयोग किया है। वे विदर्भ राज्य की नूतनता बतलाने के लिए 'अचिराधिष्ठित' विशेषण का प्रयोग करते हैं और उसकी उपमा 'नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव' से देते हैं।

[2] *Political History of Ancient India*

मग्र के समयसे ही देश की उत्तरी पश्चिमी सीमा अरक्षित प्रतीत होने लगी। उसके निकट ही बाख्त्री यवनों के राज्य स्थापित हो चुके थे। यवन राज्य भारत पर अपनी गृद्ध दृष्टि सदैव लगाये रखते थे। पुष्यमित्र के समय में यवनों ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का विवरण हमें पतञ्जलि के महाभाष्य एवं गार्गी संहिता के द्वारा मिलता है। तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र के राज्य काल में भारत पर सबसे पहले विदेशी यवनों का आक्रमण हुआ था। पतञ्जलि जो पुष्यमित्र के समकालीन थे[1] इस आक्रमण का उल्लेख करते हैं। अनद्यतनभूत क्रिया के उदाहरण देते समय उन्होंने इसका उल्लेख किया है जो घटना का लेखक के काल से पूर्व परन्तु उसकी स्मृति में सुरक्षित कर देता है। उदाहरण इस प्रकार है अरुणत् यवन साकेत (यवनों ने साकेत को घेरा) अरुणत् यवना माध्यमिका (यवनों ने माध्यमिका घेरी)। इस प्रमाण को गार्गी संहिता भी यह कहकर पुष्ट करती है कि दुष्ट विक्रान्त यवनों ने मथुरा पंचाल देश (गंगा का द्वाब) और साकेत को जीत लिया और वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) जा पहुँचे।[2] लेकिन यवनों को पाटलिपुत्र से पीछे लौट जाना पड़ा। प्रोफेसर राधा कुमुद मुकर्जी का विचार है कि यवनों का यह आक्रमण सम्भवतः उस समय हुआ होगा जिस समय पुष्यमित्र मौर्यों का सेनापति रहा होगा और यह असम्भाव्य नहीं है कि यवनों के विरुद्ध उसकी सफलताओं ने राजसिंहासन के लिए सफल उद्योग करने के लिए स्थिति पद और शक्ति प्रदान की।[3] प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि पुष्यमित्र शुंग को दो यवन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। पहले आक्रमण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरे आक्रमण का विवरण मालविकाग्निमित्रम् से प्राप्त होता है। यह उस समय हुआ जब पुष्यमित्र निश्चय वृद्ध हो चुका था उसका पौत्र भी इतना बड़ा था कि उसके नायकत्व में राजकीय सेनायें युद्ध के लिए भेजी जा सकती थीं और जिसके विक्रम की नाटक में खूब प्रशंसा की गई है। यह यवन-युद्ध जिसका सम्बन्ध पुष्यमित्र के अश्वमेध से है निश्चित रूप से उसके शासन के अन्तिम भाग में हुआ प्रतीत होता है। कालिदास ने अग्निमित्र के पुत्र कुमार वसुमित्र और एक यवन सरदार के संघर्ष का उल्लेख किया है। यह संघर्ष उस समय हुआ जब कि वसुमित्र यज्ञ के अश्व की रक्षा के लिए ससैन्य विचरण कर रहा था और यवन सरदार ने घोड़ा बाँध लिया। यवनों ने वसुमित्र की सेना को सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर रोका। घोर संग्राम के फलस्वरूप यवनों को बुरी तरह पराजित होना पड़ा और यज्ञ का अश्व आदर-सहित वापस लाया गया। यवनों के साथ पुष्यमित्र शुंग के पौत्र वसुमित्र का संघर्ष कालिदास के कथनानुसार सिन्धु के दक्षिण तट पर हुआ। इस सिन्धु नदी की स्थिति के विषय में विद्वानों में परस्पर काफी मतभेद है। कुछ विद्वान इसे

---

[1] पतञ्जलि ने पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख करते हुए लिखा है, "इह पुष्यमित्रम् याजयाम" वर्तमान काल के प्रयोग से यह सिद्ध है कि यज्ञ अभी समाप्त नहीं हुआ था और महाभाष्यकार पतञ्जलि जो यज्ञ के प्रधान पुरोहित थे पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे।

[2] ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मथुरां तथा
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्।

[3] *Age of Imperial Unity* p. 96—Chapter VI *The Fall of the Magadhan Empire*

पंजाब की सिंधु नदी बतलाते हैं और कुछ के विचार में यह इसी नाम की मध्य भारत की एक नदी था।[1]

हम संस्कृत ग्रन्थों में जिनके द्वारा यवन आक्रमण का विवरण प्राप्त होता है यवन सरदार के नाम का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ इतिहासकारों के अनुसार भारत पर यवन आक्रमण का नेतृत्व डेमिट्रियस कर रहा था और कुछ के विचार में डेमिट्रियस नहीं बल्कि मीनेण्डर आक्रमणकारियों का नेता था। प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि 'गार्गी संहिता में वर्णित एवं पतञ्जलि महाभाष्य में उल्लिखित पाटलिपुत्र के यवन आक्रमण का अधिनायक सम्भवतः डेमेट्रियस (Demetrius) था।' दूसरे आक्रमण का नेतृत्व प्रोफेसर घोष के मतानुसार, मीनेण्डर ने किया था।

अश्वमेध यज्ञ—अपनी सफलताओं के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उसके लिए यह यज्ञ करने के महत्वपूर्ण कारण थे। पहली बात तो यह कि विदर्भ राज्य के ऊपर उसकी प्रभुता का सिक्का अच्छी तरह जम चुका था और विदेशी आक्रमणकारियों को दो बार निराश होकर लौट जाना पड़ा जिससे शुंगवंश के गौरव में अभिवृद्धि हुई। इसी वंश-गौरव की अभिवृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। अश्वमेध यज्ञ किए जाने की पुष्टि अभिलेखिक और साहित्यिक दोनों साक्ष्यों द्वारा होती है। इस विषय में पातञ्जलि महाभाष्य का साक्ष्य हम देख चुके हैं—(देखिए पाद टिप्पणी २ पृष्ठ ३५१)। अयोध्या के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि पुष्यमित्र ने एक नहीं अपितु दो-दो अश्वमेध यज्ञ किये। उसमें कहा गया है—'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेध याजिन सेनापतेः पुष्यमित्रस्य।' अश्वमेध के विषय में मालविकाग्निमित्र का साक्ष्य इस प्रकार है यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् विदिशा स्थित कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय-यज्ञ की दीक्षा लेकर सैकड़ों राजपुत्रों के साथ वसुमित्र की संरक्षता में एक वर्ष में लौट आने के नियम के अनुसार यज्ञ का अश्व बन्धन से मुक्त कर दिया। सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर विचरते हुए उस अश्व को यवनों ने पकड़ लिया। जिससे दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओं को पराजित कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमान के द्वारा वापस लाये हुए अश्व से राजा सगर ने यज्ञ किया था वैसे मैं भी अपने पौत्र द्वारा रक्षा किए हुए अश्व से यज्ञ करूंगा। अतएव तुम्हें यज्ञ-दर्शन के लिए वधू जन-समेत शीघ्र आना चाहिए।[2]

पुष्यमित्र की राज्य सीमायें—पुष्यमित्र का शासन काल छत्तीस वर्षों (१८७–१५१ ई० पू०) तक रहा। उसका राज्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला था। पंजाब का पश्चिमोत्तर भाग सम्भवतः उसकी राज्य-सीमा के बाहर था। मगध का निकटवर्ती

---

[1] विंसेंट स्मिथ *Early History of India* 4th Edition का विचार है, कि कालिदास द्वारा उल्लिखित सिन्धु अब बुन्देलखण्ड और राजपूताना के समय की सीमा का निर्माण करती है।' परन्तु इस विषय पर काफी मतभिन्य है। इसके लिए देखिये *Indian Historical Quarterly* p 214— और *J U P Hist Soci* July 1941 pages 9 to 20

[2] मालविकाग्निमित्रम—पञ्चमोऽङ्क

समस्त देश उसके राज्य में सम्मिलित था। बिहार और आधुनिक उत्तर प्रदेश निश्चय ही उसके राज्य में थे। बंगाल में समुद्र तट तक उसका अधिकार था। आधुनिक बुन्देलखण्ड पर भी पुष्यमित्र शुंग का अधिकार था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। विदिशा में भी उसने एक राजधानी का निर्माण किया था।

पुष्यमित्र शुंग और बौद्ध धर्म—कतिपय बौद्ध ग्रन्थों में पुष्यमित्र शुंग के ऊपर यह आरोप लगाया गया है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल शत्रु था। दिव्यावदान के लेखक का कथन है कि पुष्यमित्र ने यह घोषणा निकलवाई थी कि जो मुझे एक श्रमण का सिर लाकर देगा उसे सौ दीनार दूंगा।[1] तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र धार्मिक क्षेत्र में बड़ा असहिष्णु था। उसने बौद्धों पर भांति भांति के अत्याचार किये और उनके मठों तथा संघारामों को वह जलवा दिया करता था। प्रोफेसर नगेन्द्रनाथ घोष इन बौद्ध साक्ष्यों को यथार्थ मानते हैं और उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का, जिसके द्वारा पुष्यमित्र को मगध का सिंहासन प्राप्त हुआ, ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण करके इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापति बौद्धों का प्रपीडक था। वे इस विचार को भी नहीं मानते कि भरहुत के स्तूप पर तोरणों एवं सूचियों का निर्माण पुष्यमित्र के समय में हुआ था। किन्तु उनके इस कथन को मानते हुए भी कि इन तोरणों का निर्माण पुष्यमित्र शुंग के बहुत बाद हुआ हम यह नहीं कह सकते कि पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर अत्याचार किये। प्रोफेसर घोष ने अपने कथन को जिन साक्ष्यों पर आधारित किया है वे तर्कसम्मत और प्रत्ययोत्पादक नहीं प्रतीत होते। दिव्यावदान तथा तारानाथ के ग्रन्थ में पुष्यमित्र की धार्मिक नीति के विषय में जो कथायें मिलती हैं उनमें ग्रन्थकारों की निराधार और विचित्र कल्पना का इतनी बहुलता से समावेश है कि हम उन पर विश्वास नहीं कर सकते। घोष महोदय ने महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के इस कथन को बिल्कुल ठीक स्वीकार कर लिया है कि मौर्यों के शासन काल में ब्राह्मणों को कुछ यन्त्रणापूर्ण असुविधायें थीं जिनके कारण उनके असन्तोष के औचित्ययुक्त कारण थे और पुष्यमित्र शुंग असन्तुष्ट ब्राह्मणों का प्रतिनिधि था। अतएव अपने वर्ग के असन्तोष का प्रतिकार करने के लिए उसने बौद्धों को प्रपीडित किया। परन्तु पं० हरप्रसाद शास्त्री के प्रत्येक आरोप का डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास' में सबल और प्रमाणयुक्त तर्कों द्वारा अच्छी तरह से खण्डन कर दिया है। राय चौधरी महोदय पुष्यमित्र को बौद्धों का प्रपीडक नहीं मानते। हमारी दृष्टि में बौद्ध अनुश्रुतियों का यह साक्ष्य न केवल निराधार ही है अपितु ईर्ष्या और असन्तोष की भावना द्वारा प्रणोदित है। पुष्यमित्र ने बौद्ध सम्राट बृहद्रथ की हत्या करके राजसिंहासन हस्तगत कर लिया था जिससे बौद्धों को अवश्य ठेस पहुंची होगी और वे रुष्ट भी हुए होंगे। इसके अतिरिक्त उसने चिरकाल से लुप्त अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया जिससे बौद्ध श्रमण अवश्य विक्षुब्ध हुए होंगे। बौद्ध-ग्रन्थों में पुष्यमित्र के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे स्पष्टतया ग्रन्थकारों के रोष और असन्तोष का प्रदर्शन करते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर हम यह नहीं कह सकते कि पुष्यमित्र शुंग का दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के प्रति शत्रुतापूर्ण था। हां एक बात हम सोच सकते हैं वह यह कि पुष्यमित्र ने कुछ बौद्धों को तलवार के घाट उतारा और कुछ बौद्ध-संघों का विध्वंस कराया लेकिन इसलिए नहीं कि उसके हृदय में बौद्धों या बौद्ध

१ 'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि

धर्म के प्रति कोई घृणा अथवा ईर्ष्या थी बल्कि उसके कुछ बौद्ध प्रजा-जन और बौद्ध-संघ अपने धार्मिक कर्तव्यों को भुलाकर राजनीतिक कुचक्रों में पड़ गये थे। वे पुष्यमित्र की ब्राह्मणवादिनी वैदिक नीति से असन्तुष्ट होकर उसके विरुद्ध यवनों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रच रहे थे। यह बहुत सम्भव है कि पुष्यमित्र शुंग उनके इस राष्ट्र विरोधी काम से कोपाविष्ट हुआ हो और उसके अपराधियों को जो दुर्भाग्य से बौद्ध हो रहे हों, कठोर दण्ड दिया जिससे विद्रोहियों के साथी उनके उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करें और देश व संस्कृति के प्रति विध्वंसक कार्यों से विलग रहें। हमारा यह विचार है कि बौद्ध लोग इस समय देश के कुछ भागों में पंचमांगियों का काम कर रहे थे सर्वथा निराधार नहीं है। इस बात को तो दिव्यावदान भी मानता है कि पुष्यमित्र ने 'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि' की घोषणा स्यालकोट में की थी। यह घोषणा पाटलिपुत्र, विदिशा, अयोध्या अथवा अन्य किसी नगर में नहीं अपितु सीमा के एक नगर में की गई जहाँ पर यूनानी प्रभाव विद्यमान था। इस बात को सिद्ध करता है कि बौद्धों को दबाने में पुष्यमित्र शुंग का एक राजनीतिक उद्देश्य था। ऐसा करने में वह धार्मिक पक्षपात की संकीर्ण भावना से उत्साहित नहीं था। हम इस विषय में W. W. Tarn के प्रसिद्ध ग्रन्थ The Greeks in Bactria and India से भी कुछ महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। क्या कारण था कि यूनानियों को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में सरलता से सफलता मिल सकी जब कि वे आगे बढ़ने में असमर्थ रहे? इसके उत्तर में टार्न महोदय ने दो कारणों का अनुमान किया है। पहला कारण तो यह था कि पश्चिमोत्तर सीमा की जनता में विदेशी तत्व प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे और दूसरे यह कि वहाँ बौद्ध लोग यूनानियों की सहायता करते थे। इस दूसरे कारण से पुष्यमित्र का अपने राज्य की सुरक्षा और देशहित की दृष्टि से रुष्ट होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था। सुविख्यात अंग्रेज विद्वान् श्री ई० बी० हैवल ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह हमें सबसे अधिक तर्क-सम्मत और युक्ति-संगत जँचता है। उन्होंने लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों का दमन इसलिए किया कि उनके संघ राजनीतिक शक्ति के केन्द्र बन गये थे, इसलिए नहीं कि वे एक ऐसे धर्म को मानते थे जिसमें वह विश्वास नहीं करता था।[1]

पुष्यमित्र के कार्यों की विवेचना—दुर्भाग्य से पुष्यमित्र हमारे सम्मुख एक राजहन्ता और राज्यहर्ता के रूप में आता है। स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी बाणभट्ट ने इस ब्राह्मण सेनानी को अनार्य कहा है। किन्तु एक तटस्थ पर्यवेक्षक की दृष्टि में राजा का घातक होते हुए भी वह अनार्य नहीं हो सकता। उसने एक ऐसे समय में मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या की जिस समय न केवल देश में विघटनात्मक प्रवृत्ति का बोलबाला था वरन् विदेशी आक्रमणकारियों के प्रबल थपेड़ों से पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के द्वार अनावृत हो गये थे और वे देश के आन्तरिक भाग में भी घुसने लगे थे। 'अरुणद् यवनः साकेतम्' और 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' के द्वारा उस युग का

---

[1] Whatever truth there may be in the stories of the persecution of Buddhism by Pushyamitra—Buddhist chroniclers allege that he burnt their monasteries and killed many of the monks—it is certain that it was not against Buddhism as a religion, but the Sangha as a political power, that such violent means of suppression were directed. —*Aryan Rule in India*, p. 123

भीषण आपत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। आशंका यह थी कि यदि इस समय इन यवनों को एक प्रबल अवरोध न प्राप्त होता तो वे थोड़े ही समय में देश के बहुत बड़े भाग में फैल जाते। उस समय देश की क्या अवस्था होती यह तो हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं किन्तु हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि यवनों का सारे देश में फैल जाना देश की प्राचीन संस्कृति के लिए हितकर कभी नहीं हो सकता था। विदेशी आक्रमणकारियों को जिनको उस समय की जनता म्लेच्छ समझती थी पीछे ढकेल देने वाला व्यक्ति अनार्य नहीं कहा जा सकता यद्यपि वह एक राजहन्ता है। हमारे पास इस बात के सबल प्रमाण भी नहीं हैं कि पुष्यमित्र शुंग ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए राज्य हस्तगत नहीं किया परन्तु हमारा ऐसा मानना बिल्कुल निराधार नहीं समझा जा सकता। उसने बृहद्रथ को मारकर जिस ताज को अपने सिर पर धारण किया वह सोने का नहीं काँटों का ताज था यह हम देख चुके हैं। अपने छत्तीस वर्षों के शासनकाल में वह आपत्तियों से जूझता ही रहा विलास और भोग से वह दूर रहा। यदि राजा हो जाने पर वह भोग विलास में लिप्त हो जाता तो देश की रक्षा असम्भव हो जाती और उसकी धार्मिक नीति की कटु आलोचना करने वाले बौद्ध-ग्रन्थ जिनके प्रणेताओं ने उसके लिए कुछ असद् शब्दों का प्रयोग किया है उसकी विलासिता और अकर्मण्यता का अतिरञ्जनपूर्ण वर्णन करते। राज्य हस्तगत करने पर भी इस वीर और निस्पृह ब्राह्मण ने कभी सम्राट की उपाधि नहीं धारण की। वह मौर्य-सेना का सेनापति था और सदैव अपने को सेनानी ही कहता रहा। अयोध्या का अभिलेख गर्व से कहता है कि उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ किये परन्तु उसके लिए उस अभिलेख में भी 'सेनापति' विशेषण ही प्रयुक्त किया गया है। मालविकाग्निमित्र नाटक में भी पुष्यमित्र शुंग को सेनापति ही कहा गया है जब कि उसके पुत्र अग्निमित्र के लिए 'कुमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक विशाल भू-भाग का एकच्छत्र स्वामी होने पर भी अपने लिए किसी विरुद या पदवी का प्रयोग न करना पुष्यमित्र शुंग की निःस्वार्थ देशभक्ति को सूचित करता है जब कि हम देखते हैं कि अन्य नरेशों को आडम्बरपूर्ण विशेषणों और बड़े विरुदों से विशेष अनुराग था। जिस भाग पर उसने अपना अधिकार स्थापित किया उसे उसने पौरुष एवं सैन्यबल से शान्ति तथा सुव्यवस्था प्रदान की। उसने देश में संस्कृति और कला को प्रश्रय प्रदान करने के लिए एक अनुकूल वातावरण की सृष्टि की। ब्राह्मण धर्म का वह प्रबल परिपोषक था और अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करके उसने इस धर्म के प्रति अपने अनन्य अनुराग को अभिव्यक्त भी किया। परन्तु उसकी ब्राह्मण धर्म में दृढ़ आस्था था केवल इस अनुमान और बौद्ध अनुश्रुतियों के आधार पर हम उसे संकीर्ण दृष्टिकोण वाला नहीं कह सकते। इस विचार के औचित्यानौचित्य का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। उसने कोई महान सैनिक विजय नहीं की इसलिए वह एक महान विजेता नहीं कहलाया जा सकता परन्तु अपनी संकटापन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उसने जो कुछ किया उसके लिए एक निष्पक्ष इतिहासकार उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। एक अन्य बात के लिए भी हमें पुष्यमित्र शुंग की प्रशंसा करना पड़ता है। उसने विदर्भ राज्य के साथ जो व्यवहार किया उससे उसकी कूटनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यज्ञसेन की पराजय के बाद विदर्भ का राज्य उसके अधीन हो चुका था और यदि वह चाहता तो उसे अपने राज्य में मिला लिया होता किन्तु उसने विदर्भ को दो भागों में विभक्त कर यज्ञसेन एवं माधवसेन को दे दिया और उन पर केवल अपनी सार्वभौमता ही रखी। इस नीति का अवलम्बन करके

उसने समुद्रगुप्त को गृहीत प्रतिमुक्त वाली नीति सिखलाई और अपने को महाकवि कालिदास के शब्दों में धर्मविजयी प्रमाणित किया। अन्त में पुष्यमित्र शुंग के विषय में हमें स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल के ये वाक्य स्मरण रखने चाहिए जिनमें उन्होंने उसकी तुलना ओलिवर क्रामवेल से की है।

पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी

पुष्यमित्र शुंग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया। उसका शासनकाल लगभग १४८ ई० पू० तक रहा। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर आसीन हुआ। यही अग्निमित्र महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्रम् का नायक है। यह हम देख चुके हैं कि यह विदिशा का शासक रह चुका था जिससे इसने राज्य-संचालन में अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसके शासनकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। उत्तरी पञ्चाल (रुहेलखण्ड) में कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर अग्निमित्र का नाम उत्कीर्ण है परन्तु यह सन्देह ही है कि यह अग्निमित्र पुष्यमित्र शुंग का पुत्र ही है अथवा उस प्रदेश के किसी स्थानीय शासक का नाम है। अग्निमित्र शुंग के पश्चात् उसका भाई सुज्येष्ठ मगध राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन काल में भी कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। सुज्येष्ठ के बाद अग्निमित्र का बेटा पुत्र वसुमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। इसने ही सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर यवनों की सेना को पराजित किया था। हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट के अनुसार वसुमित्र नाट्यकला में बड़ा आसक्त रहता था और मित्रदेव नामक एक व्यक्ति ने अभिनेताओं के मध्य छिपकर इसका शीश काट लिया।[1] वसुमित्र के उपरान्त ओद्रक राजा हुआ। इसका उल्लेख सम्भवतः कौशाम्बी के निकट पभोसा के शिलालेख में हुआ है। शुंग वंश के नवें राजा भागवत अथवा भागभद्र के शासन काल में तक्षशिला के यवन शासक अन्तलिकित (Antialkidas) ने उसकी राजसभा में दिय (Dion) के पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि इस समय भी शुंग वंश की शक्ति कम नहीं होने पाई थी क्योंकि यवन राजा अन्तलिकित शुंग नरेश भागवत के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेष्ट था। हेलिओदोर ने अपने को भागवत धर्मावलम्बी बताया है। विदिशा में उसने वासुदेव के आराधनार्थ गरुड़ध्वज स्थापित किया था। शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति था। विष्णु पुराण में लिखा है कि उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा।[2] इस बात की पुष्टि हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट ने भी की है।[3] इस प्रकार मगध का राज्य शुंगों के हाथ से निकलकर कण्व वंश के हाथ में चला गया।

---

[1] अतिदयितलास्यस्य चशैलूषमध्यास्य मूर्द्धानमसिलतया मृणालमिव अलुनात् अग्निमित्रात्मजस्य सुमित्रस्य मित्रदेव। हर्षचरितम् षष्ठम् उच्छ्वास।

[2] देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।

[3] अतिस्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत।

शुंगकालीन संस्कृति और कला

शुंगों के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म की बहुत अधिक उन्नति हुई। कला और संस्कृति का भी पर्याप्त विकास हुआ। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में शुंगवंश का एक महत्वपूर्ण स्थान था। शुंगकालीन संस्कृति गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति का एक शुभावस्था था। पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक से पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को बनाया। धर्म विजय की अभिप्राप्ति का साधन युद्ध से घृणा नहीं अपितु सैन्यसंगठन का निर्माण समझा गया। राजनीति का रूप यथार्थ हो गया। शुंगों ने उत्तर भारत के एक विशाल भू भाग पर अपना अधिकार जमाया यवन आक्रमणकारियों को पराजित किया और विदेशी राजाओं का सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने कला साहित्य और वस्तु के पुनरावर्तन को पोषित किया। मध्यदेश में बुद्धिजीवियों तथा बुद्धिमानों की दृष्टि में संन्यास-दृष्टिकोण का आकर्षण नष्ट हो गया। धर्म की शक्ति सुदृढ़ की गई स्मृति न्याय की सत्ता को पुनः पूरी तरह से स्थापित किया गया। सामूहिक उत्साह की नयी लहर ने बौद्ध धर्म के प्रति संघर्ष के दृष्टिकोण एक अधिक समृद्ध तथा पूर्णतर जीवन की खोज में युद्धदेवता कार्तिकेय के सम्प्रदाय में भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान में तथा हिन्दू देवमण्डल में वासुदेव कृष्ण की प्रधानता में अभिव्यक्ति प्राप्त की।[१] जैसा कि पहले हम देख चुके हैं पुष्यमित्र शुंग ने दो बार यज्ञ करके सनातन धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया। शुंगवंश के शासनकाल में ही प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुस्मृति' या मानवधर्मशास्त्र की रचना हुई। इस पुस्तक में हम ब्राह्मण आदर्शों को समाज में पुनः पूर्णरूप से प्रचलित करने का प्रयास सुस्पष्ट देखते हैं। गार्हस्थ्य जीवन का महत्व पिछले युगों में बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण कुछ कम हो गया था परन्तु इस युग में मनुस्मृतिकार ने इसके महत्व को स्पष्ट किया। हिन्दू समाज में जाति प्रथा के बन्धन काफी कठोर कर दिये गये और स्त्रियों का स्थान भी पहले की अपेक्षा निम्नतर हो गया यद्यपि मनु महाराज ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' इत्यादि शब्दों द्वारा स्त्री-जीवन का महत्व समझाया। मनुस्मृति में आदि से अन्त तक इसी बात का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन वैदिक

---

[१] Pushyamitra and his successors carried forward the pre Asokan Tradition of Magadha Dharma Vijaya was no longer to be achieved by abjuring war but by building up military strength politics became real. The Sungas maintained their hold over a vast part of North India vanquished Greek invaders and were respected by foreign kings. They fostered a revival of art literature and architecture. In Madhyadesa and among the wise and the intellectuals the ascetic outlook lost its attraction. Dharma was strengthened the authority of the Smriti law was completely restored. The new wave of collective enthusiasm found its expression in a combative attitude against Buddhism in a search for a fuller and richer life in the cult of Kartikeya the god of war in the resurgence of Bhagvata cult and in the unchallenged supremacy of Vasudeva Krishna in the Hindu Pantheon.—Shri K. M. Munshi in Foreword to *The Age of Imperial Unity*

धर्म समाज में प्रचलित हो। परन्तु हमें यह न मानना चाहिए कि मनुस्मृति तत्कालीन स्थिति का उतना निदर्शन नहीं कराती जितना कि यह समाज के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती है। हम यह नहीं कह सकते कि इस ग्रन्थ में सामाजिक अथवा धार्मिक जीवन के जिन नियमों का उल्लेख है वे सब इस समय समाज में प्रचलित थे। मनुस्मृति के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस समय के हिन्दू धर्म में सकीर्णता और कट्टरता प्रवेश कर चुकी थी किन्तु आभिलेखिक साक्ष्य में जो सूचना प्राप्त होती है वह इसके विपरीत है। बेसनगर के स्तम्भलेख से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यूनानी भी इस समय हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिए जाते थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तब का हिन्दू धर्म आज की भाँति सकुचित न था और इसकी छाया में विदेशी भी साँस ले सकते थे। यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए पुष्यमित्र ने काफी प्रयत्न किया तथापि बौद्धधर्म का भी इस समय प्रचार था। यदि हम भरहुत स्तूप के सुगनम रजे को पुष्यमित्र के काल का न भी मानें तो भी हमें इतना तो कम से कम अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके उत्तराधिकारियों की बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु नीति न थी। इसके अतिरिक्त भागवत धर्म का प्रचार और विकास इस युग के धार्मिक जीवन की विशेषता थी। विदिशा तथा घोसुण्डी के शिलालेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस समय जनता में भागवत धर्म का खूब प्रचार था।

साहित्य के क्षेत्र में हम देख ही चुके हैं कि महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे जिन्होंने पाणिनि के अष्टाध्यायी पर एक महाभाष्य लिखा। मनुस्मृति की रचना प्रसिद्ध विद्वान डा० बुहलर के मतानुसार २०० ई० पू० एवं २०० ई० के मध्य किसी समय हुई होगी। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि शुंगवंश के प्रारम्भिक युग में ही इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। पुष्यमित्र शुंग और महाराज मनु के ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने के प्रयत्नों में दृष्टिकोण का एक गहरा समानता है। पतञ्जलि ने पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक समृद्धि पर जो प्रकाश डाला है उससे यह कल्पना करना अयुक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता कि शुंगवंश के शासन-काल में भी साहित्य-सृजन की परम्परा जारी रही होगी। परन्तु हमें ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जिनका रचना-काल हम सुनिश्चित रूप से शुंगवंश के शासन काल के अन्तर्गत निर्धारित कर सकें। इस काल सम्भवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आजकल के गर्भ में लुप्त हो गये हैं।

कला की उन्नति—शुंग-काल में कला की भी काफी अधिक उन्नति हुई। इस समय की कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसके द्वारा अधिकांश जनता के मानस सांस्कृतिक आदर्श तथा उसकी परम्परा का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इस बात में यह मौर्य-युग से नितान्त भिन्न है।[1] शुंग-काल की एक दूसरी विशेषता है कि यह अपने समय के जन जीवन का चित्र कहीं अधिक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। भरहुत

[1] The art of the time of the Sungas and Kanvas which immediately follows that of the Mauryas is clearly a negation of the Mauryan attitude Indeed the base reliefs on the railings of Bharhut Bodh Gaya and Sanchi or on the friezes of the Khandagiri Udayagiri (Bhuvaneswara) caves that chronologically speaking follow closely on the art of the Mauryan court and from the point of view of subject matter are predominantly Buddhist reflect more of the mind tradition and culture ideology of the larger

स्तूप में दो हजार वर्षों पूर्व के भारत के दैनिक जीवन का सजीव चित्रण है। लोगों के घर, देवताओं की मूर्तियाँ, साधुओं के आश्रम तथा साथ ही साथ गाड़ियाँ, रथ, नौकाएँ, वेशभूषा, शस्त्र तथा आभूषण जिनका प्रयोग साधारण रूप से किया जाता था ये सभी वस्तुएँ नितान्त यथार्थवादी और स्पष्ट रूप में प्रदर्शित की गई हैं। ये स्तूप-स्थापत्य धार्मिक भावनाओं और विश्वासों का, वेशभूषा परिधान तथा शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और वे ही सादगी तथा प्राणवत्ता के साथ बनाये गये हैं। हम भारत के जनसाधारण के मानस और आदतों के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं और जीवन के आनन्द तथा सुखों की भावना उन सब को परिव्याप्त किए हुए प्रतीत होती है। प्राचीन भारत अपनी स्वस्थ आशावादिता तथा जीवन के प्रति सशक्त विश्वास के साथ इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है जो कुछ उन प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण से एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है जो इनको दोहराते हुए कभी थकते नहीं।[१] इन स्थापत्य चित्रों के उत्तकन का उद्देश्य जनता को महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराना था परन्तु चित्रों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उद्देश्य गौण हो गया और कलाकार जीवन का चित्रण करने में इतना संलग्न हो गया है कि उसे जनता के नैतिक उन्नयन का कोई विशेष ध्यान नहीं है। प्रोफेसर कुमारस्वामी ने ठीक ही कहा है कि इन चित्रों का प्रधान केन्द्रबिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी बल्कि सम्पूर्णतया मानव जीवन से सम्बन्धित है।[२] भरहुत स्तूप के तोरण द्वारों पर

---

section of the people than Mauryan art was capable of doing Sunga Kanua art formally and spiritually is opposed to all that Mauryan art stands for and in different in motive and direction technique and significance —Dr Nihar Ranjan Ray *Age of Imperial Unity* —Chapter XX Art p 510

[१] The sculptures represent the religious faiths and beliefs the dress costumes and manners and are executed with wonderful simplicity and vigour We get an insight into the minds and habits of the common people of India and a keynote of the joys and pleasures of life seem to pervade them all Ancient India with its robust optimism and vigorous faith in life speaks as it were through these stones in a tone that offers a sharp but pleasing contrast to the dark pessimistic views of life which some of the old religious texts are never tired of repeating —R C Majumdar *Advanced History of India* Volume I p 231

[२] The main interest is neither spiritual nor ethical but altogether directed to human life luxury and pleasure are represented interrupted only by death and these are nothing but facts endorsed by inherently sensual quality of the plastic language —R K Coomarswamy *Indian and Indonesian Art* p 27 (1927)

पशुओं एवं वृक्षलताओं के जो चित्र खुदे हैं उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको उत्कीर्ण करनेवाले बौद्ध कलाकारों का केवल मानव-जीवन से ही अनुराग न था वरन् उनके हृदय में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह की भावना विद्यमान थी। प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम इन चित्रों की विशेषता है। इस दृष्टि से भरहुत के चित्र भारतीय संस्कृति के सर्वभूतानुराग एवं अखिल सृष्टि के साथ अनुराग स्थापित करनेवाले सिद्धान्त को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त की परिपुष्टि चाहते हों तो हम संस्कृत और पाली के साहित्य-ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए जिनमें जीव प्रेम और प्रकृति प्रेम की भावनायें बड़ी ही सहृदयता और भावुकता के साथ अभिव्यक्त की गई हैं। साँची के असाधारण द्वार-तोरण जिनका निर्माण डॉ० फूशे के मतानुसार विदिशा के गजदन्त शिल्पियों ने ही किया था, इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। डॉ० नीहार रंजन रे के शब्दों में A rich world flora and fauna finds a feeling and naturalistic expression at the hands of Sanchi artists the elephants deer and antelopes the lotus creepers pipal and the host of other trees and plants which lend their characteristic form and colour and charm to Indian art are portrayed for the first time here and in certain panels of the Rani Gumpha near Bhuvaneswara

डॉ० नीहार रंजन के मतानुसार भरहुत, बोध गया और साँची की कलाओं में पश्चिमी एशिया के कुछ रूपों तथा कतिपय कला चेष्टाओं का प्रयोग किया गया है परन्तु इनकी सुन्दरता के साथ देश की निजी कला-परम्परा के साथ मिलाया गया है कि इनका विदेशी रूप लुप्त हुआ प्रतीत होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शुंगकण्व वंश की कला भारत की राष्ट्रीय कला का सूत्रपात करती है जिसका पूर्ण विकास आगे चलकर गुप्त काल में हुआ जब कि भारत कला के सम्बन्ध में विदेशी प्रभावों से विमुक्त हो चुका था और वह समस्त एशिया का गुरु था।

कण्व का शासन-काल (लगभग ७५-३० ई० पू०)

शुंग वंश के पतन के सम्बन्ध हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राज सत्ता अन्तिम शुंगनरेश देवभूति के हाथ से निकलकर कण्व वंश के संस्थापक वसुदेव के हाथ में चली गई। शुंग वंश के शासन काल का अन्त ७५ ई० पू० के लगभग हुआ और इसी समय से कण्व वंश का शासन आरम्भ होता है। कण्व-वंश भी ब्राह्मण था। वसुदेव ने देवभूति की षड्यन्त्र द्वारा हत्या करा के ही राज्य हस्तगत किया था यह हम पढ़ चुके हैं। इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण तथा हर्षचरित के विवरणों को भी हम अध्ययन कर चुके हैं। कण्व वंश को काण्वायन भी कहा जाता था। सम्भवतः यह नाम गोत्र के आधार पर पड़ा था। इस वंश में चार नरेश हुए। इनके नाम वासुदेव भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मण जिन्होंने क्रमशः ९ १४ १२ और १० वर्ष तक शासन किया। यद्यपि पुराणों में भविष्यवाणी की प्रणाली द्वारा यह कहा गया है कि वे पड़ोस के राजाओं को अपने अधीन रक्खेंगे और धर्मानुसार राज्य करेंगे तथापि कण्व-नरेशों के इतिहास के सम्बन्ध में हमें कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। कण्ववंश का अन्त २८ ई० पू० आन्ध्रों अथवा आन्ध्रभृत्यों द्वारा हुआ।

वायुपुराण के एक कथन द्वारा कि 'आन्ध्र नरेश सिमुक अथवा सिन्धुक ने सुशर्मा काण्वायन एवं शुंगों की शेष शक्ति को नष्ट कर वसुधा का राज्य प्राप्त

किया।[1] शुंगों और कण्वों के कालक्रम में कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है। स्वर्गीय रामकृष्ण देवदत्त भण्डारकर ने इस कथन का यह अर्थ निकाला कि 'जब शुंग के राजकुमार दुर्बल हो गये तो कण्वों ने सम्पूर्ण शक्ति उनसे छीन ली और आधुनिक युग के पेशवाओं की भाँति अपने स्वामियों के वंश का बिना उच्छेदन किये हुए किन्तु उनको केवल नामधारी सम्राटों की स्थिति में बनाकर शासन किया।' श्री भण्डारकर जी अपने इस विचार के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुराणों में शुंगों के शासन काल का ११२ वर्षों का जो समय दिया गया है उसमें कण्वों का ४५ वर्षों का शासन काल भी सम्मिलित है। किन्तु भण्डारकर महोदय के इस विचार का अन्य विद्वानों ने समर्थन नहीं किया है। यह पुराणों के इस स्पष्ट कथन का कि दशम शुंग-नरेश को कण्व-वंश के संस्थापक ने मार डाला विरोध करता है। पुराण के कथन का कदाचित यह अभिप्राय है कि देवभूति की मृत्यु के और शुंग वंश के नाश के पश्चात भी इस वंश के कुछ लोग वहाँ पर शासन करते रहे जैसे कि विदिशा में। वास्तव में शासकों को नाममात्र के लिए राजा की उपाधि धारण करने दिया। आन्ध्र वंश ने कण्वों के साथ-साथ उनके वंश की राजसत्ता को भी समाप्त कर दिया। अतएव हम कह सकते हैं कि चार कण्व राजाओं ने ७५ ई० पू० से लेकर ३० ई० पू० तक राज्य किया।[2]

आन्ध्र सातवाहन वंश

आन्ध्र जाति का प्राचीन इतिहास—पुराणों में सातवाहन वंश के राजाओं के लिए आन्ध्र शब्द का प्रयोग किया गया है जब कि अपने अभिलेखों में वे अपने को सर्वदा और सर्वत्र सातवाहन अथवा शातकर्णि घोषित करते हैं। इन अभिलेखों में आन्ध्र शब्द कहीं नहीं मिलता। परन्तु आन्ध्र और सातवाहनों के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चय करने के पूर्व आन्ध्र जाति के प्राचीन इतिहास का ज्ञानार्जन आवश्यक प्रतीत होता है। आन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच की तेलगू देश में बसने वाली जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में सबसे पहले इस जाति का उल्लेख पाया जाता है। इस जाति को आर्य संस्कृति के प्रभाव से मुक्त बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र के वंशजों ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश में जाकर आर्येतर जातियों से विवाह किया। इन विवाहों के परिणाम-स्वरूप जिस जाति का उद्भव हुआ उसे आन्ध्र की संज्ञा मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्र जाति की राजनीतिक शक्ति काफी बढ़ी चढ़ी थी। मेगास्थनीज ने उनकी प्रचण्ड सैन्य शक्ति का उल्लेख किया है। प्लिनी ने लिखा है कि कलिंग के राजा के पास ६०००० पदाति १० अश्वारोही और ७०० गज सेना थी। सम्भवतः मेगास्थनीज की इण्डिका के ही आधार पर प्लिनी ने यह विवरण दिया है। अशोक के शिलालेख में भी इस जाति का उल्लेख मिलता है। अशोक ने आन्ध्रों का उल्लेख उन जातियों के अन्तर्गत किया है जो उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत थीं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक के बाद इस जाति की क्या दशा हुई परन्तु यह सोचना कुछ अधिक समाधान जान पड़ता है कि वे स्वतन्त्र हो गये।

---

[1] काण्वायनस्ततो भृत्यं सुशर्माणं प्रसह्य तम्। शुंगानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको आन्ध्र जातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।

[2] इस विवेचन के लिए देखिए *Age of Imp rial Unity* pp 99 100 और *Political History of Ancient Ind a*

सातवाहन वश—अब प्रश्न यह उठता है कि आन्ध्रो और सातवाहनो म क्या पारस्परिक सम्बन्ध था। जसा कि हम ऊपर कह ही चके हैं कि सातवाहन नरेश अपन को कभी भी आन्ध्र जाति का नही बताते जबकि पौराणिक अनश्रुति क अनुसार उनक वश का सस्थापक सिमक या शिशुक या सिन्धुक आन्ध्रजातीय था। सातवाहन राजाओ के अभिलखो म जिनक नाम मिलते है व ही नाम पुराणो म भी प्राप्त होत है। परन्तु क्या कारण है कि जब कि सातवाहन राजा अपन को कभी आन्ध्र नही कहते वायु पुराण उनके वश के सस्थापक को आन्ध्र ही कहता है। इस परस्पर विरोधी मत म किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है? सातवाहन अपने को ब्राह्मण कहते है किन्तु आन्ध्रो को प्राचीन ग्रन्थो म आर्य-संस्कृति के प्रभाव से मक्त कहा गया है जिससे स्पष्ट होता है कि आन्ध्र लोग द्रविड मल के थे। वास्तव म आन्ध्रो और सातवाहनो म कोई सम्बन्ध नही था। व लोग आन्ध्रो से सवथा भिन्न थ और महाराष्ट्र प्रदेश क निवासी थे। आन्ध्र लोग जैसा कि हम ऊपर देख चके हैं, गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच के प्रदेश के रहनेवाल थे। सातवाहनो ने अपनी शक्ति का विकास महाराष्ट्र प्रदेश से ही किया और आन्ध्र प्रदेश में अपना उपनिवेश स्थापित किया। परन्तु कुछ समय के बाद शक-आभीरो के आक्रमणो के फलस्वरूप उनकी सत्ता केवल आन्ध्र प्रदेश तक ही सीमित रह गई और पश्चिमी प्रान्तो पर उनका अधिकार नही रह गया। इस प्रकार आन्ध्र ही तक सीमित रह जाने के कारण सातवाहन लोग आन्ध्र कहलाय। इस सम्बन्ध म स्वर्गीय प्रोफेसर एन० एन० घोष का कथन सवथा मान्य प्रतीत होता है एसा प्रतीत होता है कि जिस समय पुराण लिख जा रहे थ उस समय सातवाहनो ने अपने उत्तरी और पश्चिमी अधिकार क्षेत्र खो दिय थे और आन्ध्र देश के रहनेवालो के साथ इस प्रकार मिल-जल गय थे क्योंकि शासक के रूप में उन्हें आन्ध्रो के साथ निकटतम सम्पर्क में आने का अवसर यो ही मिल गया था कि पुराणकार ने उस प्रदेश के शासको को भी आन्ध्र ही कहना उचित समझा और तदनुसार प्रथम सातवाहन नरेश सिमूक को आन्ध्र वश का सस्थापक बना दिया।

सातवहनो की जाति—जसा कि पहल बताया जा चका है सातवाहन नरेशो ने अपने अभिलखो म अपने को ब्राह्मण कहा है। नासिक के अभिलखो म गौतमीपुत्र के लिए एक ब्रह्मण विशषण प्रयोग किया गया है। उनको क्षत्रियो के दप और मान का दलन वाला' खतियदपमानमदनस तथा शक्ति मे परशुराम के तुल्य कहा है। इन सब विशषणो को जब हम एक साथ पढ़ते हैं तो इस बात म सन्देह का कोई कारण नही रह जाता कि सातवाहन लोग ब्राह्मण थे। इस सम्बन्ध म यह भी जान लेना चाहिए कि डा० भण्डारकर और कुमारी भ्रमर घोष न नासिक अभिलख क इन विशेषणो की व्याख्या कुछ दूसरे ढग स की है और उसकी सम्मति म सातवाहन लोग ब्राह्मण नही थ। उनका कहना है कि एकब्रह्मण शब्द का अथ ब्राह्मण जाति से न होकर ब्रह्मण्य मे है और 'खतियदपमानमदनस म जिस खतिय शब्द का प्रयोग किया गया है उसम क्षत्रियों का नहा वरन उस Kathroi Khatria जाति का बोध होता है जिसका उल्लख यूनानी लखको ने किया है। डा० भण्डारकर और कुमारी भ्रमर घोष न एक और तर्क उपस्थित किया है जिसके द्वारा वे सातवाहनो का अब्राह्मण होना ठीक समझत हैं। उनके मतानुसार गौतमी बालश्री के लिए राजर्षि वधू का प्रयोग किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवाहन नरेश ब्राह्मण नही थ अन्यथा ब्रह्मर्षिवधू शब्द प्रयुक्त किया गया होता। परन्तु यह दूसरा

तक भी इसका प्रतीत होता है। यदि गौतमी बालश्री के लिए राजर्षिवधू का प्रयोग किया गया है तो उससे यह नहीं सिद्ध होता कि वह एक अब्राह्मण कुल की वधू थी। जैसा कि डा० रायचौधरी ने सिद्ध किया है[1] राजर्षि शब्द का प्रयोग हमेशा ही अब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है बल्कि भारत के साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें ब्राह्मणों को भी राजर्षि ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त सातवाहन नरेशों के लिए ब्रह्मर्षि के प्रयोग उपहासास्पद होना क्योंकि उन्होंने अपने हाथों में शस्त्र ग्रहण कर लिया था। इन सब कारणों से डा० राय चौधरी का मत है कि सातवाहन ब्राह्मण जाति के थे किन्तु उनमें नागों के रक्त का सम्मिश्रण था। वे कहते हैं[2] इस बात पर विश्वास करने के लिए अनेक कारण हैं कि आंध्र भृत्य अथवा सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे परन्तु नाग रक्त का उनमें कुछ सम्मिश्रण था। द्वात्रिंशत पुत्तलिका में सातवाहनों की ब्राह्मण और नागों की मिश्रित उत्पत्ति को बतलाया गया है। नागों के इस सम्बन्ध की पुष्टि स्कन्द-नाग सतक और नागनिका जैसे नामों से भी होती है जब कि उनके ब्राह्मण होने का प्रमाण एक शिलालेख से प्राप्त होता है। डा० राय चौधरी ने जिस अभिलेख का संकेत किया है उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

सातवाहन कुल का संस्थापक—पुराणों के अनुसार सिमुक या शिशुक अथवा सिन्धुक (६ ३७ ई० पू०) ने शुंगों और कण्वों की शक्ति का उन्मूलन करके नये वंश की स्थापना की। यह सिमुक ही सातवाहन कुल का प्रथम नरेश था। शुंगों और कण्वों से सिमुक ने सम्भवतः विदिशा के निकट का प्रदेश हस्तगत किया था। उसका राज्य दक्षिणापथ में ही था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी जो उत्तरी गोदावरी-तट पर स्थित था। डा० सरकार की राय में इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि सातवाहनों का अधिकार मगध या उत्तरी भारत के किसी प्रदेश पर था। मध्य या पश्चिमी भारत के कुछ भाग कदाचित उनके राज्य में सम्मिलित थे परन्तु यदि सिमुक के राज्य में पश्चिमी भारत का कोई भी जिला शामिल था तो उसने उसे या तो शुंगों या कण्वों से अथवा यूनानियों से जीता था। सिमुक के विषय में हम किसी अन्य बात का पता नहीं लगता।

कृष्ण—सिमुक के उपरान्त उसका भाई कृष्ण अथवा कन्ह राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में सातवाहनों की साम्राज्य-सीमा के कुछ अधिक विस्तृत हो जाने का प्रमाण मिलता है। नासिक के एक शिलालेख से विदित होता है कि उसके समय में वहां पर गुफा का निर्माण किया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका अधिकार नासिक तक पहुँच चुका था।

शातकर्णि—सिमुक का पुत्र शातकर्णि सातवाहन-कुल का तीसरा नरेश था। यह एक महान विजेता और अपने वंश का प्रतापी राजा था। इसने मगध राज्य के संस्थापक बिम्बिसार की भांति सैन्य विजय और वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। नायानिका के नानाघाट अभिलेख में शातकर्णि की सफलताओं और विजयों का वर्णन किया गया है। उसे सिमुक के वंश का धन सिमुक-

[1] *Political History of Ancient India* p 413 footnote

[2] वही पृष्ठ ४१५

सिमुकसातवाहनस वंशवर्धनस' कहा गया है। उसने महाराष्ट्र के महारथी की कन्या से विवाह करके अपने राजनीतिक प्रभाव में अभिवृद्धि की। इस प्रकार वह लगभग सम्पूर्ण दक्षिणापथ का अधिकारी हो गया। नानाघाट अभिलेख में उसे 'अप्रतिहत चक्र दक्षिणापथपति' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने पूर्वी मालवा पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित किया। पुष्यमित्र शुंग की भाँति उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया और ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की। नानाघाट का अभिलेख ही इस विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है जिसमें उसके लिए 'अश्वमेध यज्ञ द्वितीय इष्ट' कहा गया है। साँची अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि ने पूर्वी मालवा पर ही विजय प्राप्त की थी। इस बात की पुष्टि उसके सिक्कों एवं पुराणों के इस कथन से भी होती है कि शुंगवंश काण्वायन नरेशों के हाथ से निकल कर यह पृथ्वी आन्ध्र जातियों के अधिकार में चली जायगी। 'ऐसा प्रतीत होता है कि शातकर्णि प्रथम राजकुमार था जिसने सातवाहनों को विन्ध्य-पार भारत के सर्वसत्ताधारी सम्राटों की स्थिति तक उठाया। इस प्रकार से गोदावरी की घाटी में पहले महान साम्राज्य का उत्थान हुआ जो विस्तार तथा शक्ति में गंगा की घाटी के शुंग साम्राज्य और पंचनद प्रदेश के यूनानी साम्राज्य की बराबरी करता था।'[1] इस शक्तिशाली नृपति को भी अपने एक समकालीन नरेश से टक्कर लेना पड़ा। कलिंग नरेश खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि की शक्ति की कुछ भी न समझते हुए उसने अपने शासन के द्वितीय वर्ष में मूषिक नगर पर आक्रमण कर दिया और सातवाहन-नरेश में बैर ठान लिया। परन्तु इस बैर से सातवाहन वंश के गौरव को कुछ भी धक्का नहीं लगने पाया। खारवेल की शक्ति स्थायी नहीं होने पाई और शातकर्णि का गौरव पूर्ववत् ही बना रहा। किन्तु शातकर्णि के बाद सातवाहन वंश का इतिहास कुछ अन्धकारमय हो जाता है।

शातकर्णि की मृत्यु के अनन्तर उसकी रानी नायानिका ने जो अंगीयकुलीन महारथी तथा महारथियों की दुहिता थी राजकार्य सम्हाला। उसके दो पुत्र शक्तिश्री और वेदश्री अभी अल्पवयस्क कुमार ही थे अतएव उनका संरक्षक बनकर उसी ने शासनसूत्र अपने हाथ में ग्रहण किया। कुमार शक्तिश्री को इतिहासकारों ने प्रतिष्ठान के नरेश शालिवाहन का पुत्र शक्तिकुमार ही बतलाया है। उनके विचार में ये दोनों व्यक्ति एक ही हैं। शालिवाहन के पुत्र शक्तिकुमार का उल्लेख साहित्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। शातकर्णि के बाद के सातवाहन राजाओं में हाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु उसकी प्रसिद्धि किसी महत्त्वपूर्ण सैन्य सफलता के कारण नहीं अपितु उसके साहित्यानुराग और स्वयं उसके एक महान कवि होने के कारण है। हाल प्राकृत भाषा का एक महान कवि था। उसने गाथा सप्तशती नामक एक सरस प्राकृत काव्य की रचना की। यह एक मुक्तक काव्य है और इसमें सात सौ सुन्दर पद्यों का संकलन है। भारतीय साहित्य में हाल का अपना एक विशिष्ट स्थान है। बृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य और संस्कृत व्याकरण कातन्त्र के लेखक उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि शातकर्णि के पश्चात् इस वंश का गौरव कम होने लगा। The Periplus of Erythrean Sea 'एरिथ्र सागर की परिक्रमा' नामक ग्रन्थ के द्वारा जो पूर्वी अफ्रीका और भारत के साथ मिस्री व्यापार का वर्णन

---

[1] हेम० राय चौधरी *Political History of Ancient India* Fifth Edition p 417

करता है, इस बात का पता चलता है कि सूरपारक (आधुनिक सोपारा) नामक बंदरगाह शातकर्णि के बाद सुरक्षित न रह गया क्योंकि उसके उत्तराधिकारियों की शक्ति काफी क्षीण हो चली थी और विदेशी आक्रमणकारी प्रबल हो गये थे। मालूम पड़ता है कि इस समय शकों का द्वितीय आक्रमण भारतवर्ष पर हुआ जिससे सातवाहनों की शक्ति को काफी चोट पहुंची। उनके हाथ से महाराष्ट्र प्रदेश का राज्य निकल गया और उस पर शकों ने अपना अधिकार जमा लिया। महाराष्ट्र में शकों के जिस वंश ने अपनी राजसत्ता स्थापित की थी उनका नाम क्षहरात था। क्षहरातों और सातवाहनों का राजनीतिक प्रभुता के लिए पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। नहपान के समय के एक नासिक गुहा अभिलेख से शक सातवाहन संघर्ष पर काफी प्रकाश पड़ता है। नहपान एक क्षहरात सरदार था। इस संघर्ष में कभी शक विजयी होते थे और कभी सातवाहन। क्षहरात सरदार नहपान के सिक्कों और अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उसका राज्य काफी दूर तक फैल गया था और उसने सातवाहनों को उनके मातृदेश महाराष्ट्र से निकाल बाहर कर दिया था। उसके राज्य की सीमायें नासिक एवं पूना से लेकर मालवा गुजरात काठियावाड़ और राजपूताने में पुष्कर तक फैली हुई थीं। किंतु उसने सातवाहनों के गौरव को भूलुण्ठित कर जो विजय प्राप्त की वह अधिक काल तक टिक न पाई और सातवाहन वंश के प्रबल प्रतापी नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि ने उसको पराजित कर अपने वंश की मान और प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि—गौतमी पुत्र शातकर्णि अपने वंश का सबसे प्रतापी और पराक्रमी राजा था। उसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक गुहालेख से उसकी विजयों, शासन-सम्बन्धी उसकी योग्यताओं और सफलताओं तथा उसके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के प्रशंसनीय गुणों पर काफी प्रकाश पड़ता है। उसके राजनीतिक कार्यों का सबसे अधिक महत्व इस बात में है कि उसने अपने वंश के लुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठापना की और विदेशी आक्रमणकारी शकों को अपनी मातृभूमि से निर्वासित कर दिया। उसने अनेक समकालीन राज्यों से लोहा लिया और उनको युद्ध में पराजित किया। शक-यवन पह्लव-क्षहरातों का नाश करके गौतमीपुत्र ने अपने वंश का मान मर्यादा को बढ़ाया इसका विवरण नासिक के अभिलेख में प्राप्त होता है। क्षहरात सरदार नहपान को उसके द्वारा जो पराभव सहना पड़ा उसकी पुष्टि मुद्रा साक्ष्य द्वारा भी होती है। हम यह पीछे देख चुके हैं कि नहपान के सिक्के इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसका राज्य नासिक और पूना से लेकर मालवा गुजरात काठियावाड़ तथा राजपूताने में पुष्कर तक फैला हुआ था। जोगलथम्बी से चांदी के सिक्कों की जो निधि प्राप्त हुई है उसमें बहुत से ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमी पुत्र की राजमुद्रा अंकित है जिससे स्पष्ट होता है कि क्षहरातराज नहपान को उसने पराजित कर दिया था।

गौतमीपुत्र की दिग्विजयों का वर्णन भी नासिक गुहा-लेख में प्राप्त होता है। उसने एक बहुत बड़ी सेना लेकर अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। उसके वाहनों ने तीन समुद्रों (पूर्व पयोधि पश्चिमसागर और दक्षिण में हिन्द महासागर) का जल पिया। × × × उसका राज्य ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश) अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रांत) मूलक (पैठन का निकटवर्ती प्रदेश) सुराष्ट्र कुकुर (उत्तर काठियावाड़) अपरान्त (बम्बई प्रांत का उत्तरी भाग) अनूप (नामा-

जिनो विदर्भ (बरार) आकर (पूर्वी मालवा) अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के ऊपर विस्तृत था। × × × सभी राजाओं ने उसके शासन को स्वीकार किया। अभिलेख के इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य में आधुनिक गुजरात सौराष्ट्र, मालवा बरार उत्तरी कोंकण तथा पूना और नासिक के चारों ओर का प्रदेश सम्मिलित था। इसी अभिलेख में गौतमीपुत्र को अनेक पर्वतश्रेणियों का अधिपति कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि वह विन्ध्य के उस पार सम्पूर्ण भारत का स्वामी था। उसके अधिकार में ये पर्वत थे—विन्ध्य (मध्य और पूर्वी विन्ध्य और सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियाँ), ऋक्षवत (मालवा के दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रेणी का एक भाग) पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाड़ियाँ) सह्य (नील गिरि की पहाड़ियाँ के उत्तर तक पश्चिमी घाट) मलय (त्रिवांकुर की पहाड़ियाँ) महेन्द्र (पूर्वी घाट) और दक्षिण भारत के प्रायद्वीप को घेरने वाली अन्य अनेक पर्वत श्रेणियाँ।

गौतमीपुत्र केवल एक महान् विजेता ही न था वरन् एक गुणवान व्यक्ति भी था। नासिक अभिलेख में उसके गुणों की भी प्रचुरता से उल्लेख किया गया है। वह एक रूपवान् व्यक्ति था। उसका मुखमण्डल दीप्तिमय तथा प्रभावपूर्ण था। उसकी बाल सुन्दर तथा उसकी भुजायें लम्बी और बलिष्ठ थीं। उसका स्वभाव अत्यन्त मृदु और करुण था। सभी की रक्षा करने को वह सदैव उद्यत रहता था। अपनी माता का वह एक आज्ञाकारी पुत्र था और विघातक शत्रु को भी चोट पहुँचाने में वह हिचक का अनुभव करता था। वह गुणियों का आश्रयदाता सौभाग्य का वासस्थान एवं श्रेष्ठ व्यवहारों का स्रोत था। इन गुणों के साथ ही साथ उसमें एक आदर्श शासक के भी गुण विद्यमान थे। अपने प्रजाजनों के सुख-दुःख को वह अपने ही सुख दुःख के समान समझता था। वह अपनी प्रजा पर आवश्यकता से अधिक कर नहीं लगाता था और अपराधियों के साथ भी वह दयापूर्ण व्यवहार करता था। अभिलेख में गौतमी पुत्र शातकर्णि को इस बात का गौरव भी प्रदान किया गया है कि उसने अपने राज्य में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया। उसने न केवल वैदिक अनुष्ठानों को स्वीकार करके उन्हें प्रधानता दी अपितु ब्राह्मण धर्म के लिए जो तत्व घातक थे उनके उन्मूलन का भी प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म के प्रभाव और विदेशियों के सम्पर्क के कारण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में परस्पर जो वर्णसंकरता उत्पन्न हो गई थी उसको गौतमीपुत्र शातकर्णि ने दूर किया।

कुछ विद्वानों के मत में गौतमीपुत्र शातकर्णि और भारतीय जनश्रुति के विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति थे। परन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण और निराधार प्रतीत होता है। उज्जैनी के विक्रमादित्य और प्रतिष्ठान के शालिवाहन की नाव कथाओं में जो उल्लेख किया गया है उनमें परस्पर स्पष्ट विभिन्नतायें हैं। इसके अतिरिक्त गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी सम्वत् का प्रचलन नहीं किया क्योंकि उसके उत्तराधिकारियों ने किसी भी सम्वत् का प्रयोग नहीं किया अपितु अपने शासन-काल के वर्षों का ही उल्लेख किया है। विक्रमादित्य को विक्रम सम्वत् का संस्थापक बतलाया गया है। इस बात का हमें कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता कि गौतमीपुत्र ने कभी भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। उसके लिए अभिलेख में वर-वारण विक्रम चारु विक्रम विशेषण का प्रयोग किया गया है परन्तु इस विशेषण और बल तथा शौर्य के सूचक विरुद विक्रमादित्य में

---

[1] खतियदपमानमदनस सकयवनपल्हवनिसूदनस खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपतिथापनकरस।

वार्ई सम्बध नही है। इसी प्रकार इस विचार म भी कोई तथ्य नही है कि वह नागजन का समकालीन सातवाहन नरेश था। ह्वनसाग ने जिस अनश्रुति का उल्लेख किया है उसम इस राजा के लिए यह कहा गया है कि उसका अधिकार कोसल प्रदेश पर था। परतु गौतमीपुत्र शातकर्णि क राज्य म कोसल किसी भी प्रकार सम्मिलित नही था। कुछ विद्वानो का यह कथन कि गौतमीपुत्र ने अपने ज्येष्ठ वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के साथ-साथ शासन किया पर्याप्त तर्कों द्वारा सम्मत एव प्रमाणित नही प्राप्त होता। हम ऐसे सिक्के प्राप्त नही होते जिनम गौतमीपुत्र और वाशिष्ठीपुत्र का साथ-साथ उल्लेख किया गया हो और टालमी क भूगोल म प्रतिष्ठान को केवल पुलमावी की ही राजधानी कहा गया है जिससे सम्मिलित शासन वाला उपयुक्त मत अत्यधिक असम्भाव्य प्रतीत होता है।[१]

वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलमावी—गौतमीपुत्र शातकर्णि के पश्चात उसका पुत्र श्री पुलमावी १३० ईस्वी सन के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। उसका शासनकाल लगभग पन्द्रह वर्षों तक रहा। पुलमावी भी अपने पिता की भाँति पराक्रमी और विजेता था। उसने अपने पूर्वज शातकर्णि प्रथम की विवाह-सम्बन्ध द्वारा मैत्री स्थापित करने तथा अन्य विजयो द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ करने की नीति का अनुसरण किया। उसने उज्जयिनी के शक क्षत्रप रुद्रदामन की कन्या से विवाह किया था। इस विवाह-सम्बन्ध द्वारा पुलमावी शक क्षत्रप के साथ चिरकालीन मैत्री तो स्थापित नही कर सका तथापि उसे इससे लाभ अवश्य हुआ। रुद्रदामन क जनागढ़ वाले अभिलेख म यह स्पष्ट लिखा है कि उसने दक्षिणापथ के स्वामी को दो बार युद्ध म पराजित किया परन्तु उसे नष्ट न करके उससे यश प्राप्त किया क्योकि वह (पुलमावी) उसका निकट सम्बन्धी था।[२] वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलमावी ने सातवाहनो का राजनीतिक प्रभुत्व आन्ध्र-देश तक फैलाया। उसके समय म सातवाहन वश का गौरव अप्रतिहत न रह सका। सम्भवत उसके शासन काल म शको के प्रबल हो जाने के कारण मध्यभारत और गुजरात के प्रदेश फिर से सातवाहनो क हाथ से निकल गये। वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलमावी लगभग १५५ ई० म मरा।

यज्ञश्री शातकर्णि—यज्ञश्री शातकर्णि अथवा श्रीयज्ञ शातकर्णि सातवाहन वश का अंतिम प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। उसका शासन काल लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक रहा। यज्ञश्री शातकर्णि को अपने एक अति प्रतापी पूर्वज गौतमीपुत्र शातकर्णि की भाँति अपने वश क अवनति गौरव को पुन प्रतिष्ठापित करने का गौरव प्राप्त है। थाना और नासिक क जिलो म जो अभिलेख मिलते हैं उनम इस बात का विवरण है कि उसने अपने साम्राज्य सीमा का विस्तार किया। उसके सिक्के गुजरात काठियावाड पूर्वी मालवा, अपरान्त (दक्षिण पठार का पश्चिमी भाग) मध्य प्रान्त एव कृष्णा जिले मे प्राप्त हुए हैं। सिक्को क इस विस्तृत प्रदेश म पाये जाने के कारण हमारा यह विचार तर्कसगत प्रतीत होता है कि यज्ञश्री शातकर्णि का राज्य काफी दूर तक फैला था और उसके राज्य म महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनो सम्मिलित थे। उसने शको के सिक्को की अनुकृति पर अपने सिक्के ढलवाये थे। ये चाँदी के सिक्के प्रभूत मात्रा म पाये गये है जिससे डा० विसेन्ट स्मिथ साहब का अनुमान है कि यज्ञश्री शातकर्णि ने उन प्रदेशो पर भी अपना अधिकार जमा लिया था जिनको शको ने कुछ ही दिनो पूर्व सातवाहनो से छीन लिया था। गुजरात और सुराष्ट्र एसे ही प्रदेश थे। कुछ विद्वानो का

---

[१] इस सम्पूर्ण विवेचन के लिए देखिए, *Age of Imperial Unity* pp 203-204

[२] दक्षिणापथपते सातकर्णेर्द्विरपिनिर्व्याजमवजित्यावजित्यसम्बन्धाविदूरतयान त्सादनात्प्राप्तयशसा।

विचार है कि यज्ञश्री ऐसा अकेला सातवाहन नरेश था जिसके अधिकार में महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनों प्रदेश थे। उसके शासन काल में व्यापार की भी काफी उन्नति हुई थी। उसके कुछ सिक्कों पर जलयानों के चित्र अंकित हैं जो यह सूचित करते हैं कि यज्ञश्री के समय में सामुद्रिक व्यापार काफी उन्नतिशील दशा में था।

सातवाहनों का पतन—यज्ञश्री शातकर्णि के उपरान्त सातवाहनों की राजनीतिक प्रभुता निरन्तर क्षीण होती गई। उसके उत्तराधिकारियों में से सभी निर्बल, अकर्मण्य तथा अयोग्य निकले। इस समय आवश्यकता थी किसी गौतमीपुत्र शातकर्णि की जो अपने वंश के लुप्त गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करता परन्तु सातवाहनों के दुर्भाग्य से यज्ञश्री के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके या गौतमीपुत्र के समान पराक्रमी तथा योग्य नहीं हुआ। कुछ पुराणों के अनुसार यज्ञश्री के उत्तराधिकारी थे—विजय (२०८–०९ सं० ई०) चन्द्रश्री या चन्द्रश्री (२०९–१९ सं० ई०)। ये दोनों केवल नाम के ही राजा थे। वास्तविक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित नहीं रह गई थी। किसी प्रकार ये सातवाहनों की क्षीण शक्ति का प्रतिनिधित्व करते रहे परन्तु सन् २२५ ई० के लगभग सातवाहन वंश का दीपक जो इस समय तक काफी हतप्रभ हो चुका था विदेशी आक्रमणकारियों के प्रबल झंझावात में पड़कर बिल्कुल ही बुझ गया। सातवाहन वंश की कुछ शाखायें किन्हीं प्रदेशों पर शासन बाद में भी करती रहीं परन्तु वंश का मूल गौरव लुप्त हो गया।

सातवाहन साम्राज्य के पतन के कोई नवीन या विस्मयकारक कारण नहीं थे। उत्तराधिकारियों की निर्बलता एवं अयोग्यता, शासन प्रतिनिधियों का उत्तरदायित्व भूलना एवं अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की लिप्सा तथा शासन-व्यवस्था की शिथिलता इन सब कारणों से सातवाहनों की शक्ति खोखली हो गई। हम यह देख चुके हैं कि अपने साम्राज्य निर्माण के शैशव काल से ही सातवाहन नरेशों को एक प्रबल विरोधी शक्ति, शकों से लोहा लेना पड़ा था। इस संघर्ष के कारण अवश्य उनकी जन, धन और सैन्य शक्ति की हानि हुई होगी। उनका ध्यान उतना अबाध रूप से शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर न गया होगा जितना कि किसी राजवंश के गौरव को चिरस्थायी बनाने के लिए अपेक्षित तथा आवश्यक होता है। जब कभी योग्य शासक का अभाव हुआ आक्रमणकारियों का मन आया और उन्होंने अपने हाथ बलात् साफ कर दिए। इधर राज्य के सामन्तों और राज्य प्रतिनिधियों (Viceroys) ने राजभक्ति और देशहित को गौण समझ कर अपना अपना व्यक्तिगत स्वार्थ साधना उचित समझा। इन उपशासकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अपने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। इस प्रकार आन्तरिक शासन की दुर्बलता और बाह्य आक्रमणों ने मिलकर सातवाहन वंश की राज्यश्री को उन्मूलित कर दिया। सातवाहनों के बाद दक्षिण में नई राजनीतिक शक्तियों का उदय हुआ। ये शक्तियाँ थीं महाराष्ट्र में आभीरों की शक्ति और पूर्वी दक्षिण में इक्ष्वाकुओं और पल्लवों की शक्ति।

सातवाहनों के समय में दक्षिण की सभ्यता और संस्कृति—

सातवाहनों के शासन काल में सभ्यता और संस्कृति ...

यद्यपि सातवाहन ...

सीमायें।

... देश में संस्कृति और

सभ्यता की ... अग्रसर होती रही। इस समय दक्षिण का सामाजिक जीवन किस प्रकार का था, उसकी धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना में कौन-सी प्रवृत्ति प्रमुख रूप

से विद्यमान थी। उनके जीवन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी अथवा निर्बल और उस साहित्य सृजन का कार्य एवं कलाओं की उपासना हो रही थी अथवा नहीं। इन सब विषयों का विवरण हम सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। सातवाहन नरेशों के अनेक अभिलेख तथा कतिपय साहित्यिक साक्ष्य इन विषयों पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। आभिलेखिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों की सहायता से हम सातवाहन युग की सांस्कृतिक समृद्धि और सभ्यता की प्रगति का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। सर्वप्रथम हम सामाजिक जीवन को ही लेते हैं।

सामाजिक जीवन—सातवाहन युग की दक्षिणी समाज की अवस्था का अध्ययन करने से हमें कतिपय विशेषतायें स्पष्टतया दृष्टिगत होती हैं। प्रथम विशेषता है, स्त्री का सम्मानपूर्ण स्थान। सातवाहनयुगीन दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन में नारियों का एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। आवश्यकता पड़ने पर वे शासनसूत्र भी अपने हाथों ग्रहण करती थीं। शातकर्णि प्रथम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु के बाद पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण स्वयं राज्यसंचालन का कार्य किया था। गौतमीपुत्र वाशिष्ठीपुत्र माठरीपुत्र आदि मातृपरक उपाधियाँ इस बात का संकेत करती हैं कि समाज में स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वे अपने पतियों के साथ धार्मिक कार्यों में सक्रिय भाग लेती थीं। नायनिका के नानाघाट अभिलेख से इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि उसने अपने पति के साथ अश्वमेध यज्ञों में भाग लिया था। अभिलेखों में जिन रानियों का उल्लेख किया गया है उनके प्रति प्रभूत आदर और सम्मान प्रकट किया गया है। माता के रूप में स्त्री का बहुत अधिक सम्मान किया जाता था। वैधव्य का जीवन व्यतीत करने पर भी उसे सम्मान नहीं मिलता था। नासिक के एक लेख से इस बात का विवरण प्राप्त होता है कि एक पवित्र विधवा किस प्रकार का जीवन व्यतीत करती थी। गौतमी बालश्री के लिए कहा गया है कि वह सत्य, दान, धैर्य एवं जीवानुकम्पा आदि गुणों से आनन्द प्राप्त करती थी। तपश्चर्या, आत्म नियन्त्रण और सुखोपभोगों से विरक्ति उसके चरित्र के उज्ज्वल गुण थे। उसके पुत्र की इस बात के लिए बहुत अधिक प्रशंसा की गई है कि वह अपनी जननी के प्रति सदैव आज्ञाकारिता प्रदर्शित करता था।

आन्ध्रों के युग की सामाजिक अवस्था की विशेषता इस बात में भी थी कि यह सामाजिक जीवन व्यर्थ के नियन्त्रणों द्वारा बाधित नहीं बना दिया गया था। सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के लिए सचेष्ट भी थे। वर्णाश्रम धर्म के प्रचार के लिए भी वे प्रयत्नशील थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि के लिए यह आभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त होता है कि उसने चारों वर्णों की पारस्परिक वर्णसंकरता को दूर करने का प्रयत्न किया। खतियदपमानमदनस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियों के प्रति उसके हृदय में कुछ विरोध भावना विद्यमान थी। यह क्षत्रिय विरोधिता और भी अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख आती है जब हम गौतमीपुत्र को द्विजों (ब्राह्मणों) और अवरों (छोटी जातियों अन्त्यजों) को अपनी विशिष्ट कृपा का पात्र समझते हुए देखते हैं। गौतमीपुत्र को क्षत्रियों का इतना विरोधी क्यों दिखलाया गया है, इसका एक प्रबल कारण हमारी समझ में आता है। उस समय शक पह्लव और यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय वर्ग में प्रचुरता से प्रवेश पा चुकी थीं जिससे ब्राह्मण स्मृतिकारों की दृष्टि में क्षत्रियों का रक्त विशुद्धता की दृष्टि से दूषित हो चुका था। ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी गौतमीपुत्र ने विदेशियों को अपनी जाति में मिलाने

का कार्य अनुचित समझा और वर्णसंकरता को दूर करने का प्रयत्न भी किया। किन्तु व्यवहार में सातवाहन नरेशों ने ऐसा ही किया और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई यह कह सकना असम्भव प्रतीत होता है। सातवाहन राजाओं ने अब्राह्मण कन्याओं से विवाह करके इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया कि स्मृतिकारों के सैद्धान्तिक विधि-निषेधों को सर्वदा ही मान्य नहीं समझा जा सकता। स्वयं गौतमीपुत्र के पूर्वज शातकर्णि प्रथम ने जिसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसने सातवाहन वंश के गौरव की नींव डाली एक अंगीयकुल के महारथी त्रयिनकरो की दुहिता नायानिका से विवाह किया था। वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी ने शकराजकन्या से विवाह किया था। इन दो प्रमाणों के आधार पर यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे और वर्ण सम्बन्धी नियमों में व्यावहारिक रूप में विशेष जटिलतायें नहीं आ पाई थीं। एक अन्य बात से भी हम युग के सामाजिक जीवन की विनमनशीलता और उदारता का परिचय प्राप्त होता है। वैसे यह युग स्मृतिकारों का था जो अनेक नियमों और नियन्त्रणों से जीवन को जटिल बना रहे थे। इन नियमों और नियन्त्रणों में से समुद्र यात्रा पर निषेध भी एक था। परन्तु सातवाहन युग के समाज ने जीवन में कूपमण्डूकता लाने वाले इस नियम को स्वीकार नहीं किया।

चारों वर्णों के आधार पर समाज का विभाजन यहाँ के सामाजिक जीवन की विशेषता थी। सातवाहन राजाओं के उत्कीर्ण अभिलेखों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु व्यवसाय के आधार पर अन्य अनेक जातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं जिनका विवरण हम समकालीन अभिलेखों में प्राप्त होता है। इन्हीं अभिलेखों से हमें यह भी विदित होता है कि समाज में किस वर्ग का स्थान अधिक उच्च था और किस वर्ग का निम्न। समाज में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था तो थी ही और ब्राह्मणों का सम्मान भी सबसे अधिक किया जाता था किन्तु व्यवसाय के आधार पर सामाजिक सम्मान के विभिन्न स्तरों की सूचना भी हमें इन अभिलेखों द्वारा प्राप्त होती है। सबसे ऊँचा स्थान अधिगत करनेवाला वर्ग महारठियों, (महाराष्ट्रिकों) महाभोजों एवं महासेनापतियों का था। अमात्य महामात्र और महाभाण्डागारिक आदि राजपदाधिकारियों का वर्ग सामाजिक सम्मान की दृष्टि से द्वितीय पंक्ति का था। इसी वर्ग में निगम (श्रेष्ठिगण) सार्थवाह (व्यापारी गण) और श्रेष्ठिन् भी सम्मिलित थे। निगम एक साधारण व्यापारी तथा सार्थवाह सौदागरों के एक काफिले का सरदार होता था। श्रेष्ठिन् से अभिप्राय श्रेणिमुख्य से था। इंगलैण्ड और आयरलैण्ड के नगर की व्यवस्था के अधिकारी आल्डरमन (Alderman) की भाँति सार्थवाह का काम नगरों की व्यवस्था और देखरेख करना था। तीसरे वर्ग में वैद्य लेखक (राजकीय अथवा स्वतन्त्र) सुवर्णकार गान्धिक हालिकीय (कृषक) आदि सम्मिलित थे। मालाकार (माली) वर्धकी (बढ़ई) लोहवाणिज्य (लुहार) एवं दासक (मछुए) इत्यादि पेशेवरों से चतुर्थ वर्ग की रचना होती थी। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से यह चतुर्थ वर्ग सबसे निम्न स्तर का था। समाज की इकाई कुटुम्ब होती थी। इसके अध्यक्ष को कुटुम्बिन कहते थे। कुटुम्बिन् का परिवार के अन्य सदस्य काफी सम्मान करते थे और उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे।

यदि हम किसी साहित्यिक ग्रन्थ को इस युग की सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शक मानें तो हालकृत गाथा सप्तशती से हम इस दिशा में काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में हमें इस समय के सामाजिक जीवन के अत्यन्त मनोरम और हृदयग्राही

चित्र मिलते है। कवि कल्पना से मिश्रित होने पर भी ये चित्र उस समय के लोकजीवन के यथार्थवादी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं। सरस पद्यों के इस संकलन में मानव के इहलोकपरक जीवन को ही प्रधानता प्राप्त है। न तो कहीं वेदिका की चर्चा है और न यज्ञ का जिक्र। मुमुक्षा का वातावरण भी कहीं नहीं दृष्टिगत होता। गाथा सप्तशती को पढ़कर यह आभास होता है कि समाज के निम्न स्तर के लोगों का जीवन भी सुखपूर्ण होता था। उन्हें किसी प्रकार की यन्त्रणा सहन नहीं करनी पड़ती थी। इस ग्रन्थ में मनुष्य के शृंगारमय पक्ष का जो वर्णन किया गया है उससे जीवन के प्रति एक स्वस्थ और आशावादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है।

धार्मिक अवस्था—सातवाहन युग के दक्षिणी भारत की धार्मिक विचारधारा अत्यन्त उदार और सहिष्णु थी। यद्यपि लगभग सभी सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे तथापि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपने राज्य में फलने फूलने का पूरा अवसर प्रदान किया। उनके शासन काल में बौद्धधर्म का काफी अधिक प्रचार था और कला के क्षेत्र में बौद्धों ने अपना महत्वपूर्ण योग भी दिया। इस बात के लिए अनेक प्रमाण हैं कि धनी उपासकों ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए चैत्यों और दरीगृहों का निर्माण कराया था। वे भिक्षुओं के व्यय के लिए एक अच्छी रकम जमा कर देते थे जिसके ब्याज से बौद्ध विहारों को काफी आमदनी होती थी। कभी कभी भिक्षुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धनाढ्य लोग गाँव दान कर देते थे। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का लोगों के ऊपर काफी गहरा प्रभाव था।

सातवाहन-युग में ब्राह्मण धर्म का बहुत अधिक प्रचार था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सम्भवतः समस्त सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे और इस धर्म के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न भी किये। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म की अतिशय अहिंसावादिता और राजनीतिक चेष्टाशून्यता के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ की उसका प्रतिफल धार्मिक क्षेत्र में हम वैदिक यज्ञों के भोत्साह अनुष्ठान में ही देखते हैं। वैदिक प्रतिक्रिया का प्रबल समर्थन सातवाहन राजाओं ने भी किया। अश्वमेध यज्ञ तो किये ही गये बीस प्रकार के अन्य यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है। अन्य यज्ञों में गवामयनम्, अप्तोर्याम, राजसूय, आप्तोर्याम, आंगिरसामयनम्, शतातिरात्र आदि थे। यज्ञों में ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा प्राप्त होती थी।

वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों की भी बहुत [illegible] कि सातवाहन-युगीन [illegible]

अधिक बढ़ गया। प्रोफेसर भण्डारकर का कथन है कि सातवाहन युग के अभिलेखों में गोपाल, विष्णुदत्त, विष्णुपालित, कृष्ण आदि नामों का उल्लेख मिलता है उससे यह पता चलता है कि इस समय वैष्णव धर्म का बहुत व्यापक प्रचार था। नामों के आधार पर भण्डारकर महोदय ने धार्मिक अवस्था के विषय में अन्य अनुमान भी किये हैं।

यशोमय
ा दर्शन

ा कन्त्रा अतिशयोक्ति न होगा। ...ुसार ऐतिहासिक घटनाओं में ...ा एकत्र आने से यह पर्व एक लम्बा ...। यथा महाराष्ट्र गुजरात कर्नाटक ...शा में यह छ दिन मनाया जाता है ...व दिन। साधारणतः अन्यत्र इसकी ...न तक रहता है तो कहीं मात्र तीन ...। भारतेतर देशों फिजी त्रिनिदाद ... के ...

शिवघोष, शिवपालित शिवमूर्ति शिवदात भवगोप ...रिलक्षित होता है कि दक्षिण में शैवधर्मानुयायियों की ...अपरम्पार... ...ण्डारकर का यह अनुमान बिल्कुल ठीक प्रतीत होता ...ौर वैष्णव धर्म से भी अधिक था। नामों के आधार ...ल्लेख करते हैं कि शिव के वाहन नन्दिन स्कन्द तथा नाग की ...कुबेर का, ऋषभदात इत्यादि नाम नन्दिन-पूजा का ही संकेत ...वह भीतानिक ...लित शिवस्कन्दिल, और शिवस्कन्दगुप्त आदि नाम ...है। संसार ...का भी पूजा स्वतन्त्र रूप से अथवा शिव के साथ ही ...है अतः ...ल जैसे नाम नागपूजा के द्योतक हैं।

...सामाजिक व्यवस्था की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि ...ों ...ी संख्या में हिन्दू धर्म ग्रहण किया। हम सामाजिक जीवन का अध्ययन करते समय यह देख चुके हैं कि विदेशी जातियाँ शक पह्लव व... वर्ग से हिन्दुओं की सामाजिक रचना में प्रवेश पा रहे थे। यह इसलिये सम्भव हो सका कि उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया और तत्कालीन धर्माचार्यों ने उनके इस ... का स्वीकार भी कर लिया। शुंग वंश के शासन काल में ... भागवत धर्म स्वीकार करने ... कर लेने की यह ... पर अपने नाम में ... ...धर्म। प्रोफेसर भण्डारकर का कथन है ... ग्रहण कर लेने ... अभिलेखों में स्थान-स्थान पर चैत्यों और विहारों के दान के सम्बन्ध में यवनों का नाम आया है। कार्ले अभिलेख के दो यवनों में एक का नाम सीन्धाय (सिंहध्वज) और दूसरे का धर्म मिलता है। जुन्नर में तीन का उल्लेख हुआ है—इसिल चिट (चिन) एवं चन्द्र। नासिक में केवल एक यवन का नाम अंकित है—धर्मदेव का पुत्र इन्द्राग्नि दत्त। इन सभी यवनों ने बौद्ध धर्म में उपासकत्व ग्रहण कर रखा था और एक को छोड़कर सभी ने हिन्दू नाम भी रख लिये थे।[1] विदेशियों का भारतीय धर्मों में दीक्षित कर लिया जाना और विभिन्न धर्मावलम्बियों का एक दूसरे के प्रति सौहार्द्र तथा सहिष्णुता प्रदर्शित करना निस्सन्देह भारत की धार्मिक चेतना को हमारे सम्मुख एक अत्यन्त दिव्य और उज्ज्वल रूप में रखते हैं।

आर्थिक व्यवस्था—सातवाहनों के सुदीर्घकालीन शासन में दक्षिण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध था। लोगों का आर्थिक जीवन विभिन्न क्रियाकलापों से युक्त होने के कारण अत्यन्त समृद्धिशाली था। इस युग के अभिलेखों द्वारा लोगों के आर्थिक जीवन पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। कृषि, उद्योग धंधे और व्यापार ये तीन ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के अंग हैं और सातवाहन काल का दक्षिण इन तीनों दृष्टियों से सम्पन्न था। आर्थिक जीवन इस समय भी प्रमुखतया कृषि पर ही अवलम्बित था परन्तु उद्योग धंधों और व्यापार की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। विभिन्न व्यवसायियों ने अपनी-अपनी श्रेणियाँ संगठित कर रखी थीं। यदि यह कहा जाय कि इस समय के आर्थिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी श्रेणियों का संगठन—तो अत्युक्ति न होगा। कई श्रेणियों के उल्लेख मिलते हैं—धनिक (अन्नविक्रेता) कुम्हार कोलिक निकाय (जुलाहे), तिलपिषक (तेली) कासाकर (काँसे के बर्तन इत्यादि बनानेवाले) बसकार

[1] प्रोफेसर एन० एन० घोष द्वारा उद्धृत, भारत का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ, २२७

(काम की वस्तुयें बनानेवाले)। इन श्रेणियों के विषय में प्रोफेसर एन० एन० घोष का कथन है "ऐसे अनेक निकायों का उल्लेख जातक ग्रन्थों में मिलता है जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी के सामाजिक जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं। इससे यह साफ निष्कर्ष निकलता है कि छठवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शती ई० तक उत्तर और दक्षिण भारत दोनों निकायों से परिपूर्ण थे। शिल्पियों के इन निकायों की बहुलता इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि भारत में स्वायत्तशासन सम्बन्धी संस्थायें साधारण सी बात मानी जाती थी और उनका काफी प्रभाव था। श्रेणियाँ केवल शिल्पियों का निकाय ही नहीं था बल्कि उनसे कुछ कुछ आधुनिक बैंकों का भी काम निकलता था क्योंकि लोग उनमें धन जमाकर उस पर ब्याज वसूल करते थे। यहाँ तक कि बहुधा उनमें आजीवन सम्पत्ति चन्दा देने की व्यवस्था थी जिसे अक्षय नीवि कहते हैं। उषवदात ने ऐसे हजारों अक्षय नीवि दो कौलिक नियमों तथा श्रेणियों को प्रदान कर रखे थे जिसमें से पहला कपास वस्त्र (चीवरिकानि) तैयार करने के लिये और दूसरा भोजन की साधारण आवश्यकताओं (कुपान्न) की पूर्ति के लिये थे। मुद्राओं की बहुलता से प्रचलन होना भी इस युग की आर्थिक समृद्धि को सूचित करता है। कई प्रकार के सिक्कों का प्रचार था। सबसे अधिक मूल्य के सिक्के को सुवर्ण कहा जाता था जिसका मूल्य चाँदी के ३५ कार्षापण के बराबर होता था। इसके बाद चाँदी का एक दूसरा सिक्का होता था जिसे कुषण कहते थे। कार्षापण चाँदी और ताँबे के सबसे छोटे सिक्के होते थे जिनको लोग साधारण व्यवहार में प्रयुक्त करते थे। ब्याज पर रुपये उधार देने की प्रथा विद्यमान थी इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उषवदात के दो निकायों की अक्षय नीवि में एक पर १२% वार्षिक ब्याज दर और दूसरे पर ९% वार्षिक ब्याज होता था। यदि ब्याज की आधुनिक दर से हम इस दर की तुलना करते हैं तो निस्सन्देह यह कुछ अधिक प्रतीत होती है परन्तु सम्भवतः प्राचीन भारत में इसे अधिक नहीं समझा जाता था।

सातवाहन युग के दक्षिणी भारत में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार उन्नतिशील अवस्था में थे। व्यापार की सुविधा के लिये देश के विभिन्न भागों में राजमार्गों की समुचित व्यवस्था थी। अनेक सड़कें बनी हुई थी जिनके द्वारा व्यापारियों के काफिले अपनी अपनी सामग्रियों के साथ देश के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचा करते थे। दक्षिण भारत में पैठन नगर नासिक जुन्नार कर्नाटक (करहाड) आदि व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। ये नगर राजमार्गों द्वारा एक दूसरे से मिले हुए थे। विदेशी व्यापार भी काफी समृद्ध अवस्था में था। पाश्चात्य जगत के साथ दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापारिक सम्बन्ध पर एरिथ्र सागर की परिक्रमा (Periplus of the Erythrean Sea) नामक ग्रन्थ द्वारा प्रचुर प्रकाश पड़ता है। भड़ौंच सोपार और कल्याण प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहाँ से व्यापारी जलयानों में बैठकर व्यापारिक यात्रायें किया करते थे। विदेशी व्यापार से देश को काफी लाभ होता था।

शासन व्यवस्था—सातवाहन युग की शासन व्यवस्था के विषय में हमें समकालीन अभिलेखों द्वारा विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे जिससे यह भावना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती कि उनकी शासन व्यवस्था केवल कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा कि तत्कालीन स्मृति ग्रन्थों में आदर्श रूप बतलाई गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृतिग्रन्थों की छाप सातवाहन नरेशों की शासन व्यवस्था पर काफी था। मौर्यकालीन शासन-व्यवस्था का प्रभाव भी दिखलाई

पड़ता है। राजत्व के सिद्धान्तों में इस समय भले ही कुछ परिवर्तन उपस्थित हो गया रहा हो परन्तु मूल भावना बहुत कुछ मौर्य युग की सी थी। अर्थशास्त्रकार के इस कथन को कि राजा को लोकानुरंजन पर अधिक ध्यान देना चाहिए इस युग के नरेश भी पालन करते थे। अशोक का अपनी प्रजा को सन्तान-तुल्य समझना इस काल के राजाओं का भी आदर्श था यह बात हम गौतमीपुत्र के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। जिन प्रान्तों पर यवनानियों और मादियनों का आधिपत्य रहा था उनमें अशोक द्वारा मान्य शासन प्रणाली ही प्रचलित थी। राज्य शास्त्र का जिसके लिये संस्कृत शब्द अर्थविद्या प्रयुक्त किया गया है इस समय विधिवत् अध्ययन किया जाता था और अभिलेखों में राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा, उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिये आवश्यक योग्यता पर आग्रह, मन्त्रियों का वर्गीकरण, नगरवासियों तथा ग्रामीणों के हित-संरक्षण और संवर्द्धन तथा कर, विष्टि और प्रणय आदि करों के लगाने से विरत रहना आदि बातों का जो विवरण प्राप्त होता है उस पर निस्सन्देह ही इस अध्ययन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मौर्ययुगीन शासन प्रणाली की भाँति इस युग की राज्य संस्था में भी लोकतन्त्र प्रधान स्वायत्त संस्थाओं की उपेक्षा नहीं की गई थी। व्यवसायियों के निकायों की बहुलता में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि सातवाहन शासक स्वायत्त संस्थाओं के महत्त्व को भली भाँति समझते थे।

सातवाहन युग में मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था थी। मन्त्रियों को इस समय पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सम्मान और अधिकार प्राप्त था। रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले अभिलेख में मन्त्रिपरिषद् की चर्चा कुछ विस्तार के साथ मिलती है। उत्तरी पश्चिमी भारत की राज्य संस्था में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुये क्योंकि यहाँ पर कितने ही वर्षों तक विदेशी आक्रमणकारियों का शासन बना रहा। प्रान्तीय शासन की व्यवस्था इसी प्रकार के एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का निर्देशन करती है। तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन तथा अन्य कई स्थानों में फारसी ढंग के क्षत्रपों की नियुक्ति की गई थी। कुछ क्षत्रप राजकार्य में मन्त्रियों का परामर्श लिया करते थे। परन्तु अधिकांश क्षत्रपों का शासन बिल्कुल सैन्य शासन का सा था। सातवाहन नरेश अपने राज्य में जिलाधिकारियों की जो नियुक्ति करते थे उन पर सैनिक प्रशासकों की इस व्यवस्था पर System of military governors का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। जिलाधिकारियों को महासेनापति कहा जाता था।[1]

ऊपर हमने इस बात का संकेत किया है कि सातवाहनों की शासन-व्यवस्था में स्वायत्त शासन को समुचित स्थान प्राप्त था। यद्यपि इस युग में कहीं-कहीं सैनिक शासन का प्रचलन था तथापि वहाँ भी स्वायत्त शासन की संस्थाएँ पूर्णरूप से नष्ट नहीं होने पाईं। नगर सभाओं और नगराध्यक्ष नामक अधिकारियों के उल्लेख काफी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इनका सादृश्य हम मौर्ययुग की नगरशासन व्यवस्था के साथ स्थापित कर सकते हैं जिसके सम्बन्ध में हम 'नगर व्यावहारिक' का नाम सुनते हैं। नगर निवासियों की भाँति ग्रामवासियों को भी स्वशासन की प्रचुर सुविधायें उपलब्ध थीं। इस काल में भी गाँव का मुखिया ही ग्राम शासन का अध्यक्ष होता था और कई पदाधिकारियों की सहायता से शासन-कार्यों का संचालन करता था। गाँवों में ग्राम सभायें होती थीं जिनके माध्यम से राजाओं और ग्रामवासियों के बीच सम्पर्क स्थापित होता था। सातवाहन युग के अभिलेखों से इस बात का तो स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि ग्राम, श्रेणी, निगम तथा जनपद के अपने अपने निकाय होते थे जिनके कर्तव्य

अधिकार तथा उत्तरदायित्व एक दूसरे से काफी भिन्न होते थे। हाँ एक बात अवश्य है कि कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में स्वशासन मूलक एक सैद्धान्तिक समानता तथा एकरूपता होती थी।

कला और साहित्य—कलाओं के विकास और साहित्य-सृजन की दृष्टि से सातवाहन-युग महत्वशून्य नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं बौद्ध धर्म ने इस युग की कलात्मक प्रगति को जन्म दिया। अधिकतर रूप में इस समय वास्तु कला की ही उन्नति हुई। गुहा मंदिरों एवं शैलघरों (शैलगृहों) के रूप में वास्तु कला का बहुत अधिक विकास हुआ। दक्षिण में लगभग जितने भी शैलगृह और गुहा मन्दिर इस समय मिले हैं उन सब का निर्माण सम्भवतः सातवाहनयुग में ही हुआ था। चैत्यगृह अथवा मन्दिर और लयन या भिक्षुओं के आवास के रूप में गुहायें दो प्रकार की बनाई जाती थीं। नासिक, कार्ले और भाजा में गुहा विहार और गुहा चैत्य के अत्यन्त सुन्दर भवनों का निर्माण सातवाहन युग में ही हुआ था। सातवाहन नरेश प्राकृत भाषा के परिपोषक और प्राकृत कवियों के आश्रयदाता थे। उनके सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण हैं। उनके शासन काल में प्राकृत भाषा और साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। हाल नामक सातवाहन राजा स्वयं प्राकृत का एक रससिद्ध कवि था। उसने प्रसिद्ध काव्य गाथा सप्तशती का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उसी की राजसभा में गुणाढ्य नामक सुविख्यात लेखक रहता था जिसने बृहत्कथा नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत में लिखा गया है और मनोरञ्जक तथा विचित्र कथाओं का विशाल भण्डार है। एलन महोदय के कथनानुसार कातन्त्र नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना सर्ववर्मन ने इसी समय के लगभग की थी। इस युग में संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन का हमें कोई सुस्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता किन्तु इस काल की प्राकृत रचनाओं पर संस्कृत की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

कलिङ्गराज खारवेल

प्राचीन भारत में कलिंग का राज्य अत्यन्त समृद्ध था। इस राज्य की सम्पदा तथा अन्य नगरियों की समृद्धि का वर्णन जातकों में मिलता है। कलिंग राज्य में पुरी और गंजाम के जिले, कटक का कुछ भाग तथा उत्तर और उत्तर पश्चिम के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। दक्षिण भारत के आधुनिक तेलगू भाषा भाषी प्रांत का कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत था। नन्द सम्राटों का कलिंग देश पर अधिकार था। कुछ इतिहासकारों की सम्मति में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में भी कलिंग का राज्य सम्मिलित था। किन्तु उसकी मृत्यु के अनन्तर कलिंगवासियों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र हो गये। अशोक की कलिंग विजय का विवरण प्राचीन भारत के इतिहास की एक अत्यन्त चिरपरिचित घटनाओं में से है। कलिंग देश के निवासी अपनी स्वतन्त्रता के दृढ़ अनुरागी थे जिस कारण बहुत सम्भव है कि उस समय के शासक उनको अपने अधीन करने में सफल न हो सके। मौर्यों के समय में कलिंग देश सम्भवतः दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। यह विभाजन शासन सम्बन्धी सुविधाओं के दृष्टिकोण से ही किया गया रहा होगा। अशोक के बाद कलिंग का क्या हाल हुआ यह स्पष्ट ज्ञात नहीं परन्तु अनुमान करना ठीक प्रतीत होता है कि यह एक स्वतन्त्र राज्य हो गया। अशोक की मृत्यु के अनन्तर ईसा की प्रथम शती पूर्व मगध साम्राज्य के जो शत्रु उठ खड़े हुए थे उनमें से कलिंग का राज्य भी एक प्रबल शत्रु था। हाथी गुम्फा अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय पश्चिम में शातकर्णि राज्य कर रहा था कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तरा

भारत में अपनी सेना लेजाकर राजगृह के राजा को पददलित किया। यह खारवेल चेदि-वंश के महामेघवाहन परिवार का था। श्री आर० पी० चन्द के निर्देशानुसार, चेत राजकुमार का उल्लेख वेस्सन्तर जातक में किया गया है। मिलिन्दपण्हो के एक कथन से यह मालूम होता है कि चेत लोग चेदि या चेति वंश से सम्बन्धित थे। इस ग्रन्थ में चेत राजा सूर के विषय में जो बातें बताई गई हैं वे चेदि नरेश उपरिचर के विषय में हम जो कुछ जानते हैं उनसे काफी मिलता हैं।[१] अशोक की मृत्यु के बाद से चेदि राजवंश के उत्थान तक के समय का कलिंग का इतिहास तिमिराच्छन्न है। सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व में ही (नन्दों के तीन सौ वर्षों उपरान्त) चेदि वंश का कलिंग राज्य पर अधिकार हुआ। हाथीगुम्फा अभिलेख में प्रथम दो चेदि सम्राटों के नाम स्पष्टतया नहीं मिलते। खारवेल इस वंश का तृतीय सम्राट था।

महाराज खारवेल प्राचीन भारत के अत्यन्त विख्यात सम्राटों में अपना स्थान रखता है। हाथीगुम्फा अभिलेख में जो भुवनेश्वर (उड़ीसा) के निकट उदयगिरि पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है खारवेल के शासन काल की घटनाओं का अत्यन्त सविस्तार वर्णन है। इस अभिलेख के कथन के अनुसार राजकुमार खारवेल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष राजोचित शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किये। उसने शासन से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन किया। सोलहवें वर्ष में राजकुमार खारवेल युवराज की पदवी से विभूषित किया गया। इसके उपरान्त आठ वर्ष उसने मुद्रा गणना, व्यवहार विधि (मीमांसा तन्त्र आदि) तथा अन्य विद्यायें सीखने में बिताये। अपनी आयु के चौबीस वर्ष समाप्त कर लेने के उपरान्त खारवेल कलिंग का महाराज हो गया। उसने कलिंगाधिपति और कलिंगचक्रवर्तिन् की पदवियां धारण कीं। सम्भवतः उसने महाविजय का विरुद भी ग्रहण किया।

अपने शासन के प्रथम वर्ष में महाराज खारवेल ने अपनी राजधानी के बाह्य भवनों को सुधारने की ओर ध्यान दिया। उसने उन मुख्य द्वारों और प्राकारों की मरम्मत कराई जो वात के महमप कर टूट गये थे। उसने लोकहित की दृष्टि से कुछ नयी वस्तुओं का निर्माण कराया जिनमें शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलंकृत तड़ागों का स्थान प्रमुख था। दुर्गों की उसने अच्छी तरह से मरम्मत कराई। जनहित के कार्यों में उसका प्रभूत धन व्यय हुआ और पैंतीस लाख मुद्रायें व्यय करके महाराज खारवेल ने जनता के मनोरञ्जन और आमोद प्रमोद की व्यवस्था की। अपने राज्य काल के द्वितीय वर्ष में उसने अपने सैन्य बल और आतंक का परिचय दिया। आन्ध्र नरेश शातकर्णि की शक्ति को तुच्छ समझते हुए उसने अश्व हाथी रथ और अन्य [illegible]

[illegible] वर्ष उसने राष्ट्रिकों तथा भोजकों को, जो कदाचित बरार प्रदेश में रहते थे पराजित करके उनका दमन किया। दक्षिण में महाराज खारवेल को जो सफलता प्राप्त हुई उससे उसका उत्साह बहुत अधिक बढ़ गया और उसने उत्तरी भारत पर भी अपना प्रभाव जमाने का विचार किया। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने अपने शासन के आठवें वर्ष में गोरथगिरि को विध्वस्त किया। यह बराबर की पहाड़ियों में बना हुआ एक सुदृढ़ दुर्ग था जिसके ध्वस्त हो जाने से उसना

[१] *Political History of Ancient India* V Edition p 418

आगे विजय प्राप्त करने में उसे सफलता प्राप्त हो गई। उसने राजगृह नगर पर धावा किया और वहां के निवासियों को संत्रस्त किया। खारवेल के इन शौर्यपूर्ण कार्यों के समाचार ने एक यवन नरेश के हृदय को इतना अधिक भयभीत कर दिया कि वह भागकर मथुरा चला गया। यह यवन राजा जिसका नाम कभी कभी कुछ संदिग्ध रूप से दिमित अथवा दिमत (डमेट्रियस) पढ़ा जाता है सम्भवतः पूर्वी पंजाब का एक परवर्ती भारत-यूनानी शासक था। दसवें वर्ष में सेना सहित और साम आदि विभिन्न उपायों को अवलम्बन करके खारवेल ने भारत विजय के लिये भारतवर्ष की ओर प्रस्थान किया। यहां पर भारतवर्ष शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसमें अभिप्राय अंतर्वेद अथवा उत्तरी भारत से है। अपने राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसने पिथुण्ड नगर को विनष्ट किया और उसके प्रासादों पर हल चलवा दिया। इसी समय उसने अपने पलायित शत्रुओं के माल को लूटकर हस्तगत किया। उसने मगधवासियों को संत्रस्त किया और सम्भवतः गंगा के तट पर मगध नरेश बहसतिमित्र को पराजित भी किया।[1] खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष में ही राजगृह पर आक्रमण करके वहाँ के निवासियों को भयाकुल कर दिया था और इस बार भी उत्तरापथ के अन्य नरेश खारवेल की प्रचण्ड रणशक्ति से भयभीत हो चुके थे। अतएव बहसतिमित्र ने जिसे राजगृह का स्वामी कहा गया है संधि की प्रार्थना की। संधि की इस प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज खारवेल ने बहसतिमित्र से अपनी पाद वंदना कराई। उत्तरापथ की अन्य सफलताओं के वर्णन में हाथीगुम्फा अभिलेख का प्रशस्तिकार कहता है कि खारवेल ने अपनी सेना के हाथी घोड़ों को गंगा में नहलाकर मागधजनों में विपुल भय उत्पन्न कर दिया।[2] इसी समय वह कलिंग देश का जिनमूर्ति को अपने साथ ले आया जिसे नन्द राजा मगध ले गये थे। मगध के राजा को युद्ध में पराजित करके महाप्रतापी खारवेल ने नन्दों और मौर्यों के समय में किये गये कलिंग के राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार किया। उसने इस बार मगधवासियों की बहुत सी सम्पत्ति भी लूटी। इसी वर्ष उसने दक्षिण के पाण्ड्य नरेश पर भी आक्रमण किया और मुक्ता मणि रत्न की अनन्त राशि प्राप्त की। अन्य विजयों के उपरान्त अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग नरेश खारवेल ने एक धार्मिक कार्य किया। वह स्वयं जैन धर्म का अनुयायी था अतएव उसने कुमारी पर्वत (उदयगिरि खण्डगिरि) में अर्हतों के वर्षावास तथा अन्य मुनियों के लिए पैंतीस लाख से भी अधिक व्यय कर गुहायें बनवाईं।

हाथीगुम्फा अभिलेख के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिंग का राजा खारवेल एक महान विजेता तथा अपने समय का एक प्रभावशाली सम्राट था। जिस कलिंग पर मगधवंशों (नन्दों और मौर्यों) ने अपनी राजसत्ता स्थापित की थी उसी देश के शासक ने अपने भुजबल से अपने समय के मगध सम्राट को नतमस्तक होने के लिए बाध्य किया। एक बार नहीं अपितु दो-दो बार उत्तरापथ पर आक्रमण करके खारवेल ने अपनी शूरता का परिचय दिया। शातकर्णि के बल की अवहेलना करके उसने मूषिक नगर का विध्वंस किया पिथुण्डनगर को उसने विनष्ट किया और दक्षिण (तामिल देश) के पाण्ड्य राजा से अपने विजय स्वरूप प्रचुर धन प्राप्त किया। जिससे भयभीत होकर एक यवन नरेश ने भागकर मथुरा में शरण ली—इन सब प्रमाणों के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि खारवेल अपने समय का

[1] म (।) गंगाय च विपुल भय जनेतो हथस गंगाय पाययति।

[2] डा० जायसवाल का यह कथन कि हाथीगुम्फा अभिलेख का बहसतिमित्र और पुष्यमित्र शुंग एक ही व्यक्ति हैं निराधार और तर्कशून्य जान पड़ता है।

सबसे प्रचण्ड योद्धा और विजेता था। महान अभिलेख में हमें उसकी किसी पराजय का विवरण नहीं प्राप्त होता जिससे यह प्रतीत होता है कि उसकी विजय-वैजयन्ती सदा फहराती ही रही। विश्व के अन्य महान शासकों की भाँति महाराज खारवेल में अन्य गुण भी विद्यमान थे। उसने नागरिकों के जो कार्य किये उनके द्वारा उसकी प्रजावत्सलता सिद्ध होती है। वह एक महान दानी तथा जैन धर्म का परिपोषक भी था। हाँ यह अवश्य है कि उसने अपने महान सैन्यबल के रहते हुए भी एक सुसंगठित साम्राज्य का निर्माण नहीं किया। एक महान विजेता होने पर भी वह एक महान साम्राज्य निर्माता नहीं था। उसकी शासननिपुणता का विवरण उसके अभिलेख द्वारा हमें नहीं प्राप्त होता अतएव हम यह नहीं कह सकते कि वह एक सुयोग्य शासक भी था। भारत के राजनीतिक नभमण्डल पर अकस्मात् कलिंगाधिपति का उदय एक ऐसे नक्षत्र के रूप में हुआ जो उज्ज्वल तो था किन्तु जिसकी आभा केवल अल्प काल के ही लिए चमकती रही। उसकी विजयों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा।

खारवेल के तिथि क्रम का विचार—खारवेल के शासन काल के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति में खारवेल का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० का प्रथमार्द्ध है। परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमयी है। इस बात के लिये कुछ प्रबल प्रमाण प्राप्त होते हैं कि उसका काल कुछ बाद का है। खारवेल ने 'महाराज' की जो पदवी धारण की थी वह महाराजाधिराज की ही भाँति भारत के विदेशी शासकों द्वारा चलाई गई थी। ईसा पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध के यवनी राजाओं ने ये पदवियाँ सर्वप्रथम धारण की थीं। कलिंग देश का एक नरेश जो विदेशी सभ्यता के प्रभाव से मुक्त था इस उपाधि को जिसकी उत्पत्ति देश की अपनी राष्ट्रीय परम्परा द्वारा न होकर विदेशी प्रभाव द्वारा हुई थी कुछ बाद वाले समय में ही धारण कर सकता था। अतएव यदि हम प्रश्न को आधार बनाकर खारवेल के समय पर विचार करें तो हम कतिपय विद्वानों के इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते कि वह ई० पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हुआ था। कलिंग के समकालीन मगध नरेश का नाम हाथीगुम्फा अभिलेख में बहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र दिया गया है जिसका सादृश्य हम शुंग या काण्व वंश के किसी भी शासक के साथ नहीं स्थापित कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि बृहस्पतिमित्र का समय शुंगों के (१८७–१५१ ई० पू०) बहुत बाद का होना चाहिये। इस दृष्टि से बृहस्पतिमित्र के समकालीन नरेश खारवेल का समय भी बाद का ही होना चाहिये। अभिलेखों की लिपि से भी खारवेल के समय के प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि बेसनगर अभिलेख की लिपि से बाद की है। बेसनगर अभिलेख की लिपि ई० पू० द्वितीय शताब्दी की है जब कि हाथीगुम्फा की लिपि को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि यह ई० पू० प्रथम शताब्दी में उत्कीर्ण कराया गया होगा। इसके अतिरिक्त हाथीगुम्फा अभिलेख की प्रशस्ति में परवर्ती युग की काव्यशैली का पूर्वरूप दिखलाई पड़ता है परन्तु बेसनगर अभिलेख की भाषा नितान्त सादी है। इस बात से यह प्रमाणित होता है कि बेसनगर का अभिलेख हाथीगुम्फा के अभिलेख की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और यह प्राचीनता सम्भवतः एक शताब्दी तक की तो होनी ही चाहिये। कला-सम्बन्धी साम्य से भी हम कलिंगराज खारवेल की तिथि निर्धारित करने में सहायता प्राप्त करते हैं। भारतीय कला के विशेषज्ञों की सम्मति में मंचपुरी गुफा के स्थापत्य, जिनको महामेघवाहन शासन-काल में उत्कीर्ण कराया गया था निश्चय रूप से भरहुत के स्थापत्य (जिनकी रचना शुंग युग में हुई थी) से काफी बाद के हैं। इस बात से यह सिद्ध हो जाता है कि महामेघवाहन वंश

१६ | भारत पर विदेशी जातियों का शासन

इण्डो ग्रीक (यवन जाति)

मौर्यों के सुव्यवस्थित शासन से भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भूभाग को राजनीतिक एकता शान्ति तथा सुव्यवस्था प्रदान की थी। प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में सिल्यूकस नाइकेटर ने भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर आक्रमण किया था और सिकन्दर की महत्वाकांक्षा से उत्साहित होकर वह स्वयं भी भारत पर स्थायी यूनानी शासन की स्थापना करना चाहता था। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य की विशाल सेना ने यूनानी सेनानायक की महत्वाकांक्षा को धूल में मिला दिया और उसे एक अपमानजनक सन्धि करने के लिये विवश होना पड़ा। इसके पश्चात भारतीय सीमा के उस पार कुछ ही दूर रहनेवाले यूनानी शासकों की इस बात की हिम्मत नहीं हुई कि वे भारत की हिरण्यगर्भा वसुन्धरा को लूटें-खसोटें और यहां के निवासियों को उत्पीड़ित या सन्त्रस्त करें क्योंकि उनके ऊपर मौर्य कालीन भारत की प्रचण्ड रण शक्ति और अतुलित सैन्य बल का सिक्का खूब अच्छी तरह जम चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार के साथ प्रथम सोटर से पास एक पत्र भेजा जिसके द्वारा उसने अपने यूनानी मित्र से मधुर मदिरा अंजीर और एक दार्शनिक मांगा। ग्रीक राजा ने उसे उत्तर में लिखा कि मदिरा और अंजीर भेजने में तो उसे अत्यधिक प्रसन्नता होगी किन्तु दार्शनिक को बेचना या किसी को उपहार में समर्पित करना यूनानी राज्यों के कानून के विपरीत है। एशिया के अन्य यूनानी राज्यों के साथ भी बिन्दुसार ने मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाये रक्खा। सीरिया नरेश अन्तियोक प्रथम (Antiochus I) ने उसकी राजसभा में डायमेकस (Dimachus) नामक राजदूत भेजा था। इसी प्रकार मिस्र के टालमी (Ptolemy) सम्राट ने भी अपना एक राजदूत भेजा था जिसका नाम डायोनासियस (Dionysius) था। अशोक ने मैत्री की इस परम्परा को न केवल अक्षुण्ण ही रक्खा अपितु इसको सुदृढ़ भी बनाया। उसने अपने धर्मप्रचारकों को सीरिया मिस्र साइरीन मकदूनिया तथा एपिरस के यवन राज्यों में भेजा। इन राज्यों ने इस महान भारतीय सम्राट की धर्म सर्वद्धिनी नीति को शिरसा स्वीकार किया। किन्तु ज्योंही अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति शिथिल पड़ने लगी यवन राज्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित हो गया। देश की अशान्तिपूर्ण अवस्था और एक सुदृढ़ शासन के अभावजनित व्यापक अराजकता से वे लाभ उठाने की सोचने लगे। डा० डी० सी० सरकार का कथन है[1] कि जिन तत्वों के कारण साम्राज्यवादी मौर्यों के वंश का नाश हुआ उनमें से एक तत्व यह भी था कि भारत के उत्तरी पश्चिमी द्वार से यवन आक्रमणकारियों का उदय हो चुका था। मौर्य वंश के समूलोन्मूलन का तो यह एक कारण कहा जा सकता है किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि मौर्य शासन की शक्ति क्षीणता ने यवनों को देश पर आक्रमण करने का आमन्त्रण दिया और जब किसी यवन सेना-नायक ने अपने आक्रमण से द्वार खोल दिया तो अन्य विदेशी जातियों के लिए भी लूट खसोट और आक्रमण का मार्ग प्रशस्त हो गया। इसके पश्चात तो विदेशी आक्रमणों की एक बाढ़ सी आ जाती है और इतिहास के अध्याय का सबसे मनोरंजक भाग यही है कि देश के काफी हिस्से में

---

[1] The *Age of Imperial Unity* Chapt vii The Yavana P 101

विजेताओं के राज्य स्थापित हो जाते हैं। उत्तरापथ, अपरान्त (पश्चिमी देश) और मध्य-देश के निकटवर्ती प्रदेशों पर शक, पल्लव आदि विदेशी जातियों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। यूनानी लोग इन आक्रमणकारियों में से सबसे प्रथम आये इस-लिये हम सबसे पहले इन्हीं के विषय में पढ़ेंगे।

यवन शब्द का अर्थ—मध्यकालीन भारतीय साहित्य में यवन शब्द का अभिप्राय म्लेच्छ से था और किसी भी विदेशी के लिये इसका प्रयोग किया जा सकता था। परन्तु ईसा सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही 'यवन' शब्द का प्रयोग यूनानियों के लिये किया जाने लगा था। भारतवासियों के लिये अब 'यवन' शब्द से किसी भी विदेशी जाति का नहीं अपितु केवल यूनानियों का ही बोध होता था। इस शब्द की उत्पत्ति फारसी के शब्द 'यौन' से हुई जिसका प्रयोग पहले आयोनिया के यूनानियों के लिए ही किया जाता था। परन्तु बाद में सभी यूनानियों के लिये 'यौन' शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा। उत्तरापथ के निवासियों का ईसा पूर्व पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी में ही यूनानियों से परिचय था। 'यौन' शब्द को जिसका सबसे पहले प्रयोग दारा प्रथम के अभिलेख में हुआ था और जिससे यूनानियों का बोध होता था भारत के निवासियों ने कुछ रूपान्तरित करके ग्रहण कर लिया। पाणिनि की अष्टाध्यायी में ही सर्वप्रथम इस रूपान्तरित संस्कृत शब्द 'यवन' का प्रयोग किया गया है। अशोक के अभिलेखों में इसके प्राकृत रूप 'योन' का ही प्रयोग किया गया है।

बैक्ट्रिया के यूनानी—सिकन्दर महान के सेनानायक सिल्यूकस ने एक विशाल राज्य को अपने अधीन रक्खा था परन्तु उसके राज्य में विभिन्न जातियाँ रहती थीं जिनमें परस्पर कोई मूलभूत सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय एकता विद्यमान न थी। ये जातियाँ शक्ति के जोर से दबाकर रक्खी गई थीं। अतएव जब तक सिल्यूकस के बाहु में बल था ये चुपचाप उसके शासन को स्वीकार करती रहीं परन्तु ज्योंही बाद में यूनानी शासकों की शक्ति शिथिल होने लगी ये अपनी स्वतन्त्रता का दुन्दुभि-नाद करने का अवसर ढूँढ़ने लगीं। अन्त में अवसर प्राप्त होते ही यूनानी राज्य के दो महत्वपूर्ण और विस्तृत प्रान्तों—पार्थिया और बैक्ट्रिया में विद्रोह हो गया और ये स्वतन्त्र हो गये। सिल्यूकस साम्राज्य के पार्थिया (खुरासान और कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्व से मिला हुआ प्रदेश) और बैक्ट्रिया (बल्ख के निकट का जिला जिसे प्राचीन काल में भारतवासी बाह्लीक कहते थे और जो हिन्दुकुश के उस पार उत्तरी अफगानिस्तान में अवस्थित था) दो जिले थे। २५० ई० पू० के लगभग इन दोनों प्रान्तों ने अपने यूनानी शासक एंटिओकस द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। पार्थिया का विद्रोह अभिजात कुलीन द्वारा संचालित न होकर एक जन विद्रोह था। इस विद्रोह का नेतृत्व अर्सक (Arsaces) नामक व्यक्ति ने किया जो निश्चयरूप से अभिजात कुल का नहीं था। उसका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। उसने अपने विद्रोह के फलस्वरूप एक राजवंश की स्थापना की। २४८ ई० पू० इस राजवंश का संस्थापन हुआ और पाँच शताब्दियों तक यह चलता रहा। बैक्ट्रियावासियों का विद्रोह जन विप्लव न होकर सामन्तों द्वारा संचालित था। यहाँ के विद्रोह का नेता यहाँ का यूनानी गवर्नर डियोडोटस (Diodotus) था। न तो एंटिओकस द्वितीय और न उसके उत्तराधिकारियों में से सिल्यूकस द्वितीय (२४६–२२६ ई० पू०) और सिल्यूकस तृतीय (२२६–२२३ ई० पू०) ही इन विद्रोही प्रान्तों को कुचलने में समर्थ हो सका। बाद में एंटिओकस महान ने बैक्ट्रिया और पार्थिया के विद्रोहियों को कुचलकर अपने अधिकार में करने

का प्रयत्न किया। परन्तु शीघ्र ही उसने इस कार्य की दुष्करता का अनुभव कर लिया क्योंकि विद्रोह बड़े ही सबल और संगठित थे। एन्टिओकस तृतीय ने इन दोनों प्रान्तों के विद्रोहियों से सन्धि स्थापित कर ली और व्यावहारिक रूप में उनकी स्वाधीनता भी स्वीकार कर ली।

डियोडोटस प्रथम और डियोडोटस द्वितीय—डियोडोटस प्रथम ने पहले कुछ दिनों तक सिल्यूकस के राजवंश की ओर से गवर्नर के रूप में बक्ट्रिया पर शासन किया था। परन्तु बाद में उसने एक स्वतन्त्र नरेश के रूप में शासन करके एक नवीन राजवंश की नींव डाली। वह एक शक्तिशाली राजा था और उसके पड़ोसी उससे काफी भय भीत रहते थे। जस्टिन के कथन और मुद्राओं द्वारा प्राप्त होने वाले साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि डियोडोटस के बाद उसी नाम का उसका पुत्र बक्ट्रिया का शासक हुआ। डियोडोटस प्रथम ने पार्थिया के राजा के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था किन्तु उसके पुत्र ने उसकी इस विरोधितामयी नीति का अवलम्बन न करके पार्थिया-नरेश से समझौता कर लिया। इस पारस्परिक सन्धि से पार्थिया के शासक को तुरन्त लाभ हुआ। उसके ऊपर २४ ई० पू० और २३५ ई० पू० के मध्य में जब सिल्यूकस द्वितीय ने आक्रमण किया तो उसने अपनी सारी शक्ति लगाकर आक्रमण का सामना किया। सिल्यूकस द्वितीय को विफल प्रयत्न होना पड़ा और उसकी निराशा ने बक्ट्रिया के राज्य को भी बचा लिया। इस प्रकार डियोडोटस द्वितीय की परराष्ट्रनीति नितान्त रूपेण सफल रही। उसका शासन-काल सम्भवत २४५ ई० पू० से लेकर २३० ई० पू० था। उसका अन्त एक सामरिक पर्यटक युथिडेमस (Euthydemus) द्वारा हुआ।

यूथिडेमस—यूथिडेमस ने डियोडोटस द्वितीय की हत्या करके राज सिंहासन हस्तगत अवश्य कर लिया था परन्तु शान्ति और सुख से राज्य करना अभी उसके भाग्य में नहीं था। उसके सिंहासनारूढ़ होते ही सिल्यूकस के राजवंश के सीरियन-सम्राट एन्टिओकस तृतीय (लगभग २२३–१८५ ई० पू०) ने अपने राज्य के विद्रोही प्रान्तों को जिनमें अब स्वतन्त्र राजवंश स्थापित हो चुके थे फिर से अपने अधिकार में करने का प्राणपण से चेष्टा की। २०८ ई० पू० के लगभग एन्टिओकस तृतीय को बक्ट्रिया में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अन्त में विवश होकर उसने यूथिडेमस के साथ सन्धि करके बक्ट्रिया की स्वतन्त्र राजसत्ता स्वीकार कर ली। इस सन्धि के प्रमाण स्वरूप उसने अपनी कन्या का विवाह यूथिडेमस के पुत्र डेमिट्रियस (Demetrius) के साथ कर दिया।

एन्टिओकस की शक्ति इस सन्धि के फलस्वरूप यदि नष्ट नहीं तो कम से कम कुण्ठित तो अवश्य हो हो गई। उसने अब अपना ध्यान पूर्व दिशा में साम्राज्य विस्तार की ओर दिया। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि अभी तक हमने इन यूनानी राजवंशों के विषय में जो कुछ भी पढ़ा है उसका भारतीय इतिहास के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। लेकिन उनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक इसलिये मालूम हुआ कि यूनानियों का इस समय भारत पर आक्रमण करने का प्रधान कारण यही था कि उनके राज्य में एक भयंकर राजनीतिक उथल पुथल मच गई जिससे दो प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। इस विषय के विषय में हम ऊपर पढ़ चुके हैं। यह सोचना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण नहीं कि यदि एन्टिओकस तृतीय को यूथिडेमस के द्वारा पराजय न सहन करना पड़ती तो उसका ध्यान पूर्व की ओर बढ़ने की तरफ नहीं जाता। लेकिन बक्ट्रिया को फिर अपने राज्य में मिलाने की ओर से निराश हो जाने के कारण अब

उसके सम्मुख कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था सिवाय इसके कि वह भारतीय सीमा में अपना राज्य स्थापित करे। अतएव उसने २०७ अथवा २०६ ई० पू० में हिन्दूकुश लाँघ कर गांधार की सीमा में प्रवेश किया। इस समय गांधार का राजा सुभागसेन (Sophagasenos) था जिसने एन्टिओकस के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि सुभागसेन वीरसेन का उत्तराधिकारी था। तारानाथ नामक बौद्ध इतिहासकार के अनुसार वीरसेन अशोक के उत्तराधिकारियों की पश्चिमी शाखा का प्रतिनिधि और गांधार का शासक था। अशोक की मृत्यु के बाद वह स्वतन्त्र हो गया था।[1] इसके बाद वीरसेन से उपहार-स्वरूप कुछ हाथी तथा अन्य वस्तुयें लेकर एन्टिओकस तृतीय मेसोपोटामिया लौट आया क्योंकि वहाँ एक प्रबल क्रान्ति मची हुई थी।

यूनानी लेखकों के साक्ष्यों से विदित होता है कि युथिडेमस ने एक विस्तृत राज्य सीमा पर काफी अधिक समय तक राज्य किया। उसके चाँदी के सिक्के बल्ख (बक्ट्रिया) और बुखारा में बहुत बड़ी संख्या में पाये गये हैं। विद्वानों का विचार है कि अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में सम्भवतः १८७ ई० पू० के बाद जब कि एन्टिओकस अपने पश्चिमी राज्यों के मामले में बुरी तरह से व्यस्त हो गया था युथिडेमस ने दक्षिण में अफगानिस्तान के निम्न प्रदेश तक अपने राज्य की सीमायें बढ़ा ली थीं। ईरान से लगे हुए प्रदेश और उत्तरी पश्चिमी भारत के कुछ भागों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। वह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने इस बात को भली भाँति समझने की चेष्टा की कि उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। उसने यह अच्छी तरह से समझ लिया कि मौर्य साम्राज्य की शक्ति छिन्न भिन्न हो जाने के कारण भारतीय सीमा के निकटवर्ती प्रान्तों की स्थिति बड़ी निर्बल है। वह भारत के ऊपर अपना राज्य स्थापित करना चाहता था किन्तु मृत्यु ने उसकी महत्वाकांक्षा को फलवती नहीं होने दिया। उसके प्रतापी पुत्र डेमेट्रियस ने अपने दिवंगत पिता की इच्छा को पूरा करने का दृढ़ निश्चय किया। सम्भवतः अपने पिता की सेनाओं का नेतृत्व करने के काम में डेमेट्रियस ने सैन्य संचालन और रणनीति का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था और भारत की राजनीतिक परिस्थितियों को उसने अच्छी तरह से समझ भी लिया था।

डेमेट्रियस—डेमेट्रियस का उल्लेख भारतीय प्रदेशों के विजेता के रूप में यूनानी लेखकों ने किया है। स्ट्रैबो उसका उल्लेख मिनेण्डर के साथ करता है। यूनानियों की भारतीय विजयों का उल्लेख करते हुए स्ट्रैबो लिखता है "ग्रीक, जिन्होंने विद्रोह किया (अर्थात् युथिडेमस और उसका कुल) बैक्ट्रिया की उर्वर भूमि और अन्य सुविधाओं के कारण इतने शक्तिशाली हो गये कि उन्होंने आर्टेमिटा के अपोलोडोरस के अनुसार एरियाना और इण्डिया पर अपना स्वामित्व स्थापित किया। उनके सरदारों ने विशेष कर मिनेण्डर ने (यदि उसने सचमुच पूर्व में हाइपनीज[2] पार की और आइसमस तक पहुँचा), सिकन्दर से भी अधिक देशों को विजित किया। इन विजयों में कुछ

[1] वीरसेन के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के मरण के शीघ्र बाद ही उसके साम्राज्य की शक्ति शिथिल पड़ गई। विघटनात्मक प्रवृत्ति, एक सुदृढ़ केन्द्रीय शक्ति के अभाव में बहुत बढ़ गई और विशाल मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय उपशासक अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता की घोषणा करने से ही अपना हित समझने लगे।

[2] हाइफसिस (Hyphasis) या विपाशा (व्यास)।

अशो तक मिनेंडर ने और कुछ अशो तक बक्ट्रिया के नरेश यथिडमस के पुत्र डमिट्रियस ने सम्पन्न किया। उन्होंने पतलिनी[१] (Patalene) पर सिंधु डेल्टा ही नहीं वरन सराओस्तस (Saraostos) (सुराष्ट्र अथवा काठियावाड़) तथा सिगर्डिस Siger dis (कदाचित सागरद्वीप) के राज्यों पर भी अपना अधिकार जमाया जिनमें समग्र समुद्रतटवर्ती देश सम्मिलित था। संक्षेप में अपोलोडोरस कहता है कि बक्ट्रिया सम्पूर्ण एरियाना का आभूषण है। उन्होंने अपने साम्राज्य की सीमा सीरीज (Seres) तथा फ्रिनाई (Phryni) तक बढ़ा दी। [२] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय विजयों का गौरव स्ट्रेबो कुछ तो डमेट्रियस को देता है और कुछ मिनेंडर को। लेकिन स्ट्रेबो का यह कथन जिसमें वह डमेट्रियस और मिनेंडर की सैनिक सफलताओं को एक साथ मिला कर कहता है कालक्रम के अनुकूल नहीं जान पड़ता अतएव इस कथन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता कुछ अंशों में संदिग्ध हो जाती है। डमेट्रियस बक्ट्रिया अफगानिस्तान और उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग का अधिपति था और मिनेंडर के पहिले हुआ था[३] परन्तु स्ट्रेबो मिनेंडर को जिसका बक्ट्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था डमेट्रियस के पहले रखता है। यहां पर स्ट्रेबो गलती करता है। भारतीय साहित्य में भी यवन आक्रमणों का उल्लेख किया गया है। पीछे पुष्यमित्र शुंग के सम्बन्ध में हम इस समस्या पर विचार कर चुके हैं। युगपुराण गार्गी संहिता के और पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में यवनों के जिस आक्रमण का जिक्र मिलता है उसका नेता डेमेट्रियस था। युगपुराण में यवनों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे साकेत (अयोध्या के निकट जो वर्तमान फैजाबाद जिले में है) पाञ्चाल (कुछ अंशों तक वर्तमान रुहेलखण्ड कहा जा सकता है) और मथुरा को आक्रान्त कर कुसुमध्वज पहुँचेंगे।[४] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में "अरुणद् यवनः साकेतम्" "अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्" द्वारा जिस आपत्ति का संकेत किया है वह डमेट्रियस के नेतृत्व में यही यवन आक्रमण था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके आगे डमेट्रियस बढ़ नहीं सका और उसे लौट जाना पड़ा। इस विषय में युगपुराण का ही कथन है युद्ध में कठिनापूर्वक मर्दन करने योग्य यवन मध्यदेश में नहीं ठहरेंगे। उनमें परस्पर अवश्यमेव वैमनस्य उत्पन्न हो जायगा जिससे उनमें आपस में अपने ही राज्य को उखाड़ देनेवाला परम दारुण और घोर युद्ध होगा।[५] डमेट्रियस के आगे न बढ़ने का यह कारण था कि जब वह

[१] त्रिसामा। भागवत पुराण में इस नाम की एक नदी कौशिकी मन्दाकिनी यमुना इत्यादि के साथ उल्लिखित की गई है।

[२] Quoted by Dr H C Roy Choudhari *Political History of Ancient India* p 351

[३] टान महोदय का यह विश्वास कि डमेट्रियस और मिनेंडर साथ मिलकर भारतीय विजय कर रहे थे तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता। डमेट्रियस का काल निश्चय ही पहिले समझना चाहिए।

[४] ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मथुरांस्तथा
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्।'

[५] मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः तेषामन्योन्यसंभावा भविष्यन्ति न संशयः। आत्मचक्रोत्थितम् घोरं युद्धं परमदारुणम्'। पुराणों के निम्नलिखित कथन से भी यवनों के पारस्परिक झगड़ों का उल्लेख मिलता है। यवन लोग धर्म अर्थ और काम से (पतित) होंगे। उनके राजा नियमपूर्वक अपना राज्याभिषेक नहीं करा

अपनी भारतीय विजयों में संलग्न था यूक्रटाइडिज (Eucratides) नामक एक पराक्रमी व्यक्ति ने जनक्रान्ति का झण्डा ऊँचा किया जिससे घबड़ाकर डेमेट्रियस को इस क्रान्ति को दमन के लिये बक्ट्रिया लौट जाना पड़ा। परन्तु वहाँ भी उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। उसने अपने भरसक प्रयत्न किया किन्तु यूक्रटाइडिज को जो डेमेट्रियस की अनुपस्थिति में बक्ट्रिया के सिंहासन पर आसीन हो गया था उसके स्थान से च्युत न कर सका। यही कारण है कि अपनी भारतीय विजयों में भी डेमेट्रियस को पंजाब तक की विजय से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। पुष्यमित्र शुंग के प्रबल प्रतिरोध ने भी यवनों के दाँत खट्टे कर दिये। ब्राह्मण सेनानायक की बलवद्विरोधिता के फलस्वरूप यूनानियों को मध्यदेश तथा पंजाब के कुछ भागों से हाथ धोना पड़े।

भारत के साथ डेमेट्रियस का सम्बन्ध साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों स्रोतों से प्रमाणित होता है। उसने वर्गाकार आकृति के सिक्के चलवाये जिस पर खरोष्ठी लिपि में ग्रीक और भारतीय भाषा में उल्लेख खुदे हुए हैं। मध्यदेश से लौट जाने के बाद भारत के किन भागों पर डेमेट्रियस का अधिकार था निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उत्तरापथ और अपरान्त के ऊपर अपना स्वामित्व बनाये रक्खा था।

यूक्रटाइडिज—ऊपर हम पहले कह चुके हैं कि यूक्रटाइडिज ने जन विद्रोह का सफल संचालन करके बक्ट्रिया का राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। यह सिल्यूकस के राजवंश की शाखा का था। उसने बक्ट्रिया में यूक्रटाइडिया नामक नगर का निर्माण कराया था। यूक्रटाइडिज केवल बक्ट्रिया में ही सन्तुष्ट नहीं रहा। उसने हिन्दुकुश की उत्तुंग घाटियों का अतिक्रमण करके भारत के यूनानी राज्यों पर आक्रमण कर दिया। जस्टिन नामक यूनानी लेखक के कथनानुसार उसने भारत को जीता और एक हजार नगरों का स्वामी बन गया। उसकी विजयों के फलस्वरूप यूनानी भारत के दो भागों में विभाजित हो गया—(१) पूर्वी भाग जिसके ऊपर यूथिडेमस के वंशजों का राज्य था। इस राजवंश की राजधानी साकल (स्यालकोट) थी (२) पश्चिमी भाग की राजधानी तक्षशिला थी। इस भाग पर यूक्रटाइडिज के वंशजों का अधिकार था। इन दोनों राजवंशों को मिलाकर लगभग चालीस राजाओं ने शासन किया। उनके विषय में मुद्रा साक्ष्य द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। पर इन राजाओं के विवरण के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह अत्यल्प है। यूक्रटाइडिज को राजसुख का उपभोग करने का अवसर कम प्राप्त हो सका। उसके पारिवारिक कलहों ने उसके जीवन को अत्यन्त दुःखमय बना दिया। जस्टिन का कथन है कि जब यूक्रटाइडिज अपने भारतीय आक्रमण से लौट रहा था तब उसके पुत्र और सहकारी हेलियोक्लीज ने उसका वध कर दिया।[1] सम्भवतः यह दुःखद घटना १९५ ई० पू० के लगभग हुई। यूक्रटाइडिज के बाद उसका राज्य हेलियोक्लीज के अधिकार में चला गया।

येंग। ये राजा युगदोष के कारण दुराचारी होंगे। स्त्रियों और बच्चों तथा परस्पर भी एक दूसरे का वध करेंगे।"

'भविष्यन्तीह यवना धर्मतः कामतोऽर्थतः नव मूर्धाभिषिक्तास्ते भविष्यन्ति नराधिपाः।
युग दोष दुराचारा भविष्यन्ति नृपास्तु ते, स्त्रीणां बालवधेनैव हत्वा चैव परस्परम्।'

[1] *Cambridge History of India* Part I p 554 विन्सेन्ट स्मिथ साहब का कथन है कि यूक्रटाइडिज को एपोलोडोटस ने मारा था। टार्न महोदय ने जस्टिन के कथन का अर्थ कुछ दूसरा ही लगाया है। वे पितृवध को इस घटना को सत्य नहीं मानते।

हेलियोक्लीज—हेलियाक्लीज अपने वंश का एक प्रतापी राजा था। उसने भारत और बैक्ट्रिया के यूनानी राज्यों पर अपना अधिकार जमाये रखा। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि हेलियोक्लीज बक्ट्रिया का अन्तिम शासक था क्योंकि उसके बाद ही शकों ने मध्य एशिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु बक्ट्रिया का राज्य छिन जाने पर भी इस वंश का समूलोन्मूलन नहीं हो सका। इस कुल के कुछ राजे काबुल और भारत के सीमावर्ती प्रदेश पर बाद में भी कुछ समय तक राज करते रहे परन्तु इन राजाओं के विषय में हम कुछ विशेष बात मालूम नहीं है। इनके नामों का तो पता हमें अवश्य लग जाता है किन्तु उनके शासन काल की घटनाओं अथवा उनके कार्यों के विषय में इतिहास बिल्कुल मूक है। हाँ इस वंश के एक और राजा का उल्लेख प्राप्त होता है। इसका नाम था एन्टियाल्किडस (Antialcidas) इसका उल्लेख इसकी विजय अथवा इसकी किसी अन्य प्रकार की राजनीतिक सफलता के कारण नहीं किया गया है अपितु वैष्णव धर्म के प्रति अपनी अनन्य भक्ति के कारण वह जाना जाता है। एन्टियाल्किडस के उदाहरण में जहाँ एक ओर भारतीय धार्मिक विचारधारा की सहिष्णुता और सजीवनी शक्ति का परिचय प्राप्त होता है वहीं दूसरी ओर इसके द्वारा भारत के यूनानी राजाओं की पतनोन्मुख राजनीतिक शक्ति का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। एन्टियाल्किडस ने भारतीय नरेशों के साथ जो मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया उससे पता चलता है कि इस समय भारतीय सीमा पर राज्य करनेवाले राजाओं में युद्ध द्वारा राज्य विस्तार करने की शक्ति नहीं रह गई थी। वे सन्धि द्वारा ही अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते थे। बेसनगर के स्तम्भ लेख में एन्टियाल्किडस का उल्लेख इस प्रकार किया गया है "देवदेव वासुदेव का यह गरुड़ ध्वज तक्षशिला निवासी दियस के पुत्र भागवत (धर्मानुयायी) हेलियोडोरस के द्वारा बनवाया गया जो तक्षशिला के महाराज एन्टियाल्किडस की राजसभा से राजदूत होकर राजा काशी पुत्र भागभद्र त्राता के पास आया जिसके अभिषेक राज्य का चौदहवाँ वर्ष चल रहा था। मुद्रा साक्ष्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः एन्टियाल्किडस ने कुछ विजयें भी की थीं। अन्य इण्डो-यूनानी राजाओं की भाँति उसके भी बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर दो भाषाओं यूनानी और भारतीय में लेख खुदे हैं। उसके एक प्रकार के ताम्बे के सिक्कों पर केवल एक शब्द 'लेख विजयी राजा एन्टियाल्किडस खुदा है' जिससे यह पता चलता है कि वह विजेता भी था।

भारत के सीमावर्ती प्रदेश पर शासन करनेवाले युक्रेटाइडज के राजकुल के यूनानी राजाओं में अन्तिम नरेश का नाम हर्मियस (Hermaeus) था। इसका राज्यकाल प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में था। हर्मियस की राजधानी सम्भवतः कपिशा थी। यहीं से वह काबुल प्रदेश पर राज्य करता था। उसके राज्य की सीमा पहले की अपेक्षा काफी संकीर्ण हो गई थी और उसकी शक्ति भी इस समय काफी क्षीण हो चुकी थी। वास्तव में इस समय तक भारत के इन यूनानी राजाओं के पास न तो कोई पौरुष शेष रह गया था और न कोई बल। चारों ओर से आक्रमणकारियों का तूफान चला आ रहा था। इधर आन्तरिक अव्यवस्था और पारस्परिक संघर्ष के कारण यूनानी

टान की व्याख्या इस प्रकार है 'युक्रेटाइडज की हत्या किसी मत यूथिडिमो कुलीय राजा के पुत्र द्वारा हुई थी।' यदि हम बक्ट्रिया की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इस समस्या पर विचार करें तो हमें टान महोदय का यह अनुमान निराधार नहीं जान पड़ेगा। क्या यह सम्भव नहीं है कि डेमिट्रियस द्वितीय ने युक्रेटाइडज का वध किया हो ?

काफी दुर्बल हो गये थे। कुजुल कडफाइसिज के नेतृत्व में कुषाणों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी। उसकी प्रबल शक्ति के सामने दुर्बल यूनानी राजा हर्मियस अल्प काल के लिये भी ठहर न सका और भारत से यूनानी राजसत्ता का उन्मूलन हो गया। युक्रटाइडज के राजवंश का सूर्य सदैव के लिये अस्त हो गया।

युथिडेमस का राजवंश—युथिडेमस के राजकुल के विषय में हमें अवश्य जान लेना चाहिये। हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि डेमेट्रियस के नेतृत्व में युथिडेमस के राजवंश की स्थापना हुई थी। युथिडेमस के राजवंश में डेमेट्रियस के उपरान्त अगाथाक्लीज (Agathocle) पन्टालियन और (Pantalion) ऐंटिमेकस (Antimachus) के नाम मिलते हैं। इन राजाओं के नाम हमें उनके सिक्कों द्वारा मालूम होते हैं। उनके विषय में किसी उल्लेखनीय बात का विवरण हमें प्राप्त नहीं होता। स्मिथ साहब का विचार है कि अपालोडोटस और मिनेन्डर भी इसी राजकुल के थे। टार्न महोदय का कथन है कि मिनेन्डर युथिडेमस के वंश का नहीं था वरन डेमेट्रियस का दामाद था। स्मिथ और टार्न के कथनों में से कौन सा कथन सत्य है यह बिल्कुल निश्चय पूर्वक तो नहीं कहा जा सकता परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मिनेन्डर किसी न किसी प्रकार राजवंश से सम्बन्धित अवश्य था।

मिनेन्डर—भारत के यूनानी शासकों में केवल मिनेन्डर ही ऐसा राजा है जिसकी स्मृति भारत की साहित्यिक अनुश्रुति द्वारा सुरक्षित है। अन्य इण्डो ग्रीक राजाओं के विषय में हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह लगभग सम्पूर्ण अंशों में मुद्राओं द्वारा ही उपलब्ध होता है। मिनेन्डर ने बौद्ध धर्म में जो अभिरुचि दिखाई उसका परिणाम उसके यश वृद्धि की दृष्टि से हितकर ही हुआ। अपनी धर्मानुरागिता और दार्शनिक जिज्ञासा-वृत्ति के कारण वह भारतीय इतिहास में अमर हो गया है। 'मिलिन्द पन्हो' नामक बौद्ध ग्रन्थ में मिलिन्द नामक जिस यूनानी नरेश का उल्लेख किया गया है वह निश्चय रूप से मिनेन्डर था। इस ग्रन्थ में वह एक महान् विद्वान्, तर्कशील जिज्ञासु व्यक्ति तथा बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। वह प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु नागसेन से बौद्ध धर्म के विषय में सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रश्न करता है। नागसेन उसकी समस्त जिज्ञासाओं को शान्त कर उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लेता है। क्षेमेन्द्र के अवदानकल्पलता ग्रन्थ में भी मिनेन्डर का उल्लेख किया गया है और उसका दूसरा संस्कृत नाम मिलिन्द्र दिया गया है। बौद्ध साहित्य में उसका वही प्रतिष्ठा है जैसा उपनिषदों में विदेह सम्राट जनक की। उसकी राजधानी शाकल थी जिसका वर्णन मिलिन्द प्रश्न में एक महान व्यापारिक केन्द्र के रूप में हुआ है, जो रमणीय भूखण्ड में बसा हुआ था और जिसका शोभा आराम उद्यान उपवन-तड़ाग पुष्करिणी से युक्त होने के कारण वन पर्वत और नदी के स्वर्ग के समान हो रहा थी। इस ग्रन्थ में मिनेन्डर के लिये कहा गया है कि उसने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर संसार से संन्यास ले लिया और न केवल एक बौद्ध भिक्षु बल्कि अर्हत हो गया। शिनकोट में प्राप्त खड़िया की डिबिया के अभिलेख से जिसमें महाराज मिडन्दैर के राजत्व काल में भगवान बुद्ध की धातु (दहनावशेष) के रखने का वर्णन आता है उसके बौद्ध मतावलम्बी होने का साहित्यिक प्रमाण मिलता है।" प्लूटार्क के एक कथन से भी मिनेन्डर की लोकप्रियता और उसके बौद्ध होने का संकेत प्राप्त होता है। प्लूटार्क का कथन है कि मिनेन्डर की मृत्यु के बाद उसके राज्य के विभिन्न नगरों में इस प्रश्न पर परस्पर प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो गई कि कौन-सा राज्य उसके अस्थ्यवशेषों को

सुरक्षित रक्खे। जब इस विषय का निर्णय न हो सका तो सभी नगरों ने यह निश्चित किया कि उसके अस्थ्यवशेषों का विभाजन कर लिया जाय और सभी नगरों को उसका कुछ भाग प्राप्त हो जिससे वे उस पर अलग अलग स्तूपों का निर्माण करा सकें। प्लूटार्क का यह विवरण तथागत के महापरिनिर्वाण की कथा से स्पष्टतया मिलता जुलता है। इस कथा से यह सिद्ध हो जाता है कि मिनेण्डर के प्रति उसके बौद्ध प्रजाजनों के हृदय में गहरी श्रद्धा विद्यमान थी। 'मिलिन्द प्रश्न' का यह कथन कि मिनेण्डर ने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर संन्यास ले लिया और न केवल बौद्ध भिक्षु प्रत्युत अर्हत हो गया बिल्कुल अनुकूल ज्ञात पड़ता है। क्षमेन्द्र ने मिनेण्डर के विषय में एक कथा का उल्लेख किया है जो कभी कभी कनिष्क के विषय में कही जाती है जब कि एक इण्डोचीनी अनश्रुति उसका सम्बन्ध इण्डोचीनी की सबसे प्रसिद्ध बौद्ध प्रतिमा के साथ स्थापित करता है। वस्तुतः इस प्रकार की दन्तकथायें सर्वदा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे मनोरञ्जक बात यह है कि इस विदेशी नरेश के व्यक्तित्व का यहाँ की जनता के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा था।[1]

मिनेण्डर के बौद्ध मतावलम्बी होने के प्रश्न पर भले ही विवाद किया जाय परन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि उसकी प्रवृत्ति धर्म और दर्शन की ओर थी। लेकिन वह सामरिक वृत्ति का मनुष्य भी था और उसका गौरव इस बात में भी सन्निहित है कि उसने यूनानी राज्य की सीमा का विस्तार किया। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि स्ट्रैबो ने मिनेण्डर का उल्लेख डेमिट्रियस के साथ किया है और उसे भारतीय विजयों का गौरव भी प्रदान किया है। उसने यह भी लिखा है कि मिनेण्डर ने सिकन्दर से भी अधिक देश जीते और वह हाइफनीज (व्यास-नदी) को पार कर आइसमस नदी तक पहुँच गया। स्ट्रैबो के इस कथन से यह पता चलता है कि सम्भवतः मिनेण्डर यमुना नदी तक बढ़ आया था। मिनेण्डर के सिक्के इतने विस्तृत भूभाग पर पाये गये हैं कि स्ट्रैबो के इस कथन की पुष्टि कि उसने सिकन्दर से भी अधिक देश जीते स्वयं मेव हो जाती है। मिनेण्डर के सिक्के काबुल से लेकर मथुरा और बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। मुद्रा सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं कि मिनेण्डर का राज्य मथुरा तक फैला हुआ था। इन साक्ष्यों के द्वारा स्ट्रैबो के इस

---

[1] कतिपय विद्वानों की सम्मति है कि मिनेण्डर बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। मिलिन्दप्रश्न के जिस खण्ड में यह लिखा है कि मिनेण्डर राज त्याग कर बौद्ध भिक्षु हो गया वह प्रक्षिप्त अंश है और उसकी रचना बाद में किसी अन्य व्यक्ति ने की थी। इन विद्वानों के मतानुसार मिनेण्डर के हृदय में कुछ श्रद्धा अवश्य थी जिसको बौद्ध लेखकों ने आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। वास्तव में उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत अन्य विद्वानों की सम्मति में मिनेण्डर असंदिग्ध रूप से बौद्ध मतावलम्बी था। अपने विचार की पुष्टि में ये विद्वान् अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनमें एक तर्क मुद्रा साक्ष्य पर अवलम्बित है और अधिक प्रत्ययोत्पादक ज्ञात पड़ता है। कुछ सिक्कों पर जो मिनेण्डर के ही हैं धर्म चक्र की आकृति और 'धर्मिकस' विरुद खुदा हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मिनेण्डर बौद्ध था। प्लूटार्क की भाँति एक स्यामी अनुश्रुति भी उसे अर्हत बताती है। हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमा में इस विषय पर निश्चय रूप से कोई सम्मति देना उचित नहीं मालूम पड़ता।

कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है कि व्यास नदी को पारकर मिनेन्डर आइसमस (अर्थात यमुना नदी) तक बढ़ आया था। (आइसमस के समीकरण के लिये पीछे देखें)। पेरिप्लस की परिक्रमा' नामक ग्रन्थ से भी मिनेन्डर के राज्य विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ के अनुसार अपालाडोट्स के सिक्कों के साथ मिनेन्डर के सिक्के भी बरागाजा (भड़ोच) के बाजारों में प्रथम शती ईस्वी के तीसरे चरण के लगभग चलते थे। इस कथन से भड़ोच का भी मिनेन्डर के अधीन होना सिद्ध होता है। जस्टिन के ग्रन्थ के चौवालीसवें अध्याय के शीर्षक में भी मिनेन्डर का उल्लेख अपालाडोटस के साथ किया गया है और उसे भारतीय नरेश कहा गया है। जस्टिन और पेरिप्लस के साक्ष्यों को मिला देने पर यह सम्भावना अधिक ठीक प्रतीत होती है कि मिनेन्डर के अधीन भड़ोच भी था। अभी हाल में ही एक अभिलेख की खोज हुई है जिसका नाम बजौर रेलिक कास्केट इन्स्क्रिप्शन (Baj ur Rel c Casket In - cr ption) है। इस अभिलेख पर मिनेन्द्र नाम दिया है। डा० राय चौधरी की सम्मति में यह अभिलेख पश्चिमी दिशा में मिनेन्डर के राज्य विस्तार की पुष्टि करता है। (देखिये--*Political History of Ancient India fifth Edition* 352 मिनेन्डर के साम्राज्य विस्तार के विषय में विशेष विवरण के लिये देखिए--*Age of Imperial Unity II* 144 45)

महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र में जिस यवन संघर्ष का उल्लेख हुआ है उसका नेतृत्व सम्भवतः मिनेन्डर ही कर रहा था। इस विषय में प्रोफेसर एन० एन० घोष का कथन है कि इन सब ही प्रमाणों से पूर्व में मथुरा तक उसका राज्य अन्तर्गत स्पष्ट है और यदि मथुरा तक उसका राज्य हो सकता है तो उसने अवश्य ही मध्यभारत के कुछ प्रदेश अपने राज्य में मिलाने के प्रयत्न किये होंगे जहाँ शुंगों का शासन स्थापित था। उस दशा में मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित यवनों से अभिप्राय मिनेन्डर की आकांक्षाओं से ही जान पड़ता है जिन्हें वसुमित्र ने सिन्धु के किनारे हराया था। मिनेन्डर उस समय जीवित था जब कि पुष्यमित्र राजसिंहासन पर अभी विद्यमान था यद्यपि नाटक में वर्णित अश्वमेध (सम्भवतः द्वितीय) का सम्पादन उसके बाद होता है।

टार्न के अनुसार मिनेन्डर की मृत्यु १५०–१४५ ई० पू० के लगभग हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य काफी दुर्बल और शक्तिहीन हो गया। उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर स्ट्रेटो प्रथम और स्ट्रेटो द्वितीय के नाम खुदे हुए हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध में हमें अन्य किसी महत्वपूर्ण बात का पता नहीं लगता। मिनेन्डर के उत्तराधिकारियों का नाश शकों द्वारा हुआ। इस प्रकार युथिडेमस के कुल की राजसत्ता का भी भारत भूमि से नाम निशान मिट गया।

यवनों का प्रभाव--यवनों के इस सुदीर्घकाल ने शासन का भारत की सभ्यता और संस्कृति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा अथवा नहीं इस विषय पर विद्वानों के मत काफी भिन्न भिन्न हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वान भारत के ऊपर यूनान के ऋण को बहुत बढ़ा चढ़ाकर कहते हैं और भारतीय साहित्य, कला तथा धर्म और विज्ञान पर यूनानी प्रभाव बतलाते हैं। परन्तु अतिशयोक्तिपूर्ण होने के कारण इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। रालिन्सन आदि विद्वानों के मत में यूनान और भारत का सम्बन्ध काफी प्राचीन था और दोनों ने एक दूसरे से सीखा और प्राप्त किया था। परन्तु एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि यवनों के आक्रमणों ने भारतीय जीवन

की ऊपरी सतह का ही स्पर्श किया उसकी आत्मा अछूती ही रही। भारत पर सर्व प्रथम आक्रमण करनेवाला यूनानी जगत्प्रसिद्ध सिकन्दर था परन्तु उसके आक्रमणों का भारतीय संस्कृति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसके सैनिक अभियानों के फलस्वरूप आवागमन के अभिनव मार्ग खुल गये जिससे दोनों देशों में सम्पर्क बढ़ गया, लेकिन सिकन्दर के समय के यूनानी भारत के जीवन पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सके। कारण यह था कि वह इस देश के केवल पंजाब प्रान्त तक ही पहुँच पाया था और यहाँ वह रहा भी केवल उन्नीस महीनों तक ही। इस अल्प काल में भी उसका सारा समय और श्रम भू-भागों को विजित करने और लोगों को तलवार के घाट उतारने में ही व्यय हुआ। वह भारत में एक बर्बर विजेता के ही रूप में प्रविष्ट हुआ संस्कृति प्रचारक के रूप में नहीं। ऊपर हमने जिन यवन आक्रमणों का अध्ययन किया है उनका प्रभाव अवश्य ही भारतवर्ष के ऊपर पड़ा। इस प्रभाव का कारण सुस्पष्ट है। ये ग्रीक आक्रमणकारी लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक देश में रहे और इन्होंने अपने नाम से नगर बसाये तथा देश की जनता के साथ सम्पर्क स्थापित किया। सिकन्दर की भाँति आक्रमण करने के पश्चात ये लौट नहीं गये वरन् इन्होंने इस देश में अपने राज्य स्थापित किये। फलतः यूनानी सभ्यता और भारतीय सभ्यता का एक दूसरे के साथ कुछ निकट का परिचय हुआ। दोनों संस्कृतियों के परस्पर मिलने जुलने से सांस्कृतिक आदान प्रदान का कार्य सम्पन्न हुआ परन्तु कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों के मत को हम नहीं स्वीकार कर सकते कि भारतीय संस्कृति पर यूनानियों का ऋण बहुत अधिक है। हम यह कभी न भूलना चाहिये कि यूनान की जिस संस्कृति के साथ भारतवासियों का सम्पर्क हुआ वह परीक्लीज के समय की सम्पन्न मौलिक और प्राणवती संस्कृति नहीं थी वरन् हेलेनिस्टिक सभ्यता थी जो यूनान की मौलिक संस्कृति की एक विकृत रूप था। इस संस्कृति की मौलिकता नितान्त कुण्ठित हो गई थी। इसका आधार यूनान के नगर राज्यों की संस्कृति ही था परन्तु अनुकृति प्रधान होने के कारण इसमें सप्राणता नहीं थी। इस प्रकार की संस्कृति भारत के ऊपर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं डाल सकती थी। भारतीयों के पास अपना एक निजी राष्ट्रीय संस्कृति थी जिसकी परम्परा यूनान से अधिक प्राचीन थी और जिसमें जीवित तत्त्व भी यूनानी संस्कृति की अपेक्षा कहीं अधिक थे। इस समय के भारतवासी अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाने के दृष्टिकोण से विदेशियों से उनकी सभ्यता के तत्त्व ग्रहण करने में संकोच नहीं करते थे परन्तु जिस प्रकार सागर विभिन्न नदियों के जल को ग्रहण कर लेने पर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं छोड़ता उसी प्रकार भारतीयों ने भी अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के मौलिक स्वरूप को कभी नष्ट नहीं होने दिया कारण उन्होंने अन्ध श्रद्धा का आश्रय ग्रहण करके अनुकृति की प्रवृत्ति का कभी भी अवलम्बन नहीं लिया। इन्हीं कारणों से इण्डो ग्रीक सम्पर्क का भारत के ऊपर कोई गम्भीर तथा अक्षय प्रभाव नहीं पड़ा। मैथ्यू आर्नाल्ड नामक प्रसिद्ध अंग्रेज कवि और समालोचक ने अपनी एक कविता में लिखा है कि जब जब विदेशी सेनाओं का तूफान आया पूर्व ने कुछ काल के लिए सिर झुकाया उनका प्रशान्त तथा गम्भीर घृणा के साथ अवलोकन किया उनको वापस चला जाने दिया और वह पुनः अपने स्वाभाविक विचार चिन्तन के लिए अन्तर्मुख हो गया।[1] अपनी

---

[1] The East bowed before the blast
In patient deep disdain
She let the legions thunders past
And plunged in thought again

इस प्रवृत्ति के कारण भारत ने अपने इण्डोग्रीक शासकों से कुछ अधिक तत्व ग्रहण नहीं किये। हाँ कुछ बातें तो उन्होंने अवश्य ली जिनका अध्ययन हम करेंगे।

यूनानी सम्पर्क का सबसे सुस्पष्ट प्रभाव भारत की मुद्राओं पर देखा जा सकता है। यूनानियों के आगमन के पूर्व प्राचीन भारत में छोटे-छोटे चाँदी और ताँबे के सिक्के ही अधिकतर चलते थे। सुवर्ण मुद्राओं का भी प्रचलन था परन्तु भारतवासी मुद्राओं के निर्माण पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। उनकी मुद्राओं में न तो सुडौलता ही होती थी और न कलात्मकता। किन्तु उन्होंने यूनानियों से शीघ्र ही मुद्राओं का निर्माण सीख लिया और वे स्वयं कलापूर्ण सिक्के बनवाने लगे। ग्रीक शब्द द्रख्म (Dr ...) को भारतीयों ने अपनी भाषा में ले लिया। बैक्ट्रिया के ग्रीक शासकों की मुद्राओं पर अक्षर खुदे हुए थे और किन्हीं किन्हीं में तो दो लिपियाँ ग्रीक तथा खरोष्ठी का सहअस्तित्व में व्यवहार हुआ मिलता है। भारत के पूर्व भाग के सिक्के अभिलेखों से शून्य होते थे—ग्रीक मुद्राओं के ही आधार पर इस दोष को आगे चल कर दूर किया गया।

ज्योतिष के क्षेत्र में यूनानियों का काफी महत्वपूर्ण ऋण था और भारत के प्राचीन मनीषियों ने बिना किसी हिचक के इस ऋण को स्वीकार भी कर लिया। गार्गी संहिता में लिखा है कि "यद्यपि यवन म्लेच्छ हैं तथापि ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे ऋषितुल्य पूज्य हैं।"[1] भारतीय ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में से रोमक सिद्धान्त तथा पौलिस सिद्धान्त निश्चय ही ग्रीक प्रभाव को सूचित करते हैं। फलित ज्योतिष का कुछ ज्ञान भारतीयों को था परन्तु ज्योतिष विद्या का ज्ञान बबीलोनिया वालों का कहीं अधिक था। इनका ज्योतिष खगोल विद्या से अत्यधिक रूप से सम्बन्धित था और खगोल विद्या बेबीलोनिया में उन्नत विकसित रूप में थी कि प्राचीन विश्व में यह देश खगोल विद्या की माता के रूप में विख्यात था। खल्डियन जाति के लोगों ने भी इस विज्ञान के विकास में अपना महत्वपूर्ण योग दिया। यूनानियों ने बेबीलोन के इस विकसित ज्योतिष का ज्ञान भारतवासियों को प्रदान किया जिसे उन्होंने सहर्ष और कृतज्ञ भाव से ग्रहण किया।

भारतीय भाषा और साहित्य पर यूनानी संस्कृति का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। सबसे पहले ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में डायो क्रिसोस्टम ने कहा था, "भारत के निवासी होमर के काव्य गाते हैं जिन्होंने उसका अनुवाद अपनी भाषा में कर लिया था।" बाद के यूनानी लेखकों प्लूटार्क और एलियन ने भी इस कथन की पुष्टि की। परन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि यूनानी लेखकों ने भ्रमवश ही ऐसा कह दिया। उनके कथन में अणुमात्र भी आधार भूत सत्यता नहीं है। उन्होंने होमर के इलियड और ओडेसी की ही भाँति इस देश में भी रामायण और महाभारत के रूप में महाकाव्य की परम्परा देखी और इन ग्रन्थों की बाह्य समानताओं को देखकर उन्होंने यह समझा कि भारतीयों ने यूनानी महाकाव्य की परम्परा ग्रहण कर ली है। बाद में चलकर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी, जिनमें वेबर का नाम अग्रगण्य है, इस मत का पोषण किया। किन्तु केवल कथानक की ऊपरी समानताओं के आधार पर यह कहना कि भारत

---

[1] "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु
सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते
किं पुनर्दैवविद्द्विजः।"

के महाकाव्यों की रचना यूनानी महाकाव्यों की अनुकृति के आधार पर हुई है एक उपहासास्पद बात है। यह सत्य है कि रामायण का मुख्य विषय इलियड की कथा वस्तु से काफी मिलता जुलता है। दोनों में नायिका का अपहरण किया जाता है और उसके पुनरुद्धार के लिए बाद में एक अति भयंकर युद्ध होता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि रामायण की मूल कथावस्तु का प्रणयन उस समय हो चुका था जब कि यूनानी इस देश में प्रवेश ही न कर पाये थे। मैकडानेल महोदय की धारणा है कि कतिपय स्पष्ट प्रक्षेपकों को छोड़ कर रामायण के मूल की रचना ५०० ई० पू० हो हो चुकी होगी।[१] प्रोफेसर विंटरनित्स की राय में रामायण के प्रणयन की सबसे प्राचीन तिथि २०० या ० ई० पू० मानी जाती है। इन दोनों विद्वानों की सम्मतियों में कुछ मतभेद अवश्य है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामायण की रचना यूनानियों के भारत प्रवेश के पूर्व हो चुकी थी। भारत के महाकाव्यों की रचना और कथाओं के आधार पर हुई है जो इनकी परम्परा को अ न अ के प्रसिद्ध करती हैं वास्तव में जैसा कि प्रोफेसर विंटरनित्स ने बताया है इनका अन्त वैदिक साहित्य में ही विद्यमान है। इन सब प्रमाणों को ध्यान में रखने पर यह कहना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता कि रामायण और महाभारत के ऊपर यूनान के महाकाव्यों का प्रभाव है। यही बात भारत के नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भारतीय नाटक की उत्पत्ति नितान्त तत्त्वेण स्वदेशी और इसका विकास भी स्वतन्त्र रूप से देश की अपनी परम्पराओं और परिस्थितियों के अनुकूल हुआ है। यवनिका शब्द के आधार पर यह कहना कि भारतीय नाटक के ऊपर ग्रीक नाटक का प्रभाव है ठीक नहीं जान पड़ता। सम्भव है यह शब्द यूनानी भाषा का हो परन्तु पर्दे का प्रयोग भारतीय नाटक का कोई अविभाज्य अंग नहीं मालूम पड़ता। वास्तव में यदि देखा जाय तो भारतीय और यूनानी नाटकों में परस्पर कोई सुस्पष्ट साम्य नहीं है। दोनों की मूल भावना एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है अतः यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि भारतीय नाटक ग्रीक ड्रामा के माडल पर आधारित है।[२] इसी प्रकार भारत के चिकित्सा विज्ञान पर भी ग्रीक प्रभाव खोजने का प्रयत्न निराधार है। वागल नामक विद्वान का विचार है कि चरक के ग्रन्थ पर हिपाक्रटीज का स्पष्ट और दृढ़ प्रभाव है अतएव भारतीय चिकित्सा विज्ञान पाश्चात्य प्रभावों का स्पष्ट संकेत करता है। किन्तु अन्य विद्वानों ने वागल के इस कथन को मानने से इन्कार किया है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान की परम्परा महाकाव्य और नाटक की परम्पराओं की ही भाँति काफी प्राचीन है और उस पर भी बाह्य प्रभाव खोजना व्यर्थ है। यूनानी भाषा भी भारतीय भाषाओं पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। कुछ विद्वानों का विचार है कि यूनानी राजाओं के सिक्कों पर ग्रीक भाषा में लेख खुदे हुए मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि यूनानियों के अधीनस्थ प्रदेशों में भारतीय जनता ग्रीक समझती थी। परन्तु यह अनुमान गलत है और वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही मालूम पड़ती है। इन सिक्कों पर दूसरी ओर प्राकृत भाषा में खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए लेख मिलते हैं जो इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि साधारण जनता यूनानी भाषा नहीं समझती थी। यह

[१] *A History of Sanskrit Literature* p 309

[२] स्मिथ साहब के इस कथन को कि महाकवि कालिदास केवल मिनेन्डर ही नहीं अपितु टेरेंस के नाटकों को भी पढ़ सकते थे कोई कोई भी विद्वान नहीं मानता। स्मिथ के इस कथन का कोई आधार नहीं है (मेनेन्डर टेरेंस और प्लटस हैलिनिटिक युग के ग्रीक नाटककार थे।)

अवश्य है कि संस्कृत में यूनानी भाषा के कुछ शब्द मिल जाते हैं परन्तु ये शब्द बहुत ही थोड़े हैं और अधिकांशतया ज्योतिष विद्या के हैं जो किसी प्रकार भी भाषासम्बन्धी प्रभाव की सूचना नहीं देते।

कला के क्षेत्र में अवश्य कुछ अंशों तक यूनानी प्रभाव है परन्तु यह प्रभाव भी अत्यन्त सीमित और नगण्य है। यूनानी वास्तु कला को भारतवासी ग्रहण नहीं कर सके क्योंकि दोनों देशों की जलवायु भिन्न होने के कारण इनकी वास्तु कला की परम्परायें एक दूसरे से काफी भिन्न थीं। ग्रीक शैली पर निर्मित इमारतें आज हमें उपलब्ध नहीं होतीं जो एकाध हैं भी उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। केवल तक्षशिला में कुछ ऐसे मकान मिले हैं जिन पर ग्रीक वास्तुकला का कुछ प्रभाव देखा जा सकता है। एक मन्दिर का भी उदाहरण उपलब्ध है जो ग्रीक शैली में प्रभावित जान पड़ता है। मूर्तिकला के क्षेत्र में यूनान का प्रभाव कुछ अधिक अवश्य है परन्तु यह प्रभाव अल्पकालिक ही प्रमाणित हुआ। गान्धार की बुद्ध प्रतिमाओं पर यूनानी तक्षण कला (Sculptu) की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। गान्धार में मूर्तिकला की जिस विशिष्ट पद्धति का उद्भव और विकास हुआ उसको विद्वानों ने इण्डो ग्रीक शैली का नाम दिया है क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं परन्तु इसकी शैली ग्रीक है। महात्मा बुद्ध की जो प्रतिमायें इस शैली में मिलती हैं उन पर सुस्पष्ट रूप में यूनान की तक्षणकला का प्रभाव दृष्टिगत होता है। हम गान्धार कला के विषय में आगे जो कुछ पढ़ेंगे उससे यह स्पष्ट हो जायगा। परन्तु यह एक स्मरणीय तथ्य है कि भारत के कलाकारों ने नातिचिरादेव अपने को ग्रीक प्रभाव से मुक्त कर लिया और मूर्तिकला की अपनी राष्ट्रीय परम्परा का विकास किया।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भारत को देने के लिये यूनान के पास कुछ भी नहीं था। यूनान के दर्शन पर विशेषकर पाइथागोरस और सुकरात के विचारों पर भारतीय दर्शन के प्रभावों का उल्लेख हम नहीं करेंगे क्योंकि इस प्रकार विवेचन अत्यन्त दुरूह और विस्तृत होने के कारण इस पुस्तक की सीमित परिधि के अन्तर्गत नहीं आता।[1] धर्म के क्षेत्र में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि यूनानियों ने भारत की महत्ता को स्वीकार किया। मिलिन्द या मिनेण्डर का बौद्ध धर्म और हेलियोडोरस का भागवत धर्म स्वीकार कर लेना इस बात को सिद्ध करता है कि इस क्षेत्र में विजेता यवनों को भारतवासियों से हार खानी पड़ी। स्वात से एक कलश प्राप्त हुआ है जिसके अभिलेख से भी यह स्पष्ट होता है कि थियाडोरस (Th[illegible]s) नामक एक ग्रीक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। सातवाहन युग की सांस्कृतिक अवस्था का अध्ययन करते हुए हमने देखा था कि अनेक विदेशियों ने भारतीय धर्मों को अंगीकार किया था और अपने नाम भी भारतीय नामों के अनुकूल रख लिये थे। यूनानियों के भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लेने का एक कारण था। होमर के युग में यूनान में जिस धार्मिक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ उसमें केवल देवताओं की ही कल्पना प्रधान

---

[1] कीथ जैसे विद्वान भारतीय विचारों के प्रभाव को मानने के लिये किसी प्रकार भी तैयार नहीं हैं। उल्टे वे भारतीय विचारों पर यूनानी विचारकों का प्रभाव बतलाते हैं। इनके मत के लिए देखिए, *Journal of Royal Asiatic Society* 1909 इसके विपरीत रिचार्ड गार्बे और विण्टरनित्ज भारतीय दर्शन के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इस मत का प्रतिपादन Richard Garbe की प्रसिद्ध पुस्तक *Philosophy of Ancient India* (Chicago 1897) में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है।

थी। भक्तिवादी या आचारवादी तत्वों का उसमें अभाव था। एक उदात्त नैतिक या आध्यात्मिक भावना के अभाव में उसमें प्रायः व्यापारिक बुद्धि का ही अधिक समावेश था। इस धार्मिक विचारधारा में प्रौढ़ता के बीज विद्यमान नहीं थे अतएव यह मानवात्मा की पिपासा को अभितृप्त करने में असमर्थ था। यही कारण है कि हेलिनिस्टिक युग में यूनानी धर्म में पूर्वीय धर्मों की अनेक विचारधाराओं का समावेश हो गया। बाद में भारतवासियों के निकट सम्पर्क में आने पर यूनानियों का साक्षात्कार एक सुविकसित और प्रौढ़ धार्मिक चेतना से हुआ जिससे वे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि अपने धार्मिक विचारों से यवनों को प्रभावित करने की प्रक्रिया के ही द्वारा भारतवासियों ने उनका भारतीयकरण प्रारम्भ कर दिया और कालान्तर में कितने ही यवन भारतीय समाज में घुल मिल गये। इसी विधि के द्वारा शक, कुषाण, पह्लव और हूण आदि बर्बर जातियाँ भी भारतीय जीवन में मिल गईं यद्यपि वे आक्रमणकारी के रूप में भारतीय सीमा में प्रविष्ट हुई थीं।

इण्डो ग्रीक सम्पर्क का प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार की दृष्टि से बड़ा हितकर पड़ा। पाश्चात्य जगत से भारत का जो व्यापारिक सम्बन्ध पहले से ही स्थापित हो गया था वह और अधिक सुदृढ़ हो गया। व्यापारिक मार्गों के खुल जाने से भारत की वस्तुयें विदेशी बाजारों में प्रभूत परिमाण में बिकने लगीं। भारत की विलास सामग्रियाँ रोम के धनाढ्यों और वैभवशाली सम्राटों के लिये आवश्यक वस्तुयें हो गईं।

भारतीय इतिहास का यह अध्याय इस तथ्य को सिद्ध करता है कि दो सभ्यताओं का मिलन और सम्पर्क प्रभावशून्य अथवा निरर्थक नहीं हो सकता।

------

१७ | शकों का आक्रमण और भारत में शक-शासन

भारतीय साहित्य में जिन विदेशी जातियों का उल्लेख आता है उनमें सबसे प्रथम स्थान शक जाति को प्राप्त था। उसके बाद यवन और पह्लव जातियाँ आती थीं। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर 'शक' 'यवन' 'पह्लव' शब्दों का प्रयोग मिलता है जिससे विदेशी जातियों का ही बोध होता था। भारत में जितने भी विदेशी कबीले आये और यहाँ बस गये उन सबको परवर्ती युग में व्रात्य[1] क्षत्रिय कहा जाने लगा। परन्तु यह वास्तव में उनको हिन्दू धर्म में मिलाने के प्रयत्न का प्रतिफल ही था। ये सभी जातियाँ विदेशी थीं और इनके लिये साधारणतया 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन जातियों में सबसे प्रथम यूनानियों ने ही भारत में प्रवेश किया जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। जिन विदेशी विजेताओं ने उत्तरी-पश्चिमी भारत से यूनानी सत्ता का उन्मूलन किया वे थे शक, पह्लव या पार्थियन और यूची अथवा कुषाण। शकों के लिये सीदियन शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। ये लोग मूल रूप में मध्य एशिया की घुमक्कड़ जातियों में से किसी एक शाखा से सम्बन्ध रखते थे। अपने पड़ोसी कबीलों के आक्रमणों से भयभीत होकर और अपनी स्वाभाविक संक्रमणशीलता के कारण शकों ने विभिन्न स्थानों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। फारस के हखमनी वंश के प्रारम्भिक नरेशों के लेखों में तीन शक उपनिवेशों का उल्लेख किया गया है जो उनके प्रजाजन थे। भारत में घुमक्कड़ जातियों के प्रवेश के सम्बन्ध में चीनी इतिहासकारों के द्वारा हमें महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। १७५-१६५ ई० पू० के लगभग ह्यिंग-नु (Hiung nu) हूण लोगों ने यूइह-ची के महान और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। युइह ची लोगों को टोकेरियन (Tocharians) और तुखार भी कहा जाता है। हूणों द्वारा पश्चिमी चीन से निकाल दिये जाने पर ये लोग पश्चिम दिशा की ओर बढ़े जहाँ पर उनकी मुठभेड़ एक अन्य घुमक्कड़ जाति से हुई। इस जाति का नाम स्से (Sse) या शक था जो सरदरिया (Jaxarted or Syr Darva) के तटों पर रहते थे। यह मुठभेड़ सम्भवतः शकों के आदि देश में हुई थी जहाँ पर यू ची जाति से पराजित होने पर उनको दक्षिण की ओर हट जाना पड़ा। अपने घर से निकाले जाने पर उनको भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी। कुछ दिनों बाद विजेता यू-ची लोगों को वु-सुन नामक एक अन्य जाति के द्वारा पराजय सहन करनी पड़ी और जो भूभाग उन्होंने शकों से हस्तगत किया था उसे उन्हें छोड़ देना पड़ा। वे आक्सस (Oxus) की घाटी में बस गये और वहाँ से दक्षिण में बैक्ट्रिया पर अपना कुछ अधिकार जताने लगे। यू ची लोगों द्वारा स्वस्थान से निकाले जाने पर शकों ने अपनी विशृंखलित शक्ति का संग्रह करना आरम्भ कर दिया और बैक्ट्रिया के इण्डो-ग्रीक शासकों पर आक्रमण करने लगे। साथ ही वे एराकोशिया (Arachosia) और

१ 'मनुस्मृति' आदि धर्मशास्त्रों में व्रात्य क्षत्रिय उन क्षत्रियों को कहा गया है जो अपने धार्मिक और सामाजिक नियमों का परिपालन न करने के कारण भ्रष्ट और पतित समझे जाते थे।

उत्तरी गड्रोशिया (North Gedrosia) तथा पंजाब में दिखलाई पड़ने लगे। परन्तु काबुल में उनका प्रवेश नहीं हो सका क्योंकि वहाँ पर अब भी यूनानियों की राजसत्ता कुछ सक्रिय थी। अतः शक लोग भारत में खैबर दर्रे के मार्ग से होकर नहीं अपितु बलूचिस्तान की ब्राहुई पर्वत श्रेणियों और बोलन के दर्रों से होकर प्रविष्ट हुए। कुछ लोग सम्भवतः एक अधिक प्रत्यक्ष मार्ग के द्वारा घुसे। यह एक उत्तरी मार्ग था और काश्मीर तथा उद्यान से होकर जाता था। इसी मार्ग के द्वारा प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान ने भी भारत में प्रवेश किया था। पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि इस समय १४० और १२० ई० पू० बक्ट्रिया के यवन राज्यों की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली थी जिससे वे इन बर्बर आक्रान्ताओं के सामने ठहर नहीं सके। आगे बढ़कर शक लोग एरियाना (पश्चिमी और दक्षिणी अफगानिस्तान) तथा पूर्वी ईरान में बस गये। दक्षिण पश्चिम की ओर मुड़ने पर शकों ने पार्थवों से लोहा लिया जिनका Oxus वक्षु नद के पार राज्य था। पार्थवों का राज्य शकों के प्रसार को रोक नहीं सका। फ्रात द्वितीय नामक पार्थव नरेश उनको रोकने के प्रयास में मारा गया। पाँच वर्ष बाद आर्तबानुस प्रथम को भी अपने प्राण इसी कार्य में खोने पड़े। परन्तु जब शकों से प्रतापी पार्थव नृपति मिथ्रदात द्वितीय (१२३–८८ ई० पू०) से लोहा लेना पड़ा तो उनका न केवल प्रसार ही रुक गया वरन् इस शूर शासक ने उनको दक्षिण पश्चिम की ओर खदेड़कर हेलमण्ड घाटी की तलहटी में कर दिया। बाद में इस स्थान का नाम ही शकस्थान पड़ गया। यहाँ से शक लोग आरकोशिया (कन्दहार) तथा बलूचिस्तान से होकर भारत पहुँचे और सिन्धु नदी के निचले काँठे—सिन्ध में बस गये। उनके इस नवीन आवास को भारतीय साहित्यकारों ने शक द्वीप और ग्रीक भूगोलवेत्ताओं ने इण्डोसीथिया कहकर अभिहित किया। यह स्थान शकों के निवास के लिये पर्याप्त सुविधाजनक था अतएव यहाँ रहकर भारत के विभिन्न भागों में उन्होंने अपने राज्य और उपनिवेश स्थापित किये। शकों ने पाँच विभिन्न राजकुलों की स्थापना की। ये राजकुल इस प्रकार थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल (२) उत्तर पश्चिम के क्षत्रप (३) मथुरा के क्षत्रप (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के क्षत्रप। हम इन राजकुलों का अध्ययन अलग अलग करेंगे।

(१) सिन्ध और पंजाब का शक कुल

भारत के अभिलेखों में जिन शक राजाओं का नाम उल्लिखित मिलता है उनमें समय की प्राचीनता के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम स्थान माउस (Maues) का है। इस माउस का समीकरण विद्वानों ने मोग के साथ भी किया है जिसका उल्लेख हमें तक्षशिला के ताम्रपत्र पर मिलता है। माउस एक पराक्रमी योद्धा और प्रबल विजेता था। उसने गान्धार और तक्षशिला के प्रदेशों को यूनानियों से हस्तगत कर लिया था। उसका उत्कर्ष सम्भवतः प्रथम शती ई० पू० के आरम्भ में हुआ था। माउस मोग एक शक्तिशाली सम्राट् (महाराय) था।[1] उसके राज्य में चुक्ष भी सम्मिलित था जो तक्षशिला के निकट अवस्थित था और जिस पर एक क्षत्रप शासन करता था। मुद्रा साक्ष्य से इस

[1] उसकी मुद्राओं पर ग्रीक भाषा में 'सम्राटों के सम्राट् महान माउस' तथा उल्टी ओर खरोष्ठी लिपि में 'राजातिराजस महतस मोअस' लिखा मिलता है। तक्षशिला से मिले एक ताम्रपत्र में उसको 'महाराय' कहा गया है।

बात का संकेत प्राप्त होता है कि उसका अधिकार कापिशि और पुष्कलावती तथा साथ ही साथ तक्षशिला पर विद्यमान था। उसके क्षत्रपों ने सम्भवतः मथुरा के चारों ओर के प्रदेशों से इण्डो ग्रीक और यूनानी राजसत्ता का उन्मूलन कर दिया। कदाचित् यूथिडेमस के राजवंश का पतन हो जाने के बाद पूर्वी पंजाब के कुछ भागों और कतिपय निकटवर्ती प्रदेशों में देश के कुछ स्वातन्त्र्यानुरागी और स्वाभिमानी वर्ग जिनमें औदुम्बर त्रिगर्त कुणिन्द यौधेय तथा अर्जुनायन प्रमुख थे अपनी स्वतन्त्रता की दुन्दुभि नाद करने लगे थे। माउस ने युक्रेटाइडस और डेमेट्रियस के सिक्कों की शकल के सिक्के चलवाये परन्तु एथेना एल्किस (Athena Elkis) प्रकार के सिक्कों के अभाव में टार्न ने यह अनुमान किया है कि माउस ने मिनेन्डर के गृह राज्य (अर्थात् साकल का समीपवर्ती प्रदेश) को अपने राज्य में नहीं मिलाया।[1] माउस ने सम्भवतः इण्डो यूनानी के बाद ही शासन किया होगा जिनके सिक्कों की अनुकृति के आधार पर उसने अपने भी सिक्के चलवाये। इस प्रकार से उसका शासन काल ७२ ई० पू० मानना चाहिए।[2] उसके सिक्कों पर ग्रीक देवताओं के साथ साथ बुद्ध और शिव की भी आकृतियाँ खुदी मिलती हैं।

मुद्रा-साक्ष्य के द्वारा यह विदित होता है कि माउस का उत्तराधिकारी एजेस (Azes) था जिसने हिपास्ट्रेटस के राज्य को अपने राज्य में मिलाकर पूर्वी पंजाब से यूनानी शासन के अवशिष्टांश का भी उन्मूलन कर दिया। उसने हिपास्ट्रेटस के सिक्कों को पुनः मुद्रित किया जिससे उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने अपने पिता से जो राज्य उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किया उस पर उसने अपना स्वामित्व बनाये रक्खा था। मार्शल की सम्मति में उसने यमुनाघाटी को भी विजित किया जहाँ पर विक्रम संवत् का प्रचलन था। कुछ विद्वानों की यह राय है कि एजेस ने ही ५८ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत् को चलाया था परन्तु इस प्रकार की धारणा के लिए कोई आधारभूत तर्क नहीं है। सिक्कों के प्रमाण पर यह अनुमान किया जाता है कि एजेस प्रथम के उपरान्त एजिलिसस (Azilises) राजा हुआ। कुछ मुद्राओं पर एक ओर यूनानी भाषा में एजेस का और प्राकृत भाषा में एजिलिसस का नाम अंकित है जिससे यह पता चलता है कि दोनों ने संयुक्त शासन किया। एजिलिसस के पश्चात् पंजाब और सिन्ध के शक राजकुल का शासनाधिकार एजेस द्वितीय को प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान दोनों एजेसों को एक ही मानते हैं परन्तु उनको पृथक् मानना ही समाधान जान पड़ता है। डा० स्मिथ के विचार में खुदाई द्वारा जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें से ऊपरी स्तरों में पाये गये सिक्के एजेस द्वितीय के तथा नीचे मिले हुए सिक्के एजेस प्रथम के हैं। मार्शल ने भी इसी

[1] देखिए *Political History of Ancient India* V Edition pp 437 438

[2] विभिन्न विद्वानों ने माउस की जो तिथि बतलाई है उसमें परस्पर काफी विभिन्नता है। यह तिथि १०५ ई० पू० से लेकर १५४ सन ईसवी तक बतलाई गई है। डा० रायचौधरी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह अनुमान किया है कि माउस ने ३३ ई० पू० के बाद, परन्तु प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध के पूर्व शासन किया। देखिए, वही, पृष्ठ संख्या ४३८–३९ परन्तु स्टेनकोनो का मत इस सम्बन्ध में कुछ दूसरा है। उनका विचार है कि माउस ने ९० ई० पू० के लगभग शासन करना आरम्भ किया।

मत की पुष्टि की है और एजस प्रथम तथा एजस द्वितीय को दो विभिन्न व्यक्ति माना है। एजस द्वितीय के बाद शक राजसत्ता इस प्रदेश से विनष्ट हो गई और उस पर गोंडोफरनीज का अधिकार स्थापित हो गया। यह एक पह्लव नरेश था जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे।

(२) उत्तर पश्चिम के क्षत्रप

शक क्षत्रप राजकुलों का इतिहास जानने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम क्षत्रपों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लें। क्षत्रप एक उपाधि था। यह उपाधि फारस के बहिस्तून अभिलेख में मिलती है जहाँ पर इसका प्रयोग क्षत्रपवान अर्थात् राज्य की रक्षा करनेवाला के रूप में हुआ है। क्षत्रप स्वाधीन राजा नहीं होते थे वरन् शक सम्राट के प्रतिनिधि रूप में प्रान्तीय शासन का भार वहन करते थे। सिन्ध में अपनी राजसत्ता स्थापित करने के बाद माउस ने क्षत्रप व्यवस्था का प्रयोग किया था। पश्चिमी पंजाब में उसने लियाक तथा पतिक को अपना राज्य प्रतिनिधि (क्षत्रप) नियुक्त किया था। राजराज की उसने जिस उपाधि को धारण किया था वह केवल मिथ्या गर्व पर आधारित नहीं वरन् एक यथार्थ बात थी। एजस प्रथम अथवा एजस द्वितीय में से किसी ने क्षत्रप अस्पवर्मन को अपना राज्य प्रतिनिधि नियुक्त किया था। जिस प्रकार मोग के प्रतिनिधि लियाक और पतिक थे उसी प्रकार सम्भवतः एजस द्वितीय का प्रतिनिधि स्टेटगास (Stratego) अस्पवर्मन था। क्षत्रप व्यवस्था में एक अन्य विशेषता भी पाई जाती है। प्रत्येक प्रांत में दो क्षत्रप हुआ करते थे—एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र एवं उत्तराधिकार होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था जैसा कि किसी प्रांतीय अधिष्ठान का एक समय एक ही अथवा भिन्न स्थानों में शासन करनेवाले राजन् और युवराज का।

डा० राय चौधरी के अनुसार उत्तरी भारतीय क्षत्रप तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं —

(१) कापिशि, पुष्पपुर और अभिसारप्रस्थ के क्षत्रप
(२) पश्चिमी पंजाब के क्षत्रप और
(३) मथुरा के क्षत्रप।[1]

माणिकियाला अभिलेख में कापिशि के क्षत्रप का केवल उल्लेख मात्र ही हुआ है। यह गणप्यहक नामक क्षत्रप का पुत्र था। काबुल संग्रहालय के एक पाषाण अभिलेख से पुष्पपुर के एक क्षत्रप का पता चलता है जिसका नाम तिवहण था। पुष्पपुर (फूलों का नगर) नामक नगर का उल्लेख हो सकता है कि पुष्करावती (कमल नगरी) के लिए किया गया हो। अभिसार प्रस्थ नगर के क्षत्रप का नाम शिवसेन था। यह नाम ताँबे की एक सील पर मिलता है जो पंजाब में मिली है। इन तीन क्षत्रपों की राज्य सीमा में योन, गांधार और काम्बोज सम्मिलित रहे होंगे जिनका उल्लेख हम अशोक के अभिलेख में प्राप्त होता है।[2]

डा० राय चौधरी ने पंजाब के क्षत्रपों को तीन कुलों में विभक्त किया है जो विभिन्न भागों पर शासन करते थे। पहला कुल था कुसुलक का। इस कुल में लियाक

[1] *Political History of Ancient India* p. 443
[2] देखिए वही, पृष्ठ ४४४।

तथा पतिक थे जो सम्भवत क्षहरात कुल थे ।। इनका शासन चुक्षा जिले में था। फ्लीट के अनुसार दा पतिक थे। परन्तु मार्शल की सम्मति में पतिक नामक क्षत्रप एक ही था। कुसुलक वश के क्षत्रपों का मथुरा के क्षत्रपों के साथ निकट का सम्बन्ध था। लियाक कुसुलुक के सिक्के इस बात को सूचित करते हैं कि उसके पूर्वी गान्धार का प्रदेश युक्रेटाइडज के वशजों के हाथ से निकलकर शकों के अधीन हो गया था। तक्षशिला के एक ताम्रपत्र से हम यह पता चलता है कि लियाक मोउस अथवा मोग का क्षत्रप था और लियाक का पुत्र पतिक महादानपति था। दूसरा क्षत्रप कुल मनि गल (Manigul) तथा उसके पुत्र जिहोनिक (Jihonika) का था। मुद्राशास्त्र वेत्ताओं की राय में य एजेस द्वितीय के शासनकाल में पुष्कलावती के क्षत्रप थे। परन्तु तक्षशिला के सिलवर वेज इन्स्क्रिप्शन से पता चलता है कि जिहोनिक तक्षशिला के निकट चुक्षा का क्षत्रप था। तीसरा कुल इन्द्रवर्मन का था। इन्द्रवर्मन के उपरान्त उसका पुत्र इस्पवर्मन क्षत्रप हुआ था। इस्पवर्मन ने एजेस द्वितीय और गोंडोफरनीज दोनों के राज्य प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया था। इस्पवर्मन के पश्चात उसके भतीज सस (Sasa) ने राज्य प्रतिनिधि का कार्य किया। यह गोण्डोफरनीज तथा पकोरा दोनों का उपशासक था। क्षत्रपों के उपयुक्त दो उदाहरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्षत्रप व्यवस्था का तत्कालीन शासनपद्धति में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि शकों का राज्य जब नष्ट हो गया और उनका स्थान पह्लव राजकुल ने ग्रहण कर लिया तब भी यह व्यवस्था प्रचलित रही और पह्लवों ने क्षत्रपों को उनके पदों से च्युत करना भी अनुचित समझा। यह सम्भव है कि क्षत्रप उस समय की शासन प्रणाली के मेरुदण्ड स्वरूप थे जिनको सहसा बदल देने से राज्य को केन्द्रीय सरकार को धक्का पहुँच सकता था इसीलिये इस्पवर्मन को प्रतापी पह्लव नरेश गोंडोफरनीज ने क्षत्रप के पद से अलग नहीं किया। क्षत्रप व्यवस्था का महत्व हम और अच्छी तरह तभी समझ सकते हैं जब आगे आनेवाले कुषाणों की शासन पद्धति का अध्ययन करें। कुषाणों ने पह्लवों का ध्वस करके राज्य हस्तगत किया था किन्तु उन्होंने अपने विजितों से क्षत्रप व्यवस्था ग्रहण कर ली जिस प्रकार कुछ समय पूर्व शकों की राजसत्ता का उन्मूलन करनेवाले पह्लवों ने अपने विजितों की क्षत्रप व्यवस्था को ग्रहण किया था। इतना ही नहीं कुषाण सत्ता का विनाश हो जाने पर भी क्षत्रपों का राज्य बना रहा। डा० डी ■ी सरकार ने लिखा है कि पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप जो, कुषाणों की अधीनता स्वीकार करते थे उन भागों में भारत में कुषाणों की साम्राज्य सत्ता के पतन के बाद भी काफी लम्बे समय तक शासन करते रहे। (The Saka Satraps of Western India owing allegiance to Kushanas continued to rule in those regions for a long time after the decline of Kushan imperial power in India *The Age of Imperial Unity* p 130)

(३) मथुरा के क्षत्रप

पुराणों और अभिलेखों की सहायता से मथुरा के क्षत्रपों के राजनीतिक इतिहास को हम काफी अंश में समझ सकते हैं। अभिलेखों और मुद्राओं की प्राप्ति के पूर्व मथुरा के क्षत्रपों का इतिहास अन्धकारमय था। सम्भवत मथुरा के शक क्षत्रपों ने मथुरा में राज्य शुंगवंश के अन्तिम नरेश अथवा किसी अन्य राजा से हस्तगत किया था। इस कुल के प्रारम्भिक राजा हगान और हगामस थे जिन्होंने कुछ काल तक एक

साथ मिलकर राज्य किया था। इन दोनों में परस्पर पिता पुत्र अथवा भाई भाई का सम्बन्ध था यह कह सकना कठिन है। परन्तु कुछ मुद्राओं से यह पता लगता है कि हगामस ने अकेले शासन किया और कुछ सिक्कों के द्वारा यह भी विदित होता है कि उसने हगान के साथ राज्य किया। उसके बाद डा० स्मिथ के अनुसार राजुल (रजुवुल) उसका उत्तराधिकारी था। अभिलेखों द्वारा उसके कार्यों पर काफी प्रकाश पड़ता है। मोरा अभिलेख में उसे महाक्षत्रप कहा गया है। उसकी मुद्राओं में भी उसके लिए महाक्षत्रप विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे अनुमान यह होता है कि पहले वह क्षत्रप था बाद में महाक्षत्रप की पदवी उसने ग्रहण की। उसके स्वतन्त्र अथवा स्वतन्त्रप्राय रूप में शासन करने का अनुमान उसकी उपाधियों एवं मुद्रा-सबंधी प्रमाणों से होता है। राजकार्य में उसका पुत्र शोडास (सुदास) क्षत्रप के रूप में उसकी सहायता करता था जो उसके बाद महाक्षत्रप हुआ। राजुल अथवा रज्जुवुल एक प्रतापी शासक था। डा० त्रिपाठी के शब्दों में उसने स्ट्रटो प्रथम और स्ट्रटो द्वितीय के सिक्कों का अनुकरण किया था और इससे यह निष्कर्ष निकालना बेजा न होगा कि रंजुवुल ने ग्रीक शासन को पूर्वी पंजाब में अन्त कर दिया। मथुरा के सिंह मस्तक वाले अभिलेखों के अनुसार वह उस समय क्षत्रप था जब कि पाडक अथवा पतिक (जो तक्षशिला ताम्र का पतिक है) महाक्षत्रप था। इस प्रकार हम दोनों को समसामयिक मान सकते हैं। रंजुवुल के उपरान्त उसका पुत्र शोडास क्षत्रप हुआ। अपने पिता के शासन काल में वह सम्भवतः क्षत्रप था किन्तु बाद में उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली। शोडास के बाद का इतिहास अन्धकारपूर्ण है। स्टेन कोनो के विचार में शोडास का काल १५ ई० सं० के निकट रखना चाहिये। शोडास के बाद मथुरा के शक क्षत्रप कुल की शक्ति बहुत ही कम हो गई। कुषाणों के आक्रमण ने इसका अन्त कर दिया। मथुरा के क्षत्रपों के भारतीयकरण की प्रक्रिया पूर्णरूप से सफल हो गई थी। उनमें से कुछ ने जैन धर्म और कुछ ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

(४) महाराष्ट्र के क्षहरात शक-क्षत्रप

शक क्षत्रपों के विषय में हम ऊपर भी पढ़ चुके हैं किन्तु पश्चिमी क्षत्रप कुल का इतिहास जितना महत्वपूर्ण है उतना महत्व शक राजकुल की किसी भी शाखा का नहीं है। पश्चिमी क्षत्रप-कुल की दो शाखायें थीं महाराष्ट्र के क्षहरात कुलीन क्षत्रपों की और दूसरी उज्जैन के शक क्षत्रपों की। क्षहरात कुल की उत्तरी उत्पत्ति का निदर्शन उनके सिक्कों के ऊपर की खरोष्ठी लिपि से होता है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी अनुमान किया है कि महाराष्ट्र के क्षहरात सम्भवतः छहर के ही रहनेवाले थे। क्षहरात भूमक महाराष्ट्र के क्षत्रप कुल का प्रथम व्यक्ति था। उसके सिक्के गुजरात तथा काठियावाड़ के समुद्रतटीय प्रदेशों में पाये गये हैं और उसकी कुछ मुद्रायें राजपूताना के मालवा तथा अजमेर प्रदेशों में भी मिली हैं। भूमक के मुद्रा लेखों में खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों के प्रयोग से इस तथ्य का पता चलता है कि क्षत्रपों के राज्य में न केवल मालवा गुजरात और काठियावाड़ के प्रदेश ही सम्मिलित थे जहाँ पर ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी वरन् राजपूताना और सिन्ध के कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत थे।[१] भूमक ने जिस राजकुल की संस्थापना की उसका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण हमें प्राप्त नहीं है। उसके पश्चात् नहपान क्षहरात कुल का अधिकारी हुआ। प्रोफेसर रैप्सन

---

[१] देखिए *The Age of Imperial Unity* p 1[illegible]9

ने भूमक और नहपान के सिक्कों का जो तुलनात्मक परिशीलन किया है उससे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भूमक नहपान का अग्रवर्ती था। उनका विचार है कि भूमक के सिक्कों के मुखपृष्ठ को नहपान ने अपने सिक्कों में उलटा कर रक्खा है। सिक्कों के इन नये गठन उसके आकार प्रकार एवं लिखावट से रैप्सन के अनुसार इस बात के लिये सन्देह का कोई कारण नहीं बचता कि नहपान भूमक का निकटतम उत्तराधिकारी था। (रैप्सन कैटलाग आव आन्ध्र क्वाइन्स पृष्ठ ८७ स्वर्गीय एन एन घोष द्वारा उद्धृत) लेकिन नहपान के साथ भूमक का क्या सम्बन्ध था इस विषय पर सभी साक्ष्य मूक हैं। भूमक उस समय पह्लवों का क्षत्रप था जिस समय कुषाणों की राजनीतिक शक्ति का भारत में उदय हुआ। वह केवल क्षत्रप ही था कभी राजा अथवा महाक्षत्रप नहीं था। उसके कुछ सिक्कों पर एक सिंह स्तम्भ तथा धर्मचक्र खुदा हुआ मिलता है जिससे कुछ विद्वान उसका सम्बन्ध मथुरा के क्षत्रपों के साथ जोड़ते हैं जो अपने एक बौद्ध स्मारक के सिंह मस्तक के लिये विख्यात हैं। भूमक के शासन काल की घटनाओं का कोई विवरण नहीं उपलब्ध है।

नहपान—महाराष्ट्र के क्षहरात कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक नहपान था। उसके विषय में उसके सिक्कों और अभिलेखों द्वारा प्रचुर सूचना प्राप्त होती है। अपने पूर्ववर्ती लेखों में नहपान क्षत्रप कहा गया है जब कि ४६वें वर्ष के अभिलेख में उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली है। लेकिन इन सभी अभिलेखों में वह राजन् की उपाधि से भी विभूषित है जो सम्भवतः यह सूचित करती है कि राजनीतिक स्थिति भूमक की राजनीतिक स्थिति से कहीं अधिक ऊँची थी। कदाचित् वह एक स्वतन्त्र शासक के रूप में भी शासन करता रहा यद्यपि उसने कभी भी कुषाण सत्ता का खुलकर विरोध नहीं किया। नहपान के सिक्के राजपूताना के अजमेर जिले और दक्षिण में नासिक में प्राप्त हुए हैं। उसके साम्राज्य विस्तार का प्रमाण आभिलेखिक साक्ष्य द्वारा प्राप्त होता है। आठ गुहा-अभिलेख जो पाण्डुलेना में (पूना जिले के नासिक जुन्नर और कार्ले के निकट) खोजे गये हैं इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसके राज्य में महाराष्ट्र का काफी भाग सम्मिलित था। इन अभिलेखों में से सात तो उसके जामाता उपवदात (ऋषभदत्त) के दानों का वर्णन करते हैं जब कि आठवाँ अभिलेख अमात्य (मन्त्री अथवा नगर शासन का अधिकारी) अयम के उदारतापूर्ण कार्यों का विशद तथा उल्लेख करता है। उपवदात के अभिलेख इस बात को सूचित करते हैं कि नहपान का राजनीतिक प्रभाव कदाचित् पूना (महाराष्ट्र प्रान्त) और सूर्पारक (उत्तरी कोंकण) से लेकर काठियावाड़ में प्रभास, मालवा में उज्जैन और मन्दसौर तथा अजमेर के जिले तक फैला हुआ था। उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत पुष्कर भी सम्मिलित था जो एक तीर्थस्थान था। मालय या मालव लोगों पर विजय प्राप्त करने के बाद वह (उपवदात) अभिषेक के लिये यहीं आया था।[1] महाराष्ट्र में सातवाहनों के जो अभिलेख मिले हैं उनसे यह विदित होता है कि इस प्रदेश पर उन्हीं का अधिकार था। किन्तु नहपान के भी सिक्कों और अभिलेखों का महाराष्ट्र प्रदेश में पाया जाना यह सिद्ध करता है कि उसने प्रारम्भिक सातवाहन नरेशों से महाराष्ट्र छीन लिया था और उस पर अपना अधिकार स्थापित किया था। इस बात के भी पुष्ट प्रमाण हैं कि महाराष्ट्र पर शासन-सत्ता जमानेवाला व्यक्ति नहपान ही था भूमक नहीं।

---

[1] देखिए *Political History of Ancient India* I Edition P 454

भमक की मुद्राओं के प्राप्ति स्थानों से यह पता चल जाता है कि उसका शासन मालवा काठियावाड़ अजमेर और पुष्कर तक ही सीमित था। पाण्डुलेन (नासिक) में जितने अभिलेख मिले हैं उनमें से किसी में भी भमक का नाम नहीं आया है। इसके विपरीत नहपान के चाँदी के सिक्के बहुतायत से महाराष्ट्र में मिल जाते हैं और नासिक के कितने ही गुहाभिलेखों में उसके और उसके जामाता ऋषभदात (ऋषभदत्त) के नाम आये हैं। इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में शक राज्य का विस्तार करनेवाला नहपान ही प्रथम क्षहरात था —(डी एन एन घोष)। पुष्कर में उषवदात के स्नान का उल्लेख नासिक अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख के अनुसार मालवों के आक्रमण इस समय बड़े प्रबल रूप में हो रहे थे जिनको रोकने का प्रयत्न उत्तमभद्र लोग कर रहे थे। नहपान ने अपने दामाद उषवदात को उत्तमभद्रों की सहायता करने का आदेश दिया। श्वशुर का अनुशासन पाकर उषवदात ने उत्तमभद्रकों की सहायता की और मालवों को युद्ध में पराजित किया। अपनी इस विजय के उपलक्ष में उषवदात ने पुष्कर तीर्थ की यात्रा की। वहाँ उसने स्नान किया और ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में गायें और सुवर्ण दान में दिये। उषवदात के इस कृत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय शक लोग काफी अंशों में भारतीय हो चुके थे। उसकी पत्नी दक्षमित्रा के नाम से स्पष्ट है कि नामों में भी शक लोग अब भारतीयता अपनाने लगे थे। शकों के भारतीयकरण का ज्वलन्त उदाहरण हम महाक्षत्रप रुद्रदामन के जीवन में देखने को मिलता है जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे। उषवदात की धर्मपत्नी दक्षमित्रा ने पुण्यसचयार्थ एक गुहावास दान किया था।

नहपान के अभिलेखों में तिथियाँ खुदी हुई हैं जो किसी संवत् की ४१ से लेकर ४६ तक की वर्ष-संख्याओं के अन्तर्गत हैं। चूंकि यह संवत् कनिष्क की राज्य गणना को छोड़कर कोई दूसरा नहीं हो सकता जो कि शक संवत् ७८ से प्रारम्भ होता है अतएव नहपान सम्भवतः ११९–१२५ के समय ही हुआ होगा। जोगलथम्बी के सिक्कों का ढेर यह बतलाता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान के सिक्कों को फिर से अंकित किया था। जिस क्षहरात राज्य के उन्मूलन का वह दावा करता है उसका अधिकार इस समय नहपान के ही अधीन था उसके किसी उत्तराधिकारी के अधीन नहीं। नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णि इसलिये एक दूसरे के समकालीन थे। टॉलमी के भूगोल के साक्ष्यानुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि का पुत्र प्रतिष्ठान (सातवाहनों की राजधानी) के राजसिंहासन पर १४ सन् के लगभग समासीन था। अतएव गौतमीपुत्र शातकर्णि और उसके समकालीन नहपान ने द्वितीय शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में शासन किया होगा।[1]

नहपान की तिथि के सम्बन्ध में हम यह लिख चुके हैं कि उसके शासन का अन्त गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किया था। इस प्रतापी सातवाहन नरेश ने न केवल नहपान को पराजित ही किया अपितु शकों को महाराष्ट्र से निर्वासित भी कर दिया। परन्तु दक्षिणी प्रांत सातवाहनों के हाथों में चले जाने पर भी क्षहरात वंश के राज्य का उत्तरी भाग शकों के अधिकार में रहा। नहपान के उत्तराधिकारियों के विषय में

---

[1] इस विवेचन के लिए देखिए *The Age of Imperial Unity* p. 180 footnote 1. राय चौधरी महोदय भी नहपान की उपयुक्त तिथि ही मानते हैं। देखिये *Political History of Ancient India* pp. 485-49

हमारा ज्ञान बिल्कुल शून्य है। यह सम्भव है कि उसकी मृत्यु के बाद भी क्षहरात कुल का शासन कुछ और समय के लिए टिका रहा हो परन्तु नहपान के बाद इस वंश का गौरव मिट गया।[1]

(५) उज्जैन के क्षत्रप

यदि यह कहा जाय कि शकों के राजकुल में सबसे अधिक महत्व उज्जैन के क्षत्रपों का था तो सम्भवतः अत्युक्ति न होगी। उज्जैन के शक-क्षत्रपों के कुल ने काफी समय तक शासन किया और देश की राजनीतिक उथल-पुथल तथा सामाजिक नव निर्माण में काफी महत्वपूर्ण भाग लिया। इस वंश के एक प्रसिद्ध शासक रुद्रदामन का इतिहास हमें स्पष्टतया बतलाता है कि आक्रमणकारी शक इस समय तक देश की जनता के साथ बिल्कुल घुल मिल गये थे। वे न केवल देश की प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं को ही ग्रहण कर चुके थे अपितु वे उनके पोषक भी बन गये थे। भारत के प्राचीन इतिहास में इस वंश का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है।

उज्जैन के क्षत्रप राजवंश का संस्थापक यसामोतिक था जो चष्टन का पिता था। यसामोतिक का नाम सीदियन उत्पत्ति का है। उसके एक वंशज को जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा मारा गया बाण ने अपने हर्षचरित में शक राजा कहा है। इसलिये विद्वान् इस बात को मानते हैं कि उज्जैन का क्षत्रप-कुल शक जाति का ही था। इस वंश का ठीक-ठीक नाम नहीं मालूम। रैप्सन का कथन है कि यह नाम कार्दमक हो सकता है। रुद्रदामन की पुत्री इस बात पर गर्व प्रकट करती है कि उसका जन्म कार्दमक वंश के नरेशों के परिवार में हुआ है परन्तु यह सम्भव है कि इस बात के लिये वह अपनी माता की ऋणी रही हो। स्पष्टतया कार्दमक नरेशों के नाम का उद्भव फारस की एक नदी कर्दम से हुआ है।[1]

चष्टन उज्जैन का प्रथम शक शासक था। उसके पिता ने उसके वंश की प्रतिष्ठा चाहे अवश्य की हो परन्तु उज्जैन में अपने वंश का शासन प्रारम्भ करने वाला चष्टन ही था। चष्टन ने सम्भवतः कुषाणों के एक सामन्त के रूप में सिन्ध पर शासन किया था।[2] नहपान की मृत्यु के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणी पश्चिमी भागों का उपशासक कुषाणों ने चष्टन को ही नियुक्त कर लिया और उसे सातवाहनों से अपने शासनान्तर्गत उन भागों को पुनः अधिकार में करने का आदेश भी दिया जो नहपान के समय में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने जीत लिये थे।

हम क्षत्रप-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह जान चुके हैं कि कभी कभी महाक्षत्रपों को उपशासक के रूप में जो नियुक्ति की जाती थी उसमें उनकी सहायता के लिये कभी कभी क्षत्रप भी नियुक्त कर दिये जाते थे। जब अपनी वृद्धावस्था में चष्टन एक महाक्षत्रप हो गया तो उसने अपने पुत्र जयदामन् को क्षत्रप नियुक्त कर दिया। जयदामन् की मृत्यु शीघ्र ही हो गई जिससे उसके पुत्र रुद्रदामन प्रथम ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। अन्धाऊ में जिन अभिलेखों की खोज हुई है वे यह दिखलाते हैं कि शकवर्ष ५२ अर्थात् १३०–३१ में राजा चष्टन अपने पौत्र राजा रुद्रदामन् के साथ सम्मिलित

---

[1] *Political History of Ancient India* p 505

[2] डूब्रील नामक विद्वान् चष्टन को 'गौतमीपुत्र' का सामन्त मानते हैं।

रूप में शासन कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस तिथि में चष्टन महाक्षत्रप और रुद्रदामन क्षत्रप था।[१]

रुद्रदामा—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जयदामन् अल्पायु रहा जिससे शासनसूत्र उसके पुत्र रुद्रदामन को ग्रहण करना पड़ा। लगभग १३०—३१ ई० सन् में रुद्रदामन महाक्षत्रप हुआ। उससे पहले वह सम्भवतः क्षत्रप था। उसके शासनकाल का इतिहास जानने के लिये हमारे पास एक अनुपम साधन है। वह साधन है जनागढ़ का उसका अभिलेख। इस अभिलेख की तिथि शक सम्वत् ७२ अर्थात् १५०—५१ ई० है। गिरनार पर्वत पर जूनागढ़ की यह प्रशस्ति उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति की संस्कृत का ओज हमें गुप्त युग के संस्कृत का स्मरण दिलाता है। इस प्रशस्ति से रुद्रदामन की सैनिक सफलताओं और उसके व्यक्तित्व के गुणों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

रुद्रदामन एक महान योद्धा और पराक्रमी विजेता था। उसने महाक्षत्रप की उपाधि उत्तराधिकार स्वरूप न प्राप्त करके स्वयं अधिगत की थी (स्वयमधिगत–महाक्षत्रप नाम्ना)। शातकर्णि नृपति को उसने दो-दो बार युद्ध में पराजित किया था परन्तु अपना निकट सम्बन्धी होने के कारण उसने उसे मुक्त करके यश प्राप्त किया था (दक्षिणापथपते सातकर्णेरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य संबन्धाविदूरतयानुत्सादनात् प्राप्तयशसा)। रुद्रदामन ने यौधेयों को युद्ध में करारी हार दी। दक्षिणी पंजाब और निकटवर्ती प्रदेशों में यौधेयों का एक प्रबल गणतन्त्र था और अपनी स्वतन्त्रता के अभिमानी थे द्वारा वे सभी शासकों को नम्र किया करते थे। रुद्रदामन ने इनको विजित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और अपने साम्राज्य विस्तार के मार्ग में उसने एक महान कण्टक निर्मूल कर दिया। उसने अपने भुजबल से एक विशाल भूभाग को अपने अधीन किया। अभिलेख में उसके राज्य विस्तार के विषय में यह वाक्यखण्ड मिलता है पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (म) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां) इससे स्पष्ट होता है कि उसके राज्य में ये प्रदेश सम्मिलित थे—आकर (पूर्वी मालवा जिसकी राजधानी विदिशा थी) अवन्ति (पश्चिमी मालवा इसकी राजधानी अवन्ति थी) अनूप (आधुनिक मान्धाता या माहेश्वर) आनर्त (उत्तरी काठियावाड़) सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़) श्वभ्र (साबरमती की घाटी) मरु (मारवाड़ का प्रदेश) कच्छ (कच्छ) सिन्धु (निचली सिंध घाटी का पश्चिमी भाग) सौवीर (निचली सिन्ध घाटी का पूर्वी भाग) कुकुर (उत्तरी काठियावाड़ का वह जिला जो आनर्त के निकट अवस्थित था) अपरान्त (उत्तरी कोंकण) निषाद (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियों वाला भाग)। इस प्रकार हम देखते हैं उसके राज्य में वे सभी प्रदेश सम्मिलित थे जिन पर क्षहरातों का अधिकार था। नासिक और पूना जिले के प्रदेशों पर रुद्रदामन का अधिकार नहीं था। इनमें से कुछ प्रदेशों पर गौतमी पुत्र शातकर्णि का अधिकार था। परन्तु रुद्रदामन ने इन पर अपना जो स्वामित्व स्थापित किया उससे यह स्पष्ट है कि उसने गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी को पराजित कर उससे कुछ प्रदेश छीन लिये थे।

---

[१] देखिए *The Age of Imperial Unity* p. 183 चष्टन और रुद्रदामन के सम्मिलित शासन की बात डा० भण्डारकर ने भी स्वीकार की है परन्तु इसको इस मत को नहीं मानते और अन्धाऊ के लेखों को रुद्रदामन के शासन काल का मानते हैं।

रुद्रदामन केवल एक महान विजेता ही नहीं अपितु एक सफल एवं योग्य शासक भी था। अपने सुशासन द्वारा उसने अपने राज्य से रोगों, लुटेरों, वन्य पशुओं और अन्य कण्टकों का उन्मूलित कर दिया था। वह एक स्वेच्छाचारी शासक नहीं था वरन आर्यावर्त के नियमों का परिपालन करने वाला एक प्रजावत्सल राजा था। अभिलेख के कथनानुसार "सब वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृत्तेन" सब जातियों ने मिलकर उसे अपना रक्षक या स्वामी मनोनीत किया था। उसकी इस लोकप्रियता का कारण था उसका अनन्य लोकानुरञ्जन। प्रजा के कल्याणार्थ वह आजीवन चिन्तन किया करता था और वह इस हेतु कोई भी कार्य करने के लिये तत्पर रहता था। जूनागढ़ की प्रशस्ति से उसकी लोकानुरञ्जन की भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्राप्त होता है। उसने सुराष्ट्र प्रान्त में स्थित सुदर्शन झील का बांध फिर से बनवा दिया। इस झील से यहाँ के निवासियों को बहुत लाभ होता था। बाँध टूट जाने से उनको कठिनाई का अनुभव होने लगा जिसके निराकरणार्थ रुद्रदामन ने सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु उसके अमात्यों ने उसके इस सुनिश्चय का आर्थिक कारणों के आधार पर स्वागत नहीं किया। किन्तु प्रजा के कल्याण की निरन्तर इच्छा करने वाला यह शासक सार्वजनिक हित के इस कार्य से कैसे विमुख होता? अतएव उसने इस पुण्यकार्य के व्यय भार को स्वयं वहन किया और प्रजा के ऊपर बिना कोई अतिरिक्त कर लगाये पुनर्निर्माण का सारा व्यय अपने व्यक्तिगत कोष से दिया। वह अपने अमात्यों के सत्यपरामर्शों का सदैव स्वागत करता था और उनके निश्चयानुसार कार्य करता था। लोककल्याण के कार्य का सम्पादन करते समय भी रुद्रदामन ने अपने मन्त्रियों की बात मान ली और अपने जेब से उस कार्य का खर्च लेकर उसने उनको सन्तुष्ट किया। मनुस्मृति के "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" के अनुसार वह एक सच्चा राजा था।

एक सफल शासक और महान विजेता होने के साथ साथ रुद्रदामन संस्कृत भाषा का परिपोषक था। उसके अभिलेख से उसके संस्कृतानुराग का परिचय प्राप्त होता है। वह स्वयं भी एक सुशिक्षित व्यक्ति था। व्याकरण, राजतन्त्र, संगीत तथा न्याय का प्रकाण्ड पण्डित था। वह अपनी संस्कृत रचनाओं (गद्य और पद्य दोनों) के कारण सुविख्यात था।[1] कार्दमक शासकों के राज्यकाल में उज्जयिनी विद्या की एक महान राजधानी थी जिसका यश सारे भारतवर्ष भर में परिव्याप्त था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत के शक शासकों में रुद्रदामन श्रेष्ठ स्थान को अधिकृत करता है।

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी—रुद्रदामन के उपरान्त उसके वंश का गौरव दिनानुदिन क्षीण होता गया। यद्यपि रुद्रदामन के बाद दो सौ वर्षों तक इस वंश का शासन कायम बना रहा तथापि इतने लम्बे काल में भी इस वंश के शासकों ने कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। वे नाममात्र के ही शासक थे। उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गई, इसी लिये उनके शासन काल की घटनाओं का वर्णन करना किसी ने आवश्यक भी नहीं समझा। रुद्रदामन के बाद उसका पुत्र दामजद या दामजदश्री उज्जैन के सिंहासन पर बैठा। अपने पिता के जीवनकाल में ही उसने क्षत्रप के रूप में अपने नाम के सिक्के चलवाये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पिता का महाक्षत्रप और पुत्र का क्षत्रप के रूप में सम्मिलित शासन करना इस शासन-पद्धति का एक साधारण नियम था। १५०-५१ ईस्वी सन् के बाद किसी समय उसने अपने पिता के महाक्षत्रप पद को ग्रहण

[1] सम्भव है कि अभिलेख का यह कथन परम्परागत प्रथा के अनुसार प्रशंसा मात्र ही हो।

किया। इसके बाद भी उज्जन में शक राजवंश में कई क्षत्रप और महाक्षत्रप हुए परन्तु उनके राजकाल का कोई महत्व नहीं है। ईश्वरदत्त के नेतृत्व में आभीरों का समुदाय प्रबल हो गया और उन्होंने क्षत्रपों के राज्य से प्रान्तों को छीनकर अपने अधिकार में करना शुरू किया। परन्तु आभीरों की शक्ति भी शकों का पूर्ण रूप से नाश नहीं कर सकी। गुप्तों के उदय के कुछ समय बाद तक इस वंश की शासन परम्परा जस-तस करके चलती रही। अन्त में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक राजा का वध कर दिया और उसके राज्य को गुप्त साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार से भारत में शक शासन का पूरी तरह से उन्मूलन हो गया।

पह्लवों का शासन काल

पह्लवों का इतिहास शकों के इतिहास के साथ इतना मिश्रित है कि इसका ठीक ठीक विवरण प्राप्त करना असाधारण परिश्रम का काम है। फिर भी पह्लवों का इतिहास अन्धकारपूर्ण ही रह जाता है और इस असाधारण परिश्रम के काम को करने पर भी हम उनका विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता। कालक्रम का जहाँ तक प्रश्न है हम पह्लवों के सम्बन्ध में कोई निश्चित कालक्रम दे ही नहीं सकते। इन सब कठिनाइयों के बावजूद भी सिक्कों और कतिपय अभिलेखों द्वारा हम पह्लवों का यत्किंचित इतिहास जान सके हैं जिसके अध्ययन का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

पह्लव राजकुल का प्रथम व्यक्ति वानोनिज था। उसने अपनी सत्ता एराकोशिया और सीस्तान में स्थापित की। रैप्सन का मत है कि वह पूर्वी ईरान पर शासन करता था। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने महरजस रजरजस महतस अर्थात महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसके सिक्कों पर उसके भाई स्पलिराइसिस (Sp l) और स्पलहोरिस (Spalihore) तथा उसके भतीजे स्पलगदमिस (Sp l) के नाम भी खुदे हुए हैं जिससे यह प्रकट होता है कि वानोनिज को शासन कार्य में इन से सहायता प्राप्त होती थी। सम्भवतः ये विजित प्रान्तों के उसके प्रतिनिधि शासक थे। वानोनीज ने जो सिक्के चलवाये उन पर यूक्रेटाइडीज तथा उसके वंशजों द्वारा चलवाये गये सिक्कों की स्पष्ट छाप है।

वानोनीज का उत्तराधिकारी स्पलिराइसिस था। उसने भी सम्भवतः अपने नाम से सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वह पश्चिमोत्तर भारत के तत्कालीन शासक एजेस का सम्राट था। कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्पलिराइसिस का नाम खुदा है और खरोष्ठी लिपि में पीछे की ओर एजेस का। यदि एजेस स्पलिराइसिस का प्रतिनिधि शासक था जैसा कि वह था तो यह अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है कि पह्लवों का राजसत्ता वास्तविक अर्थों में इस समय तक तक्षशिला तक फैल चुकी थी।

स्पलिराइसिस के भाई ने भी प्रतिनिधि शासक के रूप में राज्य किया था परन्तु उसके शासन का कोई विशेष महत्व नहीं है। इण्डो-पार्थियन नरेशों में सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा गोण्डोफरनिस था। डा० डी० सी० सरकार के मतानुसार गोंडोफरनिस एराकोशिया का पार्थियन उपशासक था। उपशासक के रूप में उसका सम्बन्ध एक अन्य अधीनस्थ शासक के साथ था जिसका नाम गुद अथवा गुदन था। यह नाम कभी-कभी आर्थगनीज के सिक्कों पर अंकित खुदा हुआ मिलता है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोंडोफरनिस और गुद दोनों ही आर्थगनीज के अधीनस्थ उपशासक थे। गोंडोफरनिस ने धीरे धीरे अपनी शक्ति को बढ़ाया और सम्राट बन गया। उसने

आर्येगनीज के सिक्कों के आधार पर अपने भी सिक्के चलवाये जिसमें उसके पूर्वी ईरान पर अधिकार का संकेत मिलता है।[1] सम्भवतः उसने पार्थियन साम्राज्य के कतिपय प्रदेशों को भी विजित किया। उसके सिक्कों से इस बात का पता चलता है कि पूर्वी ईरान और पश्चिमोत्तर भारत के शक पह्लव दोनों राज्यों का वह स्वामी बन बैठा था। एस्पवर्मन के कुछ सिक्कों से यह प्रकट है कि गोण्डोफरनिस ने शकराज एजेस द्वितीय के अधीनस्थ कुछ प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। इन सिक्कों पर जो लेख मिलते हैं उनसे विदित होता है कि अस्पवर्मन पहले एजेस द्वितीय का सामन्त-नृपति था परन्तु बाद में उसने गोण्डोफरनिस की अधीनता स्वीकार कर ली और उसको कर देना भी आरम्भ कर दिया। सेंट टामस नामक प्रसिद्ध धर्मप्रचारक ने जो उसके राज्य में आया था उसे भारत का राजा कहा है।

डा० स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्राचीन भारत का इतिहास Early History of India में गोण्डोफरनिस के ईसाई धर्म स्वीकार करने और सेंट टामस के आत्म-बलिदान की कथा काफी विस्तार के साथ दी है। यद्यपि स्मिथ साहब ने जिन अनुश्रुतियों को अपनी पुस्तक में स्थान दिया है उनका प्रचलन ईसा की तीसरी शताब्दी में ही था तथापि इनकी सत्यता में विद्वानों को सन्देह है। किन्तु इतना तो अवश्य सत्य है कि सेंट टामस ने गोण्डोफरनिस के शासन काल में भारत के कुछ भागों का पर्यटन किया था और ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न किया था। इस ईसाई सन्त की समाधि आज भी मद्रास के एक निकटवर्ती स्थान में देखी जा सकती है। गोण्डोफरनिस का शासन काल सेंट टामस की भारत-यात्रा के कारण प्रसिद्ध है। उसकी इस यात्रा से यह सुस्पष्ट है कि ईसाई धर्म का प्रवेश यूरोप से भी पहले भारतवर्ष में हो चुका था। स्मिथ साहब ने एक किंवदन्ती का अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है जिसका यहाँ पर संक्षेप में उल्लेख करना अनुचित नहीं जान पड़ता। कहा जाता है कि सेंट टामस ने गोण्डोफरनिस से धन माँगा और यह कहा कि वह उस धन के द्वारा उसके लिए एक भवन का निर्माण करेगा। गोण्डोफरनिस ने सन्त को एक लाख मुद्रायें दीं जिनका प्रयोग उसने गरीबों को बाँट देने में किया। भवन का निर्माण न होने पर क्रुद्ध होकर गोण्डोफरनिस ने सेंट टामस को कारावास में बन्दी के रूप में डाल दिया। एक दिन पार्थियन राजा कारागृह में सन्त से मिलने गया और उससे पूछा कि उसने उन रुपयों से जिस भवन का निर्माण कराया वह कहाँ पर है। इस प्रश्न के उत्तर में सन्त ने आकाश की ओर हाथ उठा दिया जिसका अर्थ यह हुआ कि उसने वह धन गरीबों को बाँट दिया है। इस दान के फलस्वरूप सम्राट के लिए स्वर्ग में एक विशाल भवन तैयार हो जायगा।[2] स्मिथ साहब ने सन्त के बलिदान की जो कथा उद्धृत की है सम्भवतः उसी के आधार पर अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और समालोचक लसलस एबरक्रोम्बी (Lascelles Abercrombie) ने सेंट टामस नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ में बड़ी ही शक्ति और सजीवता के साथ बलिदान के विषय का वर्णन किया गया है। इस सन्त के बलिदान की अन्य कथा के अनुसार टामस को मयलापुर (मद्रास) में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे। इस कथा को कुछ लोग अधिक विश्वस-

---

[1] *The Age of Imperial Unity* p 128

[2] सेंट टामस का यह कथन ईसाई धर्म के जन्मदाता प्रभु ईसा मसीह की उस शिक्षा के नितान्त अनुकूल है जहाँ पर वे धनवान व्यक्ति को यह उपदेश देते हैं कि अपनी सारी धनदौलत गरीबों को बाँट दे और मेरे साथ चल। तुझे अपना खजाना स्वर्ग से सुरक्षित मिलेगा।

नाय मानते हैं परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है इसकी सत्यता पर विद्वानों को सन्देह है। तख्तेबाही के अभिलेख के द्वारा गोंडोफरनिस की तिथि पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख में दी हुई तिथियों के आधार पर इस पार्थियन नरेश ने सन् १९ ई० से लेकर ४५ सन् ई० तक छब्बीस वर्षों तक राज्य किया। ईसाई अनुश्रुति का जो गोंडोफरनिस को संत टामस का समकालीन बतलाती है तख्तेबाही लेख की तिथि के साथ अच्छा साम्य रखता है।

गोंडोफरनिस ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह काफी विशाल था परन्तु उसके पश्चात यह छिन्न भिन्न होने लगा। प्रोफेसर रैप्सन ने इस वंश के सिक्कों पर अंकित हुए नामों का पता है जिससे पता चलता है कि पकोराज (Pakores) पूर्वी पंजाब में और सनैबरीज सीस्तान में शासन कर रहा था। ये दोनों सम्भवतः गोंडोफरनिस के उत्तराधिकारी थे। इनके राज्यकाल में पह्लव वंश की शक्ति काफी घट गई और कुषाणों ने भारत से पार्थियन राजसत्ता का मूलोच्छेदन कर दिया।

Questions

Allahabad University

१ शक कौन थे ? शकों के मुख्य क्षत्रप कुलों (भारत में) का वर्णन कीजिए। सबसे अधिक प्रसिद्ध महाक्षत्रप कौन था और उसके जानकारी के विषय के मुख्य साधन क्या हैं ? (१९५०)

2 Give an account of the establishment growth and downfall of Saka power in N W India (1958)

(१) भारत में इण्डो बक्ट्रियन शक्ति की स्थापना और अभ्युदय का वर्णन कीजिए। (१९४९)

१८ | कुषाण-शासन

शक, पह्लव और यवन जातियों की तरह कुषाण लोग भी एक विदेशी जाति के थे। भारत की विदेशी आक्रान्ता जातियों में सबसे अधिक प्रभावशालिनी कुषाण जाति ही थी। इस जाति ने देश की राजनीति पर अपना प्रभाव डाला और कला के विकास तथा धार्मिक जीवन में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान था। कुषाणों के मूल और प्रारम्भिक इतिहास का विवरण हमें चीनी ग्रन्थों में प्राप्त होता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यू-ची जाति की शाखा के थे। मूलतः यू-ची लोग उत्तरी पश्चिमी चीन के कानसू नामक प्रान्त में निवास करते थे। शकों के विषय में पढ़ते हुए हम यह जान चुके हैं कि १७५–१६५ ई० पू० के लगभग ह्यूंग-नू लोगों ने यू-ची के महान और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। ह्यूंग-नू जाति के द्वारा पराजित और पश्चिमी चीन से निर्वासित कर दिये जाने पर ये लोग पश्चिम की ओर बढ़े जहाँ पर एक अन्य खानाबदोश जाति से उनकी मुठभेड़ हुई। यह जाति सी (Sse) अथवा शक थी जो सर दरिया (Iaxartes or Syr Darya) के तट पर रहती थी। पश्चिम की ओर आगे बढ़ने के पहले यू-ची लोगों की इली नदी की घाटी में निवास करनेवाली एक जाति से मुठभेड़ हुई थी। इस जाति का नाम वू-सुन था। इस मुठभेड़ में वू-सुन जाति के सरदार को समरभूमि में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े और यू-ची लोगों की गहरी जीत हुई। वू-सुन जाति को पराजित और उसके सरदार का वध करने के उपरान्त यू-ची जाति के लोग एक उपयुक्त निवास स्थान की खोज में पश्चिम दिशा की ओर बढ़े। इसी समय यह जाति दो शाखाओं में विभक्त हो गई। इस जाति के कुछ लोग दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े और तिब्बत की सीमा में निवास करने लगे। यहाँ पर रहनेवाले लोग सियाओ यू-ची अथवा छोटी यू-ची जाति के कहलाये। अन्य लोगों ने पश्चिम की ओर ही अपने प्रसार को जारी रक्खा। ये लोग मुख्य शाखा के थे। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है यू-ची जाति के लोगों ने सर दरिया के उत्तर में बसे हुए शकों को पराजित कर दिया और उन्हें निर्वासित कर उनकी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु अपने इस नवीन आवास में वृहत्तर शाखा के यू-ची अधिक काल तक के लिए ठहर न सके। जिस जाति को उन्होंने पहले पराजित कर दिया था उसी जाति ने इस समय उनसे बदला लेने का विचार किया। इस विचार से ही प्रेरित होकर वू-सुन जाति के नये नेता ने जो पुराने सरदार का ही पुत्र था ह्यूंग-नू की सहायता से १४० ई० पू० के लगभग यू-ची लोगों को उनके नये निवास-स्थान से खदेड़ दिया। विवश होकर ये आक्सस (वक्षु) नदी पार कर ताहिया या तुखार प्रदेश में प्रविष्ट हुए। ताहिया प्रदेश के निवासी अधिकांशतया व्यापारी थे। उनके समाज में कोई राजनीतिक संगठन नहीं था और उनकी प्रवृत्ति युद्ध की ओर भी बिल्कुल नहीं थी। फलतः उन्होंने यू-ची लोगों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहीं पर रहकर यू-ची जातिवालों ने अपनी शक्ति का संगठन किया और वहाँ के निवासियों को उत्पीड़ित किया। धीरे धीरे उन्होंने बाख्त्री और सोग्डियाना को विजित कर लिया और ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में अपने घुमक्कड़पन का परित्याग करके स्थायी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। इस समय यू-ची लोग पाँच भागों में विभक्त हो गये जिनके चीनी नाम इस प्रकार

वीम कडफिसस के सिक्कों से उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है जिसका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में (गान्धार शैली की संस्कृति और तत्कालीन धार्मिक अवस्था तथा शैवों के सम्बन्ध में) कर चुके हैं और जिसका इस स्थान पर पुनः उल्लेख करना असंगत नहीं जान पड़ता। यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य था भारतीय संस्कृति की प्रबल आकर्षण शक्ति और विदेशियों को अपने में पचा लेने की उसकी अद्भुत क्षमता। हम प्रथम कुषाण सम्राट के विषय में अध्ययन करते हुए देख चुके हैं कि उसने जिन प्रान्तों पर अपना अधिकार स्थापित किया था वहाँ की भारतीय जनता के धार्मिक विश्वासों का प्रभाव उसके ऊपर पड़ा था। यह प्रभाव कडफिसस द्वितीय के ऊपर और अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। उसके सिक्कों पर माहेश्वर लिखा मिलता है और उन पर एक ओर शिव तथा नन्दी की आकृति बनी हुई है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीम कडफिसस अपने धार्मिक विश्वासों में [illegible]

राजा राजाओं का राजा समस्त संसार का स्वामी माहेश्वर (वीम) रक्षक।

कनिष्क

वीम कदफिसस के बाद सम्भवतः कुषाण राज्य सिंहासन पर समासीन होनेवाला कनिष्क ही था। निस्सन्देह कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी और प्रभावशाली सम्राट था और प्राचीन भारत के महान् सम्राटों की पंक्ति में उसका स्थान अत्यन्त गौरवशाली है। उसके व्यक्तित्व और कार्यों का विवेचन हम आगे करेंगे पहले उसकी तिथि के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

उसकी तिथि—कनिष्क की तिथि निर्धारण की समस्या प्राचीन भारत के इतिहास की जटिलतम समस्याओं में से एक है। यह अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है कि कनिष्क का शासन काल कब से कब तक था और अनेक पाण्डित्यपूर्ण लेखों तथा मुद्रा विशेषज्ञों के बाद भी विद्वान् लोग इस विषय में एकमत नहीं हैं। इस मत वैभिन्य के बीच हम अपना कोई स्वतन्त्र मत नहीं दे सकते। विभिन्न मतों पर विचार कर लेना और किसी तर्कसंगत सम्भावना की ओर निर्देश कर देना ही हमारे लिए अलम् होगा। डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनों कदफिसीजों के पहले शासन किया और उसने उस संवत् का प्रचलन भी किया जो कालान्तर में विक्रम संवत् नाम से विख्यात हुआ। इतना ही नहीं फ्लीट साहब का विश्वास है कि कनिष्क ही नहीं वरन् उसके उत्तराधिकारियों के बाद दोनों कदफिसीजों ने राज्य किया। इस मत का समर्थन कनिंघम तथा डासन ने किया था और बाद में फ्रांके ने भी इसको स्वीकार किया था। कनेडी भी इस मत के समर्थकों में से था। परन्तु मार्शल ने इस मत का बड़ी ही योग्यता से खण्डन किया है। मार्शल की खोजों के बाद अब डा० फ्लीट के उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिलेखों, सिक्कों तथा ह्वेनसांग के साक्ष्य से इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि कनिष्क के राज्य में गान्धार भी सम्मिलित था परन्तु चीनी साक्ष्यों के अनुसार प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चिन मोकू चिमिन (कपिशा या गान्धार) पर शासन कर रहे थे, कुषाण लोग नहीं। एलन का विचार है कि कनिष्क

६५–७५ सन् ई० के मध्य निश्चित किया जाय तो कनिष्क की तिथि को प्रथम शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के बाद नहीं रखा जा सकता। कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि ७८ सन ई० मानने में जो विवादजनक प्रश्न उपस्थित होते हैं उनका निराकरण डा० सरकार महोदय ने किया है।[१] कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध में ७८ ई० सन् वाले मत का समर्थन करते हुए प्रोफेसर एन० एन० घोष ने लिखा है 'बाद की तिथि (अर्थात ७८ ई० सन वाली) इसलिये विशेष रूप से समान्य है कि अन्य कारणों के बीच यदि कनिष्क के शासन का प्रारम्भ हम दूसरी शती ई० में रखते हैं तो रुद्रदामन की स्वतन्त्र राजसत्ता के लिये जिसने १३०–१५० ई० में शासन किया आधार नहीं मिलता। रुद्रदामन की स्वतन्त्र राजसत्ता का जिसका विस्तार सिन्धु घाटी के निम्न प्रदेश को लेकर सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में था, कनिष्क के भारतीय साम्राज्य विस्तार के साथ किसी प्रकार सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो पाता। यह केवल उसी दशा में सम्भव है जब कि यह मान लिया जाय कि कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त तथा उसके उत्तराधिकारी के निर्बल शासन काल में पश्चिमी क्षत्रपों ने अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त कर ली जो उन्होंने कनिष्क प्रथम के नेतृत्व में कुषाणों की बढ़ती हुई लहर के आगे खो दी थी। कनिष्क के काल के सम्बन्ध में विद्वानों के पारस्परिक मत भेद का उल्लेख करते हुए इसी मत का समर्थन डा० रमा शंकर त्रिपाठी ने भी किया है। आप लिखते हैं, 'इस अनन्त शास्त्र विवाद के बावजूद भी हम कनिष्क द्वारा ७८ ई० के एक संवत् का संचालन नहीं जान पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने एक संवत् चलाया था क्योंकि उसकी गणना पद्धति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी प्रयुक्त हुई और उत्तर भारत में प्रचलित हम किसी अन्य संवत को नहीं जानते जिसका आरम्भ उस दूसरी शती ई० के प्रथम चरण में हुआ था जो तिथि कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में दी जाती है। उसके अतिरिक्त यदि प्रथम शती ई० के तृतीय चरण के मध्य में कुजूल कडफाइसिस मरा तब कनिष्क उस तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकता क्योंकि अस्सी वर्ष तक जीवित रहने के कारण, वीम कडफाइसिस का शासन अल्पकालिक हो रहा होगा।'

कनिष्क का मन्य ... --कनिष्क न केवल कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था वरन् वह एक वीर विजेता तथा महत्वाकांक्षी शासक भी था। अपने पिता और पितामह के द्वारा स्थापित साम्राज्य की सीमाओं ...
करता था। ...
किया। उत्तर, ... ने अपनी विजयों द्वारा अपने ... राज्य की ... बढ़ाया। सर्वप्रथम उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने अधिकार में किया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार कनिष्क के द्वारा काश्मीर में कई नगरों की स्थापना भी कराई गई थी। कनिष्क ने पार्थिया ... को युद्ध में पराजित किया। उसके ...
को हराया था। अपनी पराजय का बदला ...
के शासन काल के प्रारम्भ में ही उस पर ... । परन्तु उसका मनोरथ सफल न हो सका। यद्यपि अभी कनिष्क अपने राज्य को ठीक से संगठन भी न कर पाया था तथापि उसने पह्लवों को युद्ध में पराजित कर दिया और इस बार फिर उनको विजेता के हाथों अपमान सहना पड़ा। चीनी और तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार कनिष्क

[१] देखिए *The Age of Imperial Unity* pp 145 46

ने साकेत और पाटलिपुत्र पर भी अपना अधिकार किया था। यहाँ के शासकों के विरुद्ध उसके सैनिक प्रयत्न पूर्ण रूप से सफल हो गये। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र की विजय के सम्बन्ध में ही उस प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

किया था।

ही प्राप्त हुई

कर दिया। चीन के साथ कनिष्क के संघर्ष का विवरण बौद्ध अनुश्रुतियों द्वारा प्राप्त होता है। चीन देश का सुप्रसिद्ध सेनानायक पान चाऊ एक वीर योद्धा और सफल विजेता था। लगभग ईसा की पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में उसने चीन देश के पश्चिमी राज्यों पर एक के बाद दूसरा, इस प्रकार से धावा बोलना शुरू कर दिया और उन पर अपने देश का विजय पताका फहराने लगा। देखते ही देखते काशगर, यारकन्द और खुतन पर पान चाऊ का प्रभुत्व स्थापित हो गया। पड़ोस के राज्यों में भी उसके आतंक और प्रभाव का सिक्का जम गया। स्वयं भी एक महत्त्वाकांक्षी शासक होने के नाते कनिष्क पान चाऊ की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सका। उसे अपने राज्य के लिये भी उसकी ओर से भय था अतएव उसने चीनी सेनानायक से युद्ध ठानने का विचार किया। यह एक सोचने की बात है कि इस समय चीन की साम्राज्य-सत्ता कितनी पुष्ट और प्रभावशालिनी थी जिसको चुनौती देना साधारण काम नहीं था। पान चाऊ लगभग कैस्पियन सागर के तट तक पहुँच चुका था और रोमन साम्राज्य की सीमा पर आ गया था। अपनी विजयों के फलस्वरूप उसने चीन देश के राजनीतिक गौरव का सिक्का लोगों के हृदयों पर जमा दिया था। परन्तु इस बात का तनिक भी विचार न करते हुए कनिष्क ने चीन के सम्राटों की भाँति देवपुत्र की उपाधि धारण की और अपना एक राजदूत भेजकर चीनी राजकुमारी के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। पान चाऊ का यह प्रस्ताव अपने सम्राट और देश के लिये बड़ा ही अशोभन और अपमानजनक जान पड़ा। उसने भारतीय राजदूत को बन्दी बना लिया और चीन भेज दिया। अब स्पष्टतया युद्ध की घोषणा कर देने के अतिरिक्त कनिष्क के पास कोई दूसरा मार्ग नहीं था। उसने अपने सेनानायक की अधीनता में सत्तर हजार अश्वारोहियों की एक सुदृढ़ सेना चीनी सेनानायक के विरुद्ध भेज दी। मार्ग में पर्वतीय प्रदेश की कठिनाइयों द्वारा कनिष्क की सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि कनिष्क की बुरी तरह हार हुई। सन्धि स्वरूप कनिष्क ने चीन के सम्राट को वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

परन्तु यह सन्धि कनिष्क को अत्यन्त कष्टकर जान पड़ी। वह उपयुक्त अवसर की खोज में बैठा था कि कब अवसर मिले और वह चीनी साम्राज्य को कर देना बन्द करे तथा उससे साथ अपनी बराबरी दिखलाये। इधर पान चाऊ की मृत्यु हो जाने से साम्राज्य के देशों पर चीन की जो धाक पहले जम चुकी थी वह कम हो गई। पान चाऊ का युवा पुत्र पान-यौंग जिसके ऊपर अपने पिता के उत्तरदायित्व वहन का भार आ पड़ा था एक अनुभवहीन सेनानायक प्रमाणित हुआ। काश्मीर प्रदेश के मार्ग द्वारा पामीर की उपत्यकाओं में होता हुआ कनिष्क एक बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिये पहुँच गया। इस युद्ध में कनिष्क की विजय हो गई। चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से वह उऋण हो गया। इतना ही नहीं यारकन्द, खोतान और काशगर के प्रान्तों को कनिष्क ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

कनिष्क का साम्राज्य विस्तार—कनिष्क के साम्राज्य में भारत के बाहर का काफी विस्तृत भूभाग सम्मिलित था। अफगानिस्तान, बैक्ट्रिया, काशगर, खोतान और यारकन्द

निश्चित ही उसके राज्य के अन्तर्गत थे। उसके आभिलेखिक साक्ष्य में इस बात का प्रमाण मिलता है कि कनिष्क का अधिकार आधुनिक उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सिन्ध के उत्तर में मुल्तानपुर राज्य पर था। कनिष्क के अनेक लेख मथुरा में भी मिले हैं जिससे मथुरा का उसके अधीन होना स्वतः सिद्ध है। परन्तु चीनी अनुश्रुति उसे साकेत और पाटलिपुत्र का भी विजेता बतलाती है। उसके सिक्के भी श्रावस्ती, सारनाथ तथा कौशाम्बी इत्यादि से प्राप्त हुए हैं। पूर्व में गाजीपुर तथा गोरखपुर तक उसके सिक्के प्राप्त हुए हैं। इससे प्रतीत होता है कि पूर्व में वाराणसी तक तो अवश्य ही उसका अधिकार था। कनिष्क के तीसरे राज्यांक में सारनाथ में प्रतिष्ठित एक बोधिसत्वमूर्ति के पाद-पीठ पर खुदे हुए लेख से विदित होता है कि उस समय वाराणसी कनिष्क के साम्राज्य में थी। यद्यपि बंगाल और बिहार में भी कनिष्क के सिक्के मिले हैं तथापि इन प्रान्तों का उसके साम्राज्य में सम्मिलित होना संदिग्ध है। भारतीय सीमा के अन्तर्गत अन्य प्रदेशों पर भी [illegible] के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं [illegible] के नाम का एक [illegible] जो प्राचीन काल [illegible] था—उसके एक उच्चाधिकारी का लेख मिला है। पश्चिमी भारत में शकों के अधीन क्षत्रपों का जो शासन व्यवस्थापित था उसका अस्तित्व कुषाणों के ही हाथ में था। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सिन्ध, राजपूताना, मालवा और काठियावाड़ भी कनिष्क के राजनीतिक प्रभुत्व के भीतर नहीं किन्तु उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत अवश्य थे। काश्मीर पर कनिष्क के अधिकार के एक से अधिक प्रमाण मिलते हैं। राजतरंगिणी में कनिष्क के काश्मीर में शासन करने का उल्लेख मिलता है।[1] बौद्ध अनुश्रुतियों के द्वारा भी कनिष्क के काश्मीर पर अधिकार होने का प्रमाण मिलता है।

इस प्रकार यदि हम कनिष्क की साम्राज्य सीमाओं का विचार करें तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि वह एक बहुत बड़े भूभाग का स्वामी था। अपने समय के सबसे प्रभावशाली शासकों में वह अवश्य ही रहा होगा।

शासन प्रणाली—कनिष्क की शासन प्रणाली का विस्तृत विवरण तो हमें प्राप्त नहीं है किन्तु कुछ स्पष्ट बातें अवश्य मालूम हो जाती हैं। उसके सारनाथवाले अभिलेख से उसकी शासन-व्यवस्था पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह अपने इस विशाल साम्राज्य का शासन क्षत्रप शासन-व्यवस्था द्वारा करता था। उसके साम्राज्य का पूर्वी भाग महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनस्पर द्वारा शासित होता था। खरपल्लान उसका महाक्षत्रप था जो शायद मथुरा में था और वनस्पर वाराणसी का क्षत्रप था। [illegible] उत्तरी भाग में हम सेनानायक लल

[1] कल्हण ने अपने ग्रन्थ में कनिष्क के साथ दो अन्य राजाओं का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है "अपने अपने नामों पर तीन नगर बसाने वाले हुष्क, जुष्क और कनिष्क नाम के तीन राजा हुए। उनके राज्यकाल में काश्मीर देश में बौद्धों का ही प्राधान्य था।"

"अथाभवन् स्वनामाङ्कपुरत्रयविधायिनः ।
हुष्कजुष्ककनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः ॥
ते तुरुष्कान्वयोद्भूता अपि पुण्याश्रया नृपाः ।
प्रापुः राज्यकाले तेषां प्राय काश्मीरमण्डलम् ।
भोज्यमास्ते स्म बौद्धानां प्रव्रज्योर्जितवेतसाम् ॥"

और वेसपति तथा लियाव नामक क्षत्रपों के नाम सुनते हैं। विंसेंट स्मिथ साहब का अनुमान है कि महाराष्ट्र का क्षहरातवंशी नहपान और उज्जैन का क्षत्रप चष्टन कदाचित् कनिष्क के ही सामन्त थे। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। उसने अपनी राजधानी को अनेक भव्य भवनों सार्वजनिक शालाओं और बौद्ध विहारों से समलंकृत किया था। काश्मीर की कनिष्कपुर नगरी को भी सम्भवतः उसने ही बसाया था। परन्तु डा० राय चौधरी की धारणा है कि इस नगर की स्थापना आरा अभिलेखवाले कनिष्क के द्वारा कराई गई थी।

कनिष्क का धर्म—जैसा कि डा० राय चौधरी महोदय ने कहा है कनिष्क का यश उसकी विजयों पर उतना अधिक अवलम्बित नहीं जितना कि शाक्यमुनि के धर्म को उसके राजाश्रय प्रदान करने पर।[१] उसकी मुद्राओं तथा पेशावर (Casket) अभिलेख से यह विदित होता है कि उसने वास्तविक रूप में सम्भवतः अपने शासन काल के प्रारम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पुरुषपुर अथवा पेशावर में उसने एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध स्तूप के रूप में नवीं शताब्दी तक वर्तमान था जब कि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वीरदेव ने उसकी यात्रा की थी जो मगध के नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। कनिष्क के चैत्य का उल्लेख अलबरूनी नामक प्रख्यात मुस्लिम यात्री ने भी किया है।

परन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल कनिष्क ने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया। उसके विशाल साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे जिनमें सबके साथ उसने धार्मिक निष्पक्षता तथा सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसके सिक्कों से उसकी धर्म सम्बन्धिनी धारणा का परिचय हमें स्पष्टतया हो जाता है। उसके सिक्कों पर यूनानी ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम इस प्रकार थे—हेराक्लीज, सेरापिज सूर्य चन्द्र शिव और अग्नि आदि। उसकी राजसभा को जो गुणवान् व्यक्ति समलंकृत करते थे उनमें सभी धर्मों के अनुयायी सम्मिलित थे।

कनिष्क के व्यक्तित्व का मूल्यांकन—प्राचीन भारत के इतिहास में कुषाण सम्राट कनिष्क का अपना एक निश्चित स्थान है। अपनी सैन्य सफलताओं से जहाँ वह एक ओर हमें समुद्रगुप्त का स्मरण दिलाता है वहीं दूसरी ओर अपनी धर्मानुरागिता तथा बौद्धधर्म को अपने राज्याश्रय प्रदान करने के कार्य से वह महान अशोक की याद कराता है। बौद्धधर्म के इतिहास में तो उसका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। जैसा कि हम आगे इसी अध्याय में देखेंगे उसी के शासन काल में बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई थी जिसने महायान पंथ को बौद्धधर्म का एक स्वीकृत रूप प्रदान किया। कहना न होगा कि महायान बौद्धधर्म ही लोक रुचि के अधिक निकट था और जिस बौद्धधर्म का विदेशों में प्रचार हुआ वह महायान ही था। अशोक की भाँति उसने भी बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया और अपनी समस्त प्रजा के साथ धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करने में भी उसने इस महान सम्राट के द्वारा दिखाये हुए मार्ग का अनुगमन किया। अशोक की ही भाँति कनिष्क भी कलानुरागी तथा भवन निर्माता था। उसके द्वारा निर्मित

[१] his fame rests not so much on his conquests as on his patronage of the religion of Sakyamuni. *Political History of Ancient India* V Edition p. 475

बौद्ध विहार का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। जिस प्रकार पाटलिपुत्र में अशोक द्वारा बनवाए हुए राजप्रासाद की प्रशंसा आगे चलकर[1] फाह्यान नामक तीर्थयात्री ने की थी उसी प्रकार कनिष्क के बौद्ध चैत्य का प्रशंसा मिश्रित उल्लेख अलबरूनी ने किया था। अनश्रुति अशोक को नेपाल में ललितपाटन तथा काश्मीर में श्रीनगर की स्थापना का श्रेय प्रदान करती है। हम देख चुके हैं कि कनिष्क को भी नगरों की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। यहाँ भी अशोक और कनिष्क दोनों एक साथ ही ठहरते हैं। एक बात में कनिष्क अशोक से भी अधिक भाग्यवान् था और यहाँ वह समुद्रगुप्त अथवा अधिक औचित्य के साथ कहना चाहिए चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकक्ष है। हमें इस बात का कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं कि अशोक की राजसभा में गुणवान् व्यक्तियों का जमघट लगा रहता था। किन्तु कनिष्क की राजसभा को गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा की भाँति कई गुणवान् व्यक्ति अपनी उपस्थिति द्वारा समलंकृत करते थे। चन्द्रगुप्त के नवरत्नों की भाँति इन व्यक्तियों ने भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में निपुणता तथा ख्याति प्राप्त कर ली थी। न केवल बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र ही उसकी विशिष्ट कृपा के पात्र थे अपितु एक अन्य विद्वान् संघरक्ष भी सम्भवतः उसका पुरोहित था। नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक, जिसने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और जो महायान पन्थ का प्रबल समर्थक था तथा चरक, जिनका आयुर्वेद विषयक 'चरक संहिता' नामक ग्रन्थ अब भी चिकित्सकों के लिए श्रद्धा और विस्मय का कारण है कनिष्क की राजसभा को सुशोभित करते थे। माथर नामक कुशल राजनीतिक कुषाण सम्राट के मन्त्रियों में से एक था। यनानी इन्जीनियर एजेसिलस (Agesilaus) भी कनिष्क का समकालीन था। ये तथा अन्य गुणवान् व्यक्ति कनिष्क के शासन काल के धार्मिक साहित्यिक वैज्ञानिक दार्शनिक तथा कलात्मक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे।[2] विद्वानों को राज्यसंरक्षण प्रदान करने और गुणवानों को समादृत करने की दृष्टि से भारत के सम्राटों में कनिष्क का निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हमने ऊपर कनिष्क के जिन गुणों का उल्लेख किया है उनके द्वारा वह अशोक के साथ बैठता है। परन्तु जिस प्रकार प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी ने गुप्त में सम्राट समुद्रगुप्त और महान् सम्राट अशोक का स्मृतियों का समन्वय दिखलाया है उसी प्रकार हमने भी कनिष्क के व्यक्तित्व में उन गुणों की उपस्थिति का निर्देश किया है जिनके कारण वह समुद्रगुप्त तथा अशोक की स्मृति एक साथ दिलाता है। समुद्रगुप्त की भाँति कनिष्क भी एक महान् विजेता था। उसकी दिग्विजय का वृत्तान्त हम पीछे पढ़ चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने भुजबल द्वारा ही कनिष्क ने भारत के एक विशाल भू भाग पर अपना विजय-पताका फहराई थी। अपने पूर्वजों द्वारा उत्तराधिकार रूप में उसने जो राज्य प्राप्त किया था उसकी उसने केवल रक्षा ही नहीं की अपितु उसकी सीमा का विस्तार भी किया। उसकी महत्त्वाकांक्षा अदम्य थी। यद्यपि उसकी विशाल वाहिनी चीनी सेनानायक पान चाओ के साथ युद्ध करने में पर्वतीय मार्गों की कठिनाइयों के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी और इसी कारण से उसको पराजय भी उठानी पड़ी तथापि उसने कुछ समय बाद अपने ही पराक्रम से अपने अपमान का प्रतिकार किया और अपनी महत्त्वाकांक्षा को सन्तुष्ट किया।

[1] पाटलिपुत्र के राजप्रासाद का निर्माता तो सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य था, परन्तु उसको बढ़ाने, पुनर्निर्मित कराने तथा अधिक सुन्दर बनाने का श्रेय अशोक को ही है।

[2] *Political History of Ancient India* p. 478.

कनिष्क की शासन-व्यवस्था का कोई सुस्पष्ट विवरण हम ज्ञात नहीं जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि वह किस ... युग में प्रचलित ... रखे उसने अपनी ... सम्बन्ध में विचार

... उसने सम्भवतः काल-गणना की तीसरी पद्धति भी ग्रहण कर ली थी। उसके द्वारा दो पद्धतियों की स्वीकृति के विषय में तो कोई सन्देह है ही नहीं। यदि तीसरी पद्धति के ग्रहण कर लेने का हमारा अनुमान सत्य हो तो उसमें ...

... और स्थानीय जनता को पर्याप्त सुविधा होती थी। कनिष्क के इस कार्य से भी उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय प्राप्त होता है।

कनिष्क का शासन काल चतुर्थ बौद्ध संगीति के लिए विख्यात है। सम्राट अशोक के समय में भी एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया था जिसमें कुछ महत्वपूर्ण निश्चय किए गये थे जिनके द्वारा बौद्धधर्म के प्रचार को एक विशिष्ट गति और एक विशेष दिशा प्राप्त हुई थी। यही बात कनिष्क के शासन काल में भी हुई जिससे बौद्ध लेखकों की दृष्टि में कनिष्क का स्थान अशोक के ही बराबर है। अतएव अब हम कनिष्क के शासन काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना का अध्ययन करेंगे। यह घटना थी, बौद्ध संगीति का आयोजन।

कनिष्क के समय की बौद्ध संगीति—सम्राट कनिष्क ने स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार ही नहीं कर लिया वरन् इसके सिद्धान्तों का समर्थन करने की उसने चेष्टा भी की। परन्तु इस कार्य में उसको कठिनाइयों का अनुभव हुआ क्योंकि इस समय तक पहुँचकर बौद्ध धर्म का स्वरूप काफी अस्पष्ट हो गया था। सिद्धान्तों और धर्म के मूल तत्वों के प्रश्न पर नाना प्रकार के विवाद उठ खड़े हो गये थे। विभिन्न धर्माचार्यों के मतों में पारस्परिक द्वन्द्व काफी प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हो गये थे। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, पेचीदगी और जटिलता के भार से बौद्धधर्म का सरल और बोधगम्य शिक्षाएँ दब गई थीं। ऐसी स्थिति में उनको हृदयंगम करना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक प्रश्नों पर विभिन्न धर्माचार्यों के एकमत होने की आवश्यकता भी बहुत बलवती होती है। इन्हीं सब कारणों से कनिष्क के समय में बौद्ध संगीति का आयोजन करना अनिवार्य हो गया। बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि कनिष्क के राजत्व काल में जो बौद्ध संगीति बुलाई गई थी उसका उद्देश्य विवादास्पद ... करना था। इस चतुर्थ बौ... गया था। वसुमित्र ने सं... ... का कार्यभार स... स्थलों की परस्पर तर्क वि... वाद विवाद हुए उनको भाष्य रूप में संकलित कर लिया गया। ये भाष्य विभाषाशास्त्र कहलाये। त्रिपिटक पर ऐसे प्रामाणिक भाष्य की रचना हुई जिन्हें कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर खुदवाया। उनको एक पत्थर के सन्दूक में रखकर उसने उनके ऊपर से एक स्तूप का निर्माण करा दिया था। इस संगीति ने दो मुख्य कार्य किये। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध दर्शन की कतिपय नवीन विचार सरणियों के

विकास के प्रकाश में धर्म-ग्रन्थों को नये ढंग पर लिपिबद्ध किया। नवीन लिपिकरण में संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया था। संगीति का दूसरा कार्य महायान बौद्ध शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क उसका संरक्षक बना। इस बौद्ध संगीति में पाँच सौ विद्वानों ने भाग लिया था जो देश के प्रत्येक भाग से आये थे। संगीति का अधिवेशन छः मास तक होता रहा। (प्रोफेसर एन० एम० घोष)

महायान मत का उदय—बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क के राजत्वकाल में होनेवाली चतुर्थ संगीति का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि रालिन्सन महोदय ने लिखा है, यह बौद्धधर्म के इतिहास में नवीन युग के आरम्भ होने को सूचित करती है। यह (नवीन युग) या महायान का उदय या हीनयान के प्रारम्भिक बौद्धधर्म से उतना ही भिन्न है जितना कि मध्यकालीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ईसवी में ईसाइयों के सरल सिद्धान्तों से भिन्न है।[१] रालिन्सन का विचार है कि महायान पन्थ का उदय कुछ तो अश्वघोष सरीखे विद्वान् ब्राह्मणों के प्रयत्नों का प्रतिफल था जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और जो इसे हिन्दू धर्म के कुछ निकट लाना चाहते थे। परन्तु इसके उदय का कारण अधिकांश रूप में यह बात थी कि इसी बीच भारत में अनेक अभिनव प्रभावों का प्रवेश हो चुका था। ये प्रभाव थे—यूनानी, ईसाई, जरथुस्त्र का धर्म तथा मध्य एशिया के अनेक प्रभाव। जब बौद्ध धर्म विदेशी आक्रमणकारियों का धर्म हो गया तो इसका मूल रूप पूर्ण रूप से विलुप्त हो गया।[२] विन्सेन्ट स्मिथ साहब का भी मत इस सम्बन्ध में रालिन्सन के विचार से मिलता-जुलता है। स्मिथ साहब का कथन है कि जब से बौद्ध धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्तन होने लगा और उसमें भिन्न भिन्न धर्मों के तत्त्व आ मिले। परन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों को स्मिथ और रालिन्सन का यह मत मान्य नहीं है कि महायान के उदय का मूल कारण विदेशी आदर्शों का प्रभाव है। वास्तव में हमें रालिन्सन साहब का वह मत अधिक मान्य प्रतीत होता है यद्यपि वे स्वयं इस पर अधिक बल नहीं प्रदान करते कि यह अश्वघोष सरीखे विद्वान् ब्राह्मणों के प्रयत्नों का प्रतिफल था जो बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे।

---

[१] Kanishka's Council at Kashmir marks the beginning of a new epoch in the history of Buddhism. This was the rise of the Mahayana or Northern Church which differs as much from the primitive Buddhism of the Hinayana or Little Vehicle of the South as the mediaeval Catholic Church differs from the simple creed of the Christian era of the first century. —H. G. Rawlinson on *India—A Short Cultural History* p. 96

[२] The change was partly due to attempts of educated Brahmin converts like Asvaghosha to reconcile Buddhism with Hinduism. But it was due still more to the fact that in North Western Asia a number of new influences—Greek, Christian, Zoroastrian and Central Asian—had crept in. When Buddhism became the religion of the foreign invaders from the northern steppes it entirely lost its original character. वही, पृष्ठ ९६–९७।

महायान पथ के ऊपर विदेशी प्रभावों की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव अधिक स्पष्ट तया परिलक्षित होता है। महायान का उदय कनिष्क के पहले ही हो चुका था। जैसा कि प्रोफेसर एन० एन० घोष ने लिखा है महायान के बीज हीनयान सम्प्रदाय में ही निहित थे। प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त का भी कथन है कि पाली निकायों में ही ऐसे स्थल हैं जो महायान सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं। आपने महायान धर्म के उदय काल पर विचार किया है जिससे मालूम पड़ता है कि कनिष्क के समय में महायान पथ पहले ही से एक सजीव शक्ति के रूप में था। प्रसिद्ध विद्वान की सम्मति में महायान बौद्धधर्म का एक स्वीकृत रूप कनिष्क के ही समय में बना।[1]

हीनयान और महायान धर्मों में एक मौलिक अन्तर है। हीनयान धर्म का मोक्ष पर विशेष आग्रह है और मोक्ष के लिए वह व्यक्ति की इस कार्य के हेतु निरन्तर प्रयत्नशीलता को ही सबसे बड़ा साधन बतलाता है। बुद्ध ने अपने शिष्य से इस बात पर जोर देकर कहा था कि तुम अपने शरण्य आप बनो, अपने लिए दीपक बनो आदि। उन्होंने यह भी कहा कि अपने निर्वाण का प्रयत्न तुम स्वयं परिश्रमपूर्वक करते रहो। परन्तु महायान मत में भक्ति का समुचित स्थान दिया गया। एक करुणामय उपास्य देव की कृपाशीलता पर जोर दिया गया। हीनयान धर्म में बुद्ध केवल एक शास्ता के रूप में ही थे परन्तु महायान धर्म में उन्हें देवता का स्थान दिया गया। उनको परमात्मा समझा जाने लगा और उनकी मूर्ति बनाकर लोगों ने उनकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। महायान धर्म में अवतारवाद के सिद्धान्त को स्थान मिला। राॅलिन्सन ने लिखा है कि बुद्ध जी अब एक दिवंगत गुरु के रूप में नहीं रह गये बल्कि एक जीवित रक्षक देवता बन गये जिन्होंने राम अथवा कृष्ण की भाँति मानवता की मुक्ति के लिए अवतार ग्रहण किया था। अवतारों का सिद्धान्त जिसका प्रयोग वैष्णव हिन्दू धर्म तथा जैन धर्म में हो रहा था बौद्ध धर्म के द्वारा ग्रहण कर लिया गया। ऐतिहासिक बुद्ध आदि बुद्ध के अवतारों की एक शृंखला की अन्तिम कड़ी के ही रूप में समझे गये और अधिकाधिक रूप में वे पृष्ठभूमि में पड़ गये।[2]

अवतारवाद और भक्ति के समावेश से बौद्ध धर्म का स्वरूप काफी परिवर्तित हो गया। हीनयान धर्म शुष्क और सिद्धान्तपरक था। इसकी दृढ़ आचारवादिता साधारण जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थी क्योंकि ज्ञान और वैराग्य उसकी शक्ति के बाहर की बातें हैं। साधारण जन ऐसे इष्टदेव की खोज करते हैं जो उनके जीवन के संघर्ष विषयों में उनकी सहायता करे और जिसकी उपासना के लिए उन्हें संसार का परित्याग न करना पड़े। जीवन के हास विलास सुख-दुःख हर्ष शोक जय-पराजय

[1] इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए *The Age of Imperial Unity* Chapt XIX Religion and Philosophy

[2] Buddha ceased altogether to be a dead teacher and became a living saviour God incarnate like Rama or Krishna for the salvation of human race The theory of Avatars or incarnation which was being applied to Vaishnave Hinduism and Jainism was adopted by Buddhism The historical Gautama was regarded as merely the latest of a series of incarnations of the Adi Buddh or Primeval Spirit and fell more and more into the Background

तथा क्रन्दन-ह्रास का अनुभव करते हुए ही साधारण जन इस भवसागर से पार उतरना चाहता है। इस कार्य में इष्टदेव उसकी सहायता करते हैं और उनकी पूजोपासना में तल्लीन रहकर वह अपनी अभीष्ट सिद्धि करता है। हीनयान प्रमुख रूप से ज्ञान और पाण्डित्य सम्पन्न व्यक्तियों तथा संन्यासियों के लिए था। इसकी शुष्कता निरीश्वरवादिता और स्वावलम्बन पर इसके प्रबल आग्रह आदि ऐसे तत्त्व थे जो जनसाधारण के लिए नितान्त दुर्बोध थे। यह बात स्मरणीय है कि अशोक को भी बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ इसके कतिपय सिद्धान्तों को लोकरुचि के अधिक निकट लाने का प्रयत्न करना पड़ा था। उसने हीनयान धर्म के मोक्ष के आग्रह के स्थान पर अपनी प्रजा के सम्मुख स्वर्ग के दिव्य दृश्य प्रस्तुत किये। महायान धर्म में उन तत्त्वों का समावेश किया गया जिसके द्वारा यह जनसाधारण की आध्यात्मिक पिपासा को अभितृप्त करने के योग्य हुआ। भक्ति और सर्वभूतानुकम्पा इस धर्म के अभिन्न अंग बन गये।

महायान बौद्ध धर्म ने विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार को सुगम कर दिया। एक समय में भारत के अन्दर बौद्धधर्म बड़ा ही लोकप्रिय था जिसका कारण महायान धर्म का उदय था। कुछ विद्वानों का विचार है कि जब साधारण जनता ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तो महायान का उदय अवश्यम्भावी हो गया। महायान के उदय के कारणों पर विचार करते हुए डा० त्रिपाठी ने अपनी यही सम्मति प्रकट की है। वे लिखते हैं "यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नहीं तथापि इस बात को मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था। इसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म में भक्ति समावेश के साथ माना जाना चाहिए। बौद्ध धर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद तक इसका कारण हो सकता है क्योंकि उस हीनयान के आदर्शवाद से ऊपर उदार जनधर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्ति का प्रज्वलित करने की सामर्थ्य न थी।' भारतीय सीमा के बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचुर प्रचार का श्रेय महायान को ही है, हीनयान को नहीं। महायान मत ने प्राचीन बौद्धधर्म में नवजीवन का सञ्चार कर दिया जिससे अपने नये रूप में वह भारतीय सीमाओं को लाँघकर शीघ्र विदेशों में जा फैला। तिब्बत, चीन, बर्मा और जापान ने बौद्ध धर्म के नये रूप को उसी क्षण अङ्गीकार कर लिया।

कनिष्क का निधन—कुछ दन्तकथाओं द्वारा विदित होता है कनिष्क का निधन दुःखद और करुण रूप में हुआ था। उसके सेनापतियों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके उसका वध कर दिया। उसके सरदार और सेनापति उसके युद्धों से तंग आये थे जिससे उन्होंने रात्रि के समय उसकी हत्या कर डाली। कुछ विद्वानों का कथन है कि कनिष्क ने ४५ वर्ष तक राज्य किया। परन्तु अन्य विद्वानों का विचार है कि उसने २३ वर्ष तक राज्य किया था। यही मत में अधिक मान्य प्रतीत होता है। इस प्रकार उसका निधन (७८+२३) १०१ सन् ईसवी के लगभग हुआ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट कनिष्क था जिसके देहावसान के अनन्तर इस वंश का राजनीतिक गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। कनिष्क के बाद वासिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। वासिष्क के विषय में इतिहास नितान्त मूक है। उसके सिक्के भी प्राप्त नहीं हुए हैं। सम्भवतः उसने अपने नाम से सिक्के चलवाये ही नहीं। हुविष्क के विषय में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। उसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि

हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। सम्भवतः हुविष्क वही हुष्क है जिसके विषय में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि वह काश्मीर के हुष्कपुर नामक नगर का संस्थापक था। कल्हण के विवरण से यह अनुमान होता है कि हुविष्क ने जुष्क और कनिष्क अर्थात् वासिष्क और आरा अभिलेख (४१वें वर्ष) वाले कनिष्क

(मिहिर) मनबगो (Manaobago (Mao ... देवता) ... सूर्य देवता ... देवी ओनानी या ... (The goddess Oanis or Oanuida यह देवता शओरीरो Shaoreoro (फारसी शाहरेवर) और भारतीय देवता ... (विष्णु)-मासेनो (महास
महासेन की आकृतियां हैं।
की आकृतियां उत्कीर्ण हैं।
एक भारतीय देवता की आकृति दिखाई पड़ती है जिसके हाथ में एक धनुष है और 'गणेश' ... लेख में स्पष्ट रूप से लिखा है। सम्भवतः यह देवता शिव हो। एक सोने का सिक्का हुविष्क की बताई जाती है यह पता चलता है कि वह विष्णु का भक्त था।[1] इस बात का हमें कारण ज्ञात नहीं है कि हुविष्क की मुद्राओं पर बुद्ध भगवान की आकृति क्यों खुदी नहीं मिलती। केवल इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हुविष्क बौद्धधर्म के प्रति उदासीन था अथवा उसकी बुद्ध के प्रति श्रद्धा नहीं था। बौद्ध अनुश्रुति कनिष्क की भांति उसे भी बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा पोषक बतलाती है। हुविष्क स्वयं बौद्ध धर्म का रक्षक था और मथुरा में एक अभिलेख से एक ऐसे विहार का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका निर्माण महाराज, राजातिराज देवपुत्र ने करवाया था। यह भी सम्भव हो सकता है कि विहार का नामकरण उसी के नाम से कर दिया गया हो। हुविष्क ने लगभग ० वर्षों तक शासन किया।

वासुदेव—हुविष्क के अनन्तर वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी बना। इस नृपति का नाम यह स्पष्टतया सूचित करता है कि कुषाण वंश का भारतीयकरण अब पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था। उसकी ज्ञात तिथियां ६७ से लेकर ९८ के बीच तक की हैं जो कि ईसवी सन की १४५ और १७६ तिथियां हैं। उसके लेख और सिक्के केवल मथुरा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त से ही मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि उसका अधिकार इन्हीं प्रदेशों तक सीमित रह गया था और कुषाण साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा का निर्माण करनेवाले प्रदेश उसके हाथों से निकल गए थे। अफगानिस्तान, काश्मीर, सिन्ध, मालवा आदि देशों पर निश्चितरूप से इस समय कुषाणों का अधिकार नहीं था।

---

[1] देखिए *The Age of Imperial Unity* p. 150

वासुदेव के सिक्कों पर विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियाँ नहीं प्राप्त होती। उसकी अधिकांश मुद्राओं पर शिव तथा उनके वाहन नन्दी की ही आकृति बनी हुई है। यद्यपि नाम से इसके वैष्णव धर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया जा सकता है तथापि वासुदेव शैव था, वैष्णव नहीं।

वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम सम्राट था जिसका राजनीतिक प्रभुत्व बिलकुल क्षीण नहीं होने पाया था। किन्तु उसके समय में ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो गया था। उसके बाद के कुषाण राजाओं का इतिहास प्रायः तिमिरावृत सी है। इस बात में सन्देह से देह भी कि भारतीय वासुदेव के राज्यकाल (१४५–१७६ सन ईसवी) के शीघ्र बाद ही कुषाण राजसत्ता का ह्रास होने लगा। सब क्षत्रप जो सम्राट कनिष्क प्रथम के प्रति अपना दासभाव स्वीकार करते थे अब स्वतन्त्र शासकों की भाँति शासन करने लगे। पश्चिमी और मध्य भारत के विशाल भू भागों पर उनकी राजसत्ता स्थापित हो गई।

था, विशेषतया वर्तमान उत्तर

मस्तक ऊँचा किया और यह ... कुषाण शासन का उन्मूलन कर दिया गया जहाँ पर एक नाग-परिवार सत्तारूढ़ हो गया। नागों की अधीनता में भारत में एक राज्य शक्ति का उदय हुआ जिसके प्रबल वेग में कुषाणों का साम्राज्य बह गया।

कुषाण-युग की सभ्यता और संस्कृति

कुषाण-युग की सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न रूपों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम इसके सांस्कृतिक गौरव पर दृष्टिपात करें। मौर्य युग की भाँति इस काल की सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के पीछे भी एक विशाल साम्राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधायें थीं, जिनके अभाव में सम्भवतः संस्कृति की विशेष उन्नति सम्भव न थी। मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त प्रथम बार कुषाण साम्राज्य ही इतना विशाल था जिसके अन्तर्गत न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत अपितु इसके बाहर के भी पर्याप्त भाग मध्य एशिया तक के थे। इस प्रकार भारत की विस्तृत ... स्थापित हुआ। इस दृष्टि से कुषाण युग भारतीय संस्कृति के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस युग में उदीयमान ईसाई धर्म पूर्ण विकसित बौद्ध धर्म के साथ एशिया तथा मिस्र की पाठशालाओं और बाजारों में मिला, जब विदेशी धर्म वातावरण में मूर्ति पूजावादिता के प्रभाव से विभिन्न रूपों में उत्पन्न थे और असंख्य कलाकृतियों के प्रभाव से भी हिन्दू बहुदेववाद के रूपों की अभिव्यक्ति प्रदान की। भारत के महान धर्म ने मानव-विचार के विकास के लिए अपना योगदान किया जो गमनागमन के विकसित साधनों तथा प्रतिद्वन्द्वी सभ्यताओं के बीच संघर्ष से उत्तेजित हुआ था (स्मिथ)। स्वयं बौद्ध धर्म भी एक नितान्त व्यक्तिगत जीवन दर्शन से विश्व-धर्म में परिणत हो गया और खोतान द्वारा मध्य एशिया के व्यापार मार्गों से होकर फैल गया जहाँ पर भारत और चीन एक दूसरे से मिले।[1]

— "The Kushan Period is one of the utmost ... in the history of Indian culture. During this period nascent Christianity met full grown Buddhism into the academies and

1 एच० जी० रालिन्सन, *India—A Short Cultural History* p. 104.

markets of Asia and Egypt while both religions were exposed to the influences of surrounding paganism in many forms and of the countless works of art which gave expression to the forms of polytheism The ancient religion of Persia contributed to the ferment of human thought excited by improved facilities for international communication and by the incessant clash of rival civilisations Buddhism itself was transformed from a highly individualistic philosophy of life into a world religion and along the central Asian trade routes through Khotan where India and China meet to China itself

कुषाण युग में कई नवीन तत्वों का उदय हुआ जिनका बाद में भारतीय संस्कृति में काफी महत्वपूर्ण स्थान हो गया। महायान धर्म को बौद्ध धर्म का ही स्वरूप समझने की स्वीकृति गान्धार कला तथा बुद्ध प्रतिमायें ऐसे ही कुछ तत्व थे। बुद्ध तथा हिन्दू देवी-देवताओं की मानव आकृति में प्रतिमायें इसी समय से बनाई जाने लगी। कुषाण युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में डा० राय चौधरी का कथन है[1] "कुषाण युग महती साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था इसका प्रमाण हमें अश्वघोष नागार्जुन तथा अन्य विद्वानों की कृतियों से प्राप्त होता है। यह धार्मिक उत्तेजना तथा धर्म प्रचार सम्बन्धी कार्यों का भी युग था। इसी युग में शैव धर्म तथा इससे सम्बन्धित कार्तिकेय सम्प्रदाय महायान बौद्ध धर्म और मिहिर तथा वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदायों का विकास हुआ और इस युग ने काश्यप मातंग (६१–६७ सन् ईसवी) द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश करते हुए देखा। कनिष्क के वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वीय एशिया का द्वार खोल दिया

That the Kushan age was a period of great literary activity is proved by the works of Asvaghosha Nagarjuna and others It was also a period of religious ferment and missionary activity It witnessed the development of Savism and the allied cult of Karttikeya of the Mahayan form of Buddhism and the cults of Mihir and Vasudeo Krishna and it saw the introduction of Buddhism into China by Khyapa Matanga (C A D 61 67) The dynasty of Kanishka opened the way for Indian Civilization to Central and Eastern Asia

सर्वप्रथम हम कुषाण-युगीन सभ्यता की सबसे प्रमुख विशेषता पर विचार करेंगे। यह विशेषता थी—विदेशों से साथ इसका घनिष्ठ सम्पर्क। कनिष्क ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी विस्तृत सीमाओं का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। हिन्दूकुश पर कनिष्क का राज्य स्थापित हो जाने और काशगर, खोतान तथा यारकन्द के उसके राज्य में सम्मिलित हो जाने से गमनागमन और यातायात की सुविधायें बहुत बढ़ गई। एक ओर व्यापारियों के काफिले अपनी विक्रय-सामग्रियों के साथ विभिन्न मार्गों से आने जाने लगे और दूसरी ओर धर्म प्रचारक अपने धर्म को फैलाने के लिए विदेशों की यात्रा करने लगे। डा० राय चौधरी का यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है कि कनिष्क

[1] *Political History of Ancient India* पृ 4"8

क-वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वी एशिया का द्वार खोल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय से विदेशों में, विशेषतया मध्य और पूर्वी एशिया में, ... संस्कृति का प्रचार होने लगा। पाश्चात्य जगत के साथ
क्योंकि गमनागमन और यातायात के
फिसीज द्वितीय के समय से भारत का
विदेशी व्यापार काफी उन्नतिशील हो गया। हम पीछे इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि रोमन लेखक प्लिनी ने अपने देशवासियों की मूर्खता पर अश्रुपात किया है कि वे भारत की विलास-सामग्रियों के बदले में अपनी सुवर्ण मुद्रायें देते हैं। रोमन साम्राज्य की सुवर्ण मुद्रायें भारत में इतनी बहुलता से प्राप्त हुई हैं कि प्लिनी का कथन असंदिग्ध रूप से सत्य प्रमाणित हो जाता है। विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने से भारत को दोतरफा लाभ हुआ। पहला लाभ तो यह था कि विदेशों में इसकी संस्कृति का प्रचार हुआ और दूसरा लाभ था, पाश्चात्य जगत के धन का व्यापारिक सम्बन्धों के फलस्वरूप देश में प्रवेश। यह सोचना असम्मत नहीं मालूम पड़ता कि कुषाण युग की आर्थिक समृद्धि ने सभ्यता की उन्नति को एक प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया।

साहित्यिक उन्नति—जैसा कि डा० राय चौधरी ने कहा है यह युग महती साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था। इस युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका रूप एकांगी नहीं था। इस समय केवल विशुद्ध साहित्य-ग्रन्थों की रचना ही न हुई अपितु दर्शन शास्त्र तथा चिकित्सा विज्ञान पर भी ग्रन्थ लिखे गये। अश्वघोष, नागार्जुन और चरक युग की साहित्यिक क्रियाशीलता के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। श्री जी०बी० रालिंसन ने लिखा है कि साहित्य के अभिनव स्वरूप प्रकाश में आते हैं नाटक तथा महाकाव्य अपना रूप दिखलाते हैं और साहित्यिक संस्कृत का विकास होता है।[1] यद्यपि रालिन्सन महोदय के कथन को हम केवल कुषाण-युग के लिए स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इससे पहले भी नाटकों और महाकाव्यों का प्रणयन किया जा चुका था तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इसके लिए कुषाण-युग का भी महत्त्व काफी है। एक विदेशी राजवंश के राजत्व काल में देववाणी संस्कृत का इतना अधिक उन्नति होना निस्सन्देह उस राजवंश के लिए गौरव का कारण है। और जब हम यह देखते हैं कि युग की साहित्यिक प्रगति में इस वंश के शासकों का भी सक्रिय सहयोग था तो उनके लिए हमारे हृदयों में श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्राट कनिष्क के विषय में हम पढ़ चुके हैं कि वह विद्वानों का आश्रयदाता था। वासुदेव का समीकरण विद्वानों ने उसी नाम के एक राजा के साथ किया है जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में कवियों के आश्रयदाता तथा 'सभापति' (विद्वानों की सभा के अध्यक्ष)—के रूप में किया है। अन्य कुषाण सम्राट भी साहित्यानुरागी थे यद्यपि उनके राज्य-काल की साहित्य-सृजना का कोई स्पष्ट विवरण हमें ज्ञात नहीं।

अश्वघोष कुषाण-युग की साहित्यिक प्रगति का नेता और अग्रदूत था। वह सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न था। वह एक दार्शनिक लेखक नाटककार संगीतज्ञ तथा महाकवि था। तथागत के जीवन पर शुद्ध और सरल साहित्यिक शैली में लिखा हुआ उसका महाकाव्य 'बुद्धचरित' संस्कृत काव्य का एक उज्ज्वल रत्न है। अश्वघोष दार्शनिक

[1] New literary forms come to light the drama and the court epic make their appearance and classical Sanskrit is evolved'

और नैतिकता का पुजारी था परन्तु शायद सबसे पहले वह एक कवि था इसीलिए

उपयोग कर सकता है। अप्सराओं के सौन्दर्य-वर्णन में वह वाल्मीकि से प्रभावित जान पड़ता है। अन्य स्थलों पर भी रामायण का काव्य गुणों का प्रभाव सुस्पष्ट है। अश्वघोष की दूसरी कविता कृति सौन्दरानन्द काव्य है जिसके अठारह सर्गों में बुद्ध द्वारा अपने चचेरे भाई नन्द को अपने मत में दीक्षित कर लेने की घटना का वर्णन है। अश्वघोष के काव्यों में कतिपय मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो उसकी मौलिकता का सुन्दर परिचय देते हैं।[1] महाकवि होने के साथ ही अश्वघोष नाटककार भी था। उसने अनुश्रुति के अनुसार तीन नाटकों का प्रणयन किया था। सारिपुत्र प्रकरण निश्चित रूप से उसी की कृति है। वज्रसूची को भी कुछ विद्वान अश्वघोष की रचना बतलाते हैं जिसमें लेखक ने जाति-व्यवस्था की निन्दा करने में ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ने दर्शन के ग्रन्थों की रचना की। 'माध्यमिक कारिका' और सुहृल्लेखा उसके दो विख्यात ग्रन्थ हैं। 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' में उसने माध्यमिक दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह ब्राह्मण शास्त्रों में भी पारंगत था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि महायान धर्म की व्याख्या उसने इस रूप में की कि यह धर्म [illegible] विद्वानों को भी रुचिकर लगा। महायान धर्म पर लिखने वालों में नागार्जुन ही सबसे प्रथम [illegible] था। वसुमित्र भी इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक था। चरक को कनिष्क का रा[illegible] है [illegible] पर [illegible]
महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।
है। यद्यपि यह ग्रन्थ ए[illegible]
शैली में नीरसता कहीं भी नहीं है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी बात से समझा जा सकता है कि आज से बहुत पहले ही इसका अनुवाद अरबी और फारसी भाषाओं में किया जा चुका था। चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में चरक के सिद्धान्त आज के विकसित वैज्ञानिक युग में भी माने जाते हैं। चरक ने चिकित्सकों के लिए आचार के जिस उन्नत मानदण्ड की व्यवस्था की है वह सर्वथा स्तुत्य है। यह कहना [illegible] है कि चरक के ग्रन्थ पर यूनानी प्रभाव है।

कुषाण युग की कलात्मक प्रगति—महायान धर्म की भक्तिवादिता ने कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न कर दी। इस युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नहीं किया जाता था। भरहुत और साँची के स्तूपों में बुद्ध की उपस्थिति को संकेतों अथवा प्रतीकों द्वारा चित्रित किया जाता था। यदि बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना हुआ तो एक आरोही रहित अश्व दिखला दिया जाता था जिसका अभिप्राय यह होता था कि इसी अश्व पर आरूढ़ होकर तथागत ने गृहत्याग किया था। परन्तु ज्यों-ज्यों बौद्ध उपासकों के हृदयों में भक्ति भावना का सञ्चार होता गया

[1] The effect on art was tremendous, for the spirit of worship released and gave expression to the higher emotions in which the roots of all great art found —Christmas Humphreys *Buddhism* p 290

व भगवान् बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। निश्चय रूप से भक्ति भावना का उदय कला के विकास के लिए बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ और आगे चलकर भारत में कला की जो प्रचुर उन्नति हुई उसमें इसका बहुत महत्वपूर्ण योगदान था। एक लेखक के शब्दों में कला के ऊपर प्रभाव ... गम्भीर था क्योंकि इसी भावना ने उन उच्चतर भावों की अभिव्यक्ति प्रदान की जिनमें समस्त महत्ता कला के मूल पाये जाते हैं। भारत में बौद्धों की मूर्तियों के सबसे प्राचीन नमूने गान्धार कला के हैं अतएव इस पर अलग से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

गान्धार कला—गान्धार-कला से तात्पर्य ...
जिसका विकास ...
निकटवर्ती ... जलालाबाद, हड्डा और बमियाँ
स्वात घाटी ... जला। गान्धार-कला को इण्डो-ग्रीक कला के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं किन्तु उनकी शैली यूनानी है। बुद्ध भगवान की जो मूर्तियाँ इस शैली की शिल्पविधि द्वारा निर्मित ... हैं। उनकी मुद्रायें ... हैं परन्तु मूर्तियों के ...

में अपोलो की मूर्तियों से ... कला का प्रभाव है क्योंकि ... परम्परा के अनुकूल मूर्तियों का निर्माण करना, इस बात ... जान पड़ता है कि तथागत ने संन्यास ग्रहण करने पर अपने केश मुड़वा दिये थे। इसी प्रकार बोधिसत्वों की मूर्तियों पर भी यूनानी कला की छाप सुस्पष्ट है। बोधिसत्व यूनानी राजाओं की तरह लगते हैं। उनके वस्त्र बहुत ... हैं और वे रत्नाभूषणों से मण्डित हैं। वे किसी प्रकार भी आध्यात्मिक जगत् के पुरुष नहीं प्रतीत होते वरन उनको देखने से ऐसा जान पड़ता है मानो वे किसी देश के नृपति हों। यही नहीं भगवान बुद्ध को भी ... के पूर्व उनकी मूर्तियों में उन्हें यूरोपियन वेशभूषा तथा गहनों से युक्त दिखलाया गया है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्तियों की प्रेरणा इसी देश की होने पर भी उनकी शिल्पविधि अधिकांश रूप में यूनानी अथवा रोमन है। धर्मचक्र मुद्रा, ध्यान मुद्रा, अभय-मुद्रा और वरद-मुद्रा आदि विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियों का निर्माण किया गया है।

... बहुत समय तक पाश्चात्य कला-समालोचकों का यह विचार था कि भारत की सर्वश्रेष्ठ कला का निर्माण गान्धार कला द्वारा ही होता है परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। पूर्व और पश्चिम की कला-सम्बन्धी धारणायें परस्पर एक दूसरे से इतनी विरोधिनी हैं कि एक विदेशी कला शिल्प के माध्यम द्वारा इस देश की धार्मिक और आध्यात्मिक भावना की समुचित अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। कला के क्षेत्र में भारत के ऊपर पश्चिम का प्रभाव केवल गान्धार में ही सर्वत्र और इसके द्वारा एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि होती है कि भारतवासियों में विदेशी प्रभावों को ग्रहण करने की तत्परता तथा उन्हें अपने देश की मौलिक परम्पराओं में पचा लेने की अद्भुत क्षमता थी। भारत के कलाकारों ने गान्धार कला के माध्यम द्वारा मूर्ति-निर्माण की जो शिक्षा प्राप्त की उसको उसने आगे चलकर, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसी समय एक दूसरे कलाकेन्द्र (मथुरा) में मौलिक और स्वतन्त्र रूप से विकास किया। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि गान्धार-कला एक अत्यन्त उच्चकोटि की कला है। जिस आदर्श और भावना को अभिव्यक्त करने के लिए इस कला का उद्भव हुआ

था उसको पाश्चात्य कलाकार ठीक से समझ न पाये जिससे वे अपने कार्य में सफल न हो सके। प्रोफेसर ए० कुमारस्वामी ने ठीक ही लिखा है कि पश्चिमी रूपों का समस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप से खोजा जा सकता है परन्तु गांधार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है क्योंकि बोधिसत्वों की सन्तुष्ट अभिव्यक्ति और कुछ-कुछ आडम्बरपूर्ण वेशभूषा तथा बुद्ध मूर्तियों की स्त्रैण तथा निर्जीव मुद्रायें बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाती।[1] गांधार की मूर्तियों में कलाकार की सच्चाई का अभाव दृष्टिगोचर होता है। डा० नीहाररंजन रे के शब्दों में ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हो।

They seem to have been turned out in large numbers from workshops established for the purpose almost in a mech anical manner as it were This explains why in spite of their depicting the entire Buddhist legendary and historical cycle in all its minutest details the reliefs appear to be mech nical and without any character bereft of any emotional sympathy or spontaneity, and lacking in sincerity[2]

कुषाण युग में गांधार के अतिरिक्त और भी कलाकेन्द्र थे जहाँ पर कला की काफी उन्नति हो रही थी। ये कलाकेन्द्र सारनाथ अमरावती और मथुरा में थे। इनमें से प्रत्येक की एक अलग शैली थी एक दूसरे से अप्रभावित। हाँ सारनाथ और मथुरा से प्राप्त मूर्तियों की निर्माण-कला में कुछ समानता अवश्य पाई जाती है। अमरावती से प्राप्त पाषाण वेष्टनियों पर उत्कीर्ण चित्रों की अद्वितीय कारीगरी शिल्प का विलक्षण नमूना प्रस्तुत करती है। गांधार और मथुरा कुषाण युग की कलात्मक प्रगति के केन्द्र थे। गांधार कला का अध्ययन हम कर चुके हैं। मथुरा की कलात्मक प्रवृत्तियों का विवेचन कर चुकने के बाद हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

मथुरा में भी इस समय बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि मथुरा की मूर्तियों पर गांधार कला का किस सीमा तक प्रभाव है। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि मथुरा की मूर्ति-कला पर न केवल गांधार-कला का प्रभाव ही है अपितु उसका उद्भव ही गांधार कला की अनुकृति द्वारा हुआ है। परन्तु इस कथन को अन्य विद्वान स्वीकार नहीं करते। रालिंसन महोदय का कथन है कि उस समय समकालीन कला का एक विशुद्ध देशी सम्प्रदाय जिसका भरहुत और साँची से उद्भव हुआ था मथुरा भीटा बेसनगर तथा अन्य केन्द्रों में प्रचलित था। पहले यह प्रवृत्ति थी कि बुद्ध महावीर

---

[1] The influence of the Western forms on all later Indian and Chinese Buddhist art is clearlytraceable but the actual art of Gandhara gives the impression of profound insincerity for the complacent expression and somewhat foppish costume of the Buddhistras and the effeminate and listless geture of the Buddha figures but faintly expres the spiritual energy of Buddhist thought —Ananda Kumar Swamy *Buddha and the Gospel of Buddhism* p 323

[2] *The Age of Imperial Unity* p 519

और हिन्दू देवताओं की मूर्ति निर्माण के आविष्कार को विदेशी प्रभावों के कारण बताया जाता था परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर विद्वान सहमत हैं कि इसका उद्गम मथुरा के देशी कलाकारों के द्वारा खोजा जाना चाहिए न कि गान्धार में।[१] रालिन्सन के मत का समर्थन क्रिस्टमस हम्फ्रीस ने भी किया है The latest opinion indeed is that the earliest Buddha image of the Mathura school were pre Gandharan and that the latter's history runs parallel to and independent of the main current of Indian art (*Buddhism* p 210) डा० नीहार रंजन रे ने इस सम्बन्ध में कहा है कि मथुरा की सबसे प्राचीन मूर्तियाँ जो मरहुत की कला से जो द्वितीय शताब्दी ईसा से पूर्व के मध्य की है सम्बद्ध हैं। आपने आगे बताया है कि गान्धार की बुद्ध प्रतिमायें मथुरा में अज्ञात न थीं वास्तव में अनेक नमूनों में उनकी अनुकृति है और कतिपय Reliefs तथा अलंकरण के तरीकों में भी गान्धार शिल्प विधि की सम्भावना की गई है परन्तु मथुरा की कला में अनुकरण की यह प्रवृत्ति ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व नहीं दिखलाई पड़ती। डा० रे के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे मथुरा की कला को स्वदेशी उत्पत्ति मानने के विरोधी नहीं। डा० फोगल का मत है कि मथुरा की कला में भाव की कल्पना तथा अनुकरण की विधि नितान्तरूपेण भारतीय है। परन्तु वे इस कला पर गान्धार-कला का कुछ प्रभाव अवश्य स्वीकार करते हैं। आपका विचार है कि इस कला में दो प्रकार की कला परम्पराओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक ओर तो भरहुत तथा साँची की प्राचीन कला शैली विद्यमान है और दूसरी ओर गान्धार कला का भी यत्किञ्चित प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वास्तव में डा० रे और फोगल का मत ही ठीक प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मथुरा कला का उद्गम स्वदेशी स्रोतों से हुआ था और इसका विकास भी अनेक अंशों में उन्हीं के आधार पर हुआ था परन्तु आगे चलकर इसके ऊपर गान्धार कला का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा।

मथुरा कला की समस्त कृतियाँ सरलतापूर्वक पहचानी जा सकती हैं। कारण यह है कि इनके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया जाता था जो मथुरा के समीप वर्ती सिकरी नामक स्थान से प्राप्त होता था। ईसा सन की प्रारम्भिक शताब्दी में मथुरा की कलात्मक क्रियाशीलता बहुत अधिक बढ़ गई। यहाँ की मूर्तियाँ बाद में मध्य एशिया और तक्षशिला एवं सारनाथ तथा श्रावस्ती को भेजी जाती थीं। भगवान बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं का गान्धार और मथुरा दोनों स्थानों में उत्कीर्ण किया गया है। ये घटनायें हैं—(१) जन्म (२) सम्बोधि, (३) धर्मचक्रप्रवर्तन (४) महापरिनिर्वाण। इन चार प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त बुद्ध के जीवन की तीन गौण घटनाओं को भी उत्कीर्ण किया गया है। ये घटनायें हैं—(१) इन्द्र का भग

---

[१] At the same time a purely indigenous school of contemporary art lineally descended from that of Bharhut and Sanchi appears to have flourished at Mathura Bhita Besnagar and other centres It was formerly the custom to attribute to foreign influence the innovation of making representations of the Buddha Mahavira and the Hindu god but it is now generally agreed that this must be traced to the indigenous artists of Mathura rather than to Gandhara *India—A Short Cultural History* pp 101 102

बोन बुद्ध का दर्शन (२) बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आ जाना और (३) लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पण करना।[1] मथुरा की कुषाण कालीन मूर्तियों की अपनी कतिपय विशेषतायें हैं। मथुरा की मूर्तियाँ अपनी नग्नता और विशालता के लिए विख्यात हैं। मस्तक को मूंछयुक्त नहीं दिखलाया गया है। गांधार कला की तरह मथुरा की मूर्तियों पर मूंछ बिलकुल नहीं है। बालों और मूंछों से रहित प्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा विशुद्ध रूप से भारतीय है और इस दृष्टि से गांधार और मथुरा की बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। मथुरा की कुषाण कालीन मूर्तियों के दाहिने कन्धे पर वस्त्र नहीं रहता। दाहिना हाथ अधिकतर अभय मुद्रा में पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि गांधार कला में बुद्धों को बहुधा पद्मासन अथवा कमलासन में समासीन दिखलाया गया है किन्तु मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पाया जाता है। खड़ी मूर्तियों के दोनों पैरों के बीच सिंह की आकृति बनी रहती है। मूर्तियों में प्रभामण्डल का प्रयोग हम गांधार तथा मथुरा दोनों की तक्षण कलाओं में दिखलाई पड़ता है और दोनों के ही प्रभामण्डल अलंकृत हैं। किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं में किनारों पर वृत्ताकार चिह्न दृष्टिगत होता है। यदि हम मथुरा और गांधार की प्रतिमाओं का सूक्ष्मरूप से अध्ययन करें तो यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि कला की इन दो विभिन्न शैलियों का उद्भव और विकास पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मथुरा की कला स्वदेशी थी अतएव गुप्त युग के कलाकारों ने इसी कला शैली को अपनाया और इसको चरम विकास पर पहुँचा दिया। प्रोफेसर आनन्द कुमारस्वामी यह विश्वास करते हैं कि गुप्त-युग की मूर्ति-कला का आदि स्रोत मथुरा की ही तक्षणकला है।

मथुरा-कला की एक प्रमुख प्रवृत्ति पर हम विचार करना उचित जान पड़ता है। यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला का भरहुत और सांची की कलाओं के साथ निकट का सम्बन्ध है और रालिन्सन के शब्दों में Lineally descended from that of Bharhut and Sanchi इसका उद्भव ही भरहुत तथा सांची की कला से हुआ है। परन्तु मथुरा की कला एक बात में अपनी पूर्ववर्तिनी कला-शैली से नितान्त भिन्न है। सांची और भरहुत की कलाकृतियों में एक प्रकार की सूक्ष्म प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता का आभास मिलता है जिसका मथुरा की कला में एकान्त अभाव है। वृक्ष लतादि गुल्मों के मध्य स्थित या खड़ी हुई नारी प्रतिमाओं में सांची तथा भरहुत की कला शैली में उन उन्नत उरोजों और विकसित नितम्बों को देखकर प्रकृति की उर्वरता का आभास प्राप्त होता है। इन सांची और भरहुत की निर्मित मूर्तियों और स्थापत्य चिन्हों से हमें यह अवश्य विदित होता है कि इनको निर्माण करनेवाले कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं था और प्रकृति तथा मानव शरीर के प्रति उनका दृढ़ अनुराग था परन्तु उनमें इन्द्रियपरकता

[1] यह बात स्पष्ट है कि बुद्ध के जीवन की जिन तीन गौण घटनाओं को उत्कीर्ण कराया गया है, वे ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन से किसी प्रकार भी सम्बन्धित नहीं हैं। इन घटनाओं की कल्पना उस समय की गई जब महात्मा बुद्ध को ईश्वर का अवतार समझा जाने लगा। उनके जीवन को अनेक रहस्यमय और विचित्र कथाओं से संयुक्त कर दिया गया। इस प्रकार की कल्पनायें ब्राह्मण धर्म की पौराणिक कथाओं के साथ गहरा साम्य रखती हैं।

का बू नहीं आता। उनकी ध्वयात्मकता और अभिव्यक्ति मानसिक है शारीरिक नहीं। मनुष्य व इहलोकपरक जीवन का चित्रण करते हुए भी वे दर्शकों को मानसिक और आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करते हैं। परन्तु मथुरा की कला इस बात में भरहुत और साँची से भिन्न है। इस कला शैली में हम स्वतः स्फूर्ति (Spontaneity) के अभाव और कुछ कृत्रिमता के दर्शन होते हैं। इसमें इन्द्रियपरकता भी काफी अधिक है। मथुरा की यक्षिणियों की प्रतिमायें हमारे चित्त पर प्रभाव कम डालती हैं हमारी इन्द्रियों को वे अवश्य आन्दोलित करती हैं। मथुरा के कलाकार का उद्देश्य, मालूम पड़ता है इन्द्रियपरक और कामुकता से परिपूर्ण था[१]। मथुरा की यक्षिणी मूर्तियों के विषय में डा० रंजन रे ने लिखा है

An intimate connection with Sunga and Kushan terracottas is at once suggested both in theme and treatment and a lineal relationship with the Yakshinis and Vrishtas of Bharhut Budh Gaya and Sanchi is also equally undeniable. But what had been spontaneous movement has now become conscious gestures and what stood for symbols or emblems have now become vehicles of sensuouus and erotic suggestivenss Full round breasts and full heavy hips are no lenger just conveyors of the idea of fertility but suggest warm and living flesh relaxed or tight

यदि यक्षिणी प्रतिमायें प्रथम शताब्दी के बाद की हों तो यह अनुमान हो सकता है कि इन पर गान्धार-कला का प्रभाव स्पष्ट था क्योंकि गान्धार कला में मानवाकृति के हूबहू चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता था। किन्तु यदि गान्धार के प्रभाव की बात झूठी हो तब भी यह तो स्पष्ट है कि इस काल के कलाकार में कालिदास के शब्दों में शिथिलसमाधिता का दोष आ गया था जिसका परिहार गुप्त-युग के कलाकारों ने किया।

Questions

Agra University

1 Sketch the history of the reign of Kanishka I (1947)

2 Describe briefly the reign of Kanishka I with special reference to his sciences in the cause of Budhism (1949)

३ कनिष्क (प्रथम) के शासनकाल का भारतवर्ष के धार्मिक तथा कलाकौशल के इतिहास में क्या महत्व है ? (१९५०)

१ यहाँ पर हमें एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि यद्यपि गुप्त काल की मूर्ति कला का उद्भव मथुरा की तक्षण कला से हुआ है, तथापि इसमें कृत्रिमता और इन्द्रियपरकता का किञ्चित्मात्र भी समावेश नहीं है। गुप्त काल के कलाकार की सौन्दर्य वृत्ति तीव्र थी किन्तु उसकी उदात्तनैतिक भावना, जो उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के साथ संयुक्त थी, उसे सौन्दर्यवृत्ति का संयमित तथा नियन्त्रित कर देती थी। यही कारण है कि गुप्त कालीन तक्षण कला का दर्शक के चित्त पर स्थायी एवं अक्षय प्रभाव पड़ता है।

४ कनिष्क (प्रथम) के शासन काल का भारत के धार्मिक तथा कलाकौशल के इतिहास में क्या महत्व है ? (१९५२)

५ कनिष्क प्रथम के राजकाल का इतिहास लिखिए तथा उसके साम्राज्य के विस्तार की विवेचना कीजिए। (१९५३)

६ कुषाण कौन थे ? कनिष्क की विजया एवं सफलताओं पर एक नोट लिखिए। (१९५६)

7 Define the extent of Kanishka s empire and relate the conquests by which it was won Examine his work as a patron of Buddhism (1943)

8 Who were the Kushanas ? When did they rule and where ? Who was most notable ruler of their dynasty ? What do you know of his Career ? (1947)

Allahabad University

1 Describe the growth and extent of the Kushan Empire (1956)

2 Who were the Kushanas ? Bring out clearly growth of their empire under Kanishka (195)

3 Who were the Kushanas ? Bring out clearly the growth of their empire under Kanishka (1958)

4 Discuss the importance of Kanishka s reign in the history of the Buddhism and of Indian art (1958)

१६ | कुषाणों के बाद का उत्तरी भारत

कुषाण साम्राज्य का पतन इतिहास की कोई नवीन घटना नहीं है। सभी साम्राज्य एक न एक दिन धूलि में अवश्य मिले हैं। रोम का विशाल साम्राज्य भी काल के क्रूर थपेड़ों के सम्मुख अधिक दिनों तक टिक नहीं सका। इसी प्रकार लगभग डेढ़ सौ वर्षों के पश्चात् कुषाणों का साम्राज्य भी विनष्ट हो गया। इस बात पर विद्वानों में परस्पर मतभेद है कि किस शक्ति ने कुषाण सत्ता का उन्मूलन किया। स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल ने अपना यह विचार प्रतिपादित किया था कि नागों की शक्ति ने भारत से कुषाणों को उन्मूलित कर दिया। बाद में प्रवरसेन प्रथम के नेतृत्व में वाकाटकों ने कुषाणों के उन्मूलन का कार्य सम्पन्न किया। परन्तु डा० जायसवाल के इस मत को डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर स्वीकार नहीं करते। आपका कथन है कि गंगा की घाटी में कुषाण सत्ता के लुप्त हो जाने के रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं जब कि हम समकालीन राज्यों के अभिलेखों और सिक्कों का अच्छी तरह से अध्ययन करें। यदि हम ऐसा करते हैं तो हमें पता चलेगा कि यौधेय, कुनिन्द, मालव, नाग और मघ जिन्होंने तीसरी शताब्दी में स्वतन्त्र राजसत्ताओं की भाँति अपने अपने सिक्के चलवाये, उन सबने कुषाणों को निकालने में अपना योग दिया। डा० अल्तेकर साहब कहते हैं कि यद्यपि इस समय तक कुषाण लोगों का भारतीयकरण सम्पन्न हो चुका था तथापि यहाँ के निवासी यह अवश्य सोचते थे कि वे लोग (कुषाण) विभिन्न वंश के हैं और उनके पड़ोसियों ने जिनकी गणतन्त्रात्मक परम्परायें काफी प्राचीन थीं अपनी स्वतन्त्रता की दुन्दुभिनाद करने का सुवर्ण अवसर हाथ से न जाने दिया जब उन्होंने देखा कि कुषाणों की राजसत्ता नितान्त क्षीण हो गई है। इस समय जो साक्ष्य उपलब्ध हैं उनसे इस विचार की पुष्टि नहीं होती कि समस्त गण राज्यों ने परस्पर संगठित होकर एक सामान्य नेतृत्व के अधीन कुषाणों को बाहर निकालने का प्रयत्न किया था। सम्भवतः यौधेयों का गणराज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था और इसी ने कुषाणों की विनाशोन्मुखी राजसत्ता के उन्मूलन का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य में उनके निकटवर्ती पड़ोसियों कुनिन्दों और अर्जुनायनों ने उनका साथ दिया। जब इन लोगों को अपने कार्य में सफलता मिली तो पद्मावती के नागों और राजपूताना के मालवों का भी उत्साह बढ़ा और उन्होंने भी उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की।[1]

इस प्रकार यदि हम इस युग के सिक्कों और अभिलेखों का भलीभाँति अध्ययन करें तो हमारे सम्मुख कुषाणों के बाद से लेकर गुप्तों के उदय तक के राजनीतिक इतिहास का एक चित्र सा खिंच जाता है। अतएव हम इस युग को भी भारतीय इतिहास का अन्ध-युग (Dark Age in Indian History) नहीं कह सकते जैसा कि

---

1 देखिए ए० एस० अल्तेकर, *A New History of the Indian People* Chapter II Vol VI और आर० सी० मजूमदार और ए० एस० अल्तेकर *The Vakataka Gupta Age*

डा० विंसेंट स्मिथ ने कहा है। अभिलेखों और मुद्राओं के अतिरिक्त पुराणों में भी हम इस युग के इतिहास को समझने में यत्किञ्चित सहायता प्राप्त होती है। सब साक्ष्यों को मिला देने से इस युग के विषय में हमारा ज्ञान काफी अधिक हो जाता है। हम इन गणराज्यों के इतिहास का संक्षिप्त अध्ययन करते हुए इस युग की घटनाओं पर भी प्रकाश डालते चलेंगे। यदि हम संक्षेप में इस युग की राजनीतिक प्रवृत्ति का विवेचन करना चाहें तो हम कहेंगे कि यह युग विदेशी सत्ता के विरुद्ध देश के विभिन्न राज्यों द्वारा प्रबल प्रतिरोध का युग था। विदेशी सत्ता का उन्मूलन हो जाने पर देश में एक राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव होता है धर्म की पुनर्स्थापना होती है और कला साहित्य तथा संस्कृति की अभूतपूर्व उन्नति का श्रीगणेश होता है। नाग भारशिवों के अधीन ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान होता है और गुप्त युग के महान राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सबसे पहले हम उन गणराज्यों का अध्ययन करेंगे जिन्होंने कुषाणों की सत्ता नष्ट करने में अपना अपना योग दिया। बाद में नाग भारशिवों के इतिहास पर प्रकाश डाला जायगा।[१]

यौधेय—वास्तव में कुषाणों की शक्ति को प्रथम धक्का देने का श्रेय यौधेयों को ही मिलना चाहिए और यह एक अद्भुत बात है कि इस सम्बन्ध में उनकी उपलब्धियों का विवेचन अनेक आधुनिक इतिहासकारों के ध्यान में नहीं आया।[२] यद्यपि यौधेयों के विस्तृत इतिहास का विवरण हमें उपलब्ध नहीं है तथापि उनकी प्रबल राजनीतिक शक्ति और महान प्रभाव के प्रमाण हम मिलते हैं। कुषाण-साम्राज्य के उदय के पूर्व यौधेयों की शक्ति काफी सुदृढ़ थी और उनका राज्य उत्तरी राजपूताना तथा दक्षिणी पूर्वी पंजाब के एक विशाल भूभाग तक फैला हुआ था। किन्तु शीघ्र ही विदेशी कुषाणों का राज्य उत्तरी-पश्चिमी भारत में स्थापित हो जाने पर कनिष्क के अधीन जब इस वंश की राजनीतिक सत्ता काफी बढ़ गई तो यौधेयों की शक्ति को काफी धक्का पहुँचा। जैसा कि पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कनिष्क ने उत्तरी भारत के राज्यों को पराजित कर पूर्व में बनारस तक अपना अधिकार जमा लिया था अतएव कनिष्क के समय यौधेयों की शक्ति का काफी ह्रास हो गया। कनिष्क और हुविष्क के शासन काल में जब कि कुषाणों की शक्ति अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर थी यौधेयों को लगभग एक अर्ध शताब्दी के समय तक सिर उठाने का अवसर नहीं मिल सका। परन्तु उनकी स्वातन्त्र्यप्रियता अधिक काल तक दबाये न रह सकी और १४५ ई० के लगभग उत्तरी पूर्वी राजपूताने में उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा किया। उनके इस उत्थान का दमन करने का कार्य शक महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम को सौंपा गया जो अपना जूनागढ़ प्रशस्ति में इस बात का सगर्व उल्लेख करता है कि उसने किस प्रकार से यौधेयों का मानमर्दन किया जो समस्त क्षत्रियों द्वारा अपने शौर्य के लिए सम्मानित किए जाने के कारण अभिमानी हो गये थे और जिन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। परन्तु रुद्रदामन के द्वारा पराजित किये जाने पर भी यौधेयों का उत्साह हत नहीं हुआ। कुछ दिनों तक वे प्रतीक्षा करते रहे और दूसरी शताब्दी की समाप्ति के निकट उन्होंने फिर एक बार अपनी स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा किया।

---

[१] हम इस अध्याय के लिए *A New History of the Indian People Vol VI The Vakataka Gupta Age* और *The Age of Imperial Unity* के पूर्ण रूप से आभारी [illegible] ।

[२] *The Vakataka Gupta Age* p 28

यद्यपि उपर्युक्त मत का आधार पूर्ण रूप से मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य है तथापि इस बात में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि यह मत सर्वसम्मत प्रतीत होता है। यह सत्य है कि कुषाणों और यौधेयों के संघर्ष का कोई प्रत्यक्ष विवरण नहीं उपलब्ध है तथापि सिक्कों में यह स्पष्टतया सूचित हो जाता है कि कुषाणों को पराजित करने के बाद ही यौधेयों को अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई होगी। कनिष्क तृतीय (१८० से लेकर २१० सन् ईसवी तक) और वासुदेव द्वितीय (२१० से २४० सन् ईसवी) के सिक्के सतलज के पूर्व में प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए यह स्पष्ट है कि सतलज के पूर्वीय प्रदेशों पर उनका अधिकार नहीं रह गया था। इसके विपरीत यौधेयों के वे सिक्के जिनका प्रचलन उन्होंने कुषाणों की राजनीतिक शक्ति का ह्रास हो जाने के बाद किया था और जिन पर तीसरी अथवा चतुर्थ शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में लेख खुदे हुए हैं प्रचुर परिमाण में सतलज तथा यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में प्राप्त हुए हैं। यही प्रदेश इस समय यौधेयों की निवास भूमि बन गया था जिसमें वर्तमान सहारनपुर, देहरादून दिल्ली, रोहतक लुधियाना और कांगड़ा के जिले सम्मिलित थे। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रदेश पर यौधेय लोग कुषाण शक्ति को विनष्ट करके ईसा की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में शासन करने लगे थे। यौधेयों के सिक्कों पर 'यौधेय गणस्य जय' लेख लिखा हुआ मिलता है। आज भी सतलज घाटी का सारा प्रदेश भावलपुर राज्य तक इन्हीं यौधेयों के नाम पर योधियावार कहलाता है।

यौधेयों की उपरोल्लिखित सफलता निस्सन्देह काफी महान और विस्मय उत्पन्न करनेवाली है। कुषाणों की राजसत्ता बैक्ट्रिया से लेकर बिहार तक के विस्तृत प्रदेश पर थी जिसके साधन काफी प्रचुर थे और जिसके राजाओं ने एक शताब्दी से अधिक समय तक देवपुत्र की उपाधि धारण की थी। यौधेयों के विद्रोह को कुचलने के लिए कुषाणों ने उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त और मध्य एशिया की अपनी चुनी हुई सैन्य टुकड़ियों का प्रयोग किया होगा परन्तु कोई भी शक्ति यौधेय गणराज्य की देशभक्ति तथा वीरता का दमन नहीं कर सकी।

यौधेयों ने कुषाणों के ऊपर जो विजय प्राप्त की उससे उनके सम्मान तथा यश में बहुत अधिक अभिवृद्धि हुई। रुद्रदामन की जूनागढ़ प्रशस्ति से प्राप्त होनेवाले साक्ष्य द्वारा हमें विदित होता है कि यौधेय लोग अपनी वीरता के कारण सभी क्षत्रियों द्वारा सम्मानित किये जाते थे। जब उन्होंने विदेशी कुषाणों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली जिससे यह विश्वास किया जाने लगा कि उनके पास कोई जादू मंत्र था जिसकी सहायता से वे सभी परिस्थितियों में और सभी आपत्तियों पर विजय प्राप्त कर सकते थे।[१]

विदेशियों की सत्ता का उन्मूलन करके अपनी विजय के उपलक्ष्य में यौधेयों ने नये सिक्के चलवाये। ये सिक्के तौल आदि बातों में कुषाण मुद्राओं से काफी अधिक मिलते-जुलते हैं। लेकिन कुषाणों के सिक्के पर विदेशी लिपियों यूनानी तथा खरोष्ठी में लेख लिखे हैं, किन्तु यौधेयों ने अपने सिक्कों पर देश की राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी में लेख उत्कीर्ण कराये। सिक्कों पर "यौधेयगणस्य जय" से उनकी विजय घोषणा सूचित होती है। कार्त्तिकेय को जो महाभारत के समय से लेकर यौधेयों के देवता थे, इन सिक्कों पर सम्मान का स्थान प्राप्त है।

---

१ लुधियाना में यौधेयों के सिक्कों के साथ एक मिट्टी की मुहर प्राप्त हुई है जिस पर यह लेख लिखा है, "यौधेयानां जयमन्त्रधराणाम्"।

अपने स्वाधीनता संग्राम में यौधेयों को सम्भवत अपने पड़ोसी कुणिन्दों से काफी महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई थी। सतलज और व्यास नदियों की ऊपरी घाटियों में यौधेयों के गणराज्य के उत्तर में कुणिन्दों ने अपना राज्य स्थापित किया था। यौधेयों की भांति कुणिन्द लोगों का भी प्रथम शताब्दी के मध्य में पूर्व एक स्वतन्त्र गण राज्य था और सन् ७० ई० के लगभग उनको भी कुषाणों के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा। छत्रेश्वर नामक एक कुणिन्द शासक के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर २०० सन् ईसवी के अक्षरों में महात्मन् तथा भागवत की उपाधि उत्कीर्ण है। ये सिक्के वजन आकार तथा अन्य बातों में यौधेयों के सिक्कों से काफी मिलते जुलते हैं जिनके ऊपर दूसरी ओर कार्तिकेय की आकृति खुदी हुई है। सिक्कों की इस गहरी समानता के द्वारा इस विचार को बल प्राप्त होता है कि कुणिन्दों और यौधेयों के गणराज्य एक दूसरे के समकालीन थे और तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में अपनी स्वतन्त्रता पुन प्राप्त करने के लिये उन्होंने साथ मिलकर प्रयत्न किया। यौधेयों की तुलना में कुणिन्दों का गणराज्य काफी छोटा था और ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में कुणिन्द लोग यौधेयों में मिल गए। कुणिन्दों के सिक्कों के प्रसार से यह प्रतीत होता है कि यह गणतन्त्र सिवालिक पहाड़ियों के नीचे यमुना और सतलज के बीच के एक संकीर्ण भूभाग में अवस्थित था और जैसा ऊपर कहा जा चुका है इसमें सतलज तथा व्यास की ऊपरी घाटी का भाग सम्मिलित था। कुणिन्दों का एक राजा अमोघभूति जिसका उल्लेख महाभारत में महाराजा के रूप में किया गया है इण्डो-यूनानी आकार के सिक्कों द्वारा जाना जाता है। इनमें से कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों में लेख लिखे हुये हैं और कुछ सिक्कों पर केवल ब्राह्मी में ही। कुणिन्दों का एक दूसरे प्रकार का सिक्का भी मिला है जो कुषाणों के तांबे के सिक्कों के आकार का है और जिस पर शिव की आकृति तथा ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ भगवत छत्रेश्वर महात्मन लेख उत्कीर्ण है। छत्रेश्वर[1] के रूप में शिव इस गणराज्य के पूज्य देवता थे जिनके नाम पर सिक्के चलाये जाते थे। आमतौर से यह विश्वास किया जाता है कि अमोघभूति ने इण्डो-यूनानी साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्त के निकट अपने राज्य का निर्माण किया था और छत्रेश्वर सिक्के कुषाणों के पतनोपरान्त द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी के अन्त में चलवाये गये थे। यद्यपि यह धारणा असंगत नहीं प्रतीत होती तथापि यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत होती है कि दोनों प्रकार के सिक्के एक ही युग में चलवाये गये थे। यह मत सम्बन्धी साक्ष्य के विरुद्ध न होगा यदि अमोघभूति जिसका शासन काल काफी लम्बा था का काल ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी के निकट निर्धारित किया जाय। उसके सिक्कों के खरोष्ठी लेखों और यूनानी सिक्कों के साथ उनकी आकारसदृशता से सम्भवत इस बात का संकेत मिलता है कि उसकी सत्ता उन प्रान्तों पर भी विद्यमान थी जहाँ पर यूनानी सिक्कों का प्रचलन इस समय भी था। इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में किन्हीं भी सिक्कों का प्रचलन पूर्णरूप से कभी बन्द नहीं होता था। यह प्रतीत होता है कि अमोघभूति के पश्चात कभी कुणिन्द लोग कुलूतों के द्वारा पराजित कर दिये गये।[2]

---

[1] छत्रेश्वर का अभिप्राय छत्र या क्षत्र के स्वामी से है जो सम्भवत कुणिन्दों की राजधानी थी।

[2] *Age of Imperial Unity* p 161 Footnote 1

कुषाणों की सत्ता का उन्मूलन करने के काम में भाग लेनेवाला तीसरा गणतन्त्र आर्जुनायनों का था। आर्जुनायन लोग अपने को पाण्डवनरेश अर्जुन की सन्तान बतलाते थे। इसी प्रकार यौधेयों को भी युधिष्ठिर का वंशज बताया गया है। आर्जुनायनों का गणराज्य यौधेयों के राज्य के दक्षिण पश्चिम में था। इसमें आगरा जयपुर का क्षेत्र सम्मिलित था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यौधेयों और कुणिन्दों की भाँति आर्जुनायनों ने भी कुषाणों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था और अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में उन्होंने भी सफलता प्राप्त कर ली थी। आर्जुनायनों का गणराज्य चतुर्थ शताब्दी के मध्य तक फलता फूलता रहा। समुद्रगुप्त के द्वारा विजित राज्यों में आर्जुनायन गणराज्य का नाम भी मिलता है। इस गणराज्य के सिक्के मिले हैं जिन पर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम दशाब्दों की ब्राह्मी लिपि में 'आर्जुनायनानां जय' लिखा हुआ मिलता है। इस बात का कारण आज तक भी विद्वान् बता नहीं सके हैं कि आर्जुनायनों के और अधिक सिक्के कुषाणों के पतन के बाद वाले क्यों नहीं प्राप्त हुए हैं जब कि यौधेयों के इस प्रकार के सिक्के प्रचुर परिमाण में मिले हैं। समुद्रगुप्त द्वारा विजित कर लिये जाने पर भी आर्जुनायनों का अस्तित्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सका। छठी शताब्दी में वाराहमिहिर ने आर्जुनायनों का उल्लेख उत्तरी अथवा उत्तरी पश्चिमी भारत की महत्वपूर्ण जातियों में किया है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि यौधेयों, कुणिन्दों और आर्जुनायनों में परस्पर स्नेह सम्बन्ध था और कालान्तर में इन तीनों का एक सामान्य संगठन भी बन गया था। डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के ही शब्दों में, जिनके हम इस अध्याय के लिए पूरी तरह से ऋणी हैं, "इस समय चलाये गये यौधेयों के कुछ सिक्कों पर हम लोगों को रहस्यपूर्ण शब्द द्वि (दो) और त्रि शब्द 'यौधेयगणस्य जय' लेख के बाद लिखे हुए मिलते हैं। इन शब्दों का कोई सन्तोषजनक अर्थ इस समय नहीं दिया जा सकता। परम्परागत विश्वासों के अनुसार आर्जुनायन और यौधेय पाण्डव भाइयों धर्म तथा अर्जुन की सन्तान थे। यह सम्भव है कि इस विश्वास ने इन दो पड़ोसी राज्यों के बीच एक प्रकार के संघ के निर्माण में सुविधा प्रदान की हो। हमने यह पहले ही देखा है कि किस प्रकार कुणिन्दों के २५० सन् ईसवी के बाद यौधेयों में मिल जाने की सम्भावना प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय पाकर इन तीनों गणराज्यों में एक प्रकार का संघ बन गया हो। यह काम इस आवश्यकता के अनुभव से भी किया गया होगा कि इन तीनों राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया जाय जो सीदियन आक्रमण का, यदि वह फिर कभी आ पड़े तो, सफलतापूर्वक सामना कर सके। यौधेयों के कुछ परवर्ती सिक्कों पर दो और तीन शब्द कदाचित् यौधेय गणसंघ के दूसरे और तीसरे सदस्यों कुणिन्दों तथा आर्जुनायनों का संकेत करते हैं।"[1]

मद्रों का भी एक गणराज्य था जिसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। यौधेयों की सफलता से उत्साहित होकर मद्रों ने भी अपनी स्वाधीनता स्थापित करने का प्रयत्न किया और वे रावी चेनाब के दोआब में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हो गये। सम्भवतः उनकी राजधानी सियालकोट में थी। मद्रों के इतिहास के विषय में डा० अल्तेकर ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में लिखा है "मद्र लोग सम्भवतः कठों से भिन्न न थे जिनके प्रजासत्तात्मक राज्य का उल्लेख

[1] *The Vakataka Gupta Age* pp. 31 32.

सिकन्दर के वश नहीं किया है। इनकी राजधानी स्यालकोट थी। शत्रु के सम्मुख सिर झुकाकर प्राण बचाने से इन्होंने अन्त तक सिकन्दर के विरुद्ध लड़ते लड़ते मर जाना ही अच्छा समझा। इनका गणराज्य चौथी सदी ईसवी तक वर्तमान था। ऐसा प्रतीत होता है कि मद्रों ने अपने सिक्के नहीं चलवाये कम से कम उनके सिक्के प्राप्त हो नहीं हुए हैं। मद्रों के स्वतंत्र गणराज्य की स्थापना का मुख्य सम्बन्धी साक्ष्य हमें नहीं प्राप्त होता किन्तु समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इस गणराज्य का नाम आता है जिससे यह प्रतीत होता है कि मद्रों का अपना एक गणराज्य था।

कुषाण साम्राज्य के पूर्व औदुम्बरों का भी एक गणराज्य था। इनके इतिहास का कुछ उल्लेख डा० दिनेश चन्द्र सरकार ने इस प्रकार किया है। औदुम्बरों का स्थान कांगड़ा घाटी के पूर्वी भाग तथा गुरुदासपुर और होशियारपुर के जिला द्वारा निर्मित होनेवाला भूभाग बताया जाता है। वे प्राचीन साल्व जाति के भागों में से एक का प्रतिनिधित्व करते थे अन्य पाँच थे तिलखल मद्रकार (मद्रकार सम्भवतः मद्रों के साथ इनका सम्बन्ध था) युगंधर भलिंग और शरदण्ड। सबसे प्राचीन औदुम्बर सिक्कों पर जिनका प्रचलन महादेव या शिव के नाम से किया गया था ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों में प्राकृत भाषा में भगवतो महादेवस्य राजराजस्य लिखा मिलता है। प्राचीन औदुम्बर शासकों जैसे धरघोष (जिसकी सन्तानों के सिक्कों पर विश्वमित्र की आकृति मिलती है) शिवदास तथा रुद्रदास के सिक्कों पर अमुक नाम का राजा औदुम्बरि महादेव का इस प्रकार के लेख मिलते हैं। औदुम्बरों के कुछ चौकोर ताँबे के सिक्कों पर एक शव मन्दिर की आकृति खड़ी हुई है जिसमें ध्वज त्रिशूल तथा भाले के चिह्न भी बने हैं। रुद्रवर्मन नामक एक राजा के सिक्के मिले हैं। यह राजा वेमकी जाति का था जिसका सम्बन्ध औदुम्बरों के साथ बताया जाता है। ऊपर जिन सिक्कों का उल्लेख किया गया है वे सब प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्त तथा ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथमार्द्ध के काल में रखे जा सकते हैं। कुछ अन्य राजाओं का विवरण भी हम उनके सिक्कों से प्राप्त होता है। इनके नाम हैं अजमित्र (या आर्यमित्र) महीमित्र भूमिमित्र और महाभूमिमित्र। ये सब राजा औदुम्बर ही बताये जाते हैं। इस सम्बन्ध में इस बात का निर्देश कर देना चाहिये कि जोहिया राजपूतों के अदमाविर या अदमर वर्गों के नाम प्राचीन औदुम्बरों के नामों से अत्यन्त निकटतापूर्वक मिलते जुलते हैं।[1] डा० अल्तेकर महोदय का कथन है कि औदुम्बरों के पूर्व कुषाण-युग के सिक्के तो बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं किन्तु कुषाणों के बाद के उनके सिक्के नहीं प्राप्त होते। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि औदुम्बरों को तीसरी अथवा चतुर्थ शताब्दी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में सफलता नहीं मिल सकी। कदाचित वे मद्रों में मिल गये थे।

मालवों का गणतंत्र—मालवों ने अपने पड़ोसी क्षुद्रकों के साथ सिकन्दर के अभियान का प्रबलतम प्रतिरोध किया था। मालवों के पास एक लाख योद्धा थे जिन्होंने जमकर यूनानियों से संघर्ष किया और उनके छक्के छुड़ा दिये। यहाँ तक कि मालवों के एक नगर पर आक्रमण करते समय सिकन्दर के प्राण खतरे में पड़ गये थे किन्तु अपने कुछ विश्वासपात्र सैनिकों की सहायता से उसने प्राण बचाये। सिकन्दर के समय में मालव गणराज्य रावी सतलज दोआब में बसा हुआ था। किन्तु बाद में विदेशी आक्र

[1] *The Age of Imperial Unity* p 161 footnote 4

मणों के कारण इस प्रदेश में अपनी स्वतन्त्रता को निरापद न समझकर मालव लोग दक्षिण की ओर बढ़ आये और समय पाकर उन्होंने अजमेर-टोंक मेवाड़ प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यहाँ पर ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त तक उनका एक स्वतन्त्र राज्य फलता फूलता रहा। कुषाणों और उनके सामन्तों पश्चिमी शक क्षत्रपों के उदय से मालवों की शक्ति पर लगभग एक शताब्दी तक ग्रहण लगा रहा। उनको विरोधियों ने पराजित कर दिया और उनके राज्य पर पश्चिमी क्षत्रपों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

किन्तु मालवों ने जिनकी स्वातन्त्र्यानुरागिता का प्रमाण सिकन्दर के वक्त लेखकों ने दिया है क्षत्रपों को अधिक दिनों तक चैन से शासन नहीं करने दिया। वे बराबर विद्रोह करते रहे। कभी कभी वे अपने विजेताओं के मित्र राज्यों पर गुप्त धावे भी बोल दिया करते थे। नहपान को अपने अधीनस्थ उत्तमभद्रों की रक्षा के लिए अपने जामाता उषवदात को भेजना पड़ा था। उषवदात ने युद्ध में मालवों को पराजित कर उत्तमभद्रों की रक्षा किया। शकों के विरुद्ध मालव लोग अधिक दिनों तक जम न सके क्योंकि इस समय शक क्षत्रपों की शक्ति काफी सुदृढ़ थी। ईसा की दूसरी शताब्दी तक मालवों को शक शासन स्वीकार करना पड़ा।

परन्तु अवसर प्राप्त होने पर मालव चूकनेवाले न थे। उपयुक्त अवसर की ताक में तो वे बैठे ही थे। शक क्षत्रपों में जिस समय उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा छिड़ गया मालवों को मनचाहा अवसर प्राप्त हो गया। शक राज्य के उत्तराधिकार के लिए जीवदामन तथा उसके चाचा रुद्रसिंह के बीच एक घोर संघर्ष छिड़ गया जिससे क्षत्रपों की शक्ति को पारस्परिक कलह द्वारा एक प्रबल आघात लगा। इस सुवर्ण अवसर का लाभ उठाकर मालवों ने अपनी स्वतन्त्रता की भेरी बजा दी। मालवों के एक नेता श्री सोम ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया और २२५ सन् ईसवी में अपने गणराज्य की स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए उसने एक षष्टि यज्ञ का अनुष्ठान किया। यह सचमुच एक विस्मय की बात है कि जिन लेखों में मालवों की इस विजय का उल्लेख किया गया है उनमें पराजित शत्रु का नाम नहीं दिया गया है। पर यह स्पष्ट है कि मालवों ने पश्चिमी क्षत्रपों को ही पराजित किया था।

मालव लोग ऐसी सबसे प्राचीन भारतीय जाति के हैं जिसके विषय में यह कहा गया है कि यह एक सम्वत का प्रयोग करती थी। मालव सम्वत् का समीकरण विद्वानों ने ५८ ई० पू० के विक्रम सम्वत के साथ किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार मालवों ने अपने इतिहास की किसी प्रमुख घटना सम्भवत राजपूताने में उनके गणराज्य की स्थापना की स्मृति में एक सम्वत चलाया था। परन्तु डा० डी० सी० सरकार का मत है कि मालवों ने ५८ ई० पू० के सीथियन सम्वत् को शकों से ग्रहण कर लिया और इस सम्वत का प्रचार उनके साथ राजपूताने में भी हो गया। यही सीथियन सम्वत जिसका प्रयोग मालव लोग राजपूताने में करते थे बाद में किसी महान मालव नेता जिसने विदेशियों के चंगुल से अपनी जाति की स्वातन्त्र्य देवी को मुक्त किया था के नाम से कृत सम्वत पड़ गया। इस नेता का नाम सम्भवत कृत था।

राजपूताने में मालव गणराज्य की राजधानी मालवनगर था जिसका समीकरण आधुनिक नगर अथवा जयपुर राज्य में उनीयर के करकोट नगर से करना चाहिए जो टोंक के दक्षिण-पूर्व में लगभग पच्चीस मील तथा बनी के उत्तर पूर्व में लगभग पैतालिस मील की दूरी पर स्थित है। ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में ही दक्षिणी जयपुर

के मालवों ने अजमेर के उत्तमभद्रों से युद्ध किया था। इसका विवरण पहले किया जा चुका है। कुषाणों के पतन के बाद मालवों ने अपनी राजनीतिक प्रभुता निकट के प्रदेशों पर जमा ली। इस अनुमान के लिए प्रमाण मिलते हैं। भरतपुर, कोटा तथा उदयपुर के राज्यों में जो लेख प्राप्त हुए हैं उनमें कृत सम्वत का प्रयोग किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इन प्रदेशों पर अभिलेख के अनुसार मालवों के देश में स्वतन्त्रता तथा समृद्धि उस तिथि के बाद पुनः लौट आयी थी। इस महान् कार्य का श्रेय अभिलेख में जिस वीर सरदार को दिया गया है उसका नाम अभी तक पता नहीं चल सका है। यह अभिलेख सम्भवतः शकों के विरुद्ध मालवों की विजय का ही उल्लेख करता है। यह सम्भव है कि मौखरी महासेनापति बल जिसका परिचय हमें २ ८ सन ईसवी के बुद्ध अभिलेख द्वारा प्राप्त होता है मालव गणतन्त्र के प्रति अपना दासत्व प्रकट करता था।[1]

मालवों का गणराज्य २२५ सन् ईसवी से लेकर समुद्रगुप्त के समय तक बना रहा। इस काल में इसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी में उन्होंने अनेक सिक्के चलाये जिन पर साधारण तौर पर मालवानां जय और मालवगणराजस्य जय लेख लिखा हुआ मिलता है। मालवों का स्वाधीनतानुराग अत्यन्त सुन्दर था।

गणराज्यों का पतन—जिन गणराज्यों ने विदेशी कुषाणों तथा उनके सामन्तों शक क्षत्रपों की शक्ति का प्रतिरोध करके अपनी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की उनका पतन किन कारणों और किन परिस्थितियों में पड़कर हुआ यह हम ठीक-ठीक नहीं जानते। स्वर्गीय डा० जायसवाल ने समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादिता को गणतन्त्रों के पतन का कारण बतलाया है। आपका कथन है कि समुद्रगुप्त ने सिकन्दर की भाँति देश की स्वतन्त्र आत्मा का वध कर दिया। उसने मालवों और यौधेयों तथा उनके ढंग के अनेक (गणराज्यों) का नाश कर दिया जो स्वतन्त्रता का पोषण करनेवाली पाठशालाओं के रूप में थे। परन्तु इस मत को डा० अल्तेकर स्वीकार नहीं करते। अल्तेकर का कथन है कि गणतन्त्रात्मक परम्पराओं के शिथिल पड़ जाने से गणराज्यों का लोप हो गया।

उपर्युक्त गणराज्यों के अतिरिक्त कुषाणों के बाद और गुप्तों के पूर्व के काल में उत्तरी भारत में अनेक राजतन्त्रात्मक राज्य थे जिनमें नागों का राज्य सबसे अधिक प्रसिद्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों के बाद नागों ने उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। कई वाकाटक लेखों में इसका उल्लेख मिलता है कि रुद्रसेन द्वितीय जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामयिक था भवनाग के पौत्र का पौत्र था। भवनाग भारशिव नागों का राजा था। इससे विदित होता है कि उत्तर भारत में गुप्तों का साम्राज्य स्थापित होने के पूर्व नागों का राज्य था। (प्रोफेसर एन० एन० घोष) पुराणों से विदित होता है कि नागों की शक्ति के केन्द्र विदिशा, पद्मावती (पदमपवाया), कान्तिपुरा (मिर्जापुर जिले में कन्तित) और मथुरा थे। पुराणों के अनुसार नाग वंश की दो शाखायें थीं—एक शाखा के सात राजाओं ने मथुरा के उदय के पूर्व मथुरा पर शासन किया था और दूसरी शाखा के नौ राजाओं ने पद्मावती पर। इससे यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी संयुक्त प्रान्त और ग्वालियर राज्य पर दो नाग परिवारों का शासन था। एक शाखा की राजधानी मथुरा थी और

---

[1] *The Age of Imperial Unity* p. 164

दूसरी की राजधानी पद्मावती थी। प्राचीन पद्मावती की स्मृति सम्भवतः आज भी ग्वालियर राज्य के एक छोटे से गाव पदमपवाया जो मथुरा के दक्षिण में १२५ मील की दूरी पर स्थित है के रूप में सुरक्षित है।[१] यह सम्भव है कि इन दोनों नाग परिवारों में परस्पर कुछ सम्बन्ध रहा हो परन्तु इस विषय में हमें कोई सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

नागों के एक प्राचीन राजा वीरसेन ने मथुरा में जहाँ कुषाणों की शक्ति का केन्द्र था और उत्तरी भारत में यहां उनके प्रभाव का गढ़ था फिर से हिन्दू सत्ता की प्रतिष्ठापना की। डा० जायसवाल के कथनानुसार वीरसेन की विजय नागों के इतिहास में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण आर्यावर्त के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। किन्तु जैसा कि पहले हम देख चुके हैं डा० जायसवाल के इस मत का कि नागों ने कुषाण सत्ता का निकाल बाहर कर दिया समर्थन डा० अल्तेकर नहीं करते।[२]

परन्तु हम जायसवाल महोदय के उपयुक्त कथन को न मानें तो भी इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि नागों की शक्ति इस समय तक काफी बढ़ गई थी। पुराणों अभिलेखों तथा मुद्राओं के साक्ष्यों का एकीकरण कर देने से यह स्पष्ट सूचित होता है कि नाग लोग गुप्तों के उदय के पूर्व एक महान् सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। ऊपर हमने देखा है कि उत्तरी भारत में नागों की दो शाखायें थीं जिनमें पद्मावती पर शासन करनेवाले अधिक महत्वपूर्ण थे। ये लोग ही सम्भवतः भारशिव कहे जाते थे। यह एक सुविख्यात तथ्य है कि भारशिव लोग अपने कन्धों पर सदैव शिवलिंग का भार वहन करते थे। पद्मावती के नाग राजाओं ने अपने सिक्कों में शिव के त्रिशूल और उनके वाहन नन्दी को बड़ा गौरवपूर्ण स्थान दिया है। इस वंश के एक प्रतापी नरेश का नाम भवनाग था। उसके अनेक सिक्के प्राप्त हुये हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भावनाग चतुर्थ शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हुआ था। वाकाटकों के इतिहास से भी पता चलता है कि भारतीय शासक भवनाग इसी समय हुआ था।

भारशिव नाग शासक बड़े शक्तिशाली थे। उन्होंने उस भागीरथी (गंगा) के पावन जल से अपना अभिषेक कराया था जिसके ऊपर उन्होंने अपनी शक्ति द्वारा विजय प्राप्त की थी। इस अभिलेखिक कथन से भारशिव नागों की दूरव्यापिनी सैन्य विजयों का संकेत मिलता है। भारशिवों का शासन पद्मावती पर था जहाँ से गंगा काफी दूर पड़ती है। यद्यपि इस बात का कोई संकेत नहीं प्राप्त है कि भारशिव नाग [illegible]

थ

गो

पी

शताब्दियों में उत्तर भारत के काफी भाग पर नाग शासन के प्रचलित होने का प्रमाण हमें आभिलेखिक और मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्यों द्वारा हो जाता है। इन स्रोतों से हमें जिन नाग राजाओं के नाम मिलते हैं उनका समीकरण पुराणों द्वारा उल्लिखित नाग केन्द्रों में से किसी न किसी केन्द्र के शासकों के साथ किया जा सकता है।

[२] 'भारत कौमुदी' नामक ग्रन्थ में डा० अल्तेकर, और सर रिचार्ड बर्न ने अलग अलग मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य का परीक्षण किया है। इस परीक्षण के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जायसवाल का मत साक्ष्यों के ऊपर सम्यक्रूपेण आधारित नहीं है।

यज्ञों का अनुष्ठान किया जिसका विवरण हमें उन्हीं के एवं अभिलेख द्वारा प्राप्त होता है।[1] अपनी सैन्य सफलताओं की स्मृति को बनाये रखने के उद्देश्य से भारशिवों ने एक दो नहीं वरन् पूरे दस अश्वमेध यज्ञ किये। किन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि वे चक्रवर्ती सम्राटों के पद को प्राप्त कर चुके थे। केवल दश अश्वमेधों यज्ञों के अनुष्ठान से ही यह सिद्ध नहीं होता कि भारशिवों ने महान् सार्वभौम शक्ति प्राप्त की थी। डा० जायसवाल ने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दस अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान कोई साधारण बात नहीं थी और भारशिवों ने अपनी सार्वभौम सत्ता की स्थापना कर चुकने के बाद ही ऐसा किया होगा। डा० अल्तेकर ने डा० जायसवाल के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि दस अश्वमेध यज्ञ कर लेने से ही सार्वभौम विजयों और शक्ति-स्थापन का निश्चित प्रमाण नहीं मिल जाता। ऐसे दृष्टान्त कई शासकों के हैं जो कभी चक्रवर्ती नरेश नहीं थे किन्तु जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किए हैं। उदाहरण-स्वरूप, शान्तमूल इक्ष्वाकु ने जो केवल दो तीन जिलों का शासक था लगभग २२५ ई० में एक अश्वमेध यज्ञ किया था। कदम्ब नरेश कृष्णवर्मन ने जो एक स्वाधीन राजा भी नहीं था लगभग ४५० ई० में वैसा ही अश्वमेध यज्ञ किया था। विष्णु कुण्डिन नरेश माधव वर्मन प्रथम ने तो ग्यारह से कम अश्वमेध यज्ञ नहीं किये, यद्यपि उसका राज्य काफी छोटा था।[2]

दस अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान से भारशिव नागों की सार्वभौम राजसत्ता का प्रमाण भले ही न प्राप्त हो किन्तु इस बात में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि इस कार्य से उनके गौरव में अभिवृद्धि अवश्य हुई होगी। अपनी राजधानी पद्मावती से लेकर गंगा के तट तक उन्होंने अपने प्रभाव का सिक्का अवश्य ही जमाया जिससे उनकी धाक समकालीन शक्तियों पर काफी जम गई थी। भवनाग की पुत्री का वाकाटक राजकुमार गौतमीपुत्र के साथ ३०० सन् ईसवी में विवाह इस बात का स्पष्ट निदर्शन है कि भारशिवों की शक्ति इस समय काफी अधिक थी। वाकाटक अभिलेखों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख बार-बार किया गया है कि भवनाग रुद्रसेन प्रथम का नाना था। राजवंशों की तालिकाओं में नाना के नाम का उल्लेख काफी महत्त्वपूर्ण विषय है। नाना का नाम तभी उल्लिखित किया जाता था जब कि वे स्वयं महान् शासक होते थे अथवा उन्होंने अपने नातियों की कोई महत्त्वपूर्ण सहायता की होती थी। वर्तमान उदाहरण में सम्भवतः दोनों शर्तें सम्मिलित थीं। एक शताब्दी के बाद नाग राज्य काफी सुदृढ़ शक्ति के रूप में आ चुका था। अतएव प्रवरसेन ने सोचा कि अपने राजकुमार का विवाह यदि वह भवनाग की दुहिता से कर देगा तो उसके उदीयमान वंश की शक्ति मजबूत हो जायगी। यद्यपि इस बात के कोई स्पष्ट प्रमाण हम प्राप्त नहीं होते कि भवनाग ने प्रवरसेन अथवा उसके पुत्र के आक्रमणों में भाग लिया था या नहीं तथापि ऐसा विचार करना असम्भव नहीं प्रतीत होता।

भवनाग का दामाद गौतमीपुत्र अपने पिता के पूर्व ही मर गया जिससे राजसिंहासन पर उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम का अधिकार हुआ। किन्तु सिंहासनारूढ़ होते ही रुद्रसेन प्रथम को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिनको दूर करने में उसे अपने

---

[1] 'पराक्रमाधिगत भागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नानां भारशिवानाम्।

[2] *The Vakataka Gupta Age* 1 26 footnote 2

यौधेय तथा वीर नाना से बहुत अधिक सहायता मिली। इस सहायता द्वारा ही रुद्रसेन प्रथम सिंहासन पर अपना अधिकार जमा सका।

भवनाग की मृत्यु के समय (३४० सन् ईसवी) नाग लोगों की शक्ति आधुनिक उत्तर प्रदेश में काफी अच्छी तरह से जम चुकी थी। भवनाग ने वाकाटकों को जो महत्वपूर्ण सहायता की उससे नागों की प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि हुई। दो नाग परिवार इस समय उस भू भाग पर शासन कर रहे थे जिसमें मथुरा, धौलपुर, आगरा, ग्वालियर, कानपुर, झाँसी तथा बाँदा सम्मिलित थे।

चतुर्थ शताब्दी के मध्य में नागसेन और गणपति नामक दो नाग नृपति शासन कर रहे थे। नागसेन सम्भवतः पद्मावती का और गणपति मथुरा का शासक था। वे गुप्तों की उठती हुई शक्ति के सामने टिक न सके। समुद्रगुप्त ने इन दोनों को पराजित कर दिया और उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसके द्वारा पराजित राजाओं के नाम की जो सूची मिलती है, उसमें अच्युत (जिसके सिक्के रामनगर जिला बरेली में पाये गये हैं) तथा नन्दि के भी नाम मिलते हैं। ये दोनों भी सम्भवतः नाग शासक हों। श्री एन० एन० घोष के शब्दों में "इस प्रकार नागवंश कुषाणों के पतन एवं गुप्तों की सार्वभौम शक्ति के उदय के मध्यवर्ती काल में पृथक् सम्राटों के अन्तर्गत मध्य देश पर जिसमें मथुरा, मध्य भारत और पंजाब सम्मिलित थे, शासन करता रहा। नागों के पाँचवीं शती के अन्त तक उत्तर भारत के कुछ भाग पर अधिकार जमाये रखने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि एक नाग कन्या कुबेर नाग चक्रवर्ती गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अभिलषित की गई थी जिसे उसने अपनी रानी बनाया।

२० | गुप्त वंश

जिस मगध साम्राज्य का उदय छठी शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ और तीसरी शताब्दी ई० पू० तक जिसने अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर लिया उसी मगध साम्राज्य को लगभग ५०० वर्षों तक इतिहास में गौण स्थान प्राप्त हो जाता है और उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होता जब तक तीसरी शताब्दी में मगध राज्य सिंहासन पर गुप्त वंश आरूढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध ने जितनी उन्नति की उतनी अन्य किसी काल में नहीं कर सका था। गुप्तों के राज्यारोहण के समय बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रान्त में वाकाटक नरेश राज्य कर रहे थे। उत्तरी भारत में कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो भारतीय इतिहास की गौरव-वृद्धि कर सके। किसी भी प्रभावशाली शासन के अभाव में भारत की एकता को तो खतरा था ही साथ ही उसकी स्वतन्त्रता के भी हरण का भय था। भारतीय संस्कृति के पोषक भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक इन गुप्त सम्राटों पर इतिहास को गर्व है। इनमें शस्त्र और शास्त्र का जो समन्वय देखने को मिलता है वह कुछ इने गिने केवल भारतीय सम्राटों में ही प्राप्त होता है।

गुप्तों की जाति—गुप्त वंश का इतिहास जानने के पूर्व उनकी जाति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति गुप्तों की जाति के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। कुछ इतिहासकार इन्हें क्षत्रिय और कुछ शूद्र मानते हैं। श्री गौरीशंकर ओझा इन्हें क्षत्रिय स्वीकार करते हैं किन्तु जायसवाल जी इन्हें शूद्र बतलाते हैं। जायसवाल जी का कहना है—

(१) कौमुदी महोत्सव नामक नाटक में चण्डसेन (चन्द्रगुप्त) को कारस्कर बताया गया है और ऐसे नीच जाति के पुरुष को राजा होने के अयोग्य बताया है।[१]

(२) उक्त नाटक में यह भी वर्णित है कि चण्डसेन तथा लिच्छवियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित था और लिच्छवि म्लेच्छ थे अतः चण्डसेन अर्थात् गुप्त भी शूद्र थे।[२]

(३) वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता के एक लेख में जिसमें गुप्तों की वंशावली दी गई है धारण गोत्र उल्लिखित है। आज भी अमृतसर के निवासी जाटों में भी धरणी गोत्र हैं। ये दोनों समान हैं गुप्तवंशवाले भारशिवों की अधीनता में पंजाब से कौशाम्बी चले आये थे।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर डा० जायसवाल महोदय ने गुप्तों को शूद्र घोषित किया है किन्तु ये सारे तर्क निर्बल हैं।

कौमुदी महोत्सव के 'कारस्कर' के आधार पर चण्डसेन को शूद्र मानना उचित नहीं। उक्त ग्रन्थ में पक्षपात का अधिक अंश है। यह नाटक उस समय अभिनीत हुआ

---

[१]हिस्ट्री ऑफ इंडिया १५०—३५० ए० डी०। कौमुदी महोत्सव पृष्ठ ३० श्री वासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

[२]देखिए कौमुदी महोत्सव पृष्ठ ३०   म्लेच्छ लिच्छिविभि सह सम्बन्ध।

जब घटोत्कच का विरोधी राजकुमार कल्याणवर्मन शक्तियुक्त था। अतः उसकी प्रशंसा और घटोत्कच की निन्दा आवश्यक था। इस आधार पर जाति निर्धारण उचित नहीं।

पुनः ताम्रपत्र के धारण गोत्र के आधार पर यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि गुप्त जाट थे। धारण गोत्र का साम्य अपवाद का प्रतिफल हो सकता है और गोत्रों के मूल रूप भिन्न हो सकते हैं दूसरे भिन्न भिन्न जातिवालों के भी गोत्र समान हो सकते हैं क्योंकि अपने पुरोहितों के नाम पर बहुधा गोत्र निर्धारण हुआ करता था जो आज तक प्रचलित है।

गुप्तों को क्षत्रिय मानने के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं—

(१) सुन्दरवर्मन को क्षत्रिय स्वीकार किया जाता है अतः उसने जिस घटोत्कच को गोद लिया उसे अपना कृतक पुत्र बनाया उसका भी क्षत्रिय होना अनिवार्य है क्योंकि हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार सजातीय बालक को ही गोद लिया जा सकता है। मनु ने भी अपनी स्मृति में इसका जोरदार समर्थन किया है।[१] घटोत्कच चन्द्रगुप्त प्रथम क्षत्रिय है अतः गुप्त क्षत्रिय वंश के थे।

(२) धारवाड़ (बम्बई) के गुत्तल नरेश अपने को उज्जैन नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का वंशज मानते थे। बम्बई गजेटियर में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को क्षत्रिय बताया गया है।

(३) यद्यपि गुप्त नरेशों ने अपने अभिलेखों में अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया है और न समसामयिक साहित्यिक ग्रन्थों में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है तथापि परवर्ती गुप्तों (Later Guptas) की जाति के सम्बन्ध में इसका उत्तर मिलता है। मध्य प्रदेश के गुप्तवंशीय नरेश महाशिव गुप्त की सिरपुर (रायपुर मध्य भारत) की प्रशस्ति में गुप्तों को चन्द्रवंशीय क्षत्रिय बताया गया है।

(४) डाक्टर जायसवाल ने भी मञ्जुश्रीमूलकल्प के आधार पर गुप्तों को क्षत्रिय बताया है।

(५) 'कौमुदी महोत्सव' में लिच्छवियों को जिनसे गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित था म्लेच्छ कहा गया है। यदि हम लिच्छवियों की जाति का ठीक-ठीक पता लगा सकें तो गुप्तों की जाति का बोध हो जायगा—

(क) लिच्छवि क्षत्रिय थे इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण पर उनके अवशेष को प्राप्त करने के लिए लिच्छवियों ने यह दावा प्रस्तुत किया कि चूँकि भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं इसलिए हम भी अवशेष प्राप्त करने का अधिकारी हैं।[२]

(ख) दूसरा प्रमाण यह है कि भगवान् महावीर के पिता ने लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला से व्याह किया था महावीर के पिता क्षत्रिय थे यह सत्य है और उन्होंने सजातीय व्याह को ही प्रश्रय दिया होगा अतः लिच्छवियों का क्षत्रिय होना सिद्ध है।

(ग) उपर्युक्त प्रौढ़ प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कई प्रमाणों से भी लिच्छवियों का क्षत्रिय होना सिद्ध है, जिन सब का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं। केवल प्रमाण

---

[१] औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ मनु० ९।१६९ श्रीवासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

[२] भगवापि खत्तियो मयपि खत्तिया। [३] दीघनिकाय

प्रमाणों का निदर्शन पर्याप्त होगा जिनमें चीनी यात्री ह्वेनसांग का विवरण, नेपाल की वंशावली प्राचीन लिच्छवि गणराज्य के प्रमुख तुल्य और प्रमुख हैं।

इन प्रमाणों के आधार पर हम लिच्छवियों को क्षत्रिय मान सकते हैं और इन्हीं क्षत्रियों की राजकुमारी श्री कुमारदेवी से चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह हुआ था। अतः गुप्त भी क्षत्रिय थे क्योंकि प्रभावशाली लिच्छवि किसी प्रकार भी जाट को अपनी कन्या नहीं दे सकते थे। इसके अतिरिक्त गुप्त राजाओं के अन्य वैवाहिक सम्बन्ध भी क्षत्रिय राजकुलों में हुए। चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह क्षत्रिय नागराज की कन्या से हुआ था।

अतः गुप्तों को जाट या शूद्र कहना उचित नहीं। कुछ लोग 'गुप्त' शब्द के आधार पर इन्हें वैश्य मानने की भूल करते हैं पर यह नितान्त भ्रमात्मक है। गुप्त शब्द का प्रयोग गुप्त राजाओं ने अपने नाम के अन्त में केवल इसलिए किया है कि उनके आदि पुरुषों का नाम गुप्त था।

गुप्त वंश का राजनैतिक इतिहास

गुप्तों का उदय—तीसरी सदी ईसवी के अन्तिम चरण में मध्य देश में किसी स्थान पर गुप्तों का उदय हुआ था। भारशिव नागों के पश्चात् भारतीय इतिहास के रंगमंच पर गुप्तों का पदार्पण मगध में पाटलिपुत्र तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों के स्वामी के रूप में होता है।

श्रीगुप्त

गुप्त अभिलेखों में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि वे उनकी वंशावली के साथ प्रारम्भ होते हैं। इन वंश-वर्णनों में सर्वप्रथम नाम श्रीगुप्त का आता है। अतः इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तों के आदि पुरुष का नाम श्रीगुप्त था। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि नाम केवल गुप्त था या श्रीगुप्त क्योंकि 'श्री' शब्द सम्मानार्थ भी युक्त किया जा सकता था। विद्वानों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है और सब ने अपने अपने मत का प्रतिपादन बड़ी ही विद्वत्ता से किया है। इस सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम नामकरण की प्रवृत्तियों पर ध्यान देना होगा। नामकरण सार्थकता को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। उक्त वंश में ही चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि नामों को लीजिए। गुप्त का शाब्दिक अर्थ है—सुरक्षित। अतः उपरोक्त तीनों नामों का अर्थ क्रमशः चन्द्र, समुद्र तथा कार्तिकेय द्वारा रक्षित हुआ। किन्तु केवल गुप्त का तो कोई विशेष अर्थ नहीं निकला। श्रीगुप्त का अर्थ लक्ष्मी द्वारा रक्षित हुआ जो किसी राजा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यदि चीनी यात्री इत्सिंग ने भी सही नाम समझने में भूल न की हो तो उसने भी श्रीगुप्त (चे-लि-कि-तो) ही नाम बताया है।

किन्तु एलन तथा जायसवाल महोदय की यह राय है कि गुप्तों के आदि पुरुष का नाम केवल गुप्त था, 'श्री' तो सम्मानार्थ जोड़ दिया गया है। इनके मत का समर्थन स्वयं समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से हो जाता है जिसमें समुद्रगुप्त ने अपने को महाराजा श्रीगुप्त का प्रपौत्र बतलाया है।[१] सभी राजाओं के नाम के पूर्व श्री जोड़ दिया गया है और यही नहीं जहाँ किसी का नाम वास्तव में श्री से प्रारम्भ होता है वहाँ दो श्री का भी प्रयोग किया गया है।[२]

---

[१] महाराजा श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य　　श्रीसमुद्रगुप्तस्य।

[२] परमभट्टारिकायां राज्ञो महादेव्यां श्री श्रीमती देव्यामुत्पन्नः, का० इ० ई० भा० ३ न० ४६ श्रीवासुदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने श्रीगुप्त के सम्बन्ध में एक मत प्रस्तुत करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द गुप्ता इम्पायर' पृष्ठ ११ पर लिखा है—

"...the name of this king is to be taken as Gupta and the prefix Sri as an honorific as is shown in all the names of the Gupta emperors mentioned in their inscriptions. Where Sri is a part of the name as in Srimati in inscription No 46 of Fleet the prefix Sri will still be added in the case of royalty where Sri Srimati (Ibid). Nor is the name Gupta by itself objectionable. We have analogous names as Devak for Devadattak (Katyayana's Varttik on Panini VII 3 45) or Harsh for Harsha Vardhan."

कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि गुप्त वंश के आदि पुरुष का नाम कुछ और था और 'गुप्त' शब्द तो केवल उसके नाम का अन्तिम भाग था किन्तु यह अधिक तर्कसंगत नहीं। वायुपुराण में 'भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः' का उल्लेख किया गया है जिससे गुप्त के वंशज इस पर शासन करेंगे अर्थ निकलता है। इससे भी गुप्त नाम ही प्रामाणिक सिद्ध होता है।

ऊपर हमने इत्सिंग द्वारा वर्णित श्री गुप्त (च लि कि-तो) का उल्लेख किया है। उक्त यात्री ने ६७० से ७०० ई० के बीच भारत भ्रमण किया। यात्री ने लिखा है कि लगभग ५०० वर्ष पूर्व श्रीगुप्त नामक एक महान् राजा ने कुछ चीनी यात्रियों के लिये मृग शिखावन के निकट एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस आधार पर अर्थात् जान एलन आदि के मतानुसार इत्सिंग के चेनि-कितो को गुप्तों का प्रथम राजा श्री गुप्त मानकर हम गुप्तों के प्रथम राजा की तिथि क्या निर्धारित कर सकते हैं? क्या इत्सिंग के कथनानुसार यह तिथि अधिक से अधिक (७००–५००) = २०० ई० है? इसके पूर्व भी यह जा सकती है। किन्तु विद्वानों ने तीसरी शताब्दी ई० के तीसरे चरण में गुप्तों का उदय बताया है। फ्लीट महोदय इत्सिंग के ५०० वर्ष पूर्व तथा श्रीगुप्त लिख देने से ही इत्सिंग के श्रीगुप्त तथा गुप्तों के आदि पुरुष गुप्त को दो भिन्न व्यक्ति मानते हैं किन्तु यह उचित नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले तो इत्सिंग का अभिप्राय ५०० वर्ष पूर्व से केवल एक अनुमानित लम्बे युग का निरूपण करना था न कि ठीक-ठीक तिथि निर्देशन था। दूसरे श्रीगुप्त नाम से घबराने की आवश्यकता नहीं इस 'श्री' को सम्मानसूचक माना जा सकता है। इत्सिंग ने स्वयं लिख दिया है कि उसने प्राचीन काल से स्थविरों द्वारा सुनी हुई अनुश्रुतिमात्र का उल्लेख किया है। अतः इन विवरणों के आधार पर ठीक-ठीक काल निर्धारण करना उचित नहीं है।

इत्सिंग के विवरण से श्रीगुप्त की राज्य-सीमा का भी कुछ बोध होता है। उसने आगे लिखा है कि मृग शिखावन 'गंगा की ओर नालन्दा के पूर्व लगभग पचास सोपान (Stages)' दूर था। गंगुली (आई० एच० क्यू० सितम्बर १९३८) ने इत्सिंग के ही इस कथन के आधार पर कि 'नालन्दा महाबोधि के उत्तर-पूर्व में सात सोपान (Stages) दूर था' यह निष्कर्ष निकाला है कि इत्सिंग का एक सोपान ६ मील के बराबर है। इस आधार पर यह ज्ञात होता है कि श्रीगुप्त का शासन बंगाल में मुर्शिदाबाद के जिले में कहीं पर था और इसका शासन काल १७५–२०० ई० रहा। किन्तु यदि हम पुराणों को आधार मानें तो हमें चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में प्रारम्भिक गुप्तों का शासन गंगा के तटों पर (प्रयाग तथा साकेत नगरों से युक्त) मानना पड़ेगा।

एलन महोदय ने श्रीगुप्तकी रवाङ्गन तिथि को स्वीकार नहीं किया है और वे गुप्तों के अभिलेखों या वंशावली में वर्णित चन्द्रगुप्त के पितामह गुप्त से उसकी समता स्थापित करते हैं। किन्तु यह कम सम्भव है कि एक ही वंश में एक नाम के दो राजा (एक इत्सिंग द्वारा वर्णित दूसरा अभिलेखों में उल्लेख) इतने आस पास रहे होंगे। किन्तु इसके लिये यह प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसा वंश में दो चन्द्रगुप्त और दो कुमारगुप्त आस पास ही मिलते हैं। श्रीगुप्त के ठीक बाद के उत्तराधिकारी का पता नहीं चलता है। लगता है उन्होंने क्रमशः अपना विस्तार किया था। सम्भवतः श्रीगुप्त का प्रपौत्र गुप्त एक सामन्त के पद तक पहुंचा था। इसका समर्थन इस साक्ष्य से हो जाता है कि प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त को महाराज कहा गया है और प्रभावती गुप्ता के पूना लेख में उसको आदि राज कहा गया है। स्मिथ महोदय ने इसकी तिथि २७५–३०० ई० निर्धारित की है।

जायसवाल महोदय के मतानुसार श्री गुप्त एक सामन्त राजा था जिसने भारशिव राजाओं की अधीनता में प्रयाग के समीप राज्य किया। एक मिट्टी की मुहर 'श्री गुप्तस्य' लिखा हुआ प्राप्त हुई है जो डा० हार्नले के मतानुसार गुप्तों के आदि पुरुष गुप्त' की है। श्रीगुप्त के सम्बन्ध में हमें इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है।

घटोत्कच

गुप्त (श्री गुप्त) के पश्चात प्रयाग प्रशस्ति में महाराज श्री गुप्त के पुत्र महाराज घटोत्कच का उल्लेख है। उक्त अभिलेख के घटोत्कच में गुप्त शब्द नहीं संलग्न है पर वैशाली में प्राप्त एक मुहर पर घटोत्कच उत्कीर्ण है और डा० ब्लाक (Bloch) इन दोनों में समता मानते हैं। किन्तु इतिहासकारों ने इसे स्वीकार करना उचित नहीं समझा है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि गुप्त अभिलेखों में महाराज गुप्त के पुत्र या चन्द्रगुप्त प्रथम के पिता का नाम कहीं भी घटोत्कचगुप्त नहीं आया है प्रत्युत केवल घटोत्कच का उल्लेख है। दूसरा कारण यह कि वैशाली की मुहरों का समय और घटोत्कच के समय में एक शताब्दी का अन्तर पड़ता है। वैशाली में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में गुप्तों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये थे जिनको मुहर निर्माण का अधिकार दिया गया होगा और जहाँ मुहरों की ढेरी प्राप्त हुई है वहां कहीं मुहर निर्माण कार्यालय रहा होगा। अतः एक शताब्दी पूर्व के घटोत्कच की मुहर बनाने की वहां कोई आवश्यकता न थी। उपरोक्त मत का प्रतिपादन डा० डी० आर० भण्डारकर ने किया है। सम्भवतः वैशाली की मुहरवाला घटोत्कचगुप्त परवर्ती गुप्तों में से कोई व्यक्ति रहा होगा अथवा वैशाली की मुहरों पर श्रीघटोत्कचगुप्तस्य के पूर्व महाराज शब्द नहीं आया है जब कि महाराज का विरुद प्रथम दो गुप्त राजाओं ने धारण किया था। अतः मुहरवाला घटोत्कचगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन और गुप्त परिवार का हो

प्राप्त रहा हो

उस समय में

पुष्टि ग्वालियर राज्य में स्थित तुमन में प्राप्त एक गुप्त शिलालेख से होता है।[1] इस लेख की तिथि गुप्त संवत ११६ है। इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त कुमारगुप्त तथा घटोत्कच गुप्त का उल्लेख पाया जाता है। अतः इस घटोत्कच गुप्त का निर्दिष्ट समय

[1] *Indian Antiquary* I ■ p. 114

गु० सं० ११६ = ४३६ ई०) है। अतः इस लेख में उल्लिखित घटोत्कचगुप्त गुप्त वंशीय द्वितीय महाराज घटोत्कच से सर्वथा भिन्न है। यह घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त का छोटा भाई था तथा उसके राज्यकाल में मालवा का शासक था।[1]

घटोत्कच के इतिहास के सम्बन्ध में भी इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। उसका राज्यकाल एलन महोदय के अनुसार ३०० से ३२० ई० रहा।

चन्द्रगुप्त प्रथम

प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त वंश के तृतीय शासक चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त है जब कि प्रथम दो शासकों को केवल महाराजा का विरुद प्राप्त है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रथम दो राजाओं गुप्त तथा घटोत्कच और चन्द्रगुप्त के राजनैतिक अधिकारों में अन्तर था। वे प्रथम दो सामन्त रहे (यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे किसके करद थे) पर चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र राजा रहा होगा तभी इसे महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त थी जो उसके बाद के अन्य गुप्त राजाओं को भी प्राप्त है।

यह साक्ष्य चन्द्रगुप्त के राजनैतिक अधिकारों में अपेक्षाकृत वृद्धि होने का पर्याप्त प्रमाण देता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त ने अपनी राज्य-सीमा का विस्तार किया होगा और जो भी अधिकारी शासक उसके पूर्वजों से कर उगाहता रहा होगा उससे उसने अपने को स्वतन्त्र किया होगा।

ऐयंगर महोदय ने चन्द्रगुप्त के प्रति काफी उदारता से विचार करते हुए इसकी महत्ता की सीमा को अत्यधिक बढ़ाने के अभिप्राय से महरौली लौह स्तम्भ के चन्द्र को चन्द्रगुप्त बतलाया है। किन्तु उक्त अभिलेख के आलोचनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इनमें चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त में कोई समता नहीं है। महरौली अभिलेख में यह उल्लेख है कि 'तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः'। इससे यह ज्ञात होता है कि चन्द्र ने सिन्धु पार करके वह्लिकों से घोर संग्राम किया और उन पर विजय प्राप्त की। उक्त अभिलेख से चन्द्र का और भी पराक्रम ज्ञात होता है—उसके समस्त विरोधी एक मित्रसंघ बनाकर उस पर बंगाल की ओर से आक्रमण करते हैं और चन्द्र उन्हें पीछे हटाकर उन पर विजय प्राप्त करता है। इतना ही नहीं उक्त अभिलेख के चन्द्र को धरती का एकाधिराज्य (एकाधिराज्य) प्राप्त था। इस प्रकार की सूचना चन्द्र के सम्बन्ध में हमें महरौली लौहस्तम्भ लेख से प्राप्त होती है।

कुछ विद्वानों ने उक्त चन्द्र की वीरता का वर्णन सुनकर इसे चन्द्रगुप्त प्रथम बताने का [illegible] लौहस्तम्भ का निर्माण [illegible] ० वर्ष पश्चात् समुद्र [illegible]। निश्चय ही चन्द्रगुप्त प्रथम [illegible] प्रतापी और यशस्वी [illegible] था। उसने वङ्गियों को पराजित किया था, समुद्र-तट तक अपनी सीमा का विस्तार किया था और अनेक विरोधियों का दमन करके अपने साम्राज्य को विशाल बनाया था पर महरौली-लेख का उक्त विवरण चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ तो काफी लागू होता है।

ऐयंगर महोदय जिनका यह पूर्ण विश्वास है कि महरौलीवाला चन्द्र और चन्द्रगुप्त एक ही है ऐसा विश्वास करते हैं कि चन्द्रगुप्त ने अपने पिता तथा पितामह को

[1] श्री वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४०।

भाँति गंगा के तटवर्ती भाग से ही प्रारम्भ में शासन आरम्भ किया था। चन्द्रगुप्त ने निश्चय ही अनेक विजयें की होंगी तभी तो उस साम्राज्य संस्थापन का इतना अधिक श्रेय दिया जाता है। लिच्छिवि राजकुमारी से ब्याह करके उसने अपने यश और राज्य में अभिवृद्धि कर ली और इस विवाह के फलस्वरूप अब उसकी राज्य-सीमा एक ओर बंगाल को छू रही थी तथा दूसरी ओर मध्यभारत तथा पंजाब को। अतः बंगाल के सीमान्त-क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार स्थापित करना सम्भव है। एयंगर महोदय का ऐसा विचार है कि चन्द्रगुप्त ने मुख्यतः उत्तर पश्चिम तथा पश्चिम के पड़ोसियों पर विजय प्राप्त की थी। उसकी वल्ख विजय उसे सिंध तथा सौराष्ट्र तक ले जाती है। इसका अर्थ शक विध्वंस नहीं है प्रत्युत इस विजय का अर्थ उस क्षेत्र के शासकों की पराजय तथा उसके बाद की संधि है। किन्तु एयंगर महोदय की उक्त धारणा अधिक युक्तिसंगत नहीं है और यह केवल चन्द्रगुप्त के विषय में अधिक कल्पनात्मक ढंग से सोचना है।

डण्डेकर महोदय ने चन्द्रगुप्त प्रथम का वल्ख तक पहुँचना कुछ असम्भव सा बताया है। उन्होंने समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति के लेख के आधार पर इसकी पुष्टि इस प्रकार की है कि उक्त प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त का शासन केवल गंगा की घाटी पर बताया गया है और इसमें इस बात का कहीं भी संकेत तक नहीं किया गया है कि बंगाल के सीमान्त क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार था। चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ तो एकाधिराज्यम का प्रश्न ही नहीं उठता। डण्डेकर महोदय ने आगे लिखा है कि यदि समुद्रगुप्त के पिता ने ये समस्त विजयें प्राप्त की होतीं तो समुद्रगुप्त ने निश्चय ही उनका उल्लेख अपने अभिलेख में किया होता।[1] इन आधारों पर डण्डेकर महोदय ने महरौली के चन्द्र को किसी प्रकार भी चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करना अनुचित ठहराया है।

महरौली के चन्द्र के सम्बन्ध में अन्य इतिहासकारों ने भी अपने अपने विचार प्रकट किये हैं। एयंगर महोदय इसको सदाचन्द्र भारशिव बताते हैं जो वाकाटक प्रवर सेन प्रथम के वैवाहिक भवनाग का उत्तराधिकारी था। इसका राज्य पूर्वी मालवा में विदिशा की रियासत पर ठीक उसी समय रहा होगा जब मगध के सिंहासन पर समुद्रगुप्त या उसके पिता चन्द्रगुप्त राज्य कर रहे होंगे। तब भला यह कैसे सम्भव है कि वह मगध से बिना कोई युद्ध किये ही सरलतापूर्वक बंगाल की सीमान्त रियासतों से संघर्ष करने का मार्ग पा गया होगा। साथ ही भारशिव वंश के इतिहास के एकमात्र साधन पुराण समाचार के इस प्रकार के किसी आक्रमण का उल्लेख नहीं करते हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने महरौली के चन्द्र को पुष्करन का शासक चन्द्रवर्मन बताया है पर यह भी युक्ति-संगत नहीं है। डण्डेकर महोदय ने मेहरौली लौहस्तम्भ लेख की भाषा और छाप (Fxpres ion) तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं की भाषा और छाप के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि ये दोनों समान हैं। इन्होंने अपने मत के समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उक्त अभिलेख की अंतिम पंक्ति में एक शब्द आया है जिसे बहुधा धावेन पढ़ा जाता है। कुछ लोगों ने इसे भावेन पढ़ा है। यदि इसे देवेन पढ़ा जाना सम्भव हो तो यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के वैयक्तिक नाम देवगुप्त की ओर निर्देश करता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये यदि वह सवंश के लिये भारत से कुषाणों का अन्त कर देना चाहता था यह आवश्यक था कि वह

---

[1] देखिये श्री आर० डी० डण्डेकर, *A History of the Guptas* p. 96

वल्ख पर विजय प्राप्त करे क्योंकि वल्खिया में ही कुषाण अपनी शक्ति पुनः संरक्षित कर सकते थे। अपनी स्थिति को देखते हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये यह आवश्यक था कि वह सम्पूर्ण सप्तसिन्धु क्षेत्र पर आक्रमण करे जैसा कि मेहरौली लेख में वर्णित है। बंगाल को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विजित किया था इसका सबसे बड़ा प्रमाण उक्त भू भाग पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारियों द्वारा अधिकार प्राप्त करना है। श्री डण्डेकर महोदय ने यह भी बताया है कि मेहरौली अभिलेख तथा प्रयाग स्तम्भ-लेख की लिपि में बहुत अधिक समता है। मेहरौली अभिलेख के चन्द्र की राजनैतिक सत्ता दक्षिणी देशों पर स्थापित थी। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य है।

कौमुदी महोत्सव नामक नाटक के आधार पर लोगों ने उसके राज्यारोहण के इतिहास की रूप रेखा खींची है जिसमें अधिक सार नहीं है।[1] कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन को चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करने में अनेक बाधायें हैं और यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय तो उक्त नाटक के विवरणों को कवि की कल्पना की दृष्टि से देखना होगा न कि इतिहासकार की भाँति। अतः इसके आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण या उसके राज्य विस्तार पर विचार करना भ्रम-मूलक ही होगा।

हमने चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवि राजकुमारी के ब्याह का निर्देश पिछले पृष्ठ में किया था। इतिहास प्रसिद्ध वैशाली के लिच्छवी अब भी काफी प्रख्यात थे। इन्हीं लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से चन्द्रगुप्त प्रथम ने ब्याह किया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध का गुप्त इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उक्त वैवाहिक सम्बन्ध का बोध हमें चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से होता है जिसमें समुद्रगुप्त को लिच्छवी दौहित्र कहा गया है।[2] दूसरा प्रमाण स्वयं चन्द्रगुप्त प्रथम की एक स्वर्ण-मुद्रा है जिस पर एक ओर 'लिच्छवयः' तथा दूसरी ओर चन्द्रगुप्त तथा श्री कुमारदेवी उत्कीर्ण है तथा दोनों का चित्र उस पर अंकित है। उक्त स्वर्ण मुद्रा का निर्माण चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवियों के वैवाहिक सम्बन्ध के महत्त्व का निर्देशक है। एलन महोदय की जो यह धारणा है कि उक्त मुद्राओं का निर्माण समुद्रगुप्त ने ही अपने माता पिता के वैवाहिक सम्बन्ध की स्मृति में तमगों के रूप में करवाया था[3] वास्तविकता जो भी हो पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त विवाह का बहुत बड़ा राजनैतिक महत्त्व था। स्मिथ महोदय ने भी उक्त विवाह के राजनैतिक महत्त्व को स्वीकार किया है और उनकी यह धारणा है कि कुमारदेवी दहेज रूप में अपने पति को बहुमूल्य प्रभाव लेकर आई जिसके आधार पर चन्द्रगुप्त मगध तथा निकटवर्ती भू भागों पर अपना सुदृढ़ अधिकार स्थापित कर सका और अपनी स्थिति पूर्ण रूप से सुरक्षित कर सका। वे यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि 'लिच्छवी पाटलिपुत्र के शासक थे और चन्द्रगुप्त इस वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी पत्नी के सम्बन्धियों के अधिकार का अधिकारी हुआ।' किन्तु एलन महोदय की यह धारणा है कि गुप्तों को लिच्छवियों के साथ इस वैवाहिक सम्बन्ध से कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ प्रत्युत लिच्छवियों की प्राचीन ऐतिहासिक सत्ता से उनमें महानता आ गई। किन्तु

---

[1] विशेष विवरण के लिये देखिये श्री आर० एन० डण्डेकर की *A History of the Guptas* pp. 30-35

[2] लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यांकुमारदेव्यामुत्पन्नस्यमहाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य

[3] *C C G D* भूमिका पृ० ९८।

भाँति गंगा के तटवर्ती भाग से ही प्रारम्भ में शासन आरम्भ किया था। चन्द्रगुप्त ने निश्चय ही अनेक विजयें की होंगी तभी तो उसे साम्राज्य संस्थापन का इतना अधिक श्रेय दिया जाता है। लिच्छिवि राजकुमारी से व्याह करके उसने अपने यश और राज्य में अभिवृद्धि कर ली और इस विवाह के फलस्वरूप अब उसकी राज्य-सीमा एक ओर बंगाल को छू रही थी तथा दूसरी ओर मध्यभारत तथा पंजाब को। अतः बंगाल के सीमान्त क्षेत्रों पर चन्द्रगुप्त का अधिकार स्थापित करना सम्भव है। एयंगर महोदय का ऐसा विचार है कि चन्द्रगुप्त ने मुख्यतः उत्तर पश्चिम तथा पश्चिम के प्रान्तियों पर विजय प्राप्त की थी। उसकी वल्ह विजय उसे सिंध तथा सौराष्ट्र तक ले जाती है। इसका अर्थ शक विध्वंस नहीं है प्रत्युत इस विजय का अर्थ उस क्षेत्र के शासकों की पराजय तथा उनके दान की संधि है। किन्तु एयंगर महोदय की उक्त धारणा अधिक युक्तिसंगत नहीं है और यह केवल चन्द्रगुप्त के विषय में अधिक कल्पनात्मक ढंग से सोचना है।

डण्डेकर महोदय ने चन्द्रगुप्त प्रथम का वल्ह तक पहुँचना कुछ असम्भव सा बताया है। उन्होंने समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के लेख के आधार पर इसकी पुष्टि इस प्रकार की है कि उक्त प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त का शासन केवल गंगा की घाटी पर बताया गया है और इसमें इस बात का कहीं भी संकेत तक नहीं किया गया है कि बंगाल के सीमान्त क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार था। चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ तो एकाधिराज्य का प्रश्न ही नहीं उठता। डण्डेकर महोदय ने आगे लिखा है कि यदि समुद्रगुप्त के पिता ने ये समस्त विजयें प्राप्त की होतीं तो समुद्रगुप्त ने निश्चय ही उनका उल्लेख अपने अभिलेख में किया होता।[1] इन आधारों पर डण्डेकर महोदय ने महरौली के चन्द्र को किसी प्रकार भी चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करना अनुचित ठहराया है।

महरौली के चन्द्र के सम्बन्ध में अन्य इतिहासकारों ने भी अपने अपने विचार प्रकट किये हैं। एयंगर महोदय इसका सदाचन्द्र भारशिव बताते हैं जो वाकाटक प्रवरसेन प्रथम के वैवाहिक भवनाग का उत्तराधिकारी था। इसका राज्य पूर्वी मालवा में विदिशा की रियासत पर ठीक उसी समय रहा होगा जब मगध के सिंहासन पर समुद्रगुप्त या उसके पिता चन्द्रगुप्त राज्य कर रहे होंगे। तब भला यह कैसे सम्भव है कि वह मगध से बिना कोई युद्ध किए ही सरलतापूर्वक बंगाल की सीमान्त रियासतों से समर्पण करने की माँग पा गया होगा। साथ ही भारशिव वंश के इतिहास के एकमात्र साधन पुराण सदाचन्द्र के इस प्रकार के किसी आक्रमण का उल्लेख नहीं करते हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने महरौली के चन्द्र को पुष्करन का शासक चन्द्रवर्मन बताया है पर यह भी युक्ति-संगत नहीं है। डण्डेकर महोदय ने मेहरौली लौहस्तम्भ लेख की भाषा और छाप (Expression) तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं की भाषा और छाप के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि ये दोनों समान हैं। इन्होंने अपने मत के समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उक्त अभिलेख की अंतिम पंक्ति में एक शब्द आया है जिसे बहुधा धावेन पढ़ा जाता है। कुछ लोगों ने इसे भावेन पढ़ा है। यदि इसे देवेन पढ़ा जाना सम्भव हो तो यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के व्यक्तिगत नाम देवगुप्त की ओर निर्देश करता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये यदि वह सदा के लिये भारत से कुषाणों का अन्त कर देना चाहता था यह आवश्यक था कि वह

---

[1] देखिये डी० आर० डी० डण्डेकर A History of the Guptas P. 36

बल्ख पर विजय प्राप्त करे क्योंकि बक्त्रिया से ही कुषाण अपनी शक्ति पुनः सुरक्षित कर सकते थे। अपनी स्थिति को देखते हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये यह आवश्यक था कि वह सम्पूर्ण सप्तसिन्धु क्षेत्र पर आक्रमण करे जैसा कि मेहरौली लेख में वर्णित है। बंगाल को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विजित किया था इसका सबसे बड़ा प्रमाण उक्त भू भाग पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारियों द्वारा अधिकार प्राप्त करना है। श्री दण्डेकर महोदय ने यह भी बताया है कि मेहरौली अभिलेख तथा प्रयाग स्तम्भ-लेख की लिपि में बहुत अधिक समता है। मेहरौली अभिलेख के चन्द्र की राजनैतिक सत्ता दक्षिणी देशों पर स्थापित थी। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में सर्वथा सत्य है।

कौमुदी महोत्सव नामक नाटक के आधार पर लोगों ने इसके राज्यारोहण के इतिहास की रूप रेखा खींची है जिसमें अधिक सार नहीं है।[1] कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन को चन्द्रगुप्त प्रथम स्वीकार करने में अनेक बाधायें हैं और यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय तो उक्त नाटक के विवरणों को कवि की कल्पना की दृष्टि से देखना होगा न कि इतिहासकार की भाँति। अतः इसके आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण या उसके राज्य विस्तार पर विचार करना भ्रम मूलक ही होगा।

यह अधिक तर संगत नहीं जान पड़ता। लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्तर ऊँचा करने की बात कहाँ तक ठीक मानी जा सकती है जब कि लिच्छवी स्वयं व्रात्य क्षत्रिय कहे जाते थे। निश्चय ही इस विवाह का उद्देश्य राजनीतिक रहा होगा।[1] डा० आर० सी० मजूमदार ने पूर्वलिखित स्वर्ण मुद्रा में लिच्छवयः शब्द के प्रयोग से जो कि जातीय नाम है और जिसका प्रयोग बहुवचन में हुआ है, ऐसा अनुमान किया है कि लिच्छवियों की प्राचीन गणतन्त्र अब भी अपने स्वतन्त्र रूप में विद्यमान था पर कुमारदेवी का राजनीतिक अधिकार वंशानुगत प्रतीत होता है। मजूमदार महोदय का यह भी मत है कि उक्त वैवाहिक सम्बन्ध से लिच्छवी तथा गुप्त राज्य का एकीकरण हो सका और समुद्रगुप्त के लिये 'लिच्छवि दौहित्र' का प्रयोग केवल इसलिये किया गया था कि दोनों राज्यों पर उसका अधिकार स्थापित करने में बल मिले। लिच्छवियों तथा गुप्तों की पृथक राज्य सीमा के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बहुत मतभेद है जिस पर प्रकाश डालने की यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि उत्तर का कुछ भाग तथा पश्चिमी बंगाल पर गुप्तों का अधिकार था और उत्तर बिहार लिच्छवियों के अधिकार में था। इस प्रकार जब दोनों वंशों का एकीकरण हो गया तो बिहार का अधिकांश भाग तथा उत्तरी और पश्चिमी बंगाल इनके राज्य के आधीन आये।

चन्द्रगुप्त प्रथम को महाराजाधिराज का विरुद प्राप्त है। इसे यह पदवी क्यों मिली इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हमने प्रारम्भ में बताया था कि प्रथम दो गुप्त शासक सामन्त ज्ञात होते हैं और उनके विपरीत चन्द्रगुप्त प्रथम स्वतन्त्र राजा जान पड़ता है क्योंकि उसे उक्त विरुद प्राप्त है। पर क्या उसे यह विरुद महान विजयी समुद्रगुप्त का पिता होने के नाते तो नहीं मिला है? ऐसा सोचने का पर्याप्त अवसर हमें प्राप्त है। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है— चन्द्रगुप्त प्रथम ने पराक्रम से अन्य राज्यों को जीतकर पाटलिपुत्र में फिर से एक साम्राज्य की नींव डाली तथा उस शुभ अवसर पर महाराजाधिराज पदवी धारण की।[2] किन्तु उसकी विजयों का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं प्राप्त है। महाराजाधिराज कहे जाने का एक अन्य कारण यह हो सकता है कि गुप्त साम्राज्य की नींव डालने का पूरा श्रेय चन्द्रगुप्त को ही है और यह उसके उन्हीं कार्यों का फल था कि समुद्रगुप्त को लिच्छवियों के राज्य का भी अधिकार मिला। गुप्त साम्राज्य के निर्माण कार्य का मार्ग प्रशस्त करनेवाला चन्द्रगुप्त प्रथम ही है। अतः इन सब कारणों से उसे महाराजाधिराज की पदवी मिली। महाराजाधिराज शब्द से उसके एकछत्र राज्य का या विस्तृत राज्य की कल्पना नहीं करनी चाहिए। स्मिथ महोदय ने इसका अधिकार तिरहुत दक्षिण बिहार अवध तथा इसके समीपवर्ती प्रदेशों पर बताया है।[3] चन्द्रगुप्त के राज्य विस्तार के सम्बन्ध में एक पौराणिक दृष्टान्त अधिक प्रचलित है जिसके अनुसार साकेत (अवध) प्रयाग तथा मगध (दक्षिण बिहार) उसके राज्य के अन्तर्गत थे। अनुगंगा[4]

---

[1] देखिये \ *History of the Indian People* \ I \ I *Classical Gupta Age* p 1-5

[2] देखिये वासुदेव उपाध्याय का 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास', पृष्ठ ४२।

[3] देखिये वी० स्मिथ *Early History of India* p -80

[4] अनुगंगा प्रयागंच साकेत मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान सर्वान भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः वा०पु० आ० ९९ श्लोक ३८३।

गुप्तवंशजों का जय हुआ। गुप्त के वंशज गंगा के तटवर्ती भूभाग प्रयाग साकेत तथा मगध का राज्य भोगेंगे। किन्तु विष्णु पुराण में अनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति का उल्लेख है अर्थात् गंगा के तटवर्ती भूभाग प्रयाग तक मगध तथा गुप्त राज्य करेंगे। इस प्रकार के विवरण चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य विस्तार के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होते हैं। आकृष्ण स्वामी एय्यगर के मतानुसार कुमार देवी से व्याह कर लेने के पश्चात् वैशाली भी चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया किन्तु पौराणिक साक्ष्य इसका समर्थन नहीं करते। यह ठीक भी ज्ञात होता है। प्रयाग प्रशस्ति में भी वैशाली का उल्लेख नहीं किया गया है। वैशाली पर सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अधिकार स्थापित किया था और उसने अपना एक नायक (Govern r) वहाँ नियुक्त किया था।

गुप्त संवत--ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नये संवत गुप्त संवत का निर्माण किया। विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि २० दिसम्बर १८ ई० अथवा २६ फरवरी ३२० ई० निश्चित होती है। अतः लगभग ३१९-३२० ई० से गुप्त संवत का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त संवत चन्द्रगुप्त का ही चलाया हुआ है क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाणों का अभाव है। केवल इस आधार पर कि प्रथम तीन गुप्त शासक 'गुप्त' और साधारण थे पर यह (चन्द्रगुप्त प्रथम) बड़ा सम्पन्न था यह अनुमान लगाना कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही उक्त संवत चलाया बहुत कुछ सम्भव तो है पर अधिक स्वीकारात्मक नहीं है। श्री आर० सी० मजूमदार ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं —

साथ ही हमें उस सम्भावना की ओर से दृष्टि नहीं हटानी चाहिये कि उक्त संवत समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के उत्सव का स्मारक स्वरूप है जिसने निश्चय ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उक्त मत का समर्थन समुद्रगुप्त के दो ताम्र पत्रों से जो नालन्दा तथा गया में प्राप्त किये गये हैं हो जाता है जिनकी तिथि क्रमशः पाँचवें और नवें वर्ष में है। यदि हम यह विश्वास करें कि यह (नालन्दा का दानपत्र) समुद्रगुप्त के शासन के पाँचवें वर्ष में जारी किया गया था तो इसके स्थान पर कि उक्त संवत को चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा चलाया हुआ मानें इसे समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के स्मारक में चलाया गया मानना अधिक तर्कसंगत समर्थन। [1]

किन्तु मजूमदार महोदय ने आगे यह भी लिखा है कि उक्त संवत का चन्द्रगुप्त द्वारा चलाया जाना काफी प्रचलित मत है इसमें कोई सन्देह नहीं। हाँ यह एक मात्र या प्रामाणिक सत्य नहीं है। वास्तविकता जो भी हो इस संवत को जनता में आगामी गुप्त शासकों ने निश्चय ही काफी योग दिया क्योंकि गुप्त-समय के जितने शिलालेख प्राप्त हुए हैं उन सब पर गुप्त संवत से ही काल-गणना की गई है।

द गुप्ता एम्पायर' में इस सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने फ्लीट को आधार मानते हुए लिखा है—

---

[1] देखिये मजूमदार और अल्तेकर *New History of the Indian People Vol VI p 132*

According to Fleet Chandra Gupta I marked his accession to the throne of Magadh by founding an era of which the first year was A D 319 320 Fleet also states that this era was also that of the Lichchhavis of Nepal from when it was taken over by Chandra Gupta I who was so individually connected with them The time of Jayadeva I of Nepal approximates closely to A D 320 The Valabhi era is also identified with the Gupta era The Valabhi Kings feudatories of the Guptas introduced the era of their over lords in their own dominion of Saurashtra We find that a son of the founder of the Valbhi dynasty uses the date 207 for one of his grants showing that there w n ndependent a m k re ta found tion

आग मजुमदार महोदय न गुप्त संवत के आरम्भ के सम्बन्ध में विवादों का सकेत करते हुए उसके समाधान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए लिखा है—

The first year of the Gupta era as fixed by Fleet has been the subject of ome controver y But the controversy may be settled in the light of the following facts & considerations The date of the Sakasatraps of Ujjain supports Fleet s conclusion if it is taken for granted that they are in the Saka era It is an es tablished fact that Saka power was extinguished by Chandra Gupta II who issued his silver coins in imitation of those of the Satraps Now the last date of Chandra Gupta is 93 while that of the Saka dynasty is 304 It is only by taking the Gupta era to begin in A D 319 & Saka era in A D 78 that these two phases of Gupta & Saka h st y c n l e econciled & brought together n tim

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु तिथि—राज्यारोहण के समय चन्द्रगुप्त की आयु काफी अधिक थी ऐसा उचित अनुमान लगाया जाता है जिसके आधार पर उसके अल्प राज्य की शंका ठीक भी हो सकती है। समुद्रगुप्त के गया ताम्रपत्र के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु तिथि ३२८ ई० ज्ञात होती है।

२१ | गुप्त साम्राज्य का निर्माण

समुद्रगुप्त

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्तों की सीमित राजनैतिक शक्ति पर प्रकाश डाला था। तब तक उन्होंने किसी प्रकार राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ली थी। श्रीगुप्त और घटोत्कच तो निश्चय ही साधारण शक्तिसम्पन्न थे, चन्द्रगुप्त प्रथम उनसे कुछ अधिक सशक्त रहा। किन्तु उन सब का राज्य केवल थोड़े से भू भाग पर सीमित था। पाटलिपुत्र के निकटवर्ती भू भाग पर ही उनका अधिकार था। पर चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् मगध के सिंहासन पर एक ऐसा वीर पुरुष बैठा जिसने अपनी विजयों द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और शताब्दियों के लिए गुप्त वंश की नींव सुदृढ़ कर दी। इस विशाल साम्राज्य निर्माता का नाम था समुद्रगुप्त।

समुद्रगुप्त के साथ गुप्तों का इतिहास भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सौभाग्यवश तभी से हम इसके इतिहास का पूर्ण ज्ञान भी होने लगता है। उक्त इतिहास के अध्ययन की सामग्रियाँ शिला-लेख, स्तम्भ-लेख, मुद्रा आदि के रूप में बिखरी पड़ी हैं जिन पर काफी अंश तक विश्वास किया जा सकता है। ये लेख समुद्रगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए हैं और बंगाल से काठियावाड़ तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में मिलते हैं।

समुद्रगुप्त के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले चार साक्ष्य हैं—दो शिला-लेख तथा दो ताम्र-लेख। प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख तो न केवल समुद्रगुप्त के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है प्रत्युत सम्पूर्ण गुप्तवंशीय राजाओं के इतिहास को प्रकाशित करने में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उक्त अभिलेख का महत्व [illegible]
अवस्था
कि ...
नहीं प्राप्त हो सकता। यह समुद्रगुप्त का इतिहास जानने का हमारा प्रमुख तथा लगभग एकमात्र साधन है । इस पंक्तियों की प्रशस्ति की रचना हरिषेण द्वारा हुई थी जिसको राज्य में अनेक महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त थे। यद्यपि फ्लीट महोदय ने ऐसा विचार किया है कि उक्त अभिलेख का निर्माण समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् हुआ है तथापि इस स्वाभाविक धारणा के विरुद्ध कि इसका निर्माण महान् सम्राट् के जीवन काल में ही हुआ कोई प्रामाणिक कारण नहीं है।[1]

मजूमदार महोदय का उक्त मत बिल्कुल ठीक है और समुद्रगुप्त के इतिहास के लिए सचमुच हम प्रयाग प्रशस्ति पर काफी निर्भर रहना पड़ता है। काव्यात्मक होते हुए भी यह सत्य के काफी निकट है।

काच समस्या

काच समस्या वर्तमान काल में भारतीय इतिहास की जटिलतम एवं गूढ़तम

---

1 *New History of the Indian People* Vol VI

विवादास्पद घटनाओं में एक है। इस पूरी समस्या का ताना बाना बना है केवल एक प्रकार की मुद्रा से। इस एक मुद्रा प्रकार पर ही इस समस्या का भव्य भवन स्थापित है। यह मुद्रा प्रकार (Coin type) इस प्रकार है—

अग्रभाग (Obverse) में —

राजा की खड़ी मूर्ति (समुद्रगुप्त के जैसे वस्त्र धारण किए हुए) बाम हाथ में चक्रयुक्त ध्वजा ग्रहण किए हुए एवं दाहिने हाथ से आहुति देते हुए।

१ वाम हस्त के नीचे गुप्तलिपि में
काच या काम

२ चारों ओर उपगीति छन्द में
का–चो–गा–म–व (जित्य दिव)
क म–भि–र
उत्त–मैर ज (यति)

काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति पृष्ठ भाग (Reverse) में—

वाम भाग में खड़ी देवी की मूर्ति लम्बे–लम्बे वस्त्र पहिने दाहिने हाथ में पुष्प पकड़े हुए एवं वाम भुजा में कानुकोपिया (Cornu Copial) अंशु मालाओं से युक्त।

वाम भाग में प्रतीक



स–र्व–रा–जो–च्छे–त्ता

एलन का मत—एलन (Allan) ने अपने मत के समर्थन में तर्क देते हुए कहा है कि अग्रभाग का मुद्रालेख (legend) समुद्रगुप्त के ध्वजाधारी प्रकार (Archer type) से पूर्णतया मेल खाता है। अतएव इन दोनों मुद्राओं को एक ही नरेश (समुद्रगुप्त) ने प्रचारित करवाया था। उसके अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं —

(१) बनावट तथा तौल समुद्रगुप्त की मुद्रा जैसा है (२) समुद्रगुप्त का दूसरा नाम काच था। (३) समुद्रगुप्त ने अपने अन्य मुद्राओं के सुचरित का अनुवाद इस सिक्के में कर्मभि उत्तमै उत्कीर्ण करवाया है। (४) सर्वराजोच्छेत्ता नामक उपाधि केवल समुद्रगुप्त के लिए ही लेखों में प्रयुक्त की गई है।

एलन (Allan) महोदय अपनी पुस्तक गुप्तसिक्के में अपने मत का पुष्टिकरण इन जोरदार शब्दों में करते हैं—

अनुश्रुति (legend) के भीतर या कल्पना के प्रभाव या उत्कल्पना का प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इन नरेशों के मुद्राओं को आज तो कहा है—इस कथन में कोई अन्तर है।

गुप्तकाल की मुद्राओं की यह स्थिर परिपाटी है कि नरेश का यथार्थ नाम या अग्रभाग (obverse) में अंकित (in run) पड़ी या खड़ी रेखा (vertical line) में राजा की मूर्ति के निम्न भाग पर। नरेश के विरुद आदि पृष्ठभाग (reverse) में या अन्य किसी स्थान पर उत्कीर्ण किए जाते थे। गुप्तकाल की इस स्थिर परम्परा ने भी एलन एवं स्मिथ आदि के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है। क्योंकि 'काच' नाम समुद्रगुप्त का विरुद या अन्य नाम नहीं माना जा सकता। यह तो किसी नरेश का यथार्थ नाम है क्योंकि सिक्के के अग्रभाग में यह उल्लिखित है।

एक अन्य बात ध्यान देने योग्य है कि जब किसी गुप्त नरेश के दो विभिन्न नाम होते थे तो केवल एक ही नाम उसके सिक्कों में अंकित किया जाता था। यदि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'काच' था तो इन दो नामों में से केवल एक ही नाम के सिक्के प्रचारित किए जाते थे। दोनों नामों के सिक्कों की उपस्थिति से यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम काच नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का दूसरा नाम देवगुप्त भी था। किन्तु देवगुप्त नाम उसके किसी भी सिक्के पर उत्कीर्ण नहीं मिलता।

यदि एलन के कथन को कुछ समय के लिए यथार्थगत मानें और समुद्रगुप्त ने ही काच के सिक्के को चलाया अंगीकार करें तो एक बात यह स्पष्ट होती है कि उसने इस सिक्के पर 'सुचरित' का अनुवाद 'कथमसत्तम' क्यों करवाया? ऐसा अनुवाद किसी अन्य गुप्त नरेश के सिक्के पर नहीं मिलता। काच को समुद्रगुप्त का सिक्का प्रमाणित करने के लिए सर्वराजोच्छेत्ता विरुद पर अधिक जोर दिया गया है। परन्तु प्रभावती गुप्ता के लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए भी सर्वराजोच्छेत्ता की पदवी प्रयुक्त की गई थी। ऐसी अवस्था में इस पदवी पर कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सकता। जब दो गुप्त सम्राटों ने सर्वराजोच्छेत्ता की उपाधि धारण की थी तो तीसरे नरेश द्वारा भी धारण की जा सकती थी।

पी० एल० गुप्ता (P L Gupta) ने अतएव कहा है—

In view of these facts Mr Allan's Suggestion is not plausible It is more likely that काच or काचगुप्त was some person other than Samudra Gupta

राखालदास बनर्जी (R D Banerji) ने भी घोषणा की है—

It is impossible to believe inspite of adjective clauses that Kacha was another name for Samudragupta

डा० डी० आर० भण्डारकर (D R Bhandarkar) ने भी लिखा है—

That all evidence thus points to Kacha being regarded as the personal name of a king distinct from Samudragupta

राखालदास बनर्जी का सिद्धांत—प्रोफेसर राखालदास बनर्जी ने काच सिक्कों को समुद्रगुप्त द्वारा अपने किसी निकट सम्बन्धी या घनिष्ठतम मित्र की स्मृति में प्रचलित स्मारक मुद्रा (memorial medals) की संज्ञा दी है। उनके अनुसार सम्भवतः काच चन्द्रगुप्त प्रथम का दूसरा पुत्र था और समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता था। इस

ज्येष्ठ भ्राता ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। अतएव अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति में समुद्रगुप्त ने इन सिक्कों को प्रचारित करवाया था। लेकिन प्रोफेसर बनर्जी ने अपने इस अनुमान के समर्थन में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। बनर्जी महोदय का सिद्धांत तो वस्तुतः एलन द्वारा प्रतिपादित एक अन्य सिद्धांत की प्रेरणा है। एलन ने चन्द्रगुप्त कुमारदेवी मुद्राओं को स्मारक मेडलों (Commemorative medals) की संज्ञा दी है। इसी सिद्धांत को आधार मान कर बनर्जी महोदय ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। परन्तु कुछ ही वर्ष पूर्व डा० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर (Dr A S Altekar) ने बड़ी सूझबूझ एवं विद्वत्ता से इस सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि *कुमारदेवी चन्द्रगुप्त सिक्के वस्तुतः चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं अपने ही शासन काल में प्रचलित करवाये थे*। अतएव स्मारक मेडलों का प्रश्न ही नहीं उठता। एलन के इस सिद्धांत पर आधारित बनर्जी का सिद्धांत भी आधारशून्य एवं न्याय असंगत प्रतीत होता है।

प्रोफेसर बनर्जी के स्मारक सिद्धांत (Commemorial theory) की सब प्रमुख आपत्तिजनक बात तो यह है जैसा कि डा० अल्तेकर ने कहा है कि इन मुद्राओं पर स्मारक स्थापयिता के नाम का अभाव। स्मारक बनाने वाले के हृदय में सबसे बड़ी उमंग यह होती है कि वह अपना नाम भी उस स्मारककृति में अंकित करवाना चाहता है जिससे कि भावी पीढ़ियाँ उन दो स्नेही व्यक्तियों का नाम सदैव स्मरण रखें। समुद्रगुप्त यदि स्मारक मेडलों को प्रचारित करवाता तो निश्चयतः उसकी यह अभिलाषा होती कि वह भ्रातृत्व स्नेह के तथ्य विश्व के प्रकाश में लाए। कुछ इतिहासकारों ने कहा है कि सर्व राजोच्छेत्ता विरुद स्मारक रचयिता का विरुद अंगीकार किया जाना चाहिए। *लेकिन यह उपाधि स्वयं में ही स्पष्ट नहीं है। हमने अभी देखा है कि चन्द्रगुप्त* विक्रमादित्य के लिए भी इस पदवी का उल्लेख किया गया है। अतएव इस विरुद को पूर्णतया किसी एक व्यक्ति की पदवी हम स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार बनर्जी महोदय का सिद्धांत भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

रैप्सन का मत—रैप्सन (Rapson) ने यह मत निर्धारित किया है कि काच समुद्रगुप्त का भ्राता था। इस ज्येष्ठ भ्राता ने चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात कुछ ही महीनों के लिए राज्य किया था। लेकिन जब हम यह देखते हैं कि समुद्रगुप्त को सिंहासन तो उसके पिता ने स्वयं प्रदान किया था तो यह सिद्धांत भी थोथा लगता है।

दाण्डेकर (Dandekar) का सिद्धांत—दाण्डेकर ने यह प्रकट किया है कि इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख से हमें यह आभास होता है कि समुद्रगुप्त तथा उसके भाइयों में थोड़ी बहुत खटपट अवश्य हुई थी। जब सिंहासन के लिए समुद्रगुप्त को चुना गया तो उसके भाइयों ने उसको ओर ईर्ष्या से दृष्टिपात किया था। चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर समुद्रगुप्त के भाइयों ने छोटा मोटा उपद्रव एवं विप्लव किया होगा ऐसा इस कथन से ध्वनित होता है। इस स्तम्भ लेख में एक खंड में यह वाक्यांश उल्लिखित है कुछ को अपनी भुजाओं द्वारा संग्राम में विजित किया। इस खंड में स्थान-स्थल पर शब्द मिटे हुए हैं। यह संग्राम हमें तब उल्लिखित मिलता है जब कि उसका चुनाव युवराज पद के लिए हो गया होता है और वह आर्यावर्त के विरुद्ध अपने प्रथम अभियान में अग्रसर होता है। इस प्रकार यह संभव है कि युवराज पद की प्राप्ति के अनन्तर उसे अपने भाइयों से युद्ध लड़ना पड़ा हो और गृह युद्ध से शान्ति पाकर ही वह आर्यावर्त को पराजित करने के लिए उन्मुख हुआ होगा। आगे चलकर

रख अन्य वाक्यांश अभियान पश्चाताप में बदल गया से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि समुद्रगुप्त के भाइयों ने अंततः परास्त होकर उसकी अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया। उन्हें अपने किए हुए साहसिक काम के बाद में बड़ा पश्चाताप हुआ।

कई इतिहासकारों ने उपर्युक्त उल्लिखित वाक्यांशों को कालक्रमानुसार नहीं माना है। उनकी दृष्टि में यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्तम्भ में वर्णित घटनाएं क्रम से तत्काल बाद हुई हों। सम्भवतः यह गृहयुद्ध तब भभका हो जब समुद्रगुप्त अपने प्रथम अभियान के निमित्त अपनी राजधानी से दूर चला गया हो। चन्द्रगुप्त प्रथम, सम्भवतः गंगा के पार किसी स्थान पर समुद्रगुप्त के पहुंचने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हुआ हो। जब समुद्रगुप्त अपने स्वर्गीय पिता के दमन करने गया होगा तभी उसके भाइयों ने इस स्वर्ण अवसर का लाभ उठाने का पूरा प्रयास किया होगा। काच ने अपने भाइयों का नेतृत्व कर इस गृहयुद्ध की ज्वाला धधकाई होगी। काच वस्तुतः कुछ समय तक सिंहासनारूढ़ रहा। उसने इसी काल में ही अपने नाम के सिक्के चलवाए। काचसिक्कों के स्वर्ण की निम्नकोटिता यह प्रदर्शित करता है कि उसने मगध के सिंहासन पर बड़ी शीघ्रता से कदम रखा था। सर्वराजोच्छेत्ता विरुद वस्तुतः एक कपटी का खाली बड़प्पन था। काच का नाम गुप्तवंशावलियों में इसीलिए नहीं जोड़ा गया क्योंकि वह बलात् सिंहासन छीननेवाला था।

प्यारेलाल गुप्ता (P. L. Gupta) ने इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—
These coins were undoubtedly the coins of काचगुप्त who was the son of Chandragupta I and step brother of Samudragupta

कृष्णाचारी का सिद्धांत—श्री एम० कृष्णाचार्य (M. Krishnacharya) भविष्योत्तर पुराण के कलियुगराज वृत्तान्त से एक उद्धरण अपनी शास्त्रीय साहित्य का इतिहास (History of Classical Literature) नामक पुस्तिका में निर्दिष्ट किया है। इसके अनुसार घटोत्कचगुप्त के पुत्र की दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम था कुमारदेवी और दूसरी चण्डश्री की पत्नी की भगिनी थी। लिच्छिवियों की सहायता से यह सर्वप्रथम मगध की सेनाओं का सेनापति नियुक्त किया गया था। तत्पश्चात् वह राष्ट्रप्रमुख टाक के पद पर आसीन हुआ। महारानी के षड्यन्त्र से उसने चण्डश्री की हत्या कर दी जो कि आन्ध्र का नरेश था। तत्पश्चात् उसने महारानी के विरुद्ध भी विप्लव किया और उसके पुत्र पुलोमा (Puloma) की हत्या कर दी। अब चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र काच की सहायता से आन्ध्रों को मगध से खदेड़ दिया और स्वयं सात वर्ष तक मगध के सिंहासन पर रहा। उसने अपना स्वयं का शकसंवत प्रचारित किया। उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर अपने पिता की एवं अपने भाइयों की हत्या करके बैठा। यह कार्य उसने म्लेच्छ सेना की सहायता से किया था।

लेकिन कृष्णाचार्य के इस सिद्धांत का बहुत बुरी तरह से खंडन किया गया है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार (R. C. Majumdar) ने इस आधुनिक जालसाजी की सभा दी है। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि कलियुग राज वृत्तान्त वस्तुतः प्राचीन काल की पुस्तक नहीं है बल्कि शास्त्रीय साहित्य के इतिहास के रचनाकार का स्वयं के दिमाग की उड़ान है। इस लेखक ने नाम एवं धन कमाने के लिए हमारे प्राचीन भारतीय इतिहास के साथ भद्दा मजाक किया है। इस मनगढ़न्त रचना को प्रस्तुत कर यद्यपि श्रीकृष्णाचार्य ने एक बार नाम तो जरूर कमा लिया लेकिन भारतीय इतिहास की अन्तरात्मा पर इतना कुठाराघात कर नाम कमाना महान व्यक्तियों को शोभा नहीं देता।

भंडारकर का सिद्धांत—सिद्धान्तों की इस शृंखला में विद्वान् देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का सिद्धांत देना तो अनिवार्य सा हो जाता है। उन्होंने अभी तक के मतों से पूर्णतया पृथक् एक नवीन मत की सृष्टि की है। भंडारकर महोदय ने काच शब्द को राम शब्द पढ़ा है। उनके लिए तो काचगुप्त की समस्या ही नहीं। वे तो रामगुप्त समस्या को ही प्रधानता देते हैं। उनके मत का मुख्य आधार है लिपि की अनियमितता। उन्होंने कहा है कि गुप्त लिपि में क का पाई नकार हट जाने से र तथा च का म तनिक असावधानी से हो जाता है। मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम (Malviye Commemoration Volume) में लिखते हुए उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

It is not unreasonable that Ramagupta, the elder brother of Chandragupta II, is a misreading of Kachgupta. The letters Ka and Cha of Gupta period are of a such type as are easy to run into Ra and Ma. If the middle bar in the Gupta letter Ka drops it can be read Ra only. Similarly if the lower left hook of Gupta Cha extends itself ommittingly, as it does in cursive writing it must read as Ma.

इस प्रकार भंडारकर के अनुसार एक असावधान उत्कीर्णक के हाथों काच राम में बदल सकता है।

लेकिन जिस नरेश ने इन मुद्राओं को ढलवाया था उसने इसे अपनी सर्वोत्तम कृतियाँ माना है (उत्तमकर्म) और अपने को सर्वराजोच्छेत्ता मानता है। लेकिन जब हम रामगुप्त की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह कायर अपने लिए समस्त राजाओं का उन्मूलन वाक्यांश प्रयुक्त नहीं कर सकता है। रामगुप्त को बड़ी सुगमता से शकाधिपति ने परास्त कर दिया था और समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे पराक्रमी वंश में जन्म लेने पर भी इस डरपोक ने अपनी पत्नी तक का सतीत्व बेचने का निश्चय कर लिया था। ऐसे कलंकी नरेश का यह कहना कि उसने उत्तम कार्य किए थे और समस्त राजाओं का उन्मूलन किया था—बिल्कुल गलत बात है। अतएव भंडारकर महोदय का सिद्धांत भी तर्कसंगत नहीं जँचता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विभिन्न मतों एवं सिद्धांतों का समर्थन एवं खंडन करते हुए हमने देखा कि केवल दाण्डेकर एवं प्यारेलाल गुप्ता महोदय का सिद्धांत ही कुछ सत्य के समीप सा जान पड़ता है। यह भी सत्य सा प्रतीत होता है पूर्ण सत्य नहीं है। पूर्ण सत्यता तो तभी प्रतिष्ठापित होगी जब कि नवीन प्रमाण प्रकाश में आयेंगे। इस आन्तरिक काल में हमें दाण्डेकर एवं गुप्ता के मतों का अनुमोदन करना चाहिए।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय

भारतीय इतिहास के साम्राज्यवादी युग में युद्ध एवं विजयों का इतना अधिक महत्त्व रहा कि लगभग सभी महाकवि एवं प्रसिद्ध कुशल चारणों ने सम्राटों की प्रशस्तियों को अमर कर दिया। प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति का कहीं अभाव नहीं, वे सर्वथा काव्यात्मक हैं। प्राचीन भारत की समस्त ऐसी प्रशस्तियों में प्रयाग की प्रशस्ति अपना अद्वितीय स्थान रखती है। उक्त प्रशस्ति में हमें समुद्रगुप्त की दिग्विजय का बोध होता है, उसके सामरिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रयाग प्रशस्ति जैसी सुप्रसिद्ध

का शासक बताते हैं।[१] ओरिजिन एण्ड डेवलप्मेंट आफ बंगाली लैंग्वेज (Origin and Development of Bengali Language) में डा० चटर्जी ने पुष्करण को बाँकुड़ा जिले में बताया है। डा० भण्डारकर भी डा० हरप्रसाद शास्त्री के इस विचार से सहमत नहीं कि पुष्करण पोकरण है और वे प्रयाग प्रशस्ति के चन्द्रवर्मन तथा सुसुनिया शिलालेख के शासक को समान मानते हैं।[२] जायसवाल महोदय इसे पूर्वी पंजाब का शासक स्वीकार करते हैं।[३] विद्वानों में मतवैभिन्य होने के कारण इस शासक के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(५) गणपतिनाग---इसके सम्बन्ध में निश्चित बातें ज्ञात हैं। यह नागों का राजधानी पद्मावती (ग्वालियर में नगर के निकट वर्तमान पदम पवाया) में ई० स० ३१०-३४४ तक शासन करता था।[४] नारवार तथा बेसनगर में इसकी मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं। डा० भण्डारकर के मतानुसार यह सम्भवतः नागों की विदिशा शाखा पर शासन करता था जिसका वर्णन विष्णुपुराण में प्राप्त होता है।

(६) नागसेन---इसका उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के राजाओं की सूची के पूर्व भी मिलता है। यह नागवंशीय राजा था और गणपति नाग के समकालीन नागों की दूसरी शाखा पर शासन करता था। हर्षचरित के इस कथन के आधार पर 'नागकुलजन्मनः सारिका श्रावितमन्त्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्यां' एलन महोदय ने प्रयाग प्रशस्ति के नागसेन तथा हर्षचरित के नागसेन को समान माना है। किन्तु जायसवाल महोदय के मतानुसार बाण का नागसेन पद्मावती का शासक था जैसा कि हर्षचरित से ही स्पष्ट हो जाता है और यह सम्भवतः गुप्तों के अधीन था। प्रयाग प्रशस्ति का नागसेन मथुरा का शासक ज्ञात पड़ता है। अतः यह कहना कि हर्षचरित का नागसेन समुद्रगुप्त का समकालीन था तर्कसंगत नहीं है।

(७) अच्युत---अच्युत के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। जायसवाल महोदय अच्युत तथा नन्दि को एक ही मानते हैं।[५] एलन महोदय ने बरेली में अहिच्छत्र (वर्तमान रामनगर) में प्राप्त मुद्राओं पर अच्यु शब्द पढ़ा है। इस आधार पर यह अनुमान किया गया है कि ये अच्युत की ही मुद्रायें हैं। डा० भण्डारकर ने इन मुद्राओं की बनावट तथा पद्मावती की नाग-मुद्राओं की बनावट में समता पाई है जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि अच्युत भी कोई नागवंशीय राजा रहा हो और मथुरा के निकट राज्य करता रहा हो। जायसवाल महोदय इसे अहिच्छत्र का शासक मानते हैं।

(८) नन्दि---पुराणों में नागवंशीय नरेशों की सूची में शिशुनन्दि या शिवनन्द का सम्बन्ध मध्य भारत से स्थापित किया गया है तथा 'ऐंशियन्ट हिस्ट्री आफ डक्कन' (Ancient History of Deccan) में डुब्रूइल महोदय ने शिवनन्दि तथा नन्दि को समान बताया है। यह भी सम्भवतः नागवंशीय शासक था।

(९) बलवर्मा---इसके सम्बन्ध में भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह राजा हर्ष के समकालीन आसाम के राजा

[१] *Indian Antiquary* 1913
[२] *Indian Historical Quarterly* I p 2..
[३] जायसवाल *History of India* (150 350) p 142
[४] जायसवाल, *History of India* (१५०-३५० ई०), p 35 or 38
[५] वही, पृष्ठ १३३।

भास्करवमन का पूवज हो।[१] किन्तु आर्यावत म आसाम नहीं सम्मिलित था अत बलवर्मा आसाम का शासक नहीं हो सकता

ख—आटविक राज्य

उत्तरी भारत के पूव वर्णित राजाओं को पराजित करके समुद्रगुप्त दक्षिण विजय की चिन्ता करने लगा किन्तु मार्ग म पडनेवाले भू भाग पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक था अत समुद्रगुप्त ने आटविक नरेशो को परास्त करके उन्हें अपना सेवक बनाया।[२] आटविक राज्य मध्यभारतीय वनपरम्परा म कहीं थे। प्रयाग प्रशस्ति म आटविक नरेशो के नाम तथा उनकी संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। फ्लीट महोदय के मतानुसार आटविक नरेश आधुनिक गाजीपुर से जबलपुर तक प्रसारित थे।

कुमारगुप्त प्रथम ने भी अन्य शब्दो म समुद्रगुप्त की प्राप्तियों एव नीतियो का गुणगान करते हुए अपने बिलसड के अभिलेख मे लिखा है—

सर्वराजोच्छेत्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलिलास्वादित यशसो धनद वरुणेन्द्रान्तक समस्य कृतान्त परशो न्यायागतानेक गो हिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्ना श्वमेधाहर्त्त ।

जितनी इस सम्राट की प्रशसा की गई है वस्तुत वह उसका पात्र भी है। वह भारत का चक्रवर्तिन सम्राट था। भारत के सवमहान नरेशो मे उसका स्थान अग्रणी है। उसने अपने विभिन्न सनिक अभियानो से भारत के विभिन्न भागो पर आधिपत्य जमाया था। इतना होने पर भी हम उसकी तुलना नेपोलियन से नहीं कर सकते। नेपोलियन की तो बस यही एक नीति थी कि विजय प्राप्त कर विजित क्षेत्र को अपना अंग बना लेना। परन्तु समुद्रगुप्त ने पूणतया इस नीति का अनुमोदन नहीं किया था। उसे हम सनिकवाद का पुजारी नहीं कह सकते। नेपोलियन सनिकवाद का महान उपासक था। श्री आयगर ने हमारे मत की पुष्टि इन शब्दो म की है—

It is most unjust to describe him as a Napolian who regarded kingdom taking as the duty of the kings

उसने अपने विजयो के दक्षिणी भाग म धर्मविजयी की नीति अपनाई थी। वह एक उदार एव परलोक विश्वासी नरेश था। उसे कुछ धर्म के पालन आदि का भी ध्यान रखना अनिवाय प्रतीत होता था। इसी भावना से काम लेते हुए वह ग्रहणमोक्षानुग्रह धर्मयश का प्रणेता बना। यह वाक्यांश उसका नारा बन गया। कुछ विद्वानों को इस भावना की सात्त्विकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। उन्होंने कहा है कि यह सब उदार भावनाए सहिष्णुदृष्टिकोण और कुछ नहीं वल्कि कूटनीति के दाँव पेंच हैं। उसकी वाणी म भी अमलियत का रंग नजर आता है। लेकिन पूरा असलियत क्या है यह तो स्वय सम्राट या सम्राटो का सम्राट भगवान ही बता सकते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों म पूरे भारतवष का एक राजधानी से शासन चलाना बडी कठिन बात थी। सचार व्यवस्था नहीं थी आवागमन के साधन नहीं थे मार्ग बड़े बीहड एव ऊबड़ खाबड थे—इन दशाओं म एक प्रतिभावान राजनीतिज्ञ का कर्तव्य होता है कि वह अन्य उपाय निकाले जिसमें उसका प्रभुत्व भी जमा रहे और विप्लव तथा उपद्रव होने की आशकाए भी न हों। समुद्रगुप्त ने ऐसा ही मार्ग अपने लिए वरण किया। उसने दक्षिण के नरेशो को पहिले तो परास्त किया एव तत्पश्चात उनके राज्यों को उन्हीं को वापस

[१] *Epigraphical Indica* Pt 12 p 69

[२] परिचारकीकृत सर्वाटविकराजस्य (प्रयाग प्रशस्ति)

कर उन्हें साम्राज्य का स्वामिभक्त मित्र बना लिया। इस प्रकार एक ओर यह नरेश स्वतंत्र थे और इस प्रकार उनके विप्लव या उपद्रव करने का भय नहीं था। दूसरी ओर यह लोग समुद्रगुप्त की धाक स्वीकार करते थे। उसके प्रति अपनी आदर व्यक्त करना अपना पावन कर्तव्य समझते थे।

इसी दक्षिण के विजय में इसने इन निम्नलिखित नरेशों को जीता था।

(१) कौसलक महेन्द्र (कोशल का महेन्द्र)—

यह कोशल निश्चित रूप से दक्षिण कोशल का निर्देश करता है। इस दक्षिण कोशल में बिलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर के जिले सम्मिलित हैं। यह जिले भारत के नूतन मानचित्र के अनुसार मध्यप्रदेश के पूर्वी एवं दक्षिणी भाग हैं। जहाँ तक स्थिति निश्चयन का प्रश्न था वह तो हो गया लेकिन महेन्द्र के विषय में हमें किसी अन्य स्थान से कुछ भी पता नहीं चलता।

(ii) महाकान्तारक व्याघ्रराज (महाकान्तार का व्याघ्रराज)—

जायसवाल ने महाकान्तार की एकात्मकता बस्तर एवं कांकेर से की है एवं यहाँ के राज्य व्याघ्रराज की एकात्मकता वाकाटक सामंत युवराज व्याघ्र से स्थापित करते हैं। इस युवराज के अभिलेख नचना की तलाई तथा गंज (मध्यप्रदेश) में प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानों ने इस व्याघ्रराज को बस्तर के उच्छकल्प राजवंश का माना है। इस एकात्मकता के विरुद्ध मुख्य बात तो यही है कि व्याघ्रराज को दक्षिणापथ के शासकों में ही होना चाहिए। उत्तरापथ के शासकों में नहीं। बस्तर से उसके राज्य के निश्चयन से वह विन्ध्याचल के उत्तर का नरेश बन जाता है जो युक्तिसंगत नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह अश्वराज के क्षेत्र में भी हो जाता है जो उसे नहीं आना चाहिए क्योंकि उसी अभिलेख में अन्य स्थान पर अश्वराज का पूर्णरूपेण पृथक् उल्लेख है। यद्यपि यह आपत्तियाँ अकाट्य अन्तिम रूप्य नहीं हैं लेकिन फिर भी गम्भीर तर्क हैं प्रस्तावित एकात्मकता पर। एक इतिहासकार ने व्याघ्रराज का व्याघ्र को (उड़ीसा में) का शासक प्रस्तावित किया है। इसे जयपुर वन का सम्राट भी एक पुराने अभिलेख में कहा गया है। अतएव महानद एवं महाकान्तार में पर्याप्त समरूपता पर इतिहासकार ने अपनी एकात्मकता प्रस्तुत की थी। परन्तु प्रकाशाभाव में हम निश्चितपूर्वक नहीं कह सकते कौन-सी एकात्मकता सत्य है।

(iii) कौरालक मण्टराज (कुराल का मण्टराज)—

कीलहार्न (Kielhorn) के मतानुसार कुराल कुणाल का गलत रूप है। कुणाल का वर्णन ऐहोल अभिलेख में आया है। पुलकेशिन द्वितीय ने इसे पराजित किया था। जायसवाल ने कोल्लर झील (Colair Lake) के साथ इसकी एकात्मकता स्थापित की है। कई विद्वानों ने इसे गलत बताया है। भण्डारकर ने इसे मध्यप्रदेश में सोनपुर जिले से एकात्म किया है। बार्नेट (Barnett) ने केरल (Kerala) से इसकी एकात्मकता स्थापित की है। फ्लीट (Fleet) ने इसे ग्वालियर के आसपास माना है। रायचौधरी (Raychaudhuri) ने इसको येरंडपल्ल मानकर पूर्वी गोदावरी जिले में नागपुर तालुका से एकात्मकता माना है। मण्टराज के विषय में हम कुछ भी पता नहीं चलता।

(iv) पैष्टपुरक महेन्द्रगिरि (पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि)—

गोदावरी जिले में पिष्टपुर ही आधुनिक पीठापुरम है।

इस स्थल पर आकर प्रशस्ति के शब्द क्रम में तनिक कठिनाई-सी प्रतीत होती है।

फ्लीट (Fleet) ने वाक्य (पिष्टपुरकमहेन्द्रगिरि कौट्टूरक स्वामिदत्त) का विभाजन इस प्रकार किया है पिष्टपुर महेन्द्र तथा गिरि कौट्टूरक स्वामिदत्त। वह इसका अनुवाद इस प्रकार करता है पिष्टपुर का महेन्द्र पर्वत के कोट्टूर का स्वामिदत्त। फ्लीट के इस प्रकार के विभाजन करने के पीछे यही तर्क है कि महेन्द्रगिरि एक शासक का नाम नहीं हो सकता। लेकिन यह प्रस्ताव अमान्य है।

डा० भगवानदास इन्द्रजी ने इस वाक्य को इस प्रकार से खंडित किया है पिष्टपुरक महेन्द्रगिरिक अहूरक तथा स्वामिदत्त (स्वामिदत्त पिष्टपुर महेन्द्रगिरि तथा अहूर का शासक था)। यह मत भी अमान्य है क्योंकि महेन्द्रगिरि एक पर्वत श्रेणी का नाम तो हो सकता है लेकिन एक देश का नहीं। दूसरी बात व्याकरण की है। यदि यह देश या पर्वत का नाम होता तो इसे 'माहेन्द्रगिरिक' होना चाहिए था न कि महेन्द्रगिरिक।

विन्सेंट ए० स्मिथ (Vincent A Smith) का खंड सर्वमान्य है। वह इस प्रकार से है—पिष्टपुरक महेन्द्र गिरि (पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि) तथा कौट्टूरक स्वामिदत्त (कोट्टूर का स्वामिदत्त)

(v) कौट्टूरक स्वामिदत्त (कोट्टूर का स्वामिदत्त)—

अयंगर ने कोट्टूर को कोयम्बटूर से एकात्मकता स्थापित की है। डा० फ्लीट ने कोट्टूर की कोट्टूर-पोलासी (Kothur Polaci) से एकात्मकता स्थापित की है। यह कोट्टूर पोलासी कोयम्बटूर जिले मे है। श्री डुब्रेल महोदय इसे गंजाम जिले का कोट्टूर मानते है। गंजाम आन्ध्र प्रदेश का मुख्य नगर है। सथियानथायर महोदय ने तुनी (पूर्वी गोदावरी जिला) के समीप कोट्टूरू के साथ इसकी एकात्मकता स्थापित की है। स्वामिदत्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(vi) एरण्डपल्लकदमन (एरण्डपल्ल का दमन)—

एरण्डपल्ल खानदेश का एरण्डोल माना जाता है। यही प्रचलित मत है। श्री डुब्रेल महोदय ने इसकी एकात्मकता उड़ीसा तट पर चिकाकोले (Chicacole) के समीप एरण्डपल्ली शहर के साथ की है। सथियानथायर महाशय ने इसे पश्चिमी गोदावरी जिले का चिन्तलपुडी तालुका (Chintalpudi taluka) माना है।

(vii) काञ्चेयक विष्णुगोप (काञ्ची का विष्णुगोप)—

काञ्ची निश्चित रूप से चिंगलपुट जिले मे काञ्जीवरम है। विष्णुगोप को प्रारम्भिक पल्लव नरेश माना गया है।

(viii) अवमुक्तक नीलराज (अवमुक्त का नीलराज)—इसके विषय मे हमे कुछ भी पता नहीं चलता।

(ix) वैंगेयक हस्तिवर्मन—(वेंगी का हस्तिवर्मन)—

इस वेंगी का वेगी या पेडडा-वेगी से एकात्मकता अंगीकार की गई है। यह वेगी या पेडडा वेगी गोदावरी जिले के एल्लोर तालुका मे एक गाँव है। हस्तिवर्मन की हुल्टश (Hultzch) ने अट्टिवर्मन के साथ एकात्मकता की है। यह पल्लव जाति के कन्दर नरेश के परिवार का व्यक्ति था। आयंगर ने यह प्रस्तावित किया है कि हस्तिवर्मन एल्लोर तालुके का सालङ्कायन महाराज था।

(x) पालक्कोग्रसेन (पालक का उग्रसेन)—

स्मिथ ने पालक्क को पालघाट या पालकड माना है। यह मालाबार जिले के दक्षिण मे अवस्थित है। डुब्रेल ने इस स्थान को कृष्णा के दक्षिण मे स्थिर किया है। बर्जेस ने इसे नेल्लोर जिले मे माना है।

(११) दैवराष्ट्रक कुबेर (देवराष्ट्र का कुबेर)—

श्री वाई० आर० गुप्ते, फ्लीट तथा स्मिथ ने इसे महाराष्ट्र में स्थिर किया है। भंडारकर ने इसे देवराष्ट्र (येलामञ्चिली क्षेत्र) का देश माना है। इसका उल्लेख विजगापट्टम जिले में प्राप्त एक ताम्रपत्र पर हुआ है कुबेर की एकात्मकता के विषय में कुछ लोगों की राय है यह चन्द्रगुप्त द्वितीय की महारानी कुबेर नागा का पिता था। लेकिन तथ्यों के अभाव में हम कुछ नहीं कह सकते। श्री मथियाराआयर ने इसे सतना जिले के खानपुर में निश्चित किया है।

(१२) कौस्थलपुर धनञ्जय (कुस्थलपुर का धनञ्जय)—

बार्नेट के अनुसार यह उत्तरी अर्काट में पालर के समीप कुट्टलपुर है। आयंगर की दृष्टि में यह कुस्थलीपुर नदी के आसपास का क्षेत्र है।

समुद्रगुप्त की दिग्विजयों का मार्ग एवं उसके शासन का विस्तार

श्री स्मिथ (Smith) के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर उन्मुख होने के पूर्व गंगा की घाटी में अपना अभियान प्रारम्भ किया था। इस अभियान के उपरान्त ही दक्षिण दिशा की ओर वह उन्मुख हुआ था। ५० ई० के लगभग दक्षिण में उसका अभियान समाप्त हुआ था।

श्री डुब्रल (Dubreuil) हृदय का विचार है कि समुद्रगुप्त की दक्षिणी दिग्विजय उसके शासन के प्रारम्भिक वर्षों में घटित हुई थी। उनकी गणनानुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण का अपना अभियान ३४ ई० या ३४० ई० में प्रारम्भ किया था।

इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख में समुद्रगुप्त की विभिन्न विजयें जिस क्रम से वर्णित हैं। उसी क्रम से समुद्रगुप्त ने भारत या उत्तर भारत पर विजय प्राप्त की होगी—यह एक विवादग्रस्त समस्या है। लेकिन इतना तो हम कह सकते हैं कि हरिषेण ने इन विजय वर्णनों में शतप्रतिशत कालक्रमानुसार का ध्यान नहीं रखा होगा। प्रशस्तिकार का मुख्य ध्येय नरेश का गुणगान एवं आदर वर्द्धन होता है। शतप्रतिशत इतिहास का वर्णन नहीं। अतएव विद्वानों ने यह मानना अधिक युक्तिसंगत समझा है कि स्तम्भ की विभिन्न घटनाओं का क्रम वस्तुतः कालक्रमानुसार नहीं निर्धारित किया है।

श्री जे० डुब्रल (Dubreuil) ने अपने एक विशिष्ट मत का प्रतिपादन किया है। अपनी पुस्तक के अनुसार समुद्रगुप्त कभी भी काञ्ची के परे नहीं गया। उन्होंने प्रचलित मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि कोयम्बटूर (Coimbatore) तथा मालाबार जिले (मद्रास प्रेसीडेंसी) महाराष्ट्र तथा खानदेश समुद्रगुप्त के कभी जाते नहीं थे। जिन विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है उसका एकमात्र कारण है उनकी कुछ भौगोलिक नामों की गलतफहमी और कुछ नहीं। उन्होंने नामों की समरूपता देखकर दो नामों में एकात्मकता स्थापित कर दी है। यही वास्तविक त्रुटि है। श्री डुब्रेल महोदय ने अपने इसी मत की मजबूती पर खण्डन करने के लिए एक रूप कल्पना का भी निर्माण किया है। उन्होंने कहा है कि समस्त नरेशों के संघ ने मिलकर समुद्रगुप्त का सामना किया था। यह नरेश गोदावरी तथा कृष्णा के मुहानों के समीप शासन करते थे। इन नरेशों में प्रमुख हस्तिवर्मन थे विष्णुगोप। दूसरे नरेश थे नीलराज हस्तिवर्मन, उग्रसेन तथा कुबेर। पश्चिम दक्षिण के इन नरेशों ने समुद्रगुप्त के द्रुतगति से बढ़ते हुए पग रोक दिए थे और यही नहीं उसकी सेनाओं को भी पीछे ढकेल दिया गया था। इस स्थान पर हार खाने के बाद समुद्रगुप्त ने उड़ीसा के तट पर की गई

ड—गणराज्य

उत्तरी एवं पूर्वी सीमा के राज्यों को विजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर मुड़ा और उसने वहाँ के गणराज्यों का अन्त किया। सम्भवतः इसी समय से भारत में गण शासन का अन्त हुआ। समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन शासन करने की आज्ञा दे दी और ये गणराज्य उसे कर देते रहे। इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) मालव (४) मद्रक (७) सनकानीक
(२) अर्जुनायन (५) आभीर (८) काक तथा
(३) यौधेय (६) प्रार्जुन (९) खर्परिक।

नीचे इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

(१) मालव—सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के सम्बन्ध में पहले-पहल हमने इनके विषय में ज्ञान प्राप्त किया था। ये अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध थे। उस समय यह जाति उत्तर पश्चिमी सीमा पर निवास करती थी किन्तु कालान्तर में इन्होंने राजपूताना को अपना निवासस्थान बनाया जहाँ शक शासक नहपान के जामाता उषवदात से इनका युद्ध हुआ था। इनके नाम पर ही उस स्थान (अवन्ति) का नाम मालवा पड़ा। इनका सम्बन्ध विक्रम संवत से भी बताया गया है और इसीलिये विक्रम संवत को कभी कभी मालवसंवत भी कहते हैं।[१] समुद्रगुप्त के शासन काल में इस जाति का आधिपत्य मध्यभारत पर था। तीसरी शती ईस्वी की बहुत सी मुद्रायें जयपुर राज्य के नागर नामक स्थान से मिली हैं जिन पर जय मालवगणस्य जय उत्कीर्ण है।[२]

(२) अर्जुनायन—बृहत्संहिता में यौधेय के साथ इस जाति का उल्लेख किया गया है और प्रशस्ति में इन्हें मालव एवं यौधेय के मध्य में। इस आधार पर इतिहासकारों ने यह अनुमान किया है कि इनका निवास स्थान मध्यभारत में मालवों तथा यौधेयों के निवासस्थान (पूर्वी पंजाब) के मध्य में कहीं रहा होगा। इनकी मुद्रायें भरतपुर एवं अलवर राज्य में मिली हैं जिन पर अर्जुनायनानां जय उल्लिखित है।[३]

(३) यौधेय—पाणिनि के समय में भी इस जाति का अस्तित्व बना रहा और उसने इन्हें आयुधजीवी बताया है।[४] महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा शक संवत् १५० में क्षत्रियों में वीर की उपाधि धारण करनेवाले यौधेयों के पराजित किये जाने का उल्लेख मिलता है।[५] भरतपुर रियासत में बयाना के निकट विजयगढ़ से प्राप्त एक लेख में यौधेयों का नाम दिया है जिसमें उनके 'महाराज महासेनापति' उपाधि धारण करनेवाले अधिपति का उल्लेख है।[६] ऐसा अनुमान किया जाता है कि पंजाब की बहावलपुर रियासत की जोहिया नामक जाति यौधेयों की आधुनिक वंशधर है तथा यौधेयों के नाम पर ही उस प्रदेश का जोहियावार नाम पड़ा है। यौधेयों की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर यौधेयानां गणस्य जय अथवा भगवतो स्वामिन ब्रह्मण्य यौधेयदेवस्य उत्कीर्ण है।[७]

---

[१] मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये गु० लेख नं० १८

[२] J I S 18 p 883

[३] इ० म्यू० कै० पृष्ठ १६१।

[४] अष्टाध्यायी ५।३।११४।

[५] सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां (इ०ए०भा० ८पृ०४७)

[६] C I I भाग ३ नं० ५८, पृष्ठ २५१–५२।

[७] *Coins of Ancient India* Plate C

(४) मद्रक—इनकी भी गणना पाणिनी ने अष्टाध्यायी में आयुधजीवियों के साथ की है।[१] ये प्राचीन काल में उत्तर पश्चिम में निवास करते थे। झेलम तथा रावी के मध्य का भाग मद्र-देश के नाम से विख्यात था।[२]

(५) आभीर—सिकन्दर के आक्रमण के समय भी इनकी आस्था बनी रही जिसका विवरण दिया जा चुका है। यूनानी इन्हें शूद्र (Sodrai) कहते थे। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी इस जाति का उल्लेख किया गया है।[३] इनकी दो शाखायें थी जिनमें प्रथम शाखा पंजाब तथा दूसरी मध्यभारत में निवास करती थी। दूसरी शताब्दी ई० में इनकी शक्ति काफी बढ़ गई थी। गुण्डा की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आभीरों का सेनापति ईश्वरसेन था। इसने पश्चिमी भारत के शासक शक महाक्षत्रप को पराजित किया और स्वयं शासक बन बैठा। झाँसी तथा भिलसा के मध्य भाग को आहिरवाड़ा इसीलिये कहते हैं कि यहाँ आभीर जाति रहती थी।[४] यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि समुद्रगुप्त ने आभीरों की दोनों शाखाओं को अपने अधीन कर लिया था।

(६) प्रार्जुन—इस जाति के निवासस्थान का कोई निश्चित समीकरण नहीं हो सका है। इतना अवश्य है कि ये भी मध्य भारत में कहीं बसे थे और अधिक सम्भावना है कि नरसिंहपुर अथवा नरसिंह गढ़ का इलाका इनका निवासस्थान था।

(७) सनकानीक—चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के लेख में सनकानीक महाराजा का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें यह बताया गया है कि सनकानीक शासक गुप्तों के अधीन थे।[५] इनका निवासस्थान भिलसा के निकट कहीं था।

(८) काक—ये सनकानिकों के पड़ोसी थे। मध्यभारत में इनका उल्लेख किया गया है।[६] बम्बई गजटियर में काक की समता बिठूर के निकट काकपुर से की गई है। स्मिथ महोदय के अनुसार साँची के निकटवर्ती प्रदेश काकनाद ही काक है।

जायसवाल ने भिलसा से बीस मील उत्तर काकपुर नामक स्थान में काकों का निवास-स्थान बताया है।[७] काकों के निवास के कारण ही इस स्थान का नाम काकपुर पड़ा होगा।

(९) खर्परिक—भण्डारकर महोदय के मतानुसार ये मध्यप्रान्त के दमोह जिले में बसे थे।[८] बटिहागढ़ के एक लेख में खर्पर जाति का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर भण्डारकर ने प्रयाग प्रशस्ति के खर्परिक को बटिहागढ़ का खर्पर बताया है।

उपरोक्त समस्त गणराज्य मध्य प्रान्त तथा मध्य भारत के प्रदेशों में थे और समुद्रगुप्त ने इन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया।

---

१ मद्रवृज्योः कन्।

२ R K Survey Report Pt 2 p 14

३ महाभाष्य १।२।३

४ J B U R S 1897 p 891

५ फ्लीट नं० ३।

६ महाभारत ६।९।६४।

७ J B U R S p 29

८ भण्डारकर, I H Q 19.. 2 8

९ Epigraphica Indica p 12 46

है। समुद्रगुप्त के वंशधरों के अभिलेखों में इस यज्ञ के लिए चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु लिखा है जिसका अभिप्राय यह सूचित करता है कि पर्याप्त तक उपेक्षित अवस्था में पड़े रहने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने इस यज्ञ का पुनर्स्थापन किया था। परन्तु इसमें साफ अतिरंजना है क्योंकि हमें विदित है कि भारशिव नागों तथा प्रवरसेन प्रथम वाकाटक ने समुद्रगुप्त से कोई बहुत समय पूर्व अश्वमेध नहीं किये थे।[१]

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन

समुद्रगुप्त की विजयों की इस लम्बी तालिका से उसके सामरिक गुणों का अनुमान लगाना अत्यन्त सरल है और यह अनुमान सत्य के काफी निकट तक पहुँचेगा। इसकी दिग्विजय के आधार पर ही कुछ इतिहासकारों ने इसकी तुलना नैपोलियन से की है जिसके सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि यह तुलना निराधार है। कहाँ एक साधारण सिपाही और कहाँ राजकुमार! इन दोनों की विजयों में भी अन्तर है। नैपोलियन का युद्ध प्रमुख शक्तियों से हुआ था जब कि समुद्रगुप्त को उन शक्तियों का सामना करना पड़ा था जिनका भारतीय इतिहास में कोई बहुत बड़ा सामरिक महत्व नहीं था। कभी पराजित न होनेवाली विशेषता का यहाँ आंशिक अन्त हो जाता है।

समुद्रगुप्त के चरित्र का मूल्यांकन भी अतिरंजनात्मक है। इसका मूल कारण यह है कि चरित्र निरूपण का मूलाधार प्रयाग प्रशस्ति है। काव्य में राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख तो बहुधा कुछ समझ कर किया जाता है क्योंकि उसमें सत्यासत्य के स्पष्टीकरण का कुछ भय बना रहता है किन्तु जब कवि अपने स्वामी या नायक का चरित्र चित्रण करने लगता है तो वह समस्त गुणों को उसी में केन्द्रित कर देना चाहता है।[२] ठीक यही दशा हरिषेण की है। उसने समुद्रगुप्त में समस्त गुणों को पुंजीभूत कर दिया है—

यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः शास्त्र तत्त्वार्थभर्तुः (जिसका मन विद्वानों के सत्संगसुख का व्यसनी था जो शास्त्र के तत्वार्थ का समर्थन करने वाला था) स्फुटबहुकविताकीर्तिराज्यं भुनक्ति (बहुतेरी स्फुट कविता से कीर्तिराज्य का भोग कर रहा है) धर्मप्राचीरबन्धः शशिकरशुचयः कीर्तयः सप्रताना—वैदुष्यं तत्त्वभेदि प्रशम—तीर्थम् (धर्म के बाँध हुए परकोटे के सदृश जिसकी कीर्ति चन्द्रमा की किरणों की भाँति निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी जिसकी विद्वत्ता शास्त्र तत्त्व को पहुँच जाती थी) अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं (जिसने सूक्तों का मार्ग अपना ध्येय बना लिया और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियों के मति के विभव का उत्सारण करती थी) साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनतिमात्रग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतो नेकगोशतसहस्रप्रदायिनः कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनद वरुणेन्द्रान्तकसमस्य (जिसका मन कृपण दीन, अनाथ आतुर जनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था जो लोक के अनुग्रह तथा साक्षात् ज्वल्यमान् स्वरूप था जो कुबेर वरुण

[१] देखिए Annals of the Bhandarkar Institute I II pp 104 65 तथा डा० एस० के० एयंगर Studies in Gupta History pp 44 45

[२] हरिषेण के शब्दों में हो को न स्याद्यो स्य न स्याद् गुणमतिः (ऐसा कौन था जो उसमें न था—)

था। ऐसे विजेता को राजनीति में असुरविजयी की उपाधि प्रदान की जाती थी। आर्यावर्तीय राजाओं की सूची प्रयागप्रशस्ति में इस प्रकार दी गई है—

(१) रुद्रदेव (६) नागसेन
(२) मतिल (७) अच्युत
(३) नागदत्त (८) नन्दि
(४) चन्द्रवर्मन (९) बलवर्मा
(५) गणपति नाग

उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने अन्य राजाओं को भी पराजित किया होगा जैसा कि आदि अनेक आर्यावर्तराज के प्रयोग से परिलक्षित होता है। ये समुद्रगुप्त के समीपवर्ती राज्य थे, अतः यह बहुत सम्भव है कि समुद्रगुप्त ने पहले इन पर ही आक्रमण किया हो। यहाँ रैप्सन महोदय के इस मत का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उनके विचार से ये नौ राजा विष्णुपुराण के नव नाग नरेश हैं। इन नागवंशी नरेशों ने एक सम्मिलित राज्य की स्थापना की थी जिसे उन्मूलित करके समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिया था।[1] किन्तु इसके समर्थन में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं प्राप्त है। सम्भवतः ये भिन्न भिन्न स्थानों के शासक थे। इनके सम्बन्ध में अब तक जो कुछ तथ्यों का बोध हो सका है उनका विश्लेषण नीचे किया जायगा।

(१) रुद्रदेव—जायसवाल तथा दीक्षित महोदय रुद्रदेव को सम्भवतः वाकाटक वंश का संस्थापक करते हैं। वे रुद्रदेव तथा वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम को एक मानते हैं।[2] किन्तु प्रयाग प्रशस्ति में रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त के शासकों में की गई है पर वाकाटक-नरेश रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था।[3]

(२) मतिल—इसके सम्बन्ध में अभी कोई विशेष मान्य मत निश्चित नहीं हो सका है। कुछ इतिहासकार इसे बुलन्दशहर के निकट का शासक स्वीकार करते हैं जहाँ इसके नाम की एक मुहर प्राप्त हुई है। एलन महोदय ने गुप्त क्वायन्स की भूमिका में मुहर के मतिल तथा उक्त मतिल को दो भिन्न राजा स्वीकार किया है, क्योंकि मुहर में नाम के साथ उपाधि नहीं उत्कीर्ण है। जायसवाल महोदय मतिल को अन्तर्वेदी का शासक नागवंशीय नरेश मानते हैं।[4]

(३) नागदत्त—मथुरा के निकट बहुत-सी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर उत्कीर्ण नाम के अन्त में 'दत्त' शब्द आता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने नागदत्त को भी मथुरा के निकटवर्ती भाग का शासक बताया है। जायसवाल महोदय ने इसको नागवंशीय शासक (ई० स० ३२८—३४८) बताया है।

(४) चन्द्रवर्मन्—बाँकुड़ा (पूर्वी बंगाल) में सुसुनियाँ पर्वत पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिस पर चन्द्रवर्मन् का नाम उत्कीर्ण है। जिसके आधार पर इसे पुष्करण नामक स्थान का शासक होने का अनुमान किया गया है।[5] डा० हरप्रसाद शास्त्री पुष्करण और मारवाड़ स्थित पोकरण को एक मानते हैं और चन्द्रवर्मन् को मारवाड़

---

[1] *Journal of Royal Asiatic Society* (1397) p. 241

[2] जायसवाल *History of India* (150-350) p. 7

[3] *Indian Historical Quarterly* I p. 255

[4] जायसवाल *History of India* (150-350) p. 36

[5] *Epigraphica India* Vol. XIII

स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिस पर महामानव अशोक से शान्ति सन्देश खुदे हुए हैं। प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सन्धिविग्रहिक सेना नायक था। अत सेनानायक द्वारा विजयो का विवरण सत्य से निकट होगा ऐसा सभी स्वीकार करते है काव्यात्मकता इसमे भले ही कुछ अत्युक्ति का समावेश कर सकती है। फ्लीट महोदय ने सम्राट के यश सम्बन्धी लिखे गये विदशपतिभवनाप्तललितसुखविचरणम वाक्याश के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि प्रयाग प्रशस्ति का निर्माण समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र द्वारा किया गया। इस मत के समर्थन मे कुछ विद्वान् समुद्रगुप्त द्वारा आयोजित अश्वमेध को भी देते है क्योकि उक्त यज्ञ का उल्लेख इस प्रशस्ति मे नही है। इस आधार पर कुछ विद्वानो का यह मत है कि प्रयाग प्रशस्ति की रचना समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात हुई किन्तु इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात तथा अश्वमेध के पूर्व प्रयाग प्रशस्ति की रचना हुई थी। इसमे विजित राजाओ की नामावली दक्षिणापथ के राजाओ से प्रारम्भ होती है किन्तु इसका यह अर्थ नही निकालना चाहिए कि समुद्रगुप्त ने अपनी विजय यात्रा दक्षिण से प्रारम्भ की थी। डुब्रियल महोदय का यह मत है कि विजय यात्रा का वर्णन काल क्रम के अनुसार किया गया है।[1] जायसवाल महोदय ने कौमुदी महोत्सव के आधार पर यह मत निर्धारित किया है कि चन्द्रगुप्त प्रथम (चण्डसेन) ने पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या मे शरण ली थी और यही से समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की थी।[2] प्रयाग प्रशस्ति मे विजयो की तिथि का निर्देशन नही किया गया है। विजयो का वर्णन परिगणन किया गया है उसमे पारस्परिक क्रम का उल्लेख भी नही किया गया है। इन विजयो का विविध मात्रायें हैं जिनके अनुसार समुद्रगुप्त की विजयो को निम्नलिखित छ भागो मे विभक्त कर सकते हैं —[3]

क—उन्मूलित राज्य जिसका समुद्रगुप्त ने असुर विजयी नृपति की भाँति सर्वथ नाश (उत्खाय तरसा) कर दिया

ख—आटविक राज्य जिनके अधिपतियो को उसने अपना सेवक बनाने को बाध्य किया

ग—दक्षिणापथ के राज्य जिनके अधिकारियो को उसने धर्म विजयी नृपति की भाँति पराजित करके श्री विहीन तो कर दिया किन्तु उनके राज्य को पुन उन्हे लौटा दिया

घ—प्रत्यन्त राज्य

ङ—गण राज्य जिन्होने हतप्रभ होकर स्वय आत्मसमर्पण कर दिया था और

च—भारतीय सीमा पर स्थित तथा कुछ विदेशी राज्य जिन्होने समुद्रगुप्त के प्रति आत्म निवेदन किया।

नीचे इन पर पृथक-पृथक प्रकाश डाला जायगा।

क—उन्मूलित राज्य (आर्यावर्त विजय)

विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की भूमि का प्राचीन नाम आर्यावर्त था।[1] समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओ को पराजित करके एकछत्र राज्य की स्थापना

---

१ Ancient History of Deccan p 32

२ जायसवाल, History of India (1 0 3 0) pp 1..-40

३ अनेक आर्यावर्तराज प्रसभोद्धरणोदयतप्रभावमहत । दशरथ-गुप्त लेख संख्या १

इन्द्र और यम के समान था) निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः (जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीतकला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु काश्यप तुम्बुरु नारद आदि को लज्जित किया था) विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य (जिसने विद्वानों को जीविका देने वाली अनेक काव्य क्रियाओं से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया था) ऐसा समुद्रगुप्त है।

उपरोक्त काव्योचित अतिरंजित शैली में हरिषेण ने समुद्रगुप्त का जो चरित्रचित्रण किया है इसी आधार पर बहुधा विद्वानों ने भी समुद्रगुप्त का मूल्यांकन किया है। समुद्रगुप्त की युद्धनीति की प्रशंसा कुछ इतिहासकारों ने मुक्त कंठ से की है। वह सभी विजित राज्यों को अपने साम्राज्य में न मिलाकर अधिकांश को मुक्त कर देता था और उनसे कर लेता था जैसा कि बताया जा चुका है किन्तु इसमें उदारता और कूटनीति का क्या अनुपात था यह कहना कठिन है।

किन्तु हरिषेण की अतिरंजना भी निराधार नहीं हो सकती—समुद्रगुप्त में वे गुण किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहे होंगे जिनसे कवि को अत्युक्ति की प्रेरणा मिली होगी।

तिथि निर्णय—समुद्रगुप्त की तिथि का बोध कराने के साधन सीमित हैं। उसके से दो प्रयाग एरण तथा गया के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इन तीनों शिलालेखों में से केवल गया की प्रशस्ति में तिथि का उल्लेख है जो गुप्त संवत के नवें वर्ष की है और इसका सन् (३१९+९) ३२८ वर्ष में पड़ता है। किन्तु इस तिथि को मानने में सभी इतिहासकार सहमत नहीं। डा० राय चौधरी तिथि पाठ[1] पर तथा डा० फ्लीट स्वयं गया प्रशस्ति की प्रामाणिकता पर[2] विश्वास नहीं करते। डा० स्मिथ ने यह तिथि ३३०–३७५ के बीच निर्धारित की है। नालन्दा तथा गया के तिथियुक्त दानपत्र गुप्त संवत के अनुमानतः क्रमशः पाँचवें और नवें वर्ष अंकित हुए थे। इस आधार पर समुद्रगुप्त के शासन-काल का प्रारम्भ ३२४–२५ ई० में माना जा सकता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की सम्भवतः प्रारम्भिक प्रशस्ति मथुरा की प्रशस्ति है 'जिसकी तिथि गुप्त संवत के ६१वें वर्ष की है। अतः समुद्रगुप्त के शासन-काल की समाप्ति (३१९–६१) = ३८० ई० तक अवश्य हो गई होगी। विद्वानों ने ३७५ ई० तक समुद्रगुप्त का शासन काल बताया है। शासन-काल का प्रारम्भ इसी आधार पर ३३० ई० में बताया जाता है।

समुद्रगुप्त की मुद्राएं

समुद्रगुप्त ने लगभग आठ प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं का निर्माण करवाया था। इसकी मुद्राओं के प्रारम्भिक उदाहरणों पर तो कुषाणशैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है पर आगे चल कर विशुद्ध भारतीय शैली पर मुद्राओं का निर्माण करवाया जाने लगा। समुद्रगुप्त की अधिकांश मुद्राएं ध्वज शैली की हैं। इसके अतिरिक्त धनुर्धारी शैली, परशु शैली, काच शैली, व्याघ्र शैली, वीणावादक शैली, अश्वमेध शैली आदि विभिन्न शैलियों की मुद्राओं का भी निर्माण करवाया गया था।

[1] राय चौधरी, *Political History of Ancient India* (I Edition)

[2] फ्लीट—गुप्तलेख भूमिका।

परिशिष्ट

रामगुप्त समस्या

लगभग ५० वर्ष पूर्व किसी भी इतिहासकार को यह भी पता नहीं था कि रामगुप्त नाम के एक महान गुप्त सम्राट ने भी भारतवर्ष पर राज्य किया था। गुप्तवंश की वंशावलियों को ही ध्यान में रख कर मानने वालों की आँखें तब खुलीं जब देवीचन्द्रगुप्तम नाम का एक नाट्य ग्रन्थ उनके सम्मुख आया। इस नाटक के रचयिता विशाखदत्त हैं। यद्यपि यह नाटक मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता है परन्तु इसके उद्धरण हम विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने सिंहासन ग्रहण किया था। यह तत्कालीन इतिहासकारों की दृढ़ धारणा थी। परन्तु अब तथाकथित इस धारणा पूर्णतया खंडित अगगत प्रतीत होती है। इस प्रकार राम गुप्त समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हुई।

विशाखदत्त की रचना की ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता के विषय में मतभेद पाया जाता है। कुछ इतिहासकारों ने तो इस रचनाकार की सृजनात्मक प्रतिभा का चमत्कार माना है। वे इसे एक कपोलकल्पित कथा मानते हैं। उनके अनुसार एक नाटक में से ऐतिहासिक तथ्य ढूँढना पूर्ण मूर्खता है। परन्तु इन इतिहासकारों की दलीलें नगण्य हैं। देवीचन्द्र गुप्तम की ऐतिहासिकता के विषय में विभिन्न प्रमाण प्राप्त हुए हैं उनका उल्लेख हम निम्नलिखित करेंगे।

देवीचन्द्रगुप्तम की ऐतिहासिकता—हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य रामचन्द्र एवं गणचन्द्र की प्रसिद्ध पुस्तक नाट्य दर्पण में इस नाटक के प्रथम छह अंश आए हैं। हेमचन्द्र कुमारपाल (११४८–११७३ ई०) का समकालीन था। कुमारपाल अन्हिलपातक के चालुक्यवंश का नरेश था।

राजा भोज ने भी अपने शृंगारप्रकाश में इस पुस्तक से उद्धरण दिए हैं। भोज एक महान राजनीतिज्ञ था। उसने निश्चयत ही ऐतिहासिक तथ्यों को उद्धृत किया होगा

सजन प्लेटों का प्रमाण यह सिद्ध करता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भ्राता की हत्या की थी। उसके सिंहासन को बलात छीना था और उसकी पत्नी से विवाह किया था। संस्कृत का मूल श्लोक इस प्रकार है—

हत्या भ्रातरमेव राज्य हरद्देवी च दीनस्तत

विशाखदत्त ने अपने नाटक में इसी घटना को विस्तृत कर साहित्यकार की तूलिका से लिखा है। इस प्रकार घटना की यथार्थता एवं सत्यता का प्रमाण हम उपर्युक्त लेखों से लग जाता है। देवीचन्द्रगुप्तम की ऐतिहासिकता का प्रभावकारी वर्णन उदाहरण है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में यह अंकित किया है कि पराई स्त्री को चाहने वाले शकपति को चन्द्रगुप्त ने स्त्री वेषधारण कर मार डाला। मूल श्लोक इस प्रकार है—

परत्र नत्रकामुक कामिनी वेषगुप्त चन्द्रगुप्त शकपतिमासतयत ।'

सगली तथा कन्वे प्लटों ने भी ऐसी घटना के साथ साह्मार्क' नाम के नरेश का सयोजित किया है। साहमार्क को वस्तुतः चन्द्रगुप्त ही अनवार्य समझना चाहिये। इस प्रकार यह प्लटें भी घटना की प्रामाणिकता का बोध कराता है।

राजशेखर (९०० ई०) ने अपनी काव्यमीमांसा में एक पद्य कुमारगुप्त प्रथम का सम्बोधित करके लिखा हुआ है। इस पद्य का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

The praises (of Chandragupta) are sung by women of कार्तिकेय नगर just on that Himalaya from where Sarma (Pama?) Gupta was forced to retreat after giving over his queen to the king of Khasas (Shakas)

इस पद्य के शर्मगुप्त को रामगुप्त मानकर एवं खस को शक मानकर इतिहासकारों ने इस पद्य को भी देवी चन्द्रगुप्तम की घटना की सत्यता का प्रमाण स्वीकार किया है।

देवीचन्द्रगुप्तम नाटक का चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त प्रथम को निर्दिष्ट करता है या द्वितीय को—इसके लिए इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त की महारानी ध्रुवदेवी को उपस्थित किया है। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री थी अतएव नाटक का नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय है। इसी ने रामगुप्त की विधवा से विवाह कर उसे अपनी सम्राज्ञी बनाया था।

विशाखदत्त भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार का नाटककार या समकालीन माना जाता है। हिल्लेब्रान्ट (Hille Brandt) टानी (Tawney) वि० स्मिथ (Smith) तथा काशी प्रसाद जायसवाल (K P Jayaswal) ने अपने तर्कों से विशाखदत्त को महान गुप्त सम्राट का समकालीन सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार यह नाटककार अनिवार्य रूप से अपने काल में घटी इस महत्वपूर्ण घटना का प्रेक्षक था और उसी ने घटना को अमर रूप देने के लिए अपने हाथों से इसे सजाया।

इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक की घटना की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाती है। अब हम संक्षेप में इस घटना का उल्लेख करेंगे।

देवीचन्द्रगुप्तम् की कथा—समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरांत रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। रामगुप्त की पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। शक नरेश ने एक बार युद्ध में सिंहासन में रामगुप्त की सेनाओं को बुरी तरह से घेर लिया। शक नरेश ने जब देखा कि अब विजय पूर्णतया निश्चित है और मगध का साम्राज्य उसी के कदमों को चूमने वाला है तो उसने रामगुप्त के सम्मुख विचित्र शर्त रखा। रामगुप्त ने अपनी दयनीय स्थिति को देखते हुए अपनी महारानी को शकनरेश के पास भेजना स्वीकार कर लिया। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस अपमानजनक कार्य के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया और ध्रुवदेवी के वेश में शकाधिपति के कैम्प में जाने के लिए अपने को प्रस्तुत किया। इस छल से वह शत्रु को मारना चाहता था। चन्द्रगुप्त का षड्यन्त्र सफलीभूत हुआ। चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा की। इस घटना ने चन्द्रगुप्त को जनता की दृष्टि में बड़ा कर दिया। महारानी ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के लिए अपने हृदय में स्थान बनाया। रामगुप्त की प्रसिद्धि एवं चरित्र ने अत्यधिक भीषण आघात पाया। गद्दी में आना। भाइयों में खटपट होना प्रारम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त को यह डर रहने लगा कि कहीं उसका ज्येष्ठ भ्राता उसकी हत्या न करवा दे। अतएव उसने पागलपन का स्वांग रचाया। अन्त में चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की किसी प्रकार हत्या कर दी और स्वयं सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सिंहासनारोहण उपरान्त उसने ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया।

यह थी घटना जिसका ज्ञान आधुनिक शताब्दी की देन है। इस घटना के निर्माण में विभिन्न विद्वानों के विचारों, धारणा, उद्योग एवं प्रतिमा का प्रयोग किया है। इस प्रकार गुप्तवंश के पूर्णतया अज्ञात अध्याय हमारे सम्मुख खुल गया है।

कुछ आपत्तियाँ—भारतवर्ष में ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण हम प्रत्येक समस्या में मतभेद एवं आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। रामगुप्त के साथ भी यही अवस्था है। हमने उपर्युक्त प्रमाण जो उल्लिखित किए हैं वे ऐसे नहीं हैं कि उनमें आपत्तियाँ उपस्थित न की जा सकें।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में जिस शर्मगुप्त का निर्देश किया है उसे इतिहासकारों ने रामगुप्त माना है। उनकी इस एकरूपता स्थापित करने के पीछे केवल एक ही तर्क है—वह यह कि शर्मगुप्त एवं रामगुप्त दोनों की पत्नियों का नाम ध्रुवस्वामिनी था। लेकिन केवल पत्नी के नामों में समरूपता होने से यह आवश्यक नहीं है कि वे केवल एक ही नरेश की पत्नी हों। खस नाम के राजा का इस पद्य में उल्लेख है। इसे विद्वानों ने शक स्वीकार किया है। इसके लिए विद्वानों का कहना है कि क्योंकि साहित्यकार एक रोमांटिक पृष्ठभूमि एवं काव्यगत विरोधाभास का विकास करना चाहता था अतएव उसने इतिहास में थोड़ी सी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति ग्रहण की है। लेकिन काशी प्रसाद जायसवाल ने इस दलील का खण्डन करते हुए लिखा है—

It is unlikely that in the desire of having a romantic back ground and developing a poetic contrast he may have permitted him self a little liberty with history by changing the name Saka into Khasa

हम यह भी भलीभाँति जानते हैं कि रामगुप्त के दिनों में खसों में इतनी शक्ति नहीं थी कि गुप्त सम्राट को परास्त एवं पददलित कर सकें। इलाहाबाद स्तम्भ लेख (C. I. A. D.) में खसों का कहीं निर्देश तक नहीं आता। काशी प्रसाद जायसवाल ने खसों की स्थिति को निश्चित करते हुए बताया है कि इन लोगों ने कर्तृपुर तथा नेपाल पर अपना आधिपत्य जमाया हुआ था। यह दोनों राज्य समुद्रगुप्त के सीमान्त सामन्तीय राज्य थे। इन दोनों में से किसी को भी खसाधिपति की संज्ञा नहीं दी गई है। अतएव जायसवाल महोदय ने यह कहा है कि यह उचित नहीं प्रतीत होता कि एक ही पीढ़ी के अन्तर्गत खस लोग इतने शक्तिशाली हो गए कि वे गुप्त साम्राज्य को एक अपमानजनक सन्धि के लिए विवश करें। उन्हीं के शब्दों में—

It is therefore unlikely that within one generation the khasas would have become so powerful as to dictate a humiliatingpeace to the Gupta empri

अतएव उन्होंने माना है कि खस शब्द वस्तुतः शक के स्थान पर गलती से लिखा गया है। इस प्रकार यह आपत्ति का भी समाधान हो जाता है।

किसी भी गुप्त अभिलेख ने जिसमें कई राजकीय हैं वंशावली में रामगुप्त का नाम नहीं लिखा है। अतएव विरोधी इतिहासकारों ने इसी से रामगुप्त की ऐतिहासिकता मानने से इनकार कर दिया है। लेकिन अभिलेखों में नरेश के नाम की अनुपस्थिति नरेश की ऐतिहासिकता के विरोध में पर्याप्त प्रमाण नहीं हो सकता है। एक इतिहासकार ने हमारे मत के समर्थन में लिखा है—

Epigraphical lists are usually genealogical and dynastic and they are often omit collateral rulers

लेखों में उत्कीर्ण सूचियाँ अधिकांशतः वंशावलियाँ होती हैं। वे किसी एक ही परिवार के सदस्यों की सूचना देती हैं। अतएव उनसे यथार्थता की अपेक्षा करना दुष्कर कार्य है। राजवंशीय सूचियाँ इन अभिलेखों में कम ही होती हैं और समकालीन शासकों को तो अक्सर यह उपेक्षित करती हैं।

एरण (Eran) अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। रामगुप्त सम्भवतः ज्येष्ठ पुत्र हो या उनमें से एक। पिता की मृत्यु के अनन्तर उसने सिंहासन सँभाला होगा।

कुछ इतिहासकारों ने यह आपत्ति उठाई है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपने बड़े भाई की विधवा से विवाह करना उचित नहीं प्रतीत होता अतएव वे घटना की प्रमाणिकता में संदेह करते हैं। लेकिन यह न मानने वाली बात पूर्णतया ऐतिहासिक तथ्य है। कुछ लोगों ने यह भी संभावना व्यक्त की है कि चन्द्रगुप्त की पत्नी का नाम भी ध्रुवदेवी हो सकता है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की ध्रुवदेवी तथा रामगुप्त की ध्रुवदेवी दो पृथक् देवियाँ हैं। लेकिन यह तर्क भी कोई जोरदार नहीं है।

डा० एस० कृष्णास्वामी तथा श्री आर० सरस्वती ने घटना का यह रूप स्वीकार नहीं किया है। इन दो महानुभावों के अनुसार ध्रुवदेवी दुर्घटनावश शक नरेश के द्वारा पकड़ी गई थी। शकनरेश ने इस अवसर का लाभ उठा उससे प्रेम प्रस्ताव किया। ध्रुवदेवी ने किसी भाँति इस घटना की सूचना रामगुप्त तक पहुँचा दी। रामगुप्त ने सम्राज्ञी का भेष बना शक नरेश से एक साक्षात्कार किया। इसी साक्षात्कार के समय उसने शकाधिपति का वध कर डाला।

घटना को तोड़-मरोड़ कर इस प्रकार उपस्थित करना केवल कल्पना में ही यथार्थ माना जा सकता है। इस घटना के समर्थन में उपर्युक्त दोनों महाशयों ने कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किए हैं। अतएव दिमागी उड़ान को यथार्थ तथ्य का रूप नहीं दिया जा सकता है।

कुछ लोगों ने रामगुप्त के सिक्कों के अभाव को भी नरेश की अनैतिहासिकता का प्रमाण माना है। हम मानते हैं कि नरेश के सिक्कों की अनुपस्थिति काफी गम्भीर आपत्ति है। लेकिन यह संभव है कि नरेश का राज्यकाल इतना छोटा रहा हो कि वह अपनी मुद्राएँ न निकलवा सका हो क्योंकि सिंहासन पर आते ही उसे शकाधिपति से अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करना था। डा० भंडारकर ने काच मुद्राओं को रामगुप्त की मुद्राएं माना है। उन्होंने जिन तर्कों के आधार पर यह एकरूपता स्थापित की है उसका वर्णन हमने काच समस्या के अन्तर्गत किया है।

एक इतिहासकार ने लिखा है कि यह विश्वास करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है कि महान समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी को एक विदेशी नरेश ने इतनी बुरी तरह से परास्त किया कि वह अपनी स्त्री देने तक को विवश हो गया। अपने शत्रु को स्त्री उपहार रूप में देना जितना निन्दनीय कार्य है उसके लिए हमारे पास शब्द नहीं। और स्वर्णकाल के भारत में उस नरेश द्वारा जिसकी रगों में समुद्रगुप्त का खून बहता था यह कार्य करना घोर अपमान एवं तिरस्कार है।[१] अतएव यह घटना सत्य नहीं हो सकती।

१ It is difficult to believe that the inheritor of the mighty empire of Samudragupta could be so decisively defeated by a Saka

लेकिन जब हम मजमनुत्तवारीख में वर्णित घटना का अध्ययन करते हैं तो स्थिति की गहराई का अनुमान होता है। इसमें यह वर्णित है कि नरेश रव्वल (रामगुप्त) तथा उसका दल एक पहाड़ी दुर्ग में घेर लिया गया था। रव्वल (रामगुप्त) की सेना शक नरेश द्वारा पूर्ण परास्त कर दी गई थी अब नरेश शकाधिपति की दया पर स्थिर था। अतएव ऐसी अवस्था को देखकर उसने नरेश की अपमानजनक शर्त मान ली। लेकिन इस परिस्थिति में भी हम इस प्रकार के कुकृत्य का परिष्कार नहीं मान सकते हैं। इस निन्दनीय कार्य से तो यही श्रेयजनक था कि नरेश अपनी हार मान ले।

कुछ इतिहासकारों ने यह मत प्रस्तावित किया है क्योंकि रामगुप्त का नाम महान् गुप्त वंशावलियों में नहीं आता है अतएव सम्भवतः वह सम्राट न रहा हो वल्कि एक प्रान्तीय राज्यपाल रहा हो। यह तो निश्चित है कि गुप्तों में शाही खानदान के व्यक्ति गवर्नर नियुक्त किए जाते थे। गोविन्दगुप्त वैशाली का गवर्नर था। रामगुप्त और चन्द्रगुप्त सम्भवतः भाई या भतीजे थे और वे बुन्देलखंड में राज्य कर रहे थे। शक नरेश ने प्रान्तीय गवर्नर रामगुप्त की पत्नी की माँग की थी न कि सम्राट रामगुप्त की। मुद्राओं का अभाव भी हमारे इस मत का अनुमोदन करता है।

लेकिन इस सिद्धान्त से हम वर्तमान साहित्यिक प्रमाणों के विरुद्ध जा पड़ेंगे। इन साहित्यिक प्रमाणों में नरेश का उल्लेख है गवर्नर का नहीं। अमोघवर्ष की संजन प्लेटों ने भी अज्ञात गुप्त नरेश की ओर निर्देश किया है। अमोघवर्ष की इन प्लेटों ने इस अज्ञात नरेश की दानवीरता का मध्य शब्दों में वर्णन किया है। एक राज्यपाल इतने लाख रुपये दान में व्यय नहीं कर सकता। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त महान सम्राटों ने कभी भी अपने गवर्नर की जो कि उनका निकट सम्बन्धी हो इस प्रकार की दयनीय परिस्थिति नहीं देख सकते। वे अपने वंश पर कलंक का टीका नहीं थोप सकते। एक शत्रु गुप्तवंश की एक अबला को बलात ले जाये और वे, संस्कृति का ढिंढोरा पीटने वाले शांत रहें बिल्कुल असम्भव बात है। हमने देखा कि इस विषम संकट में रामगुप्त और चन्द्रगुप्त किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते हैं। यह वास्तव में उनके पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सम्राट होने का ही प्रमाण है। यदि वे किसी सम्राट के राज्यपाल होते तो अनिवार्य रूप से उन्होंने अपने स्वामी से सहायता की आकांक्षा की होती।

रामगुप्त को सम्राट मान लिए जाने पर हमारी एक अन्य समस्या का भी समाधान हो जाता है। यह समस्या यह थी कि प्रारम्भिक गुप्तकालक्रम बड़ा ही अस्वाभाविक प्रतीत होता था। जब से यह निश्चित हो गया कि गुप्त संवत का संस्थापक कोई विदेशी नरेश नहीं है बल्कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही इसका संचालक है तो हम इसका प्रारम्भ ३१९-२० ई० के लगभग कह सकते हैं। इसकी ओर चन्द्रगुप्त द्वितीय निश्चित रूप से ४१२-१३ ई० में राज्य कर रहा था। इस प्रकार प्रथम तीन नरेशों ने लगभग ९३ वर्ष कम से कम राज्य किया था। जब कुमारगुप्त का शासनकाल भी हम इसमें जोड़ते हैं तो चार निरन्तर नरेशों की शासनावधि कम से कम १३० वर्ष बढ़ती है। इसमें १० या १५ वर्ष और जोड़े जा सकते हैं क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम ने संवत स्थापन के १०

king that he had no means of saving his army or kingdom save by consenting to an act which would be regarded as the most ignominious by any king in any age or country not to speak of the mighty emperor of the golden age of India who had the blood of Samudra gupta running in his veins

या १५ वर्ष में ही अपना राज्य कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार इन चार नरेशों के लिए ३५ वर्ष औसतन समय का मान होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास में निरन्तर चार नरेशों के लिए यह औसत कुछ अजीबोगरीब सी लगती है। अतएव ५वें नरेश रामगुप्त के इस शृंखला में सम्मिलित हो जाने से इस अस्वाभाविकता की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार रामगुप्त की ऐतिहासिकता अब एक पूर्णतया सिद्ध तथ्य हो गयी है।

शक नरेश का समीकरण—जिस शक नरेश ने रामगुप्त को ऐसी दयनीय परिस्थिति में पहुंचा दिया था उसकी पहचान के विषय में गम्भीर मतभेद हैं। केवल शकाधिपति के अतिरिक्त नरेश की स्थिति का उसके नाम का हम तनिक भी ज्ञान नहीं। विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न कल्पनाएं की हैं। आइए उन कुछ कल्पनाओं से हम आपको परिचित करवायें।

डा० फ्लीट (Dr Fleet) के अनुसार उत्तर पूर्वीय भारत में किसी स्थान पर कनिष्क प्रथम का वंशज समुद्रगुप्त के आक्रमण के समय शासन कर रहा था। अतएव इसी वंश की ही ओर यह शकाधिपति इंगित करता है।

डा० राखाल दास बनर्जी (Dr R D Banerji) के अनुसार जिस शक ने रामगुप्त के क्षेत्र पर आक्रमण किया था, वह कनिष्क के पुत्र का वंशज था।

श्री रंगस्वामी सरस्वती (Rangaswami Sarasvati) के अनुसार यह शक नरेश स्वामी सत्यसिंह का पुत्र स्वामी रुद्रसिंह था जिसकी अन्तिम ज्ञात तिथि ३१० ई० है। लेकिन यह एकमत उचित नहीं है क्योंकि शक घटना ३७५ ई० पश्चात और ३८० के मध्य घटी थी।

डा० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर (Dr A S Altekar) ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि यह शक नरेश पश्चिमी क्षत्रप राजवंश का एक शासक था जिसे रुद्रसेन द्वितीय कहा जाता है। इस नरेश की तिथियाँ ३४८ से ३७८ ई० के लगभग हैं लेकिन हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं जो यह बता दे कि पश्चिमी क्षत्रप इतने अधिक शक्तिशाली हो गए कि वे गुप्त सम्राटों को बलात् हटाने के समय थे विशेषतः अलीपुर क्षेत्र से।

श्री वी० वी० मिराशी (V V Mirashi) ने प्रस्ताव किया है कि शक एक कुषाण नरेश था जिसने पंजाब एवं काबुल पर राज्य किया था। मिराशी नरेश का नाम नहीं लिखता है।

श्री जगन्नाथ (Jagannath) के अनुसार यह सम्राट कोई खस नरेश था जिसका नाम लिखा नहीं गया।

काशी प्रसाद जायस्वाल (K P Jayaswal) ने लिखा है कि ३६० ई० में काबुल का कुषाण नरेश ग्रम्बेट शर्वेनियन (Sassanian) की ओर से सीस्तान के शकों सहित रोमनों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था। एक पीढ़ी बाद राजराज तोरमाण जो कि पश्चिमी पंजाब में शासन कर रहा था या तो स्वयं चन्द्रगुप्तम् का शकाधिपति था या उसका दूसरा उत्तराधिकारी। इस शासक को सर्वप्रथम बुहलर (Buhler) ने निर्दिष्ट किया था।

शकाधिपति एवं रामगुप्त के संघर्ष की स्थिति निश्चयन के विषय में भी विभिन्न इतिहासज्ञों की विविध धारणायें हैं।

डा० राखालदास बेनर्जी के अनुसार यह मुठभेड़ सम्भवतः मथुरा के आस-पास हुई होगी।

डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने इस संघर्ष को जालंधर-दोआब में घटित होना निश्चित किया है।

डा० भंडारकर ने कहा है कि सम्भवतः यह पूरा दृश्य गोमती की घाटी में हुआ है।

श्री आर० एन० सलेटार ने प्रस्ताव किया है कि यह भूभाग झेलम तथा रावी के बीच कांगड़ा घाटी में होना चाहिए।

इस प्रकार हम अभी तक नरेश की निश्चितता तथा युद्धस्थल की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कह सकते हैं। भावी अनुसंधान एवं प्रमाण हमें इस दिशा में कदाचित् कुछ सहायता देंगे।

निष्कर्ष—डा० अनन्त सदाशिव राव अल्तेकर महोदय की सम्मति मानते हुए हमें देवीचन्द्रगुप्तम् की घटनाओं को पूर्णतया एक-एक शब्द सत्य नहीं मानना चाहिए—न ही हम इस नाटक को कपोलकल्पित कहें। देखिए उन्हीं के शब्दों में—

These considerations stand on the way of accepting as historical the strange episode of Ramgupta until atleast the existence of this king is established on unimpeachable grounds while the story cannot be dismissed of hand as altogether a figment of imagination we must not rush to the other extreme of accepting in fold plots of drama and popular tales as reliable facts

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

रामगुप्त के अल्प शासन के पश्चात् समुद्रगुप्त का दूसरा पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। पिछले पृष्ठों में हमने देखा था कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कापुरुष रामगुप्त की हत्या करके उसकी पत्नी से ब्याह किया और राज्याधिकारी हुआ। शकों की पराजय चन्द्रगुप्त की वीरता का प्रथम उदाहरण है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि चन्द्रगुप्त भ्राता की हत्या करके ही राज्याधिकारी बन सका। कुछ प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सम्भवतः वह इसका प्रकाश खुले दरबार में न कर सका था और इसीलिये साधारण नियमानुसार ज्येष्ठ पुत्र सिंहासनारूढ़ हुआ। इसकी स्पष्ट ध्वनि तत्परिगृहीत[1] शब्द से होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त के इस मन्तव्य का प्रकाश राज्यारोहण के पश्चात् कर देना आवश्यक समझा था। समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे जिसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख (का० इ० इ० तृतीय पृष्ठ २०) में भी समुद्रगुप्त को 'बहु-पुत्र-पौत्र' युक्त बताया गया है। इन बहुत से पुत्रों में उसने चन्द्रगुप्त को ही मनोनीत किया इसमें समुद्रगुप्त की कुशलता का परिचय प्राप्त होता है।

[1] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का दानपत्र।

डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'द गुप्ता इम्पायर' पृष्ठ ४५ पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के निर्वाचन के सम्बन्ध में विभिन्न साक्ष्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—

The Eran Stone inscription of Samudra Gupta (Fleet No 2) refers to the many sons and grandsons of Samudra Gupta while the Mothura Stone inscription of Chandra Gupta II (Fleet No 4) states that he was chosen for the throne out of all his sons (tatpangrihtena) by Samudre Gupta The same fact is repeated in the Bihar & Bhitari Stone Pillor inscription of year 61
Samudra Gupta in fact gave to his son the same compliment as was paid to him by his father who acclaimed him before all his kinsmen (tulyakulaj) as the fittest to succeed him on the throne'

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति—यहाँ तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का बोध कर लेना आवश्यक है। जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर बैठा उस समय यद्यपि भारत की विभिन्न जातियों एवं राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी क्योंकि जैसा कि हमने पिछले परिच्छेद में पढ़ा है समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राज्य आटविक राज्य, दक्षिणापथ के राज्य प्रत्यन्त राज्य गणराज्य आदि का दमन कर दिया था फिर भी यह दमन स्थायी नहीं रह सकता था क्योंकि दासता में स्थायित्व लाने के लिये अधीन राज्यों की समय की लम्बी दूरी पार करके अभ्यस्त कराना आवश्यक था पर ऐसा नहीं हो सका था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात ही रामगुप्त जैसा कायर शासक सिंहासनारूढ़ हुआ जिसकी दुर्बलता का परिचय हम पिछले पृष्ठों में प्राप्त कर चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में तो चारों ओर विद्रोह होना आवश्यक था किन्तु समुद्रगुप्त की भीषणता की स्मृति अब भी अवशेष था अतः केवल शकों ने ही विद्रोह किया। उन दिनों शकों के दो केन्द्र थे—(१) सीमाप्रान्त अफगानिस्तान आदि और (२) मालवा तथा पश्चिमी भारत।

चन्द्रगुप्त की नीति—ऐसी परिस्थिति में चन्द्रगुप्त को सतर्कता से काम करना था। अतः उसने युद्ध तथा वैवाहिक सम्बन्ध दोनों अस्त्रों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना उपयुक्त समझा। पहिले हम उसके वैवाहिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे। चन्द्रगुप्त ने नागकुल की एक राजकुमारी कुबेरनागा से ब्याह किया। कुबेरनागा से उसको प्रभावती नामक कन्या उत्पन्न हुई जिसका ब्याह उसने वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से कर दिया।[1] यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि रुद्रसेन से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक भारी शक्ति को घरलता-पूर्वक अपना हितैषी बना लिया। समुद्रगुप्त की दिग्विजयों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि वाकाटक नरेश रुद्रसेन (प्रयाग प्रशस्ति का रुद्रदेव) उत्तरी भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक था। यह राष्ट्रसंघ बनाकर गुप्त नरेशों से युद्ध कर सकता था। यद्यपि समुद्रगुप्त ने वाकाटकों की शक्ति काफी क्षीण कर दी थी तथापि मध्य दक्षिण में रुद्रसेन द्वितीय के समय में वाकाटकों की शक्ति बनी थी और इसीलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय ने

---

[1] Ep Ind XV p 41 तथा आगे ४१६ प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र लेख भी देखिये।

इससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के महत्त्व का बोध हमें स्मिथ महोदय के इस कथन से हो जाता है—

वाकाटक महाराज का अधिकार एक ऐसी भौगोलिक स्थिति पर था जहाँ से वह गुजरात और सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों के विरुद्ध उत्तरी आक्रान्ता की सहायता या बाधा पहुँचा सकता था।

समुद्रगुप्त ने अनेक विजयें कीं और उसने गुप्त साम्राज्य की सीमा को काफी बढ़ाया पर हमें यह भी ज्ञात होता है कि उसके साम्राज्य में समस्त विजित राज्य नहीं सम्मिलित थे। समुद्रगुप्त के विशाल साम्राज्य में ही अनेक छोटे छोटे राज्य थे जो उसके करद थे। इस प्रकार इसे एकछत्र राज्य नहीं कहा जा सकता था। पूर्व तथा उत्तर के सीमान्त राज्य एक प्रकार से स्वतन्त्र ही थे, उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त की भी लगभग यही दशा थी। अतः विजयों द्वारा भी अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चन्द्रगुप्त के लिये आवश्यक था।

शक विजय—रामगुप्त पर आक्रमण करनेवाले शकों को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया। इसका प्रमाण हमें पिछले पृष्ठों में मिल चुका है। एक अन्य प्रमाण उदयगिरि का गुहालेख है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्धसचिव के लिये लिखा है— सम्पूर्ण विश्व की विजय कामना रखनेवाले अपने स्वामी (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के साथ वह (शाब) यहाँ (पूर्वी मालवा) आया।[1] सनकानिक महाराज (४०१–०२ ई०) तथा आम्रकारदेव (४१२–१३ ई०) के अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने प्रमुख विरोधी गुजरात तथा काठियावाड़ प्रायद्वीप के शक शासक शक-नरेश रुद्रसिंह तृतीय पर विजय प्राप्त करके पश्चिमी सीमा की ओर अपने राज्य का विस्तार किया। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि रामगुप्त को त्रस्त करने वाले शकपति को चन्द्रगुप्त द्वारा पराजित करने की बात कहाँ तक सत्य है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ इतिहासकारों की तो यह भी धारणा है कि 'देवी चन्द्रगुप्तम्' आदि साहित्यिक ग्रन्थों में वर्णित शक चन्द्रगुप्त-युद्ध वास्तव में चन्द्रगुप्त द्वितीय की इसी शक-युद्ध का प्रतिध्वनि है। श्री आर० सी० मजूमदार के शब्दों में—

'It is not unlikely that the literary references to Chandragupta's war with Sak chief mentioned above in connection with the episode of Ramgupta contain an echo of this victory.' —*Classical Age*, p 19

शक विजय की तिथि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे पास कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्य तथा मुद्रायें हैं। शकों के अन्तिम नरेश रुद्रसिंह तृतीय की मुद्राओं पर (अन्तिम वर्ष की मुद्राओं पर ?) शक संवत ३१० (ई० सन ३८८) अंकित है।[2] शक मुद्राओं के अनुकरण पर बनाई गई चन्द्रगुप्त की चाँदी की प्रारम्भिक मुद्राओं की तिथि ९० (इकाई की संख्या के अभाव में यह ९० तथा ९९ के बीच में भी हो सकती है) ज्ञात है अर्थात् ४०९ से ४१८ ई० सन्। ऊपर चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त सनकानिक महाराज विष्णुदास के पुत्र के दानपत्र का उल्लेख किया गया है जिसकी तिथि

---

[1] कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञेवेह सहागतः—उदयगिरि का गुहालेख का०इ०इ०१६।

[2] रैप्सन Andra Coins। इकाई की संख्या के अभाव में यह ३१० से ३१९ के बीच में भी हो सकता है और फिर ३९७ ई० सन् होगा।

गुप्त संवत् ८२ (ई० सन् ४०१–०२) है। इससे भी उक्त तिथि के निर्धारण में काफी योग मिलता है और इन समस्त प्रमाणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह युद्ध पाँचवीं शती ईस्वी की प्रथम दशाब्दी में हुआ।

विजय का परिणाम—इस विजय से चन्द्रगुप्त ने न केवल विदेशियों को भारत से पृथक् किया प्रत्युत उसने अपनी राज्य-सीमा के अन्तर्गत काठियावाड़ तथा गुजरात जैसे प्रदेशों को सम्मिलित करके अपने साम्राज्य का प्रसार बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक कर दिया। पश्चिमी तटवर्ती पत्तनों के सम्पर्क में आ जाने के कारण भारत के पाश्चात्य व्यापार पर एक प्रकार से गुप्तों का एकाधिकार हो गया। साथ ही देश पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क में आ सका।

अन्य विजयें—अब हम चन्द्रगुप्त की अन्य विजयों पर विचार करेंगे जिनका संकेत अभिलेख से मिलता है। चन्द्रगुप्त के युद्ध सचिव शाब के लेख से यह ज्ञात होता है कि वह (चन्द्रगुप्त द्वितीय) विश्व विजय करने के लिए चला था। चन्द्रगुप्त के सेनानायक आम्रकार्दव के लिये कहा जाता है कि उसने अनेक विजयों से ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश इन विजयों के विषय में जानकारी का अभाव है। दिल्ली की कुतुबमीनार के निकटवर्ती लौहस्तम्भ (महरौली स्तम्भ) पर चन्द्र नामक किसी राजा की विजय-यात्रा का उल्लेख है। इस स्तम्भलेख में चन्द्रगुप्त ने सिन्धु नदी के सातों मुखों को पार करके वाह्लिक (बल्ख) के शासकों को जीता[1] इस प्रकार का वर्णन है जिससे यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि मेहरौली लौहस्तम्भ लेख का चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है[2] तो हम यह निश्चित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य के पूर्वीय तथा पश्चिमी दोनों सीमान्त प्रदेशों पर आक्रमण किया और उसे इन अभियानों में सफलता प्राप्त हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बल्ख का मार्ग सिन्धु

[1] यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्।
वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे,
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः—मेहरौली लौहस्तम्भ लेख

[2] बसाक (*H N E Ind* pp 13 18) तथा फ्लीट (*C I I* 3) भूमिका, पृष्ठ १२) चन्द्र को चन्द्रगुप्त मानते हैं और बंगाल पर उसके आक्रमण करने की तथा सामर्थ्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, बनर्जी (*Ep Ind* 14 pp 36 1) तथा हरप्रसाद शास्त्री (वही, १२ पृष्ठ ३१५ २१, १३, पृष्ठ १३३) चन्द्र को चन्द्रवर्मन मानते हैं और अपने मत के समर्थन में सुसुनिया पर्वत पर प्राप्त लेख को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें पुष्करण (जोधपुर राज्य) नामक स्थान से चन्द्रवर्मन् नामक राजा का पश्चिमी बंगाल में आने का उल्लेख है। राय चौधरी इसे सदाचन्द्र अथवा चन्द्राग मानते हैं। स्मिथ महोदय इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं (*J R A S* 1897 pp 1 18

मेहरौली लौहस्तम्भ लेख के चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं—चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए 'एकाधिराज्य' कैसे सम्भव है? चन्द्रवर्मन इसलिये नहीं हो सकता कि सुसुनिया पर्वत लेख में वर्णित पुष्करण राजाओं की वंशावलियों का जब उनके लेखों से अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि चन्द्रवर्मन् समुद्रगुप्त का समकालीन था। भला यह कैसे सम्भव है कि उस प्रतापी वीर के सामने कोई जोधपुर राज्य से पश्चिमी बंगाल पर आक्रमण करे और समुद्रगुप्त उससे कुछ न बोले?

नदी को पार कर नहीं जाता अतः जान एलन महोदय का मत है कि 'वाह्लिक' शब्द से सिंधु के पार यवन की भाँति किसी अन्य जाति का अभिप्राय है जो कदाचित् बिलो चिस्तान के आसपास निवास करती थी। मेहरौली अभिलेख में 'यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान् वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे' (बंग के युद्ध में जिसने अपने पराक्रम से शत्रुओं का पीछा किया) आता है इस बंग से पूर्वी बंगाल का बोध समझना चाहिये। पूर्वी बंगाल पर चन्द्रगुप्त ने *आक्रमण किया अथवा बंगवालों ने विद्रोह किया था जिसे दबाने के लिये* चन्द्रगुप्त को रणयात्रा करनी पड़ी थी यह शंका भी आर० सी० मजूमदार ने उठाई है। (Classical Age p 20) पर मेहरौली लेख से ही यह परिलक्षित होता है कि 'जो (बंगवाले) संगठित रूप से उस पर (चन्द्रगुप्त पर) आक्रमण करने के लिये उद्यत थे अर्थात् उन्होंने विद्रोह कर दिया था जिसके दमनार्थ चन्द्रगुप्त को आक्रमण करना पड़ा था। वास्तविकता जो भी हो इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस युद्ध के पश्चात् गुप्तों का पूर्ण अधिकार बंग पर हो गया क्योंकि आगे चलकर (पाँचवीं शती ई० में) हम एक गुप्त नरेश को इस पर राज्य करते देखते हैं।

इस विजय का बहुत ही सुन्दर परिणाम हुआ क्योंकि शक विजय द्वारा यदि पश्चिमी समुद्र-तट के व्यावसायिक केन्द्र और बन्दरगाह चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गये थे और इस प्रकार प्रमुख व्यापारिक केन्द्र एवं उत्तर जानेवाले माल की मंडी उज्जैन साम्राज्य की दूसरी राजधानी सी हो गया था तो बंग विजय से भारत की अत्यन्त उर्वरा भूमि साम्राज्य के अधीन आ गई जिससे उसकी समृद्धि में आशातीत उन्नति हुई होगी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकन

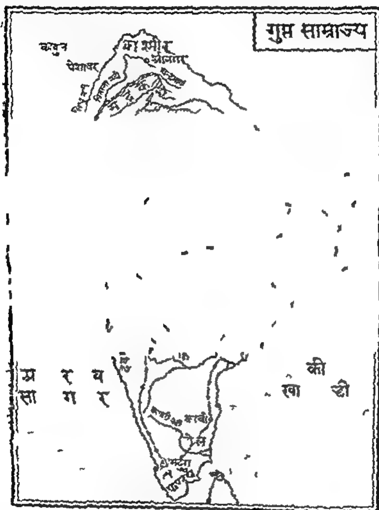
चन्द्रगुप्त द्वितीय भारतवर्ष का महानतम सम्राट माना जाता है। इसकी महानता प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होती है। यह क्षेत्र चाहे शासन का हो चाहे साम्राज्य विस्तार का हो चाहे कलापक्ष का हो चाहे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र हो— प्रत्येक में वह शिखर के अन्यतम भाग पर आरूढ़ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही कारण गुप्त काल स्वर्णकाल कहलाया। चन्द्रगुप्त ने ही सारे भारत की धरती पर विजय ध्वजा फहराई।

चन्द्रगुप्त का साम्राज्य भारत के सागरों को ही छूता नहीं था बल्कि कई विदेशी राज्यों को भी उसमें आत्मसात् कर लिया गया था। नर्मदा नदी तक की घाटी इसकी दक्षिणी सीमा थी। मध्यएशिया इसकी उत्तरी सीमा का दूसरा छोर था। पूर्वी सीमा बंगाल की खाड़ी का स्पर्श करती थी। पश्चिमी सीमा अरब की खाड़ी से जलक्रीड़ा करता था। भारत की भूमि पर फफोलों के रूप में वर्तमान विदेशी उपनिवेशों का सफाया कर माता वसुंधरा का इस महान वीर ने कल्याण किया था। भारत की कोटि कोटि जनता में भारतीय संस्कृति का मंत्र फूँक कर उन्हें शुद्ध भारतीय बनाने वाला यही अमर सेनानी था।

यह अब पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता समुद्रगुप्त के आदर्श का अनुगमन करते हुए विजय अभियान में उत्सुकता प्रदर्शित की थी। उदयगिरि के अभिलेख से हमें चन्द्रगुप्त की उत्कट अभिलाषा का पता चलता है। वीरसेन के अभिलेख में चन्द्रगुप्त ने विश्व विजय की कामना व्यक्त की थी। उदयगिरि का

अभिलेख वस्तुतः सम्राट की दक्षिण-पश्चिमी विजय के लिए किया गया अभियान की ओर परोक्ष रूप से प्रकाश डालता है।

इसकी प्रशंसा में श्री आर० सी० मजूमदार ने लिखा है—



समुद्रगुप्त का साम्राज्य

द्वितीय जिसने राजना

पर पहुँचाया उसने अपना स्थान बना लिया।[1] वास्तव में गुप्तकालीन भारत की सम्पूर्ण उन्नति के मूल में इन्हीं दोनों सम्राटों का हाथ है। इन्होंने ही अपने सक्रिय सहयोग से इस युग को स्वर्ण युग की उपाधि प्रदान करायी।

[1] *Classical Age* p. 28

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कला एवं साहित्य को जो संरक्षण प्रदान किया, कलाकारों को जो प्रेरणा दी उसकी चर्चा प्राचीन काल से ही दन्तकथाओं का विषय बनी हुई है और इन दन्तकथाओं की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके दरबार में नवरत्नों की जो बात कही जाती है और उसमें कालिदास का नाम गिनाया जाता है वह सत्य है जैसा कि अगले पृष्ठों में स्पष्ट किया जायगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में भारत में लगभग १०–११ वर्षों (४००–४११ ई०) तक निवास करने वाले चीनी यात्री फाहियान के विवरण से (जिसके सम्बन्ध में हम आगे प्रकाश डालेंगे) यह ज्ञात होता है कि उस समय देश में शान्ति एवं समृद्धि व्याप्त थी। प्रजा की आर्थिक अवस्था काफी अच्छी थी। बिना कठोर दण्ड के ही शान्ति स्थापित रखना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन प्रबन्ध की सफलता का प्रमाण है।

मुद्रा निर्माण की ओर भी चन्द्रगुप्त ने विशेष ध्यान दिया जिसका प्रभाव मुद्रा-निर्माण-कला तथा देश की आर्थिक व्यवस्था पर अवश्य पड़ा होगा। अब तक गुप्तों ने स्वर्ण मुद्राओं का ही निर्माण कराया था किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ताँबे तथा चाँदी के सिक्के भी प्रचलित कराये जो शक-क्षत्रपों की मुद्राओं से प्रभावित हैं। ताम्र-मुद्रायें लगभग ९ प्रकार की हैं। मुद्राओं पर एक ओर गरुड़ का चित्र अब भी अंकित किया जाता था तथा दूसरी ओर राजा का चित्र रहता है।[1] कला एवं पूर्णता में चन्द्रगुप्त की मुद्रायें समुद्रगुप्त की मुद्राओं से स्पर्धा करती हैं। चन्द्रगुप्त ने मुद्रा निर्माण में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन ला दिये थे—उदाहरणार्थ व्याघ्र के स्थान पर वह सिंह का वध करता हुआ दिखाया गया है क्योंकि उसे 'सिंह विक्रम' की उपाधि प्राप्त थी। इसी आधार पर कुछ इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिंहवध प्रदर्शित करने-वाली मुद्रायें चन्द्रगुप्त की गुजरात विजय का संकेत करती हैं क्योंकि उन दिनों वहाँ सिंहों का बाहुल्य था। दूसरा अन्तर पिता पुत्र की मुद्राओं में यह देखने को मिलता है कि वीणा वाली मुद्राओं के स्थान पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पुष्पांकित मुद्राओं का निर्माण कराया। वीणा के स्थान पर पुष्प को स्वीकार करना उसकी कोमलतर कला-त्मकता का परिचायक है। कुछ नये ढंग की मुद्राओं का निर्माण करके जिनमें उसकी वीरता प्रदर्शित होती है, चन्द्रगुप्त ने अपने चरित्र के उस पहलू का भी दिग्दर्शन कराया है जिसमें वीरत्व तथा पुरुषार्थ का अंश प्रधान होता है।

चन्द्रगुप्त के विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इस उपाधि पर प्रचलित अनेक दन्त कथाओं के नायक चन्द्रगुप्त द्वितीय को हम दानी, उदार, विद्याप्रेमी आदि अनेक रूपों में पाते हैं। दन्त-कथाओं में उज्जैन के किसी शासक विक्रमादित्य द्वारा प्रथम शक विजेताओं को भारत से बाहर निकाल देने का वर्णन मिलता है। सम्भवतः शकों को पराजित कर देने के पश्चात् अशोक को भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। कुछ इतिहासकारों का तो यह भी मत है कि इसके पिता ने भी विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था और यह सम्भवतः विशेष सामरिक प्रतिभा-सम्पन्न भारतीय विजेताओं के लिए प्रचलित विरुद था।[2]

---

[1] समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर भी गरुड़ के चित्र का उल्लेख पीछे किया गया था।

[2] देखिए *Classical Age* p. 19

"मेहरौली स्तम्भ अभिलेख"

दिल्ली के समीप एक गाँव का नाम मेहरौली है। इस मेहरौली गाँव की दो वस्तुएँ विश्व प्रसिद्ध हैं। एक तो कुतुबमीनार और दूसरा लौहस्तम्भ। लौहस्तम्भ पर संस्कृत में कुछ श्लोक उत्कीर्ण हैं। इन पंक्तियों ने प्राचीन भारतीय इतिहासकारों के लिए एक अभिनव समस्या को जन्म दिया है। इस स्तम्भ के अभिलेख में चन्द्र नाम के एक राजा की ओर निर्देश किया गया है। इस नरेश की किस भारतीय नरेश से एकात्मकता स्थापित की जाये यही समस्या सम्प्रति विवाद का विषय है। विविध विद्वानों ने विभिन्न सम्राटों से चन्द्र की एकात्मकता स्थापित करने का प्रयास किया है लेकिन अभी तक कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं निकला है।

चन्द्र को कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य कुछ ने कनिष्क प्रथम कुछ ने नाग चन्द्रवंश कुछ ने मालवा के पुष्करण का चन्द्रवर्मन कुछ ने मगध के गुप्तवंश को चन्द्रगुप्त प्रथम कुछ ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य एवं कुछ ने मिहिर कुल का भ्राता माना है। इतनी अधिक मत विभिन्नता के कारण सत्यता का पता लगाना दुष्कर मान लिया गया। फिर भी सागर में डुबकी लगाकर असली मोती पाने का हमारा प्रयास तो अकाट्य रहेगा। हम निम्नलिखित पंक्तियों में प्रत्येक इतिहासकार के द्वारा उपस्थित तर्कों का सूक्ष्म विश्लेषण करेंगे और युक्तिसंगत तथ्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करेंगे।

हरिश्चन्द्र सेठ का मत—हरिश्चन्द्र सेठ, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि अलक्जेण्डर कभी भारतीय सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ था एवं यूनानी विवरण जिन्होंने इस वृत्तान्त का उल्लेख किया है केवल अपने देश एवं नायक की सर्वोच्चता एवं महानता द्योतित करने के लिए ही लिखे गए हैं, भारतीय इतिहासकार अपनी विशिष्ट भारतीयता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका मत पक्षपात रहित रह पाना अत्यधिक कठिन बात है। आप सम्पूर्ण भारत की सर्वतोमुखी गरिमा एवं प्रतिभा के प्रदान के लिए इतिहास से भी अन्याय कर बैठते हैं। मेहरौली-स्तम्भ के चन्द्र के विषय में भी इनका मत दिलचस्प है। इनके अनुसार इस लौह स्तम्भ का निर्माता चन्द्रगुप्त मौर्य था और समुद्रगुप्त ने लगभग ६०० वर्षों के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना आराध्य नायक मानते हुए इस स्तम्भ पर वर्तमान प्रशस्ति उत्कीर्ण करवाई। हरिश्चन्द्र सेठ ने इसके अतिरिक्त अपने इस मत के समर्थन में कोई अन्य तर्क उपस्थित नहीं किया। केवल कल्पना की उड़ानों पर आधारित, मरु-बालू की भाँति की भाँति होता है। ऐतिहासिक तथ्यों की कोटि में आने के लिए मन के पीछे प्रभावकारी प्रमाण होने चाहिए। सेठ महोदय के सिद्धांत की तो यही बड़ी कमी है। अतएव आधार रहित मत को स्वीकार करना आधार रहित छत पर खड़े होना है। अतएव अमान्य है।

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुपम रत्न हैं। इन्होंने मेहरौली के चन्द्र एवं कनिष्क में एकात्मकता निर्धारित की है। डा० मजूमदार महोदय के मत का मुख्य आधार एक खोटानी पाण्डुलिपि है। इस पाण्डुलिपि में कनिष्क महान को चन्द्रकनिष्क के नाम से सम्बोधित किया गया है। लेकिन केवल इसी एक ग्रन्थ में कनिष्क के नाम के आगे चन्द्र जुड़ जाने से हमारी आत्मा को संतुष्टि नहीं हो जाती। "कनिष्क के इसी अभिलेख में हम 'चन्द्र

नाम नहीं मिलता है। साथ ही साथ चन्द्र के नाम से जुड़ी विजयें भी हम कनिष्क की नहीं पा सकते। डा० साहब का मत भी प्रमाणों एवं पुष्टियों के अभाव में हम स्वीकार नहीं हो सकता।

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी का मत—डा० राय चौधरी ने ऐतिहासिक तथ्यों से हटकर एक अस्पष्ट सूत्र से अपनी धारणा निर्धारित की है। डा० चौधरी ने पुराणों का सहारा लिया है। पुराणों में नागवंश के परवर्ती आन्ध्र नरेशों की सूची में चन्द्रांश नाम का एक नरेश उल्लिखित है। इसी चन्द्रांश की उन्होंने महरौली स्तम्भ अभिलेख का चन्द्र माना है। इस नरेश का विरुद 'द्वितीय नखवत' (द्वितीय नहपाण) दिया गया है। इस विरुद से राय चौधरी ने यह अनुमान लगाया है कि चन्द्रांश एक महान शक्तिशाली सम्राट था। इसी आधार को लेकर डा० राय चौधरी ने अपना सिद्धान्त तैयार किया है। सिद्धान्त तैयार करना तो सुगम कार्य है परन्तु तथ्यों से उसकी पुष्टि करना दुष्कर है। अभी तक हमने जितने सिद्धान्तों या मतों का अवलोकन किया है वे सिद्धान्त सिद्धान्त के लिए के उद्देश्य से लिखे गए हैं। चन्द्रांश का नाम तो प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों ने कदाचित् इसी समस्या के अध्ययन में, पहली बार सुना या पढ़ा होगा। ऐसे उपेक्षित एवं अस्पष्ट नरेश का 'चन्द्र' से एकात्मकता प्रतिपादित करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। इस प्रकार डा० राय चौधरी का मत भी हमें अमान्य है।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का मत—हरप्रसाद शास्त्री ने महरौली स्तम्भ के चन्द्र को चन्द्रवर्मन अंगीकार किया है। चन्द्रवर्मन बंगाल की ओर का नरेश था। लेकिन हरप्रसाद महोदय का यह मत हमें इस बात पर अमान्य है क्योंकि इस नरेश को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। मेहरौली स्तम्भ का चन्द्र तो एक पराक्रमी सम्राट था। उसकी विजय वैजयन्ती दिग्दिगन्तों में फैल रही थी। अतएव समुद्रगुप्त द्वारा पराजित 'चन्द्रवर्मन' से उसकी एकात्मकता नहीं स्थापित की जा सकती।

डा० फ्लीट एवं ऐयंगर का मत—डा० फ्लीट एवं श्री अयंगर ने यह मत प्रस्तावित किया है कि महरौली का चन्द्र वस्तुतः गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त प्रथम है। राधागोविन्द बसाक ने उपर्युक्त महानुभावों के मत का अनुमोदन किया है। यद्यपि कुछ अंश तक यह एकात्मकता उचित मानी जा सकती है। जैसे चन्द्र एवं चन्द्रगुप्त प्रथम दोनों भागवत धर्म के उपासक थे। दोनों ही ने अपने भुजबल से साम्राज्य का निर्माण किया था। न तो चन्द्रगुप्त प्रथम को और न ही चन्द्र को विस्तृत राज्य प्राप्त हुए थे। दोनों ने अपने छोटे से सीमित क्षेत्र को विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया था। दोनों का शासन बंगाल में फैला हुआ था। दोनों ने ५वीं शताब्दी के आसपास राज्य किया था। लेकिन इस मत के विरुद्ध आपत्तियों में भी पर्याप्त जोर है। मेहरौली स्तम्भ में चन्द्र को वाह्लिक का विजेता दक्षिण भारत में प्रभावकारी एवं बंगाल पर हावी दर्शाया गया है। जहाँ तक चन्द्रगुप्त प्रथम के साम्राज्य का सम्बन्ध है वह पर्याप्त सीमित था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नरेशों को परास्त करने के लिए अभियान किया था। चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य गंगा की घाटी तक सीमित था लेकिन 'चन्द्र' ने तो भारत को जीतकर भारत से परे विदेशों में भी विजय पताका फहराई थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम को भी हम

लौहस्तम्भ का नायक नहीं मान सकते हैं। इस मत के प्रणेताओं को भी अपने इस मत की प्रामाणिकता में सन्देह है। उन्होंने इस मत का विकल्प भी प्रस्तुत कर दिया है।

इस विकल्प में उन्होंने मिहिरकुल के एक छोटे भाई को महरौली स्तम्भ का 'चन्द्र' माना है। लेकिन इस मत के पक्ष में केवल ह्वेनसांग का साक्ष्य दिया गया है। इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है। अतएव इस मत को भी हम उपेक्षणीय पाते हैं।

इसी तरह एक अन्य इतिहासकार ने भी पुराण में वर्णित एक नरेश की 'चन्द्र' से एकात्मकता निर्धारित की है। यह नरेश दक्षरक्षित वंश का था। पुराण में इस नरेश की शक्तिशालिता का प्रमाण यह वाक्यांश है 'ताम्रलिप्तान् समागरान्'। लेकिन केवल इस एक वाक्यांश को लेकर एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना कोरी मूर्खता नहीं तो और क्या है। क्या जिज्ञासु विद्यार्थी इसी कथन से सन्तुष्ट हो जायेंगे। कुछ इतिहासकारों ने तो जबरदस्ती अपनी टाँग घुसेड़ने के लिए बेकार के आधारशून्य तथ्यरहित मतों का निर्धारण किया है। इतिहास में इस प्रकार की बातों को देखकर उनकी बुद्धि पर तरस आता है।

डा० हार्नले (Hoernle) आदि का मत—डा० हार्नले (Dr Hoernle) श्री कलाश चन्द्र ओझा, श्री सुरेन्द्रकुमार आर्य तथा अन्य विद्वानों ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से चन्द्र की एकात्मकता स्थापित की। यही मत पर्याप्त अंशों में वैज्ञानिक तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त प्रतीत होता है। किसी मत को तर्कसंगत मापने के लिए निम्नलिखित ६ परीक्षाएँ हैं। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले नरेश की चन्द्र से एकात्मकता आँख मूँद कर की जा सकती है।

(१) महरौली अभिलेख की तिथि निश्चयन ५वीं शताब्दी के लगभग किया गया है। अभिलेख की ब्राह्मी लिपि गुप्त काल की लिपि विशिष्टताओं से युक्त है।

(२) चन्द्र अनिवार्य रूप से वैष्णव धर्म का आराधक था क्योंकि उसने इस स्तम्भ का निर्माण अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति भाव प्रकट करने के लिए किया था।

(३) स्तम्भ की प्राप्ति का स्थान चन्द्र की सीमाओं में था।

(४) चन्द्र ने बंगाल में समर किए थे। इसका प्रमाण इस श्लोक से ध्वनित होता है—

यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्—
वङ्गेष्वाहव-वर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।

(५) चन्द्र का सर्वप्रमुखशाली प्रभाव दक्षिण में व्याप्त था। इसका प्रमाण यह पंक्ति है—

यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः

(६) चन्द्र ने मध्य एशिया में, सिन्धु के सात मुहानों को पार कर वाह्लीकों को जीता था। यह विजय निम्नलिखित पंक्ति से उद्घाटित होता है।

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः

इस प्रकार अब हमको चन्द्रगुप्त द्वितीय को इस तराजू पर तोलना है अगर वह खरा उतरता है तो हम इस एकात्मकता को सर्वाधिक प्रबल उपकल्पना अंगीकार करना चाहिए।

यह तो हम सभी जानते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल ३८०–८१ ई० से प्रारम्भ होता है और ४१२–१३ तक अनवरत रहता है। यह तिथियाँ हम लेखों एवं मुद्राओं से ज्ञात होती हैं। अतएव चन्द्र एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय एक ही है।

अभिलेखों एवं मुद्राओं से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रथम गुप्त सम्राट था जिसने वैष्णवधर्म को राजधर्म घोषित किया था। उसने अपने अभिलेखों में अपने को परम भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त एलान किया है। चन्द्र एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय दोनों विष्णु के महान उपासक थे।

डा० भंडारकर ने यह विचार व्यक्त किया है कि विष्णुपाद पंजाब में एक पहाड़ी थी जहाँ से काश्मीर दिखाई पड़ता था। वहाँ से लाकर यह स्तम्भ अपने वर्तमान स्थान पर लगाया गया था। लेकिन अन्य पुरातत्ववेत्ताओं ने इसका खंडन किया है। फ्लीट (Fleet) महोदय का मत है कि यह अभिलेख अपने मूल स्थान में ही गड़ा हुआ है। उन्हीं के शब्दों में—

The fact that the underground supports of the pillar include several small pieces of metal like bits of bar iron is in favour of its being now in its original position

डा० भंडारकर का मत है कि यह स्तम्भ चन्द्रगुप्त द्वारा वाह्लीकों पर विजय के आनन्द में उत्तरपूर्वी क्षेत्र में किसी स्थान पर स्थापित करवाया गया था। वास्तविकता कुछ भी रही हो मूल स्थान चाहे वह स्तम्भ का प्राप्ति स्थान दिल्ली हो चाहे वह पंजाब का कोई भूभाग हो, चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रभुत्व में थे।

यह साधारणतः माना जाता है कि बंगाल गुप्त साम्राज्य का प्रारम्भ से आन्तरिक भाग था। लेकिन यह सामान्य स्वीकृत मत यथोचित नहीं है। समुद्रगुप्त के ही शासन काल में जाकर यही बंगाल के दक्षिण पश्चिमी भाग गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत प्रथम बार आये थे। समुद्रगुप्त को इसके लिए पुष्करण के चन्द्रवर्मन को पराजित करना पड़ा था। बंगाल का शेष भाग अब भी समुद्रगुप्त के शासन के परे था। समतट डवाक एवं कामरूप की सीमाओं के अन्दर ही यह भूभाग था। समुद्रगुप्त के सिक्के भी बंगाल पर उसकी विजय की गवाही देते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के समय से गुप्त अभिलेख बंगाल में भी प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए थे। यह धनदह ताम्रपत्र तथा दामोदर ताम्र पत्र से प्रकट है। यह स्पष्ट है कि अब तक बंगाल के बहुत बड़े भाग पर गुप्त शासन व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। यह शासन व्यवस्था वहाँ सुचारु एवं सुगठित रूप से चल रही थी। गुप्त शासन व्यवस्था को सुगमता से अपना काम करने के लिए कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे। इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अवश्य बंगाल को अपनी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत किया होगा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का बंगाल पर भी प्रभुत्व सिद्ध हो जाता है। गुप्त सिक्के भी हमारे मत की पुष्टि करते हैं।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण में गुप्त प्रभुता की धाक हिल गई थी। समुद्रगुप्त ने दक्षिण की विजय यात्रा में अपना प्रभाव खूब प्रभावशाली ढंग से जमा लिया था। कर्नाटक, खानदेश, मद्रास के राज्यों को जीतकर उनके नरेशों को पुनः सिंहासन पर बैठाना उसकी कूटनीतिक प्रतिभा की सूझ थी। चन्द्रगुप्त ने भी सिंहासन पर आते अपनी धाक को पुनर्जीवित करने के लिए एक बड़ा सुन्दर ढंग अपनाया। उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह पृथ्वीसेन के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से कर दिया। इस वैवाहिक संधि ने चन्द्रगुप्त का प्रभाव वाकाटक साम्राज्य में बढ़ा दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण में अपना महत्ता बनाये रखी।

यद्यपि किसी अन्य स्रोत से हम यह पता नहीं लगता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिंधु के पार भी एक अभियान का नेतृत्व किया था और बैक्ट्रिया तक को जीता था? लेकिन

सभी गुप्त सम्राटों में यही इतना योग्य था जो कि इस अभियान को इतनी दूर तक ले जा सकता था। समुद्रगुप्त द्वारा दबाया गया एवं आक्रामक नीति चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनवरत रखा थी। उसने अपने साम्राज्य की सीमायें और अधिक विस्तृत की थी और विदेशों में भी उसने भारतीय ध्वज फहराया था। मालवा एवं पश्चिमी क्षत्रपों पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

इस प्रकार यह एकात्मकता यद्यपि अन्य एकात्मकताओं की तुलना में श्रेष्ठतर है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह सत्य ही हो। अब हम इस मत के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का भी विवेचन करेंगे जिससे स्थिति की वास्तविकता का साक्षात्कार हो जाय।

आपत्तियाँ—एक विस्तृत अवलोकन से ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह एकात्मकता भी कितनी कोमल दलीलों पर रखी हुई है। इस बात की ही सुगमता से इस एकात्मकता का भी खंडन कर सकते हैं।

लिपिमाला (Paleography) महरौली अभिलेख के कालक्रम निश्चयीकरण का केवल एकमात्र आधार है। सम्भवतः इसी के आधार पर 'चन्द्र' की चन्द्रगुप्त के साथ एकात्मकता स्थापित की गई है। यह सर्वविदित है कि लिपि सम्बन्धी विशिष्टताएँ ५० वर्षों या इससे के समयकाल में कोई विशेष परिवर्तित नहीं होती। अतएव ५० या ६० वर्ष का हेरफेर हो जाना तो एक स्वाभाविक सी बात है। इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए हम यह कभी भी निश्चित पूर्वक नहीं कह सकते कि इस अभिलेख की लिपि किस नरेश के समय की है। इस प्रकार अधिकांश रूप में इस पर आधारित यह एकात्मकता कितने पतन आधार पर खड़ी है।

अभिलेखों तथा मुद्राओं से यह पता लगता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सौराष्ट्र एवं काठियावाड़ के क्षत्रपों पर विजय प्राप्त की थी। सम्राट ने इस विजय को अत्यधिक महत्व प्रदान किया था। परन्तु यह उल्लेखनीय विजय महरौली स्तम्भ लेख में न उत्कीर्ण होने से यह पता लगता है कि 'चन्द्र' एवं चन्द्रगुप्त दो पृथक थे।

जान एलन (John Allen) ने 'चन्द्र' की चन्द्रगुप्त के साथ एकात्मकता स्थापित करने के विपक्ष में कई तर्क एवं दलीलें उपस्थित की थीं। उन दलीलों का उत्तर आज भी कोई देने वाला नहीं है। यद्यपि असन्तोषजनक रूप से कई इतिहासकारों ने एलन के तर्कों का खंडन करने का प्रयास किया है परन्तु वे सब तर्क व्यर्थ हैं। एलन ने लिखते हुए कहा था—

The inscription (Mehrauli Pillar) presents several remarkable features . the phraseology is quite unlike that of any Gupta inscription and no genealogy is given . it may be significant that Virya (वीर्य) and not Vikram (विक्रम) is used for prowess here the phrase Parama Bhagwat (परम भागवत) So favoured by Chandra gupta II is not used here . There is no analogy for the abbreviation Chandra (चन्द्र) for Chandragupta inscriptions its occurrence in the field of cows is hardly a parallel as this is due to lack of space and never occurs in the original legend

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के प्रधान श्री गोवर्धन राय शर्मा ने उपर्युक्त तर्कों का तर्कयुक्त एवं युक्ति संगत उत्तर देने का प्रयास किया है। एक

पुरातत्व वेत्ता का लेखनी से निकले हुए यह शब्द वस्तुतः विचारणीय हैं। अभी तक जितने विद्वानों ने एलन के तर्कों के खंडन का प्रयास किया है उनमें श्री शर्मा जी के विचार सर्वाधिक सन्तोषजनक एवं वजनदार हैं। प्रोफेसर शर्मा महोदय महरौली स्तम्भ में वंशावली के अभाव का कारण बताते हुए लिखते हैं कि उदयगिरिगुहा अभिलेख में भी वंशावली तथा नरेश की उपाधियों का अभाव है। इस प्रकार महरौली स्तम्भ अभिलेख में यह नई परिपाटी एवं अन्य नरेश की नहीं है बल्कि गुप्तकाल की ही कृति है और सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय की है। प्रोफेसर शर्मा के मत का खंडन करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्य विद्वान् लेखक डा० ओझा ने कहा है कि उदयगिरि अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रारम्भिक वर्षों में अंकित किया गया था। उस समय तक नरेश की उपाधियाँ पूर्ण रूपेण निर्धारित नहीं हुई थीं। दूसरी बात यह है कि उदयगिरि गुहा अभिलेख राजकीय अभिलेख नहीं है। अतएव इस अभिलेख में उपाधियाँ न होना कोई अनिवार्य बात नहीं है।

प्रोफेसर शर्मा ने दूसरी दलील का खंडन करते हुए लिखा है कि 'परमभागवत' एवं 'विक्रमादित्य' उपाधियाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के अन्तिम समय में जाकर कहीं सर्वसाधारण रूप से प्रचलित हुई होंगी। अतएव महरौली स्तम्भ अभिलेख में इनको होना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्तम्भ सम्राट के प्रारम्भिक समय में उत्कीर्ण करवाया गया था। परन्तु प्रोफेसर शर्मा के इस मत को कि मेहरौली स्तम्भ चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक शासनकाल का है डा० ओझा अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह अभिलेख शासन के परवर्ती समय का है। इस बात का ध्यान में रखते हुए मेहरौली स्तम्भ अभिलेख में उपर्युक्त उपाधियों का आना आवश्यक सा लगता है।

आधे नाम चन्द्र के प्रयोग का कारण बताते हुए श्री शर्मा जी ने लिखा है कि यह छन्द की आवश्यकताओं को दृष्टिगत करके ही किया गया था। परन्तु ओझा महोदय ने इसके उत्तर में कहा है कि क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबारी कवि उसके पूर्ण नाम से कविता बनाने में अयोग्य थे? समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि नरेशों के प्रशस्तिकारों ने तो नरेश का पूरा नाम लिखा है फिर चन्द्रगुप्त द्वितीय ही के विषय में ऐसा क्यों?

इस प्रकार हमने विभिन्न खंडनों एवं मंडनों का सूक्ष्म विवेचन किया है। परन्तु यह तो निर्विवाद तथ्य है कि एलन महोदय की दलीलें आज भी उतनी ही जोरदार एवं वजनदार हैं जितनी कुछ दशाब्दी पूर्व थीं। इन तर्कों का उत्तर देने के लिए अभी इतिहासकारों को अधिक मनन करना पड़ेगा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय से की गई एकात्मकता भी असफल साबित हुई है। जब ऐसी दशा हमारे सम्मुख है तो हम किस भारतीय नरेश से चन्द्र की एकात्मकता स्थापित कर सकते हैं? निदान हमको एकात्मकताएँ स्थापित करने के स्थान पर चन्द्र को ही एक पृथक् प्रभुत्वसम्पन्न सम्राट मानना पड़ेगा और इसको भारतीय इतिहास के पृष्ठों में स्थान देने के लिए हमें अपने इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं परिवर्धन करने पड़ेंगे। इन सब का कारण यही है जिसे हम डा० ओझा के शब्दों में व्यक्त करते हैं—

The approach to the Mehrauli inscription for working out its historical background through identification fails —Dr Ojha

कुमारगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी तिथि के विषय में हम अपेक्षाकृत अधिक निश्चित मत दे सकते हैं। उसकी सबसे प्राचीन लिखित तिथि गुप्त संवत् ९६ = ४१५ ई० है। उसके चाँदी के सिक्कों पर उसकी सबसे बाद की तिथि दी हुई है। यह तिथि गु० सं० १३६ = ४५५ है। इससे यह पता चलता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१५ ई० से लेकर ४५५ ई० तक शासन किया। उसका शासन-काल काफी लम्बा था। कुमारगुप्त के जितने अधिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं उतने किसी भी अन्य गुप्त सम्राट के नहीं। उसके सिक्के भी बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। उसने कुछ नवीन प्रकार की सुवर्ण मुद्रायें चलवाई। कार्तिकेय प्रकार के सुवर्ण सिक्के कुमारगुप्त प्रथम ने ही चलवाये थे। इन सिक्कों पर एक ओर कार्तिकेय अपने वाहन (मयूर) पर आरूढ़ हैं और दूसरी ओर कुमारगुप्त की आकृति मोर को भोजन कराते हुए खुदी है। उसके सिक्कों और अभिलेखों का विस्तार बंगाल से लेकर सुराष्ट्र तथा हिमालय से लेकर नर्मदा तक है जिससे सिद्ध होता है कि उसने अपने पिता द्वारा अविगत साम्राज्य को सुरक्षित रक्खा और एक विशाल राज्य पर शासन किया था। मन्दसोर शिलालेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त प्रथम चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर शासन करता था। अपने प्रतापी पिता की भाँति कुमारगुप्त भी महाकवि कालिदास के शब्दों में आसमुद्रक्षितीश था। उसने महेन्द्रादित्य की उपाधि भी धारण की थी।

कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेखों से उसकी शासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। उसके एक अभिलेख में उसके कुछ प्रान्तीय शासकों के नामों का उल्लेख किया गया है। पाण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक चिरातदत्त था। घटोत्कचगुप्त जो सम्भवतः सम्राट् का एक पुत्र था एरिकिण अथवा एरण प्रदेश पर शासन करता था। एरण का प्रान्त आजकल के मध्य प्रान्त का सागर जिला था। पाण्ड्रवर्धन की भुक्ति उत्तरी बंगाल में थी। बन्धुवर्मन् दशपुर (मन्दसोर, पश्चिमी मालवा) का शासक था।

कुमारगुप्त प्रथम के कुछ सिक्कों से यह विदित होता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। परन्तु उसके तरह अभिलेखों में से किसी एक में भी उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि अपनी किस विजय के उपलक्ष्य में उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। डा० मजूमदार का कथन है कि कुमारगुप्त के अश्वमेध यज्ञ से उसके द्वारा की गई नवीन विजयों की सूचना मिलती है अथवा नहीं यह हम नहीं जानते। डा० रमाशंकर त्रिपाठी का विचार है कि "यह प्रायः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बिना कुछ प्रदेश विजय किये वह इस साम्राज्यपरक अनुष्ठान का आयोजन नहीं कर सकता था। उसके अश्वमेध शैली के सुवर्ण सिक्कों से ही अश्वमेध यज्ञ किये जाने की सूचना प्राप्त होती है। इन सिक्कों पर एक ओर यज्ञ स्तूप से बँधा हुआ अश्व और दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये हुए राजमहिषी की आकृति खुदी हुई है। कुछ सिक्कों पर एक ओर घोड़े के नीचे अश्वमेध और दूसरी ओर अश्वमेधमहेन्द्र अंकित है। एलन महोदय का अनुमान है कि अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के उपरान्त ही कुमारगुप्त ने यह उपाधि धारण की थी।

पुष्यमित्रों [illegible] युद्ध—वैसे तो कुमारगुप्त प्रथम का शासनकाल काफी शान्तिमय था किन्तु उसके राज्यकाल के अन्तिम दिनों में उसके साम्राज्य की नर्मदामण्डल पर

विपत्ति के बादल घिर आये थे। भीतरी स्तम्भ-लेख के एक श्लोक[1] से इस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इस श्लोक से पता चलता है कि कुमारगुप्त की वृद्धावस्था में पुष्यमित्रों ने जिनकी सैन्य शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ गई थी (समुदितबलकोशान्) गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि इसके द्वारा गुप्त वंश की राज्य लक्ष्मी विचलित हो गई थी जिसको फिर से प्रतिष्ठापित करने के लिये कुमारगुप्त प्रथम के वीर पुत्र स्कन्दगुप्त को रातभर पृथ्वी पर लेट-लेट कर बिताना पड़ा था (क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा)। परन्तु कठिनाइयों के बावजूद भी विजयश्री ने गुप्त सम्राट् का ही वरण किया।

भीतरी स्तम्भलेख के श्लोक का कुछ दूसरा अर्थ भी लगाया गया है। डा० दिवेकर ने पुष्यमित्रांश्च के स्थान पर युध्य मित्रांश्च पाठ का सुझाव प्रस्तुत किया है। इसका यह अर्थ होगा कि स्कन्दगुप्त ने युद्ध में (युधि) अमित्रों (शत्रुओं) को पराजित किया था। आगे के श्लोक में लिखा है कि अपने वंश की विलुप्त लक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठापित करके स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय का समाचार अपनी अश्रुपरिप्लुत नेत्रों वाली माता को उसी प्रकार दिया जिस प्रकार विजयी कृष्ण देवकी को सम्वाद देने गये थे।[2] इन सब बातों से यह अनुमान लगाया गया है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के अनन्तर गुप्त वंश में एक गृह-युद्ध हुआ था। परन्तु दिवेकर के युध्यमित्र पाठ के लिये कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। अतएव गृहयुद्ध की बात को माना नहीं जा सकता। डा० राय चौधरी ने गृह-युद्ध के सिद्धान्त का जिसका पोषण डा० आर० सी० मजूमदार ने किया था, काफी सबल तर्कों द्वारा खण्डन किया है।[3] राय चौधरी साहब का कथन है कि इनरिपुओं से तात्पर्य बाह्य शत्रुओं से है आभ्यंतर शत्रुओं से नहीं। ये शत्रु पुष्यमित्र लोग ही थे। पुष्यमित्रों का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। विष्णुपुराण के अनुसार पुष्यमित्र लोग नर्मदा के उद्गम के निकट मेकल प्रदेश में निवास करते थे। फ्लीट ने पुष्यमित्रों का स्थान नर्मदा-तट के निकट कहीं पर निर्धारित किया है।

कुमारगुप्त प्रथम के कार्यों और चरित्र का मूल्यांकन—श्री आर० एन० डण्डेकर का कथन है कि यद्यपि कुमारगुप्त प्रथम ने प्रायः अपनी तुलना देवताओं के सेनानायक से की है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह न तो समुद्रगुप्त की तरह वीर योद्धा ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति मनुष्यों का एक निर्भीक नेता ही।[4] किन्तु सैन्य सफलताओं के गौरव से शून्य होने पर भी कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य में कुछ ऐसे गुण विद्यमान थे जिनके लिए उसके शासन काल का महत्व काफी अधिक है। कुमारगुप्त का सुदीर्घकालीन शासन युग शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। डा० मजूमदार का कथन है कि इस निष्कर्ष के लिए कारण है कि कुमारगुप्त का दीर्घ शासन काल सब कुछ मिलाकर शान्तिपूर्ण और समृद्ध था और साम्राज्य ने उसके पिता तथा पितामह

---

[1] 'विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।'

[2] पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः। जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः। ?

[3] देखिए Political History of Ancient India pp. 22...

[4] आर० एन० डण्डेकर, A History of the Guptas p. 101

की सैन्य विजयों के लाभों का पूर्ण रूप से उपभोग किया।[1] कुमारगुप्त के तरह अभिलेखों में केवल एक ही सैन्य कार्यवाही का विवरण प्राप्त होता है और यह उसके शासन के अन्तिम दिनों में की गई थी जब कि वह समस्त एक शान्तिपूर्ण तथा दृढ़ शासन व्यवस्था का संचालन करते हैं जिसका प्रसार अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक था। केवल एक दृढ़ तथा उदार शासन-व्यवस्था के अधीन ही इतने अधिक दिनों तक इतना विशाल भू भाग रक्खा जा सकता था। उसके शासनकाल के अन्तिम भाग में ही हूणों और अन्य शत्रुओं को जो पराभव सहन करना पड़ा उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इतने लम्बे शान्तिपूर्ण शासन-काल में भी सेना की सैन्य निपुणता का ह्रास नहीं होने पाया था। यह बात कुमारगुप्त के लिए कोई कम गौरव की नहीं है कि इतने अधिक दिनों तक युद्ध से विरत रहने पर भी उसने अपने सैनिकों की रण-कुशलता को कम नहीं होने दिया।

If the legends on coins are any indications of history the power and glory of the Gupta empire seems to be at their height under Kumar Gupta I. We may instance the following legends (1) Vijitavanir Avanipatih the lord of the earth who has conquered the earth (2) Mahitalam Jayati who conquers the whole earth' (3) Kshitipatirajito Vijayi Mahendra Simho divam jayati the lord of the earth the unconquered conqueror Mahendra Simha conqueres heaven (4) Sakshadiva Narsimho Simha Mahendra like another Narsimha avatar or incarnation of Vishnu Simha Mahendra (5) Yudhi Simha Vikramah with the valour of a lion in war (6) Vyaghrabala parakrama possessed of the strength & powers of the tiger (7) Gupta Kula Vyomsasi the Moon in the firmament of the Gupta dynasty and (8) Gupta Kulamalachandra the Moon without spots in the Gupta dynasty

उपर्युक्त अभिलेखित साक्ष्यों के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने कुमारगुप्त प्रथम के महत्व को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है।

कुमारगुप्त ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूरी तरह से पालन[1] किया। उसने अपने अभिलेखों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वह स्वयं कार्तिकेय का बड़ा भक्त था किन्तु उसने सूर्य, बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि देवताओं की पूजा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं उत्पन्न होने दिया। इसके उपरान्त उसके अभिलेख इस बात के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उसने बौद्ध तथा अन्य धर्मों के प्रति महती उदारता का परिचय दिया। मानकुवर, करमदण्डे और मन्दसोर[1] अभिलेखों में क्रमशः बुद्ध, शिव तथा सूर्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है।

स्कन्दगुप्त

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के अनन्तर स्कन्दगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है डा० मजूमदार का विश्वास है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए परस्पर युद्ध छिड़ गया जिसमें

[1] *Classical Age* p. 2..

स्कन्दगुप्त विजयी रहा। उसने अपने भाइयों को मारकर सिंहासन स्वयं हस्तगत कर लिया। परन्तु डा० मजूमदार के इस मत के लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। कुछ भी हो स्कन्दगुप्त शासन-सूत्र अपने हाथ में चाहे जिस तरीके से ग्रहण किये रहा हो उसके शासन काल के प्रारम्भिक वर्ष नितान्त अशान्तिमय रहे। हम देख चुके हैं कि अपने पिता के समय में उसे पुष्यमित्रों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था जिसमें उसको विजयश्री प्राप्त हुई थी। परन्तु अभी इस सफलता पर वह अधिक दिनों तक सन्तोष न कर पाया। शीघ्र ही उसे अन्य विपत्ति का सामना करना पड़ा जो पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर थी।

हूणों का आक्रमण—स्कन्दगुप्त के समकालीन लेखों में उसके शत्रुओं के साथ संघर्ष का उल्लेख मिलता है जिसमें कुछ शत्रुओं के लिए म्लेच्छ शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु संघर्ष का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। इतना तो निश्चित है कि अपने शासन काल में किसी समय स्कन्दगुप्त को हूणों के आक्रमण का सामना अवश्य करना पड़ा था। हूण लोग बर्बर जाति के थे और अपनी शक्ति बढ़ा लेने पर वे यूरोप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में आतंक फैलाया करते थे। ईसा की लगभग पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों की एक शाखा ने जिन्हें श्वेत हूण कहा जाता है आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया और फारस तथा भारत के निवासियों को भयग्रस्त कर दिया। उन्होंने गान्धार को जीत कर वहाँ एक हूण राजा को सिंहासन पर बैठा दिया जो अत्यन्त निर्दय और बर्बर था। गान्धार के निवासियों के साथ हूणों ने बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार किया और उन पर भाँति भाँति के अत्याचार किये। गान्धार के पश्चात् वे भारत की सीमा में प्रविष्ट हो गये और गुप्त साम्राज्य के ऊपर अपने लोलुप नेत्र लगाने लगे किन्तु इस समय भारत पर एक वीर सेनानी और साहसी योद्धा शासन कर रहा था। यह वीर सेनानी स्कन्दगुप्त था जिसने पुष्यमित्रों को पराजित कर अपने पराक्रम और भुजबल का परिचय दिया था। इस बाह्य विपत्ति से वह तनिक भी नहीं घबराया और उसने डटकर उसका सामना किया। हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का जो संघर्ष हुआ वह निश्चय ही भयानक रहा होगा।[1] परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों के ऊपर विजय प्राप्त की और अपने राज्य की एक भारी विपत्ति से रक्षा की। हूणों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में स्कन्दगुप्त ने देवताओं के लिए बलि अनुष्ठान करवाये और एक विष्णु स्तम्भ का निर्माण भी करवाया। गान्धार के पूर्व में पाँचवीं शताब्दी के अन्त तथा छठी शताब्दी के प्रारम्भ तक फिर कभी धावा बोलने का हूण लोग दुस्साहस नहीं कर सके।

स्कन्दगुप्त की शासन-नीति—यद्यपि स्कन्दगुप्त ने महान संकट के समय राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित किया था और उसकी काफी शक्ति इस संकट के निवारण में समाप्त हो गई थी तथापि उसने शासन व्यवस्था को तनिक भी अवहेलना की दृष्टि से न देखा। उसने अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही प्रान्तीय शासकों को नियुक्त किया। इस कार्य द्वारा उसने अपने शासन को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। उसकी शासन व्यवस्था उदारता और लोकहित के सिद्धान्तों पर आधारित था। उसने साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में भी सार्वजनिक हित के कार्यों पर ध्यान दिया। ऐसा ही एक कार्य था सुराष्ट्र में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण जिसका अध्ययन हमें नये शीर्षक के अन्तर्गत करना चाहिए।

[1] हूणयस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य।

सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण—हम पीछे भी सुदर्शन झील के विषय में पढ़ चुके हैं। इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के एक प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य ने सुराष्ट्र में गिरनार पर्वत के निकट कराया था। इस झील का निर्माण लोकहित की दृष्टि से कराया गया था। अशोक के समय में उसके प्रान्तीय शासक तुषास्फ ने इस झील से नहरें निकलवाई थीं। रुद्रदामन के विषय में पढ़ते हुए हम देख चुके हैं कि अपने अमात्यों के विरोध करने पर भी उसने किस प्रकार अपने व्यक्तिगत कोष से झील का पुनर्निर्माण कराया था। रुद्रदामन के समय में इस झील का बाँध टूट गया था जिसकी उसने मरम्मत करा दी थी। स्कन्दगुप्त के शासन काल में गुप्त संवत् १३६ (४५६ ई०) में पुनः इसका बाँध टूट गया जिससे सुराष्ट्र के लोगों को कष्ट होने लगा। इस समय सुराष्ट्र में पर्णदत्त स्कन्दगुप्त के राज प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था। पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने स्कन्दगुप्त की आज्ञा पाकर असीम व्यय उठाकर सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया। जब झील के पुनर्निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया तो चक्रपालित ने चक्रभृत अथवा विष्णु का एक मन्दिर बनवा दिया। सम्भवतः सुदर्शन झील अथवा विष्णु मन्दिर के कोई भी चिह्न आज अवशिष्ट नहीं है।

स्कन्दगुप्त की धार्मिक उदारता—अपने सुयोग्य और बुद्धिमान पूर्वजों की भाँति स्कन्दगुप्त ने भी धार्मिक विषयों में दृष्टिकोण की उदारता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यद्यपि वह एक धर्मनिष्ठ वैष्णव था तथापि उसने जैन और बौद्ध धर्मों का भी समादर किया। उसके नाम से विदित होता है कि वैष्णव होते हुए भी गुप्त सम्राट् अन्य धर्म के प्रति भी आस्था रखते थे। यथा राजा तथैव प्रजा के अनुसार स्कन्दगुप्त की धार्मिक उदारता का उसकी प्रजाजनों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। उसकी प्रजा का दृष्टिकोण भी उदार और सहिष्णु था। कहौम के एक लेख में लिखित होता है कि मद्र नामक एक व्यक्ति ने जिसके हृदय में ब्राह्मणों, गुरुओं और परिव्राजकों के प्रति असीम श्रद्धा थी जैन तीर्थंकरों की पाँच पाषाण प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। इसी प्रकार इन्दौर ताम्रपत्र लेख से भी इस युग की धार्मिक उदारता पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर क्षत्रियों ने एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। मन्दिर में नित्य तैल-दीप जलाने की व्यवस्था करने के दृष्टिकोण से एक ब्राह्मण ने इतना अधिक रुपया दान कर दिया था कि उसके ब्याज से ही मन्दिर का यह व्यय पूरा होता रहा। यद्यपि इस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर नहीं था तथापि स्कन्दगुप्त ने इसको उचित सम्मान की दृष्टि से देखा। स्वयं वैष्णव होते हुए भी उसने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु की शिष्यता ग्रहण की थी।

स्कन्दगुप्त के कार्यों की विवेचना—गुप्त सम्राटों में ही नहीं प्राचीन भारत के महान् सम्राटों में स्कन्दगुप्त की गणना की जानी चाहिए। अपने युवराज काल में ही पुष्यमित्रों को जिन्होंने अपनी शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ा ली थी उसने पराजित कर अपनी वीरता और साहस का परिचय दिया। इस कार्य में उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा उनका अनुमान हम केवल इस एक बात से ही कर सकते हैं कि उसको सारी रात पृथ्वी-तल पर ही बितानी पड़ी थी।[१] डा० मजूमदार भीतरी स्तम्भ लेख के साक्ष्य के आधार पर अपना यह मत देते हैं कि प्रशस्तिकार की काव्यात्मक अलंकारिता के बावजूद भी ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त की सेना को

१ 'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।'

स्कन्दगुप्त विजयी रहा। उसने अपने भाइयों को मारकर गि
लिया। परन्तु डा० मजूमदार के इस मत के लिए पुष्ट प्रमाण ।
हो स्कन्दगुप्त शासन-सूत्र अपने हाथ में पाते जिस तरीके से यह
शासन काल के प्रारम्भिक वर्ष नितान्त अशान्तिमय रहे। इस
अपने पिता के समय में उस पुष्यमित्रों के आक्रमण का सामना ।
उनको विजयश्री प्राप्त हुई थी। परन्तु अपनी इस महत्त्वपूर्ण सफ
दिनों तक सन्तोष न कर पाया। शीघ्र ही एक अन्य विपत्ति का
जो पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर थी।

हूणों का आक्रमण—स्कन्दगुप्त के समकालीन लेखों में उस
साथ संघर्ष का उल्लेख मिलता है जिसमें कुछ शत्रुओं के लिए म्ले
किया गया है परन्तु संघर्ष का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है।
है कि अपने शासन काल में किसी समय स्कन्दगुप्त को हूणों के आ
अवश्य करना पड़ा था। हूण लोग बर्बर जाति के थे और अपनी शो
के योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में आतंक फैलाया करते थे।
पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों की एक शाखा ने जिन्हें श्वेत हूण
आक्सस की घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया और फारस तथा
सिया का मर्दन कर दिया। उन्होंने गान्धार को जीत कर वहाँ ए
सिंहासन पर बैठा दिया जो अत्यन्त निर्दय और बर्बर था। गान्धार
साथ हूणों ने बड़ी ही निर्दयता का व्यवहार किया और उन पर भाँति
चार किये। गान्धार के पश्चात् वे भारत की सीमा में प्रविष्ट हो
साम्राज्य के ऊपर अपने दाँत गड़ाने लगे किन्तु इस समय भारत पर।
और साहसी योद्धा शासन कर रहा था। यह वीर सेनानी स्कन्दगुप्त
मित्रों को पराजित कर अपने पराक्रम और भुजबल का परिचय दिया
विपत्ति में वह तनिक भी नहीं घबराया और उसने डटकर उसका सा
के साथ स्कन्दगुप्त का जो संघर्ष हुआ वह निश्चय ही भयानक रहा
इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों के ऊपर विजय प्रा
राज्य को एक भारी विपत्ति से रक्षा की। हूणों पर विजय प्राप्त क
स्कन्दगुप्त ने देवताओं के लिए बलि अनुष्ठान करवाये और ए
निर्माण भी करवाया। गान्धार के पूर्व में पाँचवीं शताब्दी के अन्त
के प्रारम्भ तक फिर कभी धावा बोलने का हूण लोग दुस्साहस

स्कन्दगुप्त की शासन-नीति—यद्यपि स्कन्दगुप्त ने मगध
सिंहासन पर अधिकार स्थापित किया था और उसकी काफी शक्ति
रण में समाप्त हो गई थी तथापि उसने शासन व्यवस्था को उ
दृष्टि से न देखा। उसने अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद ह
नियन्त्रण किया। इस कार्य द्वारा उसने अपने शासन को सुदृढ़
उसकी शासन व्यवस्था उदारता और जनहित के सिद्धान्तों पर
साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में भी सार्वजनिक हित के कार्यों पर
एक काम था सुराष्ट्र में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण जिसका
के अन्तर्गत करना चाहिए।

---

[1] 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भ

कि शासन-सम्बन्धी कार्यों में वह कभी असावधानी नहीं प्रदर्शित करता था। उसके प्रान्तीय शासक के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार में असीम व्यय के बावजूद भी जिस तत्परता का परिचय दिया उससे स्कन्दगुप्त की उदार शासन-नीति पर बड़ा समुज्ज्वल प्रकाश पड़ता है। उसकी सुवर्ण मुद्राएँ अपेक्षाकृत न्यून संख्या में प्राप्त हुई हैं और उनमें निकृष्ट धातुओं की कुछ मिलावट भी है जिससे पता चलता है कि उसके शासन काल में देश उतना समृद्ध नहीं था जितना कि उसके पिता के समय में था। परन्तु इस आर्थिक संकट का प्रमुख कारण था बर्बर हूणों का आक्रमण जिनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए राज्य को प्रभूत धन व्यय करना पड़ा होगा। इतना होने पर भी स्कन्दगुप्त ने लोकहित के कार्यों पर समुचित ध्यान दिया और प्रजा के कल्याणार्थ सुराष्ट्र जैसे सुदूरस्थ प्रान्त में भी झील की मरम्मत कराई।

पर्णदत्त का अभिलेख, जो संस्कृत भाषा की एक ललित रचना कही जा सकती है, हमारे सम्मुख एक सुगठित तथा सुव्यवस्थित साम्राज्य का दिव्य चित्र प्रस्तुत करता है जो एक उदार तथा लोकप्रिय शासक के सशक्त शासन के अधीन था। गुप्त साम्राज्य जो इस समय बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैला हुआ था, एक ही स्वामी के अधीन था जिसकी आज्ञाओं का पालन उसके द्वारा नियुक्त उसके प्रान्तीय शासक, इस विशाल प्रदेश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक करते थे। साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ़ थी कि वे आन्तरिक खतरों के बावजूद भी [illegible] हूण भी इसकी दीवारों को नहीं तोड़ सके। लगभग एक शताब्दी तक साम्राज्य भारतीयों की एकता, शक्ति तथा स्वतन्त्रता के प्रतीक रूप में खड़ा रहा। जिस कवि ने (४५० ई०) स्कन्दगुप्त के शान्तिमय शासन काल का उल्लेख किया था उसने कोई अतिशयोक्ति नहीं की थी। हमारे पास यह विश्वास करने के लिये कारण है कि विशाल साम्राज्य के ऊपर शान्ति और समृद्धि का शासन था और सांस्कृतिक उन्नति की गति युग अप्रतिहत रूप में असीमित भौतिक शक्ति तथा वैभव की छत्रछाया में [illegible] रहा। जब ४६७ ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई तो उस समय यह कहा जा सकता था कि उसके महान् पूर्वजों ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया था उसका एक इंच भी अपहरण नहीं हो रहा था।[1] उस साम्राज्य की सीमायें किसी प्रकार संकुचित नहीं की जा पायी थीं। अतः अभिलेखिक तथा मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि स्कन्दगुप्त का साम्राज्य बहुत विशाल था जिसमें सम्पूर्ण उत्तरी भारत (पश्चिम में काठियावाड़ से पूर्व में बंगाल तक) सम्मिलित था।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य

स्कन्दगुप्त के अंतिम दिन—स्कन्दगुप्त का शासन काल बर्बर हूणों के आक्रमण तथा प्रत्याक्रमणों के कारण विचलित हो रहा था। हूणों ने यद्यपि गुप्त सम्राट् से करारी पराजय प्राप्त की थी। परन्तु हूण इस हार से भी शान्त बैठने वाले नहीं थे। एशिया एवं यूरोप को आतंकित करने वाली यह बर्बर जाति भारत को भी पूर्णतया पदाक्रान्त करना चाहती थी। परन्तु गुप्त सम्राटों ने इस जाति की अभिलाषा को मूर्तरूप प्राप्त होने से रोक दिया था। अभी तक विद्वानों की यह धारणा थी कि स्कन्द-

[1] Classical Age p 29

गुप्त ने एक बार भारत को ... पर कुछ समय के लिए भारत की ओर अग्रसर होने से अवरुद्ध हो गए थे। परन्तु अब कुछ साक्ष्यों ने इस कथन को तर्कसंगत बनाने में कठिन बना दिया है कि स्कन्दगुप्त के शासनकाल में भारत पर कई बार हूण आक्रमण हुए। इन आक्रमणों ने स्कन्दगुप्त की शक्ति का ह्रास किया था। अपने शासन की अन्तिम अवस्था में वह उन आक्रमणों का डट कर मुकाबला न कर सका। इन्हीं आक्रमणों के कारण उसे अंत में हूणों से पराजय ... डा० स्मिथ ने अपने मत के समर्थन में लिखा है—

"He was unable to continue the successful resistance which he had offered in the earlier days of his rule and was forced at last to succumb to the repeated attacks of the foreigner."

डा० आर० डी० बनर्जी ने तो लिखा है कि सम्भवतः स्कन्दगुप्त हूणों से लड़ते हुए ही मारा गया था। इनके शब्द हैं—

"The subsequent history of the reign of Skandagupta is not known to us but the Huna invasions continued and most probably Skandagupta lost his life in trying to stem the mighty flood of the third invasion." —*Dr. R. D. Banerji*

इन कल्पनाओं का आधार डा० बी० पी० सिन्हा ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि उपर्युक्त पूर्व मत के पीछे केवल मुद्राशास्त्र का ही हाथ है। स्कन्दगुप्त के पारम्भिक काल के गरुड़ सिक्के हम उसके अन्तिम शासन काल में नहीं प्राप्त करते। सिक्कों का घिस जाना या कम मूल्य के सिक्कों का प्रचारित करना यह प्रकट करता है कि शासन अन्तिम दिनों में कठोर समय से गुजर रहा था। सिक्कों की विशिष्टता के आधार पर उपकल्पना का निर्माण प्रस्तुत करना कल्पना के सागर में डुबकी लगाना प्रतीत होता है। बहुत कम ही गोताखोर को समुद्र की तह में मोती प्राप्त होते हैं। डा० स्मिथ एवं डा० बनर्जी आदि विद्वानों का यह कहना कि हूण आक्रमणों के कारण स्कन्दगुप्त का कुछ भाग किसी प्रभुत्व में आ गया था पूरे रूप से असिद्ध हो चुका है।

"If Chandragupta Maurya liberated the country from the yoke of the servitude of the Greeks, if Chandragupta II destroyed the power of foreign Sakas, Skandagupta saved the empire and the country from the occupation of the Hunas."

A History of the Guptas, B. P. Sinha, obverse Allen

समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पंक्ति में आने वाला यह सम्राट भारत की सुरक्षा का सबसे बड़ा कवच सिद्ध हुआ। इसके शस्त्रों की झनकार से भारत पूर्ण रूप से ... वर्षों तक विदेशी आक्रमणों से मुक्त रहा था।

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात महान गुप्तवंश की पंक्ति में विवाद उपस्थित हो जाता है। वंशावली के अभाव में हम भिन्न भिन्न साक्ष्यों के आधार पर एक निश्चित क्रमिक सूची बनाने को तत्पर होना पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्यों के मौन के कारण विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न सूचियाँ तैयार की हैं। उनकी वंशावलियाँ परस्पर भिन्न हैं। दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक "A History of the Guptas" में वंशों का क्रम निम्न प्रकार से रखा है—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) स्कन्दगुप्त
(३) पुरुगुप्त
(४) नरसिंह गुप्त बालादित्य
(५) कुमारगुप्त द्वितीय
(६) बुद्ध गुप्त
(७) तथागतगुप्त
(८) बालादित्य भानुगुप्त
(९) वज्र
(१०) विष्णुगुप्त
(११) वन्यगुप्त
(१२) द्वादशादित्य

परन्तु डा० बी० पी० सिन्हा (B P Sinha) ने आधुनिक अन्वेषणा एवं प्रमाणों के आधार पर परवर्ती महान गुप्तों की विभिन्न सूची तैयार की है। इनके अनुसार क्रम इस प्रकार था—

(१) कुमारगुप्त प्रथम
(२) पुरुगुप्त
(३) स्कन्दगुप्त
(४) कुमारगुप्त द्वितीय
(५) बुद्धगुप्त
(६) नरसिंहगुप्त बालादित्य
(७) वज्रगुप्त
(८) कुमारगुप्त तृतीय
(९) विष्णुगुप्त

डा० बी० पी० सिन्हा की वंशावली सत्य के समीप अधिक प्रतीत होती है अतएव हम उन्हीं के क्रम द्वारा महान गुप्त नरेशों का वर्णन करेंगे।

मुद्राशास्त्र के अध्ययन से हमें कुमारगुप्त के नाम की दो प्रकार की मुद्राओं का पता चलता है। इन मुद्राओं के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इन नरेशों ने भिन्न समयों में राज्य किया था क्योंकि सिक्कों की शुद्धता में अत्यधिक महान अन्तर प्रतीत होता है। प्रथम वर्ग की मुद्रायें ७९ प्रतिशत की मात्रा में स्वर्ण रखती हैं जब कि दूसरे वर्ग की मुद्रायें केवल ५४% स्वर्ण की बनी हुई हैं। इन मानों की गणना का आधार ब्रिटिश संग्रहालय की प्रयोगशाला है। दूसरे वर्ग की मुद्रायें एक विशिष्ट अन्तर को अपने में सज्जाए हुए हैं। ऊर्ध्व भाग (obverse) में नरेश के बांह में गो... ...था जो अंकित है। जब कि प्रथम वर्ग की मुद्राओं में ऐसा कोई अक्षर नहीं उत्कीर्ण है। इस विशिष्टता से भी यह दोनों वर्ग दो विभिन्न नरेशों की ओर निर्देश करते हैं। अन्तर का दायरा यहीं तक ही सीमित नहीं है बल्कि दोनों मुद्राओं के लेख की लिपि भी भिन्न कालों की प्रतीत होती है। एलन (Allen) महोदय ने इन लिपियों का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम वर्ग की मुद्राएं दूसरे वर्ग की तुलना में प्रारम्भिक काल की हैं। डा० बी० पी० सिन्हा ने भी इन दो वर्गों की मुद्राओं के वैषम्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

The two types of coins are so different in finish style purity of metal, legend on the inscription and paleography that except for the common reverse title Kramaditya and Ku in the obverse is nothing to take them as issued by one and the same king

इस प्रकार डा० बी० पी० सिन्हा के अनुसार एक कुमारगुप्त तृतीय भी महान गुप्तवंश की शाखा का सदस्य था। इस कुमारगुप्त तृतीय के विषय में यथास्थान वर्णन किया जायगा। कुमारगुप्त द्वितीय का शासन सम्भवतः ४७५ ई० में समाप्त हुआ था।

बुद्ध गुप्त

था। कुछ विद्वानों
उसने शक्रादित्य
था इस प्रश्न पर

एक सम्मति के अभाव में हम कुछ नहीं कह सकते कि कुमारगुप्त का बुद्धगुप्त से किस प्रकार का सम्बन्ध था। इस पर भी तथ्यों का अभाव है। अल्टेकर महोदय ने उसे कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र माना है। अल्टेकर महोदय की सम्मति का आधार युवान च्वांग का कथन है जिसके अनुसार बुद्धगुप्त शक्रादित्य का वंशज था। शक्रादित्य को अल्टेकर ने कुमारगुप्त प्रथम माना है और इसी एकात्मकता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है। डा० बी० पी० सिन्हा एवं अन्य विद्वानों ने कुमारगुप्त द्वितीय की शक्रादित्य से एकात्मकता स्थापित की है। इसी एकात्मकता के आधार पर उन्होंने बुद्धगुप्त को कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र माना है। नालन्दा सील की प्राप्ति से हमारी अब तक की उलझनें व्यर्थ सिद्ध हो गई हैं। इसके अनुसार पुरुगुप्त ही बुद्धगुप्त का पिता था। सारनाथ अभिलेख में बुद्धगुप्त की सबसे प्राचीन तिथि ४७६ ई० दी हुई है। इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि बुद्धगुप्त के शासन का प्रारम्भ ४७५ ई० के आस ही से हो गया था। ४९५ के आसपास तक उसका शासन भारत के एक विस्तृत प्रदेश पर स्थापित रहा था।

अधिकतर इतिहासकारों की यह धारणा है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् महान गुप्त राजवंश का गौरव नष्ट हो गया था। स्कन्दगुप्त ही महान गुप्त राजवंश का अन्तिम

नरेश था। उसी के समय तक गुप्त साम्राज्य सुरक्षित रहा था। उसके बाद से गुप्त साम्राज्य का पतन होना प्रारम्भ हो गया था। एक विद्वान के विचार देखिए—

When Skandagupta passed away in 467 A D the empire perished

इसी तरह एक अन्य महोदय के विचार देखिए—

'The rapid decadence of Gupta sovereignty after Skandagupta's death'

परन्तु विद्वानों के यह कथन हमें स्वीकार्य नहीं हैं क्योंकि गुप्त साम्राज्य को पूर्णतया सुरक्षित अवस्था में बुद्धगुप्त ने रखा था। डा० बी० पी० सिन्हा के मतानुसार— बुद्धगुप्त के सामन्तों के अभिलेखों के आधार पर डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने भी बुद्धगुप्त के युग में गुप्त-साम्राज्य की सुदृढ़ अवस्था का संकेत किया है—

The theory of the break up of the Gupta empire in the later years of Skandagupta due to repeated and successive invasions of Hunas must be given up

बुद्धगुप्त के सामन्तों के अभिलेखों के आधार पर डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने भी बुद्धगुप्त के युग में गुप्त-साम्राज्य की सुदृढ़ अवस्था का संकेत किया है—

It will thus appear that the empire under Budha Gupta recovered its position & prestige after the dark days following the death of Skanda Gupta

अब हम बुद्ध गुप्त के साम्राज्य विस्तार से अपने उपर्युक्त कथन की सत्यता को उद्घाटित करेंगे। ४८२–४८३ ई० के दो ताम्र पत्र अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन्हें दामोदर स्थान पर प्राप्त किया गया है। इन दामोदर ताम्र पत्रों पर 'परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री बुद्धगुप्त पृथ्वीपति' उत्कीर्ण है। कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेखों में भी नरेश के नाम के आगे ऐसी ही साम्राज्यवादी उपाधि जोड़ी गई है। यह उपाधि अनिवार्य रूप से इस तथ्य का बोध कराती है कि गुप्तों का प्राधिकार अविच्छिन्न रूप में कुमार गुप्त प्रथम के शासन काल से बुद्धगुप्त के समय तक स्थापित रहा था।

इसी प्रकार चतुर्थ दामोदर प्लेट से हमें कोकामुख स्वामी के एक मन्दिर की ओर संकेत प्राप्त होता है। इस कोकामुख स्वामी के स्थिति निश्चयन के विषय में विभिन्न मत हैं। दिनेशचन्द्र सरकार ने इस मन्दिर को शिव के एक रूप का आराधना केन्द्र माना है। बसाक ने भी इसे दुर्गा देवी का उपासना स्थान स्वीकार किया है। दोनों इतिहासकारों की सम्मति में यह मन्दिर हिमालय क्षेत्र में स्थित था और इस प्रकार बुद्धगुप्त के काल में पुण्ड्रवर्धन का विस्तार उत्तर में हिमालय के भूभाग तक था और सम्भवतः नेपाल भी उसकी सीमा में स्थित था। इसी नेपाल में वराह क्षेत्र की स्थिति निश्चित की गई है।

४८४ में बुद्धगुप्त ने अपनी राजसत्ता मध्य प्रान्त तथा मालवा के कुछ भागों पर स्थापित कर ली थी। उसके एक अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि उसका एक सामन्त उस समय यमुना एवं नर्मदा के मध्यवर्ती प्रदेश पर शासन कर रहा था। सारनाथ अभिलेख, एरण अभिलेख तथा दामोदरपुर ताम्रपत्र यह स्पष्टतया सूचित करते हैं कि बुद्धगुप्त के साम्राज्य में काशी का प्रदेश मध्य भारत तथा बंगाल सम्मिलित थे। एलन (Allen) एवं स्मिथ (Smith) महानुभावों की यह धारणा कि बुद्धगुप्त मालवा

का प्रान्तीय शासक था निर्मूल सिद्ध हो गई है। इस सम्राट ने चाँदी के सिक्के चलाए थे और यह सिक्के वस्तुतः उसकी महानता एवं गौरव के प्रतिनिधि हैं।

छठी शताब्दी के प्रारम्भ में या पाँचवीं के अन्त में हूणों ने पुनः भारतीयों पर आतंक एवं रक्त का इदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया था। तारमाण का एरण अभिलेख जो कि उसके शासन काल के प्रथम वर्ष में प्रचारित किया गया था निश्चय रूप से बुद्धगुप्त के एरण अभिलेख के बाद का है जिसे उसने ४८४–८५ ई० में प्रचारित किया था हूणों का गुप्त साम्राज्य के एक भाग पर प्रभुत्व का सूचक है। यह विजय बुद्धगुप्त की मृत्यु के पश्चात् हूणों को प्राप्त हुई होगी या सम्भवतः बुद्धगुप्त के अन्तिम दिनों में वह वस्तुतः अपने जीवन भर अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए जागरूक रहा होगा। लेकिन बुद्धगुप्त के पश्चात् महान गुप्त वंश वस्तुतः महान नहीं रह गया। उसका राज्य एक छोटा-सा सीमा में परिमित हो गया था। डा० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

The death of Budhagupta constitutesturning point in the history of empire and India

बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी

बुद्धगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश का पतन बड़ा द्रुतगति से होना प्रारम्भ होता है। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के वंशजों की ऐसी परिस्थिति देखकर केवल निराशा की प्राप्ति होती है। स्वयं डा० बी० पी० सिन्हा ने भी कहा है—

Now the later history of Magadha read ina contrast to Mauryan greatness and Gupta splendour reads like a parody of its own past　　*B P Sinha*

नरसिंह गुप्त बालादित्य

दण्डकर महोदय ने ह्वेनसांग के चरित के आधार पर बुद्धगुप्त का उत्तराधिकारी तथागत गुप्त को माना है। उन्होंने नरसिंहगुप्त बालादित्य को पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी माना था। परन्तु डा० सिन्हा ने नूतन खोजों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि बुद्धगुप्त के उपरान्त ही नरसिंह गुप्त बालादित्य सिंहासनारूढ़ हुआ था। यह दोनों परस्पर औरस भ्राता थे। नरसिंह गुप्त के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों के ऊर्ध्वभाग में नर नामक शब्द उत्कीर्ण है और अधोभाग में श्री बालादित्य उल्लिखित है। यह स्वर्ण मुद्राएं इसी सम्राट द्वारा प्रचारित की गई थीं ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

नरसिंह गुप्त के ही दरबार में वसुबन्धु नामक दार्शनिक वर्तमान था अतएव परमार्थ ने बालादित्य की एकात्मकता नरसिंह गुप्त बालादित्य से ही स्थापित की है। इसी प्रकार आर्य मंजुश्री मूलकल्प में अंकित बाल की एकात्मकता भी इसी नरेश से कर सकते हैं।

जो विद्वान नरसिंहगुप्त को पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी सिद्ध करते हैं वे उपर्युक्त एकात्मकताओं को नहीं मानते हैं। ह्वेनसांग के बालागुप्त के साथ वह नरसिंहगुप्त बालादित्य का समीकरण नहीं स्वीकार करते हैं। वसुबन्धु के काल निश्चयन के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इन विपक्षियों ने वसुबन्धु को स्कन्दगुप्त के दरबार का दार्शनिक माना है अतएव परमार्थ द्वारा स्थापित एकात्मकता भी उन्हें अस्वीकार है।

परन्तु इन इतिहासकारों के तर्कों में कोई विशेष औचित्य नहीं प्रतीत होता है। अतएव हम डा० वी० पी० सिन्हा के ही मत को मानते हुए आगे बढ़ना चाहिए। नरसिंहगुप्त बालादित्य का साम्राज्य बंगाल के अन्त तक व्याप्त था। नालन्दा साम्राज्य की मुख्य नगरी थी। अवध में इसकी मुद्राएँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई हैं। कालीघाट संचयन में इनकी संख्या पर्याप्त थी। नादिया जिले में नवनाट में एक सुवर्ण मुद्रा प्राप्त हुई है। इसी नरेश के कई सिक्के लाहौर म्यूज़ियम में प्राप्त हैं। कलकत्ता के बंगीय साहित्य परिषद् के संकलन में भी इस सम्राट् की कुछ मुद्राएँ हैं। बंगाल के वीरभूम जिले में एक ... मुद्रा प्राप्त हुई है।

इस प्रकार इस नरेश का साम्राज्य पर्याप्त विस्तृत था और इसने गुप्त साम्राज्य के लुप्त गौरव को पुनर्स्थापित करने के लिए पुनः प्रयास किया था। इसको अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता भी हस्तगत हुई थी। डा० दण्डेकर ने कहा है—

नरसिंह गुप्त ने अपनी अवस्था में गुप्त साम्राज्य के भाग्य को लौटाया। मंजुश्री मूलकल्प में कहा गया है कि बालादित्य का शासन काल निरुपद्रव और कण्टकरहित निःसपत्न अकण्टकम् था। यह स्वाभाविक है कि इस कथन को हम काव्यात्मक अतिशयोक्ति समझें और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम इसे पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु उसके सिक्कों की अधिक संख्या और उनका भारी वजन अवश्य इस धारणा का समर्थन करते हैं कि नरसिंह गुप्त ने अपने वंश के विलुप्त गौरव को पुनः अर्जित करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न में उसे कुछ अंश तक सफलता भी प्राप्त हुई। ये सिक्के बंगाल में बिहार या उत्तर प्रदेश की अपेक्षा अधिक संख्या में पाए गए हैं। [1]

[1] A History of the Guptas

मंजुश्री मूलकल्प ने इस सम्राट को 'चक्रवर्तिन्' की संज्ञा दी है। इससे यह स्पष्ट है कि अभी गुप्त साम्राज्य एकदम पतनोन्मुख नहीं हो गया था बल्कि जिन भूभागों को शत्रुओं ने विजित भी कर लिया था उसे उस सम्राट ने वापस लेकर वंश की लुप्त मर्यादा को फिर से स्थापित करने का प्रयास किया।

द्रोणसिंह की समस्या—एक अभिलेख में यह उल्लिखित है कि सम्राट ने द्रोणसिंह को महाराज की उपाधि से विभूषित किया था। इस कार्य के लिए स्वयं सम्राट ने वलभी की यात्रा की थी। इस सम्राट के नाम का उल्लेख हमें नहीं प्राप्त होता अतएव इसके अभाव में इतिहासकारों ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का कमाल दिखाया है। जैक्सन (Jackson) Cambridge History of India में लिखा है कि यह सम्राट यशोधर्मन का एक पूर्वज हो रहा होगा। यशोधर्मन मालवा में एक नए उदित होते हुए राज्य का स्वामी था। फ्लीट (Fleet) ने यशोधर्मन को ही द्रोणसिंह का स्वामी माना है। हार्नले (Hoernle) ने लिखा है कि उस समय यशोधर्मन का मालवा में शासन हो रहा था। अतएव वह कैसे द्रोण सिंह का स्वामी हो सकता है? कनिंघम (Cunningham) की सम्मति में बुधगुप्त द्रोण सिंह का स्वामी था। डा० वी० पी० सिन्हा ने नरसिंह गुप्त बालादित्य को ही यह सम्राट माना है। सम्राट ने उस समय जब कि द्रोणसिंह ने हूणों के विरुद्ध सफलतापूर्वक अभियान किया था वलभी के मैत्रक वंश के संस्थापक को प्रसन्न करने के लिए यह पुरस्कार प्रदान किया था। इस व्यक्तिगत यात्रा के पीछे एक कूटनीति का दाँव या पेंच था। इसी दाँव पेंच को समझाते हुए डा० वी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

The event may be interpreted as a diplomatic move of Narsimhagupta to rally round him the rising and erstwhile independent dynasty of Maitrakas of Valabhi

यह सब जानते हैं कि मगध महान गुप्त वंशीय सम्राटों के शासन थे। अतएव जिस स्वामी ने अपने सामन्त पर महाराज का मुकुट रखा था वह स्वामी गुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त बालादित्य ही सम्भवतः था।

प्रकटादित्य की समस्या—तोरमाण ने हूणों की विशाल सेना लेकर गुप्त साम्राज्य को पददलित करना प्रारम्भ कर दिया था। हूणों को जहाँ गुप्त साम्राज्य की पतनोन्मुख अवस्था से अपनी सीमाएं विस्तृत करने का अवसर प्राप्त हुआ था वहाँ देश की आंतरिक विघटनकारी प्रवृत्तियों ने भी उन्हें इस कार्य के लिए आमन्त्रित किया। प्रकटादित्य नाम का नरसिंह गुप्त का एक प्रतिद्वन्द्वी कारागार के सींकचों में बन्द था। अतएव तोरमाण ने जब ५०३ ई० के लगभग नरसिंह गुप्त बालादित्य को पराजित किया तो उसने इस प्रतिद्वन्द्वी को कारागार से मुक्त किया और उसे काशी में सिंहासनारूढ़ किया।

प्रकटादित्य की एकात्मकता के विषय में डा० बी० पी० सिन्हा का कहना है कि यह नरसिंह गुप्त का पुत्र था। इसकी माता का नाम महारानी धवला देवी था। कुमारगुप्त तृतीय भी इसी नरेश का पुत्र था परन्तु यह महारानी श्री मित्रदेवी की गर्भ से उत्पन्न हुआ था। किसी कारणवश सम्राट ने प्रकटादित्य को कारागार में डाल दिया था। तोरमाण ने परिवार की फूट का पूरा लाभ उठाना चाहा क्योंकि घर का भेदी ही लंका ढाह सकता है।

वैन्य गुप्त

दण्डकर ने यह माना है कि बुद्धगुप्त के पश्चात वैन्यगुप्त नामक नरेश सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके कालक्रमानुसार यह ५०६–०७ ई० तक सिंहासन पर रहा। परन्तु डा० बी० पी० सिन्हा ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जो सिद्धांत डा० सान्ब की कल्पना की उपज ही प्रतीत होती है। उनके अनुसार नरसिंह गुप्त की पराजय ... गुप्त सँभाला

शासन का

मन से चयन

प्राप्त किया

जाय। जब नरसिंह गुप्त परास्त हो गया और वह किन्हीं जंगलों में जाकर छिप गया तब वैन्यगुप्त ने मगध का शासन सँभाला। तोरमाण के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन तो उसने पग पग पर उसके आदेश मानकर किया। एक विदेशी आक्रामक को इससे बढ़कर श्रेष्ठ परिस्थिति और क्या हो सकती है। वैन्यगुप्त का शासनकाल ५०४ से ५१४ ई० के लगभग रहा होगा ऐसी डा० सिन्हा की राय है।

डा० सिन्हा ने इस अजीबोगरीब थियोरी (theory) के लिए मुद्राशास्त्र का आश्रय लिया है। इसी मुद्राशास्त्र के साक्ष्य के विवेचन के आधार पर नरसिंह गुप्त ने दो बार राज्य किया था का ज्ञान होता है। नरसिंहगुप्त के सिक्के दो प्रकार के पाए गए हैं। ब्रिटिश म्यूजियम की प्रयोगशाला ने प्रथम वर्ग के नरसिंह गुप्त के सिक्कों में (५६०–B M C) ७१° सुवर्ण की मात्रा देखी है। नरसिंह गुप्त के दूसरे वर्ग

के सिक्के (१६५-B M C°) केवल ७४० ... से नकल हैं। वैन्यगुप्त द्वारा ... के सिक्कों में (५८९) ५७० ... प्राप्त हुआ है। इससे डा० सिन्हा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन ... के सिक्कों के बीच में वैन्यगुप्त के सिक्के ... है। अतएव वैन्यगुप्त का राज नरसिंहगुप्त के ... काल के मध्य में ही स्थापित हुआ।

कुछ विद्वानों ने ... में आए हुए चीनी यात्री ... द्वारा वर्णित तथागत ... की एकात्मकता इसी वैन्यगुप्त से की है। यह एकात्मकता मानने में हमें कोई [illegible] नहीं है।

नरसिंह गुप्त का पुनरासीन होना

वैन्यगुप्त का सिंहासन काल काफी अस्थायी रहा। इसकी पुष्टि हमें इस नरेश के सिक्कों से होती है। केवल तीन ही मुद्राएं अब तक इस नरेश द्वारा प्रसारित हमें प्राप्त हुई हैं। हमें मुद्राओं एवं अभिलेखों से यह पता चलता है कि विजयसेन वैन्यगुप्त एवं गोपचन्द्र दोनों का सामंत था। गुनइघर ताम्र पत्र में विजयसेन ने अपने स्वामी वैन्यगुप्त का नाम प्रयुक्त की थी जब कि मल्लसारुल ताम्र पत्र विजयसेन की ही सील द्वारा अंकित है। इन साक्ष्यों से तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोपचन्द्र के समय में विजयसेन की स्थिति वैन्यगुप्त के समय की स्थिति से ऊँची थी। गोपचन्द्र वर्धमान भुक्ति एवं पूर्वी बंगाल का शासक था क्योंकि मल्लसारुल प्लेट तथा फरीदपुर प्लेट उसकी इस स्थिति से हमें अवगत कराते हैं। धर्मादित्य की ताम्र प्लेटें भी इसी स्थान से प्राप्त हुई हैं। पार्जिटर (Pargiter) ने कहा है कि गोपचन्द्र के पूर्व धर्मादित्य सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। लेकिन रमेशचन्द्र मजुमदार की धारणा है और जो धारणा बलवती है कि धर्मादित्य के पूर्व ही गोपचन्द्र सिंहासनारूढ़ हुआ था। इन तथ्यों से तो हमें यही निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि गोपचन्द्र ने या तो वैन्यगुप्त के शासन को बंगाल से उखाड़ फेंका था या उसके उत्तराधिकारस्वरूप से शासन प्राप्त किया था। हमने यह पहले से ही माना है और यही डा० बी० पी० सिन्हा का भी कहना है कि गोप एवं गोपचन्द्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। गोप ने आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प के अनुसार नरसिंहगुप्त की सहायता की थी प्रकटादित्य को कारागार में डालने के लिए। अन्त में वैन्यगुप्त का उन्मूलन करने के लिए नरसिंहगुप्त ने उसके विरुद्ध विरोध का संगठन करना प्रारम्भ किया। गोपराज के अभिलेख से हमें यह पता चलता है कि भानुगुप्त तथा गोपराज ने मिलकर मालवा में हूणों के आधिपत्य के विरोध में भीषण संग्राम किया था। यह संग्राम हूणों के भारत में बढ़ते हुए प्रभाव को अवरुद्ध करने के लिए किया गया था। संग्राम के परिणाम के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते परन्तु इतना तो निश्चय है कि इसने मिहिरकुल को पर्याप्त परेशानी में डाल दिया था। अन्त में बंगाल में वैन्यगुप्त का अधिकार उखाड़ फेंका गया और मगध पर भी अन्य भारतीय नरेशों ने प्रभुत्व जमा लिया और वैन्यगुप्त का प्रभुत्व समाप्त हो गया। वैन्यगुप्त के शासन की समाप्ति पर पुनः एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें नरसिंहगुप्त अपने अधिकार को सम्भालित कर सकता था और अपनी प्रभुता मगध पर स्थापित कर सकता था। लगभग १० वर्षों के समय तक वह [illegible] छिपा घूमता रहा था और अन्त में ५१५ ई० में उसका भाग्य पुनः उदित हुआ। किसी युद्ध के नरसिंहगुप्त को मगध का शासन प्राप्त हो गया एवं हूण नरेश मिहिरकुल ने ऐसी अवस्था को देखकर गुप्त सम्राट् से समझौता कर लिया। जिससे दोनों नरेशों ने एक दूसरे की प्रभुता का सम्मान करना आवश्यक अंग मान लिया। युवान्च्वांग

न तो कहा है कि नरसिंहगुप्त न हूण नरेश की प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे वार्षिक कर दान देना अंगीकार कर लिया था।

नरसिंहगुप्त बुद्धधर्म का उपासक था। जब तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् मिहिरकुल ने हूणों का नेतृत्व सम्भाला तो युद्ध के बादल फिर से घिरने लगे। मिहिरकुल बौद्धधर्म के विरुद्ध अन्याय की नीति का अनुगमन कर रहा था। उसकी धर्म प्रताड़न की नीति से जनता एवं नरेश परेशान हो चुके थे। अतएव बालादित्य ने अपने ऊपर से हूणों का प्रभुता नष्ट करने के लिए इस बहाने का प्रयोग किया। नरसिंहगुप्त के विद्रोह का समाचार पाकर ही इस हूण नरेश ने मगध की दिशा में अपने सैन्य-संचालन आरम्भ कर दिए। मिहिरकुल की महती सैनिक शक्ति के विरोध में नरसिंहगुप्त की छोटी-सी सेना ठहर न पाई। नरसिंहगुप्त को करारी पराजय का सामना करना पड़ा। अन्त में लाखों की संख्या में अपनी प्रजा के साथ उसने राजधानी तजकर बंगाल की खाड़ी के द्वीप में शरण ग्रहण की। मिहिरकुल ने बालादित्य को सम्भवतः ५१९–२० ई० के आसपास ही हराया था। उपर्युक्त लिखित विवरण हमें युवानच्वांग तथा कल्हण की राजतरंगिणी से प्राप्त हुआ है। यशोवर्मन ने अन्त में मिहिरकुल को पराजित कर दिया था।

स्मिथ (V.A.S.) ने युवानच्वांग द्वारा दिए गए विवरण की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। उनके अनुसार —

The weight of evidence is now decidedly in favour of the rejection of Yuanchwang's story.

कुछ विद्वानों की धारणा है कि नरसिंहगुप्त एवं यशोवर्मन ने एक सम्मिलित प्रयास से हूणों को हराया था। स्मिथ के यही विचार हैं—

Yashodharman and Narasimhagupta formed an alliance against the Huns.

परन्तु एलन ने इस मत को नहीं माना है क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यों से यह मेल नहीं खाता—

As contrary to the evidence of both our authorities Yuanchwang and the inscription.

फ्लीट (Fleet) ने कहा है कि पश्चिम में मिहिरकुल को यशोधर्मन ने हराया था और मगध की दिशा में बालादित्य ने। इस प्रकार दो विभिन्न कालों में दो विभिन्न हारें हुई थीं।

Mihirkula was overthrown by Yashodharman in the west and of Baladitya in the direction of Magadha.

हार्नले (Hoernle) ने कहा है कि नरसिंहगुप्त के सामन्त के रूप में ही यशोधर्मन विष्णुवर्धन ने मिहिरकुल को पराजित किया था।

हेरास (Heras) के अनुसार मिहिरकुल को पहिले तो यशोधर्मन ने हराया था और बाद में नरसिंहगुप्त बालादित्य ने।

कुछ विद्वानों ने यशोधर्मन की मिहिरकुल पर विजय का समय ५३३ ई० निश्चित किया है।

Questions

Allahabad University

1 Narrate briefly the Deccan campaign of Samudragupta (1947)

2 Narrate briefly the important events of the reign of Samudragupta (1949)

३ समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ की विजय का विस्तृत विवरण दीजिए (१९५०)

४ चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य भारतीय इतिहास में क्यों प्रसिद्ध है ? (१९५१)

५ समुद्रगुप्त के शासनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत विवरण लिखिए। (१९५३)

६ इलाहाबाद स्तम्भ लेख के आधार पर समुद्रगुप्त की विजयों का उल्लेख कीजिए। (१९५५)

7 Give full account of the conquests and character of Samudragupta (1956)

8 State briefly the facts you know of the founder of Gupta empire and give an idea of the extent of his empire What was the expansion of the same under his successors? (1956)

९ "गुप्तों के उदय का मुख्य कारण उनका लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना था।" गुप्त साम्राज्य के संस्थापक का संकेत करते हुए इसकी विवेचना कीजिए। (१९५७)

१० "समुद्रगुप्त का राज्यकाल उसकी भारतवर्ष के भिन्न भागों में दिग्विजय का प्रतिरूप है।" विवेचना कीजिए।

११ 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक की कथा कोई ऐतिहासिक घटना पर आधारित नहीं है मूल स्रोतों के आधार पर अपने विचार विस्तारपूर्वक लिखिए। (१९५७)

१२ "मेहरौली के लेख की समस्या जटिल है।" इसमें उल्लिखित चन्द्र की समानता किस सम्राट के साथ की जा सकती है ? विस्तारपूर्वक अपने विचार लिखिए। (१९५७)

13 Discuss the career and achievements of Skandagupta (1958)

14 Account for the downfall of the Guptas (1958)

15 Sketch the career of Chandragupta II Vikramaditya under (a) conquests (b) administration and (c) diplomacy (1957)

16 Describe the career and conquest of Samudragupta (1956)

17 Describe the personality and achievements of Samudragupta as gleaned from the Allahabad Pillar Inscription (1957)

18 Discuss the significance of the rise of the Guptas in ancient Indian history (1958)

19 Form an estimate of Candragupta as a ruler and conqueror (1959)

20 Write notes on any two of the following —

(a) Historicity of Ramagupta

(b) Identification of Kache

(c) Literary achievements of Gupta period (1959)

21 What were the conditions of religion literature and art in the Gupta period ? (1946)

(१९५७)

२२ गुप्तकाल को प्राचीन भारत का स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है ? (१९५०)

२३ 'गुप्तकाल प्राचीन भारत का स्वर्णयुग है।' इस कथन की विवेचना कीजिए। (१९५२)

२४ गुप्तकाल को भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है ? (१९५४)

25 Give a short account of the social and religious conditions of India as described by Fahien (1956)

२६ "गुप्तकाल बृहत दृष्टिकोण, सहनशीलता तथा मित्रभाव का युग था"। इस पर विचार प्रकट कीजिए। (१९५७)

२७ लेखों से गुप्त सम्राट की शासन व्यवस्था का पूर्णतया पता चलता है।' विवेचना कीजिए।

२८ लेखों से गुप्त सम्राटों की शासन व्यवस्था का पूर्णतया पता चलता है।" विवेचना कीजिए।

२९ भारतीय कला में गुप्तकाल का क्या स्थान है। विस्तारपूर्वक लिखिए। (१९५७)

Agra University

1 Describe briefly the campaign of Samudragupta and identify the territories conquered by him in that connexion (1942)

2 Sketch the history of the reign of Chandragupta II Who was Fahien ? (1943)

3 Decribe the various stages of the growth of the Gupta empire (1944)

4 Write a note upon the personality of Samudragupta and dscuss his conquest in northern and southern India Who was his successor ? (1945)

5 Describe the achievements of Chandragupta II Vikrama ditya (1947)

6 What are the principal sources of Samudragupta's history ? Describe his achievements (1948)

7 What light does the Allahabad Pillar inscription of Samudragupta throw on his (a) personal qualities and (b) political career ? (1951)

8 Summarize the evidence bearing the conquest of western India by Chandragupta II (1952)

9 With what justification can the age of the Guptas be regarded as the golden age of ancient Indian history (1956)

Lucknow University

1 Describe briefly the reign of Skandagupta with special reference to the Huna invasion in the western provinces of Gupta empire

२ "स्कन्दगुप्त का स्थान गुप्तवंश के सम्राटों में सर्वोच्च है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं। कारण सहित लिखिए। (१९५४)

3 Sketch the history of the reign of Skandagupta and discuss the extent of his empire in the western part of India (1956)

४ "स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् अराजकता तथा कुशासन का पदार्पण होता है।' प्रधान गुप्तवंश के अंतिम सम्राटों का इतिहास लिखिए। (१९५७)

I A S Questions

1 Examine the causes of the fall of the Gupta Empire (1947)

2 Describe briefly the salient features of the Gupta age (1956)

3 Describe the literary and artistic achievements of the Gupta period (1957)

२२ | गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति

भारतीय इतिहास में गुप्त-युग का विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पिछले युग की अन्धता और अनैक्य के स्थान पर हम गुप्त युग में ऐक्य और प्रकाश को पाते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में विघटन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई वह गुप्त युग के उदय के पूर्व तक जारी रही और यद्यपि संस्कृति का नद अविच्छिन्न तथा अबाध गति से बहता रहा तथापि उसमें उतना वेग एवं प्रवाह नहीं था जितना कि हम गुप्त युग में देखते हैं। अपनी महान उपलब्धियों और सफलताओं के कारण गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। आगे हम गुप्त-युग के सांस्कृतिक जीवन का विशेष विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे तो सुस्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि इस युग के लिए स्वर्णयुग का प्रयोग सर्वथा समीचीन और सार्थक है किन्तु हम पहले इस युग की संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं पर विचार कर लेना चाहते हैं।

मौर्य-युग की सांस्कृतिक अवस्था का विवेचन करते समय हमने देखा था कि एक सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था तथा विशाल साम्राज्य की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक विकास को कितना महत्वपूर्ण प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। गुप्त-युग में आकर यह प्रोत्साहन न केवल स्वतः उत्पन्न हुआ था वरन् यह विशेष सक्रिय भी था। विदेशी राज्यों का विध्वंस हो जाने पर देश में गुप्तों के अधीन एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई जिसने देशवासियों के जीवन में एक नई चेतना तथा अभिनव स्फूर्ति का संचार किया। गुप्त साम्राज्य की स्थापना ने देश में पुनः शक्ति, समृद्धि तथा सुख के युग का सूत्रपात किया। एक सुदृढ़ किन्तु उदार शासन के अधीन देशवासियों की क्रियात्मक और सृजनात्मक प्रतिभा जागरूक हो उठी। गुप्तकाल में देश की राष्ट्रीय संस्कृति अपनी पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। कहना न होगा कि इस पराकाष्ठा के लिए गुप्त नरेशों का योगदान तथा उनके द्वारा स्थापित सुशासन अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। समुद्रगुप्त ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का विस्तार किया और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने जिसका संरक्षण तथा संवर्द्धन किया वह समुद्र से लेकर समुद्र तक (आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त) विस्तृत था। यदि उसकी एक सीमा बंगाल की खाड़ी थी तो दूसरा छोर अरब सागर तक था। यह सत्य है कि सीमा में गुप्तों का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की अपेक्षा कम विस्तृत था किन्तु यह अधिक स्थायी था। गुप्त साम्राज्य के अधीन कम से कम सम्पूर्ण उत्तरी भारत तो अवश्य था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने एक ओर बंगाल में तथा दूसरी ओर वाहलीक में गुप्तों की विजयध्वजा फहराई। कुमारगुप्त प्रथम ने इस साम्राज्य की सीमा को तनिक भी संकीर्ण या संकुचित नहीं होने दिया। स्कन्दगुप्त ने बर्बर हूणों को रोककर देशवासियों की कृतज्ञता अर्जित की और अपने पितामह तथा प्रपितामह द्वारा स्थापित साम्राज्य को उसी रूप में छोड़ा। इस प्रकार लगभग एक सौ पचास वर्षों तक चार गुप्त सम्राटों ने समस्त उत्तरी भारत को एक सामान्य शासन प्रणाली के अधीन रखा। इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—

Much of the material & moral progress of the country was ultimately the out come of its stabilized political conditions The Gupta Empire was a well organized state which achieved the political unification oW a large part of India under the umbrella of its para mount sovereignty establishing a sphere off influence which was much wider then that of its direct dominion & administration

दक्षिण भारत की राज शक्तियों के साथ इन गुप्त सम्राटों का मैत्री सम्बन्ध था। यद्यपि दक्षिण के वाकाटक और पल्लव राजवंश गुप्तों के अधीन न थे तथापि उनकी श्रेष्ठता को वे स्वीकार करते थे। इस प्रकार गुप्त-युग के विशाल साम्राज्य तथा सम्पूर्ण देश में प्रचलित लगभग एक-सी शासन-पद्धति ने संस्कृति तथा सभ्यता की उन्नति का उपयुक्त वातावरण प्रदान किया।

गुप्त सम्राटों की कला तथा साहित्यानुरागिता एवं उनकी गुणग्राहिता से भी सांस्कृतिक उन्नति को प्रभूत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व की विवेचना करते हुए हम उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से परिचय प्राप्त कर चुके हैं। वह न केवल सुसंस्कृत अभिरुचि का सुयोग्य सम्राट था अपितु विद्वानों और गुणियों का आश्रयदाता भी था। इस योग्य पिता के योग्य पुत्र सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा कवियों और विद्वानों की उपस्थिति से सदैव गौरवान्वित तथा समलंकृत रहा करती थी। उसके पुत्र कुमारगुप्त का शासन काल किसी राजनीतिक सफलता के लिए विख्यात नहीं है परन्तु जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं यह शान्ति तथा समृद्धि का युग था। कुमारगुप्त को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसी के समय में भारत की सर्वोत्तम स्थापत्य-कला का विकास हुआ। स्कन्दगुप्त को यद्यपि हूणों के आक्रमण का सफलता पूर्वक सामना करने के लिए अपने समय और राजकोष का पर्याप्त अंश व्यय कर देना पड़ा था तथापि सांस्कृतिक कार्यों के प्रति वह तनिक भी उदासीन नहीं था। विद्वानों का विचार है कि उसी की राजसभा को वसुबन्धु नामक विद्वान् सुशोभित करता था। स्कन्दगुप्त के बाद यद्यपि गुप्त-युग की राजलक्ष्मी हतप्रभ होने लगी तथापि सांस्कृतिक विकास का क्रम अवरुद्ध नहीं होने पाया। इस प्रकार गुप्तों के विशाल साम्राज्य उनकी सुदृढ़ किन्तु उदार शासन-नीति तथा उनकी गुणग्राहिता और विद्वानों एवं कवियों को राजाश्रय प्रदान करने की प्रवृत्ति से देश में कला साहित्य और संस्कृति की अभूत-पूर्व समुन्नति हुई।

गुप्त युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक सुदृढ़ सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी। यद्यपि इस एकता का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था तथापि गुप्त-युग में इसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। इस एकता का साधन थी देववाणी संस्कृत जिसका इस समय देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समादर होता था। संस्कृत में जिसका उच्चकोटि का सृजनात्मक युग था और जिसमें आश्चर्यजनक लालित्य तथा परिष्कार था सम्पूर्ण देश के निवासियों को एक सामान्य बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित कर दिया। गुप्त युग के पूर्व देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्राकृतों का प्रयोग किया जाता था जिससे एक स्थान की विचारधारा दूसरे स्थान पर सरलतापूर्वक नहीं पहुँच पाती थी। परन्तु संस्कृत भाषा के प्रयोग ने यह स्थिति बदल दी। इस समय एक बौद्ध धर्म के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे पालि के स्थान पर संस्कृत भाषा में अपने महायान मत का प्रचार करें। बौद्धों के धर्मग्रन्थ के लिए यह सम्भव हो सका

कि वे नालन्दा में जाकर वहाँ की सभाओं में सभापति पद को सुशोभित करें और वहाँ की शैक्षिक क्रियाओं का संचालन करें। यदि देश में संस्कृत का समान रूप से प्रचार न होता तो सांस्कृतिक एकता की भावना उतनी दृढ़ कभी न हो पाती। गुप्त युग में संस्कृत का प्रयोग न केवल शासन सम्बन्धी कार्यों में ही होता था अपितु साहित्य दर्शन और विज्ञान का एक सामान्य माध्यम होने का गौरव भी इसे प्राप्त था। इस युग के बौद्ध और जैन लेखकों ने भी प्राकृत तथा पाली के प्रति अपना मोह त्याग कर संस्कृत को अपनाया। संस्कृत के प्रयोग ने ही भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया के सम्बन्ध को दृढ़तर किया।

अभिव्यक्ति का एक सामान्य साधन हो जाने से देश में एक चतुर्मुखी तथा सर्वतोमुखी बौद्धिक उत्थान का युग प्रारम्भ हुआ। संस्कृत साहित्य का जितना अधिक विकास गुप्तों के शासन काल में हुआ उतना सम्भवतः किसी भी युग में नहीं हो सका। साहित्यिक प्रगति भी एकांगिनी न होकर बहुमुखी थी। यदि महाकवि कालिदास को हम इस युग का मानें तो उनके द्वारा हम गुप्त युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की समृद्धि बहुमुखता तथा उत्कृष्टता का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। यदि महाकवि ने रघुवंशम् और कुमारसम्भवम् नामक महाकाव्यों से संस्कृत काव्य के कलेवर को समलंकृत किया तो उन्होंने जगत प्रसिद्ध अभिज्ञानशाकुन्तलम् की भी रचना की जिसको लोग स्नेह से शकुन्तला ही अधिकतर कहते हैं। मेघदूतम् जैसे अमर खण्ड काव्य द्वारा महाकवि इस पार्थिव जगत में अपना वह यशः शरीर छोड़ गये हैं जिसके लिए किसी प्रकार का जरामरणज भय नहीं। सुबन्धु ने वासवदत्ता नामक गद्य काव्य तथा अमरसिंह ने विख्यात शब्दकोष अमरकोष लिखकर युग की साहित्यिक क्रियाशीलता के सर्वतोमुखी होने का और पुष्ट प्रमाण दे दिया। इस प्रकार महाकाव्य खण्ड काव्य नाटक गद्य तथा कोष इत्यादि साहित्य के विभिन्न अंगों पर रचनायें हुई। पुराणों और रामायण तथा महाभारत का अंतिम प्रणयन और संकलन गुप्त-युग तक सम्पन्न किया जा चुका था। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई उसका दर्शन हम कलाओं में भी होता है। न केवल वास्तु तथा स्थापत्य कलाओं का ही वरन् चित्रकला संगीत तक्षण कला और मुद्रा निर्माण की कला का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। अधिकांश कला समालोचक मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि गुप्त-युग में भारत की तक्षण तथा चित्रकलायें अपनी उन्नति की पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थीं। दार्शनिक साहित्य के सृजन की दृष्टि से भी गुप्त युग का विशेष महत्त्व है यद्यपि इस समय का दार्शनिक साहित्य प्रमुख रूप से आलोचनात्मक ही था तथापि समृद्धि की दृष्टि से यह विशेष महत्वपूर्ण है। महायान दर्शन के सिद्धान्तों पर जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन गुप्त-युग में हुआ उतना अन्य किसी भी युग में नहीं। नागार्जुन को छोड़ कर इस दर्शन के सब विख्यात आचार्य इसी युग में हुए जिन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में भारत के दार्शनिक वाङ्मय को सम्पन्न और समृद्ध किया। यह सचमुच एक प्रशंसनीय बात है कि गुप्त काल की बौद्धिक एवं मानसिकक्रियाशीलता केवल साहित्य दर्शन और कलाओं तक ही सीमित न रही वरन् इसका प्रस्फुटन विज्ञान के क्षेत्र में भी हुआ। ब्रह्मगुप्त आर्यभट्ट और वराहमिहिर इस काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और गणितज्ञ थे जो आज भी श्रद्धा और विस्मय के साथ याद किये जाते हैं। गुप्त काल के सर्वतोमुखी बौद्धिक जीवन के विषय में जिसको कुछ विद्वान् बौद्धिक पुनर्जागरण भी कहते हैं एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, ' सारनाथ की

बौद्ध प्रतिमाएँ इस जागरण का उतना ही प्रतिनिधित्व करती हैं जितना कि कालिदास का कवितायें। उनके वातावरण में एक नवीन बौद्धिकता व्याप्त थी जिसकी प्रतिच्छाया वास्तु और स्थापत्य कलाओं पर उसी प्रकार पड़ी जिस प्रकार साहित्य और विज्ञानों पर एक प्रकार का तार्किक सौंदर्य जो अनेक रूपों में हमें अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए यूनान की याद दिलाता है और जीवन के प्रति अपने उत्साह तथा साहसिकता की भावना में यह हमें एलिजाबेथ काल के इंगलैण्ड की स्मृति कराता है। ऐसे समयों का प्रतिनिधित्व कालिदास, यूरीपिडीज और शेक्सपीयर जैसे कवि उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार प्राक्जीटिलीज तथा सारनाथ के अनाम तक्षक अथवा नये विज्ञान के उन्मेताओं जैसे फ्रांसिस बेकन तथा आर्यभट्ट और आर्किमिडीज करते हैं।'[१]

इस अनुपम बौद्धिक नव जागरण को सम्भव बनाने के लिए गुप्तकालीन भारत में एक श्लाघ्य बौद्धिक दृष्टिकोण विद्यमान था। इस युग के पण्डित आत्मश्लाघा और दृष्टिकोण की संकीर्णता से रहित थे। विज्ञान को संसार की सबसे प्रसिद्ध वस्तु मानते हुए इसको किसी भी स्रोत से ग्रहण करने के लिए तैयार थे। यद्यपि वे यूनानियों को म्लेच्छ मानते थे तथापि उनको वे ऋषिवत् पूजने के लिए प्रस्तुत रहते थे क्योंकि उनसे वे ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करते थे। ज्ञान के क्षेत्र में अन्य जातियों के योगदान को ग्रहण करने में गुप्त भारत के पण्डितों को कोई आपत्ति न थी और वे ज्ञान के प्रसार के लिए उनका प्रयोग करने को सर्वदा तत्पर रहते थे। इस बौद्धिक भावना ने स्वाभाविक रूप से समाज में तर्कशीलता के वातावरण को प्रोत्साहित किया। धार्मिक विचारों को अभिव्यक्त करनेवाले पण्डित तथा विचारक अपने विचारों की पुष्टि के लिए केवल प्राचीन ग्रन्थों का प्रमाण प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, बल्कि मनुष्य की विचार शक्ति पर आधारित तार्किक प्रणालियों का वे विकास करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।[२]इस युग की दार्शनिक रचनाएँ अधिकांशतया आलोचनात्मक हैं किन्तु उनके द्वारा उनके प्रणेताओं की मौलिक चिन्तना तथा अध्ययन तर्कनाशक्ति के दर्शन होते हैं। हिन्दू दर्शन के षट् सम्प्रदायों का विकास इसी युग में

---

[१] The Buddhist images of Saranath are as typical of this awakening as the poems of Kalidas. A new intellectualism was in the air reflected in architecture and sculpture as much in literature and science—a logical beauty which reminds us in many ways of Greece at its zenith as in its spirit of adventure and of the zest of life it reminds us of Elizabethan England. Of such times poets like Shakespeare and Euripides and Kalidas are typical as sculptors like Praxiteles or the unnamed masters of Sarnath or the *pioneers of a new science like Francis Bacon and Arya Bhatta and* Archimedes.—Kenneth Saunders: *A Pageant of India*, p. 68.

[२]इस प्रवृत्ति को अमर महाकवि कालिदास ने भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में लिखा है कि जो कुछ पुराना है वही श्रेष्ठ है ऐसी बात नहीं और न नवीन कृतियाँ ही त्याज्य हैं, यही कहना चाहिए। सन्त लोग परीक्षा करके निर्णय देते हैं। मूढ़ दूसरों के विश्वासों द्वारा परिचालित होता है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥'

हुआ। इस समय की बौद्धिकता इतनी क्रियमाण थी कि एक विचार को दूसरे स्थानों पर पहुंचने में विशेष विलम्ब नहीं लगता था। विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों के आचार्य नवीन विचारों का स्वागत करने को सवदा प्रस्तुत रहते थे। वे परस्पर विचार विमर्श तथा तर्क वितर्क करके या तो नये विचारों को स्वीकार कर लेते थे अथवा उनका खण्डन करने का प्रयत्न करते थे। किन्तु इस प्रकार की बौद्धिक सक्रियता इस युग में व्यक्तिगत या धार्मिक सकीर्णता की भावना से दूषित नहीं थी। धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का वातावरण चारों ओर विद्यमान रहता था और विचारों की जिस स्वतन्त्रता का उल्लेख हमने मौर्ययुगीन संस्कृति के सम्बन्ध में किया है उसके अत्यन्त दिव्य स्वरूप के दर्शन हम इस युग में होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्ञान के प्रति उत्साह की भावना तर्कशीलता और अन्य स्रोतों से भी ज्ञान विज्ञान के तत्त्व ग्रहण करने की प्रवृत्ति तथा विचार स्वातन्त्र्य का वातावरण ये गुप्तकालीन बौद्धिक जीवन की अपनी निजी विशेषतायें हैं जिनका उद्भव तो पूर्ववर्ती युगों में हो चुका था परन्तु जिनका पूर्ण प्रस्फुटन गुप्त काल में हुआ। वास्तव में भारतीय संस्कृति का यह स्वर्ण युग था। इस समय देश की संस्कृति अपने विकास के यौवन पर थी इसलिये ये प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं अथवा यों कहना चाहिए कि इनकी विद्यमानता के ही कारण भारत के इस अभूतपूर्व बौद्धिक जागरण का उन्मेष सम्भव हो सका। अन्ध विश्वास पुरागामिता पुराणपन्थी पन तथा आत्म सन्तोष की प्रवृत्तियाँ जो कालान्तर में भारतीय विचारकों और पण्डितों में आ गई थीं और जिनका उल्लेख अलबरूनी नामक सुप्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान ने अपने ग्रन्थ में किया है उपर्युक्त प्रवृत्तियों की परिपन्थिनी हैं। यही कारण है कि भारत के मध्य युग के विचारकों में विचार स्वातन्त्र्य के स्थान पर पुरागामिता थी और तर्क के निर्मल स्रोत के मत रूढ़ियों के मरुप्रदेश में लुप्त हो जाने के कारण उनकी मौलिकता तथा स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति कुण्ठित हो गई थी।

गुप्त युग के सांस्कृतिक जीवन की यह विशेषता है कि जिस सक्रियता और सशक्तता के दर्शन हमें भाव विचार और बुद्धि जगत में होते हैं उसी सप्राणता और स्फूर्ति का संचार हम कर्म जगत में भी देखते हैं। जिस प्रकार गुप्त युग के कवि की प्रतिभा मज

पाया

था

जिस प्रकार युग के दार्शनिक की मननशीलता प्राचीन ज्ञान के असह्य भार से विमुक्त थी और जिस प्रकार युग के वैज्ञानिकों की दृष्टि सत्यान्वेषण के लिए अनाविल तथा सूक्ष्म थी उसी प्रकार गुप्त काल के व्यापारियों में भी साहसिकता तथा सचेष्टता की भावनायें विद्यमान थीं और धर्म प्रचारकों के हृदयों में सुदूर देशों में अपने धर्म का प्रचार करने का उत्साह था। गुप्त-युग के व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के हृदयों में जो वात्सल्य मनस्विता स्वविषय को या विदेशस्तथा की भावना काम कर रही थी और सागर की उत्ताल तरगें अथवा हिमगिरि की उत्तुंग चोटियाँ उनकी साहसिकता को दबा नहीं सकती थीं। फलस्वरूप वे जलयानों में बैठकर या ऊटों पर चढ़कर विदेशों की यात्रा करते थे और वहाँ पर अपने धर्म का प्रचार करते थे अथवा व्यापार द्वारा वहाँ के धन से स्वदेश को सम्पन्न बनाने की चेष्टा करते थे। योद्धाओं और सैनिकों के हृदय में भी उत्साहपूरित थे और उन्होंने स्वभुजबल द्वारा बिना किसी प्रकार की राजकीय सहायता के ही दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में अपने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना की। आज के भारतवासियों को इस बात के

लिए कृतज्ञ तथा गौरवान्वित होना चाहिए कि उनके गुप्तकालीन पूर्वजों ने दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में अपनी संस्कृति का प्रचार किया और उनके साथ भारत का सुदृढ़ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया। यह सत्य है कि भारत का विदेशों के साथ अति प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है और इस सम्बन्ध की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि भारतीय संस्कृति तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विदेशों में भारत के सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना के विवरण हमें ईसा की तृतीय शताब्दी के बाद में ही मिलने शुरू होते हैं। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, कोचीन, चीन, अनाम और बोर्नियो इत्यादि स्थानों में व्यापारियों, धर्म प्रचारकों और सैनानियों ने स्वदेश से बिना किसी प्रकार की सहायता प्राप्त किये हुए भी हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा हिन्दू सामाजिक विचारों को फैलाया। यदि एक ओर भारत तथा दूसरी ओर चीन के बीच कोई सांस्कृतिक एकता विद्यमान है यदि बहुमूल्य स्मारक जो भारतीय संस्कृति के गौरव के मूक साक्ष्य हैं समस्त इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो में बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं तो इसका श्रेय गुप्त युग को है जिसने भारतीय संस्कृति को बाहर फैलाने की भावना प्रदान की। यहाँ यह कह देना चाहिए कि इस विषय में दक्षिणी भारत का योगदान उतना ही महान् था जितना कि उत्तरी भारत का। यह एक मनोरंजक बात है कि इस युग में ब्राह्मण समुद्रयात्रा में किसी प्रकार की आपत्ति का अनुभव नहीं करते थे। हम उन्हें जावा, सुमात्रा और बोर्नियो में जाकर बसते हुए तथा वहाँ की स्त्रियों के साथ विवाह करते हुए पाते हैं। उनमें से कुछ बोर्नियो में वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए दृष्टिगत होते हैं और अन्य (लोग) पश्चिमी एशिया में ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक हिन्दू मन्दिरों का पोषण करते हुए दिखलायी पड़ते हैं।'[1] वास्तव में गुप्त युग की सञ्जीवनी शक्ति इतनी अधिक थी कि यह देश की सीमाओं के भीतर तक अवरुद्ध नहीं की जा सकती थी। यही कारण है कि हम भारतीय संस्कृति की जीवन धारा को भी उपकण्ठ सीमाओं से निकलकर सुदूरपूर्व और दक्षिणपूर्व एशिया में फैलते हुए पाते हैं। प्रोफेसर आनन्द कुमार स्वामी का यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है "लगभग वह सम्पूर्ण जिसका सम्बन्ध एशिया की एक सामान्य आध्यात्मिक चेतना से है जिसके द्वारा उसकी विभिन्नताओं को फिर से मिलाया जा सकता है, वह गुप्त-युग की भारतीय उत्पत्ति की ही वस्तु है।" Almost all that belongs

---

[1] If there exists an appreciable cultural unity today between India on the one side and China on the other, if valuable monuments which are silent witnesses to the glory of Indian culture are seen scattered all over Indo China, Java, Sumatra and Borneo, the credit must be given to the impulse given by the Gupta age to the spread of Indian Culture outside India. It must be added here that the contribution of South India in this respect was as great as that of northern India. It is interesting to note that the Brahmans of the age had no objection to the sea voyage; we find them going to and settling in distant islands like Java, Sumatra and Borneo and also marrying local women. Some of them are seen performing Vedic sacrifices in Borneo and others maintaining Hindu Temples in Western Asia down to the beginning of 4th Century A.D. —Altekar, *Introduction, Vakataka Gupta Age*, pp. 6-7.

गुप्तों की शासन व्यवस्था

गुप्तों की शासन प्रणाली राजतन्त्रात्मक थी। शासन का प्रधान राजा था और उसकी शक्ति असीमित थी। गुप्त नरेश महाराजाधिराज सम्राट परमेश्वर परमदैवत, चक्रवर्तिन् आदि विरुद धारण करते थे। राजाओं को दैवतुल्य मानने की धारणा इस काल में काफी लोकप्रिय हो गई थी। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए कहा गया है कि वह एक देवता था जो इस पृथ्वी पर निवास करने के लिए आया था। परन्तु राजा के देवता होने की इस भावना से यह अभिप्राय नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो सकता था। यद्यपि उसकी शक्ति सिद्धान्त में अनियन्त्रित थी तथापि उसे अनेक नैतिक बन्धनों को मानना पड़ता था। वह अपने अमात्यों की सहायता से शासन-कार्य करता था जिनके परामर्शों को मानने के लिए बाध्य न होने पर भी वह उनको सुनता अवश्य था। आर्यावर्त के परम्परागत नियमों को मानना एक श्रेष्ठ राजा के लिए आवश्यक समझा जाता था। यद्यपि आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक देशों की भांति गुप्त शासन प्रणाली में कोई लोकसभा नहीं होती थी तथापि जनता को सम्राटों की निरंकुशता के दुष्परिणाम नहीं सहन पड़ते थे। ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं तथा व्यापारिक श्रेणियों को शासन सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्धित काफी अधिकार प्राप्त थे जिससे सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार अथवा राजा में केन्द्रित नहीं होने पाती थी। गुप्त युग के स्मृति ग्रन्थों और अभिलेखों में इस बात पर स्पष्ट जोर दिया गया है कि एक श्रेष्ठ राजा को लोक-कल्याण के कार्यों द्वारा जनता की शुभकामनाएं अर्जित करना चाहिए। इस बात के प्रमाणों का अभाव नहीं है कि गुप्त नरेश स्मृतियों के आदर्शों का समुचित रूप में परिपालन करते थे और जनता की सुख-सुविधाओं पर पर्याप्त ध्यान देते थे। फाह्यान नामक चीनी यात्री ने गुप्तों की उदार शासन प्रणाली का जिन शब्दों में वर्णन किया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में भी साधारण जनता को व्यक्तिगत अधिकार काफी संख्या में प्राप्त थे। चीनी यात्री लिखता है 'प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। लोगों को अपने घरों की छोटी-मोटी बातों का न तो ब्योरा देना पड़ता है और न किन्हीं न्यायाधिकारियों या शासकों के यहां हाजरी। जनता के कार्यों में राजा हस्तक्षेप नहीं करते थे। लोगों को राज्य भर में आने जाने का पूरा अधिकार था और इसके लिए उन्हें विशेष अनुमति पत्र नहीं प्राप्त करना पड़ता था। दण्ड आधुनिक युग की अपेक्षा भी मृदु थे। राजा न तो प्राणदण्ड देता था और न घोर शारीरिक यातना ही। बहुत से अपराधों के लिए केवल दण्ड कर की ही व्यवस्था होती थी जो अपराध की लघुता व गुरुता के अनुसार कम ज्यादा हो सकता था। बार बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद कर दिया जाता था। राजकर्मचारियों को नियमानुसार वेतन दिया जाता था जिससे वे जनता का शोषण नहीं करते थे। यद्यपि राजनियम सरल और दण्ड मृदुल थे तथापि अपराधों की संख्या न्यून होती थी। फाह्यान के यात्रा विवरण से गुप्तों की शासन प्रणाली पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है और उसके विवरण के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि गुप्तों की शासन प्रणाली उदार और लोकानुरञ्जक होने के कारण सर्वथा प्रशंसनीय थी तथा राजाओं की शक्ति अपरिमित होने पर भी वे अनियन्त्रित अथवा निरंकुश नहीं हो सकते थे।

मन्त्रिमण्डल—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट लिख दिया है कि राजसत्ता का अस्तित्व केवल सहायता द्वारा ही सम्भव है। एक अकेला पहिया कभी नहीं

धन सकता अतएव राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों को नियुक्ति करे और उसके सत्परामर्शों पर ध्यान दे। इस कथन के अनुसार मौर्य शासन प्रणाली में अमात्यों की व्यवस्था की गई थी और गुप्तों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है गुप्त नरेश अपने शासन-सम्बन्धी कर्तव्यों का संचालन मन्त्रियों की सहायता से किया करते थे। मन्त्रियों के लिए सचिव या मन्त्रिन् शब्द का प्रयोग प्राय किया गया है। अमात्यों तथा मन्त्रियों का पद पितृक्रमानुगत होता था (अन्वय-प्राप्तसाचिव्य)। राजा तथा मन्त्रिगण का सम्मिलित रूप से एक सभा होती थी जिसका प्रधान राजा होता था यह अनुमान करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण न होगा कि सभ्य समिति के अधीन कर दिये जाते थे और उसका उत्तरदायित्व उस सदस्य पर छोड़ दिया जाता था। समयानुसार एक ही पदाधिकारी एक से अधिक विभागों का कार्य संचालन करता था। प्रयाग का प्रशस्तिकार हरिषेण समुद्रगुप्त के शासन-काल में तीन पदों—अन्तर्राष्ट्रीय मन्त्री कुमारामात्य तथा न्यायकर्ता—को सुशोभित करता था। स्मृति ग्रन्थों में इस बात का विवेचन किया गया है कि सचिवों में किन किन गुणों और योग्यताओं का होना आवश्यक है और अभिलेखों से यह प्रमाण मिलता है कि मंत्रिगण बड़े योग्य, शासन-कुशल तथा विद्वान् होते थे।

केन्द्रीय शासन प्रणाली का क्रमबद्ध विस्तृत उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में नहीं किया गया है, किन्तु कुछ प्रधान कर्मचारियों का जिक्र अवश्य किया गया है। ये कर्मचारी पूर्ववर्ती युगों की शासन प्रणालियों में भी थे और इनके नाम भी वैसे ही या कुछ परिवर्तन के साथ गुप्तकालीन शासन व्यवस्था में ग्रहण कर लिये गये थे। सम्राट के बाद सबसे ऊँचा स्थान युवराज का होता था। गुप्त कालीन शासन प्रणाली में शासनाधिकार का नियम उत्तराधिकार के ऊपर आधारित होता था किन्तु बहुधा सम्राट अपने उत्तराधिकारी का अपने ही जीवन-काल में निर्वाचन कर लेता था। मन्त्री सिविल शासन का अध्यक्ष होता था। महाबलाधिकृत (सेनापति), महादण्डनायक और महाप्रतिहार ये उच्च पदाधिकारियों में प्रमुख स्थान रखते थे। महाबलाधिकृत का पद सम्भवतः सातवाहन राजाओं के कर्मचारी महासेनापति से मिलता-जुलता था उसके अधीन महादण्डनायक (अश्वारोही सेना का निरीक्षक) महापीलुपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष) भटाश्वपति (अश्वारोही सेना का निरीक्षक) सेनापति और बलाधिकृत नामक से ये अधिकारी होते थे। महादण्डनायक का पद मूलतः कुषाण सम्राटों तथा तेलगू देश के इक्ष्वाकु नरेशों की शासन-व्यवस्था से ग्रहण किया गया था। इसके अधीन अनेक दण्डनायक होते थे जिनके ऊपर वह अपना नियन्त्रण स्थापित रखता था। इसी प्रकार महाप्रतिहार भी कई प्रतिहारों का निरीक्षक होता था। सन्धि विग्रहिक एक ऐसा उच्च पदाधिकारी था जिसका नाम सबसे पहले हम गुप्त लेखों द्वारा ही सुनते हैं। यह युद्ध और सन्धि का मन्त्री था या यों कहना चाहिए कि यह परराष्ट्र मन्त्री था। सन्धि-विग्रहिक जिसके लिए महासान्धिविग्रहिक शब्द का प्रयोग किया गया है राजा और सैन्य विभाग के पूर्ण सहयोग द्वारा ही अपने कर्तव्यों का संचालन करता था। गुप्त युग के प्रारम्भ में महा-सान्धिविग्रहिक का पद बड़ा व्यस्त और उत्तरदायित्वपूर्ण रहा होगा जिस समय समुद्रगुप्त अपनी उत्तर और दक्षिण विजयों की योजना बना रहा था। किन राज्यों को साम्राज्य में मिला लेना चाहिए और किनको करद राज्यों के रूप में रहने देना चाहिए आदि बातों का निर्णय इस उच्च पदाधिकारी और उसके विभाग के द्वारा ही किया जाता था।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से गुप्त-युग में साम्राज्य को विभिन्न प्रान्तों में विभाजित कर दिया जाता था। गुप्त-लेखों में प्रान्त के लिए देश या भुक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति सम्राट् करता था। ये अपने भुक्ति की बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विप्लवों से रक्षा करने के लिए उत्तरदायी होते थे। अपनी राज्य सीमा में शान्ति स्थापना करके सार्वजनिक हित के कार्य करना प्रान्तीय शासक का कर्तव्य समझा जाता था। उसे इस बात का अधिकार प्राप्त होता था कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की वह नियुक्ति करे। गुप्त लेखों में प्रान्तीय शासक के लिए अधिकतर उपरिक महाराज पदवी का प्रयोग किया गया है। गोप्ता शब्द का प्रयोग भी मिलता है। प्रान्तीय शासक अधिकांशतया राजकुल से सम्बन्धित होते थे। जितने भी शासन विभाग साम्राज्य की राजधानी में होते थे सम्भवतः वे सभी भुक्ति या देश की राजधानी में भी पाये जाते थे। प्रान्तीय शासन की रचना सम्भवतः केन्द्रीय शासन के नमूने के आधार पर की गई थी। आधुनिक काल की भाँति गुप्त काल में भी गवर्नरों के शासन काल की अवधि निश्चित कर दी जाती थी। प्रान्तीय शासकों के कार्य-काल की अवधि कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। गुप्तकालीन अभिलेखों द्वारा हम साम्राज्य के समस्त प्रान्तों का नाम तो ज्ञात नहीं होता किन्तु इन भुक्तियों के नामों का उल्लेख काफी मिलता है पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति तीरभुक्ति नगरभुक्ति श्रावस्तीभुक्ति तथा अहिच्छत्रभुक्ति सुकुलिदेश और सौराष्ट्र आदि।

जिले का शासन—प्रान्त जिलों में विभाजित किये जाते थे। जिलों के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक भुक्ति के अन्तर्गत कई विषय होते थे। पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में खाडापर पञ्चनगर तथा कोटिवर्ष नामक विषयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। विषय के सबसे प्रधान अधिकारी को विषयपति कहा जाता था। इसकी नियुक्ति बहुधा गोप्ता उपरिक महाराज अर्थात् प्रान्तपति ही करता था किन्तु कभी कभी सम्राट भी इसको नियुक्त करता था। विषयपति के लिए लेखों में कुमारामात्य की पदवी प्रयुक्त की गई है। विषयपति के प्रधान कार्यालय का स्थान जहाँ उसका अधिकरण होता था अधिष्ठान कहलाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्र विषय शासन के सम्बन्ध में हमें कुछ महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करते हैं। इनके द्वारा पता लगता है कि विषयपति को शासन सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए अनेक कर्मचारी थे जिनके नाम इस प्रकार हैं—

नगरश्रेष्ठी—नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख।

सार्थवाह—नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान।

प्रथमकुलिक—प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का प्रमुख।

प्रथम कायस्थ—प्रधान लेखक।

पुस्तपाल—संग्रहाधिकारी।

विषय के इन शासनाधिकारियों के कार्यकाल की अवधि भी कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। पुस्तपाल को छोड़कर अन्य चार अधिकारियों के द्वारा एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता था जिसका अध्यक्ष विषयपति होता था। शासन के कार्यों में विषयपति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से परामर्श लिया करता था। इस मन्त्रिमण्डल के अस्तित्व से यह सिद्ध हो जाता है कि नगर शासन में लोकमत का भी कुछ हाथ रहता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य नगर की जनता के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे।

नगर-शासन—इस बात का अनुमान करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण नहीं कि गुप्त काल में नगरों में म्युनिसिपल शासन की व्यवस्था थी, यद्यपि इस समय के म्युनिसिपल शासन का विस्तृत विवरण देनेवाला कोई मेगास्थनीज हमारी सहायता नहीं करता। स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि विषयों के समुचित शासन के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी। इस सभा का अध्यक्ष नगरपति कहलाता था जिसके लिए 'द्रांगिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर निवासियों और व्यापारियों से कर वसूल कर द्रांगिक उनके हित के कार्यों पर व्यय करता था। स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के निकट गन्दगी फैलाते हुए पकड़ा जाता था तो वह दण्डभागी होता था और उसे एक पण दण्ड कर के रूप में देना पड़ता था।

ग्राम-शासन—ग्राम उस समय के शासन प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई था। गाँव का मुखिया जिसे ग्रामिक तथा ग्रामाध्यक्ष कहा जाता था, ग्राम शासन का अध्यक्ष होता था। मुखिया को शासन सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए स्थानीय लोगों की एक सभा हुआ करती थी जिसमें राज कर्मचारी नहीं होते थे। ग्राम-सभा सरकार के लगभग समस्त कर्तव्यों का निर्वहन करती थी। वह ग्राम की सुरक्षा का ध्यान रखती थी, गाँववालों के मुकदमों का निर्णय करती थी, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करती थी और ग्रामवासियों के सार्वजनिक हित के कार्य करती थी। ग्राम सभा के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता था इसका विवरण हमें ज्ञात नहीं। सदस्यों के लिए लेखों में 'महत्तर' के इस प्रयोग से यह अनुमान होता है कि विभिन्न वर्गों के वयोवृद्ध जनों को जो अपनी आयु, अपने अनुभव और चरित्र के कारण जनता में प्रतिष्ठित एवं विख्यात होते थे लोकमत द्वारा ग्राम सभा का सदस्य मनोनीत कर लिया जाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों द्वारा ग्राम शासन पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इनके द्वारा ग्राम सभा के सदस्यों के निम्न प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है—(१) महत्तर (२) अष्टकुलाधिकारी—आठ कुलों के मुखिया (३) ग्रामिक—ग्राम के प्रधान व्यक्ति और (४) कुटुम्बिन—परिवार के मुख्य व्यक्ति। ग्राम शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम सभा उपसमितियों का भी निर्माण करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम शासन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी जो ग्राम कर द्वारा ग्राम सभाओं को प्राप्त होता था। यद्यपि ग्रामवासियों का मुख्य उद्यम कृषि कार्य था तथापि लगभग प्रत्येक ग्राम में जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, तेल बनाने वाले तथा सुनार इत्यादि भी होते थे जिनके द्वारा ग्राम सभाओं को काफी आय होती थी। ग्रामों की सीमाओं का निर्माण बहुधा दीवारों और नालियों द्वारा किया जाता था। गुप्त लेखों में सीमा निर्धारण के लिए नालियों के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

राज्य की आय के साधन—राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न थे। गुप्त लेखों से पता चलता है कि करों की संख्या गुप्त काल में अठारह थी किन्तु उनके नाम हमें ज्ञात नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि करों में सबसे प्रमुख भूमि कर होता था। कुछ स्थानों में भूमि-कर के लिए 'भागकर' और कुछ स्थानों में 'उद्रंग' शब्द का प्रयोग किया गया है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर सोलह प्रतिशत से पच्चीस प्रतिशत तक लगाया जाता था। 'भागकर' शब्द से यह स्पष्ट है कि कर उपज के अंश द्वारा वसूल किया जाता था अथवा मुद्राओं के रूप में [illegible]। किस प्रकार

अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि के कारण उपज कम होने पर कृषकों के ऊपर कर भार स्वाभाविक रूप से अन्य वर्षों की तुलना में हलका पड़ता था।

चुंगी करों का उल्लेख गुप्त कालीन अभिलेखों और स्मृतियों में काफी प्रचुरता से किया गया है जिनसे यह पता चलता है कि चुंगी द्वारा भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। राज्य में जिन वस्तुओं का निर्माण किया जाता था उन पर चुंगी लगाई जाती थी। वनों, चरागाहों, बेकार भूमि तथा खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था और उनकी उपज को बेच कर अथवा उन्हें ठीके पर उठा कर राज्य काफी आय प्राप्त करता था। लगान राजकोष आय का एक प्रमुख स्रोत समझा जाता था जिसका प्रबन्ध गौल्मिक नामक कर्मचारी के अधीन होता था। गुप्तों के समकालीन वाकाटक नरेशों के लेखों में पता चलता है कि गृह पशुओं यथा गौ बैल इत्यादि और दूध घी शहद आदि वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था परन्तु हम इस बात का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं कि गुप्त साम्राज्य में भी इन पर कर लगाया अथवा नहीं। यह अब सब नहीं किया था का शासन व्यापारी और शिल्पी ... कर भी व्यवस्था थी। व्यापारियों और शिल्पियों से जो कर वसूल किया जाता था उसे गुप्त लेखों में शुल्क का नाम दिया गया है। गुप्तों के शासन-काल में भारत का आन्तरिक और बाह्य व्यापार काफी उन्नति पर था और दोनों प्रकार के व्यापारियों द्वारा राज्य को काफी आमदनी होती थी। देश में बाहर से जो वस्तुयें आती थी उन पर राज्य कर लगाया जाता था। व्यापारी यदि राज्य को ... चुंगी चुकाने का प्रयत्न करते हुए पकड़े जाते थे तो उन्हें आठ गुना ...

सम्भवतः गुप्त कालीन स्मृतियों के आदर्श को स्वीकार किया होगा जैसा कि उनके लेखों द्वारा ... ज्ञात होता है कि उन्होंने स्मृति ग्रन्थों के आदर्श का परिपालन किया था। निश्चय ही प्रजा के ऊपर कर प्रभूत मात्रा में नहीं लगाये जाते थे। ...

अपराधियों को अविलम्ब ही दण्ड का भागी बनना पड़ता था परन्तु जैसा कि मेगस्थनीज के विवरण द्वारा हम जान चुके हैं वैसे कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे। अप

... We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievements and can well conclude that it was very well organised both at the centre and in provinces. *Vakatak Gupta Age* p. 292

राज्यों की संख्या बहुत ही कम होने से यह बात स्पष्ट है कि दण्ड-नीति का विभाग कुशल और सजग था।

देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए गुप्त सम्राट काफी सचेष्ट रहते थे। राजमार्गों के निर्माण और उसकी मरम्मत कराने का वे सदैव ध्यान रखते थे। कृषि की उन्नति के लिए बाँधों, झीलों और तालाबों का निर्माण किया जाता था। खानों और वन प्रदेशों से जनता के लाभार्थ सामग्रियाँ प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। कृषि और व्यापार को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन प्राप्त था।

इस बात को हम पिछले पृष्ठों में भली भाँति स्पष्ट कर चुके हैं कि गुप्तसम्राट निरंकुश नहीं होते थे। लोकानुरञ्जन उनका प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। शासन की सम्पूर्ण शक्ति किसी एक व्यक्ति या सरकार में केन्द्रित नहीं थी। डा० अल्तेकर का कथन है कि गुप्त कालीन शासन प्रणाली विदेशियों (शक कुषाण पह्लव) की शासन व्यवस्था से कुछ परिवर्तित रूप में थी। इस काल का एक उल्लेख्य परिवर्तन ग्राम और नगर सभाओं के कार्यों और अधिकारों में अभूतपूर्व वृद्धि है। ये संस्थायें पहले भी वर्तमान थीं पर उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि इनका रूप वैसा ही गैर सरकारी और इनका काम क्षेत्र उतना ही विस्तृत था जैसा कि चौथी शताब्दी से उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में पाया जाता है। संधि विग्रह को छोड़कर सरकार या राज्य के सारे सब काम ये करती थीं। ये स्थानीय शासन-संस्थायें जनता के दृढ़ दुर्ग के समान थीं और इनकी कार्यक्षमता के कारण समिति के अभाव का दुष्परिणाम विशेष रूप से प्रतीत न होने पाया। जनता के अधिकारों और स्वत्वों की सतर्कतापूर्वक रक्षा द्वारा ये ग्राम संस्थायें राजा की अधिकाधिक हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति की काफी रोक-थाम करती थीं। जनता से कर वसूल करने का कार्य अधिकतर ग्राम पंचायतें ही करती थीं। यदि राज्य द्वारा नये और न्यायविरुद्ध कर लगाये जाते थे तो ये उन्हें वसूल करने से ही इन्कार कर सकती थीं। गम्भीर अपराधों को छोड़कर बाकी सब झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।[1]

लोक-कल्याण के कार्य करना और विद्या कला तथा संस्कृति को राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करना गुप्त कालीन शासन पद्धति की एक प्रशंसनीय विशेषता थी। गुप्त सम्राटों की कलानुरागिता और साहित्य-संवर्द्धन की मनोवृत्ति पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। शिक्षा और ज्ञान के प्रसार का भी गुप्त सम्राट काफी ध्यान रखते थे। डा० अल्तेकर के ही शब्दों में अन्य युगों की अपेक्षा इस काल के बहुत अधिक शिलालेख और ताम्रपत्रादि उपलब्ध हैं जिससे पता चलता है कि शिक्षा के प्रसार और ज्ञान की वृद्धि की प्रशंसनीय आकांक्षा से प्रेरित होकर सरकार शिक्षा संस्था और विद्वानों को खुलकर दान और सहायता देती थी। राज्य द्वारा मन्दिर निर्माण की प्रवृत्ति ने तक्षण, स्थापत्य चित्रण और नृत्य आदि ललित-कलाओं की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हुई।[2]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर हम सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० अल्तेकर के शब्दों में कह सकते हैं[3] We may therefore be well proud of the

---

[1] प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृष्ठ २३७।

[2] वही पृष्ठ २३७।

[3] *Vakataka Gupta Age* P 204

Gupta administrative system which served as the ideal for contemporary and later states

सामाजिक जीवन

गुप्त युग में सामाजिक जीवन में हम कुछ विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इन विशेषताओं का उद्भव पहले हो चुका था, इस समय वे और अधिक दृढीभूत हो गई। हमने मौर्य-युगीन सामाजिक अवस्था के अन्तर्गत जिन विशिष्ट तत्वों का अध्ययन किया था उनमें से कई का प्रचलन इस काल में था और पहले की अपेक्षा अधिक प्रबलतर रूप में था। गुप्त सम्राटों के सुदीर्घकालीन शासन ने उत्तरी भारत में और उनके समकालीन वंशों ने दक्षिणी भारत में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करके पिछले युग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं को देश की भूमि पर अच्छी तरह से जमने का अवसर प्रदान किया। मौर्य काल में भारतवासियों के जिस समृद्ध भौतिक जीवन का उल्लेख हमने किया है उसको इस युग की शान्ति ने और अधिक पनपने की सुविधा दी। गुप्त काल के साहित्य-ग्रन्थों से सौभाग्यवश जिनकी संख्या काफी अधिक है हमें इस काल के लोगों के इहलौकिक परक जीवन का पर्याप्त विशद विवरण प्राप्त होता है। इसी प्रकार विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में जिस निस्संकोचपूर्ण मनोवृत्ति का अध्ययन हमने मौर्य काल की सभ्यता के सम्बन्ध में किया है उसका और अधिक सबल प्रसार गुप्त काल में था। भारतवासियों के श्रेष्ठ नैतिक चरित्र की प्रशंसा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने की थी गुप्त काल में चीनी यात्री फाह्यान ने भी प्रशंसापूर्ण शब्दों में ही लोगों के चरित्र का उल्लेख किया है और यह सचमुच मनोरंजक है कि हर्ष काल के भारतीयों की चारित्रिक श्रेष्ठता का वर्णन ह्वेनसांग ने भी किया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि कुछ विषयों में सामाजिक जीवन का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है जब तक कि कोई प्रबल अवरोधक शक्ति बीच में न आ पड़े समाज का जीवन चलता ही रहता है। अतएव हमें यह जानकर आश्चर्य न करना चाहिए कि बहुत सी बातों में गुप्त काल का सामाजिक जीवन मौर्यकाल के और कुछ बातों में अपने परवर्ती काल के सामाजिक जीवन से काफी समानता रखता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भारतीय समाज का मूल ढांचा आज भी बहुत कुछ बातों में वैदिक कालीन सामाजिक रचना से मिलता जुलता है।

परन्तु जहाँ हम एक और समाज के संगठन में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता वहीं दूसरी ओर कुछ बातों में सदैव परिवर्तन होता चला गया है। भारत के सामाजिक संगठन की यह विशेषता रही है कि अपनी जीवन रक्षा के हेतु इसने सदैव अपने को युग की परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित करने का प्रयास किया है और इस परिवर्तन के लिए कभी किसी महान् सामाजिक क्रान्ति को आवश्यक नहीं समझा गया। इस कारणवश हम गुप्त काल में सामाजिक जीवन में अवश्य ही कुछ नवीनतायें दिखलाई पड़ेंगी। गुप्त-काल के पूर्व के इतिहास को पढ़ने से हमें यह तो विदित हो ही चुका है कि भारत में विदेशी जातियों के आक्रमण हुए और उन्होंने अपने राज्यों की स्थापना कर ली। ये विदेशी जातियाँ भारतीय समाज में प्रवेश करने लगीं, अतएव स्मृतिकारों ने इस विषय में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखा। वे इन जातियों को समाज से बहिष्कृत तो कर नहीं सकते थे क्योंकि ऐसा करना न तो हित कर था और न सम्भव ही। अतएव ब्राह्मण स्मृतिकारों ने उनको समाज में तो मिला

लिया परन्तु वे उनकी अभारतीय उत्पत्ति से भलीभाँति परिचित थे, अतः उन्होंने उनको क्षत्रिय स्वीकार करके भी उन्हें व्रात्य की उपाधि दी जिससे विदेशी जातियाँ देश के क्षत्रियों के समकक्ष न हो सकीं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मौर्य युग के उपरान्त पुष्यमित्र शुंग और सातवाहन नरेशों के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसको गुप्त काल में विशेष प्रोत्साहन और बल प्राप्त हुआ जिससे उसका सामाजिक जीवन पर कुछ प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था। भारतीय सीमाओं में बौद्ध धर्म प्रचार पहले की अपेक्षा काफी कम हो गया अतएव उस सुधार आन्दोलन का प्रभाव क्षीण हो गया जिसको बौद्ध धर्म ने जन्म दिया था। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप कुछ ऐसे सामाजिक नियमों [illegible]

में भी अन्तर्वर्ण विवाह और विभिन्न वर्णों के साथ भोजन पान के सम्बन्ध प्रचलित थे, [illegible] जाने लगे। इसका [illegible] बढ़ता गया और [illegible] लने की शक्ति का [illegible] स्वस्थ जीवन को [illegible] कर १२ या तरह [illegible] गया बल्कि बालकों की विवाह-अवस्था भी कम कर दी गयी और शिक्षा समाप्ति-पर्यन्त ब्रह्मचर्य-पालन असम्भव हो गया।

वर्ण-व्यवस्था—अन्य युगों की भाँति गुप्त-युग में भी समाज का आधार वर्ण व्यवस्था ही था। इस बात में सन्देह की गुंजाइश कम है कि वर्ण-व्यवस्था के जिन नियमों की रचना पूर्ववर्ती युगों में की जा चुकी थी उनका परिपालन इस समय किया जाता था। हमने गुप्त और मौर्य युगों के सामाजिक जीवन की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज के कुछ नियमों में अभी परिवर्तन का समावेश नहीं हो पाया था। एक उदाहरण दे देना अनुचित नहीं होगा। जिस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए विभिन्न बस्तियों का विधान किया है उसी प्रकार वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में भी इन चारों वर्णों के लिए अलग अलग बस्तियों की व्यवस्था की है। गुप्त काल के स्मृति ग्रन्थ अन्तर्जातीय विवाहों और भोजन-पान के सम्बन्ध को अनुमति नहीं प्रदान करते, हालांकि उन्हें गैरकानूनी करार नहीं करते। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में गुप्त-युग वर्ण नियमों की जटिलता के प्रारम्भ का युग था परन्तु व्यावहारिक रूप में इस बात के समुचित प्रमाण मिलते हैं कि सामाजिक नियम अभी बहुत कठोर नहीं होने पाये थे। साधारण तौर पर विवाह अपने वर्ण में ही होते थे किन्तु अन्तर्वर्ण विवाहों का प्रचलन भी था। उच्च वर्ण के पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। इस प्रकार के विवाह को स्मृति-ग्रन्थों में अनुलोम विवाह की संज्ञा दी गई है। एक गुप्त-कालीन लेख से इस बात का पता चलता है कि एक ब्राह्मण युवक ने क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह किया था। वाकाटक नरेश रुद्रसेन ने जो ब्राह्मण वंश का था प्रभावतीगुप्त के साथ जो वैश्य वर्ण की थी विवाह कर लिया था। यह

एक मनोरञ्जक बात है कि इस युग में स्मृतिकार अनुलोम विवाह द्वारा परिणीता पत्नी को धार्मिक यज्ञों के अनुष्ठान का उसके पति के साथ अधिकार देते हैं, यदि उस पति के कोई सवर्ण पत्नी न हो।

प्रतिलोम विवाहों को जिनमें पत्नी उच्च वर्ण की होती थी और पति उससे निम्नतर वर्ण का, याज्ञवल्क्य ने कानूनी माना है। समाज में इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन था। कादम्बों ने अपनी पुत्रियों का विवाह वन्य गुप्तों के साथ किया था यद्यपि कादम्ब नरेश ब्राह्मण थे। इस प्रकार गुप्त-युग में अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सोमनाथ नामक व्यक्ति की माता का पूर्वज ब्राह्मण था परन्तु उसने शूद्र स्त्री को अपनी पत्नी बनाया था। संस्कृत नाटकों के अध्ययन से विदित होता है कि उच्च वर्ण के ब्राह्मण कन्याओं और उनकी दासियों की पुत्रियों के साथ भी विवाह कर लेते थे। 'कुलशान्तवान् ब्राह्मण चारुदत्त ने जो मृच्छकटिक' नाटक का नायक है वसन्तसेना नाम की सुविख्यात गणिका से विवाह कर लिया था। इसी नाटक में सर्वलिक नामक ब्राह्मण भी वसन्तसेना की दासी मदनिका से विवाह कर लेता है। हमने आन्ध्रों के इतिहास में ब्राह्मण वर्ण के एक सातवाहन नरेश को रुद्रदामन एक महाक्षत्रप की कन्या के साथ विवाह करते हुए पाया है। गुप्त काल में भी विदेशियों की कन्याओं को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेने की घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा शायद इसलिए सम्भव हो सका कि विदेशी लोग हिन्दू समाज में मिलाये जा चुके थे और उनको सामाजिक संगठन में स्थान भी मिल चुका था यद्यपि वे अब भी व्रात्य' ही समझे जाते थे। इक्ष्वाकु राजाओं ने कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी उज्जयिनी के शक राजकुल की कन्या से पाणिग्रहण किया था। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि स्त्रीरत्न और शिल्पविद्या कहीं से भी ग्रहण कर लेनी चाहिए। सम्भवत इस भावना ने विवाह के सम्बन्ध में वर्ण भेद को कुछ शिथिल कर दिया हो। लेकिन ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया जाति भेद का विचार बढ़ता गया फिर भी जाति के बंधन अधिक कठोर होने में कई शताब्दियों का समय लगा होगा। ह्वेनसांग ने हर्षकालीन सामाजिक व्यवस्था के विषय में लिखा है कि प्रायः अपने ही वर्ण के अन्दर विवाह सम्बन्ध करना उचित समझा जाता है परन्तु बाण के हर्षचरित से पता चलता है कि स्वयं बाण के ब्राह्मण पिता ने एक शूद्र नारी को अपनी पत्नी बनाया था और उससे दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे।

विभिन्न वर्णों के बीच भोजन पान का सम्बन्ध गुप्त काल में निषिद्ध नहीं समझा जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि जब अन्तर्जातीय विवाहों का समाज में प्रचलन था तो भोजन-पान के विषय में प्रतिबन्ध अधिक कठोर नहीं हो सकता था। शूद्रों को छोड़ कर प्रायः अन्य वर्णों के लोग परस्पर एक दूसरे के साथ खान पान का सम्बन्ध रखते थे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने कृषक नाई और अहीर के साथ भोजन करने की आज्ञा दे दी है यद्यपि समाज में ये लोग शूद्र समझे जाते थे।

अपने वर्ण के ही अनुसार व्यवसाय ग्रहण करना, गुप्त काल में एक नियम के रूप में नहीं था। वस्तुतः ऋग्वैदिक काल से लेकर आज तक कभी भी यह बात पूर्ण रूप से नहीं पाई गई। लोग अपनी अपनी सुविधाओं के अनुसार अपने वर्ण के प्रतिकूल भी व्यवसाय चुनते रहे हैं और आज भी ब्राह्मण योद्धाओं, ब्राह्मण व्यापारियों तथा वन्य अध्यापकों का अभाव नहीं है। गुप्त युग में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं

जिनसे यह सिद्ध होता है कि लोग अपने वर्ण के अनुकूल व्यवसाय अपनाने के नियम का पालन नहीं करते थे। स्मृतियाँ ही इस बात का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करती हैं, कि ब्राह्मणों ने ही अब्राह्मण व्यवसायों का ग्रहण किया था और स्मृतियों के प्रमाण की पुष्टि अन्य स्रोतों द्वारा भी हो जाती है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपने वर्णानुकूल व्यवसाय को बदल कर अपने से निम्नतर वर्णों के व्यवसाय को ग्रहण किया था। मयूरशर्मन ब्राह्मण था किन्तु उसने स्वेच्छापूर्वक क्षात्र वृत्ति को अपना लिया और कादम्ब वंश की नींव डाली। महाराज मातृविष्णु एक ब्राह्मण सेनापति इन्द्रविष्णु के वंशज थे। विन्ध्यशक्ति भी ब्राह्मण थे किन्तु योद्धा मा[illegible] को ग्रहण कर उन्होंने वाकाटक राजवंश की स्थापना की। इसी प्रकार क्षत्रियों द्वारा भी निम्नतर वर्ण के व्यवसाय ग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं। पाँचवीं शताब्दी के एक लेख से विदित होता है कि एक तैलिक-श्रेणी के प्रमुख अधिकारी क्षत्रिय थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के अध्यापन इत्यादि व्यवसाय को भी ग्रहण किया रहा हो।

वैश्यों का कोई सुनिश्चित व्यवसाय इस समय नहीं था। अधिकांश वैश्य उद्योग धंधों तथा व्यापार में लगे हुए थे। कृषक, व्यापारी, पशुपालक, सुनार, बढ़ई, जुलाहे, मालाकार इत्यादि जातियाँ काफी विकास को प्राप्त कर चुकी थीं। अन्य जातियाँ अपनी अपनी जातियों का अधिक ध्यान रखती थीं। यह सम्भव है कि आज की भाँति अनेक कृषकों, सुनारों या जुलाहों को अपने वैश्य होने का कोई ख्याल ही न रहता रहा हो और वे अपनी जाति को ही अपनी मूल जाति समझते रहे हों। वैश्य वर्ण के द्वारा क्षत्रियों का व्यवसाय ग्रहण कर लेने के उदाहरणों का भी अभाव नहीं है। यह असम्भव नहीं कि गुप्तों की सेना में वैश्य सैनिक रहे हों।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-युग में शूद्रों की अवस्था पहिले की अपेक्षा कुछ सन्तोषजनक थी। शूद्रों के विषय में इस काल के स्मृतिकारों का दृष्टिकोण काफी उदार प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को व्यापारी, कृषक और कारीगर होने की अनुमति दी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शूद्रों ने इस सुअवसर से अधिक लाभ उठाया। कुछ शूद्रों ने सैन्य वृत्ति को भी अपनाया था और कुछ तो सेना के पदाधिकारी भी हो गये थे। शूद्रों के राजा होने का प्रमाण भी मिलता है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि मतिपुर का राजा शूद्र जाति का था।

अन्त्यजों की गुप्तकालीन हिन्दू समाज में बड़ी शोचनीय अवस्था थी। समाज में उनकी दयनीय स्थिति इस बात को सिद्ध करती है कि अस्पृश्यास्पृश्य का विचार समाज में अवश्य विद्यमान था। यहाँ यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि शूद्र और अन्त्यज एक ही जाति के नहीं थे वरन् भिन्न भिन्न होते थे। [illegible] की स्थिति के विषय में हमने ऊपर पढ़ा है जिससे स्पष्ट है कि उनकी अवस्था बुरी न थी किन्तु अन्त्यजों को लोग छूना तक अपराध समझते थे। फाहियान ने अन्त्यजों अथवा चाण्डालों के लिए लिखा है कि वे नगर के बाहर रहते हैं। जब वे नगर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देने के लिए लकड़ी या ढोल बजाते चलते हैं जिससे लोग उनके मार्ग से हट जायें तथा उनसे दूर रहकर चलें। केवल चाण्डाल ही मछली मारना, मृगया करना और मांस बेचते थे। स्मृतियों में कहा गया है कि चाण्डालों का अत्यन्त तुच्छ कार्य करना चाहिए। शव ढोना और अपराधियों को प्राणदण्ड देने का कार्य उन्हीं को सौंपा जाता था। इस काल की स्मृतियों में इस बात के लिए भी कठोर नियमों का विधान किया गया है जिनके पालन से लोग अन्त्यजों के सम्पर्क से 'दूषित' होने से बचा सकें। गुप्त-काल

के साहित्य से भी फाहियान के कथन और स्मृतियों के विधान की पुष्टि होती है। मृच्छकटिक में दो चाण्डालों को आदेश दिया जाता है कि वे अपराधियों को प्राणदण्ड देने के स्थान में ले जायें। तत्कालीन साहित्य में इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि जो व्यक्ति चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हो जाता था वह अन्य व्यक्तियों का स्पर्श नहीं कर सकता था। गुप्तकालीन समाज में मिश्रित या संकर जातियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। स्मृतिग्रन्थों में लिखा है कि अन्तर्वर्ण विवाहों के द्वारा संकर जातियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण जनता में लोकप्रिय नहीं हो पाया था। जैसा कि हमने पीछे देखा है समाज के उच्चवर्ण के लोग भी अन्तर्वर्ण विवाह करते थे और उनकी सन्तानों की जाति का निर्धारण उनके पिताओं की जाति से होता था। हाँ जब समाज में अन्तर्वर्ण विवाहों का प्रचलन बहुत कम हो गया तब स्मृति ग्रन्थों का दृष्टिकोण संकर जातियों के सम्बन्ध में कुछ ठीक सा समझा जाने लगा। मूर्द्धावसिक्त अम्बष्ठ, पारशव, उग्र, करण आदि संकर जातियों के नाम समकालीन स्मृति ग्रन्थों में मिलते हैं।

समाज में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः मधुर और सौहार्द्रपूर्ण थे। चाण्डालों और शूद्रों को छोड़कर अन्य जातियों में परस्पर खान पान का व्यवहार होता था। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं यद्यपि शूद्रों को सवर्ण लोगों के साथ भोजन पान का अधिकार न प्राप्त था तथापि उनकी स्थिति अन्य युगों की अपेक्षा अधिक उत्तम थी। अन्तर्जातीय विवाहों के प्रचलन से यह सिद्ध होता है कि अभी समाज में जातियों के सामाजिक सहवास पर कोई कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगने पाया था। समाज में ब्राह्मणों को सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनको कुछ सुविधायें प्राप्त थीं जो अन्य जातियों के लिए नहीं थीं। मृच्छकटिक नाटक से पता चलता है कि न्यायालय में यद्यपि चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध कर दिया जाता है तथापि उसे उसके ब्राह्मण जन्म के कारण मृत्यु दण्ड से मुक्त कर दिया जाता है। अपने चरित्र की उत्कृष्टता और पाण्डित्य के कारण ब्राह्मण सब जातियों के द्वारा सम्मानित किये जाते थे। समाज में क्षत्रियों का भी काफी अधिक सम्मान होता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जातियाँ सम्पूर्ण समाज की श्रद्धा और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थीं। वैश्य लोग अपनी दानशीलता के लिए विख्यात थे। फाहियान ने गुप्त काल के वैश्यों के विषय में लिखा है कि जनपद के वैश्यों के मुखिया लोगों ने नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित कर रखे हैं। देश के निर्धन अपंग अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले, लँगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर आते हैं और सब प्रकार की सुविधा तथा सहायता प्राप्त करते हैं। गुप्त काल के वैश्यों की उदारता और दानशीलता आज के व्यापारी वर्ग के लिए आदर्श प्रस्तुत करती है।

गुप्तकालीन समाज में दास प्रथा विद्यमान थी और इस सम्बन्ध में इस काल के स्मृति ग्रन्थों में जो नियम दिये हैं वे इस प्रथा का कुछ विकसित रूप में प्रदर्शित करते हैं। नारद स्मृति में दास प्रथा के सम्बन्ध में काफी सूक्ष्म विवेचन मिलता है। युद्ध बंदियों को दास बनाने की प्रथा काफी प्राचीन मालूम पड़ती है और गुप्त काल में भी इसका प्रचलन था। जो ऋणकर्ता अपना ऋण अदा नहीं कर पाते थे उनको भी अपने ऋणदाता की दासता स्वीकार कर लेनी पड़ती थी। नारद ने इस प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। हारे जुआरी को भी दास बन जाना पड़ता था। इस प्रकार के एक दास का उल्लेख हम मृच्छकटिक नाटक में पाते हैं। भारतवर्ष में दासता सम्भवतः कभी भी आजीवन नहीं होती थी। ऋणकर्ताओं जुआरियों और युद्ध-बन्दियों को

अपनी दासता से मुक्त होने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि दासों के साथ व्यवहार उनके स्वामियों के स्वभाव पर निर्भर करता था तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में यूनान और रोम की भाँति दासों के प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया जाता था। इस सम्बन्ध में हम मौर्य-कालीन सभ्यता के अध्याय में कुछ विचार कर चुके हैं।

पारिवारिक जीवन—सम्मिलित कुटुम्ब के ऊपर गुप्त काल का हिन्दू समाज आधारित था। इस काल के स्मृतिग्रन्थों में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा को प्रशंसनीय बताया गया है और पिता के जीवन काल में परिवार के विभाजन की निन्दा की गई है। गुप्तकालीन अभिलेखों से भी सम्मिलित कुटुम्ब के अस्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। एक लेख से हमें पता चलता है कि एक दानकर्ता अपने, अपनी माँ, पत्नी, एक पुत्र, एक पुत्री, दो भतीजों और दो भतीजियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए दान करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पिता की मृत्यु के बाद भाई पूरे परिवार के साथ ही रहा करते थे।

नारियों की स्थिति—गुप्तकालीन समाज में नारियों की स्थिति पिछले युगों की अपेक्षा कुछ गिरी हुई प्रतीत होती है। स्त्रियों के विवाह की अवस्था घटा दिये जाने से उनके लिए सामान्यतया उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध हो गया था और विवाह के सम्बन्ध में भी उनको किसी प्रकार पति-वरण की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। कुछ स्मृति ग्रन्थों में पिताओं के लिए यह अनिवार्य ठहराया गया है कि वे अपनी कन्याओं का विवाह उनके यौवन के पूर्व ही कर दें। नारद और याज्ञवल्क्य ने तो यहाँ तक लिख दिया कि जो पिता अपनी कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने के पूर्व नहीं करता है उसे नरक जाना पड़ता। गुप्तकालीन स्मृतियाँ स्त्रियों को वैदिक शिक्षा देने की अनुमति नहीं प्रदान करतीं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च कुलों में नारियों को शिक्षा दी जाती थी। वैदिक शिक्षा भले ही उनको प्राप्त न होती रही हो किन्तु वे निरक्षर अथवा अशिक्षित नहीं होती थीं। आश्रमवासिनी कन्यायें इतिहास और पुराण का अध्ययन करती थीं, न केवल काव्यों को समझ ही सकती थीं अपितु स्वयं भी वे पद्य रचना कर लेती थीं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अनसूया शकुन्तला के द्वारा लिखे प्रणय सन्देश को समझ लेती है। ललित कलाओं में स्त्रियों की निपुणता के उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य-ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। महाकवि कालिदास ने आदर्श पत्नी के अन्य गुणों के साथ उसकी ललित कला निपुणता का भी उल्लेख किया है। शकुन्तला की सखी अनसूया चित्रकला में और मालविका पत्नी वीणा-वादन में कुशल थी। अमरकोष में जो गुप्तकाल की रचना है नारी शिक्षिकाओं (उपाध्याया और उपाध्यायी) तथा वैदिक मन्त्रों की शिक्षा देनेवाली नारियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु यह सम्भव है कि अमरकोष का यह उल्लेख केवल कात्यायन तथा अन्य पूर्व वैयाकरणों का अनुकरण मात्र हो।

गुप्तकालीन समाज में विधवा विवाह का प्रचलन किस सीमा तक था, यह कहना कुछ कठिन अवश्य है। अमरकोष से पता चलता है कि एक द्विजन्मा पुरुष पुनर्भू (विवाहिता विधवा) को अपनी प्रमुख पत्नी भी बना सकता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने अग्रज की विधवा पत्नी से विवाह किया था। नारद और पराशर ने विधवाओं के पुनर्विवाह को नियमानुकूल बतलाया है किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य और आत्म संयम के जीवन को आवश्यक कहा है। बृहस्पति

न तो यहाँ तक कहा है कि विधवा स्त्री को अपने पति के साथ उसकी चिता पर जल जाना चाहिए। सती प्रथा का प्रचलन सम्भवतः समाज में था। कालिदास के नाटकों और मृच्छकटिक में सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना का भी जिक्र मिलता है। जब हूणों के आक्रमण का सामना करते हुए सन् ५१० ई० के लगभग गोपराज ने रणभूमि में वीरगति पाई तो उसकी पत्नी उसकी चिता पर जलकर मर गई। आगे के युग में बाण ने भी हर्ष की माता को उसके पिता की मृत्यु शय्या पर पड़े रहने के कारण सती होने के लिये उद्यत बतलाया है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि गुप्त और हर्षकालीन भारत में सती प्रथा का पर्याप्त प्रचार नहीं होने पाया था। बृहस्पति को छोड़कर अन्य किसी भी समकालीन स्मृतिकार ने सती प्रथा का उल्लेख नहीं किया है। जो विधवायें पुनर्विवाह नहीं करती थीं वे अत्यन्त सादा और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। वे आभूषण और अन्य विलास सामग्रियों के प्रयोग को अपने लिए वर्जनीय समझती थीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा गुप्तकालीन समाज में कुछ सीमा तक अवश्य विद्यमान थी। यद्यपि गुप्त काल की कलाकृतियों में नारी प्रतिमाओं के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं है तथापि अभिजात कुलों की स्त्रियाँ घरों से निकलने पर घूँघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थीं। परन्तु इस युग में पर्दे की प्रथा विशेष कठोर नहीं थी।

वस्त्राभूषण—गुप्त काल के साहित्यिक ग्रन्थों और कलाकृतियों से इस समय के वस्त्राभूषण पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। पुरुषों का वस्त्र साधारणतया एक अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय होता था। बिना सिले हुये वस्त्र पहनने का रिवाज ही अधिक था। यद्यपि विदेशी सीदियनों ने कुछ सिले हुए कपड़ों जैसे कोट तथा पायजामा का प्रचलन देश में किया तथापि गुप्त सम्राटों ने अधिकतर धोती और उत्तरीय को ही अपनाया। धोती और उत्तरीय ही सम्भवतः देश की राष्ट्रीय वेशभूषा थी। पुरुषों के द्वारा सिर पर उष्णीष (पगड़ी) पहने जाने की सूचना भी मिलती है।

स्त्रियों की पोशाक गुप्त काल में भी बहुत कुछ आज जैसी थी। हाँ आजकल की फैशनेबिल महिलाओं के यूरोपियन ड्रेस उस समय अज्ञात थे। साड़ी तथा पेटीकोट ही इस काल की नारियों के सामान्य वस्त्र थे। कहीं कहीं एक लम्बा सा पीस ही दोनों वस्त्रों का काम चल जाता है। जैकेट, ब्लाउज और फ्रॉक का प्रयोग विदेशी सीदियन नारियाँ करती थीं परन्तु भारतीय नारियों में इनका प्रयोग लोकप्रिय नहीं हो सका। नाचनेवाली भारतीय स्त्रियाँ भी सीदियन नारियों की पोशाक पहनती थीं। बाघ की गुफाओं में अनेक स्त्रियों के चित्र बने हुए हैं। जिनमें स्त्रियों को साड़ी और चोली पहने हुए दिखाया गया है। अजन्ता के चित्र में एक रानी छोटी की अंगिया पहने हुए चित्रित की गई है। स्त्रियों की साड़ियाँ बहुधा रंगीन हुआ करती थीं।

सूती कपड़ों का प्रचलन अधिक था किन्तु ऋतु के अनुसार ऊनी और रेशमी कपड़े पहनना भी गुप्त काल के भारतवासी जानते थे। फाहियान के विवरण से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि भारतवासी ऊनी और रेशमी कपड़ों का प्रयोग बहुतायत से किया करते थे। रेशमी कपड़ा सम्भवतः इस समय भी चीन से आता था जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने 'चीनांशुक' शब्द के द्वारा किया है। रेशमी वस्त्र की स्त्रियों में लोकप्रियता का उल्लेख कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर-अभिलेख में भी किया गया है।

अभिलेख में एक स्थान पर उपमा के रूप में कहा गया है कि जैसे एक युवती स्त्री सुवर्ण हार धारण किये हुए पान और पुष्पों से युक्त भी अपने प्रेमी से एकान्त में मिलने नहीं जाती जब तक कि वह रेशमी वस्त्र न पहन ले उसी प्रकार पश्वा का वह भाग (नगर) उन लोगों से विभूषित था मानो वे रेशमी वस्त्र धारण किये हैं जो स्पर्श में तथा विभिन्न रंग के कारण आँखों को आनन्ददायक हैं।[१]

गुप्त-कालीन साहित्य ग्रन्थों और कलाकृतियों द्वारा इस काल के स्त्री पुरुषों की अलंकारप्रियता तथा विभिन्न प्रकार के आभूषणों का परिचय प्राप्त होता है। स्त्रियों के आभूषण विविध प्रकार के तथा नयनों का मन लुभानेवाले होते थे। मालों तथा मालियों के हारों का सौंदर्य अद्भुत होता था। मृच्छकटिक में चारुदत्त की स्त्री वसन्तसेना के लिए मोतियों के जो हार भेजती है उनके वर्णन से पता चलता है कि इस समय के सुवर्णकार निपुण और कलात्मक अभिरुचि-सम्पन्न होते थे। कम से कम छ प्रकार की करधनियों (मेखला) का उल्लेख मिलता है। कंगनों, अंगूठियों और केयूरों (बाजूबंदों) का प्रयोग बहुलता से किया जाता था। पैरों में काफी अधिक संख्या में कड़े पहने जाते थे। घुंघरूवाले आभूषणों को भी स्त्रियाँ पैरों में पहनती थीं। कालिदास ने सुन्दरियों के 'आशिञ्जितनूपुर' चरणों का उल्लेख किया है। पुरुषों को भी गहने पहनने का बड़ा शौक था। राजकुल के पुरुष विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करते थे। महाकवि कालिदास के रघुवंश से विदित होता है कि इन्दुमती के स्वयंवर में जो नरेश और राजकुमार आये थे वे उदारनेपथ्यभृत् अर्थात् बढ़िया वेशभूषा धारण किये हुए थे और केयूर (बिजायठ) अंगुलीयक (अंगूठा) और हार पहने हुए थे। मेघदूत का यक्ष अपने हाथ में कनकवलय पहने था जो उसकी विरह कृशता के कारण ढीला पड़ गया था। साहित्य ग्रन्थों से स्पष्ट पता चलता है कि केवल राजा तथा उनके सामन्त आदि ही नहीं वरन् उनके अनुचर तथा सेवक भी आभूषण पहना करते थे। बृहत्संहिता में कहा गया है कि केवल राजा रानियों तथा राजसभा के परिचारक परिचारिकाओं को ही नहीं वरन् धार्मिक अनुष्ठानों में संलग्न पुरुषों को भी गहने पहनने चाहिए। पहाड़पुर (राजशाही बंगाल) में पुरुषों की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं जिनके वक्ष स्थल पर यज्ञोपवीत के साथ कटि पर कटिबंध तथा उदर में उदरबंध आदि गहने दिखलाई पड़ते हैं। अमरकोश में एक अनेक शब्दों की एक लम्बी सूची मिलती है जिससे विभिन्न प्रकार के आभूषणों का पता चलता है। सिर ललाट कानों नाक कण्ठ भुजाओं अँगुलियों कमर तथा पैरों के गहनों का इस समय काफी प्रचार था। नाक की नथनियों का प्रचलन इस समय सम्भवतः अज्ञात था। चन्द्रगुप्त प्रथम तथा कुमारदेवी वाले सुवर्ण सिक्के पर विवाह के उपलक्ष्य में राजा कुमारदेवी को अँगूठा देते हुए अंकित किया गया है।

स्त्रियों के केश सँवारने का भी प्रचुर प्रमाण प्राप्त होता है जिससे सिद्ध होता है कि नारियों को अपने केश अलंकृत करने का बहुत अधिक शौक होता था। स्त्रियाँ पुष्पों से अपने बालों को विविध प्रकार से सजाया करती थीं। महाकवि कालिदास के मेघदूत से विदित होता है कि केशों में मन्दार के फूल लगाकर स्त्रियाँ उनको सुगन्धित करती थीं।

[१] 'तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि। नारीजनः प्रियमुपैति न तावदस्यां यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते। स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन यैस्सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण।'

ित करने का प्रयास करती थी। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में शंकरजी पार्वती से कहते हैं कि तुम्हारे केश तुम्हारे मुख पर बिखरे हुए हैं। तुम चाहो तो पानी की फुहारों से मैं तुम्हारे केशों का शृंगार कर दूँ। बाघ गुफाओं की चित्रकारी में नायिकाओं के चित्र मिले हैं जिनके सिर के पाठ में विशुद्ध केश हैं जो श्वेत पुष्पों की मालाओं से गूँथे गए तथा विभूषित हैं। यदि अजन्ता के चित्रों में गुम्फित केशों वाली नारियों के केश-विन्यास को आधुनिक युग की फैशन परस्त महिलाएँ देखें तो उस उस समय के केश-विन्यास को मात करने से आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता। गुप्त काल में स्त्रियाँ अपनी चोटी के विस्तार को बढ़ाने तथा उसे सुन्दर ढंग से प्रदर्शित करने के लिए नकली बाल के प्रयोग से भी परिचित थीं।

भोजन पान—गुप्त कालीन भारतीय समाज में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों का ही प्रचलन था। हमें यह याद रखना चाहिए कि इस सम्बन्ध में फाहियान का विवरण कुछ भ्रमपूर्ण है तथा अनुभव पर पूर्णतया आधारित नहीं प्रतीत होता। वह लिखता है कि बाजारों में मांस और मदिरा की दूकानें नहीं हैं। लोग सुअर तथा मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज और लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते। केवल चाण्डाल जो समाज से बहिष्कृत हैं वे ही पशुओं का आखेट करते और मांस का विक्रय करते हैं। फाहियान का यह कथन सम्भवतः देश की बौद्ध प्रजा के लिए तो कुछ सीमा तक ठीक माना जा सकता है पर हिन्दुओं में प्याज और लहसुन की तो कौन कहे मांस तक खाने का रिवाज था। कालिदास के ग्रन्थों में आमिषाहार का उल्लेख मिलता है। शकुन्तला नाटक में माढव्य भुने हुए सुअर का मांस खाता है यद्यपि वह जाति का ब्राह्मण है। लोग मांस तथा मछली का भी प्रयोग करते थे और इस सम्बन्ध में समकालीन स्मृति ग्रन्थों में कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। बृहस्पति का कथन है कि केवल प्रोषितपतिका स्त्रियों (जिन स्त्रियों के पति विदेश चले गये हैं) को मांस मदिरा के प्रयोग से अलग रहना चाहिए। बृहस्पति के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी इस समय सुरा और मांस का प्रयोग करती थीं। कालिदास के ग्रन्थों में स्त्री पुरुषों के सुरा सेवन की अनेक चर्चा मिलता है। मालविकाग्निमित्र, रघुवंश तथा कुमारसम्भव नाटकों में स्त्रियों के मद्यपान का जिक्र किया गया है। मालविकाग्निमित्र की रानी इरावती तो इतना अधिक शराब पीती है कि उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। रघुवंश में नगर के बाह्योद्यानों में नागरिकों के भोजन उत्सवों तथा सुरापान का उल्लेख किया गया है। श्राद्ध के अवसरों पर मांस के भोज तो अवश्य ही करते थे। परन्तु एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। यद्यपि हम फाहियान के इस कथन को कि समाज में लहसुन प्याज तथा मांस मदिरा का बिल्कुल ही प्रचार नहीं था सत्य नहीं स्वीकार कर सकते तथापि समकालीन साहित्यिक कृतियों के अध्ययन से हम यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल सकते कि समाज में व्यापक रूप में मांस मदिरा का प्रचार था। सम्राट् अशोक की अहिंसावादिता का जनता पर कुछ प्रभाव पड़ा ही न हो यह सम्भव नहीं। कवियों और नाटककारों का साक्ष्य जनता के भोजन पान के सम्बन्ध में नितान्त रूप से प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं समझा जा सकता क्योंकि इस विषय में उनकी व्यक्तिगत मनोवृत्ति प्रधान होती थी। यदि कालिदास या शूद्रक को स्वयं आमिष तथा सुरा से घृणा नहीं थी तो वे उसके वर्णन में क्या हिचकिचाने लगे। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास या शूद्रक आहारादि के विषय में साधारण जनता की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्त काल के अधिकांश कवि, नाटककार तथा लेखक ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के अनुयायी थे और यह एक उल्लेख्य बात

है कि वैदिक धर्म सुरा सेवन या आमिषाहार का निषेध नहीं करता। किन्तु हम यह न भूलना चाहिए कि गुप्त काल के काफी पहिले ही देश में महायान तथा भागवत धर्म

...अनुकम्पा तथा अहिंसा

...रा और मांसादि का

...हना अधिक उचित

...थे और कुछ लोगों

...सन्देह नहीं कि वैदिक

धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने भी भक्तिवादी आन्दोलन से प्रभावित होकर मांसाहार त्याग दिया होगा। ब्राह्मण तो निश्चय ही काफी सीमा तक शाकाहारी हो गये थे और मदिरापान भी उन्होंने त्याग दिया था। क्षत्रियों में फिर भी सुरा-सेवन का प्रचार बना रहा।

आमोद प्रमोद और उत्सव—भारतवासियों का जीवन बड़ा आमोद प्रमादमय था। उनके पास ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होनेवाली मनोरञ्जन और आमोद प्रमाद उत्सवों की एक सजीव तथा समृद्ध परम्परा थी। मौर्य काल के भारतीयों के जीवन का हमने जो अध्ययन किया है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे बड़े ही आनन्दी और सुखानुरागी थे। गुप्तकालीन भारतीयों का जीवन भी आमोद प्रमोद के विभिन्न साधनों से परिपूर्ण था। इस काल के साहित्य और कला से भारतीयों के जीवन के इस पक्ष पर काफी प्रकाश पड़ता है। महाकवि कालिदास के ग्रन्थों से विदित होता है कि राजाओं के लिए मृगया मनोरञ्जन का प्रमुख साधन था। शकुन्तला में दुष्यन्त आखेट करने जाता है और कवि ने मृगया के लाभों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। 'रघुवंश' में दशरथ के आखेट का वर्णन किया गया है। गुप्त सम्राटों के सिक्के उनकी मृगयानुरागिता को स्पष्ट करते हैं। समुद्रगुप्त अपनी कुछ मुद्राओं पर बाघ का शिकार करता हुआ दिखलाया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त प्रथम भी सिंह का आखेट करते हुए दिखाये गये हैं। परन्तु यह कुमा दोष है कि मृगया केवल राजाओं के लिए ही मनोरञ्जन का साधन थी। बहुत हुआ तो उनके सामन्त और सेनाधिकारियों को भी शिकार की रुचि हो जाती होगी किन्तु सामान्य जनता की आखेट में अभिरुचि नहीं हो सकती थी। बाद के गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर उनकी मृगयाप्रियता का कोई उदाहरण नहीं प्राप्त होता। यह सम्भव है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से शिकार में उनकी कोई रुचि नहीं रह गई थी।

साधारण जनता के लिए मनोरञ्जन की पर्याप्त व्यवस्था थी। 'मृच्छकटिक' से पता चलता है कि भैंसों, भैंसों तथा हाथियों की परस्पर लड़ाई का उस समय काफी प्रचार था और इन लड़ाइयों को देखने से लोगों का मनोविनोद होता था। यद्यपि बौद्ध धर्म के सिद्धान्त इस प्रकार के मनोविनोद के विरुद्ध थे और सम्राट अशोक ने इसको रोकने का प्रयास भी किया था तथापि इसका प्रचार कम नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय बात है कि भारत में उस क्रूर और निर्दय कार्य को मनोरञ्जन की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया जिसका प्रचार रोम में था। वहाँ एक भयंकर पशु को मदमत्त कर अखाड़े में छोड़ दिया जाता था और उससे युद्ध करने के लिए उसी अखाड़े में किसी निहत्थे पुरुष को छोड़ा जाता था। जब पशु मनुष्य पर आघात करके उसका अंगभंग करता या उसे लहूलुहान कर देता तो दर्शक हर्षनिस्वन करके तालियाँ बजाते। भारतवर्ष में ऐसे आसुरी मनोरञ्जन की कभी कल्पना भी नहीं की गई।

मृच्छकटिक से द्यूतक्रीड़ा का भी परिचय मिलता है। रघुवंश के एक श्लोक से द्यूतक्रीड़ा (दुरोदर) के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। भारतीय इतिहास के पाठकों को मालूम होगा कि ऋग्वेद के समय में भी जुए का मनोरञ्जन के एक महत्व-पूर्ण साधन के रूप में काफी प्रचार था। गुप्त काल में भी जुए का प्रचलन था और कुछ लोग इसके द्वारा निश्चय ही मनोरञ्जन करते थे।

लेकिन उपर्युक्त मनोरञ्जन के साधनों में सामान्य जनता कहाँ तक भाग लेती थी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह काफी सम्भव है कि मेषों की लड़ाई तथा द्यूत आदि का अवलम्बन नगर के सम्पन्न और उच्च विलासी के लोग ही करते रहे हों और समाज के शिष्ट तथा विवेकसम्पन्न जन इनसे दूर ही रहते रहे हों। नगर में अनेक नाट्य-गृह और प्रासाद भवन होते थे जहाँ नाटकों से मनोरञ्जन होता था। गुप्तकाल में इतने अधिक नाटकों का प्रणयन हुआ कि और भी उनकी महत्ता किसी भी युग के साहित्यिक क्षितिज में नहीं। यह गौरव तथा प्रभूत समृद्धि का कारण समझा जा सकता है। यह भावना अब बन गयी है कि समाज के सुशिक्षित और शिष्ट जन थे। मनोरञ्जन नगर गायन वादन तथा नाटकों द्वारा होता था। संस्कृत के सभी नाटक अभिनय हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि वे अवश्य अभिनीत किए जाते थे। वास्तव में नाटकों को चलाना प्राचीन भारत का सबसे उत्कृष्ट और शानदार मनोरञ्जन का साधन था। आजकल के सिनेमा चित्रों के सदृश मनोरञ्जन का संस्कृत नाटकों में एकान्त अभाव था। इसके स्थान पर संस्कृत के नाटक दर्शकों को मानव-जीवन के आनन्दमय चित्र पक्ष की अनुभूति कराते थे। संस्कृत नाटकों की परम्परा यूनानी या एलिजाबेथन नाटकों की परम्पराओं से अधिक जीवन्त सिद्ध हुई और आज भी यह परम्परा बनी हुई है यद्यपि यह गौरवमयी स्थिति में नहीं है।

सामाजिक उत्सव इस काल में आनन्द प्रमोद के सबसे महत्वपूर्ण साधन थे। इसका उल्लेख फाहियान के यात्रा विवरण में किया गया है। चीनी यात्री ने लिखा है "प्रति वर्ष रथयात्रा का आयोजन किया जाता है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह धूम पर ठाढ़ी जाती है जिसमें धरी तथा हर्म्य लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा और स्तूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। विविध प्रकार की रंगाई की जाती है। सुवर्ण, रजत और स्फटिक की भव्य देवप्रतिमायें निर्मित की जाती हैं। रेशम की पताकायें और चाँदनी लगाया जाता है। चारों कोनों में कलंगियाँ लगी रहती हैं। रथों की संख्या बीस होती है। रथ एक से एक सुन्दर, आकर्षक और भड़कीले होते हैं। निश्चित समय पर निकट के सभी गृहस्थ और संन्यासी आकर एकत्र हो जाते हैं। गाने बजानेवाले भी सम्मिलित होते हैं। चारों ओर से लोग नगर में प्रवेश करते हैं। इस कार्य में दो रातें व्यतीत हो जाती हैं। सारी रात दीपक जला करता है। गाना बजाना और पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा ही किया जाता है।" ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य पर्वों पर भी इस प्रकार के उत्सवों का आयोजन किया जाता रहा होगा। यह उत्सव मनोरञ्जन और आमोद प्रमोद का ऐसा साधन था जिसमें समाज के सभी वर्ग के लोग सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे। फाहियान के कथन से ही यह स्पष्ट विदित होता है कि गृहस्थ और सन्यासी दोनों ही इस उत्सव में भाग लेते थे। इसी प्रकार विद्वानों और मूर्खों धनी तथा निर्धनों की समान उपस्थिति से इस प्रकार के उत्सव-आयोजन सफल हुआ करते थे।

रहन सहन का उच्च स्तर—अभी तक हमने गुप्तकालीन भारतीयों के जीवन का जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके भौतिक जीवन का स्तर काफी ऊँचा था। इस काल के साहित्य ग्रन्थों में इस समय के नगरों के वैभवपूर्ण जीवन का सविस्तार वर्णन किया गया है जिससे उस काल की भौतिक समृद्धि का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। यद्यपि इन वर्णनों में कवि-कल्पना की सम्भावना है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ये बिलकुल निराधार हैं। एक समृद्ध और ऐश्वर्यमय नगर जीवन की पृष्ठभूमि उपस्थित रहने पर ही इस प्रकार के वर्णन सम्भव हैं। मेघदूत के उत्तर मेघ में कालिदास ने यक्षों की नगरी के वैभव और उत्सवमय वातावरण का जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन उज्जयिनी के वैभव की ध्वनि निकलती है। कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग में ओषधिपुर नगर के वैभव का बड़ा ही सरस और कवित्वपूर्ण वर्णन मिलता है। मृच्छकटिक द्वारा भी गुप्तकालीन नागर जीवन के विलासमय पक्ष पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। समाज के उच्च और सम्पन्न लोगों का जीवन सुख तथा विलास के समस्त साधनों से परिपूर्ण था और जैसा कि मृच्छकटिक से पता चलता है यद्यपि दरिद्रता अज्ञात नहीं थी तथापि फाहियान के यात्रा विवरण से देश की भौतिक समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है। साधारण लोगों का जीवन भी सुखपूर्ण था। उसमें यन्त्रणाओं का अधिक समावेश नहीं था। समाज में पर्याप्त दानशीलता तथा उदारता विद्यमान थी जिससे सम्भवतः धन के असमान वितरण की कटुता का अनुभव लोगों को नहीं होता था। इस विषय में गुप्तकाल का भारत हेलेनिस्टिक युग और रोमन गणतन्त्र से काफी बढ़ा-चढ़ा और श्रेष्ठ था। हेलेनिस्टिक युग में और रोमन गणतन्त्र के अन्तिम दिनों में समाज में थोड़ी और काफी भौतिक समृद्धि दिखलाई पड़ती थी। विजयों से प्रभूत धन आकर रोम में जमा हो गया परन्तु यह धन अभिजात वर्ग के लोगों में केन्द्रित हो गया था और साधारण जनता निर्धन और निर्बल थी। जिन लोगों के हाथ में धन आया वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे और घोर विलासिता की, जिसमें पाशविक मनोवृत्ति और इन्द्रियजन्य आवश्यकताओं के सन्तुष्ट करने की प्रवृत्ति प्रधान थी तथा इन्द्रियवासनाओं की उपासना यथाशक्य भोगमय जीवन व्यतीत करने लगे। गिब्बन ने लिखा है कि इस समय के सम्पन्न व्यक्ति इसलिये खाते थे कि कै कर दें और इसलिये कै करते थे कि फिर खा सकें।' रोमन गणतन्त्र में कामुकता और कामपरता का निर्बाध साम्राज्य था। किन्तु भारत में ऐसी घोर विषमतापूर्ण स्थिति कभी नहीं आने पाई और न अभिजात लोगों का इतना नैतिक पतन ही होने पाया कि वे सब कुछ भूलकर इन्द्रियोपासना में संलग्न हो जायें। हाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत में भी अभिजातों का जीवन आदर्श तथा प्रशंसनीय था किन्तु इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि अध्यात्मवादी भारत में कम से कम गुप्तकालीन भारत में अर्थ और काम से सम्बन्ध रखनेवाले क्रियाकलाप लोगों के धर्मपालन में बाधक नहीं हुए और उनके द्वारा उनकी प्रभुता हत नहीं होने पाई। हम आगे भारतीयों के आन्तरिक नैतिक चरित्र के विषय में फाहियान का विवरण पढ़ेंगे जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि इस काल में भारतीयों का राष्ट्रीय चरित्र हेलेनिस्टिक युग के यूनानियों तथा रोमन साम्राज्य के नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट था।

गुप्तकाल के भारतवासियों को जीवन की अनेक सुविधायें प्राप्त थीं। प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर ई० बी० हैवेल ने लिखा था कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के लिए सबसे गौरव की बात यह होती कि वह भारतीयों को वे समस्त सुविधायें प्रदान करे जिनका उपभोग भारतीय जनता चौथी और पाँचवीं शताब्दी में करती थी। गुप्तकाल

के ग्रन्थों से ऐसी अनेक वस्तुओं का पता चलता है जिनका प्रयोग करना लोग न केवल जानते ही थे वरन् अपने दैनिक जीवन में उन्हें इस्तेमाल में लाते भी थे। वात्स्यायन के कामसूत्र के वर्णन से यह स्पष्ट पता चलता है कि गणिकायें इस समय विविध प्रकार की विलास सामग्रियों का प्रयोग करती थीं। राजाओं और सामन्तों का जीवन अधिकतर भोग विलास का ही जीवन था। 'शिक्षा समुच्चय' नामक महायान बौद्ध ग्रन्थ में समकालीन समाज के विलासमय जीवन का वर्णन किया गया है। यह एक विस्मय की बात है कि इस काल में जल द्वारा चलनेवाली घड़ी का लोग प्रयोग करना जानते थे। सरकारी विभागों तथा सम्पन्न परिवारों में घड़ियाँ (नाड़िकायें) रहती थीं जिनसे दिन में समय जाना जा सकता था। गुप्तकाल की नागर सभ्यता में विविध प्रकार के उबटनों तथा अंगरागों का प्रयोग प्रचलित था। इस काल के दो ग्रन्थों 'शृंगारशतक' तथा 'ऋतुसंहार' द्वारा गुप्तकाल के विलासमय जीवन का विवरण प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि सम्पन्न लोग भिन्न भिन्न ऋतुओं में विविध प्रकार से सुखोपभोग करते थे और ग्रीष्म ऋतु में अति सुगन्धित चन्दन का लेपन करते थे। स्त्रियाँ चरणों में अंगराग तथा ओठों में अलक्तक का प्रयोग करती थीं। गुप्तकालीन सभ्यता का विवेचन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रमुखतया एक सामन्तवादिनी सभ्यता थी और भोग विलासमय पक्ष का इसमें काफी मात्रा में समावेश था। प्रोफेसर आनन्द कुमार स्वामी ने गुप्तकालीन संस्कृति को 'विलासमयी आभिजात्य संस्कृति' luxurious aristocratic culture' कहकर अभिहित किया है।

लोगों का उच्च नैतिक स्तर—गुप्तकाल के भारतवासियों का जीवन सुखमय और समृद्धिशाली तो था ही उनका चरित्र सर्वथा प्रशंसनीय था। फाहियान ने उनके चरित्र के उच्च नैतिक स्तर की भूरि भूरि प्रशंसा की है। अरक्षित अवस्था में देश के एक विशाल भाग की यात्रा करने पर भी चीनी यात्री कभी लूटा खसोटा नहीं गया। इस घटना से एक ओर शासन प्रबन्ध की निपुणता का परिचय प्राप्त होता है तो दूसरी ओर देश के निवासियों की चारित्रिक उच्चता पर भी प्रकाश पड़ता है। जनता की दानशीलता के विषय में उसके कथन का पीछे उल्लेख किया गया है। यह सचमुच एक विस्मय की बात है कि फाहियान के कथनानुसार समाज के धनाढ्य लोग लोककल्याण के कार्यों में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा रखते थे। इस काल के भारतीयों में अतिथि सत्कार का एक विशिष्ट चारित्रिक गुण विद्यमान था। रस्किन (अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध लेखक) ने लिखा था कि किसी सभ्यता की श्रेष्ठता का निर्णय उन मनुष्यों के द्वारा करना चाहिए जिनको कि वह सभ्यता जन्म देती है A civilization is to be judged by the type of person that it produces इस दृष्टि से गुप्तकालीन भारतीय सभ्यता की विवेचना करते हैं तो हमें यह कहना पड़ता है कि वह एक सर्वश्रेष्ठ और गौरवमयी सभ्यता थी।

आर्थिक जीवन

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्तयुग के सांस्कृतिक विकास का जो विवरण दिया है वह तभी सम्भव हो सकता था जब कि देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रही हो। इस काल में निस्सन्देह जितनी प्रगति सभ्यता और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में की गई थी उतनी ही आर्थिक क्षेत्र में भी। हमने मौर्यकालीन संस्कृति में लिखा है कि देश की साम्राज्य सीमा का विस्तार हो जाने से और एक सुसंगठित शासन-व्यवस्था द्वारा स्थापित शान्ति में देश की आर्थिक उन्नति के क्षेत्रों में आश्चर्यजनक अभिवृद्धि हुई। यहाँ स्थिति

गुप्तकाल के विषय में भी कही जा सकती है। गुप्तों का साम्राज्य तो काफी विस्तृत था ही उनकी सुदृढ़ और उदार शासन-व्यवस्था ने देश में शांति-स्थापना करके सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया। उत्तरी और दक्षिणी भारत में समान रूप से समृद्धि छाई हुई थी और यदि कहा जाय कि इस समृद्धि में उस काल की प्रचलित शासन-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान था तो कोई अत्युक्ति न होगी। कृषि, उद्योग धन्धों और व्यापार की बहुत अधिक उन्नति हुई और देश मालामाल हो गया।

कृषि—गुप्तकालीन भारत की आर्थिक रचना कृषि पर अवलम्बित थी। देश में इस समय जमींदारी प्रथा नहीं थी जो कि कुछ दिनों पूर्व आधुनिक उत्तर प्रदेश में थी और आजकल भी बंगाल में है। उपलब्ध प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि कृषि योग्य भूमि पर राज्य का भी अधिकार नहीं था वरन् वह व्यक्तियों या परिवारों के स्वामित्व में होता था। इस बात का कृषि की उन्नति पर अनुकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि देश में इस समय विविध प्रकार की फसलों की उपज होती थी तथा कृषकों की अवस्था अच्छी और सन्तोषजनक थी। गिरनार पर्वत के निकट की सुदर्शन झील के स्कन्दगुप्त के शासनकाल में पुनर्निर्माण की घटना यह सिद्ध करती है कि राज्य की ओर से कृषि की उन्नति पर समुचित ध्यान दिया जाता था। गुप्तकाल के पूर्व ही लोगों ने कृषि की वैज्ञानिक पद्धति मालूम की थी। और इस पद्धति के द्वारा वे विभिन्न प्रकार की फसलें पर्याप्त परिमाण में उत्पन्न करते थे। गुप्तकाल के कृषकों ने भी इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया था जिससे इस समय भी कृषि की स्थिति अत्यन्त समुन्नत एवं सुविकसित थी। अमरकोष में एक पूरा अध्याय खेती, उद्यानों तथा विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों का उल्लेख करता है। भूमि यों तो स्वाभाविक रूप से प्रायः उपजाऊ थी पर कृषि की सुन्दर विधि से उपज की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई। अन्न की विविध फसलों के अतिरिक्त देश में भाँति भाँति के फलों तथा मेवों की भी उपज होती थी। कुछ स्थान विशेष रूप से फलों की उपज के लिए ही विख्यात थे। कई तरह के तिलहन की भी पैदावार होती थी। फाहियान के यात्रा विवरण से देश की जनता की सामान्य समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है परन्तु कृषि की अवस्था पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। ह्वेनसांग ने अपने लेख में विभिन्न फसलों का सविस्तार उल्लेख किया है जिसका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा।

उद्योग धन्धे—गुप्तकाल में भारतीय उद्योग धन्धों की स्थिति बड़ी ही समृद्धिपूर्ण और सन्तोषजनक थी। मौर्य-काल में विविध उद्योग धन्धों की जिस समृद्ध परम्परा का उल्लेख हमने 'मौर्यकालीन सभ्यता और संस्कृति' नामक अध्याय में किया है वह गुप्तकाल में न केवल जीवित ही रही बल्कि इस समय पहले की अपेक्षा अधिक उत्तम स्थिति में थी। कुछ उद्योग धन्धों में गुप्तकालीन भारत के कारीगरों ने जो निपुणता प्राप्त की वह आज के यान्त्रिक युग के कारीगरों के लिए ईर्ष्या और स्पर्धा की वस्तु है। धातु की वस्तुओं के निर्माण का उद्योग इसी प्रकार का एक धन्धा है। हमने पीछे डाक्टर कुमारस्वामी का यह मत उद्धृत किया है कि पोत निर्माण-कला में गुप्तकालीन कारीगर काफी कुशल थे और वे पच्चीसों मस्तूलों के यूरोपीय जलयानों से अच्छे और मजबूत जलयान बनाते थे। दिल्ली के निकट का लौह स्तम्भ आज भी अपनी उत्कृष्ट कारीगरी द्वारा लोगों को आश्चर्यान्वित कर देता है। लौह उद्योग और पात्र

निर्माण के अतिरिक्त अन्य उद्योग धन्धों में भी गुप्त-युग के भारतीय कारीगर काफी निपुण थे।

साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोतों से पता चलता है कि गुप्तकाल में वस्त्र-व्यवसाय काफी विकसित दशा में था। कुछ क्षेत्रों में वस्त्र तैयार करने का कार्य देश का सबसे प्रमुख उद्योग बन गया था। देश के नागरिक स्त्री पुरुषों की जीविका इसी के द्वारा चलती थी। यद्यपि सम्पूर्ण देश में कपड़ा तैयार किया जाता था तथापि कुछ स्थान वस्त्र व्यवसाय के लिए विशेष रूप से विख्यात थे। इसके प्रमुख केन्द्र गुजरात, बंगाल, दक्षिण और तामिल देश में अवस्थित थे। हम पीछे विचार कर चुके हैं कि देश में विभिन्न ऋतुओं में अनुकूल वस्त्र पहना जाता था जिससे वस्त्र व्यवसाय को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। अमरकोष से पता चलता है कि न केवल सामान्य वस्त्र के विभिन्न प्रकारों के लिए ही विशिष्ट नामों का प्रचलन था अपितु बढ़िया और मामूली कपड़ों के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता था। चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख अमरकोष में किया गया है (१) क्षौम जिसका समीकरण दुकूल के साथ किया गया है और bark रेशों से बने हुए वस्त्र (२) रुई के वस्त्र जो फलों के रेशों से बनाये जाते थे (३) रेशमी वस्त्र जिसका निर्माण रेशमी कपड़ों द्वारा किया जाता था और (४) ऊनी कपड़े जो पशुओं के बालों से तैयार किये जाते थे। इसी ग्रन्थ में उन विभिन्न शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका प्रयोग वस्त्र तैयार करने की प्रक्रिया के विभिन्न अवस्थाओं के लिए किया जाता था। बुने हुए वस्त्र के लिए विशिष्ट शब्द था इसी प्रकार उज्ज्वल किये हुए कपड़े के लिये भी अलग शब्द थे। वस्त्र निर्माण के साथ वस्त्र रंगने का व्यवसाय भी काफी उन्नति पर था। गुप्तकालीन स्त्री पुरुषों को रंगीन कपड़े पहिनने का अधिक शौक था जिससे इस उद्योग धन्धे की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। वराहमिहिर ने वज्रलेप का उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि गुप्तकाल में वस्त्रों को रंगने की रासायनिक क्रिया से भी लोग परिचित थे। वनस्पतियों द्वारा इस समय के कारीगर विभिन्न प्रकार के रंग प्राप्त करते थे जिनका प्रयोग वे वस्त्र रंगने के काम में करते थे।

इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि देश में वस्त्र सिलने का व्यवसाय भी वर्तमान था। यद्यपि अब भी देश में अधिकतर बिना सिले हुए कपड़ों का प्रयोग किया जाता था तथापि गुप्त सम्राटों के कुछ सिक्कों तथा बाघ और अजन्ता के चित्रों से पता चलता है कि सिले हुए परिधान भी इस काल में धारण किये जाते थे। लेकिन इस समय देश में सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग व्यापक रूप से न होने के कारण वस्त्र सीने का व्यवसाय अधिक उन्नति पर नहीं रहा होगा।

गुप्तकाल में विविध प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया जाता था जिससे यह ज्ञात होता है कि सुवर्णकार का व्यवसाय समृद्ध अवस्था में था। वास्तव में सुवर्णकार की कला इतनी विकसित थी कि इसके द्वारा विज्ञान की एक नयी शाखा का जन्म हुआ जिसका नाम रत्नपरीक्षा था। यह विज्ञान काफी प्राचीन मालूम पड़ता है क्योंकि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में इसका उल्लेख किया है। दिव्यावदान में भी यह उल्लेख मिलता है कि व्यापारियों के पुत्रों को इस विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। बृहत्संहिता में चौरासी प्रकार के आभूषणों की सूची है जिनका प्रयोग उस समय किया जाता था। विशेष रूप से हीरों मोतियों तथा लालों का उल्लेख उनके उत्पत्ति-स्थान रंग तथा गुण के आधार पर किया गया है। विभिन्न रत्नों की विशिष्टताओं से लोग इस समय अच्छी तरह से परिचित थे और कवियों ने अपनी रचनाओं में उनका प्रयोग

सुन्दर उपमाएँ इन के लिए किया है।[1] फाहियान के यात्रा विवरण से पता चलता है कि इस काल में सोने चाँदी और मणि की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ताँबे के बढ़िया बर्तन तैयार करने का उद्योग भी प्रचलित था। भगवान् बुद्ध की कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिली हैं जो पीतल और काँसे की बनी हुई हैं जिनसे पता चलता है कि इन धातुओं का भी लोग प्रयोग करते रहे होंगे। मोती के आभूषण बनाने के व्यवसाय की गुप्तकाल में बहुत अधिक उन्नति हुई थी।

साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों स्रोतों से पता चलता है कि गुप्तयुग के भारतीय उद्योग धंधों में गज दन्त शिल्प को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस काल के गजदन्त शिल्पियों की निपुणता प्रशंसनीय थी। वे विविध प्रकार की वस्तुएँ हाथी दाँत से तैयार करते थे जिनका प्रयोग धनी मानी लोग अपने घरों की शोभा बढ़ाने में करते थे।

श्रेणियाँ—प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में व्यापारियों और व्यवसायियों की श्रेणियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। हम देख चुके हैं कि बुद्ध कालीन भारत में ये श्रेणियाँ विद्यमान थीं और मौर्यकालीन भारत में इनकी क्या अवस्था थी इस पर भी विचार कर चुके हैं। दक्षिण में सातवाहनों के शासन-काल में भी व्यापारिक और औद्योगिक श्रेणियाँ काफी अधिक संख्या में थीं। इनके विषय में भी हम पीछे पढ़ चुके हैं। गुप्तकालीन लेखों में श्रेणियों का उल्लेख प्रमुखता से किया गया है। श्री दण्डेकर जी का कथन है कि एक अभिलेख में श्रेणि प्रमुखों, व्यापारियों और कारीगरों के समूहों तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के उल्लेख द्वारा गुप्त युग के आर्थिक संगठन की मनोरञ्जक झाँकी मिलती है। सामूहिक क्रियाशीलता राष्ट्रीय जीवन के तीनों रूपों—सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक—की प्रमुख विशेषता प्रतीत होती है। The mention in an inscription of the corporation of guild presidents traders and chiefs of groups of artisans and of kindred bodies etc (श्रेष्ठिसार्थवाहकुलिकनिगम्) provides interest in glimpses in the economic organisation of the Gupta period Corporate activity seems to have been the outstanding feature of all the three aspects of national life social, political and economic[2]

गुप्तलेखों तथा मुहरों में कई स्थान पर व्यावसायिक श्रेणियों के अस्तित्व का पता चलता है। मन्दसौर के लेख में जो कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल से सम्बन्धित है एक पटकार श्रेणी का उल्लेख किया गया है जो लाट (दक्षिण गुजरात) से आकर दशपुर, (मालवा) में निवास करने लगी थी। स्कन्दगुप्त के लेख में इन्द्रपुरनिवासियों तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। तैलिकों की इस श्रेणी के पास एक ब्राह्मण ने अक्षय नीवी जमा कर दी थी जिसके द्वारा होनेवाले ब्याज से श्रेणी की ओर से सूर्य मन्दिर में नित्य रात्रि में दीपक जलाने की व्यवस्था की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तयुग में पटकार, तैलिक मूर्तिकार शिल्पकार, वणिक आदि व्यवसायियों की श्रेणियाँ वर्तमान थीं।

गुप्तकाल की शान्तिमयता और समृद्धि ने अन्तप्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बड़ा प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया और इसका श्रेणियों के विकास पर भी प्रभाव

[1] *Classical Age* p 566

[2] *A History of the Guptas* p 10.

पड़ा। बसाढ़ से जो कि प्राचीन वैशाली के निकट बसा था और जहाँ गुप्तों की एक प्रान्तीय सरकार का केन्द्र था अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनसे द्वारा श्रेणी व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस विषय में डा० यू० एन० घोषाल का कथन है—

From Basarh on the site of ancient Vaisali have been recovered seal and sealings belonging to guilds of bankers traders and artizans In many specimens the sealings of the guilds have been combined with those of private individuals who were evidently its members This suggests as Block pointed out long ago something like a modern chambar of commerce established at tho provincial headquarters from which members sent out instructions to their local agents[1] प्राचीन वैशाली के निकट बसाढ़ से मुहरें और sealings प्राप्त हुई है जो बैंकरों व्यापारियों और कारीगरों की श्रेणियों से सम्बन्धित हैं। बहुत से नमूनों में श्रेणियों की मुहरों के साथ व्यक्तियों की मुहरें मिला दी गई हैं जो स्पष्टतया इसके सदस्य थे। इससे यह ध्वनित होता है जैसा कि ब्लॉक ने बहुत पहले निर्देश किया था कि यह आधुनिक वाणिज्य समिति (Chamber of Commerce) की तरह की एक संस्था थी जो प्रान्तीय सरकारों के केन्द्रों में स्थापित की गई थी और जहाँ से सदस्यगण अपने स्थानीय एजेंटों को आदेश भेजते थे।

ये श्रेणियाँ समाज में बड़े आदर और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थीं। ये स्वतन्त्र संस्थायें होती थीं और अपने ही नियमों तथा उपनियमों द्वारा संचालित होती थीं। इनके नियमों और परम्पराओं का सम्मान राज्य द्वारा किये जाने का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलता है। श्रेणियों के सदस्यों में आपस में जो मुकद्दमे हुआ करते थे उनका फैसला श्रेणी की व्यवस्थापिका करती थी राज्य के न्यायालय नहीं। श्रेणियों के पास अपनी सम्पत्ति तथा अपना कोष होता था। कई कई श्रेणियों के पास तो इतना अधिक धन होता था कि वे दरीगृह दान कर सकती अथवा मन्दिर का निर्माण करा सकती थीं। श्रेणियों के कतिपय सदस्य सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत अभिरुचि के होते थे। मन्दसार अभिलेख में पट्टकार श्रेणी के बहुत से सदस्यों का उल्लेख मिलता है जो भिन्न भिन्न विद्याओं में निपुण थे। कुछ गान कथा धर्म प्रसंग वस्त्र बुनने ज्योतिष समर धर्म शील आदि विषयों में दक्ष थे। डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का विश्वास है कि आपत्तिकाल समुपस्थित होने पर श्रेणियाँ अपने ही सदस्यों और कर्मचारियों की एक छोटी मोटी सेना तैयार कर लेती थीं और इस सेना के द्वारा अपने सदस्यों के शरीर सम्पत्ति तथा माल की रक्षा कर सकती थीं।

गुप्तकालीन स्मृति-ग्रन्थों द्वारा भी श्रेणि व्यवस्था के ऊपर काफी प्रकाश पड़ता है। स्मृतियों में पता चलता है कि श्रेणियाँ बालकों और युवकों को व्यावसायिक या व्यापारिक शिक्षा प्रदान करती थीं। अपने बान्धवों की आज्ञा प्राप्त करके बालक या युवक किसी श्रेणी में प्रवेश करता था और एक निश्चित काल तक अपने शिक्षक के अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करता था। शिक्षक अपने शिष्य के साथ पुत्रवत व्यवहार करता था और शिष्य भी उसका आदर सम्मान करता था। शिक्षक का यह पुण्य कर्त्तव्य

---

[1] *Classical Age* p 193 इस श्रेणी के विशेष विवरण के लिए देखिये *Vakataka Gupta Age* pp 355 56

समझा जाता था कि वह अपने शिष्य को शिल्प विशेष में निपुण बनाने का प्रयास करे। यदि वह उसे अन्य कार्य में नियोजित करता तो दण्ड का भागी होता था। निश्चित काल में विद्यार्थी शिल्प कला में निपुणता प्राप्त करके अपने गृह लौट आता था। इस काल की स्मृतियाँ श्रेणियों की कार्य प्रणाली का भी काफी उल्लेख करती हैं। स्मृति ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि श्रेणियों का संगठन काफी सुदृढ़ होता था और इसको विघटित करने का प्रयास करनेवाला मनुष्य कठोर दण्ड का भागी होता था। मनु तथा अन्य स्मृतियों में श्रेणियों को गण या समूह का अविच्छिन्न अंग बताया गया है। गण अपना कार्य संचालन परम्परागत नियमों (धर्म) के आधार पर करता था। बृहस्पति ने कहा है कि इन नियमों को लिपिबद्ध कर लेना चाहिए। गण का कार्य-संचालन संस्था द्वारा चुने हुए परामर्शदाता करते थे। बृहस्पति ने इनकी संख्या दो तीन या पाँच बताई है। गणों को शासन सम्बन्धी कर्तव्यों के साथ साथ न्याय-सम्बन्धी कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता था। स्मृतियाँ इस बात की ब्याज दर का भी उल्लेख करती हैं।

श्रेणियों के ऊपर हमने जो विचार किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी उपादेयता कितनी अधिक थी। इनके द्वारा व्यापार और शिल्प को प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता था। लोगों में सहयोगपूर्ण कार्यशीलता की भावना का भी संचार होता था। श्रेणि-संस्थायें देश में सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती थीं। प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार ने ठीक कहा है कि देश के कानून द्वारा स्वशासन और स्वतन्त्रता की जो सुविधायें प्रदान करने से उनके द्वारा वे शक्ति के केन्द्र तथा उदार संस्कृति के आस्पद बन गये थे और इस प्रकार समाज की शक्ति तथा आभूषण के रूप में बना दिये गये थे। "Through the autonomy and freedom accorded to them by the laws of the land they became a centre of strength and an abode of liberal culture and progress which made them a power and ornament of the society."[1]

व्यापार—कृषि और उद्योग धन्धों की समृद्धि ने व्यापार की उन्नति को अनिवार्य कर दिया। आन्तरिक व्यापार की अवस्था काफी सन्तोषजनक थी और देश के एक भाग से दूसरे भाग तक व्यापारी अपनी विक्रय सामग्रियों के साथ बिना किसी रोक-टोक के आया जाया करते थे। विदेशी व्यापार भी समुन्नत दशा में था। आन्तरिक व्यापार की उन्नति से नगरों के वैभव और उत्कर्ष में अभिवृद्धि हुई। सम्भवतः नए नगरों की स्थापना भी हुई होगी। गुप्त युग के लेखों में इस समय के आन्तरिक व्यापार की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। देश के भीतर व्यापार की सुविधा के लिए राजमार्गों और जल मार्गों की समुचित व्यवस्था थी और इन्हीं मार्गों में व्यापारी अपने सामान पहुँचाते तथा यात्रा करते थे। इस समय भड़ौच उज्जयिनी पैठन विदिशा प्रयाग बनारस गया पाटलिपुत्र वैशाली ताम्रलिप्ति कौशाम्बी मथुरा अहिच्छत्र तथा पेशावर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। ये राजपथों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। गुप्तों के सुदृढ़ शासन व्यवस्था के कारण राजमार्ग सर्वथा सुरक्षित थे। विक्रय सामग्रियों का गमनागमन गाड़ियों तथा पशुओं द्वारा होता था। कहीं कहीं पर इस कार्य के लिए व्यापारी हाथियों का प्रयोग भी करते थे। परन्तु इस समय जलमार्ग व्यापार की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक तथा कम व्ययसाध्य था। गंगा ब्रह्मपुत्र नर्मदा

[1] *Corporate Life in Ancient India* (Second edition) P 68

गोदावरी कृष्णा और कावेरी नदियों द्वारा व्यापार किया जाता था। बड़ी बड़ी नौकायें बनाई जाती थी जिनके द्वारा व्यापार काफी सुविधापूर्ण हो गया था। व्यापारियों और श्रेणियों द्वारा किन किन वस्तुओं का क्रय विक्रय होता था इस विषय में हमें सविस्तार सूचना उपलब्ध नहीं है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के वस्त्र अन्न मसाले नमक और बहुमूल्य पत्थर इत्यादि वस्तुयें आन्तरिक व्यापार की प्रमुख सामग्रियाँ थी।

भारत का विदेशी व्यापार काफी विकसित अवस्था में था और देश की आर्थिक समृद्धि का महत्त्वपूर्ण कारण था। विदेशी व्यापार भी जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा किया जाता था। स्थल मार्ग द्वारा भारत पूर्व में तिब्बत तथा चीन और पश्चिम में ईरान और अरब से व्यापार करता था। मरुस्थल गाड़ियों के कारवान भारत से विदेशों को जाते थे और यहाँ की बनी हुई वस्तुयें विदेशी बाजारों में बिकती थीं। जलमार्गों द्वारा विदेशी व्यापार अधिक परिमाण में किया जाता था। पूर्व में ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह बंगाल का एक प्रमुख नगर था। भारत के पूर्वीय व्यापार का यह सबसे प्रधान केन्द्र था। चीन लंका जावा और सुमात्रा आदि देशों का भारतीय व्यापारी इसी बन्दरगाह द्वारा जाते थे। आन्ध्र देश में गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहानों पर अनेक बन्दरगाह थे जिनमें कदूर और घण्टशाल अधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख टोलमी ने भी किया है। कावेरीपट्टनम और तोन्दई चोल देश के प्रमुख बन्दरगाह थे। पाण्ड्य देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकई तथा मनिपुर थे और इसी प्रकार मलाबार के समुद्री तट पर कोट्टयम और मुज़िरिस प्रमुख बन्दरगाह थे। चीन और अन्य पूर्वीय देशों के साथ इन बन्दरगाहों के मार्ग से भारत ने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। व्यापार के साथ साथ इन स्थानों में भारतीय संस्कृति का भी प्रचार होता था। चीनी यात्री फाहियान के विवरण से इस बात का साक्ष्य मिलता है कि चौथी शताब्दी में ताम्रलिप्ति और लंका में नियमित रूप से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था और इण्डोचीन तथा इण्डोनेशिया भी इनके द्वारा व्यापारिक दृष्टि से जुड़े हुए थे। बन्दरगाह के रूप में लंका की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। भारत के पूर्वीय और पश्चिमी बन्दरगाहों का यह एक दूसरे से जोड़ता था और अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण हिन्द महासागर के व्यापार का एक बड़ा बाजार के रूप में था।

गुप्तकाल में पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध काफी पुराना हो चुका था। कुषाण-संस्कृति का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि कुषाणकाल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार करने में कितना अधिक लाभ होता था। गुप्तकाल में यह व्यापार और अधिक सम्पन्न तथा वर्द्धित हुआ। जिस समय में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने काठियावाड़ के बन्दरगाहों पर अपना अधिकार कर लिया भारत के पश्चिमी व्यापार को प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्राचीन तामिल साहित्य में यवनों का उल्लेख किया गया है और इस साहित्य के अध्ययन द्वारा रोम और अन्य यवन देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कॉस्मस (Cosmas) नामक यवन ने भी भारत और पश्चिमी देशों के व्यापार का उल्लेख किया है। इस लेखक ने लिखा है कि भारत की कृषि सम्बन्धिनी उपजों में धातु और लौंग और चन्दन की लकड़ी भारत के पूर्वी समुद्रतट से लंका पहुँचायी जाती थी। और वहाँ से उनका निर्यात पाश्चात्य बन्दरगाहों को किया जाता था। फारस तथा इथोपियन समुद्र तक यह वस्तुएं पहुँचती थी। गोलमिर्च का निर्यात विशेष रूप से किया जाता था। यह वस्तु मलाबार के पाँच बन्दरगाहों से विदेशों को भेजी जाती थी।

मोती, बहुमूल्य पत्थर, सुगंधित पदार्थ, कपड़े, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल और धूपादि निर्यात की प्रमुख सामग्रियाँ थीं। इन वस्तुओं के बदले में विदेशों से सोना तथा सोने के सिक्कों का आयात होता था। भारतवासी खजूर, घोड़े, टीन, कपूर तथा मूँगे विदेशों से मँगाते थे। चीन के रेशमी वस्त्र भी देश में काफी लोकप्रिय थे। 'अमरकोष' में वनायु (अरब), पारसिक (फारस), काम्बोज और वाह्लीक के अश्वों का उल्लेख किया गया है। गुप्तयुग में घोड़ों का आयात उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा अरब, फारस और अफगानिस्तान से किया जाता था। कास्मस स्पष्टतया कहता है कि फारस से बहुत से घोड़े भारत पहुँचाये जाते थे। अमरकोष से पता चलता है कि ताँबा म्लेच्छ देश में पाया जाता था। कास्मस ने लिखा है कि कल्याण देश में ताँबा पैदा किया जाता था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह ताँबा विदेशों से आता था। यह एक उल्लेख्य बात है कि इस समय कल्याण पश्चिमी भारत का एक बहुत बड़ा बाजार था। पश्चिमी देशों से भारत का जो व्यापारिक सम्बन्ध था उससे भारतवासियों को आर्थिक लाभ था। गुप्त सम्राटों ने विशेषकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुमारगुप्त ने सोने की जो कलापूर्ण मुद्राएँ चलाईं उनके लिए उन्हें अधिकतर सोना विदेशियों से ही प्राप्त होता था।

धार्मिक अवस्था

गुप्तकाल भारत के धार्मिक विकास के लिए भी विख्यात था। यों तो भारत सदा से ही धर्मपरायण देश रहा है और धार्मिक सहिष्णुता भी सदा से यहाँ के निवासियों के दृष्टिकोण की विशेषता रही है तथापि गुप्त युग का इन बातों के लिए विशेष महत्व है। गुप्त सम्राटों की धार्मिक उदारता वस्तुतः प्रशंसनीय थी। प्रोफेसर राधा कुमुद मुकर्जी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि गुप्त सम्राटों ने आर्य धर्म की प्रत्येक शाखा को—शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्तमत, बौद्ध धर्म और जैनधर्म को अपनी साम्राज्य सीमा में फलने फूलने का अवसर प्रदान किया। धार्मिक सहिष्णुता की भावना केवल ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं यथा शैव, वैष्णव या शाक्त धर्मों में ही विद्यमान न थी वरन् जैन और बौद्ध सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों में भी इसका प्रभाव था।

आज के प्रचलित हिन्दू धर्म के स्वरूप का निर्माण गुप्त युग में ही हुआ। वैदिक देवताओं की पूजा के स्थान पर विष्णु और शिव की उपासना का प्रचार समाज में बढ़ा। मौर्य काल की धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध में हमने भागवत धर्म के उत्थान और विष्णु-पूजा के प्रचार का पर्याप्त अध्ययन किया है। इसी प्रकार शैव धर्म की संक्षिप्त विवेचना भी हम वहीं कर चुके हैं। गुप्त युग के धार्मिक जीवन की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इस समय धर्म की जनवादी परम्परा को जिसकी अभिव्यक्ति शैव और वैष्णव तथा भागवत सम्प्रदायों के द्वारा हुई थी, विशेष प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कई पुराणों की रचना की गई जिनमें शैव और वैष्णव धर्मों को सम्मुख लाया गया और कथाओं के माध्यम से जनता को इन धर्मों के सिद्धान्तों से अवगत कराने का प्रयत्न किया गया। ब्राह्मण धर्म के इस रूप को जिसे हम आज हिन्दू धर्म कहते हैं गुप्त काल में वास्तविक स्वरूप प्राप्त हुआ। इस रूप में वैदिक धर्म का स्थान तथा प्रधानता नष्ट नहीं किया गया था वरन् यों कहना चाहिए कि वैदिक धर्म के तत्व भी इसमें विद्यमान थे किन्तु लोकरुचि को आकृष्ट करने के लिए इसमें नवीन तत्वों का समावेश किया गया था। मूर्ति-पूजा का प्रचलन गुप्त-युग के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था किन्तु इस युग में हम इसका व्यापक प्रचार देखते हैं। विष्णु धर्मोत्तर में

मूर्ति-पूजा सम्बन्धिनी धारणा की व्याख्या भी की गई और पण्डितों को भी उसके महत्व से परिचित कराने का प्रयास किया गया। इस प्रकार गुप्त युग के हिन्दू धर्म में प्राचीन और नवीन तत्वों का समन्वय था, ऊँची तथा नीची आध्यात्मिक और धार्मिक विचार धाराओं का सामञ्जस्य था और समाज में जो नवीन तत्व प्रविष्ट हो गये थे उनको भी इस धर्म में समुचित स्थान दिया गया था।[1] हम गुप्तयुग की धार्मिक अवस्था का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से कई शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

वैदिक धर्म—यद्यपि गुप्त युग में लोक रुचि के अधिक निकटवर्ती वैष्णव और शैव धर्मों का प्रचार अधिक था और बौद्ध तथा जैन धर्म भी अधिक ह्रासोन्मुख स्थिति में नहीं थे तथापि वैदिक धर्म समाज में एक सजीव शक्ति के रूप में था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्मानुयायी थे किन्तु उन्होंने वैदिक धर्म का सक्रिय पोषण किया। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद वैदिक प्रतिक्रिया के सबसे प्रथम दर्शन हमें पुष्यमित्र शुंग के काल में होते हैं जिस समय न केवल अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया गया वरन् मनुस्मृति में स्पष्ट शब्दों में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। जैमिनि के मीमांसा सूत्रों की रचना भी वैदिक धर्म का समर्थन और पोषण करने के लिए ही की गई थी। महाभारत में भी जो प्रक्षिप्त स्थल जोड़े गये उनमें वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान की काफी महिमा गाई गई। इन सबका प्रभाव वैदिक धर्म की उन्नति की दृष्टि से वांछनीय पड़ा और लोक दृष्टि में इसका सम्मान बढ़ गया।

यहाँ तक कि दक्षिण देश में भी वैदिक यज्ञों से लोगों का परिचय हो गया और तामिल साहित्य में यज्ञ का यूप एक सामान्य चर्चा का विषय बन गया था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक वैदिक धर्म समाज में काफी लोकप्रिय था। बाद में भी साधारण जनता की श्रद्धा इस धर्म के प्रति बनी रही। गुप्त युग में जिस हिन्दू धर्म का विकास हुआ वह समन्वयवादी था क्योंकि जैसे कि हम पहले कह चुके हैं इसमें भक्तिवादी शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तत्व वैदिक यज्ञ यागादि के साथ मिले हुए थे। इसलिए देश में सामान्य जनता के बीच भक्तिवादी सम्प्रदायों का अधिक प्रचार हो जाने पर भी वैदिक धर्म का सम्मान होता रहा। समाज के विवेकी और सुशिक्षित जनों की दृष्टि में वैदिक यज्ञ और संस्कारों का काफी महत्व था। हमें गुप्त-युग के इहलोकपरक साहित्य द्वारा इस काल के समन्वय प्रधान हिन्दू धर्म का परिचय प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास निस्सन्देह शैव थे किन्तु उन्होंने रघुवंश में वैदिक संस्कारों और यज्ञों का सच्ची सहानुभूति के साथ वर्णन किया है। एक उपमा में उन्होंने वेदों के प्रति आस्था प्रकट की है जब वे कहते हैं कि जिस प्रकार स्मृतियाँ वेद का अनुसरण करती हैं उसी प्रकार सुनन्दा कामधेनु के पीछे-पीछे चली।[2]

---

[1] इस सम्बन्ध में डा० आर० सी० मजूमदार का यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है Hinduism has already grown into that mosaic of various patterns combining the religious and spiritual ideas both old and new high and low losing nothing and eternally adding more and more from new elements introduced into society *Classical Age* p 307

[2] तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

गुप्त युग के लेखों से इस बात की सूचना काफी मिलती है कि उन्होंने ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणायें दीं। यह एक उल्लेख्य तथ्य है कि ब्राह्मणों को दान देना वैदिक या ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख तत्व है। श्री दण्डेकर महोदय का विचार है कि इस अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि राजाश्रय ब्राह्मणों को एक अधिकार था। उदाहरण के लिए पाँच दामोदरपुर पत्र और चार फरीदपुर पत्र या तो ब्राह्मणों या कतिपय हिन्दू देवताओं के लिए दान में भूमि के दिये जाने का उल्लेख करते हैं। donations of a religious character which clearly indicate the Hindu bias of the period are those f r the performance of five great rites for the erection of a यूप after the completion of t. पुण्डरीक sacrifice and for the e tablishment of मन for Brahmans a d other communities'

अभिलेखों और मुद्राओं द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत के नृपतियों द्वारा वैदिक यज्ञ विशिष्टतया अश्वमेध यज्ञ किये जाने के उल्लेख प्रचुरतया प्राप्त होते हैं। गुप्त सम्राटों द्वारा वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान के सम्बन्ध में दण्डेकर कहते हैं The first and the second Damodarpur copperplates (124 G E and 129 G E respectively) are distinctly Brahmanical in nature since they clearly refer to अग्निहोत्र and महायज्ञ These references to several types of Vedic sacrifices big and small definitely go to point out how this prominent feature of the Brahmanical religion had considerably developed under the Guptas न केवल समुद्रगुप्त तथा प्रवरसेन प्रथम जैसे प्रतापी सम्राटों ने भी अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। अपितु इक्ष्वाकु वंश के शान्तमूल नामक एक छोटे से राजा ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। कुछ सामन्तों ने भी अश्वमेध यज्ञ करके अपनी इच्छा पूरी की। डा० अल्तेकर महोदय का कथन है कि उपलब्ध साक्ष्यों से यह पता चलता है कि हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो जाने के बाद तीसरी और चौथी शताब्दियों में यज्ञों की जितनी अधिक लोकप्रियता थी उतनी और कभी नहीं थी। प्रवरसेन प्रथम नामक प्रतापी वाकाटक सम्राट ने न केवल अश्वमेध ही वरन् आप्तोर्याम उक्थ्य षोडशिन बृहस्पतिसव और वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान किया। पल्लवों ने भी अनेक वैदिक यज्ञ किये थे। पल्लवों और इक्ष्वाकुओं ने अग्निष्टोम वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किये थे। साधारण लोगों के हृदयों में पञ्च महायज्ञों के प्रति काफी श्रद्धा थी और वैदिक धर्म के प्रति आदर का भाव था।

वैष्णव धर्म—वैदिक धर्म का प्रभाव साधारण जनता पर बहुत गम्भीर नहीं पड़ सका। ऐसा सम्भव नहीं था क्योंकि यज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न लोगों के लिए ही सम्भव था। सामान्य जन व्ययसाध्य यज्ञों को नहीं करा सकते थे। इसके अतिरिक्त भक्ति प्रधान स्मार्तधर्म की दिनोदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण वैदिक यज्ञों का प्रचार उतना अधिक नहीं रह सका जैसा कि कुछ ही वर्षों पूर्व था। पाँचवीं शताब्दी में हम निश्चय ही वैदिक यज्ञों का ह्रास पाते हैं। अल्तेकर महोदय इस सम्बन्ध में हमें बताते हैं कि वाकाटक नरेश प्रवरसेन और इक्ष्वाकु राजा शान्तमूल ने कई वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त केवल एक ही यज्ञ से सन्तुष्ट हो गये। ईसा की दूसरी तीसरी और चौथी शताब्दियों में पाषाणयूप जो उनके अनुष्ठान की स्मृति दिलाते थे काफी प्रचलित थे लेकिन बाद में उनका ह्रास होने

लगता है। भीटा नालन्दा और वैशाली से जो मुहरें प्राप्त हुई हैं उन पर शंख चक्र त्रिशूल और नन्दी के चिह्न काफी अधिक संख्या में मिलते हैं—अग्नि वेदी या यूप के दर्शन बहुत ही कम होते हैं। शिव और विष्णु जैसे पौराणिक देवताओं ने सामान्य जनता के हृदय को वैदिक देवताओं की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया।[1]

इस बात का हमने पहले ही उल्लेख किया है कि गुप्त नरेश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उनके समकालीन अन्य राजाओं के भी वैष्णव होने का प्रमाण मिलता है चन्द्रगुप्त द्वितीय कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर उनको परम भागवत कहा गया है जिससे यह पता चलता है कि वे भगवान् वासुदेव के महान भक्त थे। उनके व्यक्तिगत और सरकारी लेखों में गरुड एवं लक्ष्मी के चिह्न भी यह सूचित करते हैं कि वे वैष्णव धर्म के उत्साही अनुयायी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मिहरौली लौह स्तम्भ विष्णुध्वज कहा गया है। उदयगिरि गुहा का एक अभिलेख विष्णु और दस भुजा वाली के चित्रों के ऊपर एक दीवाल में उत्कीर्ण है। श्री डण्डेकर के शब्दों में The most popular sect of the Hindu religion patronized in the Gupta period seems to have been Vaishnavism. A large number of Gupta inscriptions are distinctly representative of Vaishnava tendencies. चक्रपालित ने सुदर्शन झील पर जो बाँध बनवाया था उसकी स्मृति में उसने चक्रभृत के जो विष्णु के ही एक रूप थे एक मन्दिर का निर्माण कराया था। गुप्त राजाओं के सामन्तों की वैष्णव धर्म के प्रति आस्था का भी प्रमाण मिलता है। विष्णु के ही एक रूप भगवान जनार्दन की स्मृति में एक ध्वजस्तम्भ मातृविष्णु और धान्यविष्णु द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख बुधगुप्त के एरण अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में मातृविष्णु को जो बुधगुप्त का सामन्त था भगवान् विष्णु का एक महान भक्त कहा गया है। विष्णु के अवतारों की जैसे वाराहावतार की स्तुति बिल्कुल पौराणिक ढंग से की गई है।

उपर्युक्त प्रमाणों के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि गुप्त युग में वैष्णव धर्म काफी लोकप्रिय होता जा रहा था। दक्षिण भारत में इसके प्रचार का श्रेय आलवार सन्तों को है जिन्होंने तामिल भाषा में सरस और भावपूर्ण पदों की रचना करके लोगों का ध्यान वैष्णव मत की ओर आकृष्ट किया। उनके पद इतने सरल हैं कि साधारण जन भी उन्हें समझ सकते हैं। उत्तर भारत में वैष्णव मत के प्रचार का कारण पुराणों का प्रणयन था जिनमें स्थान स्थान पर विष्णु की महिमा गाई गई है। यहाँ एक बात अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए कि पुराणकारों ने हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाने में उन तरीकों को अपनाया जिनको महायान बौद्ध के माननेवालों ने ग्रहण किया था परन्तु बाद में ब्राह्मण लोग इस बात में अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म प्रचारकों से बहुत आगे बढ़ गये। पुराणों में विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई और उनको मानवीय आचरण से युक्त तथापि सर्वशक्तिमान् और भक्तवत्सल प्रदर्शित करके पुराणकारों ने जनता के बीच वैष्णव धर्म फैलाने में काफी अधिक सफलता प्राप्त की।

गुप्त युग में भगवान विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई जिनमें वाराह कृष्ण वामन मत्स्य कूर्म और राम के अवतार प्रमुख थे। इन समस्त अवतारों में वाराह और कृष्ण के अवतार सबसे अधिक लोकप्रिय थे। तामिल साहित्य के अध्ययन

---

[1] *Vakataka Gupta Age* p 371

से पता चलता है कि दक्षिण में भी कृष्ण की लोकप्रियता सब अवतारों से अधिक थी। पाण्ड्यों की राजधानी का नाम 'मदुरा' पड़ना जो कि मथुरा का ही एक रूप जान पड़ता है यह सिद्ध करता कि यह नगर भागवत धर्म की भक्ति का एक प्रबल केन्द्र बन गया था। मदुरा और इसके निकटवर्ती प्रदेशों में ही आलवारों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भक्ति और कृष्ण पूजा के सम्बन्ध में तामिल भाषा में पद लिखे। 'शिलप्पदिकारम्' नामक तामिल ग्रन्थ में दक्षिण में कृष्ण मन्दिर और कृष्ण पूजा का उल्लेख मिलता है। आलवारों ने कृष्ण और गोपिकाओं के मधुर सम्बन्ध पर गानों की रचना की और राम वामन नारायण और कृष्ण के अवतारों की स्तुति में पद लिखे। भागवत पुराण में ठीक ही लिखा है कि कलियुग में जिस समय वासुदेव नारायण के उपासक इधर उधर ही पर मिलते थे, द्रविड़ देश में उनकी काफी अधिक संख्या थी।

डा० अल्तेकर का कथन है कि यद्यपि महाकवि कालिदास ने राम को विष्णु का अवतार माना है तथापि यह प्रतीत होता है कि गुप्त युग में छठी शताब्दी तक राम पूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। किन्तु डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने लिखा है कि "The usual belief that the worship of Dasarathi Rama was not popular in the Gupta Age seem to be wrong." कालिदास ने 'रघुवंश' में तो राम को विष्णु का अवतार स्वीकार किया है 'मेघदूत' में भी 'रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु' कहकर रामावतार के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। वराहमिहिर ने इक्ष्वाकु नरेश भगवान् राम की पूजा का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि राम की मूर्तियाँ बनाने में किन नियमों का ध्यान रखना चाहिए। मनाबार तट पर एक कदम्ब नरेश राम का परम भक्त था। सागर जिले के एरण नामक स्थान से भगवान् वाराह की वाराह रूप में एक प्रतिमा पाई गई है जिस पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है। शिलालेख का प्रारम्भ वाराह की स्तुति से होता है जिससे यह पता चलता है कि वाराह की पूजा काफी प्रचलित थी। दक्षिण भारत में भी वाराह अवतार की लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है। छठी शताब्दी का एक लेख नागार्जुन नामक स्थान से प्राप्त हुआ है जिससे विदित होता है कि कदम्ब लोग वाराह के भक्त थे। चालुक्य और उनके सामन्त भी वाराहावतार के उपासक थे।

गुप्तकालीन अभिलेखों में विष्णु और उनके अवतारों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं का कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है। इनमें से एक अत्यन्त प्रचलित कथा का आर ध्यान गया दिया जा सकता है। मानरी स्तम्भलेख में 'इन्दिरास्वयंवर' ...श्रीकृष्ण के जीवन की घटना का उल्लेख प्राप्त होता है।

शैव धर्म—गुप्तकाल में शैव धर्म का भी काफी प्रचार था। यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं 'परम भागवत' थे तथापि उन्होंने शिव-पूजा के प्रचलन में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। उनके मन्त्री, सेनानायक और उच्च पदाधिकारी शैव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के मन्त्री वीरसेन ने उदयगिरि पर शिव पूजा के निमित्त एक मन्दिर का निर्माण कराया था। कुमारगुप्त प्रथम के समय में पृथ्वीषेण नामक एक ब्राह्मण के भाग्य निलगर में स्वामी महासेन के मन्दिर में भगवान का वर्णन मिलता है। मौखरि और पृथ्वीषेण मन्त्री थे। यद्यपि ये वत्सगोत्र राज्यानुयायी गुप्तों के शासन में उच्च पद अधिकारी थे। इसी गुप्त उत्तर और गण नरेश अधिराजानेया ... उच्च पद शाशाङ्क नल मत्तक कदम्ब और परिव्राजक वंश के नरेश शैव धर्म को मानते थे।

गुप्त युग की तक्षण कला में शिव की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय एकमुख या चतुर्मुख शिव की पूजा का ही प्रचलन था क्योंकि

य हो मूर्तियाँ अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। नागौद राज्य में स्थित भुमरा तथा खोह स्थानों में एकमुख शिवलिंग की सुन्दर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। अजमेर के संग्रहालय ... शिव की मूर्तियाँ काफी ... इसका निर्माण पृथ्वीषेण ... प्राप्त हुए हैं।

अपने या अपने पूर्वजों के नाम की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए किसी शिव मंदिर का निर्माण कराना गुप्त युग की एक सामान्यतया प्रचलित प्रथा थी। पृथ्वीषेण और विष्णु वर्मन ने जो गुप्तों तथा पल्लवों के सेनाधिकारी थे, अपने नामों की स्मृति बनाये रखने के लिए मंदिरों की स्थापना कराई थी। पंजाब में भी यह प्रथा प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त जो कि जालंधर का एक छोटा सा नरपति था, की पत्नी ईश्वरा ने अपने पति की स्मृति में एक मंदिर बनवाया। मिहिर लक्ष्मी ने कांगड़ा जिले में मिहिरेश्वर का एक मंदिर निर्मित कराया। हमारे युग में शिव की पूजा उनके विभिन्न रूपों में की जाती है। उनकी मानवीय आकृति की परवर्ती कुषाणसम्राटों की मुद्राओं पर देखा जा सकता है। उनका प्राचीनतम लिंग रूप काफी पुराना है।[१]

अन्य देवताओं की पूजा—गुप्त युग में विष्णु और शिव के साथ साथ अन्य देवताओं की भी पूजा की जाती थी। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश देवताओं की त्रिमूर्ति में विष्णु और महेश (शिव) की पूजा के विषय में हम पढ़ चुके हैं। ब्रह्मा के विषय में भी हमें जान लेना चाहिए। पौराणिक धर्म के विकास होने पर कई वैदिक देवताओं का स्थान गौण हो गया और नये देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ गई। जिन देवताओं को अगौण स्थान मिला उनमें से ब्रह्मा भी थे। त्रिमूर्ति में उनको स्थान अब भी प्राप्त था किन्तु उनका स्थान शिव और विष्णु के समकक्ष न रह गया। फिर भी ब्रह्मा के उपासक समाज में विद्यमान थे। पद्मपुराण में ब्रह्मा का महत्व पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर और बृहत्संहिता में ब्रह्मा की मूर्ति बनाने का नियम दिया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा की पूजा समाज में प्रचलित थी। सिंध से ... बंगाल तक इस देवता की प्रतिमायें मिली हैं जिनके द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि होती है। यह प्रतीत होता है कि त्रिमूर्ति में गौण स्थान प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मा की पूजा समाप्त नहीं हुई। विष्णु और शिव के मन्दिरों में उन्हें स्थान प्राप्त होता था। पुष्कर और प्रयाग जैसे पवित्र तीर्थस्थानों को ब्रह्मा के महत्व के साथ संयुक्त कर लिया गया।

...शपुर (मालवा) में पटकारों की श्रेणी द्वारा एक जीर्ण सूर्य मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया गया और एक नया मन्दिर भी बनवाया गया। ग्वालियर में भी सूर्य भगवान का एक मंदिर था। स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्रपत्र में भगवान सूर्य की स्तुति की गई है।

[१] Vakataka Gupta Age p 3 3

इस ताम्रपत्र में यह सूचित होता है कि दो क्षत्रियों ने अन्तरवेद में एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था और इस मन्दिर में नित्य दीप जलाने की व्यवस्था एक ब्राह्मण के द्वारा की गई थी। बघेलखण्ड के आश्रमक नामक स्थान में भी गुप्तकालीन सूर्य मन्दिर का उल्लेख मिलता है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त सूर्य की प्रतिमायें भी मिली हैं। नगरी में एक अत्यन्त सुन्दर सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है। अजमेर संग्रहालय में कमन से प्राप्त एक सूर्य प्रतिमा सुरक्षित है जिसमें सूर्य के सात घोड़ों के चित्र बने हुए हैं। बंगाल में भी सूर्य देवता की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रोग निवारण के लिए सूर्य का आवाहन किया जाता था। वैशाली तथा भीटा में कुछ ऐसी मुद्रायें भी मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में अग्निकुण्ड का चित्र मिलता है और नीचे के भाग में 'भगवतः आदित्यस्य' लिखा है।

गुप्तकाल में शक्ति (देवी) की पूजा भी प्रचलित थी। स्थानाभाव के कारण शक्ति पूजा या शाक्त धर्म के उद्भव पर विचार नहीं किया जा सकता परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कालान्तर में शक्ति और शिव पूजा का एक दूसरे के साथ समन्वय होना प्रारम्भ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके करुणामय और भयंकर दोनों प्रकार के रूपों में की जाती थी। सम्भवतः इस तत्व ने दोनों मतों को एक दूसरे के निकट लाने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। देवी के विभिन्न रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता इत्यादि करुणाकारी रूप थे और चामुण्डा, दुर्गा, कालरात्रि, कात्यायिनी और भैरवी के रूप भयंकर थे। देवी के अनेक रूपों की प्रतिमायें भारत के विभिन्न भागों में पाई गई हैं। बंगाल या पूर्वी भारत शाक्त सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। यह स्वाभाविक ही है कि देवी के विभिन्न स्वरूपों की मूर्तियाँ पूर्वी भारत अथवा बंगाल में प्राप्त हुई हैं। शाक्त-पूजा के साथ एक विस्तृत और विशाल पौराणिक तथा साहित्य संयुक्त कर लिया गया।

शिव पूजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। गणेश और कार्तिकेय शिव तथा शक्ति (पार्वती) के पुत्र थे। कार्तिकेय को स्वामी महासेन भी कहा जाता था। गणेश की पूजा का भी प्रचार था और कालान्तर में गणेश के उपासकों का एक सम्प्रदाय बन गया। पहाड़पुर में गणेश की कई प्रतिमायें पाषाण तथा धातुओं की बनी हुई मिली हैं। गणेश बड़े ही लोकप्रिय देवता थे। उनको समस्त विपत्तियों का नाशक तथा सफलता दायक समझा जाता था अतएव केवल ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय ही उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे अपितु बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक मतों के अनुयायी भी उनकी पूजा करने लगे। यह एक उल्लेख्य बात है कि गणेश की मूर्ति का प्रचार सुदूरपूर्व और इण्डोनेशिया में बौद्धों ने ही किया था।

गुप्तयुग में मन्दिरों का महत्व—पूर्व गुप्त युग तक हम देवताओं की मूर्तियाँ तो प्राप्त होती हैं परन्तु मन्दिरों का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यदि यह कहा जाय कि मन्दिरों का निर्माण गुप्तकाल में ही प्रारम्भ हुआ तो सम्भवतः इस कथन में कोई त्रुटि न होगी। मन्दिरों में पूजा करना एक साधारण धार्मिक नियम हो गया। हमने देखा है कि मन्दिरों का निर्माण एक पवित्र कृत्य समझा जाता था और शिव, विष्णु तथा सूर्य के मन्दिर बनवाये जाते थे। धीरे धीरे मन्दिर हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र बन गये। उनके निर्माण और अलंकरण के कार्यों ने देश के भवन निर्माताओं और चित्रकारों को प्रोत्साहन प्रदान किया। सामूहिक पूजा में उनकी सेवा के लिए गायकों और नर्तकों की आवश्यकता हुई और मध्यकाल में इनके पदों में [illegible] के कार्य ने पौरा

शिक्षा और दार्शनिकों को सेवा का अवसर प्रदान किया।[1] इस तरह यह स्पष्ट है कि मंदिरों का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं था, सामाजिक जीवन की अभिवृद्धि तथा संस्कृति संरक्षण और सम्पोषण के क्षेत्रों में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह एक प्रसन्नता की बात है कि तत्कालीन मंदिरों के द्वारा दया दान और लोक कल्याण के कार्य भी किए जाते थे। मंदिरों के अधिकारीगण उनकी आय का कुछ अंश निर्धनों को भोजन वितरित करने में व्यय करते थे। बिल्सड़ (उत्तर प्रदेश) के कार्तिकेय मंदिर और मध्यभारत के मानपुर में पिष्टपुरी के मंदिर में यह व्यवस्था विद्यमान थी। ऐसा हिन्दू मंदिरों में लोक शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था।

कतिपय प्रचलित धार्मिक विश्वास—गुप्त युग में जनता में कतिपय धार्मिक विश्वास भी प्रचलित थे। आजकल की तरह उस समय भी बहुत से लोग यह विश्वास करते थे कि प्रयाग में मृत्यु होने पर पुण्य की प्राप्ति होती है। असाध्य रोगों से पीड़ित रोगी स्वेच्छापूर्वक गंगा के संगम पर मरने के लिए चले आते थे। दक्षिण के भी अनेक नरेश प्रयाग के तट पर आते थे और दान दक्षिणा द्वारा अपनी तीर्थयात्रा की स्मृति को चिर स्थायी बनाने का प्रयत्न करते थे। ब्राह्मणों में वैदिक संस्कारों के पालन की प्रवृत्ति विद्यमान थी। वे प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री पूजा आदि कृत्यों से युक्त संध्या-वन्दन करते थे। देवपूजा तथा पितृपूजा का भी प्रचलन था। सोलह संस्कारों, पंच महायज्ञों और श्राद्ध इत्यादि को द्विज लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। व्रत उपवासादि धार्मिक कृत्यों का प्रचलन सम्भवतः गुप्त युग से ही प्रारम्भ हुआ। इस युग के पुराणों में इनके विधिवत् पालन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। ग्रहण और संक्रान्ति आदि अवसरों पर नदी स्नान तथा दान से पुण्य होता है, यह धारणा इस समय काफी प्रचलित थी।

हिन्दू धर्म का विदेशों में प्रचार—इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि गुप्त युग की संस्कृति समन्वय पर आधारित थी और इस समय जिस हिन्दू धर्म का विकास हुआ वह समन्वयवादी था। यद्यपि इस धर्म में लोक-जीवन से सम्बन्धित अनेक तत्त्व विद्यमान थे तथापि इसमें पर्याप्त संचरणशीलता थी। हम यह देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती युगों में हिन्दू धर्म को किस प्रकार विदेशियों ने ग्रहण कर लिया था। गुप्त-युग में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार होने पर हिन्दू धर्म भी वहाँ फैल गया। जावा, सुमात्रा और बोर्नियो में हिन्दू देवी देवताओं की पूजा का काफी प्रचार था और हिन्दुओं की धार्मिक विचारधाराओं को वहाँ के निवासियों ने ग्रहण किया। चौथी शताब्दी तक मेसोपोटामिया और सीरिया में हिन्दू मंदिरों का अस्तित्व बना रहा। यह सम्भव है कि हिन्दू धर्म ने इसाई धर्म पर कुछ प्रभाव डाला था।

बौद्ध धर्म—गुप्त युग का बौद्ध धर्म अपने अधिकांश रूप में महायान था। इसके उद्भव और विकास के विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। परन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि महायान बौद्ध धर्म की प्रधानता ने हीनयान को बिल्कुल ही [illegible] कर दिया। यद्यपि लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण महायान धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया था तथापि गुप्तकाल में हीनयान भी काफी फल फूल रहा था। परन्तु समष्टि रूप में विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय लोक में भक्ति प्रधान स्मार्त धर्मों का जितना अधिक प्रचार था उतना बौद्ध और जैन धर्मों का नहीं।

[1] *Jalatala-Gupta Age* p 375

गुप्तकाल में हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदाय फल फूल रहे थे। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या इस समय भी बहुत कम न थी। हीनयान मत के कुछ उपसम्प्रदायों विशेषकर सर्वास्तिवाद का प्रचार इस समय भी काफी विस्तृत क्षेत्र के ऊपर था। सर्वास्तिवादी लोग जिन्हें बाद में वैभाषिक कहा जाने लगा पूरे उत्तरी भारत में उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त काश्मीर फारस मध्य एशिया चीन और सुमात्रा जावा और कोचीन चीन में फैले हुए थे। स्थविरवादी उपसम्प्रदाय वाले उज्जयिनी, वलभी काञ्ची और लंका स्याम तथा बर्मा में काफी अधिक संख्या में थे। लंका पहले की भांति इस समय भी हीनयान बौद्ध धर्म का प्रमुख गढ़ था। यहां पर बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की टीकाओं का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। पहले तो टीकाओं के प्रणयन के लिए सिंहली भाषा का प्रयोग किया गया परन्तु बाद में पाली भाषा का इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाने लगा। हमारा युग निस्सन्देह लंका के पाली साहित्य के इतिहास में गौरवशाली युग का निर्माण करता है। दीपवंस और महावंस जिनकी रचना ३५० सन् ईस्वी और ४७५ सन् ईस्वी में की गई थी लंका और भारत के प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं। इस युग के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य को बिना किसी संकोच के समृद्ध कहा जा सकता है। बुद्धघोष गुप्त युग का प्रसिद्ध बौद्ध लेखक था। इसने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया। लंका के बौद्ध प्रचारक भारत में आकर अपने गुरु (बुद्धजी) की शिक्षाओं का प्रचार करते थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में आन्ध्र तामिलनाड कर्नाटक काकड़ और बंगाल में लंका के बौद्ध भिक्षुओं का काफी सम्मान किया जाता था। लंका के बौद्ध धर्म प्रचारक चीन तक गये और वहां पर उन्होंने अनेक हीनयान ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। धर्मनिष्ठ बौद्ध यात्रियों की सुविधा के लिए बुद्ध गया में लंका के राजा मेघवर्मन ने एक विश्रामगृह का निर्माण कराया था।

फाहियान पांचवीं शताब्दी में भारत में आया था और उसने देश में बौद्ध धर्म की अवस्था के विषय में लिखा है। उसका विवरण यद्यपि अधिक विस्तार के साथ नहीं दिया हुआ है तथापि उसके अध्ययन द्वारा हमें काफी सीमा तक यह पता लग जाता है कि देश में बौद्ध धर्म की अवस्था कैसी थी। उसने अपनी यात्रा मध्य एशिया के देशों से प्रारम्भ की थी जहां पर उसने बौद्ध धर्म को फलते फूलते हुए पाया। मार्ग में उसने मथुरा में अनेक बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध संघों को देखा और अधिकांश स्थानों में उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि नृपतिगण अधिकतर इस धर्म के प्रति सौहार्द्र का दृष्टिकोण रखते थे और भिक्षुओं का उचित सम्मान करते थे। कुछ राजाओं ने संघों को भूमि दान में दे रक्खी थी जिससे विहारों का व्यय अच्छी तरह से चल सके। उसने बौद्ध भिक्षुओं की इस बात के लिए बड़ी प्रशंसा की है कि वे अनुशासन सम्बन्धी नियमों का सुविचारपूर्वक पालन करते थे और इस बात से भी उसे बड़ा हर्ष तथा विस्मय हुआ कि बौद्धधर्म के उपासक (गृहस्थ) अनुयायियों के हृदयों में भिक्षुओं के प्रति काफी श्रद्धा थी और वे प्रभूत दान-दक्षिणा द्वारा अपनी श्रद्धा का परिचय देते थे। उसने यह भी देखा कि गृहस्थ लोग चैत्य तथा स्तूपों का निर्माण कराते थे। फाहियान के विवरण में यह आभास मिलता है कि पांचवीं शताब्दी में भी उत्तरी भारत में हीनयान मत का अधिक प्रचार था और महायान केवल इधर-उधर वर्तमान था। गया और कपिलवस्तु में उसने विहारों को खाली और उजड़ा हुआ पाया।

यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से हीनयान और महायान मतों के केन्द्र भिन्न भिन्न स्थानों में थे तथापि इन दोनों मतों के सभी सम्प्रदाय एक दूसरे से पृथक नहीं रहते थे। हीन-

यान और महायान मतों के अनुयायियों में काफी मतभेद होने के कारण परस्पर भी कुछ भावना बन ही रही हो परन्तु उनमें इतना अधिक वैमनस्य नहीं था कि उन्हें अलग अलग रहने के लिए विवश होना पड़े। बल्कि सच तो यह है कि अनेक स्थलों में विशेष रूप से मगध में वे लोग साथ साथ रहते थे। नालन्दा विक्रमशिला और धान्यकटक के शिक्षा केन्द्रों में महायान और हीनयान मतों के मानने वाले मिलजुल कर रहते थे। फाहियान ने हीनयान और महायान दोनों प्रकार के बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख किया है। उसने नागरहार दरद उद्यान गान्धार वन्नू कन्नौज और कौशाम्बी में हीनयान मत का ही प्रचार देखा। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं भारत के उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा काश्मीर आदि स्थानों में सर्वास्तिवादी फैले हुए थे। काश्मीर का हीनयान बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। काश्मीर में सर्वास्तिवादियों का प्राधान्य होने के कारण बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन अधिक तर यहीं हुआ। काश्मीर के सर्वास्तिवादियों के प्रचार के ही कारण उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त में हीनयान मत काफी प्रबल बना रहा। अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में वसुबन्धु सर्वास्तिवादी दर्शन का सबसे महान और पण्डित प्रतिपादक था। उसका सुविख्यात ग्रन्थ अभिधर्मकोष है जिसमें वैभाषिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या इतने सुन्दर तरीके से की गई है कि बौद्धमत के सभी सम्प्रदाय इसे प्रामाणिक मानते हैं। अफगानिस्तान भिड (? जाव) मथुरा और पाटलिपुत्र में फाहियान ने हीनयान और महायान के अनुयायियों को साथ रहते हुए देखा। खोतान के विषय में उसने लिखा है कि सभी भिक्षु महायान मत के थे।

हमने पिछले पृष्ठों में यह बतलाया है कि हीनयान बौद्ध मत साधारण जनता की आत्मिक पिपासा को परितृप्त करने में समर्थ न होने के कारण कुछ दिनों बाद ह्रासोन्मुख हो गया। पाँचवीं शताब्दी के बाद से निश्चय ही हीनयान मत का प्रचार घटने लगा। महायान मत को ज्यों ही विद्वान विचारकों और दार्शनिकों का प्रबल और सक्रिय समर्थन प्राप्त हुआ इसका प्रचार तीव्रतर गति से देश में होने लगा और इसने कहीं कहीं पर हीनयान की उपेक्षा भी आरम्भ किया। नागार्जुन असुबन्धु आर्यदेव दिङ्नाग और असंग आदि दार्शनिकों ने महायान मत को सुशिक्षित जनों के लिए भी ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि महायान मत के दार्शनिक साहित्य के सृजन में रचनाकारों ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया।

गुप्त युग में महायान मत के अन्तर्गत कई दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ और कतिपय नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय भी बने। माध्यमिक और योगाचार दर्शन सम्प्रदाय काफी महत्वपूर्ण थे। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने चतुःशतक नामक ग्रन्थ लिखकर माध्यमिक सम्प्रदाय को एक महत्वपूर्ण भेंट प्रदान की। गुप्त युग निःसन्देह ही योगाचारदर्शन का स्वर्णयुग है। असंग नामक प्रसिद्ध विद्वान ने महायान सम्परिग्रह योगाचारभूमिशास्त्र और महायानसूत्रालंकार नामक ग्रन्थों की रचना की। महायान दार्शनिकों ने हिन्दू दार्शनिकों के विचारों का खण्डन करने का प्रयास किया।

साधारणतया विद्वानों का विश्वास है कि गुप्त काल में बौद्धधर्म निश्चय ही क्षीण हो गया था और इसकी प्राचीन सजीवता नष्ट हो चली थी। किन्तु डा० अलतेकर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, The general view that Buddhism was on the decline in the Gupta period owing to the revival of Hin

duism under the Guptas is not supported b the above survey of its philosophical activity Nor is it confirmed by the artistic evidence '[1] अल्तेकर महोदय ने देश के विभिन्न स्थानों को अलग अलग लेकर यह दिखाया है कि यहाँ पर बौद्धधर्म काफी समृद्ध अवस्था में था। वास्तव में अल्तेकर का तर्क काफी सबल है और इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि सम्पूर्णतया विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्त काल में बौद्ध धर्म की सजीवता नष्ट हो चली थी। वहाँ कहाँ पर साधारण जनता भी बौद्ध मत को सक्रिय सहायता प्रदान करती थी। वास्तव में गुप्तों के उदार शासन के अधीन जनता का धार्मिक दृष्टिकोण इतना सहिष्णु था कि लोग एक धर्म के अनुयायी होने पर भी दूसरे धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे। देश में भगवान् बुद्ध की प्रतिमायें इतनी अधिक संख्या में पाई गई हैं कि उनके द्वारा यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार अब भी काफी था। जब बौद्ध विहारों में व्यभिचार और अनाचार के दोष प्रविष्ट हो गये तो जनता की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं और धर्म के प्रति न रह गई। सम्भवतः बौद्ध धर्म के भारत में नष्ट हो जाने का यह सबसे प्रधान कारण था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म गुप्त-युग में इस रूप में जा रहा था।

जैनधर्म—जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का काफी महत्त्व है। इस समय जैन मत के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुईं। वलभी की प्रसिद्ध जैन सभा गुप्त काल में हुई थी। इस सभा में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया गया। इसके बाद जैन विद्वानों ने अपने धर्मग्रन्थों पर टीकाओं एवं भाष्यों की रचनायें कीं। भद्रबाहु द्वितीय ने दस महत्वपूर्ण जैनग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ (टीकायें) लिखीं। जैनियों ने भी संस्कृत को अपना लिया। क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर नाम के जैन विद्वानों ने भी कई दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

तीसरी शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म भारतवर्ष में अच्छी तरह से जम गया। मगध में चलकर दक्षिण पूर्व में कलिंग तक, मथुरा और मालवा तक पश्चिम में और दक्षिण में तामिल नाड तक जैन धर्म फैल गया। परन्तु इस समय जैन धर्म का केन्द्र मगध में न रह गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसका प्रचार अधिक हुआ। उत्तरी भारत में जैन धर्म को राजाश्रय प्राप्त नहीं हो सका किन्तु दक्षिण में कदम्ब राजवंशों ने इसका पोषण किया अतएव वहाँ इसका प्रधान केन्द्र बन गया। फाहियान ने जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म उस समय में समृद्ध अवस्था में नहीं था। फिर भी व्यापारियों और मध्यवर्ग के लोगों में इस धर्म का पर्याप्त प्रचार था। गुप्त लेखों द्वारा इस धर्म के प्रचलित होने का पता चलता है। मथुरा के लेख में (गु० सं० ११३ ई० सन् ४३२) एक जैन स्त्री हरिस्वामिनी द्वारा जैन मुनि के दान का वर्णन है। उदयगिरि के लेख में भी जो कुमारगुप्त प्रथम के समय में उत्कीर्ण कराया गया था (४२६ ई० सन्) में पता चलता है कि शंकर नामक एक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। स्कन्दगुप्त के समय में (४६१ ई० सन्) कहौम अभिलेख में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि ग्राम में जैन तीर्थंकरों की पाँच मूर्तियों का निर्माण कराया गया था। इन लेखों द्वारा ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य में जैन धर्म का प्रचार था और मथुरा उदयगिरि

---

[1] Altekar: Gupta Age P. 35-

तथा मथुरा आदि सुदूरवर्ती प्रान्तों में लोग इस धर्म को मानते थे। इन नगरों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि जैन धर्म पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में अधिक लोकप्रिय था। मथुरा और वलभी श्वेताम्बर जैन धर्म के प्रधान केन्द्र थे। उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर जैन मत का केन्द्र था। दक्षिण भारत में कर्नाटक और मैसूर में दिगम्बर जैन मत के गढ़ थे। कदम्ब और गंग राजाओं ने इसे राजाश्रय प्रदान किया था। हमें ऐसे अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें यह विदित होता है कि कदम्ब नरेशों ने जैन साधुओं को प्रचुर दान दिया था और अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। कदम्ब राजाओं के लेख यह सूचित करते हैं कि उनके उदार राजाश्रय के अधीन जैन धर्म काफी उन्नति की अवस्था में था और अनेक उच्च पदाधिकारियों तथा सम्पन्न भूमिपति इस धर्म के निष्ठावान् अनुयायी थे। किन्तु बाद में जैन धर्म को शैव धर्म के रूप में एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी मिल गया जिससे दक्षिण में भी जैन धर्म का प्रचार बहुत कम हो गया। किन्तु यह बिल्कुल नष्ट नहीं हो सका और आज भी तामिल देश, गुजरात तथा मालवा में जैनियों की काफी संख्या है।

गुप्त युग में साहित्य एवं विज्ञान की उन्नति

गुप्त काल संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व का युग था। इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य की जो उन्नति हुई उसके लिये यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह न भूतो न भविष्यति थी। परन्तु एक बात ध्यान में रखना चाहिए। गुप्त-युग की अभूतपूर्व साहित्यिक क्रियाशीलता और संस्कृत वाङ्मय के इस समय देदीप्यमान रत्नों से भरे जाने के कार्य को देखकर हम यह न सोचना चाहिए कि संस्कृत साहित्य का इस काल में पुनर्जन्म हुआ था। वास्तव में संस्कृत में सृजन का स्रोत कभी नितान्त रूपेण शुष्क नहीं होने पाया और न संस्कृत साहित्यकारों की क्रियाशीलता ही कभी हत होने पाई। सुविख्यात विद्वान मैक्समूलर ने अपना यह मत प्रतिपादित किया था कि विदेशियों के आक्रमण के फलस्वरूप संस्कृत का साहित्य सुषुप्त हो गया था। गुप्त-युग में सदियों की प्रगाढ़ निद्रा के बाद यह एकाएक जागरूक हो उठा। परन्तु मैक्समूलर का यह कथन ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं होता। विदेशियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा यह हम पीछे देख चुके हैं। आक्रमणकारी अपना राज्य स्थापित करने में तो सफल हो गये किन्तु देश की जीवित सांस्कृतिक शक्ति के सम्मुख उन्होंने अपने घुटने टेक दिये। अन्त में विदेशी जातियाँ हिन्दू सामाजिक संगठन में मिला ली गईं और हिन्दू संस्कृति के रंग में रंग गईं।

पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना उसी काल में हुई जिसको मैक्समूलर महोदय संस्कृत वाङ्मय की सुषुप्ति काल बताते हैं। विदेशी कुषाणों के युग में संस्कृत साहित्य में काफी सृजन कार्य किया गया। हम देख चुके हैं कि बुद्धचरित नामक महाकाव्य सौन्दरनन्द नामक सुललित काव्य सारिपुत्रप्रकरण नामक नाटक की रचना महाकवि अश्वघोष ने विदेशी शासक कनिष्क के राज्य काल में की थी। नागार्जुन ने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन सम्भवतः इसी समय किया था। चरक संहिता का रचना काल यही था। इन सब के अतिरिक्त यह सचमुच विस्मय की बात है कि रुद्रदामन नामक शक क्षत्रप की जूनागढ़वाली प्रशस्ति इहलौकिक परक संस्कृत गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसकी ओजपूर्ण गद्यशैली वास्तव में उत्कृष्ट शैली का एक सुन्दर नमूना है। अतएव उपर्युक्त प्रमाणों को ध्यान

में रखते हैं। हम मैक्समूलर साहब के इस मत को अस्वीकार कर सकते हैं कि गुप्त काल में संस्कृत साहित्य का पुनर्जीवन हुआ था।

गुप्त युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेन्स के इतिहास के परीक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलिजाबीदन युग से की जाती है। वास्तव में यह तुलना नितान्त समीचीन जान पड़ती है। परीक्लीज के युग और एलिजाबेथ के शासन काल की तरह गुप्त-युग भी विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में मौलिक सृजन का काल था। यूनानी इतिहास के स्वर्णयुग उस काल की भाँति गुप्त युग में कविता का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कुछ इतिहासकारों ने गुप्तकाल की साहित्यिक समृद्धि को ध्यान में रखते हुए इसकी तुलना लैटिन साहित्य के आगस्टन-युग से की है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि आगस्टन-काल का साहित्य उतना मौलिक नहीं है जितना कि गुप्त युग का। अतएव इस तुलना को हम सर्वथा निर्दोष नहीं मान सकते। किन्तु अंग्रेजी साहित्य के एलीजाबेथन काल तथा यूनानी साहित्य के पेरीक्लीयन एज के साथ गुप्त काल की तुलना ठीक है।

गुप्त काल की साहित्यिक और आध्यात्मिक उन्नति का विवरण हम न केवल इस समय के साहित्य द्वारा ही जान सकते हैं अपितु इस समय के अभिलेख और सिक्के भी उस उन्नति का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गुप्त-अभिलेखों में संस्कृत काव्य के जिस उत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी परम्परा काफी प्राचीन था। विभिन्न छन्दों के प्रयोग भाषा के प्रवाह एवं शब्दों के संगीत तथा भावों की उच्चता आदि की दृष्टि से गुप्त-युग के अभिलेख संस्कृत काव्य के इतिहास में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। गुप्तयुग की काव्यात्मक स्फूर्ति ने मुद्राओं पर भी अपना प्रभाव छोड़ा और सम्राटों ने अपने सिक्कों पर छन्दोबद्ध भाषा में लिखवाना प्रारम्भ किया। राजाधिराज पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्य। प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण गद्य और पद्य दोनों ही को सुगमता से लिख सकते थे। समुद्रगुप्त के अपने द्वारा युवराज निर्वाचन की घटना का वर्णन हरिषेण ने जिन शब्दों में किया है उनसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि वे छोटे मोटे कवि नहीं थे। इसी प्रकार मन्दसोर प्रशस्ति का रचयिता वत्सभट्टि भी महान् कवि था। उसकी वर्णन शैली वस्तुतः काव्योचित और काव्यमयी है। शैली अलंकारमयी होने पर भी आडम्बर से दूर है। चन्द्रगुप्त के मिहरौली स्तम्भ लेख की भाषा ओजमयी और सप्राण है। यद्यपि इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं तथापि उसके तीन श्लोक ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि वह साधारण कवि नहीं था। 'तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका' से उसकी प्रवाहमयी काव्य कला का अनुमान लगाया जा सकता है। स्कन्दगुप्त के भीतरी-स्तम्भलेख का रचयिता प्रशस्ति लिखने के समय एक उदात्त भावना से अनुप्राणित हुआ जान पड़ता है। इसी सम्राट के समय का जूनागढ़ शिलालेख भी श्रेष्ठ कविता का उत्तम उदाहरण है। इसके विषय में डाक्-धर का कहना है— The reference in the Junagadh rock inscription स्फुटमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृत point unmistakably to the acquaintance of the author with Sahityasastra as well as to his knowledge of traditional literary alankars The use of compounds in ornamental epithets appears to have been much in favour A distinct departure is thus made from the epic

style. The descriptions though not of a very high order still display considerable merit as for instance the vivid picture of the devastation caused by the flooding of the dam of Sudarsana lake." इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तकालीन अभिलेखों में परवर्ती संस्कृत काव्य शैली के बीज विद्यमान दिखाई पड़ते हैं।

विशुद्ध साहित्य—गुप्तकाल में विशुद्ध साहित्य अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, आख्यायिकायें आदि की अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकालीन साहित्यिक महारथियों में कवि-कुलगुरु कालिदास का नाम अग्रगण्य है। यह एक खेद का विषय है कि हम महाकवि का जीवनवृत्त हम पाते नहीं। इनके जीवन काल के विषय में विद्वानों में इतना मतभेद है कि निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। परन्तु इस बात के लिए प्रबल प्रमाण है कि महाकवि कालिदास गुप्त काल की ही विभूति थे। उनके ग्रन्थों में जिस सुख-शान्तिमयता, समृद्धि और वैभव का वर्णन है वह गुप्त-युग में ही सम्भव हो सकता है। महाकवि कालिदास केवल संस्कृत काव्याकाश के सबसे देदीप्यमान नक्षत्र ही नहीं हैं, विश्व के सर्वोत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में उनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। जिस विषय पर महाकवि की लेखनी चली है उसमें कोई दूसरा उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी कल्पना की ऊँचाई, शब्दों का मधुर संगीत, भावों की कवित्वपूर्ण अभिव्यञ्जना, भाषा का प्रसादगुण तथा उपमाओं की चित्रमयता एवं सांगोपांगता आदि महाकवि के काव्य के विशिष्ट गुण हैं। कालिदास की कविता अपनी स्वाभाविकता के लिए विख्यात है। वे उपयुक्त शब्द-चयन, ललित पदावली, मनोरम उपमाओं एवं सुन्दर कल्पनाओं द्वारा पाठक के हृदय में रस का उद्रेक कराकर उसे उस चरम आनन्द की अनुभूति कराते हैं जिसके लिए हमारे ग्रन्थों में 'ब्रह्मानन्दसहोदर' शब्द का प्रयोग किया गया है। कालिदास की कविता के गुणों का अति संक्षिप्त वर्णन भी इस पुस्तक के सीमित क्षेत्र में सम्भव नहीं। उनकी ओर दो चार शब्दों द्वारा विहंग दृष्टिपात कर लेने मात्र से ही हमें सन्तुष्ट होना पड़ता है। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास हम भारतीयों के लिए अक्षय गौरव और गर्व के कारण हैं। उनके ग्रन्थों में सबसे पहले कौन सा ग्रन्थ है यह कहना सरल नहीं। यह कहना तो दूर रहा हम केवल उनकी एक कृति मेघदूत के विषय में भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उत्तर मेघ प्रक्षिप्त अंश है या पूर्व मेघ। वास्तव में कालिदास के ग्रन्थों का अध्ययन करते समय हृदय इतना आनन्दातिशयता का अनुभव करता है कि समालोचना कुछ क्षणों के लिए रुक सा जाता है। कुमारसम्भवम् और रघुवंशम् महाकवि के दो महाकाव्य हैं। मेघदूतम् और ऋतुसंहार उनके दो खण्डकाव्य हैं। विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् उनके तीन नाटक हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना भी महाकवि द्वारा बताई जाती है परन्तु इस बात में सन्देह है कि उन्होंने अन्य ग्रन्थों का प्रणयन किया।

शूद्रक गुप्त-युग के दूसरे महान् साहित्यकार थे। इनका सुविख्यात नाटक मृच्छकटिकम् संस्कृत साहित्य का एक अनोखा और ऐसा अकेला नाटक है जो समाज के यथार्थवादी दैनिक जीवन के चित्रण से सम्पन्न है। इसकी नायिका पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना है जो गुणशाली ब्राह्मण चारुदत्त से प्रेम करती है। इस नाटक में नाटककार की व्यापक सहानुभूति का परिचय इस बात से मिलता है कि उसने समाज के निम्न वर्ग के जुआरियों और चोरों को भी अपने नाटक का पात्र बनाया है और सहानुभूति के साथ उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। मृच्छकटिक का हास्य

सम्भवतः संस्कृत नाटकों के हास्य का सर्वोत्तम रूप प्रदर्शित करता है। 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता विशाखदत्त भी गुप्तकाल में ही हुए थे। इस नाटक में चाणक्य का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है। यह भी संस्कृत के नाटकों में अपने ढंग का अनूठा नाटक है। विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम' नाटक का भी प्रणयन किया था किन्तु अपने मूल रूप में यह सम्पूर्ण नाटक उपलब्ध नहीं है। सुबन्धु इस काल के प्रसिद्ध गद्य लेखक थे जिनकी 'वासवदत्ता' ने बाण के शब्दों में कवियों के गर्व को चूर कर दिया। लम्बे समासों और अनेक विशेषणों से युक्त शैली में भी सुबन्धु ने अनेक स्थलों पर ओज भर दिया है। उनकी गद्यशैली को बाण ने अपनाकर काफी विकसित किया। 'किराता-र्जुनीयम्' के रचयिता भारवि का समय कुछ विद्वान छठी शताब्दी का अन्त बतलाते हैं। भट्टि का काल भी सम्भवतः यही है। इनका महाकाव्य 'रावणवध' एक विचित्र काव्य है जिसके प्रत्येक श्लोक के द्वारा संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम का विश्लेषण किया गया है और साथ ही साथ राम के जीवन की घटनाओं का वर्णन भी किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि भी इसी समय हुए थे। उनके तीन ग्रन्थ 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' अपनी दृष्टि में अनुपमनीय एवं काफी महत्त्वपूर्ण हैं। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में मेण्ठ नामक कवि का उल्लेख किया गया है। ये ४३० सन ईसवी के लगभग हुए थे और इन्होंने 'हयग्रीव' नामक महाकाव्य की रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्त-युग में ही सम्भवतः 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करण तैयार किये गये।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' की रचना भी गुप्त काल में हुई। भारत की विश्व सभ्यता को प्रमुख देनों में से विद्वान 'पञ्चतन्त्र' को भी एक मानते हैं। इस पुस्तक में कथाओं के माध्यम द्वारा नैतिक शिक्षा और सांसारिक जीवन के अनुभव प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। संसार की लगभग प्रत्येक सभ्य भाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया गया है।

धार्मिक साहित्य—गुप्त युग की साहित्यिक क्रियाशीलता धार्मिक साहित्य के सृजन एवं संवर्द्धन में भी दिखलाई पड़ी। धार्मिक साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व के पुराण हैं। पुराणों की रचना का कार्य गुप्त-युग के काफी पहिले ईसा की प्रथम शताब्दी से कई सौ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हो चुका था किन्तु आज वे जिस रूप में प्राप्त हैं उनको वह रूप अधिकतर गुप्तकाल में ही दिया गया। वस्तुतः संस्कारों एवं भक्तिवाले धार्मिक आन्दोलन के समन्वय का सब प्रथम प्रयास पुराणों में ही किया गया है और इस बात के लिए प्रमाण है कि यह प्रयास गुप्तकाल में ही किया गया। पुराणों ने ही हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप बनाया है। यह सम्भव है कि पुराणों के कुछ अध्यायों की रचना बाद में की गई हो। परन्तु जैसा कि अलबरूनी ने कहा है अठारहों पुराण १००० सन् ईसवी के पूर्व अवश्य ही लिखे जा चुके थे।

'मनुस्मृति' के आधार पर गुप्त-युग में स्मृतियाँ भी लिखी गईं। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति ने अपने स्मृति-ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त काल में किया। कात्यायन का स्मृतिग्रन्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके उद्धरण अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। याज्ञवल्क्य की स्मृति में आचार (रीतिरिवाज और संस्कार), व्यवहार (सिविल कानून) और प्रायश्चित्त इन तीनों पर समुचित ध्यान दिया गया है। स्मृति ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि गुप्तकाल में सिविल कानूनों और न्याय सम्बन्धी नियमों का काफी अधिक विकास हो रहा था।

अर्थशास्त्र के आधार पर गुप्त युग में केवल कामन्दकीय नीति सार की ही रचना की गई। नीतिसार के रचयिता कामन्दक ने कौटिल्य के सिद्धान्तों और शिक्षाओं को ही अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। अनुकृतिप्रधान होने के कारण इस ग्रन्थ में राज्य की विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र और मौलिक रूप से विचार नहीं किया गया है। राजनीतिक विचार चिन्तन के क्षेत्र में ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य महाभारत के शान्तिपर्व और मनुस्मृति के उपरान्त भारतीय विचारकों की मौलिक चिन्तन की शक्ति सो सी गई। कामन्दकीय नीतिसार का महत्व इस बात में है कि अर्थ प्रन्थ में लिये गये विषय का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अधिक सुगम रीति से किया गया है।

दार्शनिक साहित्य—गुप्त युग में एक प्रचुर दार्शनिक साहित्य का भी सृजन हुआ। हिन्दुओं बौद्धों और जैनियों सभी धर्मों ने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। सांख्य दर्शन पर सबसे पहले टीका लिखने वाले ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ लिखा। कुछ विद्वानों ने ईश्वर कृष्ण का समीकरण विन्ध्यवास से किया परन्तु दूसरे विद्वान इस समीकरण को नहीं स्वीकार करते और ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास को दो विभिन्न व्यक्ति मानते हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका पर गौड़पाद ने एक भाष्य लिखा।

जैमिनि के मीमांसा सूत्रों की रचना गुप्तकाल के पूर्व हो चुकी थी किन्तु उन पर प्रामाणिक टीका शाबर भाष्य का प्रणयन ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। अष्टाध्यायी के ऊपर पतञ्जलि के महाभाष्य का और अन्त वेदान्त के ऊपर शंकर के भाष्य का जो महत्वपूर्ण स्थान है वही स्थान जैमिनि के मीमांसा सूत्रों पर शबर भाष्य को प्राप्त है। वेदान्त दर्शन का इस काल में कितना विकास हुआ यह सुनिश्चित रूप से पता लगाना दुष्कर है क्योंकि इस दर्शन पर जो ग्रन्थ इस समय लिखे गये वे आज उपलब्ध नहीं हैं। इस बात के प्रमाण हैं कि बौद्धधर्म के नये सम्प्रदायों और वेदान्तियों में परस्पर वाद विवाद जोरों से चल रहे थे। ब्रह्म सूत्र में बाद में जो विभाग जोड़े गये वे केवल माध्यमिक तथा योगाचार सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का ही खण्डन करने के लिए।

न्याय दर्शन पर भी गुप्त-युग में ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। गुप्त काल के पूर्व ही न्यायसूत्र लिखे जा चुके थे। न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन ने एक टीका लिखा। इन्होंने नागार्जुन के विचारों का खण्डन किया है परन्तु आगे चलकर दिङ्नाग ने इनके मतों का खण्डन किया। उद्योतकर नामक विद्वान् ने सातवीं शताब्दी में वात्स्यायन के मतों की पुष्टि करते हुए दिङ्नाग के विचारों की आलोचना की है। पदार्थधर्मसंग्रह का प्रणयन करके प्रशस्तपाद ने कणाद के वैशेषिक दर्शन को बहुत आगे बढ़ाया। प्रशस्तपाद का ग्रन्थ एक टीका मात्र नहीं है वरन् इसकी विषय प्रतिपादन की शैली इतना सुन्दर है कि मौलिक ग्रन्थ की उपादेयता का यह निश्चय ही प्रमाण देता है। चन्द्र नामक विद्वान ने दशपदार्थशास्त्र लिखा जिसका अब चीनी संस्करण ही प्राप्त है।

बौद्ध और जैन धर्मों में भी प्रचुर दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। गुप्त युग में बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाओं की दो-दो उपशाखायें हो गई थीं। हीनयान की दो शाखायें था—(१) थेरवाद (स्थविरवाद) और वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)। महायान सम्प्रदाय भी दो उपशाखाओं में विभक्त था—(१) माध्यमिक तथा (२) योगाचार। असंग योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रधान आचार्य थे। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ ये हैं—(१) महायान सम्परिग्रह (२) प्रकरण आर्यवाचा (३) महायानाभि

धर्मसंगीतिशास्त्र' (४) 'वज्रच्छेदिका टीका' (५) योगाचार भूमिशास्त्र'। 'महायान सम्परिग्रह' नामक ग्रन्थ का जापान में अब भी बड़ा समादर किया जाता है। वसुबन्धु भी प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य और बड़े भाग्यवान थे। वसुबन्धु ने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे। 'अभिधर्मकोश' इनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है जिसका प्रणयन उन्होंने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए किया था। बौद्धों के न्याय-नैक साहित्य में आचार्य दिङ्नाग की रचनाओं का बहुत अधिक महत्व है। 'प्रमाण समुच्चय' इनका सबसे विख्यात ग्रन्थ है। 'न्याय प्रवेश' इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। धर्मपाल नामक काञ्चीनिवासी विद्वान ने योगाचार सम्प्रदाय का विकास करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया। धर्मपाल नालन्दा महाविहार के कुलपति पद पर नियुक्त किए गए थे। बुद्धघोष का बौद्ध दार्शनिकों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। 'विशुद्धिमग्ग' नामक ग्रन्थ में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप पर बुद्धघोष ने बड़ा विशद विवेचन किया है। 'समन्तपासादिका' नामक ग्रन्थ 'विनयपिटक' के समस्त ग्रन्थों की टीका है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों का भी पता चलता है। 'सुमङ्गलविलासिनी' बुद्धघोष का एक सुविख्यात रचना है जिसमें दीघनिकाय की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस ग्रन्थ से बौद्ध धर्म के उत्थानकाल के ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ निकाले हैं।

गुप्त-युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसी युग में जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया और जैन दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी गुप्तकाल में ही हुआ। आचार्य सिद्धसेन गुप्त काल के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने दिङ्नाग की भाँति न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। 'न्यायावतार' जैन-न्याय का सबसे प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने 'तत्वानुसारिणी तत्वार्थ टीका' नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की। सिद्धसेन दिवाकर कवि भी थे। इनके स्तोत्र भक्ति और श्रद्धा के भावों से ओत प्रोत हैं।

अन्य साहित्यिक ग्रन्थ—गुप्त-युग में प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह हुए जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अमरकोष' का प्रणयन किया। यह संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कोष है। चान्द्र नामक काश्मीरनिवासी बौद्ध विद्वान ने एक व्याकरण-ग्रन्थ लिखा जिसमें व्याकरण की ऐसी पद्धति का विकास किया गया था जो ब्राह्मण तत्वों से मुक्त था। चान्द्र का व्याकरण काश्मीर, तिब्बत, नेपाल और लंका में बड़ा प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय था। भर्तृहरि नामक प्रसिद्ध टीकाकार ने मेघदूत की अपनी टीका में चान्द्र द्वारा चलाई गई व्याकरण पद्धति का उल्लेख किया है। अन्य कई व्याकरण ग्रन्थों की रचना भी गुप्त युग में हुई परन्तु इनमें से अधिकांश टीकायें थीं। कहा जाता है कि भर्तृहरि ने पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर अपनी टीका लिखी परन्तु वह नष्ट हो गई। जिनेन्द्रबुद्धि ने काशिका पर अपनी 'न्यास' नामक टीका लिखी। माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपालवध' में 'न्यास' का उल्लेख किया है।

तामिल साहित्य—गुप्त काल का तामिल साहित्य प्रधानतया धार्मिक है। यद्यपि लौकिक विषयक ग्रन्थों की रचना भी की गई तथापि अधिकांश ग्रन्थ धार्मिक हैं। धार्मिक आन्दोलनों ने तामिल साहित्य के विकास में प्रचुर योग दिया। शिव तथा विष्णु के भक्त सन्तों और योगियों ने भक्ति आन्दोलन के लिए जन-साधारण की भाषाओं के साहित्य-संवर्धन को प्रेरणा और शक्ति प्रदान की थी। इसी तरह जैन और बौद्ध धर्मों ने तामिल साहित्य के विकास पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला परन्तु कालान्तर में शैव

और वैष्णव धर्मों के प्रभाव भी अधिक पड़ा। जैनियों की तामिल साहित्य के प्रचार में कुछ अधिक योगदान था और उन्होंने व्याकरण तथा नीतिसम्बन्धी एवं शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे किन्तु गुप्त-युग और इसके बाद के कालों में हिन्दूधर्म के भक्तिवादी सम्प्रदायों ने ही तामिल साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया।

शैव नायनमारों और वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में भक्ति विषयक अनेक पदों की रचना की। ये भाव-भरे भक्त थे और अपने उपास्य देवों के प्रति उन्होंने भक्ति की धारा में गाते गाते वे ही पदों के रूप में ही गये। नायनमारों और आलवारों के पदों में यह भाव प्रमुखता से व्यक्त किया गया है कि सर्वशक्तिमान और भक्त-वत्सल प्रभु तर्कमयी बुद्धि द्वारा नहीं अपितु भक्तिरस में लीन तथा स्पन्दन हुए हृदय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नायनमारों और आलवारों की उत्कट भक्ति भावना ने उत्कृष्ट कवित्व को जन्म दिया। उनके भाव गंभीर पदों की सरसता तथा मार्मिकता वस्तुतः सराहनीय है। उन्होंने जिस भक्ति-काव्य का सृजन किया वह आज भी अनुपम है क्योंकि यह वस्तुतः सम्पूर्ण हृदयों के अन्तस्तल प्रेरणा से बिना प्रयत्न ही निकला है।

विज्ञान—गुप्त-काल में विज्ञान की भी अधिक उन्नति हुई। इस सम्बन्ध में J. Kenneth Saunders का कथन है, "During the Guptan Era Indian science also made great advances. We know that Indian astronomy was already far advanced when the Greeks arrived and that Indians learned from the invader a new system. But it was Indian astronomy which passed into Europe in Arab translations in the Middle Ages." ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में गुप्तकालीन विज्ञान की महत्ता सर्वविदित है। दाशमलव पद्धति की जो विश्वव्यापकता भी भारत के अनेक उपहारों में से एक प्रमुख उपहार है विकास गुप्त-युग में ही हुआ। भारत में चिकित्सा-पद्धति का सूत्रपात गुप्तकाल से पूर्व ही काफी विकसित हो चुका था। गुप्त-युग में विकसित चिकित्सा विज्ञान का संरक्षण और संवर्धन किया गया परन्तु दुर्भाग्यवश इस युग के चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ हम आज उपलब्ध नहीं।

ज्योतिष—आर्यभट्ट गुप्त काल के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी थे। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि का अनुमान जो भी किया था आज तक प्रायः सही माना जाता है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है आदि बातों का प्रतिपादन करने का श्रेय आर्यभट्ट को ही प्राप्त है। नक्षत्र और खगोल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में इनकी मान्यतायें काफी मात्रा तक निर्दोष माना जाता है। इन्होंने सूर्य और चन्द्र-ग्रहणों के विषय में पौराणिक धारणा का वैज्ञानिक ढंग के साथ खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है।

वराहमिहिर गुप्त काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उन्होंने पाँच पुस्तकें लिखीं—(१) लघु जातक (२) 'बृहज्जातक' (३) विवाह पटल (४) 'योगयात्रा' (५) बृहत्संहिता और (६) 'पञ्चसिद्धान्तिका'। अन्तिम ग्रन्थ में इन्होंने रोमक वशिष्ठ आदि सिद्धान्तों की विवेचना की है। यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है कि वराहमिहिर जैसे निपुण ज्योतिषी ने भी ग्रहण के विषय में आर्यभट्ट की मान्यता का खण्डन किया और इस सम्बन्ध में पौराणिक धारणा को सत्य स्वीकार किया। परन्तु अन्य बातों में वराहमिहिर के ज्ञान की प्रशंसा करना अनिवार्य हो जाता

है। उनकी बृहत्संहिता नामक ग्रंथ ज्ञान विज्ञान का एक सुविशाल कोष है जिसमें सूर्यमण्डल व नक्षत्रों की गति तथा मनुष्यों पर उसके प्रभाव, भूगोल, वास्तु कला, मूर्ति-निर्माण, तालाबों को खुदवाने तथा उद्यान निर्माण कराने की रीतियाँ, विभिन्न प्रकार की स्त्रियों तथा पशुओं की विशेषताओं और विविध प्रकार के रत्नों आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। बृहद्विवाहपटल तथा स्वल्पविवाहपटल नामक ग्रन्थों में वराहमिहिर ने विवाह के शुभ लग्नों पर विचार किया है। वराहमिहिर ने ज्योतिषविद्या में यवनाचार्यों के ऋण को स्वीकार किया है।

ब्रह्मगुप्त भी गुप्त-काल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इन्होंने अपने ग्रंथ ब्रह्म-सिद्धान्त की रचना शक संवत् ५५० अर्थात् सन् ६२८ ई० में की।

गणित—गुप्तकाल ने भारत में गणित की भी उन्नति हुई। इस समय ज्योतिष और गणित एक दूसरे के साथ काफी घनिष्ठ रूप में मिले हुए थे। इस काल के ज्योतिषी ही इस समय के प्रमुख गणितज्ञ थे। आर्यभट्ट ऐसे प्रथम विद्वान थे जिन्होंने गणित को एक पृथक विज्ञान माना। उनकी सबसे प्रधान देन है उनकी अंकीय संख्या पद्धति। संसार के किसी भी प्राचीन देश को दशमलव पद्धति का ज्ञान नहीं था किन्तु आज सारे संसार में यह प्रचलित है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्यभट्ट ने किसी प्रचलित गणना या संख्या पद्धति का सुधार किया अथवा इस पद्धति का स्वयं आविष्कार किया। भारतीय संख्या पद्धति के द्वारा सभी विज्ञानों और विशेष रूप से गणित की कितनी उन्नति हुई और इसके अभाव में उनकी कितनी हानि होती यह कह सकना सरल नहीं है। आर्यभट्ट ने बिल्कुल ठीक-ठीक मन्द [illegible] १६ का भी ज्ञान था। ब्रह्मगुप्त भी एक महान् गणितज्ञ था। एक लेखक का कथन है, Brahma Gupta's works cover very briefly the ordinary arithmetical operations square and cube roots rule of three interest progression geometry including treatment of the rational right angled triangle and the elements of the circle elementary mensuration of solids shadow problems negative and positive quantities cipher surds simple algebraic identities indeterminate equations of the first and second degrees in considerable detail and simple equations of the first and second degrees which are briefly treated Special attention is cyclic quadrilaterals"[1]

आयुर्वेद तथा रसायन शास्त्र (Medicine and Chemistry) के क्षेत्र में भी गुप्तयुगीन भारत ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की। नागार्जुन[2] नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने रस चिकित्सा नामक नवीन चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया जिससे चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति समुपस्थित कर दी। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग निवारण की शक्ति विद्यमान है। पारे का भी आविष्कार नागार्जुन ने किया। शिल्पशास्त्र के भी अनेक ग्रंथों का प्रणयन गुप्त-काल में किया गया।

---

[1] *Classical Age*, p 123

[2] यह नागार्जुन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से भिन्न है।

कलाओं की उन्नति

गुप्त काल की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक उन्नति में विभिन्न कलाओं के विकास का महत्वपूर्ण स्थान है। गुप्त-युगीन कला का महत्व दो दृष्टियों से है। स्थापत्य, चित्र और मुद्रा निर्माण कलाओं में यह निपुणता तथा कुशलता की पराकाष्ठा को सूचित करती है। वास्तुकला के क्षेत्र में यद्यपि गुप्त युग की देन तो काफी अधिक है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस कला का यह उत्कृष्टतम रूप प्रस्तुत करता है। गुप्त काल में मन्दिर निर्माण कला का सम्भवतः जन्म हुआ और इसका पर्याप्त विकास भी हुआ किन्तु आगे के युगों में इस कला का और अधिक विकास हुआ। इस प्रकार गुप्त-युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसने एक ओर जहाँ स्थापत्य कला और चित्रकला के विकास को चरम सीमा पर पहुँचाया वहाँ दूसरी ओर मन्दिर निर्माण कला के क्षेत्र में इसने विकास की महती सम्भावनाओं को भी जन्म दिया। गुप्त काल की कलात्मक प्रगति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे (१) वास्तु कला (२) स्थापत्य कला अथवा तक्षण कला (३) चित्रकला और (४) संगीत कला।

वास्तु कला—गुप्तकाल से पूर्ववर्ती युगों में स्तूप, चैत्य, दरीगृह और विहार बनवाये जाते थे। गुप्त काल में न केवल इनका निर्माण कार्य जारी ही रहा वरन इनका चरम विकास भी हुआ। बौद्धों और जैनियों की भाँति ब्राह्मणों ने भी पर्वतों में गुफाओं को खुदवाया और उनमें साधुओं के निवास की व्यवस्था की। सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में ग्वालियर राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी। गुफाओं में सुन्दर चित्र कभी कभी बना दिये जाते थे। बाघ और अजन्ता की जगद्विख्यात चित्रकारी गुफाओं में ही खींची गई है।

भारतीय वास्तु कला के इतिहास में गुप्तों के शासन ने एक नये युग का आविर्भाव किया। गुप्त युग के पूर्व के भवन अधिकांशतया बाँस और काष्ठ जैसी शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तुओं से बनाये जाते थे जिससे वास्तु को एक कला का रूप नहीं प्राप्त हो सका। परन्तु गुप्तकालीन निर्माताओं ने एक नये दृष्टिकोण से प्रेरित होकर सुन्दर वस्तुओं पत्थर और ईंटों से भवनों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया। वास्तु के क्षेत्र में गुप्त-युग की उपलब्धियाँ निस्सन्देह अद्भुत और प्रशंसनीय हैं। इस काल में न केवल विशाल और भव्य मन्दिर ही बनवाये गये वरन मन्दसोर के अभिलेख से पता चलता है कि इस काल में अत्यन्त गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त कई वमनशाला नगर भी विद्यमान थे। गुप्त कालीन साहित्य में भी प्रभाव उत्पन्न करने वाले उच्च और शानदार महलों का उल्लेख किया गया है। परन्तु काल के प्रवाह में दुर्भाग्यवश आज उनके अवशेष भी नहीं प्राप्त होते। पर प्रकृति के विध्वंसात्मक तत्वों और बर्बर आक्रमणकारियों के विनाशक हमलों से गुप्तकालीन वास्तुकला के जो नमूने आज भी बच रहे हैं उनसे ही इस काल की तत्सम्बन्धी प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुप्त काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया। इस समय के बचे हुए प्रमुख मन्दिरों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं —

(१) जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में विष्णु मंदिर
(२) नागौद राज्य में भुमरा का शिव मंदिर

(३) बोधगया के बौद्ध मन्दिर
(४) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर
(५) आसाम के दरंग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर दह पर्वतिया नामक स्थान में एक मन्दिर मिला है जो काफी जीर्ण दशा में है परन्तु कला की दृष्टि से यह मन्दिर काफी उत्कृष्ट है तथा—
(६) नागोद राज्य में भूमरा नामक स्थान में एक शिव मन्दिर भी मिला है।

इन उपर्युक्त मन्दिरों के अतिरिक्त पक्की ईंटों द्वारा निर्मित मन्दिर भी थे। भिटारगाँव का मन्दिर और पहाड़पुर तथा मध्यप्रान्त के सिरपुर के मन्दिर ईंटों द्वारा ही बनाये गये हैं। इन समस्त मन्दिरों में देवगढ़ तथा भिटारगाँव के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। ललितपुर जिले में पत्थर का बना हुआ देवगढ़ का मन्दिर तथा कानपुर के निकट ईंट चूने का बना हुआ भितरगाँव का मन्दिर अपनी दीवारों पर उत्कीर्ण कलाकृतियों सहित गुप्त स्थापत्य और शिल्प के श्रेष्ठ नमूने प्रस्तुत करते हैं। बोधगया का महाबोधि मन्दिर भी इसी युग की मन्दिर निर्माण कला का एक अनुपम नमूना है। भितरगाँव के मन्दिर की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि इसमें एक अच्छे ढंग का शिखर है जो कि भारत की भवन निर्माण कला में प्रयुक्त शिखर का प्राचीनतम उदाहरण है। गुप्तकाल की भवन निर्माण कला में सुन्दर सजावटों से अलङ्कृत स्तम्भों का एक विशेष स्थान है।

मूर्ति कला—जैसा कि हम पीछे कह आये हैं गुप्तकालीन मूर्ति कला पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। इस युग में गुप्त युग कला के पुनर्जीवन का नया दौर परमानन्द तथा प्रस्फुटन का काल था।[1] इस सम्बन्ध में डॉ० आर० सी० मजूमदार का कथन है—

"With the Gupta period we enter upon the classical phase of Indian sculpture By the efforts of centuries of technique of art were perfected definite types were evolved and ideals of beauty were formulated with precision There was no more groping in the dark and no more experiments A thorough intelligent grasp of the true aims and essential principles of art a highly developed aesthetic sense and a masterly execution with steady hands produced those remarkable images which were to be the ideal and despair of succeeding ages The Gupta sculptures not only remained models of Indian art in all times to come but they served as such in the Indian colonies in the Far East The sculptures of the Malay Peninsula Sumatra Java Annam Cambodia and even Ceylon bear the unmistakable stamp of Gupta art" डॉ० कुमारस्वामी का कथन है कि "गुप्तकालीन कला का स्वरूप आध्यात्मिक विचार जगत की चरमोन्नति का प्रदर्शन करता है—जिसमें अद्भुत रीति से विरुद्ध आकार तथा इन्द्रिय ... ।[2]

---

[1] In Advanced History of India (Part I) p. 2..
[2] देखिए Indian Sculpture and Painting p. 10.

गुप्त युगीन मूर्तिकला की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि इसमें शारीरिक अभिव्यक्ति को प्रधानता न देकर आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति को प्रधानता दी गई है। इस बात में गुप्त कला गान्धार की मूर्तिकला के नितान्त विपरीत है। गुप्त युग में मूर्ति निर्माण की जिस बौद्ध कला का विकास हुआ वह नितान्त रूपेण भारतीय है। हैवल महोदय ने ठीक ही लिखा है कि उस समय भारत पराधीनता की स्थिति में नहीं था वरन् समस्त एशिया का गुरु था और उसने पाश्चात्य भावों को उधार लिया, केवल अपनी विचार प्रणाली के अनुकूल उनको बदल लेने के लिए। Ind a was not then in a stato of pupillage but the teacher of all Asia and she borrowed western suggations to mould them to her own way of thinking मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित एक सजीवाकृति बुद्ध प्रतिमा गुप्त काल के आध्यात्मिकतामयी मूर्तिकला का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। इस मूर्ति में जिस मानसिक सन्तुलन और आध्यात्मिक सन्तुष्टि की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है वह यह सिद्ध करता है कि इसके निर्माता का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था और वह शरीर पर आत्मा की विजय प्रदर्शित करना चाहता था। मथुरा की मूर्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त युग की मूर्तिकला विदेशी प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो चुकी थी। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा जिसमें भगवान तथागत बैठे हुए उपदेश देने की मुद्रा में प्रदर्शित किये गये हैं भारत की मूर्ति कला के उत्तम नमूनों में से एक है। सारनाथ की प्रतिमा की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति प्रशान्त मुस्कराहट तथा गम्भीर विचारपूर्ण मुद्रा भारतीय कला की उच्चतम सफलता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अनुसर शान स मधुर और निर्लिप्त भाव में बैठे हुए भगवान् बुद्ध एक दैवी आभा विकीर्ण कर रहे हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर कठोर अनुशासन के साथ स्नेह से युक्त करुणा, आत्म विश्वास तथा निस्सीम आध्यात्मिक आनन्द के भाव विद्यमान हैं। इन दो उदाहरणों से भारतीय कला की विशेषता का बोध होता है। पाश्चात्य कला में शारीरिक अवयवों की मांसलता और पुष्टता को प्रकट करने पर अधिक ध्यान दिया जाता था, मुखमण्डल पर मनोगत भावों की अभिव्यक्ति का इसमें एकान्त अभाव था। इस विषय में स्वर्गीय श्री गौरीशंकर चटर्जी का कथन है "वास्तव में भारतीय कला तथा पाश्चात्य कला के बीच मुख्य भेद यह है कि भारतीय कला सौन्दर्य के नियमों की मर्यादा की रक्षा करती हुई किसी पदार्थ के आन्तरिक भाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है। भारतीय कला स्वभाव का यथातथ्य अनुकरण मात्र नहीं करती थी और न वह प्रकाश अथवा छाया के कलापूर्ण प्रदर्शन मात्र करके सन्तुष्ट रहती थी। भारतीय कला का उद्देश्य भारतीय साहित्य की भाँति पाठक के हृदय में विभिन्न प्रकार के भावों को उत्पन्न कर विभिन्न रसों से चित्त को भरना था। उसका उद्देश्य केवल मनोरञ्जन करना नहीं बल्कि भावावेश उत्पन्न करना था जिसमें कोई व्यक्ति अपने को कुछ समय के लिए अर्द्धचेतनावस्था में लय कर देता था। उसे हम रसानुभूति कह सकते हैं। उत्तम कला की कसौटी की परीक्षा इसी बात से होती है कि उसमें रसानुभूति को बढ़ाने की कितनी शक्ति है।"[1]

स्वर्गीय चटर्जी महोदय ने कुमार स्वामी के कथन को उद्धृत किया है "गुप्तकाल की शिल्प कला और चित्रण कला निस्सन्देह प्रगाढ़ आध्यात्मिकता से युक्त है।"

---

[1] हर्षवर्धन पृष्ठ ४०९।

किन्तु यह आध्यात्मिकता समाज के विरुद्ध नहीं है। इस आध्यात्मिकता का जीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित है। इस कला का आधारभूत विषय निस्सन्देह धार्मिक है किन्तु इस विषय के प्रतिपादन में आध्यात्मिक भावना और जीवन के अनुभव तथा तथ्यपूर्ण बातें सब एक सुसंगत समष्टि के अन्तर्गत हैं।

हमने कुमारस्वामी के इस कथन का कुषाण कालीन संस्कृति के अध्याय में उल्लेख किया है कि गुप्तकालीन मूर्ति कला का उद्भव मथुरा की तक्षण कला में है और गुप्त कला मथुरा की कला शैली का एक नितान्त विकसित रूप प्रदर्शित करती है। गुप्त कला में सौन्दर्य, मानवता और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर समन्वय है। मथुरा की कला की ऐन्द्रिय परकता के स्थान पर गुप्त कला में आध्यात्मिक भावों की अभिव्यञ्जना है। मथुरा कला में हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाले सौन्दर्य का अभाव है जब कि गुप्त काल की स्थापत्य कला इस प्रकार के कलागत सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

गुप्त काल में बौद्ध कलाकारों ने तथागत की प्रतिमायें बनाईं तो हिन्दू कलाकार भी अपने इष्टदेवों की मूर्तियों के निर्माण में उनसे पीछे न रहे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार से शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। खोह की शिवलिंग प्रतिमा ने इस काल की हिन्दू कला का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। इस युग के हिन्दू कलाकारों ने शंकर के अर्धनारीश्वर रूप की प्रतिमा का निर्माण बड़े ही कौशल से किया। मथुरा में प्राप्त विष्णु की प्रतिमा में भी सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा की भाँति एक स्वर्गीय सन्तुष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक ध्यान मुद्रा के दर्शन होते हैं। उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति गुप्त-कालीन कलाकार की प्रतिभा का एक सुन्दरतम नमूना प्रस्तुत करता है। सूर्य, दुर्गा, स्वामि-कार्तिकेय आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी इस काल में बनाई गई थीं। गुप्त काल की मूर्ति कला सजीवता, आध्यात्मिकता, सुघड़ता, सौन्दर्यपूर्णता और सुरुचिसम्पन्नता में अपना सानी नहीं रखती।

चित्र कला—भारत के साहित्य में चित्रकला के उल्लेख प्रचुरता में प्राप्त होते हैं। संस्कृत के काव्यों और नाटकों में शायद कुछ ही ऐसे होंगे जिनमें चित्रकला या चित्रों का जिक्र न किया गया हो। परन्तु गुप्त काल में ही हम चित्रकला के नमूने मिलने लगते हैं। यह एक विस्मय की बात है कि परवर्ती युगों की चित्रकला के नमूने भी हमें नहीं प्राप्त होते। गुप्त-काल की चित्रकारी के नमूने हमें अजन्ता और बाघ की कन्दराओं के भित्ति चित्रों में प्राप्त होते हैं।

से देखने तथा उनके जीवन को समझने का प्रयास किया। प्रकृति के साथ साथ उस समय का जीवन भी अजन्ता के चित्रों में मुखर हो उठा है। अजन्ता के चट्टान निर्मित मन्दिरों की सहस्रों दीवालों और उनके मण्डपों स्तम्भों पर हमारे नेत्रों के सम्मुख एक विशाल नाटक होता हुआ दिखाई पड़ता है। यह नाटक एक आश्चर्यजनक रूप से विभिन्नतापूर्ण दृश्य की पृष्ठभूमि में वनों व उद्यानों के बीच, राजसभाओं और नगरों चौड़े मैदानों तथा गहन कान्तारों में होता है जब कि स्वर्ग के दूत आकाश में सवेग घूमते हैं। इस नाटक को राजकुमार तथा साधुगण और योद्धा तथा प्रत्येक स्थिति के स्त्री पुरुष अभिनीत करते हैं। इन समस्त (चित्रों) से संसार के रूप की चमक के प्रति, स्त्री पुरुषों की शारीरिक उत्कृष्टता के प्रति पशुओं की शक्ति तथा कोमलता के प्रति और पक्षियों तथा फूलों की लावण्यता एवं विशुद्धता के प्रति एक महान आनन्द विस्मृत होता है और इस भौतिक सौंदर्य के ताने बाने में हम सृष्टि के आध्यात्मिक मूल्यों के व्यवस्थित रूप को बुना हुआ देखते हैं।[1] एक अन्य लेखक ने भी लिखा है कि अजन्ता के दरीओं की दीवालों तथा खम्भों द्वारा एक महानाटक की पृष्ठभूमि का निर्माण होता है। अभिनेता गण हैं राजकुमार वीरपुरुष सामान्य नर-नारी जो सभी जीवन के आनन्द से परिपूरित हैं।[2]

अजन्ता के कतिपय चित्रों की प्रभावोत्पादकता और अभिव्यक्ति सर्वथा प्रशंसनीय है। मरणासन्न राजकुमारी' चित्र की भावाभिव्यक्ति इतनी गम्भीर है कि इसे देखकर चित्त प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अनेक कलाविदों ने इस चित्र की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। एक कलाविद का कथन है For pathos and sentiment and the unmistaken way of telling its story this picture I consider cannot be surpassed in the history of art The Florentine could have put better drawing and the Venetian better colour but neither could have thrown greater expression on it माता-पुत्र नामक चित्र भी अजन्ता की चित्रकला का अद्भुत नमूना है। अजन्ता की चित्रकारी में जुलूसों के दृश्य भी बड़े ही रमणीय तथा चित्ताकर्षक

---

[1] On the hundred walls and pillars of these rock caved temples a vast drama moves before our eyes a drama played by princes and sages and heroes by men and women of every condition against a marvellously varied scene among forests and gardens in courts and cities on wide plains an in deep jungles while above the messengers from heaven move swiftly in the sky From all these emanates a great joy in the surpassing radiance of the face of the world in the physical nobility of men women in the strength and grace of animals andthe loveliness and purity of birds and flowers and woven into this fabric of material beauty we see the ordered pattern of spiritual values of universe —Rothenstein

[2] Th walls and pillars of the Ajanta Caves constitute the back screen of a vast drama The dramatic personal are heroes princes ordinary men and women all of whom are imbued with the joy of creation

है। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रों में 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र बड़ा स्वाभाविक और प्रभावशाली है। इस चित्र के विषय में भगिनी निवेदिता कहती हैं "यह चित्र सम्भवतः भगवान बुद्ध का सबसे महान कल्पनात्मक चित्रण है जिसे संसार ने आज तक उत्पन्न किया है। ऐसी अद्वितीय कल्पना पुनः उत्पन्न नहीं की जा सकती।"

अजन्ता के चित्रों की जितनी अधिक प्रशंसा की जाय थोड़ी है। श्रीमती हरिंघम का कथन है कि अजन्ता के चित्रों के कारण भारत मानवता की श्रद्धा का अधिकारी है। एक अन्य महिला कला विशारद का कथन है, कि अजन्ता की कला भारत की सर्वोत्कृष्ट कला है। चित्रों की सुन्दरता अद्वितीय है और वे भारतीय चित्र कला के चरम उत्कर्ष हैं। अजन्ता के चित्रकारों की कला निपुणता बड़ी आश्चर्यजनक है। एक विद्वान के शब्दों में, विभिन्न भाव भंगों को बिना किसी अधिक परिश्रम के मनोहर रूप में अभिव्यक्त करने में चित्रकार बड़े पारंगत थे। स्वाभाविकता लालित्य तथा यत्नता की अभिव्यंजन इस कला की अपनी विशेषतायें हैं। अजन्ता के चित्रकार बड़े प्रतिभाशाली थे उनकी चित्रकारी इतने उत्कृष्ट दर्जे की थी कि वास्तव में उसकी कोई अनुकरण नहीं कर सकता। रूप मद तथा हाव भाव सम्बन्धी उनका ज्ञान तथा भावभंगी पर उनका अधिकार वस्तुतः आश्चर्यजनक है। हाथों की सुन्दरता तथा मानव शरीर के रूप सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का चित्रण इतनी कुशलता के साथ किया गया है कि आधुनिक चित्रकार उसके सामने अपनी अभिज्ञता पर निराशा प्रकट करते हैं। इन चित्रकारों में केवल दैवी प्रेरणा ही नहीं थी प्रत्युत वे बड़े विद्वान भी थे। उन्होंने शरीर-तत्त्व (अस्थि-संस्थान) तथा मुद्राओं का प्रगाढ़ अध्ययन कर उसमें पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ली थी।

संगीत—चित्रकला की भाँति संगीत का भी भारतीय साहित्य में प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। गुप्त-काल के साहित्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस समय गायन, वादन तथा नर्तन तीनों संगीत के विभिन्न रूप थे और तीनों ही का समाज में प्रचलन था। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों से पता लगता है कि उसकी वीणा वादन में बहुत अधिक अभिरुचि थी और प्रयाग प्रशस्ति में तो उसे अपने वीणा-वादन से नारद एवं तुम्बरू को लज्जित करनेवाला बतलाया गया है। गुप्तकाल के कतिपय साहित्य ग्रन्थों से ऐसा संकेत मिलता है कि संगीत की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। समाज में नृत्य का भी काफी प्रचार था। अभिजात कुलों की नारियाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस काल की गणिकायें संगीतादि ललित-कलाओं में बड़ी निपुण होती थीं।

मुद्रा निर्माण कला—यूनानियों से मुद्रा निर्माण-कला सीखकर गुप्तों के शासन काल में भारतवासियों ने इसको एक राष्ट्रीय कला का रूप प्रदान किया और इसे उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। गुप्त सम्राटों ने कलापूर्ण सुवर्ण मुद्रायें चलाई। उनकी मुद्राओं की आकार प्रकार की विभिन्नता इस कला की समृद्ध अवस्था का संकेत करती है। गुप्त सम्राटों के सिक्के निर्माण-कुशलता तथा रुचि की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन पर स्पष्ट अक्षरों में लेख उत्कीर्ण हैं। अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति' आदि काव्यात्मक रूपों को सिक्कों पर उत्कीर्ण कराना गुप्त सम्राटों की मौलिक सूझ थी।

२३ | गुप्तकाल भारत का स्वर्ण युग

गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल स्वीकार किया जाता है। गुप्तकाल को ऐसी विशिष्ट उपाधि से विभूषित करना यथार्थतः युक्तिसंगत बात है। स्वर्णकाल में हम वर्णों की सर्वोपरि आभा, सर्वोपरि आकर्षण एवं सर्वोपरि चमक स्पष्ट पाते हैं जैसी कि स्वर्ण धातु में परिलक्षित होती है। स्वर्ण समस्त धातुओं में अनुपम स्थान रखता है। इसकी बहुमूल्यता एवं उपयोगिता सर्वविदित है। गुप्तकाल में देश ने सर्वांगीण प्रगति की थी। समाज, राजनीति एवं कला का शायद ही कोई पक्ष था जिसमें भारत की महान प्रतिभा का साक्षात्कार न हुआ हो। अनेक प्रतापी राजाओं ने अपनी गौरवशाली विजयों से दिग्-दिगन्त में भारतीय पताका फहराई थी। देश ने पहली बार चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना का साकार रूप देखा था। भारत की सीमाओं से परे विदेशों पर भी हमारी एकछत्र सत्ता स्थापित थी। दक्षिण पूर्व एशिया भारतीय संस्कृति की सभ्यता पर न्योछावर हो गया था। संस्कृति की धर्म विजय तथा शस्त्रों की असुर विजय दोनों क्षेत्रों में हमारी विशिष्टता का निर्देश किया गया था। साहित्य के क्षेत्र में कालिदास की कालिन्दकंठी मुरली की तान देशवासियों को बसुध बना रही थी। कवि कुलगुरु की उपस्थिति ने साहित्यकारों के जीवन में एक नव रस का संचार किया था। साहित्यकारों एवं साहित्य प्रेमियों का ऐसा जमघट हम कदाचित किसी के किसी अन्य युग में दृष्टिगोचर हो। अजन्ता की अमर चित्रकारी भी इसी युग की देन है। यदि हम यह कहें कि आधुनिक भारत में जो कुछ आज अवशिष्ट है उसमें गुप्तकाल का अंश गरुतर है तो अत्युक्ति न होगी। स्वतन्त्र स्वर्ण एवं स्वभाषा की भावना की मूर्त रूप देने वाले इसी काल के सम्राट थे। देश को विदेशियों से विमुक्त कर ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म बना एवं संस्कृत को राष्ट्र भाषा का गौरव प्रदान कर जिस त्रिवेणी की धारा को उन्होंने बहाया था वह आज भी भारतीय मानस के लिए श्रद्धा का पात्र है। अब हम विस्तार से गुप्तकाल की गरिमा का मूल्यांकन करें। इस मूल्यांकन पर ही हम यथार्थ रूप से गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्टता का निगमन कर सकते हैं।

गुप्तकाल प्रतापी राजाओं का काल—गुप्तकाल की सर्वोपरिता का सबसे कारण है—महान सम्राटों का इस युग में पदार्पण होना। इन्हीं महान् सम्राटों की विशिष्ट क्रियाओं ने देश को उस सम्मान्य स्थान पर पहुँचाया जिसके लिए अन्य देशवासी स्पृहापूर्ण नेत्रों से निहारते हैं। सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय से इस परम्परा का उद्घाटन किया था जिसके अनुयायी उसके परवर्ती वंशज बने। उत्तर के आर्यावर्त राज्यों को अपने में समायोजित कर उन्हें अपने विशाल साम्राज्य का अंग बनाया। इस राजनीतिज्ञ ने दक्षिणापथ के राज्यों को परास्त कर उनके राज्यों को पुनः उन्हें लौटा कर सफल नीतिज्ञ होने का परिचय दिया। तत्कालीन परिस्थितियों में देश के इतने दूर के क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित करना बड़ी कठिन बात था। संचार व्यवस्था एवं आवागमन के साधनों के अभाव में हर समय विप्लव एवं विद्रोह की सम्भावना बनी रहती। यह समस्या समुद्रगुप्त के लिए सबसे कठिन सरदर्द का कारण बनी

नरेश ने स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वभाषा की भावना को प्रतिष्ठित किया था। भारतीय भूभाग से विदेशी जातियों जैसे शकों एवं हूणों को मार भगाया। देश में पूर्णतया भारतीयता का प्रतिस्थापन करके इस नरेश ने 'शकारि' की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य की उपाधि भी उसके वास्तविक शौर्य एवं पराक्रम का प्रतिबिम्बन ही करता है। सिन्धु नदी के सात मुहानों को पार कर मध्य एशिया में भी इस सम्राट का विजय-दुन्दुभी बज रही थी। देखिए मेहरौली के स्तम्भ अभिलेख में इस घटना का वर्णन— 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका'। दक्षिण भारत में भी इस सम्राट का प्रभाव अनिर्वचनीय रूप में स्थापित था। दक्षिण भारत के नरेश सम्राट की महत्ता एवं सर्व प्रभुता सम्पन्नता का सत्कार करते थे। देखिए प्रशस्तिकार के मधुर शब्दों में—

'यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण '

सम्राट चन्द्रगुप्त ने भारतीय भूमि पर अपनी सार्वभौमिक शक्ति का विविध रूपों में परिचय दिया है। ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म का रूप देने वाला यह परम भागवत था। संस्कृत को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करानेवाला एवं कवियों का संरक्षक था। इस सम्राट के पश्चात् सम्राट स्कन्दगुप्त ने सिंहासन की परम्परा को निभाया। उसने उन हूणों को भीषण संग्राम में मार गिराया जिनके पदचाप से पृथ्वी काँपती थी, जिन्होंने मध्य एशिया तथा यूरोप के क्षेत्रों में विनाश का ताण्डव नृत्य किया था, जिनकी बर्बरता, क्रूरता एवं अत्याचार की कहानियों ने लोकगाथाओं का रूप लिया है। ऐसी ही आततायी जाति की भी हिम्मत पस्त करने वाला, उनके कदमों को अवरोधित करनेवाला और यहाँ तक कि भारतीय भूमि से उन्हें बाहर ढकेलने वाला भारत माँ का लाल स्कन्दगुप्त ही था। उसके इस अप्रतिम पराक्रम का उल्लेख भितरी के शिलालेख में प्राप्त होता है—

× × ×

'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।'

युद्ध की विभीषणता का आभास तो उस समय हमें होता है जब हम यह पाते हैं कि इस महान् सम्राट ने भारतीय वसुन्धरा को सुरक्षित रखने के लिए नंगी धरती पर ही सोकर अपने सेना की प्यास मिटाई। कितना साहस, कितना त्याग, कितना रणकौशल्य एवं कितना देश प्रेम—यह सब स्कन्दगुप्त के चरित्र में परिलक्षित होते हैं।

यह इन सम्राटों की ही योग्यता थी कि किसी विदेशी ने भारत की भूमि पर टेढ़ी दृष्टि करने का साहस नहीं किया। भारत की जनता ने स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता

के वातावरण में पनप कर अपनी अलौकिक शक्ति एवं प्रतिभा का जो चमत्कार दिखाया है वह क्या भुलाये जाने योग्य है। गुप्त सम्राट भारतीय राजनैतिक आकाश के वे नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश कभी भी क्षीण नहीं पड़ता। इन नक्षत्रों की प्रदीप्ति के सम्मुख अन्य तारागण निस्तेज से जान पड़ते हैं।

राजनैतिक एकरूपता का युग—भारत की प्राकृतिक एवं भौगोलिक व्यवस्था कुछ ऐसी है कि देश में एक शासन व्यवस्था एवं प्रभुत्व की स्थापना करना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। प्रागैतिहासिक युग से बीसवीं शताब्दी तक यही प्रयास होते आये हैं कि भारत को कैसे एक इकाई में पिरोया जाये? कैसे भारतीय राष्ट्र में एक राष्ट्रीयता की सद्यः फूंकी जाय? कैसे देश की विघटनकारी प्रवृत्तियों को कुचला जाय? इन सब का कारण यह है कि भारत के विस्तृत भूभाग में विभिन्न सामाजिक-व्यवस्थायें हैं, विभिन्न भाषायें हैं, विभिन्न धार्मिक प्रथायें हैं—विभिन्नताओं की कोई कमी नहीं है। गुप्तकाल के सम्राट अपने देश की इस विचित्र परिस्थिति से अवगत थे। अतएव उन्होंने देश में राष्ट्रीयता की भावना को बल देने का अथक प्रयास किया और महत्वपूर्ण एकरूपता स्थापित करने की दिशा में अपना पग बढ़ाया। देश में से विदेशियों का निकाल कर स्वदेश की भावना से उन्होंने भारतीयता के मन्त्र को पुष्पित पल्लवित किया। भारत भारतीयों का है इससे राष्ट्रीय एकता की भावना को काफी बल मिला। देश में एक धर्म का प्रचार कर ब्राह्मण धर्म को राष्ट्रीय धर्म बना देश में धार्मिक एकता की स्थापना में उन्होंने महत्वपूर्ण योग दान किया। धार्मिक एकता का राष्ट्रीय जीवन में बड़ा ही उत्कृष्ट स्थान होता है—इससे गुप्त सम्राट भली भाँति परिचित थे। देश में विभिन्न भाषाओं के होने से देश के लोगों में परस्पर आदान प्रदान करने में एक दूसरे को समझने में बड़ी कठिनाई होती है अतएव संस्कृत को राष्ट्र भाषा बना गुप्त सम्राटों ने भाषा की एकता की स्थापना में बहुमूल्य सहयोग दिया।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण देश की एकता तो राजनैतिक एकता होती है। समुद्रगुप्त ने इसी आशय को दृष्टिगत कर विभिन्न अभियान किये थे। उसने अपने अभियानों से अंत में पूर्ण भारत में अपनी सार्वभौमिक प्रभुता की स्थापना कर दी और भारत के प्रत्येक छोटे छोटे नरेश अब सम्राट की सहानुभूति की अपेक्षा करने लग गए। देश को एक राजनैतिक इकाई में पिरो कर इस सम्राट ने भारत का अपूर्व कल्याण किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य को सुगठित ही किया। उसने सब अर्थों में भारतीय एकीकरण को मूर्त रूप प्रदान किया था। उसका साम्राज्य हिमालय पर्वत से लेकर कन्याकुमारी तक एवं अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक माना जाता था यदि हम उसे भारतीयता का अग्रदूत कहें तो उचित ही होगा। स्कन्दगुप्त एवं कुमार गुप्त ने अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित रखा। लेकिन यह राजनैतिक एकता अधिक समय तक टिक न सकी। गुप्त सम्राटों का प्रभावकारी हाथ जैसे ही उठा विघटनकारी शक्तियों ने अपने सर उठाने प्रारम्भ कर दिए। विदेशी आक्रमणकारियों के सीमातिक्रमण पुनः प्रारम्भ हुए। देश के विभिन्न भागों में विभिन्न राजवंशों की प्रतिष्ठापना हो गई। कन्नौज में मौखरिवंश ने शासन सूत्र सम्भाला थानेश्वर में वर्धनवंश शक्तिशाली हो गया। वल्लभी ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। मालवा भी अपनी सीमित सीमायें लिए उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार देश में राजनैतिक एकता का सूत्र शिथिल पड़ गया और भारतमाता की आत्मा फिर से गुप्तकाल जैसे वीरों की आशा में खो गई।

आर्थिक समृद्धि का युग—गुप्तकाल जनता की आर्थिक समृद्धि का युग भी था। गुप्तों ने जनता के पुत्रवत् समझ कर उनके दुःखदर्द को दूर करने का भरसक प्रयास किया था। अपराधों की संख्या पर्याप्त कम हो गई थी। फाहियान ने देश के धन परिपूर्ण होने का उल्लेख किया है। जन-जीवन के उच्च नैतिक गुणों को देखकर वह मोहित सा हो गया था। उसने देश के विभिन्न भागों में यात्राएँ की थीं लेकिन कहीं भी किसी डाकू या चोर के दर्शन उसने नहीं किये। इस प्रकार इस यात्री के वर्णन ने तत्कालीन सुख समृद्धि को पर्याप्त प्रतिबिम्बित किया है। कालिदास ने इन्हीं शासकों की सुख शांति एवं श्रेष्ठ व्यवस्था को इंगित कर लिखा था—

यस्मिन् महीं शासति वणिनानां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि कोलम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥

इस प्रकार विभिन्न प्रशस्तियों के विवरणों—रघुवंश—से हम तत्कालीन भौतिक जीवन की समृद्धि का आभास होता है।

धार्मिक सहिष्णुता—विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर मेल एवं एकता रहना राज्य की शांति के लिए अनिवार्य तत्त्व होता है। धार्मिक विद्वेषों की उपस्थिति से राज्य या राष्ट्र का सर्वाङ्गीण उन्नति होना कठिन बात होती है। सुधारक शासन मुख्य कार्य होता है—विविध धर्मों के उपासकों में परस्पर भ्रातृ भाव का संचार करना। उनमें एक दूसरे को समझने की एवं दूसरे के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना। शासकों को भी अपने आदर्श से यह तथ्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। प्राचीन भारत को इस बात पर गर्व है कि उसके समय के शासकों ने कभी भी धर्म प्रवर्धन की धार्मिक कट्टरता की नीति का अवलम्बन नहीं किया। धर्म को सदैव व्यक्तिगत हित की बात माना गया है। गुप्त नरेशों ने इसी प्राचीन भारतीय परम्परा की श्रृंखला में एक कड़ी और जोड़ी थी। धर्म के नाम पर अत्याचार एवं अनाचार करना उनको छू तक नहीं गया था। यद्यपि स्वयं वे ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। अपने को परम भागवत लिखने में अपना गौरव समझते थे। साथ ही साथ उन्होंने इस धर्म के विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों को भी बड़े उत्साह से सम्पन्न करवाया था। उन्होंने अनेक भव्य एवं वैष्णव मंदिरों का भी निर्माण करवा कर इस धर्म के प्रति अपना सहज झुकाव प्रकट की था। ब्राह्मण धर्म के प्रति इतनी आस्था होने पर भी उन्होंने कभी भी स्वप्न में यह न सोचा था कि अन्य धर्मानुयायियों को बलात् ब्राह्मण धर्म में प्रविष्ट करवाया जाय। जहाँ हम एक ओर इस प्रकार की धार्मिक उदारता के दृष्टांत पाते हैं वहीं दूसरी ओर हमारे सम्मुख ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ विधर्मियों की हत्या करना परलोक प्राप्ति के लिए आवश्यक अंग माना गया था। औरंगजेब की अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति जिस प्रकार का क्रूर दृष्टिकोण था उससे विश्व भलीभाँति परिचित है। क्वीन मेरी का प्रोटेस्टेंटों के प्रति नृशंसता क्या कोई भूला सकता है। परन्तु गुप्तवंश के सम्राटों ने तो अत्याचार करने की बात तो दूर रही—अपनी बौद्ध एवं जैन प्रजा के साथ पक्षपात तक का व्यवहार नहीं किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक सेनापति बौद्ध था। साँची शिलालेख में बौद्धअम्रकार्दव द्वारा एक गाँव तथा २५ दीनार भेंट में दिए जाने का उल्लेख है। कुमारगुप्त के शासनान्तर्गत बुद्धमित्र नामक एक बौद्ध ने महात्मा बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में जैन धर्म के एक अनुयायी ने आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना की थी। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है, कि गुप्तकाल

धार्मिक सहिष्णुता का युग था। प्रत्येक धर्मानुयायी को अपनी इच्छानुसार अपनी धार्मिक क्रियायें करने की स्वतन्त्रता थी। गुप्तकाल ने धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में भी स्वर्ण की भाँति अपूर्व आभा प्रदर्शित की थी और इस प्रकार स्वर्णयुग की सार्थकता में कोई कसर न छोड़ा।

श्रेष्ठ शासन व्यवस्था का युग—गुप्त सम्राटों के अभिलेखों द्वारा एवं चीनी यात्री फाहियान के यात्रा विवरण द्वारा हमें गुप्तकालीन शासन पद्धति का बहुत कुछ पता लगता है। फाहियान ने गुप्त सम्राटों के शासन प्रबन्ध का जितना आकर्षक चित्र खींचा है उससे तत्कालीन श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का हमें बोध होता है। फाहियान ने लिखा है—

प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। व्यवहार की लिखा पढ़ी और पंच पंचायत कुछ भी नहीं है। लोग राजा की भूमि जानते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायें, चाहें जहाँ रहें। राजा न तो प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थ दण्ड दिया जाता है। बार बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार व सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में न कोई अधिवासी जीवहिंसा करता है न मद्य पीता है और न लहसुन प्याज खाता है। केवल चाण्डाल मछली मारते मृगया करते तथा मांस बेचते हैं।

इन विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तों की छत्र छाया में सम्पूर्ण भारत में 'राम राज्य' की सी सुख शान्ति एवं वैभव विराजमान था। राजा सर्वप्रिय था। प्रजा पर कोई कठोर अंकुश नहीं रखा जाता था और वह शान्ति साधना से अपना काम करता था। समस्त जनता को अपनी स्वतन्त्रता पालन का पूर्ण अवसर दिया गया था। प्रजा नागरिकों के कर्त्तव्यों से पूर्णतया परिचित था। सद्व्यवहार की भावना से परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता वह अपना कर्त्तव्य समझती थी। अपराधों की संख्या काफी कम थी। इस कारण से राजनियमों में भी सरलता थी। देश में सम्पत्ति का अपार भण्डार भरा पड़ा हुआ था। राजा प्रजा की सुख सुविधा को अपना प्रथम कार्य समझता था। सार्वजनिक कार्यों के लिए वह दिन प्रतिदिन व्यस्त रहता था। निर्धन व्यक्तियों को अन्न प्रदान करना एवं वस्त्रों से परिपूरित करना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था। आजकल की भाँति ही उस समय औषधालयों में चिकित्सा निःशुल्क की जाती थी। दमोदर ताम्रपत्र में हमें गुप्तों का शासन-व्यवस्था को बड़ा भव्य रूप देखने को प्राप्त होता है। इस प्रकार उच्चकोटि के शासन विधान में गुप्त कालीन जनता सुख शान्ति से जीवन यापन कर रही थी।

आर्य संस्कृति के पुनरुद्धार का युग—गुप्त नरेश आर्य संस्कृति के महान पोषक एवं अनुयायी थे। आर्य जाति की श्रेष्ठता का उन्हें अभिमान था। उनकी रगों में आर्य सभ्यता का रक्त द्रुतगति से प्रवाहित हो रहा था। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् मूलमन्त्र के अनुष्ठाता गुप्त सम्राट ही थे। उन्होंने आर्य संस्कृति के तीन मूल तत्वों के द्वारा आर्य संस्कृति की स्थापना करने का निश्चय किया था। यह तीन तत्व थे देश भाषा एवं धर्म। इन तीनों तत्वों में आर्यत्व का रंग ला उन्होंने भारत को आर्य बनाने की दिशा में महान पग उठाया था। उन्होंने स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म के नारे लगाये। स्वदेश से उनका तात्पर्य था भारतवर्ष से। भारत को पूर्णतया विदेशी जातियों से विमुक्त कर पूरे देश में भारतीय शासन व्यवस्था के अनुसार शासन करना उनके

पहुँचे नारे का भाव था। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत में स्थित विदेशी राज्यों को नेस्तनाबूद कर दिया था। देश को पूरे रूप से विशुद्ध भारतीय ध्वजा के अन्तर्गत रख इन्होंने 'स्वदेश' की अपनी कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। स्वभाषा के नाते द्वारा वह पुनः संस्कृत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे। बुद्ध एवं महावीर ने लोक भाषा को पुनर्स्थापित कर वह आर्य संस्कृति के इस महत्वपूर्ण तत्व को अपने प्राचीन स्थान पर आरोपित करने के इच्छुक थे। अतएव के पूर्व महात्मा बुद्ध ने ही संस्कृत की श्रेष्ठता का स्वीकार न कर पाली एवं प्राकृत भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया था। महात्मा बुद्ध के इस पग ने देश में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला खड़ा किया। गुप्त सम्राटों के पहिले तक के सभी नरेशों ने पाली एवं प्राकृत में ही अपने अभिलेख निखवाने प्रारम्भ कर दिए थे। इस प्रकार संस्कृत की परमश्रेष्ठता को यह बड़ा भारी आघात था। गुप्त सम्राटों ने अपनी संस्कृति के इस अनिवार्य अंग की अवहेलना समाप्त कर संस्कृत भाषा को राष्ट्र भाषा का स्थान प्रदान किया। उन्होंने संस्कृत के प्रोत्साहन के लिए विविध कार्य किए। अपनी प्रशस्तियाँ संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण करवाईं। मुद्राओं पर भी संस्कृत में छन्दबद्ध लेख लिखवाए। अपने संरक्षण में संस्कृत भाषा के महान विद्वानों को शरण दी। कालिदास, भवभूति आदि इसी युग की उपज हैं। वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति सम्मान प्रकट करने वाले गुप्त सम्राटों ने इन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित विचारों को भी मूर्त रूप में प्रकट करने के लिए अपने अधिकार का उपयोग किया। ब्राह्मण धर्म का ह्रास महात्मा बुद्ध के उत्थान के पश्चात से होना प्रारम्भ हो गया था। मौर्यों के इस धर्म को बाद वाले नरेशों ने प्रश्रय भी नहीं दिया। महाकाव्यों में वर्णित इस धर्म को इस प्रकार राजाश्रय के अभाव में अपने पतन के दिन देखने पड़े। ब्राह्मण धर्म के विभिन्न तत्वों को प्रतिस्थापित करने वाले गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म को भी अपने प्राचीन भव्य आकार में उपस्थित करने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक एवं अन्य परवर्ती नरेशों ने हिन्दू धर्म के मान्य तत्व अश्वमेध यज्ञ द्वारा अपना सार्वभौमिकता प्रकट नहीं की थी। उन्होंने इस प्रकार के अनुष्ठानों की उपेक्षा की थी। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को भी फिर से मजबूत बनाने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों को भूमि दान दिया। मथुरा तथा भूमरा में बड़े शैव एवं वैष्णव मन्दिरों की स्थापना कर इन नरेशों ने परम भागवत की अपनी उपाधि की सार्थकता उद्घाटित की। अश्वमेध यज्ञ के अनुसार अपनी सार्वभौमिकता को प्रकट किया। दिग्विजय का आयोजन किया अर्थात प्राचीन ब्राह्मण धर्म के मुख्य तत्वों को पुनः स्थापित कर देश में आर्य सभ्यता एवं आर्य संस्कृति का जाज्वल्यमान दीपक प्रज्ज्वलित किया। इस दीपक का प्रकाश इतना अधिक प्रस्फुटित हुआ कि आज भी भारत उसी के प्रकाशालोक से आलोकित है।

साहित्य के चरम विकास का युग—भारतीय साहित्य को वर्तमान रूप गुप्त काल में ही प्राप्त हुआ था। वस्तुतः पूर्णतया भारतीय साहित्य गुप्तकाल की देन कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन ग्रन्थों का गुप्तकाल से पूर्व निर्माण हुआ था उन्हें इस काल में ही अपना वास्तविक रूप प्राप्त हुआ था। साहित्य के विभिन्न अंगों में इतनी द्रुतगति से और इतनी अप्रत्याशित उन्नति वास्तव में एक चमत्कार सी प्रतीत होती है। सम्राटों ने इतनी शीघ्रता से क्यों उन्नति की? इसका भी कारण है। साहित्य का विकास तभी सम्भव होता है जब देश पूर्णतया विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित हो—देश में आर्थिक समस्या भली भाँति सुलझ चुकी हो। नरेशों की साहित्य के प्रति रुचि हो। जहाँ तक प्रथम बात का प्रश्न उठता है वहाँ गुप्तकाल के लिए

यह कथन बड़ा ही उपयुक्त लगता है— "भारतेण रजिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।" समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे वीर सम्राटों को पा कौन कैसा गर्व न कर उठता। जिस आत्मा की दृष्टि उन पर पड़ जाती है। गुप्त सम्राटों ने धनधान्य से राष्ट्र को परिपूरित बना लिया था। स्वयं समुद्रगुप्त कवियों का सरताज कहा जाता था। चन्द्रगुप्त के दरबार के नवरत्न तो भारतीय गाथाओं तक में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार के अनुकूल वातावरण को पा किस कवि की कवितामानिनी अपना मोहक शृंगार न करेगी। संस्कृत के महानतम कवि तथा भारतीय शेक्सपीयर को भी इसी काल में उत्पन्न होने का अवसर प्राप्त हुआ था। कविकुलगुरु कालिदास की कीर्ति रूपी कोमल लतिका का प्रस्फुटन गुप्त नरेशों की ही छत्र छाया में हुआ था। एक समीक्षक ने कालिदास की प्रशंसा में कहा है—

"Kalidasa is a name which is the magic wand of India in the history of world's poetic literature"

कालिदास की कृतियाँ विश्व साहित्य की अमर धरोहर हैं। उनके खण्डकाव्य एवं नाटकों की तुलना में सम्भवतः ही कोई अन्य रचना ठहर पाए। कुमारसंभव, मेघदूत, विक्रमोर्वशी, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र विश्वसाहित्य के प्राण हैं। विश्व की सभी सभ्य भाषाओं में इनका अनुवाद हो चुका है।

हरिषेण ने समुद्रगुप्त की कमनीय कीर्ति के वर्णन में अपना काव्यकला का चमत्कार प्रस्तुत किया है। प्रयाग की प्रशस्ति गद्य पद्यात्मक होने के कारण चम्पूकाव्य का एक भव्य एवं प्राचीन आदर्श है। अलंकारों की झनकार प्रत्येक रसिक का मन मोह लेती है। प्रशस्तिकार की शैली में कालिदास से पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। वत्सभट्टि नामक एक अन्य प्रशस्तिकार ने मन्दसौर अभिलेख द्वारा अपने को अमर बना दिया है। कुमारगुप्त के शासनकाल की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने में इस प्रशस्ति का अमूल्य स्थान है। इस काव्य की भाषा बड़ी मंजी, बड़ी ललित है। भाषा सौष्ठव एवं अर्थ गौरव का प्राचुर्य है।

शूद्रक इस काल के प्रधान नाटककार माने जाते हैं। शूद्रक केवल कवि ही नहीं था बल्कि स्वयं एक नरेश था। इसने मृच्छकटिक की रचना की थी। इस नाटक की कविता बड़ी ही सुन्दर एवं रसपूर्ण है। विशाखदत्त भी गुप्तकाल का एक ऐतिहासिक नाटककार था। मुद्राराक्षस को तो कुछ लोग राजनीतिक नाटक की संज्ञा देते हैं। देवीचन्द्रगुप्तम् इसी नाटककार की एक अन्य कृति है। इस नाटक ने प्राचीन भारतीय इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ा है।

सुबन्धु ने संस्कृत में कथा साहित्य का श्रीगणेश किया था। बाण ने इसी लेखक से प्रेरणा ग्रहण की थी। वासवदत्ता इस महान लेखक की रचना थी। श्रव्य एवं दृश्य के इन वर्णन करने से हमें यह प्रतीत होता है कि गुप्तकाल स्वर्ण काल होने के साथ ही साथ सरस युग भी था। सचमुच ही गुप्तकालीन साहित्यिक वातावरण इन कविपुंगवों की सरस सूक्तियों से रसमय तथा स्निग्ध हो गया था। समस्त वायुमंडल काव्यमय हो गया था। इन कवि कोकिलों की सुमधुर वाणी ने तत्कालीन भारतीय काव्योद्यान में अकाल में भी बसंत का प्रादुर्भाव कर दिया था तथा अपनी रसमयी कूक से सब को आनन्द प्लावित कर दिया था। अन्य छोटे छोटे कवियों में वीरसेन, वासुल, रविशान्ति, धातृगुप्ताचार्य एवं भर्तृमेण्ठ, भामह, अमरसिंह आदि थे।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में भी गण्यमान विभूतियों ने गुप्तकाल को सुशोभित किया था। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य की रचना की थी एवं उद्योतकर ने न्यायवार्तिक को अपनी लेखनी से प्रस्फुटित किया था। इन ग्रन्थों में बौद्धों के शून्यवाद इत्यादि सिद्धान्तों का बड़ी बुद्धिमत्ता से खंडन किया है। ब्राह्मण-न्याय को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाला यही सबसे पहला ग्रन्थ है। मीमांसा दर्शन के विषय पर भी गुप्तकाल के समीप भाष्य की रचना की गई थी। इस मीमांसा भाष्य के रचयिता शबरस्वामी हैं। यह दार्शनिक इस दर्शन के प्रामाणिक व्याख्याता माने जाते हैं। गुप्तकाल भारतीय दर्शन के इतिहास में भाष्यकारों का काल है। सांख्य दर्शन में सांख्यकारिका तथा माठरवृत्ति न्याय में वात्स्यायन का न्याय भाष्य और उद्योतकर का वार्तिक वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद का भाष्य एवं मीमांसा दर्शन पर शबर भाष्य भारतीय दर्शन साहित्य के ऐसे अमूल्य रत्न हैं जिनकी रचना के कारण सदा का यह काल भारतीय दर्शन साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

विज्ञान के क्षेत्र में भी गुप्तकाल ने सर्वांगीण उन्नति की। शिल्पशास्त्र ज्योतिष शास्त्र वैद्यक आदि विषयों में युगान्तकारी आविष्कार हुए। मानसार शिल्पशास्त्र का अनोखा लाभदायक ग्रन्थ है। तक्षण एवं वास्तुकला के विषयों का वर्णन जितना इसमें उपलब्ध है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ज्योतिष के क्षेत्र में आर्य भट्ट का नाम लोक प्रसिद्ध है। इसने आर्यभट्टीय नामक पुस्तक की रचना की थी। इस पुस्तक में गणित, कालक्रिया तथा भूगोल का विवेचन प्राप्त होता है। पृथ्वी गोल है एवं अपनी धुरी पर चलती है इस अनुसन्धान का पूर्ण श्रेय इसी विद्वान को है। लल्ल ने इस विद्वान की पुस्तक पर टीका लिखा। वराहमिहिर गुप्त काल का सब प्रमुख ज्योतिषी था। इस विद्वान् ने तीन शाखाओं तन्त्र (गणित) जातक एवं संहिता पर ग्रन्थ रचना की है। इसकी कुछ पुस्तकें इस प्रकार हैं—लघुजातक वृहज्जातक विवाह पटल योगमाया बृहत्संहिता एवं पंचसिद्धान्तिका।

गुप्त काल में अन्य विज्ञानों की भाँति आयुर्वेद शास्त्र ने भी विशेष उन्नति की। नागार्जुन इस युग के महान् अनुसन्धान विशारद थे। इन्होंने रस चिकित्सा का आविष्कार किया। सोना रजत ताम्र आदि खनिज पदार्थों में भी मनुष्यों के रोगों का निवारण करने की शक्ति विद्यमान है इस आश्चर्यजनक सिद्धान्त का पता लगा कर आचार्य नागार्जुन ने इस शास्त्र में क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी। नवनीतक बख्शाली पाण्डु' का आविष्कार है। इस प्रकार गुप्तकाल में हम विभिन्न अन्वेषणों का ज्ञान होता है।

कामन्दक ने चाणक्य की परम्परा का पालन करते हुए राजनीतिशास्त्र पर एक अनुपम ग्रन्थ की रचना इस युग में की। यह ग्रन्थ 'कामन्दकीय नीतिसार' के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि भारत तक ही सीमित नहीं रही थी वरन् सुदूरवर्ती बाली द्वीप में भी उपनिवेश स्थापना वाले भारतीयों ने इस अपना एक प्रधान राजनीति ग्रन्थ माना एवं इस द्वीप की शासन व्यवस्था के लिए इससे प्रेरणा ग्रहण की। इस पुस्तक का अनुवाद कवि भाषा में भी कर लिया गया।

कामशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'वात्स्यायनीय कामशास्त्र' की रचना गुप्त काल ही हुई थी। वात्स्यायन ने जहाँ धर्म, अर्थ एवं मोक्ष विज्ञान का बड़े मनोयोग से अनुशासन किया था वहाँ मनुष्यों के कल्याण के लिए कामशास्त्र की भी सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की।

यद्यपि पुराणों का निर्माण काफी पहले हो चुका था परन्तु उनका अन्तिम संस्कर

रण गुप्तकाल में ही हुआ। इस प्रकार गुप्त काल में ब्राह्मण धर्म की उन्नति के साथ धार्मिक साहित्य का भी उत्थान प्राप्त होता है। गुप्तकाल में कई महत्त्वपूर्ण स्मृतियों की भी रचना की गई थी। याज्ञवल्क्य स्मृति पराशर स्मृति नारद स्मृति बृहस्पति स्मृति कात्यायन स्मृति इसी काल की कृतियाँ हैं। जहाँ ब्राह्मण धर्म का विकास प्रगति से हो रहा था वहाँ बौद्ध धर्म की भी लोकप्रियता में कोई विशेष ह्रास दृष्टिगत नहीं हो रहा था। आचार्य मैत्रेय ने योगाचार सम्प्रदाय की स्थापना की थी और उन्होंने सूत्रालंकार मध्यान्त विभंग धर्मधर्मता विभंग महायान उत्तर-तन्त्र एवं अभिसमयालंकारकारिका नामक ग्रन्थों की रचना की। आचार्य असंग योगाचार सम्प्रदाय के महान ज्ञानी शिष्य थे। महायान सम्परिग्रह प्रकरणआर्यावाचा योगाचार भूमि शास्त्र आदि ग्रन्थ इस विद्वान् की लेखनी से प्रसूत हैं। आचार्य वसुबन्धु हीनयान एवं महायान दोनों सम्प्रदायों के अनुभवी गुरु थे। दोनों सम्प्रदायों पर कई ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है। परमार्थ सप्तति तर्कशास्त्र अभिधर्मकोष महापरिनिर्वाण सूत्र टीका विंशतिका इसी विद्वान की देन है। दिङ्नाग का प्रमाण समुच्चय भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य बुद्धघोष ने विशुद्धि मार्ग की रचना की। इसके अतिरिक्त इतने अन्य दार्शनिकों ने इस काल में अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया था। अतएव साहित्य के प्रत्येक अंग में एक अनुपमता एवं अपूर्वता एवं पराकाष्ठा के हमें दर्शन प्राप्त होते हैं। वस्तुतः गुप्तकाल ने साहित्य जगत में एक अलौकिक प्रकाशवान नक्षत्र को उपस्थित किया है जिसकी आभा कभी भी मन्द नहीं पड़ सकती।

कला की चरमोन्नति का युग—भारतीय ललित कला के क्षेत्र में गुप्त युग की अद्वितीय देन रही है। गुप्त कलाकारों ने अपनी अनमोल प्रतिभा एवं अनुपम कौशल से एक अभिनव युग का सूत्रपात किया है। भारतीय कला क्षेत्र में एक क्रांति सी उत्पन्न कर दी है। गुप्तकालीन भारतीय कला में एक विशिष्टता है एक अपनापन है। सर जान मार्शल (Sir John Marshal) ने भारतीय कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उद्घाटित करते हुए लिखा है कि इस कला में प्राकृतिक चित्रण सादगी एवं धाराप्रवाह मुख्य रूप से प्राप्त होता है। परन्तु गुप्तकालीन कला अधिक सुन्दर एवं अति गम्भीर है। कला के निम्न ६ प्रकार होते हैं—(१) वास्तुकला (२) तक्षणकला (३) मृण्मयी मूर्तियाँ (४) चित्रकला (५) संगीत (६) अभिनय।

वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तयुग ने पर्याप्त उन्नति की थी। अब भी इतने मन्दिरों के उदाहरण उस युग की भव्यता की गवाही दे रहे हैं। भूमरा का शिवमन्दिर नागोद राज्य में जबलपुर इटारसी लाइन पर स्थित है। शेष मन्दिरों के नाम इस प्रकार हैं—

नचना कूथर का पार्वती मन्दिर—अजयगढ़ राज्य में स्थित है।
लड़खान मन्दिर—बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में अयहोल स्थान पर स्थित है।
देवगढ़ का दशावतार मन्दिर—बुन्देलखण्ड के झाँसी जिले में स्थित है।
भिटरगाँव मन्दिर—कानपुर के समीप ईंटों से निर्मित यह एक विशाल मन्दिर है।
तिगवाँ मन्दिर—मध्य प्रदेश में तिगवाँ स्थान पर यह मन्दिर स्थित है।

तक्षणकला के क्षेत्र में भी गुप्तकाल ने परमोन्नति की थी। हिन्दू एवं बौद्ध प्रतिमाएँ अपने भव्य रूप में हमें विभिन्न स्थानों पर दृष्टिगत होती हैं। कलाकारों ने अपनी निर्जीव छेनी से पाषाण को काटकर सजीव मूर्ति उत्पन्न कर दी है। नचना एवं भूमरा

में तक्षणकला के सुन्दर आदर्श प्राप्त होते हैं। सारनाथ के संग्रहालय में गुप्तयुगीन एक बुद्ध प्रतिमा है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मित हास करते हुए भगवान बुद्ध कुछ कहने को उत्सुक हैं। कलाविदों ने पाषाण पर पालिश करने की विचित्र योग्यता प्राप्त की थी। कई प्रतिमाओं पर विशेष रूप से अलंकरण का बाहुल्य प्रकट होता है।

परन्तु गुप्तकाल का स्वर्णयुग के रूप में प्रस्तुत करने वाली ललितकला है चित्रकला। आज भी अजन्ता एवं बाघ की चित्रकारी देख कर दर्शक का चित्त आश्चर्य के सागर में डुबकी लगाने लगता है। इन स्मरणीय एवं भावव्यंजक चित्रों को देखकर गुप्तकालीन चित्रकारों की हस्तकुशलता एवं निपुणता प्रकट होती है। श्रीमती ग्रेबास्का (Grabowska) ने अजन्ता की चित्रकारी के विषय में लिखा है—

'The art of Ajanta is the classical art of India the beauty of the paintings is marvellous and they are the high watermark of Indian painting —*Ancient India and Civilisation*

लारेंस बिनयान (Binyan) ने भी अजन्ता की प्रशंसा में कहा है—

The frescoes of Ajanta have Asia and the history of Asian art the same outstanding significance that the frescoes of Assisi Siena and Florence have for Europe and history of European art Ajanta is the one great surviving monument of the painting created by Budhist faith and fervour —*Ancient Frescoes*

एक अन्य विद्वान् के कथन पर भी दृष्टिपात कीजिए—

Ajanta is to India what Siena is to Italy For the treasures of the cave galleries might be likened to the mediaeval masterpieces preserved in the Tuscan city Gabriel fame referred to the sienese paintings with their golden backgrounds as one long poem of love and the same description applies to the Ajanta frescoes Indian and Italian artists were content to work disinterestedly They gave of their best in the cause of the religion free from ulterior motive of self glorification The frescoes of both Ajanta and Siena teach the virtue of work accomplished in humility unsmirched by strivings after tempestuous novelty

अजन्ता के चित्रों के विषय विविध हैं। परन्तु भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रों का प्राचुर्य है। अजन्ता के चित्रों की सुन्दरता तो सभी को ज्ञात है परन्तु १७वीं गुफा में जो चित्र अंकित है वह चित्रकला की पराकाष्ठा को उद्घाटित करता है। करुणा एवं सहानुभूति का सम्मिश्रण इस चित्र की मुख्य विशेषता है। माता एवं पुत्र भगवान बुद्ध को भिक्षा प्रदान कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है प्रत्येक के अंग अंग से टपक सा रहा है। कलाकार की तूलिका ने जिस सरसता दीनता एवं निर्धनता का प्रदर्शन किया है वह अनुपम है। हैवल (Havell) ने लिखा है—

In its exquisite sentiment comparable with the wonderful madonnas of Giovanni Bellini

Indian Sculpture and Painting

एक अन्य विद्वान के शब्द—

The painting suggests the purity of a mediaeval Italian madonna with her bambino ।

एक अन्य सुन्दर चित्र राजकीय जुलूस का है। तीसरा चित्र हाथियों वाले जलूस का है।

ग्वालियर राज्य में बाघ की चित्रकारी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है यद्यपि अजन्ता की तुलना में इनका महत्व नगण्य है। इस प्रकार चित्रकला में भारत ने अनिीय प्रगति की थी। सगीत एव अभिनय के क्षेत्र में भी भारत ने कम प्रगति नहीं की था। विभिन्न प्रकार का नृत्य कलाओं का विकास हो रहा था। नाटकों को अभिनय द्वारा रगमच पर प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रकार कला के विभिन्न अगों में गुप्तकाल ने महती उन्नति की थी। स्वणयुग की सार्थकता शतप्रतिशत इस पक्ष द्वारा पुष्टि को प्राप्त होती है।

भारतीय सस्कृति के प्रसार का युग—प्राचीन भारतवासी अपनी सस्कृति एव सभ्यता के प्रति अदम्य उत्साह एव जोश की भावना से परिपूर्ण थे। वे देश देशान्तरों में सस्कृति की विजया को प्राप्त करने के लिए गए थे। उनके उत्कट साहस एव अनवरत परिश्रम का ही यह परिणाम है कि आज भी हमारी सस्कृति की पताका एशिया के बहुत बडे भूखड पर लहरा रही है। आज भी यह देश अपने आध्यात्मिक गुरु की ओर निर्देश एव सकेत के लिए निहारा करते हैं। लका इण्डोनेशिया कम्बोडिया चीन कोरिया एव जापान देशों में आज भी हमारी सभ्यता के प्रति आदर एव सम्मान का भावना पाई जाती है।

भारत का इन देशो से आदान प्रदान काफी पहिले से ही चला आ रहा था। ईसा पूर्व की शताब्दियो में ही भारतवासी अपनी अपूर्व विजयो को इन देशों की जनता के हृदयो पर प्राप्त करने के लिए उत्सुक हुए थे। इसका उल्लेख रामायण तथा पुराणों में प्राप्त होता है। भारतीय सस्कृति के प्रसार के पूर्व इन देशों का सीना व्यापार होता था। धीरे धीरे इन व्यापारियो ने अपने निवास स्थान इन विभिन्न क्षेत्रों पर बनाए और इस प्रकार भारतीय सस्कृति के सम्पर्क में यहाँ के मूल निवासी आए और उन्होंने इस सस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकार कर उसका आलिंगन किया।

गुप्तकाल में विशेष रूप से इन विदेशो से अधिक सम्बन्ध बढा। इसका कारण स्पष्ट है। भारतवासियो ने इन दूरस्थ देशो के निवासियो को अपनी सस्कृति के रग में पूर्णतया सराबोर कर दिया। कविवर कालिदास को भी इन द्वीप समूहों का ज्ञान था। प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की सार्वभौमिकता के विस्तार का उल्लेख इन द्वीपो पर भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वृहत्तर की कल्पना गुप्तकाल में ही मूर्त हुई थी। इस प्रकार समस्त प्रमाणो के आधार पर यह सिद्धात स्थिर करना उचित है कि वृहत्तर भारत में भारतीय सस्कृति का विस्तार अधिकतर गुप्तकाल में ही हुआ था। इस प्रकार गुप्तकाल सस्कृति के प्रसार के लिए भी भारत का स्वर्ण युग कहा जायगा।

निष्कर्ष—हमने देखा कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुप्तकाल ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। इसी सर्वतोमुखी एव सर्वांगीण उन्नति के कारण ही गुप्तकाल स्वर्णयुग के

नाम से पुकारा जाता है। विश्व में अन्य भी कुछ उदाहरण हैं जब कि किसी देश ने असीम उन्नति की दिशा में पग बढ़ाए थे। दो युगों से गुप्तकाल की कमी-बेशी तुलना की जाती है। यह दो युग हैं—'पेरिक्लियन युग' (Pereclean Age) तथा 'एण्टोनाइन्स युग' (Age of the Antonines)। अब हम विस्तार से इन दो युगों के विषय में कुछ बताने का प्रयास करेंगे जिससे हमारी समीक्षा समीचीन हो जाय।

यूनान में पंचम शताब्दी ईसा पूर्व परीक्लीज (Pericles) नाम का एक राजनीतिज्ञ हुआ है। इसकी सुयोग्य सुशासन नीति का ही परिणाम था कि यूनान देश में साहित्य एवं कला के क्षेत्र में अपूर्व प्रगति हुई। 'युगान्तकारी साहित्यकारों, मनीषियों, दार्शनिकों एवं कलाविदों से परिपूर्ण एथेन्स (Athens) नगर यूरोप का प्रेरणा बिन्दु बन गया। साहित्य प्रेमियों का ऐसा जमघट कम ही देखने को मिलता है। इसी एक पक्ष को लेकर ही परीक्लियन युग यूनानी सभ्यता का स्वर्णयुग स्वीकार किया जाता है। इसी स्वर्णयुग से इतिहासकार गुप्तकाल की तुलना करते हैं। बार्नेट (Barnett) ने तभी से कहा है—

Gupta period is in the annals of classical India almost what Pereclean age is in the History of Greece

परन्तु बार्नेट तथा अन्य लोगों का यह तुलना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। सबसे प्रथम बात यह है कि गुप्तकाल ने प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह कला का हो साहित्य का हो शासन व्यवस्था का हो राजनैतिक एकरूपता का हो प्रतापी नरेशों का हो धार्मिक सहिष्णुता का हो जनता की सुख समृद्धि का हो संस्कृति के पुनरुद्धार एवं प्रसार का हो—अभूतपूर्व प्रगति की थी। परन्तु परीक्लीयन युग की उन्नति एकांगी थी। इसने केवल साहित्य एवं कला के क्षेत्र में ही सर्वोत्कर्ष विकास प्रकट किया था। दूसरी बात यह है कि यूनानी राज्य सिटी स्टेट्स (City states) थे। प्रत्येक नगर अपने में ही पूर्ण सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य थे। अतएव इन छोटे-छोटे नगरों में सुशासन की व्यवस्था करना कोई कठिन कार्य नहीं था। इन राज्यों की सर्वांगीण उन्नति की दिशा में थोड़े से ही उद्यम से सन्तोषजनक निर्णय प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु गुप्त साम्राज्य एक विशाल साम्राज्य था जिसे एकता की डोरी में बाँधना भी एक अद्वितीय योग्यता का कार्य था। गुप्त सम्राटों ने अपनी इसी प्रतिभा के बल-बूते पर पूरे भारत को एकछत्र के अधीन रखा था। पेरीक्लीयन युग में शासकों का यह गुण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। यूनानियों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी पर्याप्त थी जिन्हें दास माना जाता था। इन दासों को नागरिकता के अधिकारों से पूर्ण वंचित रखा गया था। यूनान जैसे उच्च संस्कृति सम्पन्न देश में ऐसी असभ्य व्यवस्था का रहना स्वर्णयुग की उपकल्पना की निरर्थकता का ही द्योतन करना है। भारतवर्ष में और गुप्तकाल में दास प्रथा का नामोनिशान भी नहीं था। मानवजाति में इस प्रकार विभेद की दीवारें खड़ी कर कोई राष्ट्र उन्नत नहीं कहा जा सकता। पेरीक्लीज ने जिस नई शासन-व्यवस्था का सूत्रपात किया था वह केवल उसी के जीवन काल तक ही स्थायी रहा और इस महान राजनीतिज्ञ की मृत्यु के अनन्तर यह व्यवस्था भी विशृंखलित हो गई। गुप्तकाल में समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जिस भवन की आधार शिला रखी थी वह भवन शताब्दियों तक प्रकृति की क्रूरता के विपरीत भी स्थायी रूप से स्थिर रहा। अन्त में गुप्तयुग ने साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी जितनी उन्नति की थी उतनी उन्नति परीक्लीयन युग भी नहीं कर सका था। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण

से विवेचना करने पर हम इस निर्णय को पहुँचते हैं कि गुप्तकाल पेरीक्लीयन युग से प्रत्येक पक्ष में बढ़चढ़ कर था। अतएव यह तुलना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है।

कुछ इतिहासकारों ने गुप्तयुग की समता एण्टोनाइन्स युग (Age of the Antonines)से की है। इस समता का मुख्य तर्क यही है कि रोम के इतिहास में एन्टोनाइन्स नरेशों का युग 'सुवर्णयुग' माना जाता है। अतएव 'सुवर्णयुग' की समता सुवर्णयुग से उचित ही प्रतीत होती है। परन्तु इतिहास के पृष्ठ उलट कर ही हम यथार्थ स्थिति से अवगत हो सकते हैं। ईसा की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी में लगभग ५ नरेशों ने अपनी प्रजाभक्ति एवं कुशल नेतृत्व से रोम के इतिहास में अपना अपूर्व स्थान बना लिया था। प्रजा को सन्तानवत् समझना एवं शासन सुधार की परम्परा स्थापित रखना इनका मुख्य कर्तव्य था। मार्कस औरलियस इस पंक्ति में सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ सम्राट था। इसकी दार्शनिकता इतिहास प्रसिद्ध है। शासन की सुव्यवस्था के क्षेत्र में भी इसका पर्याप्त योगदान है। परन्तु यह तथाकथित रोम इतिहास का सुवर्णयुग वास्तव में सुवर्णयुग की आभा से सुशोभित होने योग्य नहीं है। प्रजा का सुख समृद्धि ही सुवर्णयुग का सबसे बड़ा मापदण्ड होता है। जिस युग में प्रजा सुख एवं शान्ति से अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकती वह युग सर्वाङ्गीण विकास का युग कैसे कहा जा सकता है। इन एण्टोनाइन्स नरेशों के अधीन प्लीबियन लोगों के साथ दासता जैसा व्यवहार किया जाता था। उन्हें किसी प्रकार के नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। केवल यही ही नहीं बल्कि इस युग में धार्मिक सहिष्णुता का भी अभाव था। ईसाइयों के ऊपर नाना अत्याचार के उदाहरण हम परिलक्षित होते हैं। जिस युग में धर्म को व्यक्तिगत बात न मान कर राज्य की बात माना जायगा वहाँ धर्मों में परस्पर द्वेष की भावना का होना स्वाभाविक ही है। गुप्तकाल की धार्मिक सहिष्णुता तो अनुकरणीय एवं उदाहरण की बात है। अतः इन अभावों से युक्त एण्टोनाइन्स युग की तुलना गुप्तयुग से किसी भी रूप में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार गुप्तकाल विश्व के इतिहास में अनुपम एवं अद्वितीय है। इस चरमोत्कर्ष पराकाष्ठा का सानी विश्व का कोई अन्य काल नहीं हो सकता। श्री अरविन्द ने Vision of India में उचित ही लिखा है—

Never in her history has India seen such a many sided blossoming of her force of life

अन्त में कविराज घोयी के शब्दों को परिवर्तित कर ईश्वर से यह विनम्र निवेदन करते हैं—

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासंविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः
यावद् राधारमण तरुणाकेलिसाक्षी कदम्बः—
स्तावज्जीयात् जगति विमला गुप्तवंशस्य कीर्तिः ।

२४ | वाकाटक राजवंश

यदि गुप्त नरेशों का उत्तर भारत में गौरवपूर्ण एवं आदरणीय स्थान था तो सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, बरार एवं दक्षिणी भारत में वाकाटकों का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्रो० डुब्रील के शब्दों में "दक्षिण के उन समस्त राजवंशों में जिन्होंने तीसरी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक राज्य किया सबसे अधिक गौरवपूर्ण एवं आदरणीय स्थान का पात्र तथा सब में अद्वितीय तथा सम्पूर्ण दक्षिण के राज्यों में श्रेष्ठतम सभ्यतावाला निश्चय ही वाकाटकों का यशस्वी राजवंश था।"[1]

कुल—वाकाटकों के कुल के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है। वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति को कोलिकिल नामक एक जाति का शासक माना गया है।[2] विष्णु पुराण में कोलिकिल नरेशों की गणना यवनों में की है।[3] किन्तु अस्पष्ट पाठ एवं अशुद्ध विन्यास के कारण ही भूल से विन्ध्यशक्ति को यवन तथा यवनों जाति का माना गया था। वास्तव में वाकाटक ब्राह्मण जाति के थे। अजन्ता (गुफा नं० १६) लेख का सम्पादन करते हुए मीराशी महोदय ने यह बताया है कि विन्ध्यशक्ति एक 'द्विज' थे और वे विष्णुवृद्ध गोत्र के थे।

मूल स्थान—वाकाटकों के मूल स्थान के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि बुन्देलखण्ड में बिजनौर बगाट ग्राम में इनका मूल निवास-स्थान था।[4] यह बहुत सम्भव है कि बगाट अथवा बकाट ग्राम के निवासियों ने वाकाटक नाम धारण कर लिया हो किन्तु बिजनौर-बगाट क्षेत्र के वाकाटकों से इन दक्षिण के वाकाटकों का क्या सम्बन्ध था यह अभी तक ज्ञात नहीं है। अमरावती (आन्ध्र देश) के तीसरी शती के एक अभिलेख में एक वाकाटक यात्री के स्थानीय स्तूप के दान का उल्लेख किया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस ग्राम से वह यात्री आया होगा वह विन्ध्य पर्वत के उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में स्थित रहा होगा। प्रो० मीराशी भी वाकाटकों की दक्षिणात्य उत्पत्ति का समर्थन करते हैं जब तक कि कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

विन्ध्यशक्ति—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है वाकाटक वंश का प्रथम शासक विन्ध्यशक्ति था। वाकाटकों का मूल निवास-स्थान चाहे जहाँ भी रहा हो पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में उनका अस्तित्व केन्द्र

---

[1] जे० डुब्रील, *Ancient History of the Deccan* p. 71

[2] "तत कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति"। तथा "यवनवति मास्त्रा चतुर्थी तु समेष्यति"—वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण।

[3] 'तेष्वृत्सन्नेषु कैलकिला यवना भूपतयो भविष्यति।'—*Dynasties of the Kali Age* p. 45

[4] *H I J* pp. 66-68

खण्ड या आन्ध्र में न रह कर पश्चिमी मध्य प्रदेश में स्थापित था।[1] पुराणों में विन्ध्यशक्ति को उक्त वंश का संस्थापक तथा विदिशा (आधुनिक भिलसा) और पुरिक (विदर्भ या आधुनिक बरार से सम्बद्ध) का शासक बताया है।[2] विन्ध्य की वाह्य सीमा पर अपनी शक्ति प्रतिष्ठापित करने के कारण ही सम्भवतः उसे विन्ध्यशक्ति की उपाधि प्राप्त हुई और यह उसका वास्तविक नाम न था। इस वंशकेतु ने किस प्रकार अपनी सत्ता स्थापित की इसकी सूचना अभी अन्धकार में है। सम्भवतः उसके पूर्वज सातवाहन नरेशों के अधीन बरार के राज्याधिकारी थे और सातवाहनों के पतन के पश्चात विन्ध्य के उस पार तक अपनी सत्ता स्थापित करने में सर्वप्रथम विन्ध्यशक्ति ही सफल हो सका।

अजन्ता अभिलेख में इसकी पर्याप्त प्रशंसा की गई है। उसकी तुलना इन्द्र तथा विष्णु से भी की गई है (पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभाव)। यह भी कहा जाता है कि उसके पास अश्वारोहियों की एक विशाल सेना थी जिससे उसने शत्रुओं को पराजित किया था।[3] किन्तु अल्तेकर महोदय इस पक्ष में नहीं है कि युद्ध द्वारा उसने अपनी सत्ता स्थापित की थी।[4] इसका राज्यकाल २५५ से २७५ ई० तक रहा।

प्रवरसेन प्रथम—विन्ध्यशक्ति के पश्चात उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम जिसे सम्राट या सम्राट की उपाधि प्रदान की गई है, २७५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। इसकी प्रचण्ड शक्ति का परिचय पुराण देते हैं और उनसे यह ज्ञात होता है कि इसने साम्राज्य का विस्तार करके चार अश्वमेध यज्ञ किये। किन्तु इसकी रण यात्रा का विवरण अप्राप्य है। उसका प्रपौत्र रुद्रसेन प्रथम (जो उसका उत्तराधिकारी हुआ) मध्यप्रदेश के एक बड़े भाग पर राज्य करता था। उसका एक पुत्र सर्वसेन दक्षिण बरार तथा निजाम राज्य के उत्तर पश्चिम भाग का अधिकारी था। पुराणों के अनुसार उसके दो अन्य पुत्र भी थे जो उपरान्त स्थानों के इतर कहीं शासन करते थे। इन सारे प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि प्रवरसेन ने एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। चार अश्वमेध यज्ञों के सम्पादन से यह ध्वनित होता है उसने चार सफल रण अभियान किये थे जिनके फलस्वरूप उसने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

साम्राज्य निर्माण के साथ ही उसने दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि अपने पुत्र गौतमीपुत्र का व्याह उसने शक्तिशाली भारशिव-नरेश भवनाग की पुत्री से कर दिया जिससे उसकी स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई। प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्रों का उल्लेख पुराणों में किया गया है। ज्येष्ठ गौतमी पुत्र तथा दूसरा सर्वसेन था जिसके

---

[1] देखिये *Vakataka Gupta Age* p 96

[2] विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्। भोक्ष्यंते च समावर्षिट पुरीकांचनकाञ्च वै ॥

[3] से० इ०, पृष्ठ ४२६–२७।

[4] The districts annexed by Vindhyasakti were mostly a kind of no man's land at that time and the exhaustion of the partrimony was probably achieved more by diplomacy than by force *Vakataka Gupta Age* p 97

वाकाटकों की दूसरी शाखा का निर्माण वसीम (दक्षिण बरार) में किया जो मूल शाखा के साथ साथ ५२५ ई० तक चलता रहा।

रुद्रसेन प्रथम—प्रवरसेन प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र की मृत्यु पिता के सम्मुख ही हो चुकी थी। अतः प्रवरसेन प्रथम के पश्चात उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम शासक हुआ। चूंकि वह भारशिव-नरेश भवनाग का दौहित्र था अतः उसे अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में भारशिवों से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। कुछ विद्वान प्रयाग प्रशस्ति के रुद्रदेव की समता इस रुद्रसेन से करते हैं किन्तु, जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है, इन दोनों में कोई समता नहीं है। अतः कौशाम्बी के युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा रुद्रसेन के मारे जाने को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1]

रुद्रसेन के तीन चाचा थे जैसा कि बताया जा चुका है। इन्होंने अपना-अपना पृथक राज्य स्थापित कर लिया था। ये अपेक्षाकृत अधिक अनुभवी थे अतः इन्होंने सम्भवतः रुद्रसेन को पदच्युत करने का प्रयास किया होगा जिनका सामना उसने भवनाग की सहायता से किया और ऐसा अनुमान किया जाता है कि रुद्रसेन से पराजित होने के कारण ही दो चाचाओं का राज्य समाप्त हो गया केवल एक की वसीम शाखा का राजकुल सर्वसेन के अधीन चलता रहा। किन्तु इस पारस्परिक संघर्ष से वाकाटकों की प्रधान शाखा की भी स्थिति दुर्बल हो गई जिससे सीमावर्ती भागों के अधीनस्थ शासकों को स्वतन्त्र होने का अवसर प्राप्त हो गया। किन्तु रुद्रसेन ने स्थिति पर पुनः काबू पा लिया और उसने वाकाटक शक्ति को पुनर्जीवन प्रदान किया। वह ३६० ई० तक राज्य करता रहा और अपने पितामह के चार भागों में राज्य विभाजन की भूल के फलस्वरूप उत्पन्न आपत्तियों का सामना करके पूर्वप्रतिष्ठा को बनाये रखने में सफल हुआ।

पृथ्वीषेण प्रथम—रुद्रसेन प्रथम के पश्चात उसका पुत्र पृथ्वीषेण ३६० ई० में सिंहासन पर बैठा। वसीम शाखा में उसका समकालीन सर्वसेन का पुत्र विन्ध्यसेन था। इन दोनों शाखाओं (प्रधान शाखा तथा वसीम शाखा) में इस समय सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध था। वसीम शाखा की कुछ प्रधानता प्रधान शाखा पर आभासित होती है। कुछ विद्वानों ने पृथ्वीषेण द्वारा कुन्तल या दक्षिणी महाराष्ट्र को विजित करके उसे वाकाटक साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने का अनुमान लगाया है किन्तु अजन्ता (पाठ्य गुहा) लेख के परिवर्तित पाठ के आधार पर अब यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पृथ्वीषेण ने नहीं प्रत्युत वसीम शाखा के विन्ध्यसेन ने यह विजय की थी। हो, यह सम्भव है कि पृथ्वीषेण ने इस युद्ध में पर्याप्त सहयोग दिया हो और तभी हरिषेण प्रशस्ति में उसे कुन्तलेन्द्र की उपाधि दी गई है। कुन्तल नरेश सम्भवतः कदम्ब शासक कंगवर्मन था यह भी सम्भव है कि वह छठी पीढ़ी में राष्ट्रकूट राजा अविधेय का पूर्वज था जो शोलापुर जिले का राज्य करता था। नचना-गंज के दो अभिलेखों[2] से यह ज्ञात होता है कि व्याघ्रराज नामक किसी स्थानीय राजा ने पृथ्वीषेण की स्वामित्व स्वीकार किया था। यदि हम अभिलेखों के व्याघ्रराजा को उच्चकल्प नामक व्याघ्रराजा मानें जैसा कि युक्तिसंगत नहीं है, तो पृथ्वीषेण से अभिप्राय पृथ्वीषेण

---

[1] *Gupta Vakataka Age* pp 103 104

[2] *Ganj inscription* CII III No 54 Nachne ki Talai inscription E I XVII Quoted by Dr A S Altekar

द्वितीय से होगा किन्तु ऐसा स्वीकार करने में कुछ बाधायें हैं अतः यहाँ पृथ्वीषेण का अभिप्राय पृथ्वीषेण प्रथम से ही है।

इन प्रमाणों से यह परिलक्षित होता है कि पृथ्वीषेण प्रथम ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था और तभी गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसके पुत्र रुद्रसेन (द्वितीय) से अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का ब्याह करने का निश्चय किया जो सम्भवतः ३८० ई० में पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। २५ वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् ३८५ ई० में पृथ्वीषेण प्रथम का देहावसान हो गया।

रुद्रसेन द्वितीय—पृथ्वीषेण प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इस पर इसके श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय का बहुत प्रभाव था जिसका प्रमाण यह है कि इसने अपने पूर्वजों के शैव धर्म का त्याग करके चन्द्रगुप्त द्वितीय के वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया। इसके राज्य काल में राज्य समृद्धिसम्पन्न था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की जैसा कि हम पढ़ चुके हैं पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित करने की योजना थी और इसीलिये उसने रुद्रसेन द्वितीय को अपनी पुत्री ब्याह में दी थी। रुद्रसेन साहसी और वीर पुरुष था और यह बहुत कुछ सम्भव था कि वह अपने श्वसुर के इस अभियान में योग देता पर दुर्भाग्यवश ३९० ई० में उसकी अप्रत्याशित अकाल मृत्यु (३० वर्ष की अवस्था में) हो गई।

प्रभावती गुप्ता—संरक्षिका—पति की अकाल मृत्यु के समय प्रभावती गुप्ता के दो बालक दिवाकरसेन तथा दामोदरसेन थे जिनकी आयु क्रमशः पाँच और दो वर्ष थी। अतः अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूर्ण सक्रिय सहयोग प्राप्त कर प्रभावती गुप्ता दिवाकरसेन की संरक्षिका के रूप में राज्य करने लगी। इतने महान सम्राट का योग प्राप्त कर लेने से प्रभावती गुप्ता को किसी प्रकार का संशय न रह गया। यहाँ तक कि वेत्सीम शाखा का समसामयिक शासक विन्ध्यशक्ति द्वितीय जिसके हृदय में एकमात्र वाकाटक पुरुष नरेश होने के कारण दिवाकरसेन का संरक्षक बनने की इच्छा हो उठी होगी प्रभावती गुप्ता से किसी प्रकार का मनोमालिन्य न प्रकट कर सका और वह उसका शुभचिन्तक ही बना रहा। इसके शासनकाल में ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुजरात तथा काठियावाड़ को विजित किया जिसमें प्रभावती गुप्ता का सक्रिय सहयोग रहा होगा। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने प्रभावती गुप्ता को केवल शासन सम्बन्धी सहयोग ही नहीं दिया प्रत्युत उसने राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा को

नामक नई राजधानी की स्थापना का जो सम्भवतः वर्धा जिले में पवनार था। प्रवरसेन के लगभग एक दर्जन ताम्रपत्र प्राप्त होते हैं जिनमें किसी प्रकार के रण-अभियान का उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसे साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि अमरावती, वर्धा, बैतूल, छिंदवाड़ा, नागपुर, भण्डारा तथा बालाघाट और मध्य प्रदेश का अधिकांश भाग प्रवरसेन द्वितीय के शासनाधीन था। इधर बेसीम शाखा के अधीन दक्षिणी बरार, उत्तर पश्चिमी हैदराबाद तथा दक्षिणी महाराष्ट्र थे। प्रधान शाखा में प्रवरसेन द्वितीय था तो बसीम शाखा में भी इसी नाम का इसका समसामयिक प्रवरसेन द्वितीय राज्य करता था।

४३० ई० में प्रवरसेन ने अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का ब्याह कुन्तल-नरेश की पुत्री अजितभट्टारिका से कर दिया। इस राजकुमारी के कुल का पूर्ववृत्त न होने के कारण इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि यह सम्भवतः कदम्ब शासक काकुत्स्थवर्मन् की पुत्री थी। लगभग ३० वर्षों तक राज्य करने के पश्चात ४४० ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गई।

नरेन्द्रसेन—कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि प्रवरसेन द्वितीय के पश्चात उत्तराधिकार का युद्ध हुआ जिसमें नरेन्द्रसेन को सफलता प्राप्त हुई किन्तु यह सुसंगत नहीं है क्योंकि अजन्ता (षोडश गुफा) लेख का पूर्व पाठ, जिसके आधार पर उक्त अनुमान लगाया गया था[१] अब परिवर्तित रूप में पढ़ा गया है और इससे यह ज्ञात होता है कि यह उथल-पुथल बेसीम शाखा में हुई होगी।

बस्तर के शासक नल-नरेश भवदत्त वर्मन ने नरेन्द्रसेन पर आक्रमण किया और उसके उसके राज्य में प्रवेश करके कुछ जिले छीन लिये। सम्भवतः ४४५ ई० में उसे यह विजय प्राप्त हुई थी।[२] किन्तु शीघ्र ही भवदत्तवर्मन की मृत्यु के पश्चात नरेन्द्रसेन ने उसके उत्तराधिकारी अर्थपति को युद्ध में पराजित कर दिया और इस प्रकार वाकाटक राज्य का नलों द्वारा अधिकृत भाग पुनः नरेन्द्रसेन के हाथ में आ गया। सम्भवतः नलों के राज्य के कुछ भाग पर भी इसका अधिकार हो गया होगा। इन संघर्षों में इसे कदम्ब-नरेश का साथ अवश्य प्राप्त हुआ होगा। नरेन्द्रसेन के पुत्र के अभिलेख में उसे मालवा का स्वामी बताया गया है किन्तु यह सत्य नहीं है। सम्भव है राजनीति की धारा के अनुसार मालवा ने कुछ काल के लिए यह स्वीकार कर लिया हो पर शीघ्र ही वे स्कन्दगुप्त के हाथ में आ जाते हैं।[३] इसी प्रकार मेकल तथा कोसल पर भी नरेन्द्रसेन के स्वामित्व का उल्लेख उसके पुत्र के अभिलेख में किया गया है। यदि इसका द्वारा नलों की पराजय सत्य है तो उपरोक्त कथन की सूचना भी सत्य है।

बेसीम शाखा से सुन्दर सम्बन्ध बनाये हुए तथा राज्य-सीमा में अभिवृद्धि करके नरेन्द्रसेन ने कुन्तल में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। ४६० ई० में इसका शासन समाप्त हो गया और इसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा।

---

[१] J. B. O. R. I. XXIII, H. I. J. pp. 100 ff.

[२] देखिए J. Little Gupta p. 116 ff.

[३] नलों को पराजित करके निश्चय ही वाकाटकों ने अपना स्थान महत्वपूर्ण बना लिया था और ऐसी अवस्था में मालवों का उन्हें अपना स्वामी स्वीकार कर लेना असम्भव की बात नहीं।

पृथ्वीषेण द्वितीय—पृथ्वीषेण का समकालीन वसीम शाखा में विलासप्रिय देवसेन था। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे। पृथ्वीषेण के बालाघाट पत्र से यह ज्ञात होता है कि उसे अपने कुल के भविष्य की दो बार रक्षा करनी पड़ी थी सम्भवतः प्रथम बार अपने पिता के साथ नलों के निष्क्रमण के समय तथा द्वितीय बार दक्षिणी गुजरात के त्रैकूटक शासक धारसेन के आक्रमण से राज्य की रक्षा करके।

इसका शासन काल सम्भवतः ४८० ई० तक रहा और अन्त में राज्यसत्ता इसके किसी पुत्र के हाथ में न जाकर वसीम शाखा के महिषेण के हाथ में गई जिसे अजन्ता-लेख में कुन्तल अवन्ति लाट कोशल कलिंग तथा आन्ध्र देशों का विजेता कहा गया है।

वेसीम शाखा का संक्षिप्त परिचय

इस शाखा का निर्माण जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है ३३० ई० में प्रवरसेन प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने किया था। ३५० ई० में इसका शासन-काल समाप्त हो गया। तत्पश्चात् उसका पुत्र विन्ध्यशक्ति द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने ५० वर्षों तक राज्य किया। इसने कुन्तल विजय की। उसके बाद ४०० ई० में उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने १५ वर्षों तक राज्य किया। तत्पश्चात् प्रवरसेन द्वितीय का ८ वर्षीय पुत्र उत्तराधिकारी हुआ जिसका नाम अजन्ता लेख में नहीं दिया गया है। सम्भवतः प्रधान शाखा का प्रवरसेन द्वितीय इसके संरक्षक के रूप में वसीम शाखा पर भी राज्य करता रहा होगा। प्रौढ़ होने के पश्चात् प्रवरसेन द्वितीय ने उसे उसका राज्य दे दिया और उसने ४५५ ई० तक राज्य किया। इस अज्ञातनामा शासक का पुत्र देवसेन ४५५ ई० में ही गद्दी पर बैठा जिसने ४७५ ई० तक शान्ति पूर्वक राज्य किया। देवसेन के पश्चात् उसका पुत्र हरिषेण सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने ५१० ई० तक राज्य किया। वसीम शाखा का यह सर्वशक्तिमान शासक था। प्रधान शाखा के अन्तिम शासक पृथ्वीषेण द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् (सम्भवतः पुत्र के अभाव में (या यदि कोई रहा भी हो तो उसे गद्दी से उतारकर) हरिषेण ने प्रधान शाखा को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने अपने राज्य का और भी विस्तार किया जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

हरिषेण के अन्तिम शासन काल तक वाकाटक शक्ति काफी प्रबल हो चुकी थी और यह चरमोन्नत अवस्था पर थी। सम्पूर्ण हैदराबाद राज्य बम्बई, महाराष्ट्र बरार तथा मध्य प्रदेश का अधिकांश भाग इसके अधीन था और उत्तरी कोंकण गुजरात मालवा छत्तीसगढ़ तथा आन्ध्र प्रदेश इसकी सत्ता के प्रभाव में थे।

हरिषेण के पश्चात् वाकाटक राज्य इतिहास के रंगमंच से लुप्त हो जाता है। निश्चित कारणों का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं है। सम्भवतः उत्तराधिकारियों का अभाव अथवा दुर्बल उत्तराधिकारियों का होना ही इसका प्रमुख कारण रहा होगा। मालवा तथा मध्य प्रान्त में इसी समय कुछ काल के लिये यशोधर्मन की शक्ति बढ़ गई थी और बहुत सम्भावना है कि उसने वाकाटकों के उत्तरी जिलों पर अधिकार स्थापित कर लिया होगा। सम्भवतः कर्नाटक के कदम्ब उत्तरी महाराष्ट्र के कल्चुरि तथा बस्तर के नलों ने भी साम्राज्य को दुर्बल पाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। अन्त में कर्नाटक के नये राजवंश चालुक्यों ने इन छोटे छोटे राज्यों का अन्त करके इनके राज्य का अपहरण कर लिया।

२५ | गुप्त साम्राज्य के पश्चात् से लेकर हर्ष के उत्थान के पूर्व का भारत

गुप्तों के साम्राज्य के धराशायी हो जाने पर उत्तरी भारत में पुनः एक बार राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। हम यह कह चुके हैं कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा कम होने लगी और प्रान्तीय राज्य अपनी स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करने की प्रतीक्षा में बैठे थे। स्कन्दगुप्त के मरते ही साम्राज्य के एक प्रान्त सुराष्ट्र में मैत्रकों ने प्रायः गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यद्यपि जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त सम्राटों ने अपने वंश की गरिमा को लौटाने का प्रयत्न किया तथापि विघटनात्मक प्रवृत्ति को दबाया नहीं जा सका और देश में विभिन्न राजवंशों की स्थापना हो गई। इन राजवंशों ने जिन राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया उनमें से अधिकांश गुप्त साम्राज्य के ही भाग थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन राज्यों और राजवंशों की स्थापना हुई उनमें ये उल्लेखनीय हैं—(१) वलभी के मैत्रकों का राज्य (२) मगध के उत्तरकालीन गुप्त और (३) कन्नौज का मौखरी राज्य। ये राज्य एक दूसरे पर आक्रमण कर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते थे और इतना ही नहीं कुछ महत्त्वाकांक्षी नरेश अपनी राजनीतिक प्रभुता अपने अन्य समकालीन नरेशों पर जमाने का स्वप्न देखते थे। इसके लिए वे प्रयत्नशील भी थे। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत का इतिहास विघटन और छोटे छोटे राज्यों के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। हम इस काल के विभिन्न राज्यों का अध्ययन करने के पूर्व उस विपत्ति के विषय में जान लेना चाहते हैं जो हूण-आक्रमण के नाम से कहा जाता है।

प्रकरण १ हूणों का उत्थान एवं पतन

हूण एशिया के रहने वाले थे जिन्होंने चौथी एवं पाँचवीं शताब्दियों में सम्पूर्ण विश्व पर साम्राज्य स्थापित किया था। पूरे विश्व को अपनी क्रूरता, निर्दयता, रक्तपात एवं मारकाट से इन्होंने आतंकित कर रखा था। हूणों का मूलनिवास स्थान कहाँ था ? इसके बारे में अधिकांश विद्वानों की यह राय है कि वे चीन के समीप रहते थे। यह लोग जंगली व बंजारे थे। पश्चिम की ओर जब इनका अभिक्रमण प्रारम्भ हुआ तो ये लोग बँटकर दो धाराओं में विभाजित हो गए। एक धारा तो वोल्गा (Volga) की ओर उन्मुख हुई और दूसरी आक्सस (Oxu) की ओर। आक्सस की ओर बढ़ने वाला दल मूलतः जाअन-जोअन (Joan Joan) कबीले के अधीन था और शीघ्र ही यह आक्सस घाटी में शक्तिशाली हो गया। यह घटना ५वीं ई० शताब्दी के मध्य की है। अपने शासकीय परिवार के नाम से इन लोगों को येथा (Yetha), हफ्थालाइटस (Hephth lites) या इफ्थालाइटस (Epthalites) पुकारा जाने लगा। यूनानी विवरण इन लोगों को श्वेत हूण की संज्ञा देते हैं।

हुन-नू (Hun nu) या हियुन-नू (Hiun nu) हूणों के स्वजातीय माने जाते हैं। डब्ल्यू० एम० मकगवर्न (W M Mc Govern) के अनुसार—

It is now universally accepted that the Hiung nu were in part atleast the ancestors of the people known to the westerners under the name of Hunas

इन हियुन-यू (Hieun vu) को जाति म एव भाषा में तुरानियन (Turanian) कहा जाता है। यह लाग चीनी या परवर्ती मगोल नही थे। मेकावर का विचार है कि यद्यपि इफ्थालाइटस (Fptalites) यूरोप के हूणों से मूल में पर्याप्त मिश्रित हैं लेकिन वस्तुत भारत एव ईरान म प्रवेश करने वाले हूण यूरोपीय हूणा से पृथक हैं। कुछ इतिहास के वृत्तान्तों के अनुसार इफ्थालाइटस तथा यूची (vu h chi) वस्तुत एक ही मूल के हैं।

आर० घिसमन (R Ghirsaman) ने अपने निगमन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ५वीं शती इ० क मध्य में हिन्दुकुश क्षेत्र में कुछ हूण जाति के लोगों ने आधिपत्य जमाया था।

भारतीय स्रोतों द्वारा इनका निर्देश—इन हूणों के मूल निवास स्थान के विषय म भारतीय ग्रन्थों से भी कुछ प्रकाश पडता है। महाभारत महाकाव्य में विदेशी कबीलो की एक सूची दी गई है। इसमे चीना (Chinas) ने प्रथम स्थान ग्रहण किया हुआ है।

सोमपवन् के एक पद्य म यह दर्शाया गया है कि हूण ईरानियों के साथ सम्ब न्धित थे।

कालिदास ने अपने रघुवश में यह बताया प्रतीत होता है कि आक्सस सरिता पर एक हूण बस्ती थी।

बाणभट्ट ने भी उत्तरापथ क एक हूण राज्य का उल्लेख किया है।
पुराण बृहत्सहिता ब्राह्मण्य आयशास्त्र एव सोमदेव की नीतिवाक्यामृत ने भी हूणों को किसी उत्तरी कबीले या देश से सयुक्त किया है।

भारत पर इनका आक्रमण—आक्सस घाटी स हूण ईरान तथा भारत की ओर उन्मुख हुए। स्कन्दगुप्त न ४५५ और ४६७ इ० के मध्य हूणों को बन्त बुरी तरह से हराया और अपन साम्राज्य को उनके ध्वसकारी हाथों से बचाया। ईरान पहिले तो हूणों या द्रुतगामी प्रसार नीति के नीचे झुक गया लेकिन अन्त म उसने हूणों की फौजो को परास्त कर दिया जब भारत म वे स्कन्दगुप्त द्वारा परास्त कर दिए गए तो भारत के साथ उनका क्या और कैसा सम्बन्ध था। इसके विषय म एक राजदूत सग-युन (Sung yun) हम सूचना देता है। यह राजदूत चीन की उत्तरी वी राज वश (Northern wei dyn ty) की महारानी के द्वारा भेजा गया था। ५१८ इ० म इस राजदूत बनाय जाने की घोषणा की गई थी। उद्यान के बीच से गुजरता हुआ सग युन (Sun yun) ५२० इ० म गन्धार पहुंचा। इस राजदूत ने इस प्रकार [illegible]

This is the country which the ye thas (Hun destroyed and afterwards set up a te in to be king over the country since which events two generation have pas ed The disposition of the king (hing ty) was cruel and vindictive and he pract ed the most

barbarous atrocities. He did not believe the law of God Budha but loved to worship demons. Entirely self reliant on his own strength he had entered on a war with the country of Kipin (Kashmir) disputing the boundaries of their kingdom and his troops had been already engaged in it for three years. The king has 700 war elephants. The king continually abode with his troops on the frontier and never returned to his kingdom.

इस राजदूत के वृत्तान्त के पश्चात् हूणों के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक अन्य इतिहासकार कॉस्मास (Cosmas) है। इसको इण्डिको प्ल्यूस्टस (भारतीय नवीगेटर) कहा जाता था। यह अलेक्जेण्ड्रिया का यूनानी था। इसने अपनी क्रिश्चियन टोपोग्राफी (Christian Topography) में जिसे कि ५२५ ई० में लिखना प्रारम्भ किया गया था और जो ५४७ ई० में अपने अन्तिम रूप में तैयार हुई थी। एक स्थान पर कॉस्मास ने लिखा है—

Higher up in India that is farther to the north are the white Huns. The one called Gollas when going to war take with him, it is said, no fewer than 2000 elephants and a great force of cavalry. He is the lord of India and oppressing the people forces them to pay tribute.

इसके पश्चात् कॉस्मास ने एक अन्य स्थान पर लिखा है—

The river Phison separates all the countries of India from the Country of the Huns.

यह तो दो विदेशी विवरण हुए जिसमें हूणों के कार्यकलापों का हमें ज्ञान होता है। इन विवरणों का सूक्ष्म विवेचन कर हम प्राचीन भारतीय इतिहास पर एक नूतन प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। लेकिन इसके पूर्व कि हम एक युक्तिसंगत एवं क्रमबद्ध हूणों के इतिहास का निर्माण करें, हमें भारतीय स्रोतों द्वारा भी हूणों के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिए।

भारतीय विवरण—हमें भारतीय स्रोतों से दो नरेशों मिहिरकुल एवं तोरमाण के विषय में कुछ पता चलता है। इन दो नरेशों को हूणों की संज्ञा दी जाती है। अब हम निम्नलिखित विवरण से भारतीय पक्ष का भी पता चल जायगा।

(i) पंजाब में नमक की पहाड़ियों में कुर नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें यह वाक्य उत्कीर्ण है—'राजाधिराज महाराज तोरमाण शाही जऊब्ल' यह अभिलेख तोरमाण महाराज का है।

(ii) तोरमाण नरेश ही की एक सील कौशाम्बी में घोषिताराम मठ के समीप ही प्राप्त हुई है।

(iii) पूर्वी मालवा में एरण नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख 'महाराजाधिराज तोरमाण' के प्रथम वर्ष में सामन्त धन्यविष्णु द्वारा उत्कीर्ण करवाया गया था।

(iv) ग्वालियर में एक अभिलेख मिला है। यह मिहिरकुल के १५वें शासन

वर्ष का है। इस अभिलेख में मिहिरकुल के मिहिर का नाम भी उल्लिखित है लेकिन केवल प्रारम्भिक दो अक्षर ही पठनीय हैं। यह अक्षर 'तोर' हैं। कुछ लोगों ने 'तोर' को तोरमाण माना है।

परन्तु इन चारों अभिलेखों में कहीं भी इन दोनों नरेशों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः नहीं कहा गया है।

(v) कुवलयमाला (७७८ ई०) नामक एक जैन पुस्तक में हम तोरमाण के विषय में एक दिलचस्प बात का पता चलता है। इस पुस्तक में लिखा है कि तोरमाण विश्व का या उत्तरापथ का प्रमुख सम्पन्न सम्राट था। वह चन्द्रभागा (चिनाब नदी) नदी के किनारे पर पवैया नामक स्थान पर रहता था। हरिगुप्त उसका गुरु था। हरिगुप्त गुप्त परिवार का वंशज था।

(vi) राजतरंगिणी ने भी तोरमाण के विषय में निर्देश किया है। इसके अनुसार तोरमाण मिहिरकुल का वंशज था। इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि मिहिरकुल ने उसे कारागार में बन्द कर दिया था क्योंकि वह सिंहासन छीनने का षड्यन्त्र कर रहा था। लेकिन राजतरंगिणी का यह तथ्य अन्य स्रोतों से पूर्णतः पृथक है अतएव इतिहास के विद्यार्थियों को राजतरंगिणी की यह घटना नहीं माननी चाहिए।

(vii) ह्वेनसांग भी मिहिरकुल का एक लम्बा वृत्तान्त हमें प्रस्तुत करता है। यह वृत्तान्त साकल नगर के वर्णन के दौरान में किया गया था। साकल नगर मिहिरकुल की राजधानी थी। देखिए उसका वर्णन—

Some centuries ago Mihirkula established his authority this town and ruled over India He subdued all the neighbouring provinces without exception He issued an edict to destroy all the priests through the five Indies to overthrow the law of Budha and leave nothing remaining

ह्वेनसांग ने पराजय कई शताब्दियों पूर्व अर्थात् ६३३ ई० के कई सौ वर्ष पूर्व जब कि उसने साकल की यात्रा की थी। वाटर्स (Watters) ने अपने वृत्तान्त में लिखा है कि अन्य चीनी विद्वान मिहिरकुल को ५३० ई० के काफी पहिले निर्धारित करते हैं। इससे मिहिरकुल के विषय में ह्वेनसांग की कहानी की सत्यता पर काफी गम्भीर सन्देह उत्पन्न होते हैं।

(viii) जैन लेखक सोमदेव ने एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार एक हूण नरेश ने चित्रकूट जीता था। एरण तथा कौशाम्बी अभिलेखों को दृष्टिगत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह निर्देश तोरमाण की ओर है।

(ix) कुछ विद्वानों ने आर्य मंजुश्री मूलकल्प में भी तोरमाण का निर्देश पाया है।

(x) यशोधर्मन के मन्दसौर अभिलेख में हूणों एवं मिहिरकुल दोनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु यह उल्लेख इस प्रकार का है जिससे दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं प्रमाणित होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हूण एवं मिहिरकुल पृथक पृथक आक्रमणकारियों का निर्देश करते हैं।

(xi) इसी प्रकार तोरमाण तथा मिहिरकुल के सिक्के हैं। कुछ सिक्कों में केवल 'तोर' शब्द ही उत्कीर्ण हैं। यह सिक्के शशानिद (Sasanid) नरेशों के सिक्कों

की असम्य अनुकृतियाँ हैं। इन सिक्कों मे ऐसी कोई चीज नहीं जिससे पता चले कि यह हूणों के सिक्के हैं।

निष्कर्ष—ऐसी परिस्थितियों में जब कि किसी भी विवरण में हमारी हूणों एवं तोरमाण तथा मिहिरकुल में एकात्मकता नहीं स्थापित होती इन दो नरेशों को हूण मानना बिल्कुल जबरदस्ती है। यह एकात्मकता एकदम बालू की भीत के सदृश है जिसका ढहना अनिवार्य होता है। और तो और लगभग सभी इतिहासकारों ने बड़ी निश्चितता से यह प्रकाशित किया है कि हूणों ने गुप्त साम्राज्य के पतन में पर्याप्त हाथ बटाया था। यह कारण इतना अधिक प्रचलित है कि हम इसकी सत्यता में कोई भी सन्देह नहीं था लेकिन जब हमने यह अध्ययन किया कि इस कथन का कोई आधार ही नहीं तो इतिहासकारों की इस बलात तथ्य स्थापित करने की प्रवृत्ति पर हँसी सी आती है। तोरमाण एवं मिहिरकुल को कुछ विद्वानों ने कुषाण मौखरि की सेना दी है। इन विद्वानों का कहना है कि यह दोनों नरेश हूणों से सम्बन्धित थे अतएव गलती से भारतीय इतिहासकारों ने उन्हें हूण दल का नेता मान लिया। सर ए० स्टीन (Sir A. Stein) तथा जायसवाल (Jayaswal) ने कहा है कि तोरमाण एक कुषाण था। एस० कोनो (Konow) ने कहा है कि तोरमाण सभी सम्भावनाओं में हूण था।

कास्मस ने अपने विवरण में गोलास (Gollas) नरेश का निर्दिष्ट किया है। इस गोलास को विद्वानों ने मिहिरकुल या मिहिरगुल माना है। इसलिए निश्चित की गई है कि गोलास (Gollas) शब्द की समरूपता मिहिरकुल या मिहिरगुल के अन्तिम दो अक्षरों गुल या कुल से ध्वनित होती है। शब्दों के इस तनिक समरूप उच्चारण पर मिहिरकुल को हूण नेता मान लेना इतिहासकारों का इतिहास की पर माल से वस्तुतः अन्याय करना है। एक अन्य बात को भी हमें भली भाँति परखना चाहिए। यह बात है कि हूण शक्ति का मुख्य केन्द्रीय स्थान सिन्धु के पश्चिम में स्थित था। सुंगयुन (Sung-yun) तथा कास्मास (Cosmos) ने अपने वृत्तान्तों में उपयुक्त कथन की पुष्टि की है। ह्वेनसांग (Hiuen Tsang) ने मिहिरकुल की राजधानी साकल (आधुनिक सियालकोट) स्वीकार की है। एक जैन ग्रन्थ ने तोरमाण की राजनगरी को चनाब नदी के तट पर निर्धारित किया है।

हूणों के इतिहास की रूपरेखा—हम उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन करने से यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि इस विदेशी आक्रमण की दो पृथक धाराएं भारत पर अग्रसर हुई थीं। प्रथम धारा ने तब भारत में प्रवेश किया था जब कि स्कन्दगुप्त भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर महान गुप्तों की अनवरत परम्परा को निभा रहा था। इस महान् गुप्त सम्राट ने स्वदेश रक्षा के निमित्त ई० ४६० ई० के आसपास इन हूणों को बुरी तरह से परास्त किया। लेकिन इन विदेशियों को पूर्णतया भारतीय भूमि से भगाया नहीं जा सका। सुंग युन के अनुसार ये लोग गधार पर अपने एक नए नेता के नेतृत्व में राज्य कर रहे थे। सम्भवतः कि वे भारत के अंतर की ओर पुनः अग्रसर हो उन्होंने एक या दो पीढ़ियाँ अवश्य बिताई होंगी।

दूसरे आक्रमण दल का नेता तोरमाण था। गंधार या पंजाब जो कि हूणों का अपना अड्डा था से बढ़कर हूण इस हूण नरेश ने मालवा तक विजय पर विजय की।

बी० सी० सिंहा (B. P. Sinha) के अनुसार तोरमाण ने ५०२-४ ई० में नरसिंहगुप्त को पराजित किया।

मजुश्री मूलकल्प के अनुसार तोरमाण ने 'प्रकाशादित्य को कारागार से मुक्त करवा दिया और उसे पाटलिपुत्र भेज दिया तथा काशी में उसे मगध के नरेश के सिंहासन पर बठाया। उसकी सफलता सक्षिप्त थी—वज्रगुप्त जो कि तोरमाण की कठपुतली था नरसिंहगुप्त द्वारा सिंहासन पर बठाया गया। इसी समय भानुगुप्त गुप्त परिवार के एक वशज ने विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध अपना अभियान प्रारम्भ किया। इसने एरण तक सफलता पर सफलता प्राप्त की। विदेशी आक्रमणकारी को आगे बढ़ने से रोक दिया (५१० ई०)। तभी से तोरमाण की द्रुतगामी फौजो की गति अवरुद्ध हुई थी।

मजुश्री मूलकल्प के अनुसार इसने भारत को गौड तक विजित किया था और बनारस में इसकी मृत्यु हुई थी। गौड को उडीसा में निश्चित किया गया है। मजुश्री मूलकल्प के इस निश्चय के विषय में और अधिक कहने के लिए हमारे पास प्रमाण नहीं है

कुछ समय के लिए तो हूण प्रसार अवरुद्ध हो गया लेकिन मिहिरकुल ने अपने पिता की महत्वकाक्षी योजना को पुनर्जीवित किया। इसको भी प्रारम्भ में कुछ सफलता हस्तगत हुई। क्योकि उसकी प्रभुता उसके शासन के १५वें वर्ष (५३० ई०) ग्वालियर में भी अंगीकार की जाती थी।

ह्वेनसाग ने तो यहा तक लिखा है कि मिहिरकुल ने पूर्ण भारत को अपने आधिपत्य में किया था। कास्मास (Cosmos) ने भी उसे इस समय तक भारत का सम्राट घोषित किया है। उसकी रजतमुद्राए शशनियन ढग की हैं और सिन्धु बेसिन पर उसका प्रभुत्व बताती है। मिहिरकुल की ताम्र मुद्राए पूर्वी पजाब राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी पाई गई हैं। यह मुद्राए मिहिरकुल के सर्वांगीण प्रभाव को प्रकट करती है।

राजतरगिणी के अनुसार—

Mihirkula a man of violent acts and resemble काल ruled in the land which was overrun by the hordes of Mlechha

यहा नहा मिहिरकुल का आधिपत्य उत्तर में हिमालयो में खसदेश पर तथा दक्षिण में सिहल नाट कर्नाट एव चोल पर भी अगीकार किया जाता है। लेकिन हूणो का साम्राज्य काफी समय तक स्थापित नहीं रहा। मिहिरकुल को अपना अत शीघ्र ही दो भारतीय शासको यशोधर्मन नरसिंहगुप्त के हाथो में देखना पड़ा।

मिहिरकुल अपनी राजनगरी साकल से भारतीय प्रदेशो पर क्रमबद्ध रूप से बौद्ध धर्म के विरुद्ध अपना घातक नीति को क्रियान्वित कर रहा था। मगध के स्वाभिमानी एव विजयी लोग हूण सर्वप्रभुता को स्वीकार कर बडे ही व्यग्र हो रहे थे। उन्हो। शान्ति का लाभ उठाते हुए हूणो की पराधीनता से मुक्त होने के लिए अनवरत प्रयास जारी रखे। उन्हें अपने विद्रोह के लिए कारण भी काफी प्रभावशाली प्राप्त हो गया। नरसिंहगुप्त बालादित्य ने बौद्धधर्म के विरुद्ध मिहिरकुल की घातक नीति को हूण सम्राट् के विरुद्ध विप्लव करने का बडा ही उत्तम कारण पाया। बालादित्य का समर्थन मगध की लाखों जनता कर रहा थी

जब बालादित्य ने विद्रोह के झडे गाडे तो मिहिरकुल ने एक बडी सेना के साथ मगध के नरेश के विरुद्ध अभियान जारी किया। बालादित्य मिहिरकुल की महती

सेना के विरुद्ध न ठहर सका। उसने राजधानी छोड़ दी और सम्भवतः बंगाल की खाड़ी के कुछ द्वीपों में जाकर शरण ली। अन्ततः मिहिरकुल पाटलिपुत्र प्रवेश करने का सफल हो गया और उन्होंने इस ऐतिहासिक स्थल को विध्वंस कर दिया।

ह्वेनसांग के अनुसार मिहिरकुल को सम्भवतः ५१९–२० ई० में बालादित्य ने परास्त किया था। तत्पश्चात् मिहिरकुल ने कश्मीर में जाकर शरण प्राप्त की। उसने कश्मीर के नरेश की हत्या कर दी और स्वयं को सिंहासन पर ला बैठाया। उसने तब गंधार के नरेश की हत्या की परन्तु स्वयं भी एक ही वर्ष में परलोक सिधार गया।

मन्दसौर अभिलेख में यशोधर्मन यह दावा करता है कि उसके चरणों में प्रसिद्ध नरेश मिहिरकुल भी अपना सम्मान प्रदान करते थे?'

मिहिरकुल यद्यपि परास्त कर दिया गया था लेकिन उसका राज्य नष्ट नहीं किया गया था। यशोधर्मन के पतन के पश्चात् वह पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ।

लेकिन ह्वेनसांग के विवरण ने सामान्य स्वीकृत मत में सन्देह उत्पन्न कर दिया है। तभी से कई इतिहासकारों ने ह्वेनसांग के विवरण की प्रामाणिकता का तिरस्कार कर दिया है। स्मिथ (Smith) के अनुसार—

The weight of evidence is now decidedly in favour of the rejection of Uuan chwang s story

उपर्युक्त दो पराजयों में परस्पर मेल बैठाने के लिए विभिन्न इतिहासज्ञों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। एक पराजय तो बालादित्य के हाथों मिहिरकुल को सहनी पड़ी थी और दूसरी यशोधर्मन के।

स्मिथ तथा अन्य विद्वानों ने यह मत प्रचारित किया है कि नरसिंहगुप्त तथा यशोधर्मन ने परस्पर एक संधि की थी जिससे हूणों को भारत से खदेड़ा जा सके। ह्वेनसांग तथा यशोधर्मन द्वारा निर्दिष्ट संग्राम वस्तुतः दो नहीं बल्कि एक है।

फ्लीट (Fleet) ने दोनों विवरणों की प्राधिकारिता स्वीकार की है और कहा है कि मिहिरकुल को पूर्व में नरसिंह गुप्त ने तथा पश्चिम में यशोधर्मन ने परास्त किया था। एलन (Allen) तथा मुकर्जी (Mookerji) ने इस मत को स्वीकार किया है। मिहिरकुल की अन्तिम भारी पराजय मालवा में ही प्राप्त हुई थी।

एलन के अनुसार—

It is hardly possible that Yashodharman and Narsinhgupta on separate occasions each routed took Mihirkula prisoner and released him This is the tone of Narsinhgupta but it is not so clear as far as Yashodharman is concerned

एच० हेरास (H Heras) ने यह अस्वीकार किया है कि अन्तिम निर्णयात्मक युद्ध यशोधर्मन ने मिहिरकुल पर पाया था उचित नहीं है। उसने कुछ दलीलें इसके अनुमान में दी हैं—

(१) मगध की पराजय के बाद मिहिरकुल अपने पुराने राज्य में न जा सका, अतएव वह यशोधर्मन द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए यशोधर्मन द्वारा वह पहिले ही परास्त हो चुका था।

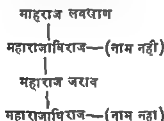
(ii) मिहिरकुल कुछ समय तक भेष बदल कर जंगलों में तथा निर्धनता की स्थिति में घूमता रहा था। यह भी उसकी अंतिम पराजय की ओर इंगित करता है।

(iii) मिहिरकुल ने अंतिम रूप से कश्मीर में शरण ग्रहण की थी। निश्चयतः जब वह कश्मीर की ओर लौट रहा था तो उसने भारत में सभी प्राप्तियाँ खो दी थी। तभी से कश्मीर का नरेश उसकी दयनीय स्थिति से विचलित हो गया था।

इस प्रकार बालादित्य ने अन्तिम रूप से उसे पराजित किया था।

हार्नले (Hornler) ने कहा है कि यशोवर्मन विष्णु धर्मन नरसिंहगुप्त का एक सामंत था और नरसिंह गुप्त के समय में ही उसने मिहिरकुल को परास्त किया था। परन्तु इस मत के समर्थन में कोई भी तर्क नहीं दिया जा सकता। यशोवर्मन की मिहिरकुल पर जीत ५३३ ई० में निश्चित की जाती है। इसके बाद ही बालादित्य ने भारत में हूण शक्ति की जड़ें खोखली की। इसके बाद हूण अब भारत में एक आततायी एवं महान शक्ति के रूप में नहीं रह गए वे भारतीय इतिहास में एक उल्लेखनीय तत्व भी नहीं रहे।

दो खंडित सीलें नालंदा में प्राप्त हुई हैं। इन सीलों में एक शासक की वंशावली दी गई है। शासक का नाम अस्पष्ट है। श्री अमलानन्द घोष (A. Ghosh) ने एक अन्य आधार पर निम्नलिखित हूण नरेशों की सूची तैयार की है। इन नरेशों ने मिहिरकुल के पश्चात भारत के एक सीमित भाग पर अपने जीवन के उतार चढ़ाव देखे थे।



जहाँ तक पहिले नरेश का प्रश्न आता है इसकी एकात्मकता राजा लखरवाण उदयादित्य से स्थापित की जा सकती है। यह नरेश हूणों की मुद्राओं से ज्ञात होता है। राजतरंगिणी ने भी लखण नरेन्द्रादित्य नामक शासक को उल्लिखित किया है। यह भी राजवंश का था। स्टीन (Stein) ने इसके बारे में लिखा है—

It appears very probable that by Lakhhana Narendraditya of the Rajtarangini is meant the same king who calls himself Lakhhana Udyaditya in the coins

जरावे की एकात्मकता हूण मुद्राओं पर उत्कीर्ण शाही जउवख जरा से की जाती है।

जिन दो नरेशों के नाम सील में नहीं हैं उनमें एक का नाम हूण मुद्राओं के आधार पर निर्धारित किया गया है। यह है देव शाही खिंगिला। राजतरंगिणी ने भी खान खील नरेन्द्रादित्य नाम का नरेश निर्दिष्ट किया है। इन दोनों नरेशों की एकात्मकता स्थापित की गई है।

हूण-आक्रमण का प्रभाव—हूण एक बर्बर जाति थे जिनका व्यवसाय इधर उधर पर्यटन करते रहना और लूट-मार करना था। सभ्यता और संस्कृति के तत्वों से उनका कोई विशेष परिचय नहीं था। किन्तु उन्होंने भारत पर जो आक्रमण किया उसका कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। स्मिथ महोदय ने इस बात का निर्देश किया है कि उत्तरी भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में हूण-आक्रमणों का काफी महत्व था। गुप्त साम्राज्य को हूण आक्रमणों से बड़ा प्रबल धक्का पहुँचा। यद्यपि जायसवाल महोदय के अनुसार जिनका कथन मञ्जुश्रीमूलकल्प पर अवलम्बित है हूणों का आक्रमण गुप्त साम्राज्य के पतन का परिणाम था, न कि उसका कारण तथापि यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि हूणों ने गुप्त साम्राज्य को काफी क्षति पहुँचाई। उत्तर भारत में बौद्ध धर्म को काफी हानि पहुँची। ह्वेन-सांग के कथनानुसार हूणों ने बौद्ध विहारों को बुरी तरह से नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार और शक्ति पर हूणों के इस आक्रमण का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ा। बर्बर हूणों ने अनेक प्राचीन राजवंशों के राज्यों को विनष्ट कर दिया।

हूणों के आक्रमणों ने भारत की राजनीतिक एकता को प्रबल आघात पहुँचाया। देश में पहले से ही अनेक छोटे छोटे राज्य थे, हूण आक्रमण के फलस्वरूप वे राज्य और भिन्न भिन्न हो गये। हूणों के द्वारा राजवंशों के लेख नष्ट कर दिये जाने से अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रियाँ विनष्ट हो गईं जिनके अभाव में भारतीय इतिहास की कुछ समस्यायें अभी भी जटिल बनी हुई हैं। राज्यों का संगठन एक नये सिरे से हुआ। देश की राष्ट्र-प्रेम भावनाओं को हूण-आक्रमणों द्वारा बड़ा आघात पहुँचा। उनके दुराचार ने देश के राजाओं के सम्मुख निरंकुशता तथा नृशंसता का उदाहरण रखा। यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि उन राजाओं ने उस उदाहरण का अनुसरण ही किया, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिहिरकुल की क्रूरता और नृशंसता साधारणजन को प्रधान मानने वाले भारतीय राजत्व के सिद्धान्त के नितान्त विपरीत थी।

कालान्तर में हूण लोग हिन्दू समाज में मिला लिये गये। कुछ विद्वानों का विचार है कि इन्हीं हूणों से अनेक राजपूत वंशों का उद्भव हुआ जिन्होंने भारतीय इतिहास की घटनाओं को काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। परन्तु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति का खण्डन अन्य विद्वानों ने किया है। पर इस बात में सन्देह नहीं कि हूणों के तत्कालीन हिन्दू समाज में मिल जाने से कुछ सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हुई होंगी लेकिन आजकल यह निश्चयपूर्वक कहा ही नहीं जा सकता कि आधुनिक हिन्दू समाज में कौन सा वर्ग हूणों की सन्तान है। अन्य विदेशी आक्रमणकारियों की तरह हूणों का भारतीयकरण सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया।

प्रकरण २ वलभी का राजवंश (५०९-७७५)

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह बतलाया है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य का एक सुदूरवर्ती प्रान्त सुराष्ट्र में पृथक् हो गया और वहाँ पर एक स्वतन्त्र राजवंश की सत्ता प्रतिष्ठापित हो गई। सुराष्ट्र के सेनापति भट्टार्क ने वलभी (भावनगर के समीपस्थ) पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नया राजपुर स्थापित किया।

वलभी के राजवंश का मूल

वलभी के जिस राजवंश की स्थापना पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुई उसका विवरण हमें किसी प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। इसे मैत्रक का नाम भी दिया गया है। स्मिथ साहब ने अपना यह मत प्रकट किया था कि वलभी का राजकुल ईरानी था। कदाचित् मैत्रक नाम से उन्हें यह भ्रम उत्पन्न हो गया हो। उनके इस मत की पुष्टि का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने यह धारणा प्रकट की है कि चूँकि मैत्रक हूणों के साथ ही विख्यात हो उठते हैं इसलिए इन दोनों का परस्पर कोई जातीय सम्बन्ध रहा होगा। परन्तु यह सम्भावना भी अर्थवती नहीं प्रतीत होती। वास्तव में भट्टारक ने जिस राजवंश की स्थापना की वह एक भारतीय राजकुल प्रतीत होता है। काफी प्राचीन समय से इस वंश के लोग सुराष्ट्र में निवास करते थे।

वलभी के राजकुल का इतिहास—भट्टारक के राजवंश के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिन पर गुप्त वलभी संवत् में तिथियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इन अभिलेखों में केवल राजाओं का नाम ही दिया गया है। उनके विषय में कोई विस्तृत और विश्वसनीय विवरण नहीं मिलता। किन्तु इधर-उधर बिखरे हुए विवरणों से इस राजवंश के इतिहास की एक रूपरेखा तैयार की जा सकती है। लेकिन यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुष्ट प्रमाणों की अनुपस्थिति में वलभी राजवंश के इतिहास के सम्बन्ध में जो भी मत प्रकट किये जा सकते हैं उनकी प्रामाणिकता और सत्यता असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती।

भट्टारक ने सुराष्ट्र में एक नये राजकुल की स्थापना अवश्य की परन्तु सम्भवतः वह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं था। भट्टारक स्वयं अपने को 'सेनापति' कहता रहा और उसके उत्तराधिकारियों ने भी 'सेनापति' कहलाना जारी रक्खा। परन्तु बाद के नरेशों ने महाराज का विरुद धारण किया। द्रोणसिंह, ध्रुवसेन प्रथम, धरपट्ट, गुहसेन तथा धरसेन द्वितीय ने महाराज की पदवी धारण की थी। इससे कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि वलभी के मैत्रक नरेश या तो गुप्तों का आदर करने के लिए नाममात्र को उनकी अधीनता स्वीकार करते थे अथवा वे किसी अन्य शक्ति के सम्भवतः हूणों के आधिपत्य में स्थायी रूप से रहे। इस सम्बन्ध में डा॰ त्रिपाठी का कथन है "परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि उन्होंने किसका आधिपत्य अंगीकार किया था। क्या उन्होंने कुछ काल तक गुप्त-परम्परा ही जीवित रक्खा ? अथवा वे उन हूणों के अधीन थे जो धीरे-धीरे पश्चिमी और मध्य एशिया के स्वामी बन गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मैत्रक सेनापति नरेशों ने गुप्तों की अधीनता को स्वीकार किया था और हूणों की शक्ति बढ़ने पर उनका आधिपत्य भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा।"

परन्तु मैत्रक राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। मैत्रक राजकुल की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी और ज्योंही हूणों की शक्ति का ह्रास हुआ इस राजवंश के राजाओं ने अपने को उनकी अधीनता से मुक्त कर लिया। छठी तथा सातवीं शताब्दियों में पहुँच कर मैत्रक नरेश पश्चिमी भारत में सर्वशक्तिमान हो गये। वलभी का एक प्रतापी राजा शीलादित्य था। इसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया जिसका प्रमाण हमें चीनी यात्री ह्वेनसांग के द्वारा प्राप्त होता है। मो-ला-पो का वर्णन करते हुए उसने इसके राजा

शीलादित्य का उल्लेख किया है जो चीनी यात्री के समय से आठ वर्षों पूर्व इस देश (मो-ला-पो) पर राज्य कर रहा था। इस प्रकार शीलादित्य का शासन-काल ५८० ई० के लगभग ठहरता है। यद्यपि तिथियों के सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न होती है तथापि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित मो-ला-पो के शीलादित्य का वलभी के शीलादित्य प्रथम धर्मादित्य के साथ समीकरण किया जा सकता है। यदि हम इस समीकरण को सत्य मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि शीलादित्य ने एक विस्तृत प्रदेश पर शासन किया। मो-ला-पो की भौगोलिक स्थिति के विषय में मतभेद होने के बावजूद भी इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि इस नाम से 'मालवा' की अभिव्यक्ति होती है और इसमें पश्चिमी मालवा का काफी भाग सम्मिलित था। इसलिए हम यह विश्वास कर सकते हैं कि छठी शती के अन्त में वलभी का राज्य पश्चिमी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था।[1]

ह्वेनसांग ने राजा शीलादित्य की बहुत अधिक प्रशंसा की है। उसने उसे 'शासन सम्बन्धी एक महती योग्यता तथा दुर्लभ दयालुता और करुणा से सम्पन्न शासक' कहा है। शीलादित्य ने एक बौद्ध मन्दिर का निर्माण कराया जो आकार तथा अलंकरण में अत्यन्त कलात्मक था। वह प्रति वर्ष एक धार्मिक सम्मेलन का आयोजन भी किया करता था जिसमें देश भर के बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुआ करते थे। अभिलेखों के साक्ष्य से पता चलता है कि राजा शीलादित्य ने धर्मादित्य की पदवी धारण की थी जो ह्वेनसांग के द्वारा उसके चरित्र सम्बन्धी दिये हुए वर्णन से अच्छी तरह मेल खा जाती है।

राजा शीलादित्य के बाद उसका भतीजा ध्रुवसेन द्वितीय वलभी का दूसरा प्रतापी राजा हुआ। शीलादित्य की मृत्यु सम्भवतः ६१२ सन् ईसवी में हुई जिसके बाद उसका अनुज खरग्रह वलभी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। खरग्रह के बाद उसका पुत्र धरसेन तृतीय राजा हुआ। इन दोनों राजाओं के विषय में हमें विशेष रूप से कुछ ज्ञान नहीं। केवल इतना मालूम है कि वे क्रमशः ६१६ सन् ईसवी और ६२३ ई० में राज्य कर रहे थे। धरसेन तृतीय के शासन काल में वलभी के राज्य में उत्तरी गुजरात सम्मिलित था।

ध्रुवसेन द्वितीय—धरसेन तृतीय का उत्तराधिकारी ध्रुवसेन द्वितीय था। ध्रुवसेन द्वितीय धरसेन का छोटा भाई था। ध्रुवसेन द्वितीय के विषय में ह्वेनसांग ने लिखा है— राजा जन्म से क्षत्रिय था और मो-ला-पो के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का दामाद था। उसका नाम था तु-लो-पो-पो-ता (ध्रुवभट्ट)। उसके विचारों में न गहराई थी और न दूरदर्शिता परन्तु बौद्धधर्म में उसकी आस्था गहरी थी। ह्वेनसांग के इस कथन से यह ध्वनित होता है कि शीलादित्य के समय में राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था—(१) मालवा का पश्चिमी भाग (मो-ला-पो) जो शीलादित्य के अधीन था और (२) वलभी जो उसके भाई के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने रण-अभियान के सम्बन्ध में सम्भवतः हर्ष ने वलभी पर भी आक्रमण किया होगा "जब कि वहाँ का राजा ध्रुवसेन (ध्रुवभट्ट) भड़ौच के दद्द का आश्रय प्राप्त करने के लिए देश छोड़कर भाग गया और उसकी सहायता से ही अन्त में अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर सका। निश्चय

[1] Classical Age, p. 63.

ही उसके और हर्षवर्धन के बीच संधि हुई जिसने अपने इस राजनीतिक सम्बन्ध को वलभी नरेश को अपना जामाता बनाकर अत्यन्त दृढ़ कर लिया। यात्री सूचित करता है कि हर्ष के प्रयाग सम्मेलन में उपस्थित होनेवाले नरेशों में ध्रुवभट्ट भी था जो वहाँ सम्राट के अनेक मित्र-नरेशों में एक मित्र नरेश के रूप में उपस्थित हुआ था। (एन० एन० घोष) घोष महोदय ने ध्रुवसेन के राज्य छोड़कर भाग जाने की घटना को भड़ौच के गुर्जर अभिलेखों में उल्लिखित घटना के ऊपर आधारित मान लिया है। उन्होंने गुर्जर अभिलेखों की सत्यता में तनिक भी सन्देह नहीं किया है। दद्द द्वितीय के लिए एक गुर्जर अभिलेख में सोत्साह कहा गया है कि उसने हर्ष द्वारा भयग्रस्त वलभी नरेश की रक्षा करके (अथवा उसे अपने राज्य में शरण देकर) एक महान गौरवपूर्ण कार्य किया। अभिलेख का यह कथन सत्य के निकट प्रतीत होता है यद्यपि इसमें प्रयुक्त भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि हर्ष और वलभी नरेश में एक संघर्ष हुआ था। परन्तु इस संघर्ष के परिणामों के विषय में हमें कोई सूचना नहीं मिलती। गुर्जर अभिलेख के साक्ष्य से ऊपर घोष महोदय ने जो निष्कर्ष निकाला है वही हमें सत्य मालूम पड़ता है। हम यह नहीं कह सकते कि हर्ष ने वलभी पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर ली थी और वलभी का शासक हर्ष का सामन्त हो गया था। डा० दिनेशचन्द्र सरकार का यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता कि वलभी का राजा हर्ष का एक सामन्त मित्र था। यह अनुमान करना कठिन प्रतीत होता है कि सम्राट् हर्ष और ध्रुवसेन का परस्पर मैत्री सम्बन्ध था।

धरसेन चतुर्थ—ध्रुवसेन द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ था। यह एक समर्थ और शक्तिमान नरेश था। उसने एक चक्रवर्ती नरेश की समस्त उपाधियाँ परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर तथा चक्रवर्तिन धारण कर रक्खी थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भट्टिकाव्य का रचयिता भट्टि इसी धरसेन की राजसभा को सुशोभित करता था। धरसेन एक वीर विजेता भी था। उसने गुजरात के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने भड़ौच के विजयस्कन्धावार से एक दान दिया था जिससे यह प्रतीत होता है कि इस समय भड़ौच उसके अधिकार में आ गया था।

धरसेन चतुर्थ के पश्चात् वलभी का राज्य—धरसेन चतुर्थ के एक शती बाद तक मैत्रक कुल का राज्य वलभी पर बना रहा। इस वंश के अन्तिम नरेश शीलादित्य सप्तम की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् ४७७-७६६ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक मैत्रक वंश का अस्तित्व कायम रहा। परन्तु धरसेन चतुर्थ के पश्चात् से लेकर इस समय तक के वलभी राज्य का इतिहास तिमिराच्छादित है। इस राज्य का राजनीतिक गौरव भले ही कम हो गया हो परन्तु इसका सांस्कृतिक महत्त्व और अधिक समय तक रहा। अरब आक्रमणकारियों ने सन् ७७ ई० के लगभग वलभी के राज्य का अन्त कर दिया।

वलभी का आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व—यद्यपि वलभी की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक नहीं थी और समकालीन राजनीतिक शक्तियों में इसका स्थान बहुत अधिक गौरवपूर्ण नहीं था तथापि इसकी आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। वलभी राज्य की आर्थिक और सामरिक स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी। हमने गुप्त युग की आर्थिक अवस्था पर विचार करते हुए यह देखा है कि भड़ौच एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। कुछ काल तक यह वलभी के राज्य में सम्मि-

लित हो गया तो इसकी आर्थिक समृद्धि में सात चाफा बढ़ गये। स्वयं वलभी की स्थिति बड़ी हितकर और आर्थिक क्रियाकलापों के अनुकूल थी जिससे प्रोफेसर अल्तेकर के शब्दों में वलभी, काठियावाड़ में आधुनिक वल के निकट अवस्थित अन्तराष्ट्रीय वाणिज्य का एक बंदरगाह बन गई थी जहां पर अनेक व्यापारिक मण्डियाँ प्रतिक्षण दुर्लभ व्यापार-सामग्रियों से पटी रहती थी। 'Valabhi situated near modern Wala in Kathiawar was the capital of an important kingdom and a part of international trade with numerous warehouses full of rarest merchandise'[1]

वलभी की इस आर्थिक समृद्धि ने वहां पर संस्कृति और सभ्यता के विकास को सुगम बना दिया। वलभी में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था और यह नगरी अपने विद्यालय के कारण विख्यात था। प्रोफेसर अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में शिक्षा' में वलभी के विश्वविद्यालय का वर्णन किया है। उसी के आधार पर हम भी उसका उल्लेख करते है। सातवीं शताब्दी में विद्या का केन्द्र होने के कारण वलभी की नगरी अधिक प्रसिद्ध थी। चीनी यात्री इत्सिंग से हम सूचना मिलती है कि इसका यश पूर्वी भारत की नालन्दा नगरी के यश की प्रतिस्पर्धा करता था। यह सचमुच एक दुःख की बात है कि इत्सिंग ने इसकी साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी क्रियाशीलता का सविस्तार वर्णन नहीं किया है। ६४० ई० में वलभी में लगभग एक सौ बौद्ध विहार थे और उनमें छः हजार भिक्षु विद्यार्थी रहते थे। सातवीं शताब्दी के मध्य में स्थिरमति और गुणमति नामक सुविख्यात बौद्ध विद्वान् इस नगरी के ख्यातनामा आचार्य थे। नालन्दा की भांति वलभी में संकीर्ण धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। केवल बौद्ध धर्म और तत्सम्बन्धी विषय ही यहाँ के पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं थे बल्कि अन्य विषयों की भी यहाँ शिक्षा दी जाती थी। केवल बौद्ध भिक्षु ही यहाँ शिक्षा नहीं प्राप्त करते थे अपितु ब्राह्मण विद्यार्थी भी यहाँ विद्या प्राप्त करने के लिए आते थे। अल्तेकर महोदय ने कथासरित्सागर से निम्नलिखित अंश समुद्धृत किया है जिससे विदित होता है कि अन्तर्वेद तक से ब्राह्मण-कुमार उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वलभी पहुँचा करते थे—

अन्तर्वेद्यामभूत्पूर्वं वसुदत्त इति द्विजः।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्रमस्योपपद्यत ॥
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः।
गन्तुं प्रववृते विद्याप्राप्त्यै वलभीपुरम् ॥

इत्सिंग के कथनानुसार वलभी के स्नातकों को उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाता था। यदि इत्सिंग का यह कथन सत्य है जैसा कि प्रतीत होता है तो हमारा यह अनुमान प्रबल हो जाता है कि नालन्दा की भाँति वलभी के विद्यालय में भी लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे। न्याय अर्थशास्त्र साहित्य आदि विषयों की शिक्षा यहाँ अवश्य ही दी जाती रही होगी। वलभी का विश्वविद्यालय अपनी सहिष्णुता और बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए विख्यात था। हमें यह सूचना मिलती है कि भारत के समस्त भागों से विद्वान् वलभी में एकत्र हुआ करते थे और कम-से-कम दो तीन वर्षों तक ठहरकर सम्भव तथा असम्भव सिद्धान्तों पर चर्चा करते थे। जब उनको वलभी के प्रसिद्ध आचार्य यह विश्वास दिला देते थे कि उनकी धारणायें ठीक हैं तो वे अपने ज्ञान के लिए देश भर में विख्यात हो

---

[1] ... cation in Ancient India p 12.

आया करते थे। नालन्दा की भाँति यहाँ भी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वानों के नाम इसके उन्नत द्वारों पर श्वेत रंग से लिख दिये जाते थे।

वलभी के विश्वविद्यालय का व्यय वहाँ के समृद्ध व्यापारियों और शासकों द्वारा वहन किया जाता था। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि वलभी एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहाँ पर निश्चय ही अनेक धनवान् व्यापारी रहते थे। अल्तेकर के शब्दों में The University used to recieve considerable support from these merchant princes The Maitraka kings who were ruling there during 480 to 775 A D were also great patrons of learning they used to give direct grants for meeting the general expenses of the University as al o for stengthening its library विश्वविद्यालय इन व्यापारी राजकुमारों से पर्याप्त पोषण प्राप्त करता था। मैत्रक नरेश भी जो ४८० से लेकर ७७५ सन ईसवी तक वहाँ पर शासन करते थे विद्या के महान संरक्षक थे। वे विश्वविद्यालय के सामान्य खर्चों की पूर्ति के लिए और विश्वविद्यालय को सुदृढ़ करने के लिए भी प्रत्यक्ष अनुदान दिया करते थे। सन ७७५ ई० तक यही व्यवस्था बनी रही। इसके बाद जब अरब आक्रमण के फलस्वरूप मैत्रक वंश का नाश हो गया तो विश्वविद्यालय का प्राचीन गौरव कुछ समय के लिए लुप्त हो गया। परन्तु मैत्रकों के उत्तराधिकारियों ने भी यद्यपि इतिहास इनके विषय में हमें अधिक नहीं बताता विश्वविद्यालय को राज्य-संरक्षण देना जारी रक्खा और वलभी की नगरी विद्या केन्द्र के रूप में अपनी ख्याति बारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ हो सकी। सुदूरवर्ती भागों जैसे बंगाल तक से यहाँ का विश्वविद्यालय विद्यार्थियों को आकृष्ट करता रहा।[१]

वलभी का विश्वविद्यालय मैत्रक राजाओं के लिए गर्व का कारण है। यद्यपि अधिकांश मैत्रक नरेश शैव थे तथापि उन्होंने बौद्ध विश्वविद्यालयों को अपना राज्य संरक्षण प्रदान किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने उदार धार्मिक दृष्टिकोण के थे। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा विश्वविद्यालय के व्यय के लिए अनुदान दिया जाना यह सिद्ध करता है कि वे विद्या के महत्त्व को भली भाँति समझते थे। स्नातकों को वे राजकीय पदों पर नियुक्त करते थे जिससे उनकी विद्यानुरागिता का परिचय मिलता है। विद्या-संरक्षण के कारण वलभी के मैत्रक राजाओं को भारतीय शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए।

प्रकरण ३ मौखरियों का राज्य

इस समय उत्तर भारत में मौखरियों का राज्य एक प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप में विद्यमान था। (मौखरियों की प्राचीनता का प्रमाण पाणिनी पतञ्जलि और मौर्यकालीन ब्राह्मी अक्षरों में अंकित एक मिट्टी की मुहर द्वारा प्राप्त होता है) उनके साथ साथ जो वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये गये थे उनका अभिलेखों में बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया गया है जिससे मौखरियों के कुल की प्राचीनता सिद्ध होती

---

[१] हम वलभी विश्वविद्यालय के इस सम्पूर्ण विवरण के लिए प्रोफेसर अल्तेकर के कृतज्ञ हैं। विशेष विवरण के लिए देखिए—*Education in Ancient India* (I m h l l tion) [illegible]

है। (बाण ने भी उनके कुल की प्राचीनता का उल्लेख किया है। वे सम्भवतः एक गणतन्त्रात्मक समुदाय के थे) अभिलेखों द्वारा भी उनकी प्राचीनता का प्रमाण प्राप्त होता है। उन अभिलेखों में जो ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्कीर्ण कराये गये थे मौखरी सरदारों का उल्लेख किया गया है। उनकी शक्ति के केन्द्र गंगा की उपरली घाटी में थे (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार के भागों में)। उनकी राजधानी गया में थी। सम्भवतः गुप्तों द्वारा वे पराजित कर दिये गये। अतएव गुप्त सामन्तों के रूप में उन्होंने गुप्त सत्ता अपना लिया। छठी शताब्दी में वे स्वतन्त्र हो गये। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक मौखरी राजाओं ने सामन्तोचित विरुद धारण किये। ईशानवर्मन जो स्वयं एक गुप्त राजकुमारी का पुत्र था सर्वप्रथम मौखरी नरेश था जिसने सम्राटों की पदवी धारण की। मौखरियों का एक प्रभावशाली राजवंश के रूप में उदय गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो जाने पर कन्नौज में हुआ था।

प्रारम्भिक मौखरि नरेश जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सामन्तोचित विरुद धारण करते थे। उनको सामन्त चूडामणि तथा सामन्त ही कहा गया है। सम्भवतः वे गुप्त नरेशों के अनुवर्ती सामन्त थे। ईशानवर्मन ने अपने कुल की स्वतन्त्र राजसत्ता का विकास करके अपने को गौरवान्वित किया और साथ ही साथ अपने वंश की मर्यादा भी बढ़ाई। जैसा पहले कहा जा चुका है वह सर्वप्रथम मौखरि नरेश था जिसने सम्राट का विरुद धारण किया परन्तु विरुद मात्र न था। (ईशानवर्मन एक योद्धा और वीर विजेता था। उसके हरहा अभिलेख में उसकी सैन्य-सफलताओं का उल्लेख किया गया है जिससे विदित होता है कि उसने आन्ध्रों को जीता शूलिकों को परास्त किया और गौड़ों को उनकी सीमा के भीतर घर रखा। इस प्रकार उसकी शक्ति बढ़ने पर उसके समकालीन गुप्त नरेशों को चिन्ता हुई। ईशानवर्मन ने अपने को गुप्तों का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। सम्भवतः उसने हूणों से भी युद्ध किया। कदाचित वह सन् ५५४ ई० में शासन कर रहा था) उसने मगध के गुप्त नरेश से भी लोहा लिया। इस समय से मौखरियों और परवर्ती गुप्त शासकों का पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। गंगा की उपरली घाटी में मौखरी राजवंश सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। सर्ववर्मन् ईशानवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने अपने समकालीन मगध नरेश को जो गुप्त वंश का था और जिसका नाम दामोदरगुप्त था युद्ध में पराजित कर दिया और उसकी हत्या भी कर डाली। सर्ववर्मन का राज सम्भवतः बंगाल में लेकर सतलज और विन्ध्य तक फैला था। उसकी राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज) थी जो एक प्राचीन नगरी (कदाचित ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भी पहले) थी। इसका उल्लेख पतञ्जलि ने भी किया है और फाह्यान ने इसका भ्रमण किया था परन्तु इस नगरी का महत्व गुप्तों के पतनोपरान्त ही बढ़ा। सर्ववर्मन् के पश्चात् अवन्तिवर्मन् उसका उत्तराधिकारी हुआ। अवन्तिवर्मन भी एक शक्तिशाली नरेश था। गृहवर्मन् नामक एक मौखरि-नरेश (सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ) ने हर्षगुप्त की भगिनी से पाणिग्रहण किया था। मालवा के गुप्त नरेश देवगुप्त ने गृहवर्मन् का वध कर दिया। हर्ष ने देवगुप्त को पराजित करके अपनी भगिनी के संरक्षक रूप में मौखरी राज्य का भार अपने ऊपर वहन कर लिया। इस प्रकार वर्द्धनों ने मौखरियों की सम्राटोचित स्थिति को प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् मौखरियों की मुख्य शाखा का अन्त हो गया। मौखरियों की अनेक शाखायें थीं जिनमें उत्पन्न राजकुमार और कुछ दिनों तक शासन करते रहे परन्तु मूल मौखरी कुल की राजसत्ता समाप्त हो गई।

डा० त्रिपाठी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कन्नौज का इतिहास' में बताया है कि विन्ध्य से लेकर अवध तक और पूर्व में पूर्वीय बंगाल तक मौखरियों का राज्य फैला हुआ था। मौखरिनरेश अमात्यों की एक सभा की सहायता से राज्य पर शासन करते थे। राजवंश के कुमार विभिन्न प्रान्तीय शासकों के रूप में प्रान्तों पर शासन करते थे किन्तु सामन्त गण भी विद्यमान थे। न्याय की एक सुसंगठित व्यवस्था थी और राजा तक अपील की जा सकती थी। विविध प्रकार के राज्य पदाधिकारियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कान्यकुब्ज के मौखरी राजा ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे। उनके शासन काल में संस्कृति और सभ्यता का प्रचार था। पिरेज नामक विद्वान् की धारणा है कि 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक की रचना मौखरियों के राजत्व काल में की गई थी। परन्तु इस विचार की पुष्टि के लिए समुचित प्रमाण नहीं है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौखरी नरेशों ने विद्या के पोषण और प्रचार का प्रयत्न किया। मौखरियों का शासन काल ५५४ ई० से ६०६ ई० तक है।

प्रकरण ४ परवर्ती गुप्त वंश एवं उनका मूल निवास-स्थान

कुछ वर्ष पूर्व भारतीय इतिहासकारों के लिए 'परवर्ती गुप्त वंश' एक जटिल पहेली का रूप धारण किए हुए था। इन नरेशों की एकात्मकता महान गुप्त वंश के नरेशों से किए जाने का प्रयास किया जाता था। परन्तु समस्या को सरल रूप प्राप्त होने के स्थान पर विषम रूप ही प्राप्त होता चला जा रहा था। अफसढ़ अभिलेख के कृष्णगुप्त की एकात्मकता गोविन्द गुप्त से स्थापित की गई थी। परन्तु इस एकात्मकता के समर्थन में विद्वानों को कोई तर्कसंगत आधार ही नहीं प्राप्त हो रहा था क्योंकि यह परवर्ती गुप्त नरेश अपने को महान् गुप्त सम्राटों की पंक्ति में नहीं रखते थे। यदि महान् सम्राटों की वंशावली के वे भाग सदस्य होते तो निश्चय रूपेण वे अपने को उनके वंशज घोषित करते। कौन नरेश संयोगवश स्वर्णयुग के विधाताओं की पंक्ति में आना स्वीकार नहीं करेगा? इस एकात्मकता का मुख्य तर्क यही हो सकता है कि 'गुप्त' नाम दोनों वंशों के नरेशों के अन्त में जुड़ा हुआ प्राप्त होता है। अब इतिहासकारों ने यह मानना स्वीकार कर लिया है कि दो विभिन्न गुप्तों ने भारत में भिन्न भिन्न समयों पर राज्य किया था। इन दोनों का परस्पर कोई रक्त का नाता नहीं था। यह नामों की समरूपता केवल संयोगवश ही है। परवर्ती गुप्त नरेशों के विषय में यह धारणा काफी तर्कसंगत प्रतीत होती है कि यह परिवर्तन गुप्त साम्राज्य का सामंतीय परिवार था। इन सामन्तों ने अपने को महान् गुप्त सम्राटों का वैधानिक उत्तराधिकारी घोषित करने के लिए ही यह 'गुप्त' नाम अपने नाम के बाद में जोड़ना प्रारम्भ किया था। देश की जनता 'गुप्तकाल' की महान धनधान्यता एवं समृद्धि को कदापि भूल नहीं सकती थी। उनके लिए 'गुप्त' नाम का जादू बहुत अर्थ रखता था। परवर्ती गुप्तों ने इस स्थिति को दृष्टिगत कर पूर्ण नाम उठाने का प्रयास किया। अभी तक इस विषय पर कोई निश्चय सिद्धान्त का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतएव हम अध्याय के हम विवरण को पूर्ण स्थापित तथ्य नहीं स्वीकार करना चाहिए। नए-नए अनुसंधानों एवं अन्वेषणों के पश्चात ही हम एक स्थिर मत पर आरूढ़ होंगे। अब हम सबसे पूर्व परवर्ती गुप्त नरेशों के मूल निवास स्थान के विषय में चर्चा प्रारम्भ करेंगे।

इस विषय में तो उतना विवाद नहीं है कि आदित्यसेन के पश्चात व जीवित गुप्त द्वितीय तक के नरेशों ने मगध पर शासन किया था। विवाद के

सेन के पूर्वजों का ही निर्धारण किया जाता है। आदित्यसेन का एक अभिलेख मगध में प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में आदित्यसेन के पूर्वजों की वंशावली का निर्देश भी किया गया है। इसी साक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने मगध को ही परवर्ती गुप्त नरेशों का क्रीडास्थल स्वीकार किया है।

सबसे पूर्व डा० फ्लीट (Fleet) ने इन नरेशों को मगध के महान् गुप्त सम्राटों से पृथकत्व प्रदान करने के लिए ही परवर्ती गुप्त नरेशों की संज्ञा प्रदान की थी।

परन्तु हार्नली (Hornle) ने इस मत का प्रचार किया है कि परवर्ती गुप्त नरेश महान् गुप्त सम्राटों की एक शाखा थे और पूर्वी मालवा में शासन कर रहे थे। वैद्य (Vaidya) ने लिखा है—

The family mentioned in the Apshad inscription ruled Malwa at Ujjain until Devagupta

डा० राधाकुमुद मुकर्जी के भी विचार यही हैं। उन्होंने अपना तर्क इस प्रकार उपस्थित किया है—

The fortunes of Malwa and the family had a final set back in the defeat of Devagupta by Rajya *Dr R K Mookerji*

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मालवा का शासन गुप्तवंश के हाथों था परन्तु आदित्यसेन के समय मगध को यह श्रेय प्राप्त हो जाता है—

In the time of Adityasena Magadha now replaces Eastern Malwa as the chief centre of Gupta power

मालवा के गुप्त नरेशों का अस्तित्व बाण ने अपने हर्षचरित में प्रकट किया है। कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त राजकुमारों का उल्लेख हर्ष एवं राज्य के सहयोगियों के रूप में किया गया है। यह मालव नरेश के पुत्र प्रभाकर के दरबार में बचपन वश के युवराजों के सहपाठी थे। श्री राखालदास बनर्जी ने Journal of Bihar Research Society में इस तथ्य की सत्यता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं प्रकट किया है। इसी प्रकार मधुवन अभिलेख में हर्ष के एक प्रतिद्वन्द्वी नरेश देवगुप्त का निर्देश हुआ है। अफसढ़ अभिलेख में माधवगुप्त नाम के एक नरेश का उल्लेख जो कि श्री हर्षदेव की संगति के लिए इच्छुक है। डा० मुकर्जी ने अफसढ़ अभिलेख के माधवगुप्त की बाण के माधवगुप्त से एकात्मकता स्थापित की है। इस प्रकार मालवा को परवर्ती गुप्तों का मूल स्थान प्रतिपादित किया है। इसके साथ ही साथ यह भी बताया गया है कि मगध में उस समय परवर्ती गुप्तवंश का शासन भी नहीं हो सकता था क्योंकि मगध पर अन्य वंश का आधिपत्य था। उस समय मगध मौखरियों के अन्तर्गत शासित हो रहा था। हार्नली ने भी मगध पर गुप्त नरेशों के आधिपत्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। इसके माधवगुप्त मगध का शासक नहीं रहा था। श्री पियर्स (E A Piers) ने मौखरियों का आधिपत्य प्रारम्भ में ही मगध पर माना है। इस विद्वान् ने मौखरियों को शताब्दियों पूर्व से मगध का निवासी घोषित किया है। परवर्ती गुप्तों को मालवा का मूल निवासी बताते हुए इसने दो तर्कों को हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। (१) इस तर्क के अनुसार अफसढ़ अभिलेख का माधवगुप्त तथा हर्षचरित का माधवगुप्त एक ही नरेश की ओर इंगित करता है। अतएव इस नरेश के पिता तथा अन्य पूर्वज मालवा के ही शासक थे। (२) अभिलेखों में

यह साक्ष्य उपस्थित किया है कि मगध पर मौखरियों का शासन था अतएव परवर्ती गुप्तों का उस स्थान पर शासन सम्भव नहीं। एक ही क्षेत्र पर दो राजवंशों का अस्तित्व साथ ही साथ असम्भव होता है। अतएव परवर्ती गुप्तों का क्षेत्र मालवा ही था। इस प्रकार इन दो तर्कों से पियस महोदय ने अपने मत की पुष्टि की है। परन्तु अन्य विद्वानों ने इन तर्कों को उपयुक्त नहीं स्वीकार किया है। विशेष रूप से दूसरे तर्क की आलोचना करते हुए डा० रमेश चन्द्र मजूमदार ने कहा है—

Deo Bennaika inscription does not pr ve the possession of Magadha or any part by the Maukhari kings Sarvavarman and Avantivarman the village granted might not be Varnnika (Deo Barnark) but Kishorevatika which might have been the Uttar Pradesh outside Magadha

पियस महोदय ने अभिलेखों को मौखरी नरेशों के अस्तित्व का जो उल्लेख किया है वह ठोस नहीं है। देव बनार्क अभिलेख हों में मौखरियों का निर्देश आया है। इसमें मौखरियों द्वारा अनुदान में दिए हुए एक ग्राम का वर्णन है। यह वर्णन किशोर वाटिका का है। वार्णीक गाव को अनदान में नहीं दिया गया था बल्कि किशोर वाटिका को। यह गाव उत्तर प्रदेश में स्थित है। अतएव मौखरी नरेशों सर्ववर्मन एव अवन्तिवर्मन ने मगध या उसके किसी भाग पर कोई आधिपत्य नहीं किया हुआ था।

इस प्रकार पियस एव अन्य विद्वानों का सिद्धान्त दम तोड़ता चल रहा है क्योंकि नूतन अन्वेषणों एव अनुसंधान ने हमारे सम्मुख नया ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मालवा को हम अब परवर्ती गुप्त नरेशों का मूल स्थान नहीं कह सकते। आदित्यसेन के अफसड़ अभिलेख में यह अंकित है कि महासेनगुप्त ने सुस्थित वर्मन पर विजय प्राप्त की था—

This mighty fame marked with the honour of victory in war over Sri Susthirvarm n is still sung on the banks of the river Lauhitya

अब पूर्णतया यह स्पष्ट हो गया है कि सुस्थितवर्मन कामरूप का नरेश था। यद्यपि इसके पूर्व ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में विद्वान इसे मौखरी वंश का मानते थे। डा० राधाकर त्रिपाठी तथा डा० राय चौधरी ने लिखा है कि महासेनगुप्त का कामरूप के सुस्थितवर्मन पर विजय यह नहीं सिद्ध करती है कि महासेनगुप्त मालवा का शासक नहीं हो सकता। मालवा का शासक होकर भी महासेनगुप्त की आसाम के शासक पर विजय सम्भव है। तभी से राय चौधरी ने लिखा है —

Kumargupta had pushed to Prayaga and Damodargupta had broken up the proudly stepping array of mighty elephants belonging to the Maukharis what was there to prevent the son of Damodargupta from pushing on to Louhitya

जब मालवा नरेश कुमारगुप्त प्रयाग तक विजय प्राप्त करने में सम्भव था और जब दामोदर गुप्त मगध के मौखरियों को भी नतमस्तक कर सकता था। तब महासेनगुप्त क्या नहीं लौहित्य के तट तक विजय प्राप्त करने में समर्थ था। महासेनगुप्त पूर्णतया आसाम के शासक को परास्त करने में सामर्थ्यवान था। डा० राय चौधरी तथा डा० त्रिपाठी के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कुमारगुप्त एव महासेन

गुप्त के पिता दामोदरगुप्त का मगधपर भी नियंत्रण था क्योंकि प्रयाग तक अपना साम्राज्य विस्तार करना एव मौखरियों को विजित करना मगध को अपने नियंत्रण में रखने के तुल्य है।

परन्तु हमारे उपर्युक्त मत के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है ज्वन्वनाक के अभिलेख का यह विवरण कि मौखरियों का प्रभुत्व मगध में स्थित था। इन मौखरियों में मुख्यत दो नरेशों के समय में सर्ववर्मन तथा अवन्तिवर्मन के—यह प्रभुत्व अधिक स्पष्ट था। महासेनगुप्त तथा सर्ववर्मन लगभग समकालीन नरेश थे। इससे हम यहां निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दोनों नरेशों ने मगध का भिन्न भिन्न समयों में शासित किया था।
परवर्ती नरेशों न या तो मौखरी शासन
किया था। केवल यह दो ही विकल्प
सिद्ध प्रबन्ध है परवर्ती गुप्तों ने अप
कम से कम दो नरेशों ने तो मगध के कु
सम्भवत उनके वंशजों ने इस प्रदेश पर अपना शासन अनवरत रखा हो। मौखरी नरेश ईशानवर्मन के साम्राज्य अन्तर्गत प्रयाग तक का भूभाग भी सम्मिलित था। महासेनगुप्त का कामरूप विजय से हम यह निगमन कर सकते हैं कि उसका प्रभुत्व अवश्य मेव मगध एव बंगाल पर स्थित रहा होगा क्योंकि इतने प्रतापी नरेश के लिए यह दो प्रदेश मार्गनिर्देश दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। जब महासेन गुप्त का पतन प्रारम्भ हुआ तभी मगध पर मौखरियों का आधिपत्य पुन स्थापित होना प्रारम्भ हुआ था।

इस प्रकार पियर्स आदि महोदयों का यह कहना कि मगध पर मौखरियों का ही आधिपत्य था अनुचित एव न्याय असगत है। एक व्यावहारिक मत के प्रतिपादन के लिए उपर्युक्त निष्कर्ष ही अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। डा० राय चौधरी ने अपने को एक विषम परिस्थिति में डाल दिया है क्योंकि वह एक अव्यवहारिक मत का विश्लेषण करते हैं। इस विद्वान ने महासेन गुप्त को ही पुन मगध में कामरूप तक परवर्ती गुप्त साम्राज्य स्थापित करने वाला बताया है। इस नरेश के पूर्व मगध मौखरियों के शासनान्तर्गत था। डा० चौधरी ने लिखा है—

After the loss of Magadha the later Guptas were apparently confined to Malwa till Maha enagupta once more pushed his conquests so far as the Lauhitya

परन्तु डा० महोदय के इस मत के मानने में तो यही तात्पर्य होगा कि सर्ववर्मन एव अवन्तिवर्मन का मगध पर प्रभुत्व न होना। परन्तु सर्ववर्मन एव अवन्तिवर्मन का मगध पर प्रभुत्व एक प्रकार से पूर्णतया सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार दो नरेशों का मगध में साथ-साथ राज्य करना असम्भव है। अतएव डा० राय चौधरी के मत को हम मानने में असमर्थ हैं।

पियर्स ने एक बड़ी ही निष्फल कल्पना का उद्भावन की है यह बता कर कि महासेनगुप्त एव मगध के मौखरी नरेश ने मिलकर कामरूप के नरेश के विरुद्ध अभियान किया था। देखिए—

Maukhari King must have been glad that Mahasenagupta had taken upon himself the dangerous task of subduing the imperial

ambitions of the far eastern potentate Magadha emperor might have but some assistance and encouragement to Mahasenagupta'

सातवी शताब्दी ईसवी की सबसे महत्वपूर्ण बात है मौखरियो एव परवर्ती गुप्ता मे प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा। इन दो राजवशो ने यवनो के पतन के पश्चात अपनी सार्वभौमिकता स्थापित करने की जी तोड कोशिश की थी। परन्तु यह दोनो राजवश अपने प्रयास मे असफल रहे थे। क्या यह भीषण शत्रु एक दूसरे से परस्पर स्नेहालिंगन कर सकते थे ? क्या एक सामान्य शत्रु के विरोध मे यह दोनो विपक्षी एक हो सकते है ? इन दोनो प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक है। कामरूप पर विजय प्राप्त करने के लिए यह उचित ही है कि विजयी का शासन मगध पर भी हो। इतना दूर तक अपना अभियान ले जाने वाले नरेश के लिए अनिवार्य सा है कि वह भारत के हृदय को भी जीते और विशेष कर उस समय जबकि उस पर घातक शत्रुओ का आधिपत्य हो। इस प्रकार मालवा के नरेश महासेनगुप्त का मगध तक शासन विस्तार था यह उचित ही है।

डा० बी पी० सिन्हा ने अपने मत को और भी पुष्ट करने के लिए कुछ अन्य ऐतिहासिक घटनाओ का आश्रय लिया है। इन घटनाओ मे सर्वप्रमुख है जीवितगुप्त का समुद्र के किनारे पर आक्रमण एव हिमालय क्षेत्र को विजित करना। अफसड अभिलेख मे जीवित गुप्त के इस विजय अभियान का उल्लेख है। इस विजय से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि जीवितगुप्त का साम्राज्य मुख्यत इन्ही क्षेत्रो के समीप ही स्थित था। हिमालय के भाग एव समुद्रीय तट तो केवल बगाल प्रदेश के समीपस्थ ही किसी क्षेत्र मे हो सकते है। अतएव मगध ही जीवितगुप्त की क्रियाओ का केन्द्र था इसमे कोई सशय नही। परवर्ती गुप्त नरेशो का मगध पर आधिपत्य होना इससे अधिक सिद्ध होता है।

कुछ विद्वानो ने पुन अभिलेखो के विवरणो से हमारे प्रतिपादित मत को खण्डित करने का प्रयास किया है। वस्तुत यह अभिलेख बडे ही अस्पष्ट रूप से किसी सूचना को प्रकट करते हैं। हरहा अभिलेख एव देववर्नाक अभिलेख से यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर प्रदेश एव बगाल के राजसाही क्षेत्र पर मौखरियो का आधिपत्य था। इन दो प्रदेशो पर आधिपत्य होने से मगध पर आधिपत्य होना तो अनिवार्य सा हो जाता है। अतएव मगध मौखरियो के ही कार्यकलापो का केंद्र था परवर्ती गुप्तो का नही।

हरहा अभिलेख मे हम ईशानवर्मन के अभियान का निर्देश प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार ईशानवर्मन ने भिन्न भिन्न प्रदेशो पर आक्रमण किए थे। ईशानवर्मन के यह आक्रमण केवल आक्रमण के लिए ही थे साम्राज्य विस्तार के लिए नही। अतएव गौड आदि स्थानो पर उसके आक्रमण से हम मगध को उसके क्षेत्रान्तगत नही मान सकते हैं क्योकि यह तो तूफान की भाँति अस्थायी रूप से एक क्षेत्र को पददलित कर देता था और तूफान के बाद पुन शान्ति का साम्राज्य छा जाता था। ईशानवर्मन के आक्रमणो से हम किसी भी प्रकार का कोई निष्कर्ष नही निकाल सकते अतएव हरहा अभिलेख से यह प्रतिध्वनित होना कि बगाल का राजसाही क्षेत्र मौखरियो के अन्तर्गत था न्यायसगत है।

अब केवल देव-बर्नाक अभिलेख का साक्ष्य ही हमारे सम्मुख रह जाता है। इस अभिलेख के विवरण से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सर्ववर्मन के शासनान्तर्गत मगध पर मौखरियो का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। इस निष्कर्ष से हमारा यह

मत प्रतिपादित करना कि परवर्ती गुप्त नरेशों का मगध पर सर्ववर्मन से पूर्व राज्य था कोई तर्क असंगत निगमन नहीं होगा। हम कृष्णगुप्त के वंशजों को मगध के शासक के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और यह शासन अनवरत रूप से महासेनगुप्त के अन्तिम दिनों तक स्थापित रहा था।

इसी स्थल पर हमारे पहुँच जाने के पूर्व भी हमको अभी विपक्षियों के कई तर्कों का समुचित उत्तर देना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। पायस एवं उनके अनुयायियों ने यह मत प्रस्तावित किया है कि मौखरियों का तो मगध पर शासन महान गुप्त सम्राटों के पूर्व भी स्थापित था। परवर्ती गुप्त नरेशों की कौन कहे बल्कि महान गुप्त सम्राटों के उत्थान के पूर्व मगध क्षेत्र पर मौखरियों का आधिपत्य था। इन विद्वानों ने अपने इस मत के समर्थन में कौमुदी महोत्सव का निर्देश किया है। प्रयाग प्रशस्ति के कोट परिवार की एकात्मकता कौमुदी महोत्सव के मगधकुल से की गई है और इसी एकात्मकता को स्वीकार कर मौखरियों को मगध का शासक घोषित किया गया है। परन्तु डा० बी०पी० सिन्हा आदि अन्य विद्वानों का कहना है कि कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता को हम कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। इस नाटक में हम कहीं भी कोट या मौखरी शब्द नहीं प्राप्त हुए हैं जो हम कुछ एकात्मकता स्थापित करने में तत्पर हो सकते हैं। बिना किसी ठोस के अपने मत की पुष्टि में कल्पनाओं का उभारा करने से इतिहास का निर्माण नहीं हो जाता। इतिहास तो कोरे सत्यों एवं तथ्यों का ही क्रमबद्ध विवरण है विद्वानों की काल्पनिक उपकल्पनाओं का नहीं।

पायस महोदय ने अपनी बहस को यहीं तक ही सीमित नहीं किया है। उन्होंने मयूरशर्मन के चन्द्रावल्ली अभिलेख में मौखरियों को प्रारम्भिक कदम्बों का समकालीन बताया है और वे मगध पर शासन कर रहे थे। पायस महोदय की अपनी भाषा में—

The Chandravally inscription of Mayurasarman has revealed the fact that the Maukhari ruled in Magadha in the time of early Kadambas.

परन्तु विद्वानों ने इस अभिलेख की प्रामाणिकता में भी सन्देह प्रकट किया है और इस प्रकार अप्रामाणिक या विवादास्पद प्रमाण को प्रस्तुत करना कमजोर आधार शिला के ऊपर भवन खड़ा करना होता है और जिसका भग्न होना अनिवार्य सा है। के० ए० शास्त्री ने अभिलेख की सत्यता में सन्देह करते हुए लिखा है—

This impossible record has all the appearance of a modern fake and its evidence should await confirmation before accepted as history.

आधुनिक जालसाजों के द्वारा भी यह अभिलेख प्रकाश में आया है क्योंकि इस लेख की भाषा एवं विवरण ऐतिहासिक तथ्यों के पूर्ण विपरीत प्रतीत होती है। हम इस प्रकार इस अभिलेख के आधार पर स्थित तर्क को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। इसी प्रकार विद्वानों का यह कहना कि मौखरी साम्राज्य जिसका कि ईशानवर्मन प्रवर्तक था ने यज्ञवर्मन के द्वारा स्थापित शासन के पश्चात् ही अपना महान मौखरी राजवंश प्रारम्भ किया था भी न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। यज्ञवर्मन एवं उसके वंशजों ने मगध में शासन किया था। पाटलिपुत्र पुर वंश पर मौखरियों की राजधानी थी—यह भी तर्कसंगत नहीं है। यज्ञवर्मन तो कोई स्वतन्त्र परम्परा को स्थापित करने वाला नहीं था। बल्कि महान गुप्त सम्राटों के सामन्त के रूप में यज्ञवर्मन एवं उसके

परिवार के लोगो ने शासन किया था। श्री एन० जी० मजूमदार ने लिपि विद्या (Palaeography) के नियमो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि किसी भी यज्ञवर्मन के वशज ने सम्राट की उपाधि धारण नही की थी। अतएव इनके उत्तराधिकारी के रूप मे हरिवर्मन एव उसके वशजो ने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया था? कोई सामत स्वतन्त्र राज्य को उत्तराधिकार रूप मे थोडे ही प्रदान कर सकता है। पाटलिपुत्र मौखरी राजवश मे पूरे समय भर राजनगरी थी—यह कथन भी स्वीकार्य नही हो सकता क्योकि मगध को महासेन ने मौखरियो से विजित कर लिया था। अतएव पाटलिपुत्र मौखरियो की पूरी अवधि पर्यन्त उनकी राजधानी नही रहा थी।

अतएव डा० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

There is nothing known so far which cannot be more reasonably explained and reconciled by holding that Magadha was the original home of the power of later Guptas from the time of Krishnagupta to the Gupta's early days

इस विद्वान इतिहासकार का उपर्युक्त कथन पर्याप्त अन्वेषणो एव अनुसधानो का ही स्वाभाविक परिणाम है। हम भी इसी मत को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करने मे कोई सकोच नही करना चाहिये।

गया के निकट अफसड अभिलेख मे इस वश के प्रारम्भिक नरेशो के नाम इस प्रकार दिये गये है—

१ कृष्णगुप्त	५ दामोदरगुप्त
२ हर्षगुप्त	६ महासेनगुप्त
३ जीवितगुप्त	७ माधवगुप्त
४ कुमारगुप्त	८ आदित्य सेन।[१]

यह उपर्युक्त सूची आदित्यसेन के अफसड अभिलेख मे दी गई है। जीवितगुप्त द्वितीय का देव-बरणार्क (शाहाबाद जिला) अभिलेख भी तीन अनुवर्ती गुप्त नरेशो के नाम प्रस्तुत करता है। देवगुप्त नामक एक गुप्त नरेश का उल्लेख हर्ष के बसखेडा और मधुवन अभिलेखो मे किया गया है। ग्यारह अनुवर्ती गुप्त नरेशो ने कुल मिलाकर दो सौ वर्षों तक राज्य किया।

कृष्णगुप्त

अनुवर्ती गुप्तो के राजकुल की सस्थापना कृष्णगुप्त ने सर्वप्रथम मगध मे की थी। अफसड अभिलेख ने कृष्णगुप्त के विषय मे लिखा है—

Krishnagupta was a king of good descent whose arm played the part of a lion in bruising the foreheads of the array of the rutting elephants of his haughty enemies and in being victorious by its power over countless foes

अफसड अभिलेख मे कृष्णगुप्त के विषय मे इतना ही विवरण है। यह नरेश स्वतन्त्र था या किसी सम्राट का सामत इसमे विवाद है परतु सामत नरेश होने की अधिक आशाए हैं। उपर्युक्त विवरण मे हम कृष्णगुप्त की एक भीषण शत्रु से मुठभेड

[१] *Classical Age* p 72

का निर्देश प्राप्त होता है। यह शत्रु कौन हो सकता है इसकी एकात्मकता अभी तक स्थापित नहीं की जा सकी है। परन्तु तत्कालीन घटनाओं के समीक्षात्मक अध्ययन से हम यह निगमन कर सकते हैं कि हूणों ने मगध के कई भागों में आतंक मचाया हुआ था। मगध एवं बंगाल पर भी उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। कृष्णगुप्त ने इन्हीं आक्रमणों को अवरुद्ध कर जयपत्र प्राप्त किए थे। 'Haughty enemies से तात्पर्य हूणों से ही हो सकता है। डा० बी० पी० सिंहा ने कृष्णगुप्त का समय ४९० से ५०५ ई० तक का माना है। कृष्ण गुप्त हरिवर्मन का समकालीन नरेश था। नरेश या नृप उपाधि से हम किसी को सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सञ्चालक नहीं कह सकते हैं। हरिवर्मन कन्नौज के मौखरी वंश का प्रवर्तक था।

श्री हर्षगुप्त

कृष्णगुप्त के उपरान्त परवर्ती गुप्त राजवंश का दूसरा उत्तराधिकारी श्री हर्षगुप्त था। इस नृप की शासनावधि ५०५ ई० के मध्य निश्चित की गई है। इस नृप के विषय में अफसड़ अभिलेख में निम्नलिखित विवरण है—

He was always displaying a glorious triumph the written record as it were of terrible conte ts

श्री हर्षगुप्त भी महागुप्त सम्राट का सामंत था। नरसिंहगुप्त ने इसी समय मिहिरकुल के विरुद्ध विप्लव किया था। इस सामंत ने हूणों के विरुद्ध युद्ध में अवश्य ही अपने स्वामी को सक्रिय सहयोग प्रदान किया होगा। इस नृप के विषय में हम और कुछ भी नहीं ज्ञात होता।

जीवितगुप्त प्रथम

श्री हर्षगुप्त के पश्चात जीवितगुप्त प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। डा० सिन्हा के अनुसार ५२५ से ५४५ ई० तक इस नृप ने शासन किया था। यह नृप विष्णुगुप्त का सामंत था। इसने अपने को क्षितीश चूड़ामणि की संज्ञा प्रदान की थी। परन्तु इस उपाधि से उसकी स्थिति के विषय में हमें कुछ अन्य ने सोचना चाहिए। इस नृप ने प्रथम बार कई अभियानों एवं आक्रमणों से अनुवर्ती गुप्तों की महत्वाकांक्षा को प्रस्फुटित किया था। आदित्यसेन ने अपने अभिलेख में जीवितगुप्त प्रथम की महत्ता के विषय में लिखा है—

As superman deeds are regarded with astonishment by all mankind like the leap of (the monkey of Hanumat) seen of wind from the side of (the mountain) ho havardhana

—

हिमालय क्षेत्र में तथा दक्षिण पश्चिमी बंगाल में इस नरेश ने कई बार आक्रमण किए थे। परन्तु यह आक्रमण आक्रमण के लिए ही थे। इन आक्रमणों का विष्णुगुप्त के नाम से सञ्चालित किया गया था परन्तु श्रेय इसमें शक्ति को जीवितगुप्त की बढ़ी। मञ्जुश्री मूलकल्प ने भी अनुवर्ती गुप्तों को गौड़ का शासक घोषित किया है। निःसन्देह इस आक्रमण से अनुवर्ती गुप्तों की प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हुई थी। जीवितगुप्त को ही यह सारा श्रेय प्राप्त होना चाहिए।

कुमारगुप्त

इस नरेश का शासन काल ५४० से ५६० के बीच निश्चित किया गया है। परवर्ती गुप्त नरेशों में यह प्रथम सर्वप्रभुत्व सम्पन्न नरेश था और किसी भी सम्राट का सामंत नहीं था। महान गुप्तों की पतनोन्मुख अवस्था से अवगत हो विभिन्न सामंत नरेशों ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की आकांक्षा में विप्लव करने प्रारम्भ कर दिए थे। मौखरियों ने इस स्थिति से सर्वप्रथम लाभ उठाने का निश्चय किया क्योंकि उनके राज्य की दूरी की वजह से राजधानी से शीघ्र सम्बलन (Reinforcements) नहीं भेजे जा सकते थे। उन्होंने यहाँ तक कि गुप्त साम्राज्य पर भी आक्रमण कर दिया। कुमारगुप्त ने जो कि तत्कालीन गुप्त सम्राट का सामंत था महान गुप्त साम्राज्य की सुरक्षा एवं एकता बनाए रखने के लिए पग उठाने प्रारम्भ कर दिए। अपने पग की सार्थकता के लिए किसी अन्य की सहायता अनिवार्य थी। अतएव डा० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है कि मौखरियों की सहायता के लिए अनुवर्ती गुप्तों ने आस लगाई।

वर्मन का पिता था। मौखरियों एवं परवर्ती गुप्तों में प्रारम्भ में बड़ा मेलजोल था। उनमें परस्पर रक्त का सम्मिलित सम्बन्ध था। ईशानवर्मन के पितामह आदित्यवर्मन ने श्रीहर्षगुप्त की भगिनी हर्षगुप्ता से विवाह किया था। हर्षगुप्त कुमारगुप्त का पितामह था। इन्हीं कारणों से ईशानवर्मन ने कुमारगुप्त की सहायता की प्रार्थना स्वीकार की होगी या अपने स्वामी विष्णुगुप्त के आदेश के कारण से उसे कुमारगुप्त का सहयोग करना पड़ा होगा। कारण जो भी रहा हो इतना तो इस सम्मिलित प्रयास का परिणाम निकला कि मौखरी की बुरी तरह पराजय हुई और गुप्त साम्राज्य को भग करने का यह प्रयास असफल रहा। परन्तु महान गुप्त वंश के दिन अब वस्तुतः इने गिने ही रह गए थे। अंतिम गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त की मृत्यु लगभग ५५१–५२ ई० में हो गई थी। इस मृत्यु के पश्चात महान गुप्त सम्राट विघटनकारी प्रवृत्तियों का गढ़ बन गया। मौखरी राजवंश एवं अनुवर्ती गुप्तवंश ने उत्तराधिकार के लिए विषम प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ की। दोनों राजवंश अपने को महान गुप्तों का वास्तविक एवं वैधानिक उत्तराधिकारी बताते थे। इसी वैधानिकता की लड़ाई ही में सम्भवतः परवर्ती गुप्तों ने अपने नाम के आगे 'गुप्त' विशेषण जोड़ना प्रारम्भ किया था जिससे वे महान गुप्तों के वैधानिक उत्तराधिकारी अंगीकार किए जायें। डा० बी० पी० सिन्हा ने लिखा है—

Their rivalry constitutes the main thread of the history of Northern India in the later half of the 6th C A D

सर्वप्रथम विजय श्री कुमारगुप्त को प्राप्त हुई। परन्तु इस विजय की प्रामाणिकता में भी स्पष्टता नहीं है। अभिलेख में आए इस कथन से हम उपर्युक्त मत की स्थापना करते हैं—

Like Mandar churned that formidable milk cream the cause of the attainment of the fortune which was the army of the glorious Isarvarman a very moon among kings

इस विवरण से विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। डा० राधाकुमुद मुकर्जी एवं श्री एन० के० ने तो कुमारगुप्त को पराजय का पात्र बताया है। उनके अनुसार मौखरियों का ही सब से पूर्व विजय का सेहरा बाँधा गया था।

कुमारगुप्त के उपरान्त दामोदरगुप्त भी एक प्रतापी नरेश था। अफसड़ अभिलेख से सिद्ध होता है कि दामोदरगुप्त ने भी मौखरियों को पराजित किया परन्तु बाद में युद्धभूमि में उसकी मृत्यु हुई।[1] डा० मजूमदार का विश्वास है कि अभिलेख के विवरण को संदिग्ध दृष्टि से देखने का कोई कारण नहीं है क्योंकि मौखरियों के लेखों में इस बात का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु इसके विषय में डा० रमाशंकर त्रिपाठी का मत बिल्कुल विपरीत है। आप लिखते हैं "अफसड़ लेख में विदित होता है कि दामोदरगुप्त मौखरी की बढ़ती हुई शक्तिमान राजा की सैन्य पंक्ति को तोड़कर स्वयं सम्मोहित हो गया (और युद्धभूमि में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ।) इसमें सन्देह नहीं कि दामोदरगुप्त की विजय का यह उल्लेख केवल पारस्परिक प्रशस्तिवाचक है। वास्तव में इस युद्ध का परिणाम उसके विरुद्ध था और वह स्वयं उस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ था। (प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ २१६ पाद टिप्पणी ५)

चाहे दामोदरगुप्त की युद्ध में पराजय हुई हो या नहीं इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके उपरान्त अनुवर्ती गुप्त शासकों की शक्ति का केन्द्र मालवा में हो गया। दामोदरगुप्त का उत्तराधिकारी महासेनगुप्त था। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि महासेन गुप्त पूर्वी मालवा चला गया और वहाँ पर अपने राजकुल की प्रतिष्ठापना की। मालवा अभी तक सम्भवतः गुप्तों के ही अधिकार में था। परिव्राजक महाराजाओं के अभिलेख यह सूचित करते हैं कि वे इस समय तक गुप्तराजाओं की ही अपना अधिराष्ट्र स्वीकार करते थे। महासेन गुप्त एक वीर और प्रतापी नरेश था। वह अपनी विजय वाहिनी को आसाम तक ले गया और सेना के अश्वों को ब्रह्मपुत्र के जल का पान कराया। उसने कामरूप अर्थात् आसाम के राजा सुस्थितवर्मन को युद्ध में पराजित किया और अफसड़-अभिलेख के प्रशस्ति वचनों के अनुसार उसकी प्रशंसा के गान आज भी लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के किनारे गाये जाते हैं। महासेनगुप्त के राज्य की सीमाओं के विषय में हम अपेक्षाकृत कुछ निश्चित आधार मिल जाते हैं। 'हर्षचरित' में महासेनगुप्त को मालव नरेश कहा गया है। उसने ब्रह्मपुत्र के तट तक अपनी विजय यात्रा की इसका उल्लेख हमें अफसड़-अभिलेख द्वारा प्राप्त होता है।

महासेनगुप्त के साथ पुष्यभूति वंश के नरेश आदित्यवर्द्धन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्रभाकरवर्द्धन की माता का नाम महासेनगुप्ता मिलता है जो सम्भवतः महासेनगुप्त की भगिनी थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध के फलस्वरूप दोनों राजकुलों में मित्रता स्थापित हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। महासेनगुप्त ने अपने दो छोटे कुमारों

---

[1] दामोदरगुप्त की मृत्यु हो जाने का अनुमान फ्लीट के अनुवाद के आधार पर लगाया जाता है। परन्तु क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (D R Bhandarker Commemoration Volume p 181) इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उपर्युक्त पद्य से दामोदरगुप्त की मृत्यु का बोध नहीं होता, बल्कि उसके केवल मूर्छित होने का भान होता है। पं० चट्टोपाध्यायजी ने यह भी बताया है कि अभिलेख में दामोदरगुप्त की विजय का उल्लेख किया गया है, पराजय का नहीं जैसा कि बसाक ने (History of Northern India, p 123) अनुमान किया है।

के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार पराजित किया। उसके राज्य की पूर्वी सीमायें गया तक फैली हुई थीं। पूर्व में उसका राज्य बंगाल के सेनों के राज्य की सीमा को स्पर्श करता था अतएव इन दोनों राज्यों में परस्पर संघर्ष हो जाना स्वाभाविक था। बंगाल के सेनराजाओं के साथ गहड़वाल नरेश जयचन्द्र की चिरकालीन लड़ाई छिड़ गई। पालों के पतन के उपरान्त उसने गया जिले पर अधिकार कर लिया किन्तु लक्ष्मण सेन ने न केवल गया को पुनः बंग राज्य में मिलाया अपितु इलाहाबाद और बनारस तक अपना विजय वाहिनी ले गया। भारत के लिए यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि जिस समय उसकी सीमा की ओर से तुर्क प्रवेश कर रहे थे उस समय उसके दो शक्तिशाली नरेश बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन और कन्नौज नरेश जयचन्द्र आपस में ही लड़ते रह गये और जमकर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना न कर सके। पृथ्वीराजरासो के अध्ययन से पता चलता है कि साम्भर के चौहान नृपति पृथ्वीराज सम्भवतः उसकी पुत्री संयोगिता को स्वयंवर स्थल से भगा ले गया था और बाद में उसके साथ विवाह कर लिया। जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान का पारस्परिक सम्बन्ध निस्सन्देह कटुतापूर्ण था किन्तु इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि राजा जयचन्द्र ने पृथ्वीराज के विरुद्ध शहाबुद्दीन गोरी की सहायता की थी। इस विषय में पृथ्वीराजरासो का साक्ष्य तनिक भी विश्वसनीय जान नहीं पड़ता और जयचन्द्र पर देशद्रोहिता का आरोप लगाना उचित तथा तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता। देश पर विदेशी आक्रमण के रूप में आनेवाली भयंकर आपत्ति का सामना करने के लिए एक सामान्य सूत्र में आबद्ध न होने का दोष उस समय के सभी हिन्दू नरेशों के विरुद्ध लगाया जा सकता है केवल जयचन्द्र के ही विरुद्ध नहीं। परन्तु अपनी राजनैतिक संकीर्णता और दूरदर्शिताशून्यता का दण्ड उन भारतीय राजाओं को मिल गया। जयचन्द्र भी इस दण्ड से मुक्त नहीं रह सका। उसने सोचा था कि शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को पराजित करके वापस लौट जायगा किन्तु गोरी ने ११९४ ई० में पृथ्वीराज को हराकर कन्नौज के राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस समय जयचन्द्र काफी वृद्ध हो गया था फिर भी अपनी सेना लेकर उसने गोरी के आक्रमण का सामना करने के लिए रणभूमि की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावा के मैदान में उससे जाकर मुठभेड़ की। वीरतापूर्वक लड़ते हुये जयचन्द्र युद्ध भूमि में मारा गया। किन्तु उसके राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार नहीं जमाया और उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा दिया।

गहड़वालों का अन्त—जयचन्द्र की राजसभा में संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि श्रीहर्ष रहते थे जिन्होंने नैषधचरित नामक महाकाव्य और खण्डन-खण्डखाद्य नामक तर्क ग्रन्थ का प्रणयन किया। जयचन्द्र के पश्चात् हरिश्चन्द्र ने भी कुछ समय तक अवश्य कन्नौज पर राज्य किया। गहड़वालों का शासन कन्नौज राज्य के केवल पूर्वी भाग पर कुछ दिनों तक और जारी रहा परन्तु सन् १२२६ ई० तक वह भी मुसलमानों के हाथ में चला गया। कन्नौज पर अभी तक एक सामन्त का शासन था परन्तु सन् १२२६ ई० में मुस्लिम शासक इल्तुतमिश ने इस पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद भारतीय इतिहास में कन्नौज का कोई विशेष राजनैतिक महत्त्व नहीं रह गया। मराठों ने इसको नष्ट कर दिया और आज प्राचीन कन्नौज भग्न स्थिति में है। आर० डी० बनर्जी का विश्वास है कि मुहम्मद गोरी ने कन्नौज पर कभी भी अपना अधिकार नहीं रखा था। पहले यह विश्वास किया जाता था कि अपनी पराजय के बाद गहड़वालों ने अरावली पर्वत की शरण ली और जोधपुर पर शासन करनेवाले राठौर उन्हीं

की सन्तान थे। कैम्ब्रिज इंडियन हिस्ट्री में इस मत का खंडन किया गया और लिखा है कि इल्तुतमिश से पराजित हो जाने के बाद गहड़वाल कुल का उन्मूलन हो गया। गहड़वाल-नरेश ब्राह्मण धर्म के लगभग समस्त रूपों के प्रति भक्ति और आस्था रखते थे। गोविन्दचन्द्र और उसकी रानी कुमारदेवी ने बौद्धधर्म के प्रति भी अपनी आस्था दिखलाई।

शाकम्भरी और अजमेर के चौहान

चाहमान वंश के अनेक राजपूत सरदारों ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अजमेर के उत्तर में साँभर झील के निकट साँभर (शाकम्भरी) नामक स्थान पर राज करने लगे थे। इस वंश की अन्य शाखाओं का राज्य आगरा और ग्वालियर के मध्य में धौलपुर नामक स्थान में, रणथम्भौर में और आबू पर्वत के उत्तर में नड्डूल (नाडोल) में भी था परन्तु ये वंश शाकम्भरी के चौहानों की तरह विख्यात और महत्वपूर्ण नहीं थे। इसी वंश के कुछ सरदार गुर्जर महेन्द्रपाल द्वितीय के समय में उज्जैन के शासक के सामन्त थे। भड़ौच के चाहमान सरदार भी नागभट्ट प्रथम के सामन्त थे साँभर के चौहानों की ही तरह प्राचीन थे।

विग्रहराज द्वितीय इस वंश का प्रथम उल्लेखनीय नरेश था। उसने सन् ९७३ के लगभग शासन करना आरम्भ किया और अपने राजवंश को स्वतन्त्र स्थापित किया। कहा जाता है कि उसने अन्हिलवाड़ के मूलराज प्रथम को पराजित किया। पृथ्वीराज प्रथम ने सन् ११०८ ई० के लगभग राज्य किया। उसके पुत्र अजयराज ने अजयमेरु अथवा अजमेर नगर की स्थापना की। उसने बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शासन करना शुरू किया। वह अपने कुल का प्रथम शासक था जिसने एक आक्रमणात्मक साम्राज्यवादिनी नीति का अवलम्बन किया। उसने उज्जैन पर आक्रमण किया और परमार सेनानायक को बन्दी बना लिया। उसके लिए यह कहा जाता है कि उसने युद्ध में तीन राजाओं को तलवार के घाट उतार दिया। परन्तु हमें इस बात का विवरण प्राप्त नहीं है कि इन युद्धों के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमा में कोई विस्तार हुआ या नहीं। अजयराज के विषय में एक विचित्र बात यह है कि उसकी कुछ मुद्राओं पर उसकी रानी सोमलदेवी का नाम उत्कीर्ण मिलता है। यह बात भारतीय इतिहास में बहुत ही कम दिखाई पड़ती है। अजयराज के उपरान्त अर्णोराज हुआ जिसके एक अभिलेख पर सन् ११३९ की तिथि दी हुई है। उसका जयसिंह सिद्धराज और अन्हिलवाड़ के कुमारपाल से संघर्ष हुआ। अर्णोराज ने कुछ तुरुष्कों (अर्थात् पंजाब के मुसलमानों) को जिन्होंने उसके राज्य पर आक्रमण किया था युद्ध में पराजित कर दिया और मार डाला।

विग्रहराज चतुर्थ—विग्रहराज चतुर्थ अथवा वीसलदेव चाहमान वंश का एक अति प्रतापी और विख्यात नरेश था जिसने चाहमानों की शक्ति को काफी बढ़ा लिया और एक साम्राज्य सत्ता के रूप में परिणत करने का प्रयास किया। सन् ११५३ ई० में विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव शाकम्भरी राजसिंहासन पर बैठा। मेवाड़ के बिजोलिया नामक स्थान से एक लेख प्राप्त हुआ है जिससे यह सूचित होता है कि उसने गहड़वालों से दिल्ली छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि यद्यपि विग्रहराज चतुर्थ एक बार विजेता था और अपनी विजयों द्वारा उसने अपने राज्य की सीमा का पर्याप्त विस्तार भी किया तथापि उसके द्वारा दिल्ली विजय की बात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। उसने जाबालिपुर, नड्डूल और राज-

पताना थे अन्य छोटे छोटे भू भागों पर अपना अधिकार कर लिया। ये राज्य कुमारपाल के अधीनस्थ थे अतएव इनको विजित कर विग्रहराज चतुर्थ ने उस पराजय का बदला लिया जो उसके पिता को चालुक्यों द्वारा सहन करना पड़ा। डा० आर० सी० मजूमदार ने लिखा है कि अपनी उत्तरी विजयों द्वारा विग्रहराज ने अमर यश का उपार्जन किया। उसने ढिल्लिका (दिल्ली) को जीत लिया। इसके बाद के लिए उसने तोमरों को पराजित किया। दिल्ली विजित करने के बाद वह पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ा। उसने हिसार जिले को छीन लिया और पंजाब में गजनी शासकों की सेनाओं के ऊपर अनेक विजय प्राप्त की। शिलालेख में आर्यावर्त से म्लेच्छों को निकाल बाहर करने की जो गर्वोक्ति की है उसमें कुछ अतिरंजना अवश्य है यद्यपि दुर्भाग्य से हमें इस बात का विशेष विवरण नहीं प्राप्त है कि उसने कहाँ और किस प्रकार मुसलमानों को पराजित किया। विग्रहराज चतुर्थ के लिए यह भी कहा गया है कि उसने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश जीते। परन्तु हमें यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि इस युग के अभिलेखों में जिस शैली का प्रयोग किया गया है उसमें अतिशयोक्ति की पर्याप्त मात्रा में समावेश है अतएव इन अभिलेखों में वर्णित या उल्लिखित प्रत्येक बात को हम ऐतिहासिक सत्य नहीं स्वीकार कर सकते। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विग्रहराज शिवालिक की पहाड़ियों तक पहुँच गया था और उसने अशोक के एक स्तम्भ पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये। उसने गुजरात तक अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया और जयसिंह सिद्धराज को पराजित किया। विग्रहराज चतुर्थ के लेखों से पता चलता है कि उसका राज्य उत्तर में शिवालिक की पहाड़ियों तक फैला हुआ था और दक्षिण में कम से कम उदयपुर और जयपुर जिले को उसके राज्य की सीमा स्पर्श करती थी।

विग्रहराज चतुर्थ प्राचीन भारत के राजपूत राजाओं की पंक्ति में एक गौरवशाली स्थान का अधिकारी है। उसके कार्यों पर हमने ऊपर जो विचार किया है उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह एक महान और उद्भट विजेता तथा अपने समय का प्रभावशाली नरेश था। परन्तु वह केवल विजेता ही न था उसका सुयश उसके एक ग्रन्थ हरिकेलि नाटक पर भी अवलम्बित है। वह स्वयं एक नाटककार था तथा विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में सोमदेव रहता था जिसने अपने संरक्षक के सम्मान में ललितविग्रहराज नाटक का प्रणयन किया। विग्रहराज की विद्यानुरागिता भी विख्यात थी। उसने मालवा के भोज प्रथम की भाँति अजमेर में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कराई थी। इस संस्कृत विद्यालय के स्थान पर आज एक मस्जिद खड़ी है जो विद्यालय की एक भव्य दीवार तुड़वा कर बनवाई गई थी। अजमेर की इस मस्जिद का नाम अढ़ाई दिन का झोंपड़ा है। इसमें जड़े कुछ पाषाण खण्डों पर हरिकेलि नाटक के कुछ अंश खुदे हुए दिखाई पड़ते हैं। ललितविग्रहराज नाटक भी संस्कृत विद्यालय के भग्नावशेषों पर उत्कीर्ण मिला है। विग्रहराज चतुर्थ का देहान्त ११६४ ई० में हुआ।

पृथ्वीराज तृतीय—चाहमान वंश का सबसे प्रतापी राजा पृथ्वीराज तृतीय था। डा० त्रिपाठी के शब्दों में इस राजा के व्यक्तित्व पर एक अद्भुत प्रभामण्डल है जिसने रोमांचक जनश्रुतियों और गाथाओं का उसे नायक बना दिया है। डा० मजूमदार ने भी लिखा है कि भारतीय इतिहास में पृथ्वीराज का नाम एक अद्वितीय स्थान को अधिकृत करता है। उत्तरी भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट के रूप में उसकी स्मृति लोकगाथाओं में समाहृत की गई है और इसने लोकगाथाओं को विषय प्रदान किया

है। चन्द बरदाई नामक ख्यातनामा कवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य पृथ्वीराज रासो में उसे अमर बना दिया है। परन्तु जिस रूप में यह पुस्तक उपलब्ध है उस रूप में इसे उसके जीवन का समकालीन और प्रामाणिक विवरण-ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। उसके जीवनचरित से सम्बन्धित एक अन्य ग्रन्थ है जिसका नाम पृथ्वीराजविजय है। यह प्राचीनतर और अधिक विश्वसनीय ग्रन्थ है। परन्तु इसका कुछ ही अंश अभी तक प्रकाश में आया है।[1] मुस्लिम इतिहासकारों ने भी पृथ्वीराज तृतीय के विषय में अनेक विवरण दिए हैं। समसामयिक शिलालेख जिनमें अभिलेखों के साक्ष्य भी सम्मिलित हैं, पृथ्वीराज तृतीय के जीवन की मुख्य घटनाओं का प्रामाणिक और रासो की कल्पनाओं से रहित विवरण दिया जा सकता है।

पृथ्वीराज तृतीय एक महान विजेता और रणबाँकुरा सेनानायक था। उसने परमार्दि नामक चन्देल राजा को पराजित किया और उससे ११८२ ई० में उसकी राजधानी महोबा छीन ली। चन्देल नरेश के ऊपर पृथ्वीराज चौहान की विजय का एक आभिलेखिक प्रमाण भी प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह महोबा पर अधिक समय तक अधिकार न रख सका। सन ११८७ ई० में उसने गुजरात पर आक्रमण किया परन्तु वहाँ उसे विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और चालुक्य भीम द्वितीय के साथ उसने संधि के सम्बन्ध स्थापित कर लिया। पृथ्वीराज तृतीय की गहड़वाल नरेश जयचन्द के साथ शत्रुता थी यह हम पहले कह चुके हैं। परन्तु इस शत्रुता की और इससे सम्बद्ध पृथ्वीराज तृतीय की शौर्यमयी प्रणय कथा की सत्यता की किसी प्रामाणिक स्रोत द्वारा पुष्टि नहीं होती। केवल पृथ्वीराजरासो में ही उसके संयोगिता के साथ प्रेम और जयचन्द के साथ उसकी शत्रुता का उल्लेख किया गया है किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वीराजरासो के अधिकतर भाग की रचना सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में की गई थी अतएव हम उस पर विश्वास नहीं कर सकते। 'पृथ्वीराजविजय' नामक संस्कृत ग्रन्थ में पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्ध में जो विवरण दिये गए हैं वे पृथ्वीराजरासो में उल्लिखित घटनाओं से बहुत कम मिलते जुलते हैं। पृथ्वीराज रासो से हम केवल यही ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त कर सकते हैं कि पृथ्वीराज और जयचन्द में पारस्परिक सद्भावना और मैत्री का अभाव था।

पृथ्वीराज का यश मुख्यतः इस बात पर अवलम्बित है कि उसने मुस्लिम आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया यद्यपि देश में राष्ट्रीयता की भावना के अभाव और अपनी ही राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण वह दूसरे मुस्लिम आक्रमण के सामने ठहर न सका। मुहम्मद गोरी ने पंजाब को विजित कर लेने के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान के पास यह संदेश भिजवाया कि वह चौहान राजा के साथ मित्रता [illegible]।
परन्तु पृथ्वीराज ने जो इस समय [illegible]
था न [illegible]
[illegible]ने के [illegible] मानकर वह चुपचाप
गोरी [illegible] करने लगा। जब मुहम्मद गोरी, पृथ्वीराज के राज्य की सीमा में प्रविष्ट होकर उसकी प्रजा को संत्रस्त और उत्पीड़ित करने लगा तो चाहमान राजा एक विशाल सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। तराइन के मैदान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई और एक भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध में मुसलमानों के छक्के छूट गए और वे भाग खड़े हुए। गोरी बड़ी कठिनाई से अपने कुछ विश्वासपात्र

1 डा० आर० सी० मजूमदार *Ancient India* (1[illegible]2) p. 6[illegible]

सरदारों के साथ प्राण लेकर रणक्षेत्र से भाग निकला। बुझते हुए प्रदीप की अंतिम प्रभापूर्ण शिखा की भाँति हिन्दुओं की यह अन्तिम महान सैनिक सफलता थी।[१]

परन्तु इस गहरी पराजय से गोरी तनिक भी हतोत्साह नहीं हुआ वरन् अपनी इस अपमानजनक पराजय का बदला लेने के लिए वह दिन रात बेचैन रहने लगा। मध्य एशिया के पहाड़ी लड़ाकुओं की एक विशाल सेना एकत्र कर गोरी ने पुनः आकर के पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज ने इस आक्रमण की कल्पना तक न की थी। इस आकस्मिक और अप्रत्याशित विपत्ति से वह घबरा सा गया किन्तु साहस बटोरकर उसने पड़ोसी राजाओं को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। फिरिश्ता नामक मुस्लिम इतिहासकार का कथन है कि १५० राजाओं ने उसकी सहायता की थी। किन्तु तब भी आकस्मिक विपत्ति के सामने पृथ्वीराज और उसके साथी अधिक समय तक टिक नहीं सके। राजपूत सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु अन्त में उनको पराजय ही सहन करनी पड़ी। इस युद्ध में अनेक वीर राजपूत सरदार खेत रहे। स्वयं पृथ्वीराज भी बन्दी बना लिया गया और उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। शाकम्भरी और अजमेर के राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार जमा लिया।

पृथ्वीराज तृतीय के कार्यों और व्यक्तित्व का संक्षिप्त विवेचन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि लोककथाओं को आधार बनाकर कतिपय लेखकों ने उसके व्यक्तित्व का अतिरंजनपूर्ण वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वीराज एक वीर विजेता और साहसी सेनानायक था किन्तु उसके समय में ही उत्तर भारत में उसके समान अन्य विजेता और रणशूर सेनापति थे जिनके विषय में इतिहास विशेष बातें नहीं जानता। पृथ्वीराज के नाम को लोकहृदय में आसीन करने का श्रेय चन्दवरदाई को है जिसने उसकी वीरता और प्रणय कथाओं का सम्मिश्रण करके उनका इतना अतिरंजनपूर्ण वर्णन किया कि साधारण जनता को पृथ्वीराज का चरित्र बड़ा मनमोहक जान पड़ा। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है चन्दवरदाई के वर्णनों में ऐतिहासिक सत्यता का परिमाण अत्यन्त स्वल्प है। डा० मजूमदार ने लिखा है कि यह नहीं प्रतीत होता कि पृथ्वीराज ने अपनी राज्य सीमाओं का विस्तार किया अथवा महत्त्वपूर्ण सैनिक विजयें प्राप्त कीं जैसा कि विगत दो शताब्दियों में अनेक भारतीय नरेशों ने किया था। इस बात को मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि वह अपने समय के भारतीय नरेशों में सबसे अधिक शक्तिशाली या सबसे महान सेनानायक था।[२] स्वयं उसके ही वंश के शासक विग्रहराज चतुर्थ का व्यक्तित्व

---

[१] It was the last great military achievement of the Hindus like the last glimmer of the lamp before it is finally extinguished.
R. C. Majumdar *Ancient India* (1952) p. 369

[२] It Does not appear that Prithviraja enlarged the boundary of his kingdom or achieved conspicuous military victories such as distinguished many Indian kings during the preceding two centuries. There is no ground to suppose that he was either the most powerful of Indian kings or the greatest general of his age. The almost contemporary Muslim historians also do not convey any such impression.
R. C. Majumdar *Ancient India* (1952) p. 360

उसका अपना अधिक गौरवपूर्ण जान पड़ता है। विग्रहराज ने अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया, तोमरों पर विजय प्राप्त की, मुसलमानों को हराया, हरिकेलिनाटक लिखा, कवियों को संरक्षण प्रदान किया और विद्या की उन्नति के लिए अजमेर में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कराई। पृथ्वीराज के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व में विभिन्न और विरोधी गुणों का समन्वय रहा था जैसा कि हम विग्रहराज चतुर्थ और मालवा के भोजराज प्रथम में पाते हैं। यदि रासो के साक्ष्य को ही मानें तो कहना पड़ेगा कि पृथ्वीराज ने अनेक युद्ध केवल अपने अन्तःपुर को सुन्दरियों से सम्पन्न करने के लिए ही किये थे। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पृथ्वीराज चौहान का यश इस ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है कि उसने मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण को अपने बाहुबल से विफल कर दिया।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद मुहम्मद गोरी ने उसके पुत्र को अजमेर के सिंहासन पर बैठा दिया और उसे वार्षिक कर भेजने के लिए विवश किया। परन्तु कुछ ही समय के बाद अपने चाचा के कारण उसे अजमेर छोड़कर रणथम्भोर चला जाना पड़ा। पृथ्वीराज के पुत्र ने रणथम्भोर में अपने एक नये राजकुल की स्थापना की जिसका अन्त अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १ ०१ में किया। इधर कुतुबुद्दीन ने हरिराज को पराजित कर चौहान वंश का अन्त कर दिया।

बुन्देलखण्ड के चन्देल

प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जो राज्य उठ खड़े हुए उनमें जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। विन्सेंट स्मिथ साहब का मत है कि चन्देलों की उत्पत्ति गोंड और भरों के कबीलों से हुई थी और उनका मूल छतरपुर राज्य में केन नदी के तट पर मनियागढ़ था। परन्तु चन्देल लोग अपने ऋषि चन्द्रात्रेय की सन्तान मानते हैं। उनका कथन है कि ऋषि चन्द्रात्रेय का जन्म चन्द्रमा द्वारा हुआ था। अपने अभिलेखों में चन्देल राजाओं ने चन्द्रात्रेय को अपना आदि पुरुष माना है। सम्भवतः इसी नाम के आधार पर उनका नाम 'चन्देल' पड़ा। अभिलेखों में चन्देल राजे जेजाकभुक्ति के चन्देल कहे गये हैं। जेजाकभुक्ति का प्रदेश आधुनिक बुन्देलखण्ड में था। अलबरूनी ने इसे जजाहुति कहा है। जेजाकभुक्ति के प्रमुख नगर थे—छतरपुर, महोबा (महोत्सव-नगर आधुनिक हमीरपुर), कालिंजर और खजुराहो। खजुराहो या खर्जूरवाहक चन्देल राज्य की राजधानी थी।

नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नन्नुक ने छतरपुर के निकट अपना एक राज्य स्थापित कर लिया। नन्नुक के पौत्र जयशक्ति (जेजा या जेजाक) और विजयशक्ति (विजा या विजक) थे। जयशक्ति के ही नाम के आधार पर चन्देलों के राज्य का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। इस वंश का प्रथम राजकुमार जिसने वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की हर्ष था। इसने महीपाल को ९१६ के राष्ट्रकूट आक्रमण के उपरान्त कन्नौज पर फिर से अधिकार करने में सहायता प्रदान की। उसने महीपाल प्रथम या क्षितिपाल का उसके भाई विनायकपाल से बढ़कर साथ दिया और उसके सौतेले भाई भोज को निकाल कर सिंहासनच्युत कर दिया। हर्ष के समय में चन्देलों की शक्ति यमुना तक फैल गई जो उनके और कन्नौज राज्य के बीच की सीमा बन गई। हर्ष ने चाहमान वंश की एक कन्या के साथ विवाह किया था। उसे ही चन्देलों की शक्ति और महानता का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है।

यशोवर्मन—हर्ष का पुत्र यशोवर्मन था जिसने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने गुर्जरों को भारी क्षति पहुँचाई। वह एक महत्त्वाकांक्षी नरेश था। प्रती

हार साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था ने उसकी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया। चन्दियों के विरुद्ध आक्रमण करने में वह बड़ा भाग्यवान प्रमाणित हुआ क्योंकि इसी आक्रमण के फलस्वरूप उसे कालिंजर का प्रसिद्ध गढ़ प्राप्त हुआ। यशोवर्मन ने उत्तर में यमुना तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके उपरान्त उसने अपना विजय अभियान आरम्भ किया और अभिलेखों के अनुसार उसने गौड़, कोशल, कश्मीर, मिथिला, मालवा, चेदि और गुर्जरों को परास्त किया। यह निश्चय है कि अभि[illegible] नहीं कि यशोवर्मन

की शक्तिशाली बना

f

यद्यपि चन्देल [illegible]

में अब भी प्रतीहार राजा को सम्राट स्वीकार किया जाता था तथापि यशोवर्मन व्यावहारिक रूप में शासन के विषय में पूर्ण स्वतन्त्र था। यशोवर्मन ने खजुराहो के एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया और इसमें विष्णु भगवान की उस प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराया जो उसने देवपाल से प्राप्त की थी। यशोवर्मन की मृत्यु के उपरान्त धंग राजा हुआ।

धंग—यशोवर्मन का पुत्र धंग उत्तर भारत का महान विजेता और शक्तिशाली नरेश हो गया। हमने ऊपर यह देखा था कि यशोवर्मन के शासनकाल तक प्रतीहार शक्ति का अधीनता स्वीकार की जाती थी। धंग ने अधीनता के इस छद्मवेश को भी उतार फेंका और अपनी पूर्ण स्वाधीनता घोषित कर दी। उसके शासनकाल में चन्देलों की शक्ति का बड़ी तेजी से विकास हुआ। ९५४ सन ई० तक उसका राज्य उत्तर में यमुना तक, उत्तर पश्चिम में ग्वालियर तक और दक्षिण पश्चिम में भिलसा तक फैल गया। ग्वालियर और कालिंजर उसके हाथ में आ जाने से मध्य भारत में उसकी शक्ति की सुदृढ़ हो गई। उसने सम्भवतः इलाहाबाद पर भी अपना अधिकार जमाया। अपने पचास वर्ष के सुदीर्घकालीन शासन में धंग ने प्रतीहार साम्राज्य के भूभागों को विजित करना प्रारम्भ किया और यमुना के उत्तर में दूर तक और पूर्व में बनारस तक अपने राज्य का विस्तार किया। अभिलेखों में उसकी अन्य विजयों का भी उल्लेख किया गया है परन्तु उन विजयों का वर्णन सत्य के आधार पर न होकर प्रशस्ति मात्र जान पड़ता है। सुबुक्तगीन के विरुद्ध पंजाब के शाही नरेश जयपाल के पक्ष में हिन्दू राजाओं का जो संघ निर्मित किया गया था उसमें चन्देल राजा धंग भी सम्मिलित हुआ था। खजुराहो में उसने दो शिव मन्दिरों का निर्माण कराया जिनके नाम मार्कण्डेश्वर और प्रमथनाथ थे। एक विचार यह भी है कि खजुराहो के कुछ सुन्दरतम मन्दिरों का निर्माता धंग ही था। सौ वर्ष की लम्बी आयु में धंग का देहावसान प्रयाग में हुआ।

विद्याधर—धंग के उपरान्त उसका पुत्र गण्ड चन्देल राज्य का स्वामी हुआ। उसने भी अपने पिता की भाँति महमूद गजनवी के विरुद्ध संगठित किये गये हिन्दू राजाओं के संघ में भाग लिया था। आनन्दपाल (जयपाल के पुत्र) के अनुरोध पर महमूद के आक्रमणों का सामना करने के लिए हिन्दू राजाओं ने अपना एक संघ बनाया था परन्तु यह संघ भी महमूद के प्रसार को रोकने में सफल न हो सका। गण्ड के विषय में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं। उसके बाद विद्याधर जेजाकभुक्ति राज्य का अधिकारी हुआ। विद्याधर ने महमूद के प्रति आत्मसमर्पण करने के कारण राज्यपाल प्रतीहार को घोर दण्ड दिया और कन्नौज के साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परमार नरेश भोज प्रथम और कलचुरि राजा कोक्कल द्वितीय के साथ विद्याधर की शत्रुता थी परन्तु

उसके सामन्त इन राजाओं की शक्ति तुच्छ थी। उसका प्रभाव चम्बल से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ था।
राजकुमार कहा है
और विद्याधर के साथ
... हुआ। परन्तु
विश्वास न ... करने
लड़ते ही रणभूमि से भाग निकला था। अरबी प्राचीन लेखकों के विवरण को अपने विश्वास का आधार बनाते हुए रमाशंकर ने लिखा है कि एक भयंकर किन्तु अनिश्चयात्मक संग्राम हुआ और ... रात्रि के अन्धकार में रणभूमि के दृष्टिकोण से पीठ हट गया। आगे चल उन दोनों में पुनः संघर्ष हुआ किन्तु महमूद को ग्वालियर तथा कालिञ्जर के विरुद्ध सफलता प्राप्त न हो सकी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महमूद को इस बात का अनुभव हो गया कि विद्याधर के अधीन चन्देल राज्य राज्यपाल के अधीन प्रतीहार राज्य से काफी भिन्न और कहीं अधिक शक्तिशाली था। महमूद ने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किये परन्तु लम्बे घेरे के बाद भी उनके दुर्गों पर अधिकार न कर सकने के कारण उसे वापस लौट जाना पड़ा। उसने विद्याधर के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। डा० मजूमदार ने लिखा है कि विद्याधर ही ऐसा अकेला भारतीय नरेश था जिसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने सुल्तान महमूद की विजयिनी प्रगति को दृढ़तापूर्वक रोका और उस लूट्यानुभूतिपूर्ण विजेता के द्वारा विध्वंसपूर्ण विनाश से अपने राज्य को बचा लिया। The sultan afraid of penetrating far into the interior and each time to retreat without much gain and ultimately established a friendly relation with Vidyadhar who had thus the unique distinction of being the only Indian ruler who effectively checked the triumphal career of Sultan Mahmud and saved his kingdom from wanton destruction by that ruthless conqueror.[1]

कलि नरेश गांगेय के उत्थान ने चन्देलों की शक्ति के विकास में बाधा पहुंचाई। उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण कलचुरि की शक्ति ने भी चन्देलों की शक्ति को पर्याप्त हानि पहुंचाई। चन्देल नरेश विजयपाल को विवश होकर बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी और उसके पुत्र देववर्मन को गांगेय के पुत्र कर्ण ने सिंहासनच्युत कर दिया। कर्ण ने भी कीर्तिवर्मन को अपनी सेना में नौकरी करने के लिये बाध्य किया। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कीर्तिवर्मन ने ब्राह्मण योद्धा गोपाल की सहायता से अपने वंश की खोयी हुई शक्ति और सम्मान को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

कीर्तिवर्मन, मदनवर्मन और परमर्दि—कीर्तिवर्मन की शक्ति के उत्थान का विवरण हमें संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक से मिलता है। यह नाटक कृष्ण मिश्र ने लिखा था और कीर्तिवर्मन की विजय के उपलक्ष्य में यह ग्रन्थ पहले अभिनीत किया गया था। कीर्तिवर्मन ने कृष्णमिश्र को अपना राजाश्रय प्रदान करने के अतिरिक्त और भी सांस्कृतिक कार्य किये। उसने महोबा में शिवमन्दिर और कालिञ्जर तथा अजयगढ़ में भी भवन बनवाये। कीर्तिवर्मन ने महोबा और चन्देरी में तालाबें भी खु

[1] Dynastic History of Northern India (1 20) Part II p 691

वाइ। उसकी प्राप्त तिथि संवत् एक सौ (१००/) है। उसके बाद चन्देल वंश में मदनवर्मन नामक उल्लेखनीय नरेश हुआ। मदनवर्मन ने ११२० से लेकर ११६ तक शासन किया। उसके अभिलेखों में पता चलता है कि मऊ रानी कालिञ्जर महोबा और अजयगढ़ पर उसका अधिकार था। उसने मालवा गुजरात और अन्य पड़ोसी राज्यों से संघर्ष किया परन्तु गहड़वालों के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। उसके राज्य की सीमायें बेतवा और यमुना नदियाँ नाग निर्मित करती थीं। लगभग सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड बघेलखण्ड का उत्तरी भाग और दक्षिण में जबलपुर के पास का प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे।

मदनवर्मन के बाद उसका पौत्र परमार्दिदेव चन्देल राज्य का अधिपति बना। उसका प्रारम्भिक शासन जीवन बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा और उसने चालुक्यों से निकटवर्ती प्रदेश छीन लिया। परन्तु उसे चौहान नरेश पृथ्वीराज तृतीय के द्वारा भारी पराजय सहन करनी पड़ी। उससे उसकी शक्ति बिल्कुल टूट गई। परमार्दि को गहड़वालों से कुछ सहायता प्राप्त हुई जिसके बल पर वह अपने राज्य की भग्न शक्ति का पुनः उद्धार करना चाहता था परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक ने १२०२ में कालिञ्जर पर घेरा डालकर उसे अपने अधिकार में कर लिया और उसके बाद महोबा पर भी उसका अधिकार हो गया। किन्तु त्रैलोक्यवर्मन (१२०२–१२४१) ने १२०५ में कालिञ्जर पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया और पुनः अपने वंश को स्थापित किया। अलाउद्दीन खिलजी ने १३०९ ई० में चन्देल वंश की राजसत्ता का उन्मूलन किया परन्तु कालिञ्जर पर चन्देलों का अधिकार बना रहा। रानी दुर्गावती जिसने अकबर से युद्ध किया था एक चन्देल राजकुमारी ही थी। कालिञ्जर के दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार १५६९ में जाकर हो पाया।

मालवा के परमार

परमार वंश की उत्पत्ति भी गुर्जर प्रतीहारों की भाँति अग्निकुण्ड से बताई जाती है। किन्तु अन्य अधिक प्राचीन लेखों से सिद्ध होता है कि परमार शासकों का उद्भव राष्ट्रकूटों के कुल में हुआ था। परमार वंश की स्थापना उपेन्द्र अथवा कृष्णराज ने दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की थी। पहले परमार लोग दक्खन के राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। आबू पर्वत के निकट उपेन्द्र रहता था। उसे राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय ने मालवा का शासक नियुक्त कर दिया। उपेन्द्र के बाद उसके दो वंशजों ने राष्ट्रकूटों के माण्डलिक नृपतियों के रूप में मालवा पर शासन किया और वे अपने स्वामी (राष्ट्रकूट सम्राट) के प्रति वफादार बने रहे। चौथे परमार सामन्त वाक्पति राज प्रथम ने अपने वंश की स्थिति का उन्नयन किया। वैरिसिंह द्वितीय ने धारा नगरी पर अधिकार किया और प्रतीहारों के साथ उसका संघर्ष हुआ किन्तु उन्होंने उसको मालवा से निकाल बाहर कर दिया। उसके उत्तराधिकारी हर्ष सीयक द्वितीय ने गुर्जर प्रतीहारों की ह्रासोन्मुखी राजसत्ता से पूरा-पूरा लाभ उठाया और मालवा में फिर से अपने वंश की सत्ता स्थापित की। उसने सम्भवतः हूणों से भी युद्ध किया। हर्षसीयक द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की शक्ति को गिरते हुए देखकर उनसे भी नाता लिया। उदयपुर के एक अभिलेख से पता चलता है कि सीयक के राष्ट्रकूटों के साथ उसका संघर्ष हुआ और खोट्टिग नामक राष्ट्रकूट-नरेश को पराजित करके उसने उसकी विपुल सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। पाइयलच्छी नामक प्राकृत शब्दकोष का प्रणेता

धनपाल हर्षनामक द्वितीय की राजसभा में रहता था। सीयक द्वितीय ने मालवा के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जो दक्षिण में ताप्ती नदी, उत्तर में झालावर, पूर्व में भिलसा और पश्चिम में साबरमती से घिरा हुआ था। उसने सम्राटोचित विरुद भी धारण किए। उसका पुत्र वाक्पति मुञ्ज अपने कुल का एक प्रतापी सम्राट था।

वाक्पति मुञ्ज—वाक्पति मुञ्ज ने मालवा के परमारों की शक्ति का वास्तविक रूप में विकास किया। अपने समय का वह एक महान् योद्धा और अपने कुल का सबसे शक्तिशाली नरेश था। उसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों और विजयों में व्यतीत हुआ। उत्पलराज अमोघवर्ष श्रीवल्लभ पृथ्वीवल्लभ आदि विरुद उसने धारण किये। उदयपुर के अभिलेख में वाक्पतिमुञ्ज की विजयों की एक पूरी सूची दी गई है। सबसे पहले उसने त्रिपुरी के राजा युवराज द्वितीय को पराजित किया। इसके बाद लाट (गुजरात) कर्णाट चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में परास्त किया। उसने हूणों पर जो मालवा के उत्तर पश्चिम में हूणमण्डल नामक एक छोटे से प्रदेश पर शासन कर रहे थे भी विजय प्राप्त की। हूणमण्डल नामक यह लघु प्रदेश तोरमाण और मिहिरकुल के विशाल साम्राज्य का अन्तिम अवशेष था। मुञ्ज ने नड्डुल के चाहमानों पर आक्रमण किया और उनसे आबू पर्वत और आधुनिक जयपुर राज्य के दक्षिण में अनेक राज्यों को छीन लिया। उसने अन्हिलपाटन में चालुक्य वंश के संस्थापक मूलराज को भी हराया।

अन्य पड़ोसी राज्यों को जीत लेने के उपरान्त मुञ्ज ने चालुक्य नरेश तैल द्वितीय पर आक्रमण करने का विचार किया। इस समय तैल द्वितीय की शक्ति काफी अधिक बढ़ गई थी। उसने राष्ट्रकूटों से दक्कन का प्रदेश छीन लिया था और मालवा पर अपनी शक्ति का सिक्का जमाना चाहा। मुञ्ज ने तैल द्वितीय की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उस पर छः बार आक्रमण किए परन्तु जब उसने सातवीं बार अपने अनुभवी मन्त्री की चेतावनी की उपेक्षा करते हुए गोदावरी पार की तो वह बन्दी बना लिया गया। उसे कारावास में डाल दिया गया। मुञ्ज ने बाहर आने की योजनाएँ बना रखी थीं किन्तु उसकी योजनाओं की सूचना उसके शत्रु को मिल गई जिससे उसका वध करा दिया गया। इस प्रकार राज्यारोहण के बीस वर्ष पश्चात् सन् ९९५ ई० में मुञ्ज को अपना दुःखद अन्त देखना पड़ा।

राजपूत युग के हिन्दू नरेशों में मुञ्ज अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है यद्यपि उसकी मृत्यु अत्यन्त दुःखद परिस्थिति में हुई। वह एक महान् विजेता था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। साहित्य में मुञ्ज का उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होता है। मेरुतुंग के प्रबन्धचिन्तामणि नामक ग्रन्थ की अनेक कथाओं का वह चरितनायक है। मुञ्ज स्वयं कवि था और उसके द्वारा रचित पद्यों का संकलन काव्य-संग्रहों में मिलता है। कला और साहित्य का वह महान् संरक्षक और पोषक था। धनंजय हलायुध धनिक और पद्मगुप्त नामक कवि उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' और धनञ्जय ने दशरूपक नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। धनिक 'दशरूपावलोक' और हलायुध 'अभिधानरत्नमाला' तथा 'मृतसंजीवनी' के रचयिता थे। मुञ्ज के लिए यह भी कहा जाता है कि वह एक उदार शासक था। उसने अनेक बड़े-बड़े जलाशय महल और कई मन्दिरों का निर्माण करवाया।

मुञ्ज के पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज मालवा के राजसिंहासन पर बैठा। उसने चालुक्य राज को परास्त कर अपने भाई द्वारा हारे हुए राज्यों को फिर से अधिकार में

कर लिया। कहते हैं कि उसने हूणों और लाटों के विरुद्ध युद्ध किया। सिन्धुल अथवा सिन्धुराज का शासन अत्यन्त स्वल्प काल तक ही रहा।

भोज—भोज का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है। भारत के सबसे विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। उसका शासन काल अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था किन्तु अपनी सैनिक सफलताओं के द्वारा वह अपने राज्य की सीमा का विस्तार अधिक न कर सका। हाँ यह अवश्य है कि भोज के शौर्य के कार्यों ने समकालीन नरेशों के बीच उसकी ख्याति जमा दी। भोज ने कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुञ्ज की हार का बदला लिया। भोज ने कलिंग के गंगों के एक सामन्त इन्द्ररथ और उत्तरी कोंकण के शिलाहारों को हराया। गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल से उसने मित्रता स्थापित की जिससे वह अपने विरोधी दक्षिण के चालुक्यों से लोहा ले सके। प्रारम्भ में तो भोज को अवश्य सफलता प्राप्त हुई किन्तु बाद में अपने मित्र राजाओं के साथ पीछे लौटने के लिए उसे विवश होना पड़ा। युद्ध में चालुक्य राजा सोमेश्वर ने भोज के राज्य पर आक्रमण करके उससे बदला लिया। मांडू का सुन्दर दुर्ग, उज्जैन की प्रसिद्ध नगरी और परमार राज्य की राजधानी धारा नगरी इन सब पर सोमेश्वर का अधिकार हो गया और उसने इनका सब ठाट मिटा दिया। चन्देलों, ग्वालियर के कच्छपघातों और कन्नौज के राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध में उसे विफलता ही प्राप्त हुई। शाकम्भरी के चाहमान नरेशों के विरुद्ध युद्ध में उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। नदुल के चाहमानों द्वारा उसे गहरी पराजय सहन करनी पड़ी। भोज ने गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट के कीर्तिराज को पराजित किया। कहते हैं कि उसने एक बार मुस्लिम सेना के विरुद्ध भी युद्ध किया और हूणों के ऊपर उसके द्वारा आक्रमण किए जाने का उल्लेख मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में भोज की विजयों का अतिरंजनपूर्ण वर्णन है और उसे कैलाश तथा मलय की भूमि का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्य से दूर है। वास्तव में भोज को युद्धों में कितनी विजयें प्राप्त हुईं लगभग उतनी ही पराजयों को भी उसने सहन किया। हाँ यह अवश्य है कि एक सच्चे वीर की भाँति भोज ने जय पराजय को विशेष महत्व नहीं दिया। अपनी विजयों द्वारा उसने अपने समय के राजाओं को आतंकित किया और साथ ही साथ उसकी पराजयों ने उसके सैन्य जीवन पर अपयश भी लगाया। उसके सेनानायकों कुलचन्द्र, साढ़ और सूरादित्य ने उसके राज्य प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योग दिया। भोज का राज्य बाँसवाड़ा से लेकर नासिक तक और कोटा से लेकर भिलसा तक फैला हुआ था। अपने सैन्य जीवन में भोज को एक दुःखद अन्त देखना पड़ा।

अपने पश्चिम के पड़ोसी राज्य चालुक्य के विरोध में भोज को प्रारम्भ में कुछ सफलता प्राप्त हुई, परन्तु चालुक्य नरेश भीम ने भोज का सामना करने में चतुर कूटनीति का अवलम्बन किया। उसने भोज के पूर्वीय पड़ोसी राज्य कलचुरि से मित्रता स्थापित कर ली। कलचुरि नरेश कर्ण को साथ लेकर भीम ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं से भोज के राज्य पर धावा बोल दिया। इस आक्रमण का सामना करने की भोज ने तैयारी की परन्तु वह काफी वृद्ध हो चला था और आजीवन युद्ध करते रहने से उसका शरीर भी शिथिल हो गया था। अतएव उस रोग ने घर दबाया और वह संसार से चल बसा।

भोज की ख्याति उसके युद्धों के कारण नहीं वरन् उसके विद्यानुराग, उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्या और साहित्य के संवर्द्धन में उसके योगदान एवं लोक कल्याण के लिए किये गये कार्यों से है जो आज भी उसकी कीर्तिलता को मुरझाने नहीं दे रहे हैं। भोज को इतने अधिक और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है कि उनको भोज द्वारा प्रणीत मानने में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, काव्य, वास्तु, अलंकार आदि विषयों पर उसके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। कुछ ग्रन्थों के जो भोजरचित बताये गये हैं नाम इस प्रकार हैं, आयुर्वेद सर्वस्व, राजमृगांक, व्यवहार समुच्चय, शब्दानुशासन, 'समरांगण सूत्रधार', सरस्वती कण्ठाभरण, नाममालिका, युक्तिकल्पतरु इत्यादि। सम्भव है कि इन समस्त ग्रन्थों की रचना भोज ने न की हो परन्तु इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि वह एक महान् और विख्यात लेखक था। कीथ महोदय ने लिखा है कि इस बात के लिए हमारे पास वास्तविक सूचना का अभाव है जिसके आधार पर हम उसे विभिन्न विषयों की पुस्तकों का रचयिता मानने में अस्वीकृति प्रकट करें।[1] भोज ने रामायण चम्पू नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य और पद्य दोनों की शैलियाँ विद्यमान हैं। सरस्वती कण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र के हैं। विद्वानों के बीच इन ग्रन्थों का अधिक सम्मान होता है। युक्तिकल्पतरु में नीति या राजनीति के विषय का समाधान की चेष्टा की गई है। कहा जाता है कि राजा भोज ने अश्वों और उनके रोगों के सम्बन्ध में भी एक पुस्तक लिखा था। राजमार्तण्ड नामक पुस्तक में उसने योगसूत्र पर टीका लिखी और चित्त वृत्तिनिरोध पर अनेक दृष्टियों से विचार किया। तत्त्वप्रकाश में भोज ने शैवधर्म के सिद्धान्त का निरूपण किया। 'समरांगणसूत्रधार' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में उसने वास्तु तथा नगरों के बसाने इत्यादि से सम्बन्धित विषयों का निरूपण किया। भोज शिक्षा का महान् प्रोत्साहक और संरक्षक था। उसने धारा में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर दूर के विद्यार्थी अपनी बौद्धिक पिपासा शान्त करते थे। इसकी दीवालों से बहुमूल्य रचनाओं से अभिलिखित अनेक प्रस्तर खण्ड उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत को अब भी भोजशाला कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी। भोज की राजसभा में अनेक विद्वान रहा करते थे। उसकी राजसभा के विद्वानों में धनपाल और उसके भाई शोभन का नाम अधिक उल्लेखनीय है। सम्भवतः सीता नाम की कवयित्री को भी राजा भोज का संरक्षण प्राप्त था। यह सम्भव है कि अन्य कई के विद्वान् भी भोज के राजदरबार को सुशोभित करते रहे हों परन्तु दुर्भाग्यवश हम उनका नाम तथा परिचय नहीं जानते। विद्वानों के प्रति भोज की उदारता और दानशीलता के सम्बन्ध में संस्कृत में अनेक किंवदन्तियाँ तथा लोककथायें विद्यमान हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि इस राजा ने सहृदयों को जीत लिया था। भोज एक सामान्य शासक और विजेता नहीं था। उसने भूमण्डल को जीतने के साथ साथ लोगों के हृदयों को भी जीतने का प्रयास किया था और इस पहले प्रयत्न में तो किंचित् सफलता प्राप्त हुई किन्तु अपने दूसरे और अधिक गौरवपूर्ण प्रयत्न में उसे पूरी सफलता मिली। भोज और उसका साम्राज्य नहीं रहा किन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास में उसका नाम

---

1 We have no real knowledge to disprove his claim to polymathy exhibited in a large variety of works. *A History of Sanskrit Literature* (H.S.) p. 83

कर लिया। कहते हैं कि उसने हूणों और लाटों के विरुद्ध युद्ध किया। सिन्धुल अथवा सिन्धुराज का शासन अत्यन्त स्वल्प काल तक ही रहा।

भोज--भोज का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है। भारत के सबसे विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। उसका शासन काल अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था किन्तु अपनी सैनिक सफलताओं के द्वारा वह अपने राज्य की सीमा का विस्तार अधिक न कर सका। हाँ यह अवश्य है कि भोज के सैनिक कार्यों ने समकालीन नरेशों के बीच उसकी ख्याति जमा दी। भोज ने कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुञ्ज की हार का बदला लिया। भोज ने कलिंग के गङ्गों के एक सामन्त इन्द्ररथ और उत्तरी कोंकण के शासकों को हराया। गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल से उसने मित्रता स्थापित की जिससे वह अपने चिरशत्रु दक्षिण के चालुक्यों से लोहा ले सके। प्रारम्भ में तो भोज को अवश्य सफलता प्राप्त हुई किन्तु बाद में अपने मित्र राजाओं के साथ पीछे लौटने के लिए उसे विवश होना पड़ा। बाद में चालुक्य राजा सोमेश्वर ने भोज के राज्य पर आक्रमण करके उससे बदला लिया। माण्डू का सुदृढ़ दुर्ग, उज्जैन की प्रसिद्ध नगरी और परमार राज्य की राजधानी धारा नगरी इन सब पर सोमेश्वर का अधिकार हो गया और उसने इनको खूब लूटा खसोटा। चन्देलों, ग्वालियर के कच्छपघातों और कन्नौज के राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध में उसे विफलता ही प्राप्त हुई। शाकम्भरी के चाहमान नरेशों के विरुद्ध युद्ध में उसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। नदुल के चाहमानों द्वारा उसे गहरी पराजय सहन करनी पड़ी। भोज ने गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट के कीर्तिराज को परास्त किया। कहते हैं कि उसने एक बार मुस्लिम सेना के विरुद्ध भी युद्ध किया और हूणों के ऊपर उसके द्वारा आक्रमण किये जाने का उल्लेख मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में भोज की विजयों का अतिरंजनपूर्ण वर्णन है और उसे कैलाश तथा मलय की भूमि का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्य से दूर है। वास्तव में भोज को युद्धों में जितनी विजयें प्राप्त हुईं लगभग उतनी ही पराजयों को भी उसने सहन किया। हाँ यह अवश्य है कि एक सच्चे वीर की भाँति भोज ने जय पराजय को विशेष महत्व नहीं दिया। अपनी विजयों द्वारा उसने अपने समय के राजाओं को आतंकित किया और साथ ही साथ उसकी पराजयों ने उसके सैन्य जीवन पर अपयश भी लगाया। उसके सेनानायकों कुलचन्द्र, साढ़ और सूरादित्य ने उसके राज्य प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योग दिया। भोज का राज्य बांसवाड़ा से लेकर नासिक तक और करा से लेकर भिलसा तक फैला हुआ था। अपने सैन्य जीवन में भोज को एक दुखद अन्त देखना पड़ा।

अपने पश्चिम के पड़ोसी राज्य चालुक्य के विरोध में भोज को प्रारम्भ में कुछ सफलता प्राप्त हुई परन्तु चालुक्य नरेश भीम ने भोज का सामना करने में चतुर कूटनीति का अवलम्बन किया। उसने भोज के पूर्वीय पड़ोसी राज्य कलचुरि से मित्रता स्थापित कर ली। कलचुरि नरेश कर्ण का साथ लेकर भीम ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं से भोज के राज्य पर धावा बोल दिया। इस आक्रमण का सामना करने की भोज ने तैयारी की परन्तु वह काफी वृद्ध हो चला था और आजीवन युद्ध करते रहने से उसका शरीर भी शिथिल हो गया था। अतएव उसे रोग ने घेर दबाया और वह संसार से चल बसा।

भोज की ख्याति उसके युद्धों के कारण नहीं वरन् उसके विद्यानुराग, उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्या और साहित्य के संवर्द्धन में उसके योगदान एवं लोक कल्याण के लिए किये गये कार्यों से है जो आज भी उसकी कीर्तिलता को मुरझाने नहीं दे रहे हैं। भोज को इतने अधिक और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है कि उनको भोज द्वारा प्रणीत मानने में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, काव्य, वास्तु, अलंकार आदि विषयों पर उसके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। कुछ ग्रन्थों के जो भोजरचित बताये गये हैं नाम इस प्रकार हैं : आयुर्वेद सर्वस्व, राजमृगांक, व्यवहार समुच्चय, शब्दानुशासन, 'समरांगण सूत्रधार', सरस्वती कण्ठाभरण, नाममालिका, युक्ति कल्पतरु इत्यादि। सम्भव है कि इन समस्त ग्रन्थों की रचना भोज ने न की हो परन्तु इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि वह एक महान् और विख्यात लेखक था। कीथ महोदय ने लिखा है कि इस बात के लिए हमारे पास वास्तविक सूचना का अभाव है जिसके आधार पर हम उसे विभिन्न विषयों की पुस्तकों का रचयिता मानने में अस्वीकृति प्रकट करें।[1] भोज ने 'रामायण चम्पू' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य और पद्य दोनों की शैलियाँ विद्यमान हैं। सरस्वती कण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र के हैं। विद्वानों के बीच इन ग्रन्थों का अधिक समादर होता है। 'युक्तिकल्पतरु' में नीति या राजनीति के विषय का समझाने की चेष्टा की गई है। कहा जाता है कि राजा भोज ने ज्योतिष और उनके रोगों के सम्बन्ध में भी एक पुस्तक लिखी थी। 'राजमार्तण्ड' नामक पुस्तक में उसने योगसूत्र पर टीका लिखी और चित्त वृत्ति निरोध पर अनेक दृष्टियों से विचार किया। तत्त्वप्रकाश में भोज ने शैव धर्म के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया। 'समरांगणसूत्रधार' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में उसने वास्तु तथा नगरों के बसने इत्यादि से सम्बन्धित विषयों का विश्लेषण किया। भोज विद्या का महान् प्रोत्साहक और संरक्षक था। उसने धारा में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर दूर के विद्यार्थी अपनी बौद्धिक पिपासा शान्त करने थे। इसकी दीवालों से बहुमूल्य रचनाओं से अभिलिखित अनेक प्रस्तर खण्ड उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत के, अब भी भोजशाला कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी। भोज की राजसभा में अनेक विद्वान रहा करते थे। उसकी राजसभा के विद्वानों में धनपाल और उवट भाई शोभन का नाम अधिक ■ स्मरणीय है। सम्भवतः सीता नाम की कवियित्री को भी राजा भोज का संरक्षण प्राप्त था। यह सम्भव है कि अन्य अनेक विद्वान भी भोज के राज दरबार को सुशोभित करते रहे हों परन्तु दुर्भाग्यवश हम उनका नाम तथा परिचय ज्ञात नहीं। विद्वानों के प्रति भोज की उदारता और दानशीलता के सम्बन्ध में संस्कृत में अनेक किंवदन्तियाँ तथा लोक कथायें विद्यमान हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि इस राजा ने लोकहृदय को जीत लिया था। राजा भोज एक साधारण शासक और विजेता नहीं था। उसने भूभागों को जीतने के साथ साथ लोगों के हृदयों को भी जीतने का प्रयास किया था और इस अदन पहले प्रयत्न में तो परिकल्पित सफलता प्राप्त हुई किन्तु अपने दूसरे और अधिक गौरवपूर्ण प्रयत्न में उसे पूरी सफलता मिली। आज इसका साम्राज्य नहीं रहा किन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास में उसका नाम

---

1 We have no real knowledge to disprove his claim to polymathy exhibited in a large variety of works *A History of Sanskrit Literature* (1928) p 83

अजर अमर है। विद्या और कविता के आश्रयदाता के रूप में तथा उससे भी अधिक परिमाण में एक सृजनशील साहित्यकार के रूप में भोज को संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण करता है। यह सचमुच विस्मय की बात है कि भोज का नाम संस्कृत के अनेक कविता-कृतियों में अनेक अद्भुत कथाओं से संयुक्त किया गया है। स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में जो लोककथाएँ प्रचलित हैं उनमें ऐतिहासिक तथ्य बहुत ही थोड़े परिमाण में विद्यमान हैं किन्तु उनसे भोज की लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

भोज के लोक कल्याण सम्बन्धी कार्य—यद्यपि भोज आजीवन युद्धादि कार्यों में व्यस्त था तथापि उसने अपने सुव्यवस्थित शासन को विघटित होने न दिया। उसने उन कार्यों की ओर भी ध्यान दिया जिनसे प्रजा का कल्याण होता है और शासक के यश में अभिवृद्धि होती है। अपने राज्य भर में मन्दिरों का निर्माण करा के उसने अपनी धर्मपरायणता से प्रजा की प्रशंसा अर्जित की और राज्य को सजाया। उसने भोजपुर नामक नगर बसाया और इसके निकट एक बहुत बड़ी झील खुदवाई। यह झील २५० वर्गमील के क्षेत्र में फैली थी। इसका निर्माण जिन सुन्दर तरीके से किया गया था उससे उस समय के इञ्जीनियरों की कार्यनिपुणता का परिचय मिलता है। मालवा के सुल्तान हुशंगशाह ने पन्द्रहवीं शताब्दी में इस झील को सुखवाकर इसे कृषियोग्य भूमि में परिवर्तित करा दिया। मालूम पड़ता है भोज ने इस झील को एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर खुदवाया था। यह विशाल जलाशय न केवल उस समय के लोगों के नगरों को सुख प्रदान करता था अपितु इसने मालवा की उष्ण जलवायु को नम बना दिया होगा। इस झील से दुर्भिक्षों का सामना करने में बड़ी सहायता मिलती रही होगी। भोज के नाम का एक शिवमन्दिर आज भी उस स्थान में विद्यमान है। यह निश्चयपूर्वक माना जाता है कि नगर के लौहस्तम्भ को जो ४३ फीट ४ इंच है उसको परमार काल में बनाया गया था अथवा अदुरहमान के समय में (तेरहवीं शताब्दी में)। भोज ने संस्कृत विद्यालय सरस्वती मन्दिर के निकट बनवाया था। इस मन्दिर के लिए सरस्वती की जो मूर्ति बनवाई गई थी वह आज भी देखी जा सकती है। यह मूर्ति ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी हुई है। इसकी सुन्दरता और कलात्मकता की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

भोज का धार्मिक दृष्टिकोण—भोज स्वयं शैव धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने शैव धर्म के सिद्धान्तों पर तत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखा और राज्य भर में विशाल शिवमन्दिरों का निर्माण करवाया। परन्तु धर्म के विषय में भोज का दृष्टिकोण दार्शनिकता प्रधान था जिसमें संकीर्णता और असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं था। उसके राज्य में जैनियों की संख्या काफी थी जिनके प्रति उसका व्यवहार सदा प्रशंसनीय था। धर्म के सम्बन्ध में भोज के हृदय में सच्ची जिज्ञासा थी और उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का वह बराबर यत्न करता था। उसने अपने राज्य में धार्मिक सम्मेलनों का आयोजन किया जिनमें विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण सम्मिलित होते थे। भोज के प्रश्न पर उन सबों में परस्पर विचार विमर्श हुआ और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनन चिन्तन के द्वारा व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है चाहे वह पूजोपासना की किसी पद्धति का अवलम्बन करे।

भोज के उत्तराधिकारी—भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह एक ऐसे समय में मालवा के परमार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ जिस समय राज्य को चालुक्य और

कलचुरि घर [illegible] इन कठिन परिस्थितियों में जयसिंह ने अपने दक्षिणी पड़ोसियों दक्कन के चालुक्यों से सहायता की याचना की। दक्कन के चालुक्यों ने अपना पुराना बैर भुलाकर सिद्धराज की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजकुमार विक्रमादित्य ने मालवा को उसके शत्रुओं से मुक्त कर दिया। उदयादित्य ने, जो सम्भवतः भोज का भाई था, सिंहासन पर अनुचित तरीकों से अपना अधिकार जमा लिया। उसने मालवा की गिरती शक्ति को संभालने का प्रयत्न किया। उसने उदयपुर में नीलकण्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया जो अब भी अच्छी स्थिति में विद्यमान है और उस युग के उत्तर भारत की वास्तुकला का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है। इन्दौर के एक गाँव ऊन में बहुत से जैन और हिन्दू मन्दिर हैं जिनमें से अधिकांश का निर्माण सम्भवतः उदयादित्य ने कराया था।

उदयादित्य के उपरान्त लक्ष्मदेव मालवा राज्य का स्वामी हुआ। उसने यशःकर्ण कलचुरि और काञ्ची के चोलों तथा गजनी के महमूद के वंशजों पर विजय प्राप्त की। नरवर्मन और यशोवर्मन लक्ष्मदेव के बाद मालवा के उत्तराधिकारी हुए जिनकी ज्ञात तिथि क्रमशः १०९७–११११ और ११३४–११४२ है। इस काल में मालवा के ऊपर सोलंकियों ने अपना अधिकार जमा लिया और ११३७ से लेकर ११७३ तक उस पर उनका अधिकार स्पष्ट है। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद परमारों का राज्य उसके उत्तराधिकारियों के बीच विभाजित कर दिया गया। कुमारपाल के पश्चात् सोलंकी वंश मुसीबतों में पड़ गये जिससे मालवा के परमारों को अपनी शक्ति संभालने का अवसर प्राप्त हो गया। विन्ध्यवर्मन ने ११९२ में धार को अपने अधिकार में कर लिया और उसके उत्तराधिकारी सुभटवर्मन ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया।

अर्जुनवर्मन के समय में मालवा का प्राचीन वैभव कुछ अंशों में लौट आया। अर्जुनवर्मन ने स्वयं अमरुशतक पर एक टीका लिखी और उसके शासन काल में पारिजातमञ्जरी नामक नाटक लिखा गया जो अपने पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है परन्तु यह पाषाणस्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया गया था अतएव इसके कुछ अंश अब भी मिलते हैं। अर्जुनवर्मन की मृत्यु के पश्चात् परमारों की शक्ति धीरे धीरे गिरने लगी। सन् १२३४ में इल्तुतमिश ने और १२९२ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को खूब लूटा। इसके बाद मालवा की हिन्दू सत्ता का नाश हो गया।

अन्हिलवाड के सोलंकी

गुजरात में अन्हिलवाड (पाटन) नामक स्थान पर पहले प्रतीहार साम्राज्य का अधिकार था परन्तु राजनीतिक प्रभुता के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों में जो पारस्परिक संघर्ष हुआ उससे लाभ उठाकर मूलराज प्रथम ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और अन्हिलवाड को अपने राज्य की राजधानी बनाया।

मूलराज सोलंकी—मूलराज सोलंकी ने अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेने के बाद इसकी सीमाओं के विस्तार का भी प्रयत्न किया। उसने शीघ्र ही कच्छ देश और सुराष्ट्र के पूर्वीय भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उसे अपने प्रबल पड़ोसियों की शक्ति का भी सामना करना पड़ा। उसने कई आक्रमणों का सामना किया और अधिकतर उसे पराजय ही प्राप्त हुई फिर भी अपने राजकुल का, जिसका कि वह स्वयं प्रतिष्ठापक था उसने नाश नहीं होने दिया। उसकी मृत्यु के समय

सोलंकियों का राज्य पूर्व और दक्षिण में साबरमती राज्य तक फैला हुआ था। उत्तर में जोधपुर राज्य का सचार भी इसमें सम्मिलित था। मूलराज की मृत्यु रणस्थल में विग्रहराज द्वितीय के हाथों से हुई। मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने धारा नगरी के परमार नरेश सिन्धुराज को पराजित किया। चामुण्डराज का पौत्र भीमदेव प्रथम (१०२२) सोलंकी राजकुल का एक विख्यात नरेश था।

भीमदेव प्रथम--भीमदेव प्रथम के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में महमूद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। भीम ने उसके आक्रमण का मुकाबिला करने का निश्चय किया परन्तु एकाएक उसके ऊपर भयंकर आक्रमणकारी का आतंक छा गया और वह रणभूमि छोड़कर भाग गया। महमूद ने सोमनाथ के मंदिर को खूब लूटा खसोटा और वह अतुल सम्पत्ति लेकर अपने देश को गया। किन्तु एक अद्भुत बात यह है कि तत्कालीन गुजराती पुस्तकों में महमूद के आक्रमण का उल्लेख नहीं किया गया है। इस काल के गुजरात का इतिहास जानने के कई ग्रन्थ हैं जो सम्भवतः उसी समय या उससे कुछ बाद लिखे गये थे परन्तु इनमें इस विनाशकारी आक्रमण का कहीं भी जिक्र नहीं मिलता। पाठकों को स्मरण होगा कि यूनानी विजेता सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख भी भारत के किसी समकालीन ग्रन्थ में नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सिकन्दर के आक्रमण की भांति महमूद गजनवी के आक्रमण का भी भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महमूद द्वारा सोमनाथ के मंदिर के तुड़वा दिये जाने पर भीमदेव ने उसका पुनर्निर्माण कराया। महमूद के लौट जाने पर भीमदेव ने फिर से अपनी शक्ति का संगठन किया। पहले उसने आबू के परमार राजा को हराया। भीम ने परमार नरेश के पतन में अपना योगदान दिया। इस कार्य में भीम ने लक्ष्मीकर्ण कलचुरी से सहायता प्राप्त की थी परन्तु उन दोनों की मित्रता अधिक समय तक टिक न सकी। दोनों में परस्पर लड़ाई छिड़ गई जिसमें लक्ष्मीकर्ण की हार हुई। भीमदेव के उपरान्त कर्णदेव अन्हिलवाड़ के राजसिंहासन पर समासीन हुआ। कर्ण ने १०६४ से लेकर १०९४ तक शासन किया। कर्ण का शासन काल शांतिपूर्ण कार्यों के लिए विख्यात है। उसने अनेक मंदिरों का निर्माण कराया उसके समय में उसके ही नाम से एक नगर की स्थापना की गई। उसने कवि बिल्हण को राजाश्रय प्रदान किया। कर्ण को परमार राजा उदयादित्य ने युद्ध में पराजित किया।

जयसिंह सिद्धराज--कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज अपने वंश का प्रतापी और विख्यात राजा था। उसने अपनी रणवाहिनी को चारों दिशाओं में घुमाया और लगभग सर्वत्र विजय पाया। अपनी विजयों से उसने अपने पड़ोसियों को आतंकित कर दिया। उसने सुराष्ट्र के आभीर सरदार को युद्ध में पराजित करके उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। जयसिंह ने बारह वर्षों तक मालवा से युद्ध किया और नरवर्मन तथा यशोवर्मन दोनों को सिंहासनच्युत करके उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। नड्डुल और शाकम्भरी दोनों स्थानों के चाहमान नरेशों ने उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया और उसके सामन्त के रूप में अपने राज्यों का शासन करते रहे। जयसिंह ने यशःकर्ण कलचुरि और गोविन्दचन्द्र गहड्वाल से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। उसने चन्देल राज्य पर भी आक्रमण किया और वह कालिंजर तथा महोबा तक आगे बढ़ गया। चन्देल नरेश मदनवर्मन को विवश होकर जयसिंह के साथ संधि करनी पड़ी और इस संधि के फलस्वरूप उसने मालवा राज्य का भिलसा का प्रदेश

दिया। जयसिंह ने चालुक्य नृपति विक्रमादित्य षष्ठ पर भी विजय प्राप्त की। कहा जाता है कि सिंध के अरबों के विरुद्ध युद्ध में भी जयसिंह को सफलता प्राप्त हुई थी। उसके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से विदित होता है कि गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और दक्षिणी राजपूताना उसके राज्य में सम्मिलित थे। जयसिंह ने १११३-१४ ई० को एक नया सम्वत् चलाया।

यद्यपि सोलंकी नरेश जयसिंह का भी समय राजा भोज की भाँति अधिकतर युद्ध में व्यतीत हुआ तथापि भोज की ही तरह उसने भी विद्या को प्रश्रय प्रदान किया। ज्योतिष, न्याय और पुराण के अध्ययन के लिए जयसिंह ने शिक्षण संस्थायें खुलवाईं। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैन लेखक महापण्डित हेमचन्द्र रहते थे जिनके अनेक ग्रन्थ उनके मस्तिष्क और विचारशीलता की उर्वरता का द्योतन करते हैं। जयसिंह स्वयं कट्टर शैव था परन्तु उसका धार्मिक दृष्टिकोण राजा भोज की भाँति जिज्ञासा प्रधान था। जयसिंह विभिन्न धर्मों के आचार्यों के बीच धार्मिक विषयों पर विचार विमर्श के लिए सम्मेलनों का आयोजन करता था। अकबर की धार्मिक विचारधारा का यह पूर्वाभास था। जयसिंह ने अपने राज्य में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। स्वयं शैव होते हुए भी उसने जैन पण्डित हेमचन्द्र को अपनी राजसभा में स्थान दिया। जयसिंह ने अवन्तिनाथ और सिद्धराज विरुद धारण किये।

कुमारपाल—जयसिंह के उपरान्त उसके दूर के एक सम्बन्धी कुमारपाल ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया क्योंकि जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। कुमारपाल ने शाकम्भरी के चाहमानों को पराजित किया और आबू के परमारों को दबाया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को भी उसने हराया था। कुमारपाल का नाम जैन धर्म के इतिहास में काफी प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के सरगर्भित धर्मनिरूपण से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन मत ग्रहण कर लिया। उसने अपने राज्य भर में अहिंसा के सिद्धान्तों के परिपालन के लिए कठोर आज्ञायें निकलवाई थीं। उसने ब्राह्मणों को इस बात के लिए विवश किया कि वे पशु-बलि प्रधान यज्ञों का त्याग दें। राज्य भर में कुमारपाल ने कसाइयों की दुकानों पर ताला लगवा दिया। संन्यासियों को मृगचर्म मिलना बन्द हो गया क्योंकि पशुओं का आखेट करना राजकीय कानून की दृष्टि में अवैध ठहरा दिया गया था। गिरनार पर्वत के निकट शिकारियों के समक्ष भूखों मरने लगे। राज्य भर में मनोरंजन के लिए पशुओं की लड़ाइयों को निषिद्ध ठहरा दिया गया। जुआ और सुरा सेवन पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जैन ग्रन्थों में कुमारपाल के अहिंसापालन सम्बन्धी आदर्शों के विषय में बड़ी विचित्र कथायें दी हुई हैं। फिर भी उसके जैन मतानुयायी होने में सन्देह का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। जैन धर्म का अनुयायी होने पर भी कुमारपाल ने अपने पूर्वजों की शिवोपासना सम्बन्धिनी मनोवृत्ति का त्याग नहीं किया। उसने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। उत्कीर्ण लेखों में कुमारपाल को माहेश्वर कहा गया है।

भीमदेव द्वितीय—कुमारपाल के बाद गुजरात का शासक अजयपाल हुआ जिसने अपने राज्य में जैन मत के विरुद्ध एक प्रतिक्रियात्मक नीति का प्रचार किया। उसने जैन मन्दिरों को विध्वस्त कराना शुरू किया। कहा जाता है कि उसने महापण्डित हेमचन्द्र के प्रिय शिष्य और प्रसिद्ध जैन लेखक रामचन्द्र का वध करा दिया था। किन्तु उसकी इस धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। उसके

राज्य के एक अफसर ने उसकी हत्या कर दी। अजयपाल के पश्चात् मूलराज द्वितीय ने कुछ समय तक शासन किया। उसके बाद भीमदेव द्वितीय राजा हुआ जिसने राज्यारोहण के वर्ष ही गोर के मुहम्मद को युद्ध में हराया। सन् ११९५ में भीमदेव द्वितीय ने कुतुबुद्दीन से युद्ध किया और उसे इतनी गहरी पराजय दी कि मुस्लिम सेनानायक को अजमेर तक पीठ दिखा देनी पड़ी। परन्तु दूसरे वर्ष (११९७) में अन्हिलवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। किन्तु कुतुबुद्दीन का गुजरात पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं स्थापित हो सका।

भीमदेव द्वितीय ने एक लम्बे समय लगभग साठ वर्षों तक शासन किया। उसके समय में मुसलमानों के जो आक्रमण हुए उससे उसके राज्य की स्थिति काफी डाँवाडोल हो गई और प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का अवसर ताकना आरम्भ किया। अन्हिलवाड़ के राज्य की स्थिति इस समय इतनी गिरी हुई थी कि इसका शीघ्र विनष्ट हो जाना अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। राज्य के बड़े-बड़े अफसरों और कुछ मन्त्रियों की नीयत भी दूषित हो गई। परन्तु अर्णोराज नामक एक बाघेल ने राज्य को पूर्ण विनाश से बचा लिया। उसके सुयोग्य पुत्र लवणप्रसाद ने अपने पिता के काम को जारी रक्खा और शासन-सञ्चालन का सारा कार्य अपने ही कन्धों पर वहन किया। उसने आन्तरिक विद्रोहों से राज्य की रक्षा की और बाहरी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया। इस प्रकार अन्हिलवाड़ का राज्य अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ अलाउद्दीन खिलजी के पूर्व तक बना रहा। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में इस महत्त्वाकांक्षी मुस्लिम शासक ने अपने दो सेनापतियों उलुग खाँ और नसरत खाँ की अध्यक्षता में एक विशाल सेना भेजी जिसे देखकर कर्ण जो इस समय गुजरात का शासक था भाग गया। गुजरात के राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। जैन आचार्य मेरुतुंग के ग्रन्थ 'प्रबन्धचिन्तामणि' में गुजरात के प्राचीन इतिहास के विषय में काफी महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं।

त्रिपुरा के कलचुरि

जेजाकभुक्ति के चन्देलों के राज्य के दक्षिण में आधुनिक जबलपुर के निकट कलचुरि राजपूतों का राज्य था। कलचुरि लोग अपने को हैहय वंश का क्षत्रिय बतलाते हैं। गुर्जर प्रतिहारों और कन्नौज के चालुक्यों के उत्थान के पूर्व बुन्देलखण्ड से लेकर गुजरात और नासिक तक विशेषकर नर्मदा की उत्तरी घाटी में कलचुरि लोग सबसे अधिक शक्तिशाली थे परन्तु गुर्जर प्रतिहारों और चालुक्यों की शक्ति के उदय से कलचुरियों का प्रभाव डहल (वर्तमान जबलपुर के निकट) तक सीमित रह गया। अब कलचुरि राज्य की राजधानी त्रिपुरी हो गई। इसलिए उनको चेदि, डहल अथवा त्रिपुरी के कलचुरि कहा जाने लगा।

कलचुरि वंश का संस्थापक तथा प्रथम ऐतिहासिक शासक कोक्कल प्रथम (८७५–९२५) था जिसने राष्ट्रकूटों और चन्देलों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किये। प्रतिहारों के साथ कोक्कल प्रथम का मैत्री सम्बन्ध था। इस प्रकार उसने अपने समय के शक्तिशाली राज्यों के साथ मित्रता और विवाह द्वारा अपनी शक्ति भी सुदृढ़ की। कोक्कल प्रथम अपने समय के प्रसिद्ध योद्धाओं और विजेताओं में से था। कलचुरि अभिलेखों में कोक्कल को अनेक विजयों का गौरव प्रदान किया गया है परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है हम इस युग के अभिलेखों में उल्लिखित सभी बातों को ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते अतएव कलचुरि अभिलेखों के आधार

परन्तु कोकल्ल को अपने समय का सबसे महान विजेता नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस बात में सन्देह नहीं कि कोकल्ल पराक्रमी एवं साहसी विजेता था और उसने अपनी विजयों द्वारा एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

एक अभिलेख से पता चलता है कि कोकल्ल प्रथम ने अपने राष्ट्रकूट जामाता को वेंगी के विजयादित्य तृतीय (पूर्वी चालुक्यराज) के विरुद्ध आश्रय तथा सहायता प्रदान की। एक अन्य अभिलेख में यह ध्वनित होता है कि कोकल्ल ने भोज प्रथम को सुरक्षा प्रदान कर प्रतिहार नरेश महीपाल से शत्रुता कर ली। परन्तु भोज प्रथम उसका मित्र हो गया। अभिलेखों में कोकल्ल को 'सारी पृथ्वी का विजेता' तथा अपने समकालीन नरेशों का [illegible] कहा गया है जो स्पष्टतया प्रशंसात्मक है। अपने शासन-काल के अन्तिम समय में कोकल्ल ने उत्तरी कोंकण पर आक्रमण किया और पूर्वी चालुक्यों तथा प्रतिहारों के विरुद्ध राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की सहायता प्रदान की। कोकल्ल ने अपनी विजयों के द्वारा जिस राज्य की स्थापना की उसमें उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही विघटन के तत्व उत्पन्न हो गये जिससे कलचुरियों की शक्ति क्षीण होने लगी। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में गांगेयदेव की अध्यक्षता में कलचुरियों को भारत की सबसे महान् राजनीतिक शक्ति होने का गौरव प्राप्त हो गया।

गांगेयदेव—लगभग १०१९ ई० में गांगेयदेव त्रिपुरी के राजसिंहासन पर बैठा। गांगेयदेव को अपने सैन्य प्रयत्नों में विफलता भी प्राप्त हुई किन्तु उसने कई विजयें कीं और अपने राज्य का विस्तार करने में काफी अंश तक सफलता प्राप्त की। उसके अभिलेखों के अतिरंजनपूर्ण विवरणों को न स्वीकार करने पर भी यह माना गया है कि गांगेयदेव ने कीर देश अथवा कांगड़ा घाटी तक उत्तर भारत में आक्रमण किये और पूर्व में बनारस तथा प्रयाग तक अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया। प्रयाग और वाराणसी से और आगे वह पूर्व में बढ़ा। अपनी सेना लेकर वह सफलतापूर्वक पूर्वी समुद्र तट तक पहुँच गया और उड़ीसा को विजित किया। अपनी इन विजयों के कारण उसने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। उसने पालों के बल की अवहेलना करते हुए अंग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसे सफलता प्राप्त हुई। यह सम्भव है कि गांगेयदेव ने कुछ समय तक मिथिला या उत्तरी बिहार पर भी अपना अधिकार जमाये रक्खा था।

डा० मजूमदार की धारणा है कि गांगेयदेव ने मुसलमानों की शक्ति से लोहा लिया। उसकी यह गर्वोक्ति कि उसने कीर प्रदेश तक धावा बोला था यह ध्वनित करता है कि उसने मुसलमानों की शक्ति को चुनौती दी थी क्योंकि कीर प्रदेश मुसलमानों के अधीनस्थ पंजाब का एक भाग था। गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नियाँ उसके साथ चिता में जल कर भस्म हो गईं। गांगेयदेव का शासन-काल बिल्कुल ठीक तौर पर निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि १०१९ ई० में वह सिंहासन पर बैठा और १०४० ई० में उसकी मृत्यु हुई।

अपने वंश में गांगेयदेव ही ऐसा सम्राट था जिसने अपने नाम से सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों पर उसके नाम के साथ-साथ लक्ष्मी की आकृति भी खुदी हुई है। गांगेयदेव के सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे तीनों प्रकार के थे। वह शिवोपासक था और उसने शिव जी का एक मंदिर बनवाया।

लक्ष्मीकर्ण—गांगेयदेव के उपरान्त उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्णराज सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति एक वीर सैनिक और महत्ता युद्धों का

विजता था। उसने काफी विस्तृत और महत्वपूर्ण विजयों द्वारा कलचुरि शक्ति का विकास किया। कल्याणी और अन्हिलवाड के शासकों से सहायता प्राप्त कर कर्ण ने परमार राजा भोज का परास्त कर दिया। उसने चन्देलों और पालों पर विजय प्राप्त की। उसके अभिलेख बंगाल और उत्तर प्रदेश में पाये गये हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन भागों पर उसका अधिकार था। कर्ण का राज्य गुजरात से लेकर बंगाल और गंगा से महानदी तक फैला हुआ था।

कर्ण अपनी विजय वाहिनी को पूर्वी समुद्र के किनारे ले जाते हुए कावेरी तक पहुँच गया जिस पर उस समय चोलों का राज्य था। कहा जाता है कि कर्ण ने कलिंग में पल्लवों, गंगों, मुरलों और सुदूर दक्षिण के पाण्ड्यों को पराजित किया। यह सम्भव है कि दक्षिण की इन जातियों ने चोलों की सहायता की हो और उसने इन सबकी सामूहिक शक्ति को मान दिया था। कर्ण की इन विजयों के कारण उसे भारतीय इतिहास के सबसे महान् विजेताओं में स्थान प्राप्त हो गया है। उसकी तुलना प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन के साथ की गई है परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कर्ण को कई पराजयें सहनी पड़ी थीं। पालों, चन्देलों, परमारों और सोलंकियों सभी ने उसको हराया। अतएव कर्ण की प्रारम्भिक विजयों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। उसकी विजयों ने उसके गौरव को तो बढ़ाया किन्तु उसकी राज्य सीमा में कोई विस्तार नहीं किया। १०७२ ई० में कर्ण ने अपने पुत्र के लिए सिंहासन त्याग दिया।

यशःकर्ण—सन् १०७३ के लगभग यशःकर्ण त्रिपुरी के सिंहासन पर बैठा। उसने वेंगी राज्य और उत्तरी बिहार तक धावे बोले। उसके पिता के अन्तिम दिनों में उसके राज्य की स्थिति काफी डाँवाडोल हो गई थी और इसी डाँवाडोल स्थिति में उसने राजसिंहासन पर पैर धरा था। परन्तु अपने राज्य की इस गड़बड़ स्थिति का विचार न करते हुए यशःकर्ण ने अपने पिता और पितामह की भाँति ही विजय का क्रम जारी रखा। पहले तो उसे कुछ सफलता मिली लेकिन शीघ्र ही उसका राज्य स्वयं अनेक आक्रमणों का केन्द्रबिन्दु बन गया। उसके पिता और पितामह की आक्रमणात्मक साम्राज्यवादिनी नीति से जिन राजाओं को क्षति पहुँची थी वे सब प्रतिकार लेने का विचार करने लगे। दक्षिण के चालुक्यों ने उसके राज्य पर हमला बोल दिया और अपने हमले में वे सफल भी रहे। गहड़वालों के उदय ने गंगा के मैदान में उसकी स्थिति पर अहितकर प्रभाव डाला। चन्देलों ने भी उसकी शक्ति को सफलतापूर्वक खुली चुनौती दी। परमारों ने यशःकर्ण की राजधानी को खूब लूटा-खसोटा। इन सब पराजयों ने उसकी शक्ति को कमजोर किया। उसके हाथों से प्रयाग और वाराणसी के नगर निकल गये और उसके वंश का गौरव अस्त हो गया।

यशःकर्ण के उत्तराधिकारी और कलचुरि वंश का पतन—यशःकर्ण के उपरान्त उसका पुत्र गयाकर्ण सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु अपने पिता के शासन काल में प्रारम्भ होनेवाली अपने वंश की राजनीतिक अवनति को वह रोक न सका। उसके शासन काल में रत्नपुरा की कलचुरी शाखा दक्षिण कोशल में स्वतन्त्र हो गई। गयाकर्ण ने मालवा-नरेश उदयादित्य की पौत्री से विवाह किया था। इसका नाम अल्हनादेवी था। गयाकर्ण की मृत्यु के बाद अल्हनदेवी ने भेरवाघाट में वैद्यनाथ के मन्दिर और मठ का पुनर्निर्माण कराया। गयाकर्ण का द्वितीय पुत्र जयसिंह कुछ प्रतापी था। उसने कुछ अंश तक अपने वंश के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने में सफलता प्राप्त की। उसने

मालवे के नरेश कुमारपाल को पराजित किया। जयसिंह की मृत्यु ११७५ और ११८० के मध्य किसी समय हुई। उसका पुत्र विजयसिंह कलचुरि वंश का अन्तिम नरेश था जिसने त्रिपुरी पर राज्य किया। विजयसिंह को ११९६ और १२०० के बीच में जैतुगि प्रथम ने जो देवगिरि के यादववंश का नरेश था मार डाला और त्रिपुरी के कलचुरि वंश का उन्मूलन कर दिया।

बंगाल के पाल

बंगाल का प्रान्त मगध राज्य में सम्मिलित था। नन्दों के समय में भी बंगाल मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध के राजसिंहासन पर बैठनेवाला सम्राट बंगाल का भी स्वामी होता था। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गौड़ अथवा बंगाल स्वतंत्र हो गया और गुप्त साम्राज्य से पृथक हो गया। शशांक के समय में जो हर्ष का समकालीन था, बंगाल की शक्ति काफी बढ़ गई। यद्यपि सम्राट हर्ष और आसाम के भास्करवर्मन ने गौड़ाधिपति शशांक की शक्ति को रोकने का प्रयास किया और उसको युद्ध में पराजित करने की भी चेष्टा की तथापि उसके जीवन काल में न तो वे उसकी शक्ति ही कम कर सके और न उसको कुछ क्षति ही पहुंचा सके। परन्तु शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल की राजनैतिक एकता और सार्वभौमिकता छिन्न हो गई। अब सम्राट हर्षवर्द्धन और कामरूपाधिराज भास्करवर्मन दोनों को अवसर प्राप्त हो गया और उन्होंने बंगाल पर आक्रमण करके इसको सम्भवतः दो भागों में विभक्त कर लिया जिनको उन्होंने आपस में बांट लिया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शैलवंश के एक राजा ने पौण्ड्र या उत्तरी बंगाल पर अधिकार कर लिया। काश्मीर नरेश ललितादित्य मुक्तापीड और कन्नौज-नरेश यशोवर्मन ने भी बंगाल पर आक्रमण किया था। मगध के परवर्ती गुप्त नरेशों का बंगाल पर अधिकार था किन्तु यह अधिकार नाममात्र का ही था। किन्तु इस वंश के हट जाने पर यह नाममात्र का अधिकार भी नहीं रह गया। कामरूप-नरेश हर्षदेव ने अवसर पाकर बंगाल को विजित कर लिया। एक दृढ़ शासन शक्ति के अभाव में बंगाल में अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। आक्रमणों के इस दौर ने बंगाल में भारी अशान्ति एवं गड़बड़ी फैला दी जिससे ऊब कर सामन्त सरदारों और जनता ने मिल कर गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया। गोपाल को सम्पूर्ण बंगाल का शासक स्वीकार कर लिया गया।

गोपाल—आठवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में गोपाल ने बंगाल का शासन सँभाला। गोपाल ने बंगाल में हिमालय से लेकर समुद्र-तट तक सम्पूर्ण राज्य को सुसंगठित किया और विगत डेढ़ शताब्दियों की अराजकता और अव्यवस्था का अन्त करके समस्त बंगाल में शान्ति स्थापित की। उसने नालन्दा के निकट ओदन्तपुरी नामक स्थान पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना कराई। गोपाल ने अपनी मृत्यु के समय अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक समृद्ध और सुशासित राज्य छोड़ा। उसके उत्तराधिकारियों ने बंगाल को राजनैतिक उत्कर्ष और सांस्कृतिक गौरव की उस पराकाष्ठा पर पहुंचाया जिसकी उसने पहले कभी स्वप्न में भी कल्पना न की होगी। गोपाल के बाद धर्मपाल बंगाल का राजा हुआ।

धर्मपाल—धर्मपाल पाल वंश की वास्तविक महत्ता का संस्थापक था। धर्मपाल एक बुद्धिमान और धर्मनिष्ठ शासक था जिसने अपने राज्य की सीमा सागरतट से पश्चिम

तक बढ़ गयी। धर्मपाल धार्मिक मामलों में उदार था और अपने निजी रूप से यद्यपि बौद्ध था फिर भी राजनीतिक दृष्टि से भी वह महत्त्वाकांक्षी था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि धर्मपाल के राज्य की सीमाएँ पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में जालंधर और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक थीं। सम्भव है कि तारानाथ का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्त उत्तरी भारत में धर्मपाल की शक्ति का प्रभाव फैला हुआ था। उसने कन्नौज के राजा इन्द्रायुध या इन्द्रराज को सिंहासनच्युत करके उसके स्थान पर चक्रायुध को बिठाया। यदि उसकी शक्ति कम होती तो वह कन्नौज पर आक्रमण करने का साहस नहीं करता परन्तु इन्द्रायुध को सिंहासनच्युत करने के उसके कार्य का अनुमोदन उत्तर भारत की सारी समसामयिक राजशक्तियों (भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार तथा कीर) ने किया। खलिमपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि ये शक्तियाँ धर्मपाल के राजनीतिक प्रभाव को स्वीकार करती थीं। परन्तु धर्मपाल के समकालीन शक्तिशाली नरेशों ने उसके इस कार्य को सहन नहीं किया और उनके साथ उसकी शत्रुता मोल लेनी पड़ी। इन्द्रायुध ने जिसको धर्मपाल ने कन्नौज के राजसिंहासन से च्युत कर दिया था गुर्जर-प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय से सहायता माँगी। नागभट्ट ने इन्द्रायुध को सहायता प्रदान की जिसके फलस्वरूप उनमें आपस में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में चक्रायुध और धर्मपाल की शक्ति को गहरा आघात लगा। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय के द्वारा भी धर्मपाल को पराजय सहना पड़ा। इस प्रकार अपने समय की दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्तियों से मात खाने पर उत्तरी भारत से धर्मपाल की राजनीतिक शक्ति का प्रभाव कम हो चला। कन्नौज पर गुर्जर प्रतिहारों का अधिकार हो गया। इन पराजयों के बावजूद भी धर्मपाल को एक शक्तिशाली राजा कहा जा सकता है। सम्पूर्ण बंगाल, मगध और उत्तरी बिहार पर उसने अपना अधिकार बनाये रखा। उसने पाटलिपुत्र में एक राजाज्ञा निकलवाई थी। ह्वेनसांग के समय में पाटलिपुत्र की स्थिति काफी शोचनीय हो गई थी। मौर्यों और गुप्तों की राजधानी का प्राचीन वैभव लुप्त हो गया था। धर्मपाल ने अपने समय में इस वैभव को एक बार फिर से लौटाने का प्रयत्न किया।

धर्मपाल ने लगभग ४० वर्षों तक राज्य किया। उसने विक्रमशिला और सोमपुर में बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। विक्रमशिला में एक विश्वविद्यालय की स्थापना भी उसने कराई थी। विक्रमशिला भी नालन्दा की भाँति विद्या का एक बहुत बड़ा केन्द्र स्थापित हो गया था। धर्मपाल ने अपने राज्य में अन्य कई मन्दिरों और बौद्ध विहारों का निर्माण भी कराया था।

देवपाल—देवपाल पाल वंश का तृतीय राजा था। अपने वंश का यह एक शक्तिशाली राजा था। उसने अड़तालीस वर्षों तक राज्य किया और कदाचित् मुद्गगिरि (मुंगेर) को अपनी राजधानी बनाया। उसके सेनापति लवसेन ने आसाम और उड़ीसा पर विजय प्राप्त की। देवपाल ने अपने पिता की प्रसार-नीति को जारी रखा। अपने अभिलेखों में वह एक साम्राज्यवादी के रूप में प्रकट हुआ है। यह सम्भव है कि देवपाल ने राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की मृत्यु से लाभ उठाया। गोविन्द तृतीय के देहावसान से राष्ट्रकूट राज्य में गड़बड़ी फैल गई जिससे देवपाल को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। उसके अभिलेखों में उसकी सुदूरव्यापिनी विजयों का उल्लेख किया गया है। एक अभिलेख में कहा गया है कि वह हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती सम्पूर्ण प्रदेश का स्वामी था और दक्षिण में उसने सेतुबन्ध रामेश्वरम्

तक विजय प्राप्त की। परन्तु स्पष्ट है कि अभिलेख में यह कथन केवल प्रशस्तिवादन है और ऐतिहासिक तथ्य से नितान्त दूर है। परन्तु एक अन्य स्तम्भ लेख में यह उल्लेख मिलता है कि अपने मन्त्रियों दर्भपाणि तथा केदार मिश्र की नीतियुक्त मन्त्रणा से प्रेरित होकर देवपाल ने उत्कल जाति को मिटा दिया हूणों के दर्प खर्व कर दिया और द्रविड़ तथा गुर्जर के राजाओं का गर्व चूर्ण कर दिया। डा० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है कि बादल स्तम्भ लेख का यह कथन सम्भवतः सही है। देवपाल के पिता धर्मपाल ने केवल थोड़े ही दिनों तक सम्राट के रूप में शासन किया किन्तु देवपाल ने कुछ अधिक काल तक अपनी सम्राटोचित सत्ता प्रमाणित की। उड़ीसा और आसाम पर उसका अधिकार हो जाने से उसका राज्य काफी विस्तृत हो गया। समकालीन नरेशों के बीच देवपाल की प्रतिष्ठा काफी जम गई किन्तु प्रतीहार नरेश मिहिरभोज के राज्यारोहण से गुर्जरों की साम्राज्यवादिता का उदय हुआ जो महेन्द्र पाल की मृत्यु तक बना रहा। इस प्रबल साम्राज्यवादिता के सामने बंगाल के पालों की कुछ न चल सकी और उनको अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं त्यागनी पड़ीं। कुछ विद्वानों का मत है कि बादल स्तम्भ लेख में गुर्जर के राजा का गर्व चूर्ण करने का जो उल्लेख प्राप्त है वह सम्भवतः गुर्जर नरेश मिहिरभोज के लिए है। यदि यह मत ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि देवपाल के समय में पालों की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ था किन्तु उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में उसके वंश की राजनीतिक शक्ति निस्सन्देह घटने लगी थी। देवपाल का सुमात्रा और जावा के नरेश के साथ दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic Relation) था। देवपाल के समय में बंगाल निश्चय ही एक शक्तिशाली राज्य था।

अपने पिता की भाँति देवपाल भी एक उत्साही बौद्ध था। नालन्दा ताम्रपत्र से विदित होता है कि देवपाल ने राजगृह विषय में चार और गया विषय में एक गाँव धर्मार्थ दान किये थे। उसने सुमात्रा के नरेश बलपुत्रदेव को नालन्दा के समीप एक बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति प्रदान कर दी थी और स्वयं भी इस कार्य के लिए प्रचुर धन दान किया था। देवपाल का लम्बा शासन काल बंगाल में एक विशिष्ट संस्कृति के प्रचार में व्यय हुआ। देवपाल ने मगध की बौद्ध प्रतिमाओं का पुनर्निर्माण कराया और उसके राज्याश्रय ने वास्तु तथा अन्य कलाओं को पनपने का अवसर प्रदान किया। बोधिगया अथवा महाबोधि के मन्दिर के निर्माण में भी देवपाल का योग था। वह विद्या का उदार संरक्षक था और उसकी राजसभा बौद्ध विद्वानों के लिए एक आश्रयस्थान के रूप में हो गई। बौद्ध कवि वज्रदत्त उसकी राजसभा में रहता था और उसने लोकेश्वर शतक नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की थी जिसमें लोकेश्वर का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है और लोकेश्वर अथवा अवलोकितेश्वर के प्रेम और क्षमा आदि गुणों की स्तुति है। देवपाल का शासन काल ८१५ और ८५५ के बीच रखा जा सकता है।

नारायण पाल—देवपाल के बाद बंगाल के राज्य पर कई छोटे छोटे राजाओं ने राज्य किया परन्तु उनके शासन की अवधि बहुत अल्प थी। उन्होंने बहुत थोड़े समय तक ही राज्य किया। नारायण पाल अपने वंश का एक शक्तिशाली नरेश था जिसने कम से कम ५४ वर्ष राज्य किया। अपने पूर्वजों के विपरीत नारायण पाल शैव धर्म का अनुयायी था और उसने बाहर से शैव संन्यासियों को अपने राज्य में आमन्त्रित किया था। अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में नारायण पाल ने

शिव के एक हजार मंदिरों का निर्माण कराया और उनका प्रबन्ध उसने इन पाशुपत आचार्यों के सुपुर्द कर दिया। इन आचार्यों को उसने दान में गाँव भी दिए। पहले कुछ दिनों तक नारायण पाल का मगध पर अधिकार बना रहा किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में मगध प्रतीहारों के राज्य में चला गया।

महीपाल प्रथम—नारायण पाल के बाद उसका पुत्र राज्यपाल शासनाधिकारी हुआ किन्तु उसके समय में गजड़ पालसमय में पालों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय (९३५–९९२) के समय में पालों की शक्ति कुछ अंशों में बढ़ गई। राज्यपाल के समय में काम्बोज नामक पर्वतीय लोगों ने बंगाल के कुछ भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था किन्तु महीपाल (९७८–१०३०) ने काम्बोजों को निकाल बाहर किया। महीपाल प्रथम ने पर्याप्त अंशों तक अपनी विधर्मिनिरुकुललक्ष्मी का सम्मान किया। उसने राज्यारोहण के ही वर्ष उसने सम्पूर्ण मगध तीरभुक्ति और पूर्वीय बंगाल को विजित किया। महीपाल प्रथम के राज्य काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी चोलों का आक्रमण। राजेन्द्र चोल के एक सेनानायक ने उड़ीसा के मार्ग से होकर बंगाल पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का महीपाल प्रथम ने सामना किया परन्तु चोल सेना ने उसे पराजित कर दिया। फिर भी पाल नरेश ने उसे गंगापार न बढ़ने दिया। इस पराजय के द्वारा पाल साम्राज्य को क्षति अवश्य ही पहुंची होगी। इस बात के प्रमाण उपलब्ध है कि महीपाल प्रथम के शासन काल के उत्तरार्द्ध में उसके राज्य की सीमायें संकुचित हो गई थी।

महीपाल बंगाल के शासकों में काफी प्रसिद्ध है। आज भी उसकी प्रशंसा में गीत गाये जाते है और उल्लेखनीय बात तो यह है कि ये गीत लोकप्रिय भी हैं। उसके राजत्वकाल में बंगाल का राज्य समृद्ध था। कला की उन्नति हुई तथा इसका रूप सुधर गया। मूर्ति कला को एक अभिनव भंगिमा तथा मुद्रा प्राप्त हो गई। नालंदा के विशाल बौद्ध मन्दिर का पुनर्निर्माण महीपाल प्रथम के शासन के ग्यारहवें वर्ष में कराया गया था। बनारस के बौद्ध मंदिरों की उसके सर्वाधियों स्थिरपाल और वसन्तपाल ने मरम्मत कराई थी। महीपाल प्रथम के ही समय में मगध में धर्म पाल तथा अन्य धर्माचार्यों ने आमन्त्रण मिलने पर तिब्बत की यात्रा की थी और वहां पर उन्होंने बौद्ध धर्म को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। महीपाल के सुदीर्घकालीन शासन के उपरान्त नयपाल पाल वंश के राज्य का स्वामी हुआ।

नयपाल—नयपाल को बहुत थोड़े ही समय तक राज्य करने का अवसर मिला। उसके शासन काल में हिंदुओं का तीर्थस्थान गया एक भव्य और शानदार नगर के रूप में हो गया। गया जिले के शासक विश्वरूप ने नयपाल के शासन के पन्द्रहवें वर्ष में विष्णु के पदचिह्नों के निकट कई मंदिर बनवाये। नयपाल के शासन काल के अन्तिम दिनों में मगध पर विख्यात चेदि नरेश कर्ण ने आक्रमण कर दिया। अतीश अथवा दीपंकर श्रीज्ञान नामक दार्शनिक भिक्षु की एक तिब्बती जीवनी में कर्ण के आक्रमण और इस आक्रमण के प्रतिरोध का कुछ वर्णन मिलता है। जब कर्ण ने मगध पर आक्रमण किया उस समय अतीश महाबोधि अथवा बोध गया में निवास कर रहे थे। वे शीघ्र ही तिब्बत के लिए विदा लेनेवाले थे। चेदि सेनाओं ने पहले तो पाल राज्य को क्षति पहुंचायी परन्तु बाद में पाल सेना ने चेदियों को परास्त कर दिया। जब कर्ण की सेना के सैनिकों का वध किया जा रहा था अतीश ने स्वयं

हस्तक्षेप किया और दोनों राजाओं नयपाल तथा लक्ष्मीकर्ण के बीच संधि की शर्तें निश्चित कर दीं। कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि इस संधि के फलस्वरूप नयपाल ने अपने पुत्र विग्रहपाल के लिए लक्ष्मीकर्ण की कन्या मांगी। अतएव विग्रहपाल और लक्ष्मीकर्ण की कन्या यौवनश्री का विवाह हो गया।

नयपाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीय यद्यपि एक उदार बौद्ध था तथापि उसने सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण के अवसर पर एक बार गंगा में स्नान किया और सामवेद के पण्डित एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में दिया। इसी नरेश के समय में चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने बंगाल और आसाम पर चढ़ाई की। विग्रहपाल तृतीय के समय में पाल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था। उसकी मृत्यु ने उसके राज्य की स्थिति को और अधिक जटिल कर दिया।

विग्रहपाल तृतीय के उत्तराधिकारी—विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु के बाद बंगाल में गृह युद्ध छिड़ गया। उसके तीन पुत्र थे महीपाल द्वितीय, सूरपाल और रामपाल। महीपाल द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने अपने भाइयों सूरपाल तथा रामपाल को बन्दी बना लिया। केवर्त नामक एक कैवर्त ने महीपाल के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उसे निकाल बाहर कर दिया। महीपाल विद्रोहियों के साथ लड़ते हुए रणभूमि में मारा गया। अब सूरपाल सिंहासन का अधिकारी हुआ किन्तु उसके समय में भी अनेक सामन्तों ने विद्रोह कर दिया। अपने भाइयों में रामपाल सबसे अधिक पराक्रमी और योग्य निकला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिंहासन के लिए गृहयुद्ध के कारण पाल राज्य की नींव गहरी कठिनाई में पड़ गया। तीनों को परस्पर युद्ध करते हुए देखकर पूर्व बंगाल में वर्मन लोग उठ खड़े हुए। इस समय तक पाल साम्राज्य की सीमायें यों ही काफी संकुचित हो गई थीं, वर्मनों के उत्थान से वे सीमायें और अधिक सिकुड़ गईं। इस स्थिति में रामपाल ने बड़े धैर्य से काम लिया।

रामपाल—रामपाल ने अपने वंश के समर्थकों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर लिया और केवर्त नामक विद्रोही कैवर्त को पराजित किया। अपनी विजय स्मृति को स्थायी बनाने के लिए रामपाल ने रामावती नामक नगरी की स्थापना की। रामपाल को इस बात का श्रेय प्रदान किया गया है कि उसने आसाम तथा अन्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। सन्ध्याकरनन्दी ने रामपालचरित नामक ग्रन्थ में रामपाल के जीवन चरित का वर्णन किया है। रामपाल ने उत्तरी बंगाल पर भी विजय प्राप्त की और कलिंग पर आक्रमण किया। इन विजयों से पाल साम्राज्य की स्थिति कुछ सुधर गई परन्तु पाल हो फिर साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया बलवती हो गयी। अपने मामा की मृत्यु हो जाने से रामपाल के चित्त को इतना प्रबल आघात पहुँचा कि गंगा में डूबकर उसने अपने प्राण त्याग दिये।

पाल साम्राज्य का पतन—रामपाल के बाद पाल साम्राज्य की स्थिति और अधिक डाँवाडोल हो गई। उसके पुत्र कुमारपाल के समय में आसाम स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र गोपाल तृतीय मदनपाल के द्वारा मार डाला गया। मदनपाल का अधिकार दक्षिणी बिहार-पटना और मुंगेर तक विस्तृत था। उसके पश्चात् गोविन्दपाल शासक हुआ जिसका अधिकार केवल गया तक सीमित रह गया। गोविन्दपाल गहड़वालों और सेना के बीच घिर गया। दोनों ओर से घिर जाने पर पाल साम्राज्य की स्थिति बड़ी

हो शोचनीय हो गई। पाल नरेश नाममात्र को ही राजा रह गए। सेन वंश के उत्कर्ष, सामन्तों के विद्रोह और परवर्ती पाल नरेशों की अयोग्यता के कारण पालों के साम्राज्य का पतन हो गया।

पाल शासन का महत्त्व—पाल वंश का शासन काल भारत के इन राजवंशों के इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने सबसे अधिक दिनों तक राज्य किया। पाल नरेशों ने चार शताब्दियों तक बंगाल के राज्य पर शासन किया। धर्मपाल और देवपाल के शासन काल का समय एक शताब्दी से अधिक था। इन्होंने इस सुदीर्घ कालीन शासन में बंगाल को उत्तर भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में एक बना दिया। साम्राज्य सत्ता के लिए उत्तर भारत में जिन तीन राजनीतिक शक्तियों के बीच संघर्ष हुआ उसमें से एक शक्ति पालों की भी थी। धर्मपाल ने एक बार श्री कन्नोदय (कन्नौज) की राजसभा का स्वायत्त कर लिया था। धर्मपाल और देवपाल के उत्तराधिकारियों के समय में यद्यपि पालों की शक्ति प्रथमा नहीं रही तथापि उनका राज्य इस समय भी उपस्थित नहीं था। जिस समय पाल साम्राज्य अपने उत्कर्ष की स्थिति में लगा था उस समय भी इसका प्रभाव दूर दूर तक के प्रान्तों तक था। बिहार और उड़ीसा का पर्याप्त भाग अन्तिम समय तक पाल साम्राज्य के अधीन रहा।

परन्तु पालों का शासन राजनीतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रोफेसर एन० एन० घोष के शब्दों में पाल शासन के अन्तर्गत न केवल बंगाल की गणना सबसे बड़ी शक्तियों में की जाने लगी अपितु यह बौद्धिक और कला सम्बन्धी क्षेत्रों में उत्कृष्ट हो गया। प्रसिद्ध चित्रकार, शिल्पी एवं कांस्य की प्रतिमा गढ़नेवाले धीमान और वित्पाल पाल साम्राज्य में ही राज्याश्रय पाकर अपनी कला के निर्माण में संलग्न रहे। कला के क्षेत्र में पाल नरेशों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान था। उनके शासन काल में विकसित होनेवाली कला परम्परा की जीवनी शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका प्रभाव भारत के बाहर दक्षिण पूर्वी देशों में भी पहुँचा। नवीं शताब्दी में धीमान् और उसके पुत्र वित्पाल ने चित्र कला की जिस परम्परा को जन्म दिया वह ग्यारहवीं शताब्दी में भी जारी रही। यद्यपि पाल युग की बौद्ध कला में ह्रास के कुछ लक्षण अवश्य विद्यमान हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय बौद्ध धर्म की अन्तिम छः शताब्दियाँ कलात्मक बन्ध्यापन का युग प्रस्तुत करती हैं। सारे बंगाल और बिहार में पाल नरेशों ने कितने विहारों, मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया। अभाग्यवश उस काल की इमारतें कोई बची न रह सकीं परन्तु स्तूपों और मूर्तियों की एक बहुत् संख्या आज भी सुरक्षित है जिससे पाल राजाओं की निर्माण सक्रियता का पता चलता है।

शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में भी पालों की देन महत्त्वपूर्ण थी। हम देख चुके हैं कि ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की स्थापना पाल-नरेशों ने ही की थी। नालन्दा की भाँति इन विश्वविद्यालयों का यश भी देश के दूरवर्ती भागों तक फैला हुआ था और दूर दूर के विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए यहाँ आया करते थे। शिक्षा के संरक्षण और प्रसार में इन बौद्ध विश्वविद्यालयों का काफी महत्त्वपूर्ण योगदान था। दो एक नरेशों को छोड़कर बाकी सभी पाल नृपति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म को उस समय राज्याश्रय प्रदान किया जिस समय देश के अन्य भागों में यह पतनोन्मुख था। पाल नरेशों ने अपने राज्य में बौद्ध धर्म के प्रचार को

पूरा प्रयत्न किया परन्तु उनका धार्मिक दृष्टिकोण सकीर्ण नहीं था। वे ब्राह्मणों को भी दान-दक्षिणा देकर सम्मानित करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अतीश नामक प्रसिद्ध दार्शनिक भिक्षु ने तिब्बत की यात्रा की थी। पालों के शासन-काल में साहित्य की उन्नति उतनी अधिक तो नहीं हुई जितनी की कला की किन्तु सान्ध्याकर नन्दी का 'रामपालचरित' नामक श्लेषात्मक महाकाव्य इसी समय लिखा गया। 'लोकेश्वर शतक' नामक काव्य की रचना बौद्ध कवि वज्रदत्त ने देवपाल के समय में की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के संरक्षण और विकास की दृष्टि से पालों का शासन-काल काफी महत्त्वपूर्ण था। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि पालों के ही शासन-काल में बौद्ध धर्म के उस विकृत रूप का विकास हुआ जिसने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के लोप को अवश्यम्भावी बना दिया। बौद्ध विहारों में वज्रयान और तान्त्रिक अभिचारों के रूप में व्यभिचार, विलासिता तथा सुरा-सेवन आदि दुर्गुण प्रविष्ट हो गये।

बंगाल का सेन वंश

सेन वंश का मूल—सामन्तसेन को, जिसने बंगाल के सेन वंश की नींव डाली थी, कर्णाटक क्षत्रिय कहा गया है। इसमें सन्देह की गुंजाइश कम है कि सेनों का उद्भव दक्षिण में ही हुआ था और अवसर पाकर वे उत्तर भारत में चले आये तथा बंगाल में अपना राज्य स्थापित कर लिया। सेन वंश के लोग सम्भवतः ब्राह्मण थे किन्तु अपने सैनिक-कर्म के कारण वे बाद में क्षत्रिय कहे जाने लगे। डा० राय महोदय ने लिखा है कि "यह असम्भव नहीं है कि सामन्तसेन मयूरशर्मन की भाँति ब्राह्मण था और उसकी भाँति राजकीय नौकरी में प्रविष्ट हुआ और क्षत्रिय का जीवन अपनाकर उसने शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली।" पाल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर ही सेनों के राज्य की भित्ति खड़ी हुई।

विजयसेन—सेन वंश के संस्थापक सामन्तसेन के पौत्र विजयसेन ने अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। उसने ६२ वर्षों तक राज्य किया। विजयसेन ने बंगाल से वर्मनों को निकाल बाहर किया। उत्तरी बंगाल से मदनपाल को निष्कासित करनेवाला भी विजयसेन ही था। कहा जाता है कि उसने नेपाल, आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की। रामपाल की मृत्यु के बाद पाल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर विजयसेन ने जिस राज्य की स्थापना की उसमें पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी बंगाल के भाग सम्मिलित थे। उसने परम माहेश्वर की उपाधि ग्रहण की जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विजयसेन शैव था। अपनी विजयों के साथ साथ उसने सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य भी किए। उसने शिवमन्दिर का निर्माण कराया एवं श्रीन गर्भाई विजयपुर नामक नगर बसाया और उमापति को राज्याश्रय प्रदान किया।

बल्लाल सेन—बल्लाल सेन एक विचित्र शासक था। बंगाल के ब्राह्मणों और अन्य ऊँची जातियों में उसे इस बात का श्रेय दिया गया है कि आधुनिक विभाजन उसी ने कराये थे। वर्ण धर्म की रक्षा के लिए बल्लाल सेन ने उस वैवाहिक प्रथा का प्रचार किया जिसे 'कुलीन प्रथा' कहा जाता है। प्रत्येक जाति में उप विभाजन उत्पत्ति की विशुद्धता और ज्ञान पर निर्भर करता था। आगे चलकर यह उप विभाजन बड़ा कठोर और जटिल हो गया। बल्लाल सेन ने अपने पिता के राजत्व काल में शासन कार्य का संचालन किया था। वंश क्रमानुगत द्वारा उसे जो राज्य मिला उसको उसने

पूर्ण रूप से रक्षा की। उसका राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था। उसकी तीन राजधानियाँ थीं—गौड़पुर, विक्रमपुर और सुवर्णग्राम। कहा जाता है कि बल्लाल सेन ने अपने गुरु की सहायता से दानसागर और अद्भुतसागर नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दूसरा ग्रन्थ वह अपूर्ण ही छोड़कर मर गया। परम माहेश्वर और निःशंक शंकर आदि विरुदों से बल्लाल सेन के शैव होने का प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मण सेन—लक्ष्मण सेन अपने वंश का एक प्रसिद्ध शासक था। साथ ही साथ भारत के सबसे कायर नरेशों में भी उसकी गणना की जानी चाहिए। अभिलेखों में उसके लिए कहा गया है कि उसने कलिंग, आसाम, बनारस और इलाहाबाद पर विजय प्राप्त की और इन स्थानों पर उसने अपने विजय-स्तम्भ गाड़े थे। परन्तु अभिलेखों के इस कथन पर पूरी तरह से विश्वास नहीं किया जा सकता। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लक्ष्मण सेन प्रसिद्ध गहड़वार नरेश जयचन्द का समसामयिक था जिसके अधिकार में बनारस और इलाहाबाद थे। अतएव इन स्थानों पर लक्ष्मण सेन के द्वारा विजय स्तम्भ गाड़े जाने की कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है। सम्भव है कि उसने आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की हो। किन्तु यदि मुस्लिम इतिहासकारों के कथन पर विश्वास किया जाय तो कहना पड़ेगा कि लक्ष्मणसेन नितान्त कायर था। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी बिहार को रौंदता हुआ अपनी छोटी सी सेना लेकर उसकी राजधानी पहुँचा तो लक्ष्मणसेन चुपचाप अपने महल के पिछले दरवाजे से निकल भागा। हो सकता है कि मुस्लिम इतिहासकारों ने मुस्लिम घुड़सवारों की संख्या लिखने में सत्यता की उपेक्षा की हो क्योंकि केवल अठारह अश्वारोहियों के द्वारा किसी राज्य पर विजय प्राप्त करने की कल्पना उपहासास्पद जान पड़ती है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुसलमानों की सेना अत्यल्प थी। इस अत्यल्प सेना का बिना सामना किये राजमहल से निकल भागना निस्सन्देह लक्ष्मण सेन की कायरता का परिचायक है।

लक्ष्मण सेन का शासन संस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसकी राजसभा में पाँच रत्न रहते थे जिनके नाम थे—जयदेव (गीतगोविन्द के रचयिता) उमापति धोयी (पवनदूत के रचयिता) हलायुध और श्रीधरदास। लक्ष्मण सेन ने स्वयं अपने पिता के अपूर्ण ग्रन्थ अद्भुतसागर को पूरा किया।

लक्ष्मण सेन के राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण ११०९ ई० में हुआ था। इसके बाद सेन राजवंश का अन्त हो गया यद्यपि पूर्वी बंगाल पर और बाद तक इस वंश के राजा राज्य करते रहे।

दक्षिणापथ के राजकुल | २८

दक्षिणापथ का अभिप्राय—संस्कृत शब्द 'दक्षिणापथ' का अभिप्राय नर्मदा नदी के दक्षिण के देश से है। इस प्रदेश का वर्तमान नाम दक्कन है। जिस प्रकार विन्ध्य और हिमालय के बीच की सारी भूमि को 'उत्तरापथ' की संज्ञा दी गई थी उसी प्रकार नर्मदा नदी के दक्षिणवर्ती भूभाग को दक्षिणापथ कहा जाता था। सामान्य अर्थ में 'दक्षिणापथ' शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत के सम्पूर्ण प्रायद्वीप का बोध कराने के लिए किया जाता था परन्तु विशिष्ट रूप में इस शब्द से उस भूभाग का बोध होता है जिसमें बम्बई राज्य के महाराष्ट्र और कन्नड़ प्रदेश, निज़ाम के राज्य तथा मध्यप्रदेश सम्मिलित हैं। मैसूर राज्य को बहुधा दक्कन के राज्यों के अन्तर्गत समझा जाता था। सुदूर दक्षिण के राज्यों में नहीं।

दक्षिणापथ का पूर्व इतिहास—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से दक्षिणापथ अथवा दक्कन का प्रदेश बहुत ही प्राचीन है तथापि इसका प्राचीन इतिहास तमसावृत्त है। प्रारम्भिक आर्यों की जन्मभूमि उत्तरापथ में ही थी अतएव उनके साहित्य (वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र आदि) द्वारा हम उत्तरापथ के इतिहास का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं परन्तु दक्षिणापथ के निवासियों की प्राचीन संस्कृति का हमें कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता और उनके इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है। आर्यों के दक्षिणापथ में प्रवेश और प्रसार से उत्तरापथ के निवासियों के साथ दक्कन के लोगों का सम्पर्क हुआ और यह सम्पर्क सम्बन्ध के रूप में परिणत हो गया परन्तु हमें स्पष्ट रूप से उन परिस्थितियों का कोई सम्यक् ज्ञान नहीं है जिनके द्वारा आर्य लोग दक्षिणापथ में प्रविष्ट हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दण्डकारण्य और विन्ध्य पर्वतमालाओं जैसी दुर्लंघ्य सीमाओं के कारण पर्याप्त काल तक उत्तरापथ के आर्य दक्षिण में प्रवेश न कर सके। दक्कन की ओर आगे बढ़ने वाले आर्यों को सबसे पहले मालूम हुआ विदर्भ अथवा बरार था। ऐतरेय ब्राह्मण जिसकी रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व हो चुकी थी, दक्षिणापथ के आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर तथा पुलिन्दों का उल्लेख करता है और यह सचमुच एक विस्मय की बात है कि इन जातियों को विश्वामित्र के पुत्रों का वंशज बतलाया गया है। रामायण में आर्यों के दक्षिणापथ में जाने और रहने तथा दक्षिण की राजनीतिक परिस्थिति के साथ संधि अथवा विग्रह का सम्बन्ध स्थापित करने की स्पष्ट सूचना मिलती है। रामायण में राम की कथा दक्षिण में आर्यों के प्रसार और उनकी राजनीतिक विजय का काव्यात्मक वर्णन करती है, परन्तु एक अन्य प्राचीनतर काव्यानुवृत्त में पता चलता है कि अगस्त्य मुनि ने पर्वत-सदृश विन्ध्य पर्वत को लाँघ इस प्रदेश में आर्य धर्म और संस्थाओं के प्रचार का आधार बनाया। रामायण और अगस्त्य मुनि से सम्बन्धित इन अनुश्रुतियों के सम्बन्ध में जिनका विषय दक्षिण में आर्यों तथा उनकी संस्कृति का प्रसार है प्रोफेसर एच० सी० राय का कथन है, "रामायण में वर्णित दक्षिणापथ में राम की कथानक सम्भवतः एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिए हुए है जो इस प्रदेश में आर्यों के राजनीतिक विस्तार की सूचक है।"

महाकाव्य को एक और पुरानी परम्परा के अनुसार महर्षि अगस्त्य पहले ऋषि थे जिन्होंने विन्ध्यगिरि के पारवर्ती प्रदेश में आर्य धर्म और ज्ञान का प्रकाश फैलाया और एक उपनिवेश बसाया। यदि इस परम्परा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यह सांस्कृतिक प्रवेश निश्चय राजनीतिक प्रभुता के स्थापित होने के पहले हुआ होगा और उसका काल लगभग आठवीं शताब्दी का अन्त अथवा सातवीं शताब्दी ई० पू० का प्रारम्भ माना जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समय के साथ साथ उत्तर और दक्षिण के निवासियों का सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़तर होता गया और उत्तरापथ के लोग दक्षिणापथ का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करने लगे। साहित्यिक साक्ष्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि ज्यों ज्यों समय बीतता गया दक्षिणापथ के भूभाग प्रकाश में आने लगे। पाणिनी को जिस दक्षिणापथ का ज्ञान था उसकी भौगोलिक सीमा कलिंग से आगे नहीं जाती। परन्तु पाणिनी के अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखनेवाले कात्यायन को दक्षिण के चोलों और पाण्ड्यों का भी ज्ञान था। अर्थशास्त्र की रचना काल कात्यायन के कुछ बाद रखा जाता है अतएव इसमें हमें दक्षिणापथ का और अधिक उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने सुदूर दक्षिण से प्राप्त होनेवाली मोतियों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण के विषय में उत्तरापथ के निवासियों का ज्ञान बढ़ता जा रहा था।

मौर्य साम्राज्य की सीमायें नर्मदा के दक्षिण में अवश्य ही फैली थीं यद्यपि सुदूर दक्षिण के भाग उसमें सम्मिलित नहीं थे। कुछ तामिल कवियों ने एक विजेता का उल्लेख किया है जिसने दक्षिण के प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। इस विजेता का समीकरण विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ किया है। चन्द्रगुप्त के पहले नन्द वंश के किसी सम्राट ने भी दक्षिण विजय की होगी क्योंकि नन्दों का साम्राज्य दक्षिण में काफी दूर तक था। सम्भवतः मैसूर तक नन्दों ने विजय प्राप्त कर ली थी। प्राचीन तामिल साहित्य में नन्दों के वैभव और उनकी प्रसिद्धि का वर्णन मिलता है। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नन्दों के समय से उत्तर और दक्षिण भारत के बीच राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित होना प्रारम्भ हो गया था। अशोक के अभिलेखों से सिद्ध होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। उसके एक अभिलेख में चोलों और पाण्ड्यों के राज्य को स्वतन्त्र स्वीकार किया गया है। मौर्यों का साम्राज्य सुदूर दक्षिण तक भले ही न विस्तृत रहा हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने भारत में जिस राजनीतिक एकता की स्थापना की उसका प्रभाव दक्षिण के काफी भूभाग पर था। किन्तु मौर्य साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार उत्तरापथ की राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई उसी प्रकार दक्षिणी भारत में भी राजनीतिक एकता का अभाव उत्पन्न हो गया। इस समय दक्षिणापथ की राजनीतिक स्थिति क्या थी इसका विवरण उपलब्ध नहीं। परन्तु यह निष्कर्ष निकालना सम्भवतः अनुचित नहीं कि एक सार्वभौम राजनीतिक सत्ता वहाँ पर विद्यमान नहीं थी।

आन्ध्र या सातवाहन राज्य की स्थापना के कुछ समय के लिए दक्षिण में काफी दूर तक राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। परन्तु ईसा की तीसरी शती में जैसे ही यह साम्राज्य नष्ट हुआ यह राजनीतिक एकता भी छिन्न भिन्न हो गई। दक्कन के विभिन्न भागों में कई राज्य उठ खड़े हुए। तृतीय शती ईस्वी के मध्य ईश्वर सेन

नामक आभीर सरदार ने उत्तर महाराष्ट्र सातवाहनों से छीन लिया। नागों के अधिकार में भी कुछ प्रदेश आ गये। इसी की तीसरी शताब्दी से लेकर वाकाटक वंश के नरेशों ने मध्य भारत और दक्कन के कुछ भागों पर राज्य करना आरम्भ किया। गुप्तयुग में जिस अभिनव राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ था उसका प्रसार दक्कन और सुदूर दक्षिण तक था। परन्तु वाकाटक और गुप्त राजाओं के पतन से दक्षिणापथ में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति फिर एक बार सशक्त हो गई और अनेक राजवंशों की स्थापना हो गई। इन राजवंशों में वातापी (बादामी) का चालुक्य वंश काफी विख्यात और शक्तिशाली था, अतएव हम पहले इसी वंश के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

चालुक्यों का मूल—चालुक्यों के मूल के सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। परवर्ती चालुक्य अभिलेखों और विक्रमांकदेवचरित में अयोध्या को चालुक्यों का मूल निवासस्थान माना गया है। किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् चालुक्यों को विदेशी मूल का मानते हैं। डा० राइस के विचार में चालुक्य शब्द सेल्यूकिया (Seleukia) से मिलता-जुलता है और पल्लवों तथा चालुक्यों में जो पारम्परिक युद्ध हुआ करते थे, उनका सम्बन्ध दजला और फरात के तटों पर सेल्यूसिड और एरसासिड (Seleucidae and Arsacidae) के बीच होनेवाले युद्धों से था। परन्तु डा० राइस की इस विचित्र धारणा के लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। इसी प्रकार स्मिथ साहब का यह मत भी प्रमाणों द्वारा अनुमोदित नहीं कि चालुक्य अथवा सोलंकियों का सम्बन्ध चापों से था अतएव वे विदेशी गुर्जर जाति के थे (चाप लोग गुर्जर जाति की एक शाखा थे) और सम्भवतः वे राजपूताना से दक्कन गये थे। भारतीय अनुश्रुतियों में चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में जो कथायें दी हुई हैं उनमें कल्पना का अधिक समावेश है। यदि हम उनमें से कल्पनात्मक अंशों को निकाल दें तो यह सिद्ध होता है कि चालुक्य उत्तर के क्षत्रिय थे और उनकी उत्पत्ति हारीति से हुई थी। वे लोग मानव्य गोत्र के थे। ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री ने भी पुलकेशिन द्वितीय को क्षत्रिय कुलोत्पन्न बताया है।

बादामी के प्रारम्भिक चालुक्य नरेश—चालुक्य वंश का प्रथम नरेश जयसिंह था जिसने राष्ट्रकूटों और कदम्बों में लड़कर अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। जयसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी रणराग था जिसके समय में चालुक्यों की शक्ति का विशेष विकास न हो सका। परन्तु उसके प्रिय पुत्र पुलकेशिन प्रथम को चालुक्य वंश का वास्तविक संस्थापक कहा जाता है। यह अपने वंश का सबसे पहला स्वतन्त्र शासक (महाराज) था। पुलकेशिन प्रथम ने सत्याश्रय और 'रणविक्रम' की उपाधियाँ धारण की थी और उसे श्रीपृथ्वीवल्लभ नामक विरुद में भी अनुराग था। चालुक्य वल्लभेश्वर के बादामी अभिलेख से पता चलता है कि पुलकेशिन प्रथम ने अश्वमेध तथा अन्य श्रौत यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसके पुत्र मंगलेश के समय के लेख उसे केवल हिरण्यगर्भ और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठानकर्ता ही नहीं बतलाते अपितु उसे अग्निष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, बहुसुवर्ण और पौण्डरिक यज्ञों के अनुष्ठान का भी श्रेय प्रदान किया गया है। कहीं-कहीं पर उसकी तुलना पौराणिक नरेशों ययाति और दिलीप से की गई है और उसके लिए यह भी कहा गया है कि उसने मानव धर्मशास्त्र पुराणों, रामायण, महाभारत तथा अन्य इतिहासों का अध्ययन किया था। पुलकेशिन् ने अश्वमेध यज्ञ अवश्य किया था परन्तु उसने किसी विशिष्ट विजय द्वारा इस अनुष्ठान की चरितार्थता नहीं प्रमाणित की। उसका राज्य

सम्भवतः आधुनिक बीजापुर जिले तक शामिल था और बादामी इसकी राजधानी थी।

कीर्तिवर्मन—पुलकेशिन प्रथम ने अपने पड़ोसियों के ऊपर जो सफलता प्राप्त की थी उसमें उसे अपने पुत्र कीर्तिवर्मन से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली थी। कीर्तिवर्मन के समय में वातापी के चालुक्यों की शक्ति का पर्याप्त विकास हुआ। मंगलेश के महाकूट स्तम्भ अभिलेख के अनुसार कीर्तिवर्मन ने वंग, अंग, कलिंग, वत्तूर, मगध, मद्रक, केरल, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चोलिय, आलुक और वैजयन्ती के राजाओं को पराजित किया। परन्तु यह निश्चित है कि इस अभिलेख का यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण है अतएव इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कीर्तिवर्मन के पुत्र के एहोल अभिलेख में उसे (कीर्तिवर्मन को) नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिए विनाश की निशा कहा गया है और इससे यह ध्वनित है कि उसने कदम्ब नरेशों के एकसंघ को विध्वस्त किया था। एहोल अभिलेख का विवरण विश्वसनीय प्रतीत होता है। कीर्तिवर्मन ने कोंकण के मौर्यों और बनवासी के कदम्बों के विरुद्ध अपनी शक्ति का विक्रम किया था। नलों, कदम्बों और मौर्यों के ऊपर उसकी विजय की चर्चा परवर्ती चालुक्यों के अभिलेखों में भी मिलती है। कीर्तिवर्मन की सफलताओं के फलस्वरूप जिनमें कुछ उसके पिता के शासन काल में प्राप्त की गई थीं चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव कदम्ब राज्य तथा मैसूर और नागों के राज्य में तथा उनके पास के विस्तृत भागों पर फैल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन ने कोंकण के भी उन भागों को भी अपने राज्य में मिला लिया था जो मौर्यों के अधीनस्थ थे। साधारणतः कीर्तिवर्मन के शासन काल ५६६–६७ से ५९७–९८ तक निश्चित किया गया है।

मंगलेश—कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसके पुत्र नाबालिग थे अतएव राज-सिंहासन पर उसके भाई मंगलेश ने अपना अधिकार जमा लिया। रेवती द्वीप और कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त करना मंगलेश की सबसे बड़ी सफलतायें थीं। मंगलेश भागवत धर्म का अनुयायी और विष्णु का अनन्य भक्त था। इसी के शासन काल में बादामी में विष्णु का भव्य गुहा मन्दिर निर्मित किया गया था जो कला के क्षेत्र में उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। मंगलेश के शासन काल के अन्त में उसके भतीजे पुलकेशिन द्वितीय और स्वयं उसके बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। पुलकेशिन द्वितीय के एहोल अभिलेख में इस संघर्ष का यह कारण दिया गया है कि मंगलेश अपने ही पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था जिससे पुलकेशिन द्वितीय को असन्तोष हुआ और उसने अपने चाचा के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में मंगलेश को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और बादामी का सिंहासन पुलकेशिन द्वितीय के अधिकार में चला गया।

पुलकेशिन द्वितीय—पुलकेशिन द्वितीय (६१०–११ से लगभग ६४२ तक) अपने वंश का सबसे प्रतापी नरेश था। अपने समकालीन सभी राजाओं में उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसके सिंहासनारोहण के समय में उसके राज्य की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी। मंगलेश और पुलकेशिन द्वितीय के गृह-युद्ध का लाभ उठाकर अधीनस्थ राज्यों ने स्वतन्त्र होने की सोची। पुलकेशिन द्वितीय को चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई पड़ने लगे। चालुक्य राज्य के बीजापुर क्षेत्र के निकटवर्ती प्रान्त को अप्पायिक और गोविन्द नामक दो राजाओं के आक्रमण की आशंका थी क्योंकि वे भीमरथी (भीम) के उत्तरी तट तक बढ़ आये थे। इस प्रकार पुलकेशिन द्वितीय एक संकट

गया स्थिति में पड़ गया और उसके सामने अपने राज्य की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने और विद्रोही प्रान्तों के दमन करने की दो विकट समस्यायें उत्पन्न हो गई। परन्तु युवा पुलकेशिन ने अपने को स्थिति का सामना करने की शक्ति से सम्पन्न प्रमाणित किया। भेद नीति का अवलम्बन करके उसने गोविन्द को अप्पायिक की ओर से विमुख करके अपना मित्र बना लिया। इस प्रकार से अपने ऊपर पड़ने वाली एक विपत्ति पर पुलकेशिन द्वितीय ने विजय पाई।

पुलकेशिन द्वितीय की सफलतायें और विजयें—अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। एहोल अभिलेख के प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने उसकी विजयों का वर्णन बड़ी काव्यात्मक भाषा में किया है। पुलकेशिन द्वितीय ने कदम्बों को पराजित करके उनकी राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया। मैसूर के गंगों, मलय के आलुपों और उत्तर के कोंकण के मौर्यों ने भी उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया। गंगों, आलुपों व सम्भवतः कदम्बों के मित्र थे और कदम्बों की पराजय के बाद उन्होंने अपना सिर उठाना उचित तथा शक्य न समझा। मौर्यों की राजधानी पुरी पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। दक्षिण गुजरात के लाटों, मालवों और गुर्जरों को भी उसने दमन किया। दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय की सफलता के प्रमाण अन्य स्रोतों से भी मिलते हैं।

पुलकेशिन द्वितीय की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता थी उसके द्वारा उत्तरापथ के सम्राट हर्ष की पराजय। हर्ष ने पुलकेशिन पर आक्रमण किये परन्तु विफल प्रयत्न ही रहा। पुलकेशिन के सामने हर्ष को एक न चल सकी और वापस होकर उसे लौटना पड़ा। पुलकेशिन की इस विजय का उल्लेख एहोल अभिलेख में इन शब्दों में किया गया है उसने हर्ष को जिसके चरण कमल अनेक समृद्ध और अनन्त वैभव सम्पन्न सामन्तों के मुकुटों के मणिमयूख से भासमान रहते थे परन्तु जो युद्ध में गिरते हुए गज पंक्तियों से। दृश्य से क्षोभित हो उठा था भय से विगलित और हर्ष रहित कर दिया।[1] इस विजय ने पुलकेशिन की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक बढ़ा दिया। अपने अन्य समकालीन राज्यों पर उसका आतंक जम गया। मगध, कोसल और कलिंग के नृपति उससे भयभीत और आतंकित हो गये। उन्होंने शीघ्र ही उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद समुद्रतटीय पथ से चालुक्य सेना दक्षिण दिशा की ओर मुड़ी। पिष्टपुर और एक अन्य दुर्ग पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। पिष्टपुर के राजवंश को विनष्ट कर दिया गया और उस पर शासन करने के लिए पुलकेशिन द्वितीय का युवराज नियुक्त किया गया। युवराज कुब्ज विष्णुवर्धन ने पूर्वी चालुक्यों के नये राजकुल की नींव डाली जिसका अस्तित्व १०७० ई० तक बना रहा। अधिक दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मन को युद्ध में पराजित किया और उसे अपने दुर्ग में शरण लेने के लिए बाध्य किया। पल्लव लेखों से सिद्ध होता है कि चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय पल्लव राज्य के भीतर तक घुस गया था। पुलकेशिन द्वितीय के आक्रमण ने पल्लवों की राजधानी कांची (आधुनिक कंजीवरम्) को खतरे में डाल दिया। इसके बाद

---

[1] 'अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-मकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥"

उसने पल्लवों को पार करके चोलों केरलों और पाण्ड्यों को अपना मित्र बनाया। अपने शक्तिशाली पड़ोसी पल्लवों के विरुद्ध पुलकेशिन का यह एक सफल अभियान था। पल्लवों की शक्ति निस्सन्देह विनष्ट हो गई परन्तु चालुक्य लोग अपनी विजय पर अधिक समय के लिए गर्व न कर सके और शीघ्र ही पल्लवों की शक्ति का अभ्युत्थान हुआ। पुलकेशिन द्वितीय का अन्त सुखद नहीं हुआ। उसके जीवन के अन्तिम दिनों में चालुक्य शक्ति का ह्रास होने लगा। पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन ने ६४२ ई० में वातापी पर आक्रमण किया और पुलकेशिन द्वितीय को युद्ध में मार डाला। वातापी पर पल्लवों का अधिकार हो गया किन्तु यह अधिकार भी स्थायी न हो सका। कुछ ही दिनों बाद चालुक्यों ने पुनः अपनी शक्ति संगठित कर ली।

पुलकेशिन द्वितीय वातापी के चालुक्य कुल का निश्चय ही सबसे महान् राजा था और प्राचीन भारत के सर्वमहान शासकों में भी उसका स्थान है। उसका प्रभाव और यश भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर विदेशों तक पहुंच गया और मुस्लिम इतिहासकार तबारी के अनुसार फारस के राजा खुसरू द्वितीय और चालुक्य नरेश के बीच दौत्य सम्बन्ध था। पुलकेशिन ने पहले कुछ उपहारों के साथ अपना एक राजदूत चालुक्य राजसभा में भेजा। कुछ विद्वानों का मत है कि अजन्ता का एक चित्र इस दौत्य सम्बन्ध की सूचना देता है।

पुलकेशिन द्वितीय का साम्राज्य—पुलकेशिन द्वितीय के सुविशाल साम्राज्य की सीमायें उत्तर में विन्ध्य पर्वत श्रेणी और महानदी तक दक्षिण में मैसूर के पार तक और अरब सिन्धु पर्यन्त फैली थी। इस साम्राज्य के केन्द्रीय भाग पर पुलकेशिन द्वितीय स्वयं शासन करता था और उत्तरी-पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेशों का शासन सामन्तों के सिपुर्द था। भड़ौच मालवा गंग कदम्ब पूर्वीय गंग और बन इत्यादि प्रान्तों के शासक चालुक्य सम्राट के अधीनस्थ सामन्त थे। उन्हें अपने अपने प्रदेशों के आन्तरिक शासन में काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी किन्तु वे पुलकेशिन द्वितीय को सदा ही वार्षिक कर भेजा करते थे। जिस भाग पर सम्राट का प्रत्यक्ष शासन था वहाँ भी पुरानी सामन्त थे जिन्होंने उसकी (पुलकेशिन द्वितीय) अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन सामन्तों को कुछ प्रान्तों का शासक बना दिया गया था। वे सम्राट की आज्ञा से शासन करते थे। युद्ध में वे उसकी सहायता करते थे। सम्पूर्ण साम्राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था और प्रत्येक प्रान्त का शासन करने के लिये एक राजप्रतिनिधि (वाइसराय) नियुक्त किया जाता था। पूर्वीय समुद्रतटीय प्रान्त जिसमें वर्तमान तलुगु प्रदेश सम्मिलित था वेंगी कहलाता था। वेंगी का प्रान्तीय शासक विष्णुवर्धन था जिसने वहाँ पर एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना की थी। यह राजवंश ग्यारहवीं शताब्दी (१०७०) तक बना रहा। कन्नड प्रदेश के दक्षिणी प्रान्त पर जिसमें प्राचीन कदम्ब वंश का राज्य (वनवासी) तथा गंग वंश का राज्य सम्मिलित था आदित्यवर्मन शासन करता था। तीसरा प्रान्त पश्चिमी समुद्रतट के निकट था जिसमें कोंकण का प्राचीन राज्य सम्मिलित था। इस प्रान्त का शासक पुलकेशिन द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य था। गुजरात तथा उत्तरी भागों को मिला कर एक प्रान्त निर्मित किया गया था जिसकी राजधानी नासिक में थी। इस प्रान्त का शासन पुलकेशिन द्वितीय का दूसरा पुत्र जयसिंह करता था। महाराष्ट्र बरार हैदराबाद तथा बम्बई के कुछ भागों को मिलाकर एक प्रान्त बनाया गया था। यह साम्राज्य का पाँचवाँ प्रान्त था। इस प्रान्त पर सम्राट का प्रत्यक्ष शासन था। कालान्तर में अन्य चार प्रान्त स्वतन्त्र राज्यों

में परिवर्तित हो गये। उत्तर भारत में गुर्जर प्रतिहार वंश की भाँति दक्षिण में चालुक्यों का वंश अत्यन्त प्रमुख था और यह कई शाखाओं में विभक्त था। एक विद्वान की धारणा है कि तेलिंगाना कर्णाटक कोंकण महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त वास्तव में विभिन्न भाषा भाषी प्रान्त थे और इस आधार पर पुलकेशिन द्वितीय ने अपने साम्राज्य का विभाजन करके वर्तमान युग की भाषावार प्रान्त रचना की नीति का पूर्व रूप प्रस्तुत किया।

ह्वेनसांग का विवरण—ह्वेनसांग ने ६४१–४२ ई० में पुलकेशिन से नासिक में भेंट की थी और उसके राज्य का भ्रमण भी किया था। चीनी यात्री ने पुलकेशिन द्वितीय के व्यक्तित्व तथा उसके राज्य और उसकी प्रजाजनों के सम्बन्ध में अपने वृत्तान्त लिखे हैं। पुलकेशिन के विषय में ह्वेनसांग लिखता है वह क्षत्रिय जाति का है उसके विचार विशाल और गम्भीर हैं और अपनी सहानुभूति तथा दान क्रियाओं का उसने काफी विस्तार कर रक्खा है। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी सेवा करते हैं। पुलकेशिन द्वितीय और हर्ष के युद्ध के विषय में भी चीनी यात्री ने लिखा है—'इस समय महाराज नृपति शीलादित्य पूर्व से लेकर पश्चिम तक अपनी विजयवाहिनी ले जा रहा है वह सुदूरवर्ती जनों को दबाता है और पड़ोस के राज्यों को उसने भयग्रस्त कर दिया है परन्तु केवल इस राज्य के ही लोगों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं किया है। यद्यपि पाँच द्वीपों के सैन्य समूहों में उसने शीर्ष स्थान का अधिकार कर रक्खा है यद्यपि उसने समस्त राज्यों के सबसे पराक्रमी योद्धाओं को बुला रक्खा है और यद्यपि उनको दण्डित करने के लिए उसने प्रयाण भी किया है तथापि उनके विरोध को दबाने में वह असमर्थ रहा है। इस बात से हम उनकी युद्धप्रिय आदतों और आचारों का अनुमान कर सकते हैं। इसके बाद ह्वेनसांग ने पुलकेशिन के राज्य और उसके निवासियों के विषय में लिखा है, मो-हो-ला-चो (महाराष्ट्र) लगभग ५००० लि (लगभग १७०० मील) घेरे में है। राजधानी के पश्चिम में एक विशाल नदी है। यह लगभग ३० लि गोल है। मिट्टी अच्छी और उपजाऊ है यह नियमित रूप से जोती जाती है और इससे उपज भी बहुत अधिक होती है। जलवायु उष्ण है लोगों का स्वभाव सादा और ईमानदार है वे कद में लम्बे और चरित्र में प्रतिशोधपूर्ण मनोवृत्ति के हैं। अपने प्रति उपकार करनेवालों के प्रति वे कृतज्ञ रहते हैं अपने शत्रुओं के प्रति दयाशून्य हैं। यदि उनका अपमान किया जाता है वे अपने प्राणों को खतरे में डालकर उनका बदला चुकाते हैं। यदि उनसे किसी विपत्तिग्रस्त व्यक्ति की सहायता के लिए कहा जाता है तो वे सहायता प्रदान करने की त्वरा में आत्मविस्मृत हो जाते हैं। यदि वे बदला लेनेवाले होते हैं तो पहले वे अपने शत्रु को सावधान कर देते हैं तब प्रत्येक शस्त्रयुक्त होकर एक दूसरे के ऊपर भालों से आक्रमण करते हैं। जब एक भाग निकलता है तो दूसरा उसका पीछा करता है परन्तु वे उस व्यक्ति को जान से नहीं मारते जो आत्मसमर्पण कर देता है। यदि कोई योद्धा युद्ध में पराजित हो जाता है तो वे उसे दण्डित नहीं करते बल्कि उसे स्त्री-वेषभूषा दे देते हैं इस प्रकार वह स्वयं मृत्यु की तलाश करता है। देश में कई सहस्र की संख्या तक योद्धाओं के समूह हैं। प्रत्येक बार जब वे संघर्ष करने के लिए उद्यत होते हैं वे सुरा द्वारा अपने को मदमत्त कर लेते हैं। और तब अकेला एक व्यक्ति हाथ में भाला लेकर दस हजार मनुष्यों का सामना कर सकता है और उन्हें युद्ध के लिए ललकार सकता है। यदि इन योद्धाओं में से कोई किसी मनुष्य से मिलने पर उसे मार डालता है तो देश के कानून उसे

दण्डित नहीं करते। जब कभी वे प्रयाण करने लगते हैं हर बार वे अपने सामने नगाड़े पीटते हैं। इसके अलावा वे सहसा हाथियों को उन्मत्त कर देते हैं और उनको युद्ध के लिए बाहर निकाल कर स्वयं वे पहले सुरापान करते हैं और तब ठेर के ढेर आगे दौड़ते हुए वे प्रत्येक वस्तु को कुचल डालते हैं जिससे कोई भी शत्रु उनके आगे ठहर नहीं सकता। इन मनुष्यों और हाथियों के कारण राजा अपने पड़ोसियों को घृणा की दृष्टि से देखता है। वह क्षत्रिय जाति का है और उसका नाम पुलकेशिन (पुलकेशिन) है। उसकी योजनायें और कार्य सुदूर विस्तृत हैं और उसके दयापूर्ण कार्यों का अनुभव दूर की दूरवर्ती भागों तक किया जाता है। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

चालुक्य सत्ता का अस्थायी पतन—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पुलकेशिन द्वितीय के अंतिम दिनों में चालुक्यों की शक्ति गिरने लगी और पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन ने पुलकेशिन को युद्ध में मार डाला। चालुक्यों और पल्लवों के इस युद्ध में नरसिंहवर्मन ने अपनी बर्बरता का परिचय दिया। सामान्यतया युद्धों में ब्राह्मणों और असैनिकों को कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी और मंदिरों को भी क्षति नहीं पहुँचती थी परन्तु इस युद्ध में नरसिंहवर्मन ने एक बर्बर की भाँति व्यवहार किया। उसने वातापी को खूब लूटा-खसोटा, मंदिरों को ध्वस्त किया और बिना लिंग वय का विचार किये हुए असंख्य मानवप्राणियों का वध किया।

चालुक्यों की शक्ति का पुनरुत्थान—तेरह वर्षों तक चालुक्यों की शक्ति को पल्लवों ने प्रसित कर रक्खा था। चालुक्यों का राज्य विभिन्न भागों में बँट गया था परन्तु विक्रमादित्य प्रथम (६५५-८) ने जो पुलकेशिन द्वितीय का सुयोग्य और वीर पुत्र था अपने वंश के गौरव को फिर से उत्थित किया। उसने अपने पैतृक राज्य को पल्लवों से छीन लिया। उसके शासन काल के बीसवें वर्ष के गडवाल पत्रों से पता चलता है कि ६७४ ई० के आसपास चालुक्य सेना कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर में (उरयूर त्रिचनापल्ली) डेरा डाले पड़ी हुई थी। अपने पिता की भाँति विक्रमादित्य प्रथम ने कई विरुद धारण किये थे परन्तु महमल्ल वंश (नरसिंहवर्मन प्रथम) का विनाश करने के कारण उसने राजमल्ल की उपाधि धारण की थी। उसे रणरसिक कहा जाता था। वह काञ्ची का विजेता भी कहा जाता था। किन्तु पल्लव अभिलेखों में लिखा है कि पेरुवलनल्लूर (त्रिचनापल्ली) के निकट में चालुक्यों की पराजय हुई थी जिससे पता चलता है कि विक्रमादित्य प्रथम अप्रतिहतवीर नहीं था। किन्तु त्रिचनापल्ली तक उसका पहुँच जाना इस बात को सिद्ध करता है कि उसने काञ्ची पर अधिकार कर लिया था और अपने पिता की पल्लवों द्वारा पराजय की कुयशकालिमा को धो डाला। चालुक्य लेखों में विक्रमादित्य प्रथम की अन्य महत्त्वपूर्ण विजयों का श्रेय भी दिया गया है। अपने पहले सामरिक प्रयास में ही उसने पल्लव राजधानी को लूटने के बाद सुदूर दक्षिण तक धावे किये और चोल पाण्ड्य और केरल राजाओं की शक्तियों को परास्त किया। इन युद्धों में विक्रमादित्य प्रथम को अपने पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य से बड़ा सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। विनयादित्य ने ६८० से लेकर ६९६ तक और विनयादित्य ने लगभग ६९६ से लेकर ७३३ तक शासन किया। एक अभिलेख में वर्णित है कि विनयादित्य ने सकलोत्तरापथनाथ को पराजित कर सार्वभौम पद प्राप्त किया। परन्तु यह वर्णन निस्सन्देह अतिरञ्जनपूर्ण है क्योंकि इस समय उत्तर

भारत में कोई साम्राज्य बना ही नहीं जिसे पराभूत कर वह 'सार्वभौम पद' प्राप्त करता। विद्वानों का मत है कि इस तथाकथित सकलोत्तरापथनाथ को हमें उत्तरकालीन गुप्त नरेश आदित्यसेन के एक उत्तराधिकारी में ढूँढना चाहिए। आदित्यसेन ने परम भट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी और उसके वंशजों ने भी इसी उपाधि को धारण करना जारी रखा। परन्तु उसको सकलोत्तरापथनाथ कहना अयुक्तिपूर्ण है। आदित्यसेन के किसी उत्तराधिकारी की विनयादित्य द्वारा पराजय को एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य समझना उचित जान पड़ता है।

(५) विक्रमादित्य द्वितीय—विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य वंश का प्रतापी नरेश था। उसके उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन द्वितीय के ताम्रपत्रों में विक्रमादित्य द्वितीय की सैनिक सफलताओं के वर्णन किये गये हैं। इस साक्ष्य के अनुसार उसने अपने शत्रु पल्लवों को पराजित किया और पल्लवों की राजधानी काञ्ची में प्रविष्ट हो गया किन्तु उसे नष्ट नहीं किया। उसने राजसिंहेश्वर और अन्य मन्दिरों को उन सुवर्ण ढेरों से परिपूरित कर दिया जिन्हें कुछ दिनों पूर्व पल्लवों ने छीन लिया था। विक्रमादित्य द्वितीय के कन्नड़ अभिलेखों से कीर्तिवर्मन के ताम्रपत्रों के लेख की पुष्टि हो जाती है। उसने चोल, पाण्ड्य और केरल शक्तियों को भी आतंकित तथा भयग्रस्त कर दिया। उसके राज्यकाल में अरबों ने जिन्होंने सन् ७१२ ई० में सिन्ध पर अधिकार कर लिया था दक्षिण पर भी आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना किया और उन्हें पराजित किया। उसका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसके कारण दक्षिण अरबों के हाथ में पड़ने से बच गया। परन्तु वह पल्लवों की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न कर सका। पल्लव नृपति पल्लवमल्ल ने पराजित होने पर भी अपनी राजधानी काञ्ची पर फिर से अपना अधिकार जमा लिया। 'चालुक्य-विजय को पल्लव प्रभुता के अन्त का प्रारम्भ' मानना तर्कसम्मत नहीं है।

चालुक्य सत्ता का अन्त—विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्तिवर्मन द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद शासक हुआ। कीर्तिवर्मन द्वितीय वातापी के चालुक्य कुल का अन्तिम नृपति था। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उसको पराजित कर दिया। कीर्तिवर्मन द्वितीय के राज्य के अधिकांश भागों पर दन्तिदुर्ग का अधिकार स्थापित हो गया। एक अभिलेख से पता चलता है कि कर्नाटक सप्तम विक्रमादित्य [illegible] कूट नरेश कृष्ण प्रथम ने वातापी के [illegible] कर दिया। परन्तु अभी उनकी [illegible] था।

चालुक्यों के समय में धर्म और कला की अवस्था

चालुक्य वंश के शासन की प्रारम्भिक शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता प्राप्त थी। राजाओं और प्रजाजनों ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। इस काल के विचारकों ने वर्णों की आवश्यकता और वैदिक आम्नाय की पालनीयता का समर्थन किया। पौराणिक देवताओं का समाज में सम्मान था। वातापी तथा पट्टदकल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशाल मन्दिर बने थे। यौगिक क्रियाओं और अनुष्ठानों पर चालुक्य-युग में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। पुलकेशिन द्वितीय ने अश्वमेध तथा वाजपेय आदि बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया था। परन्तु चालुक्य राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में जैन धर्म को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। एहोल अभिलेख का रचयिता रविकीर्ति जैन धर्मानुयायी

था और उसने जिनेन्द्र का एक मन्दिर बनवाया। फिर भी वह ब्राह्मण धर्मानुयायी पुलकेशी द्वितीय का सर्वमान्य कृपाभाजन था। विजयादित्य ने एक जैन मन्दिर के निर्वाह के लिए पण्डित उदयदेव को एक ग्राम दान में दिया था। विक्रमादित्य द्वितीय ने भी अनेक जैन पण्डितों का सम्मान किया था। उसने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य नरेशों का क्या दृष्टिकोण था यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु उनके राज्य में इस धर्म की क्या अवस्था थी इस पर ह्वेनसांग के लेख से प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री लिखता है कि बौद्ध विहारों की संख्या १०० से ऊपर थी और ५००० से अधिक की संख्या में हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भिक्षु वहाँ विद्यमान थे। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध बैठा करते थे और उन्होंने चंक्रमण किया था। वहाँ पर पत्थर और ईंटों के अन्य स्तूप भी थे। परन्तु जैन और ब्राह्मण धर्मों की अत्यधिक उन्नति के कारण बौद्ध धर्म का विकास रुक गया। पौराणिक हिन्दू धर्म जिसके रूप का विवेचन गुप्तकालीन संस्कृति के अध्याय में किया जा चुका है चालुक्यों के समय में बड़ा लोकप्रिय था।

(ग) कला—चालुक्यों के शासन काल में कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। जैनों और बौद्धों के अनुकरण में हिन्दू देवताओं के लिए भी गुफा मन्दिरों का निर्माण चालुक्य कला की एक विशेषता है। अजन्ता की बौद्ध गुहायें अपने स्थापत्य और भित्ति चित्र विशेषतः बुद्ध भगवान के, शाह और फारसी राजदूत के लिए प्रसिद्ध हैं। अजन्ता और एलोरा दोनों ही चालुक्य राज्य में अवस्थित थे। इनमें कुछ चित्र चालुक्यों के समय में बनवाये गये थे। औरंगाबाद और नासिक में अनेक बौद्ध गुहा स्थापत्य अब भी विद्यमान हैं। गुहा-स्थापत्य की दृष्टि से उन चित्रों का महत्त्व विशेष अधिक है जो ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। औरंगाबाद के निकट एलोरा में कुछ विख्यात स्थापत्य चित्र हैं कैलाश पर्वत के नीचे रावण, नृत्य करते हुए भगवान् शिव और हिरण्यकशिपु का वध करते हुए नृसिंह भगवान। बादामी में भगवान् विष्णु के नृसिंह और वाराह अवतारों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बड़ी प्रशंसनीय हैं। एहोल बादामी और पत्तदकल में इस कला के बने हुए मन्दिर हैं। विरूपाक्ष मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है जिसमें भित्ति चित्रों द्वारा रामायण की कथाओं का दिग्दर्शन किया गया है। इस मन्दिर पर पल्लव कला की स्पष्ट छाप है। इसका निर्माण काञ्ची के कैलाशनाथ मन्दिर की अनुकृति के आधार पर कराया गया था। दक्षिण में बौद्ध धर्म के ह्रासोपरान्त दक्कन का चालुक्य साम्राज्य पहला महान् हिन्दू साम्राज्य था। चालुक्य शासकों के शासन का दक्षिणापथ के इतिहास में विशेष महत्त्व है। उनके समय में दक्षिणापथ ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का अनुभव किया। चालुक्य राजाओं ने हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाये और मन्दिरों को प्रचुर दान दिया। इसका उल्लेख किया जा चुका है। उनकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने जैन धर्म को दक्षिणापथ में पनपने का अवसर प्रदान किया। आगे चलकर अन्हिलवाड़ के जैन आचार्यों ने दक्कन में अपने मत का प्रचार किया। समाज में इन आचार्यों को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था और उन्होंने दक्षिणापथ में मराठा, कन्नड़ तथा तेलगू नामक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यसृजन की नींव डाली। उन्होंने इन प्रान्तीय भाषाओं में धार्मिक विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। कालान्तर में भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी जैन-आचार्यों का अनुसरण करते हुए अपने मतों का प्रचार करने के लिए प्रान्तीय भाषाओं को ही अपनाया।

चालुक्यों के समय से दक्षिणापथ में उत्तर के अनेक क्षत्रिय परिवार गये और वहाँ पर उन्होंने शक्ति तथा प्रभुता प्राप्त कर ली। चालुक्य लोग इन्हीं सामन्तों में एक थे। पारसियों ने मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिए ७८० में थाना जिले में शरण ली। चालुक्य वंश के स्थानीय सरदार ने पारसियों का आदर सत्कार तथा स्वागत किया और अपने राज्य में अपना उपनिवेश स्थापित करने की आज्ञा दे दी। इस कार्य के लिए उस सरदार ने एक आज्ञा विज्ञप्ति निकाली जिसमें पारसियों के प्रति इस प्रकार शुभ कामना प्रकट की गई है— ए पारसियो ईश्वर तुम्हें सन्तान, सफलता और विजय प्रदान करे। अमर और पवित्र अग्नि तुम्हें सतत विजय देता रहे। तुम पापों से मुक्त रहो। तुम सदा पवित्र रहो। तुम्हारे लिए भगवान् मार्तण्ड सदैव के लिए मंगलकारी बने रहें। तुम्हारी कामनायें पूरी हों। मेरे देश में तुम जो भी भूमि लेना चाहो ले सकते हो। तुम्हारी प्रतिष्ठा निरंतर वर्द्धित होती रहे। ए पारसियो यदि कोई भी दुर्जन तुम्हें हानि पहुँचायेगा तो मैं उसका ध्वंस कर दूँगा। तुम्हारी भाग्य लक्ष्मी प्रशस्त और स्थायिनी हो। इस विज्ञप्ति पत्र के बाद पारसी लोगों ने अपनी एक अलग बस्ती स्थापित कर ली और वे फारस से व्यापार करने लगे। यह महान् आदेश पत्र एक औसतन हिन्दू-नरेश के उन्नत आदर्शवाद और सार्वभौम सहिष्णुता का निदर्शन करता है। इस प्रकार की उदारतापूर्ण आज्ञायें इसी काल के निकट तथा बाद में दक्षिण के अन्य नरेशों द्वारा भी निकाली गई थीं। हम आगे देखेंगे कि दक्कन के राष्ट्रकूट राजाओं ने अरबों के साथ ऐसी ही उदारता का परिचय दिया।

मान्यखेट (मालखेड) के राष्ट्रकूट

आठवीं शताब्दी के छठे दशाब्द में दक्षिण में राजनीतिक प्रभुता चालुक्यों के हाथों से निकलकर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई। राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया और आगे चलकर राजनीतिक प्रभुता के लिए जिन तीन शक्तियों में संघर्ष छिड़ा उनमें से एक शक्ति मान्यखेट के राष्ट्रकूट-कुल की थी।

राष्ट्रकूटों का मूल—राष्ट्रकूटों की मूल-उत्पत्ति तथा उनके मूल निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि दक्षिण के राष्ट्रकूट कुल का उद्भव राजस्थान के राठौरों से हुआ था परन्तु इस मत में सत्यता तनिक भी नहीं है क्योंकि दक्षिण के राष्ट्रकूटों के शाखान्तर अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। राष्ट्रकूटों की तेलगू उत्पत्ति भी बताया जाता है। इस मत का आधार यह है कि 'रट्टि' शब्द 'राष्ट्र' का अपभ्रंश है और राष्ट्रकूट लोग रट्टियों की सन्तान हैं। परन्तु यह मत भी निराधार है। इस बात की सम्भावना नहीं कि 'राष्ट्र' शब्द से 'रट्टि' शब्द की उत्पत्ति हुई है। इसके अलावा रट्टियों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हुआ था। एक विश्वसनीय धारणा यह जान पड़ती है कि राष्ट्रकूटों का उद्भव राष्ट्रिकों से हुआ था। राष्ट्रिकों का उल्लेख अशोक के अभिलेख में किया गया है। ये लोग सम्भवतः कर्णाटक प्रदेश के रहनेवाले थे। राष्ट्रकूटों की भाषा कन्नड़ थी और उन्होंने मराठी को नहीं अपितु कन्नड़ को राजाश्रय प्रदान किया। राष्ट्रकूटों का मूल स्थान लट्टलूर (लातूर निजाम रियासत के बीदर जिले का एक स्थान) था। लट्टलूर प्रदेश बीदर जिले के कन्नड़ भाषा भाषी प्रदेश को व्यक्त करता है

राष्ट्रकूटों का उदय—दन्तिदुर्ग के अधीन राष्ट्रकूटों की शक्ति का उत्थान हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तिदुर्ग एक चालुक्य राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जो किसी राष्ट्रकूट सरदार के साथ ब्याही गई थी। सम्भवतः उसने उत्तर और दक्षिण के प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य पर अधिकार जमा लिया। दन्तिदुर्ग (७४५–७५६) ने ही राष्ट्रकूटों के विशाल राज्य की नींव डाली। उसने भड़ौच के गुर्जरों और गुजरात के चालुक्यों को परास्त किया। इस कार्य में उसे नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई जिसके साथ उसने सन्धि-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। दन्तिदुर्ग ने ७५३ में चालुक्य राजकुमार कीर्तिवर्मन द्वितीय को युद्ध में पराजित कर महाराष्ट्र का उत्तरी भाग अपने राज्य में मिला लिया। कांची कोशल कलिंग मालवा लाट (दक्षिण गुजरात) और श्रीशैल (कर्नूल जिले में) के राजाओं को उसने परास्त किया था। दन्तिदुर्ग बड़ा शक्तिशाली और विवेकी पुरुष था। अपने शत्रुओं की कमजोरी को वह समझता था और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह युद्ध और कूटनीति में से किसी का भी अवलम्बन ग्रहण कर सकता था। धार्मिक दृष्टिकोण से वह कट्टर ब्राह्मण था और [illegible] के अवसर पर तीर्थों में विपुल दान दिया करता था। दन्तिदुर्ग की मृत्यु तीस वर्ष की थोड़ी अवस्था में हो गई।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था अतएव उसके राज्य का कृष्ण प्रथम अधिकारी हुआ। कृष्ण प्रथम दन्तिदुर्ग के पिता का भाई था। कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजशक्ति के विनाश-कार्य को पूरा किया और कोंकण को विजित करने के बाद वहाँ उसने शिलाहारों को अपने अधीनस्थ एक सामन्तवादी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसने ७६८ ई० में श्रीपुरुष को संग्राम में परास्त किया और उसको भी अपना सामन्त बनाया। कृष्ण प्रथम ने अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय को एक सेना के साथ वेंगी राज्य के विरुद्ध भेजा। राष्ट्रकूटों की शक्ति का बिना कुछ विरोध किये ही वेंगी ने उनके आगे आत्मसमर्पण कर दिया। उसने जो राज्य उत्तराधिकार में प्राप्त किया था उसका उसने लगभग तिगुना विस्तार किया। दक्कन में उसने अपने वंश की प्रभुता स्थापित की और अपने उत्तराधिकारियों के लिए उसने विध्यपार देशों की सैन्य-सफलताओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया। कृष्ण का राजत्व-काल एलोरा के कैलाश मन्दिर के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है।

गोविन्द द्वितीय—कृष्ण प्रथम के उपरान्त गोविन्द द्वितीय राष्ट्रकूट राज्य का अधिकारी हुआ। जब वह अपने पिता के शासन-काल में युवराज था तभी उसने वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ को पराजित किया था। गोविन्द द्वितीय ने पारिजात को भी युद्ध में हराया। परन्तु राज्य का अधिकारी होने के उपरान्त वह व्यभिचार और भोग विलास में लिप्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि राज्य का लगभग सारा उत्तरदायित्व उसका अनुज ध्रुव वहन करने लगा और प्रलोभन के वशीभूत होकर उसने राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ७७९ में अवसर प्राप्त होने पर ध्रुव ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और गद्दी पर अधिकार कर लिया।

ध्रुव—ध्रुव धारावर्ष राष्ट्रकूट-कुल का एक महान विजेता था। उसने ७८० से लेकर ७९४ तक राज्य किया। ध्रुव ने गंगराज शिवमार द्वितीय को पराजित करके उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया और उस पर शासन करने के लिए अपना एक वाइसराय नियुक्त किया। वह पल्लव-नरेश दन्तिवर्मन के विरुद्ध कांची तक अपनी एक वाहिनी ले गया। दन्तिवर्मन को राष्ट्रकूट राजा के सम्मुख आत्म समर्पण कर

देना पड़ा। ध्रुव ने उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों में हस्तक्षेप किया, जिसके सम्बन्ध में उसने वत्सराज गुर्जर को हराया। यद्यपि वत्सराज गुर्जर की पराजय से राष्ट्रकूट की सीमा में कोई विस्तार नहीं हुआ फिर भी इसके कारण [illegible]

अपनी इन विजयों के द्वारा उत्तर में ध्रुव राष्ट्रकूटों का अधिकार न जमा पाया तथापि उसने आक्रमणात्मक साम्राज्यवाद की नीति का अवलम्बन ग्रहण किया। उसी के समय से राष्ट्रकूटों, पालों और प्रतीहारों के बीच में गंगा और यमुना की घाटियों में राजनीतिक प्रभुत्व जमाने के लिए पारस्परिक संघर्ष छिड़ गया। डा० अल्तेकर ने ध्रुव धारावर्ष के रण अभियानों को ध्यान में रखते हुए लिखा है— यह सुयोग्यतम, राष्ट्रकूट नरेशों में एक था। अपने तेरह वर्ष के संक्षिप्त शासनकाल में उसने न केवल दक्षिण में राष्ट्रकूट प्रभुता की पुनर्स्थापना की जिसे उसके पूर्वाधिकारी के आतंक तथा दोषपूर्ण शासन ने गहरी क्षति पहुँचाया थी, वरन् उसने राष्ट्रकूटों को एक अखिल भारतीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उत्तरी भारत के भागों के आन्ध्रों द्वारा अपने साम्राज्य में मिलाये जाने के बाद पहली बार सम्भवतः नौ शताब्दियों के उपरान्त, दक्षिणापथ की एक सेना ने विन्ध्यपर्वत श्रेणियों का अतिक्रमण करके मध्यदेश के उर्वर प्रदेश में प्रवेश किया और उत्तर में साम्राज्यवादी सत्ता को प्राप्त करने के उत्सुक दो प्रतिस्पर्धियों में प्रत्येक को पराजित किया। (राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देअर टाइम्स पृष्ठ ५९)। डा० अल्तेकर यह स्वीकार करते हैं कि ध्रुव द्वारा राज्यापहरण का कार्य उसके नैतिक चरित्र को कुछ ढक लेता है परन्तु विद्वान् लेखक ने आगे लिखा है कि कृष्ण द्वितीय वस्तुतः एक दुर्बल और विलासी नरेश था, अतएव ध्रुव ने जो कार्य किया उसका एक पर्याप्त राजनीतिक औचित्य है। डा० अल्तेकर द्वारा उद्धृत, दौलताबाद के पत्र लेख में यह लिखा है कि कृष्ण द्वितीय के अनुज ध्रुव ने राष्ट्रकूटों की राजलक्ष्मी को विचलित होते देखकर उसकी रक्षा करने के लिए राज्य ग्रहण किया अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं। 'राज्य बभार गुरुभक्तिवशोऽप्यसह्यम्। मा भूत् किलान्वयपरिच्युतिरित्र लक्ष्म्या।

गोविन्द तृतीय—ध्रुव ने अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में अपने तृतीय पुत्र गोविन्द को युवराज नियुक्त किया और कुछ दिनों बाद उसके पक्ष में स्वयं राज्य त्याग दिया। गोविन्द तृतीय का अपने पिता द्वारा निर्वाचित किया जाना यह सिद्ध करता है कि वह योग्य और पराक्रमी था। वस्तुतः गोविन्द तृतीय ने अपने

---

[1] गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यत
लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतछत्राणि योऽहरत ॥

अमोघवर्ष प्रथम के संजन पत्र-लेख के इस श्लोक की परिपुष्टि कर्क सुवर्णवर्ष के सूरत पत्र-लेख के कतिपय श्लोकों द्वारा होती है। श्लोक से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ध्रुव ने "अपने साम्राज्य लाञ्छनों में गंगा और यमुना की आकृतियाँ भी जोड़ लीं।'

यो गंगायमुने तरंगसुभगे गृहणन्परेभ्य: समम् ।
साक्षाच्चिह्ननिभेन चोत्तमपदं तत्प्राप्तवानीश्वरम् ॥

कार्यों द्वारा अपने को एक बार विजेता प्रमाणित किया। यद्यपि ध्रुव उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करा गया था तथापि गोविन्द तृतीय के राज्याधिकार को उसके बड़े भाई स्तम्भ ने विरोध किया। उसने बारह राजाओं का एक संघ बनाया और इस संघ का नेतृत्व स्वयं उसी ने ग्रहण किया। इस संघ में गंगराज शिवमार द्वितीय भी सम्मिलित था जिसको गोविन्द तृतीय ने कारागार से मुक्त कर दिया था। गोविन्द अपने विरुद्ध बारह राजाओं को सम्मिलित शक्ति से तनिक भी भयभीत न हुआ अपितु उसने धैर्य और साहस के साथ अकेले ही उसका सामना करने का निश्चय किया। उसने इस संघ पर विजय प्राप्त की और विद्रोह का दमन करने में वह पूर्ण रूप से सफल रहा किन्तु विद्रोहियों के साथ उसने उदारता का व्यवहार किया। स्तम्भ को उसने गंगवाड़ि का शासक नियुक्त किया। किन्तु शिवमार को धृष्टता से सशंकित होकर गोविन्द ने उसको पुनः कारागृह में डाल दिया। इन्द्र को जिसने गोविन्द तृतीय के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित की थी उसने लाट प्रदेश का शासक मनोनीत किया। इस प्रकार आन्तरिक उपद्रवों से छुटकारा प्राप्त करने के उपरान्त गोविन्द अपनी रणवाहिनी उत्तर भारत में ले गया और मालवा नरेश गुर्जर नागभट्ट द्वितीय और उसके सहयोगी चन्द्रगुप्त को पराजित किया। कुछ दिनों तक मालवा लाट प्रदेश के शासक के अधीन रहा। अधिक उत्तर में पहुँच कर गोविन्द तृतीय ने कन्नौजाधिपति चक्रायुध को अपना आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया और इस प्रकार चक्रायुध के संरक्षक धर्मपाल को भी अवहेलना की।[1] स्पष्ट है कि तीन शक्तियों के बीच प्रभुता के इस संघर्ष में गोविन्द तृतीय ने राष्ट्रकूटों को सबसे अधिक शक्तिशाली प्रमाणित किया। गोविन्द ने ८०३ के लगभग पल्लव राज्य पर आक्रमण करके दन्तिवर्मन को हराया था। उत्तर के रण अभियान से लौट आने के बाद पल्लवों के साथ उसने पुनः अपना युद्ध जारी कर दिया। दक्षिण की राजशक्तियों के विरुद्ध युद्ध में गोविन्द तृतीय को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि उसकी चालों पाण्ड्यों गंगवाड़ी और करलों की सम्मिलित शक्ति के ऊपर विजय का यश लंका तक पहुँच गया और लंकाधिपति ने उसकी सेवा में अपनी एक मूर्ति भेज कर अपनी अधीनता प्रकट की।[2] दक्षिण में अपने विद्रोहियों की शक्ति को कुचलने के बाद गोविन्द ने अपना जीवन राज्य के आन्तरिक शासन को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया।

गोविन्द तृतीय के कार्यों का मूल्यांकन—राष्ट्रकूट राजकुल इस बात के लिए भारत के प्राचीन इतिहास में विख्यात है कि इसके राजाओं ने अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने और उसके राजनीतिक गौरव को बढ़ाने का योग्यतापूर्ण प्रयास किया। इस राजकुल में कई सुयोग्य शासक और महान विजेता हुए थे जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा वास्तविक रूप में अपने वंश का गौरव बढ़ाया। राष्ट्रकूटों के इस विशिष्ट कुल में गोविन्द तृतीय एक विशिष्ट और उल्लेखनीय शासक था। अपनी कुशल राजनीतिज्ञता और प्रचण्ड रणशक्ति के द्वारा उसने सम्पूर्ण भारत—

[1] संजन पत्र लेखों से विदित होता है कि कान्यकुब्ज के चक्रायुध और गौड़ के धर्मपाल दोनों ने उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया।

स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ।'

[2] "लङ्कातः किल तत्प्रभुप्रतिकृती काञ्चीमवेतौ इह
कीर्तिस्तम्भनिभौ शिवायतन के येनेह सत्य कृतौ।

उत्तरापथ और दक्षिणापथ के सामन्तों में अपना आतंक और प्रभाव जमाया। डा० अल्तेकर का विश्वास है कि उसकी विजयवाहिनी के प्रयाण के अन्तर्गत हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक का सम्पूर्ण प्रदेश आ गया था। उससे भयभीत होकर लंका के राजा ने भी उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। उसने अपने वंश का सुयश और गौरव उस सीमा तक पहुंचा दिया जहां तक उसका न कोई पूर्ववर्ती और न परवर्ती शासक पहुंचा सका था। अपने राज्य को आन्तरिक शक्ति को सुदृढ़ करने में उसने सामन्तों के साथ समझौते की नीति का अवलम्बन किया। इन्द्र के साथ सद्व्यवहार करके उसने अपनी कूटनीति और भ्रातृ स्नेह का परिचय दिया। गोविन्द तृतीय के राजकवि का कहना है कि उसके जन्म के बाद राष्ट्रकूट लोग उसी प्रकार अजेय हो गये जिस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गए थे। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं कि विन्ध्य शृंखला से लेकर उसका राज्य तुंगभद्रा तक फैला था। लाट प्रदेश में जैसा कि हम देख चुके हैं, उसका अनुज इन्द्र उसके राजप्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। गोविन्द एक विजेता ही नहीं वरन् एक सफल शासक भी था। उसने शासन व्यवस्था को दृढ़ और सुव्यवस्थित बनाया। उसकी सफलता का कारण यह था कि उसके अन्दर वीरता, राजनीतिज्ञता और संगठन शक्ति के गुणों का समन्वय था। उसके महासामन्त कर्क के बड़ौदा लेख में उसकी तुलना पार्थ से की गई है। इसी शासक के सौसारी लेख में यह बतलाया गया है कि गोविन्द तृतीय रणभूमि में अपने मनुष्यों से सैनिक भी न डरते हुए कूद पड़ता था। उत्तर और दक्षिण में उसका सफल रण अभियान उसकी अपूर्व वीरता और संगठन शक्ति का निदर्शन करता है। अपने शासनकाल के प्रारम्भ में उसने स्तम्भ के ऊपर जिस प्रकार विजय प्राप्त की और उसके साथ जो व्यवहार किया उससे उसकी चतुर राजनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। उसके समस्त गुणों को ध्यान में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि गोविन्द तृतीय अपने युग के सबसे महान शासकों में से है।

अमोघवर्ष प्रथम—अमोघवर्ष प्रथम ८१४ में राष्ट्रकूट की राजगद्दी पर बैठा। राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। सर आर० जी० भण्डारकर की सम्मति है कि गोविन्द तृतीय के उत्तराधिकारी का नाम सर्व था और अमोघवर्ष उसकी उपाधि थी। अमोघवर्ष की अल्पावस्था से राष्ट्रकूट कुल के विरोधियों ने लाभ उठाया। चालुक्य अनन्य विजयादित्य नामक राजा ने उसके विरुद्ध अपना सिर उठाया और पश्चिमी गंगों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा करके बालक नृपति को सिंहासनच्युत कर दिया। इसके बाद राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई क्योंकि जैसा कि डा० अल्तेकर ने बतलाया है कि विभिन्न राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए आपस में लड़ने लगे। राष्ट्रकूट वंश के लिए इस समय एक विकट संक्रान्ति का अवसर उपस्थित हो गया था किन्तु कर्क अथवा पातालमल्ल ने ८१६ ई० से ८२१ ई० के मध्य में राष्ट्रकूट वंश की गिरती हुई शक्ति को संभाला। अमोघवर्ष को पुनः सिंहासन प्राप्त हो गया किन्तु इसका श्रेय अमोघवर्ष को नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस समय उसकी आयु केवल तेरह वर्ष की थी।

सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य की आन्तरिक गड़बड़ी के कारण अमोघवर्ष काफी समय तक सैन्य दृष्टि से निष्क्रिय रहा। हो सकता है कि अपनी अल्पायु के कारण भी उसने रण-अभियान प्रारम्भ करना उचित न समझा हो। ८३० ई० के लगभग अमोघवर्ष ने वेंगी के विजयादित्य तृतीय को पराजित किया।

इसके बाद उसने गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों से मेल किया जिनसे वह रुष्ट हो गया था। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि गुजरात शाखा के राष्ट्रकूटों के ही कारण अमोघवर्ष को फिर से सिंहासन प्राप्त हुआ था किन्तु बाद में उनके पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रह गये थे। अमोघवर्ष ने गुजरात के राष्ट्रकूटों से पुन मैत्री करके एक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया।

अमोघवर्ष ने वेंगी के विजयादित्य को पराजित करने के अतिरिक्त और कोई सैनिक सफलता नहीं प्राप्त की। उसके समय में राष्ट्रकूट-साम्राज्य का विस्तार कम हो गया। गंगवाडी के शासक ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और अमोघवर्ष उस विद्रोह का दमन करने में असमर्थ रहा। फलस्वरूप गंगवाडी उसके अधिकार से निकल गया। यही हाल मालवा के प्रान्त का हुआ। मालवा पर भी अमोघवर्ष अपना अधिकार नहीं जमा सका। उत्तरी भारत में प्रतापी प्रतीहार नरेश मिहिर भोज ने आगे बढ़कर उज्जयिनी के चारों ओर नर्मदा तक के प्रदेश को रौंद डाला किन्तु अमोघवर्ष के कानों पर जूँ तक न रेंगी। जिस गोविन्द तृतीय के प्रबल प्रताप के सामने गुर्जर राज नागभट्ट द्वितीय और गौडाधिपति धर्मपाल ने अपने घुटने टेक दिये थे उसी के उत्तराधिकारी अमोघवर्ष के समय में मिहिरभोज राष्ट्रकूट शक्ति को चोटें मार रहा था। यदि गुजरात के राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव द्वितीय ने मिहिर भोज के प्रसार को रोकने में तत्परता न दिखाई होती तो राष्ट्रकूट वंश की राजसत्ता का क्या ह्रास हुआ होता यह कह सकना कठिन है। अपने साठ वर्ष के लम्बे शासन काल में अमोघवर्ष ने कोई भी महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलता न प्राप्त की। डा० अल्तेकर ने लिखा है कि वह अपने पिता या पितामह की भाँति सच्चा मनाविस का नहीं था।

अमोघवर्ष की रुचि सैनिक कार्यों की ओर नहीं थी। उसका स्वभाव शान्तिप्रिय था और धर्म तथा साहित्य के प्रति उसके हृदय में प्यार अनुराग था। उसने स्वयं कविराजमार्ग नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर कन्नड़ भाषा में लिखा हुआ प्रथम ग्रन्थ है। अमोघवर्ष साहित्यानुरागी और साहित्यकारों का संरक्षक था। नागवर्मन द्वितीय केशिराज और भट्टकलंक सभी इस बात में एक दूसरे से सहमत हैं कि अमोघवर्ष साहित्यकारों के प्रति बहुत उदार था। उसके संजन पत्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि सुविख्यात नरेश विक्रमादित्य से भी वह अधिक उदार था। धर्म के क्षेत्र में उसकी रुचि जैनमत की ओर थी। आदि पुराण के प्रणेता जिनसेन का दावा है कि वह अमोघवर्ष का गुरु था। महावीराचार्य के कथनानुसार जो जैन मत के आचार्य तथा गणितसारसंग्रह नामक पुस्तक के रचयिता थे अमोघवर्ष स्याद्वाद (जैनमत) का माननेवाला था। यद्यपि अमोघवर्ष जैन मत के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित था तथापि उसकी आस्था अपने पूर्वजों के धर्म में बनी रही। उसने हिन्दू धर्म का परित्याग नहीं किया था। वह महालक्ष्मी का परम भक्त था। उसके संजन लेखों में एक स्थान पर लिखा है कि एक बार अपनी प्रजा के कष्ट निवारणार्थ उसने अपने बायें हाथ की उंगली काटकर महालक्ष्मी देवी के चरणों में चढ़ा दी थी। डा० अल्तेकर हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करते हैं कि अमोघवर्ष की प्रजावत्सलता का यह उल्लेख कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है वरन् इसकी पुष्टि भट्टकलंक के कर्णाटक शब्दानुशासनम् ग्रन्थ द्वारा भी हो जाती है।[1]

[1] *The Rastrakutas And Their Times* pp 87 88

अमोघवर्ष प्रथम ने अपनी राजधानी मान्यखेट (निजाम राज्य में वर्तमान, मालखेड) में बसायी थी। विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि सुलेमान ने जिस दाघजीवी बल्हरा (वल्लभराज का अरबी रूपान्तर) का उल्लेख किया है, वह अमोघवर्ष प्रथम ही था। सुलेमान नामक अरब यात्री ने लिखा है कि दाघजीवी बल्हर संसार के चार महान सम्राटों में है। उसने अन्य महान सम्राटों को इस प्रकार बताया है बगदाद का खलीफा, कुस्तुन्तुनिया का शासक और चीन का सम्राट।

प्रश्नोत्तररत्नमालिका नामक ग्रन्थ में अमोघवर्ष के राज्य परित्याग का उल्लेख मिलता है। उसके सजन लेखों द्वारा भी उसके राज्य परित्याग की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण के कन्धों पर राज्यभार सौंपकर स्वयं वैराग्य ले लिया था।

कृष्ण द्वितीय—कृष्ण द्वितीय (८८०–९१२ ई०) को अभिलेखों में महान विजेता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन अंग बंग कलिंग मगध और कोशल के शासक करते थे। यह निश्चित है कि अभिलेख का यह दावा अतिरंजन मात्र है। यह अवश्य है कि कृष्ण द्वितीय को अपने पड़ोसी राज्यों से बराबर संघर्ष करते रहना पड़ा। दक्षिण में उसने गंगों और नोलम्बों से, पूर्व में वेंगी के चालुक्यों से और उत्तर में गुर्जर प्रतिहारों तथा गुजरात के राष्ट्रकूटों से युद्ध किया। मिहिरभोज से कृष्ण द्वितीय ने जो युद्ध किया उसमें यह कन्नौज के इस प्रतापी नरेश को कुछ भी बिगाड़ न सका। कृष्ण द्वितीय के समय में विजयादित्य तृतीय और भीम प्रथम ने दुर्धर्ष चालुक्यों की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित की। अमोघवर्ष प्रथम ने वेंगी के दुर्धर्ष चालुक्य राजा को पराजित कर के उसे अपने अधीन किया था किन्तु बलुचुरवर दानपत्र से विदित है कि चालुक्य राजा भीम ने कृष्णवल्लभ की सेना को पराजित कर दिया।[1] इस प्रकार कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में भीम प्रथम ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का विरोध करते हुए अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। कृष्ण द्वितीय गंगवाड़ी के राज्य को भी अपने राज्य में फिर से मिलाने में असफल रहा। कृष्ण द्वितीय अपने पिता की भाँति एक शान्तिप्रिय और धर्मानुरागी व्यक्ति था। राज्य संचालन में उसे अपने श्वसुर त्रिपुरी के कलचुरी कोक्कल प्रथम से बहुत सहायता प्राप्त हुई। कृष्ण द्वितीय भी अपने पिता की तरह जैन सिद्धान्तों से प्रभावित था। गुणभद्र नामक जैनाचार्य उसके गुरु थे।

इन्द्र तृतीय—९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय की देहान्त हो जाने पर उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासनारूढ़ होने पर इन्द्र तृतीय की आयु पचास वर्ष की थी और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया। किन्तु अपने अति संक्षिप्त काल में ही इन्द्र तृतीय ने अपने को पराक्रमी योद्धा प्रमाणित किया। उसने जिस समय सिंहासन पर चरण रखे गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति शोचनीय थी। पारस्परिक कलहों के कारण राजवंश की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा और सामन्तों की स्वामिभक्ति विभाजित हो जाने से उसकी शक्ति का भी बहुत ह्रास हुआ। प्रतिहार साम्राज्य की ऐसी स्थिति देख कर इन्द्र तृतीय ने इस पर आक्रमण करने का विचार किया। गोविन्द तृतीय ने जिस समय प्रतिहार नृपति नागभट्ट पर आक्रमण किया था उस एक सुन्दर समय का

[1] जित्वा सपति कृष्णवल्लभमहादण्डं सहायादिकम्
भीमो भूपतिरन्वभूत भुवनम् ॥

मुकाबिला करना पड़ा था। किन्तु इन्द्र तृतीय के आक्रमण का सामना करने के लिए किसी संघ का निर्माण न किया जा सका क्योंकि जैसा कहा जा चुका है इस समय प्रतीहार साम्राज्य राजवंश के पारस्परिक झगड़ों के कारण जर्जर हो रहा था।

अभाग्यवश इन्द्र तृतीय के आक्रमण का कोई सविस्तार विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। सम्भात पत्र लेखों से विदित होता है कि पहले उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया।[1] इसके बाद यमुना नदी को अवतीर्ण करके उसने कन्नौज जीत लिया। गुर्जर प्रतीहार सम्राट महीपाल भाग गया हुआ और इन्द्र तृतीय के एक सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका पीछा किया। इस प्रकार की गौरवमयी सफलता गोविन्द तृतीय तथा ध्रुव धारावर्ष को भी न प्राप्त हो सकी थी। यदि इन्द्र तृतीय की असामयिक मृत्यु न हुई होती तो सम्भव था कि राष्ट्रकूटों की विजय पताका उत्तरी भारत के पर्याप्त भागों पर भी फहरा गई होती और वे भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित हो गये होते।

इन्द्र तृतीय की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय राष्ट्रकूट वंश का राजा हुआ। किन्तु अमोघवर्ष का शासन काल अपने प्रतापी पिता के शासन काल की अपेक्षा कहीं संक्षिप्त था और एक वर्ष तक राज्य करने के पश्चात पच्चीस वर्ष की अवस्था में अमोघवर्ष का देहान्त हो गया। इसके बाद गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। साँगली पत्रलेखों से विदित होता है कि गोविन्द चतुर्थ कामदेव का सदृश रूपवान था। उसका अधिकांश समय भोग विलास में व्यतीत हुआ करता था और सुन्दरी नवयुवतियों का समूह उसे सदा घेरे रहा करता था। वह शासन कार्यों से विरक्त रहा करने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके मन्त्रिगण उसके विरुद्ध हो गए और उसके सामन्तों ने विरोध कर दिया। लेख के शब्दों में अपनी बुद्धि के नारियों के नयनपाश से निबद्ध हो जाने के कारण उसने सब को विमुख कर दिया।[2] वेंगी के चालुक्यराज भीम द्वितीय के विरुद्ध युद्ध करने में उसे विफलता प्राप्त हुई। गोविन्द चतुर्थ को पुलगिरि के अरिकेसरिन द्वितीय के से सामन्तों तक ने बड़ा कष्ट दिया। यह कहा जा चुका है कि गोविन्द चतुर्थ की शासन विमुखता तथा भोगलिप्तता से रुष्ट होकर उसके सामन्तों ने उसके विरुद्ध युद्ध कर दिया और अमोघवर्ष तृतीय वद्दिग से इस बात का निवेदन किया कि वह राष्ट्रकूट वंश के गौरव की रक्षा करने के लिए स्वयं राज्यभार ग्रहण करे।[3]

अमोघवर्ष तृतीय (९३५–९३९ ई०) धार्मिक अभिरुचि का व्यक्ति था। उसने अपने पुत्र कृष्ण तृतीय के लिए शासन भार सौंप दिया। अपने यौवराज्य काल में कृष्ण तृतीय ने अपने बहनोई पश्चिमी गंग के राजा बुतुग द्वितीय को तलकाड का सिंहासन फिर से प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। यद्यपि अमोघवर्ष तृतीय

---

[1] यन्माद्यद्द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्राङ्गणम्
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्धिनी।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मूलितम्
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते ॥

[2] सोऽप्यङ्गनानयनपाशनिरुद्धबुद्धिः … सन्मार्गसमविमुखीकृतसर्वसत्त्वः"

[3] सामन्तैरथ रट्टराज्यमहिमालम्बार्थमभ्यर्थितः।

ने त्रिपुरी के कलचुरी केयूरवर्ष युवराज प्रथम की कन्या से अपना विवाह किया तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि कलचुरियों और राष्ट्रकूटों में कुछ अनबन हो गई। कृष्ण तृतीय ने कलचुरियों को परास्त किया और कालिंजर पर अपना अधिकार जमा लिया।

कृष्ण तृतीय—सन् ९३९ ई० के दिसम्बर मास में कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। अपने पिता के समय में वह अपनी वीरता का परिचय दे चुका था किन्तु अपने राज्याभिषेक के पूर्व उसने रण अभियान प्रारम्भ नहीं किया। उसकी वीरता और योग्यता का सिक्का लोगों के ऊपर अच्छी तरह जम चुका था अतएव उसके राज्यारोहण के समय किसी प्रकार का उपद्रव नहीं हुआ। कृष्ण तृतीय ने एक भयंकर युद्ध के उपरान्त चोलों को गहरी पराजय दी। इस युद्ध में चोल युवराज राजादित्य को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। चोलों के विरुद्ध युद्ध करने में कृष्ण तृतीय को अपने बहनोई बुतुग द्वितीय से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई थी। अतएव राष्ट्रकूट सम्राट ने बनवासी तथा अन्य प्रदेश गंगराज को दे दिया। कृष्ण तृतीय के कई अभिलेख दक्षिणी अरकाट, उत्तरी अरकाट और चित्तलदुर्ग के जिलों में प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों में उसे तंजोर और कांची का विजेता कहा गया है। ये अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि कृष्ण तृतीय ने तोंडमण्डलम (उत्तरी और दक्षिणी पेन्नार नदियों के बीच का प्रदेश) को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। वेंगी के सिंहासन पर कृष्ण तृतीय ने अपने समर्थक यादव को प्रतिष्ठित किया। परमार वंश के राजा सियक द्वितीय को उसने पराजित किया लेकिन परमारों की शक्ति के विकास को रोकने में उसे कोई स्थायी सफलता न प्राप्त हो सकी। दक्कन में कृष्ण तृतीय ने अपने पौरुष से राष्ट्रकूटों का आधिपत्य फिर से स्थापित किया लेकिन उत्तरी भारत में उसे विशेष सफलता न प्राप्त हुई। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि उसने अपने राज्याभिषेक के बाद मध्य भारत के कुछ प्रदेश जीते थे। यशोवर्मन प्रथम और धंग के अधीन चन्देलों की शक्ति का उदय हो जाने के कारण कृष्ण तृतीय उत्तर भारत में अपनी विजय पताका न फहरा सका। सुदूर दक्षिण में उसने पाण्ड्य और केरल राज्यों के शासकों पर विजय प्राप्त की थी। लंका के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली जिसके उपलक्ष्य में कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् में अपने विजयस्तम्भ खड़े किये।

अपनी आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए कृष्ण तृतीय ने सामन्तों का संगठन एक नए और स्थायी आधार पर किया। सभी सामन्त सरदारों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण किया। उसने अपने कुछ अविश्वस्त सरदारों से उनकी भूमि छीन ली और उनके स्थान पर अपने समर्थकों को भूमि प्रदान करके उन्हें अपना सामन्त बनाया। उसने इस प्रकार के नियम बनाए जिनसे उसके सामन्तों में विघटन और अनैक्य की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। कृष्ण तृतीय ने एक चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति यह अनुभव किया कि जब तक उसके सामन्तों की शक्ति कम न की जायगी, राज्य की आन्तरिक स्थिति पूर्णरूपेण निरापद और सुदृढ़ न होने पायेगी। कृष्ण तृतीय के ये सुधार इंगलैण्ड के राजा विलियम विजेता के सुधारों से काफी समानता रखते हैं। दक्षिण में उसने जिन स्थानों को विजित किया वहाँ पर उसने अपने समर्थकों को शासक नियुक्त कर दिया और उन्हें आन्तरिक शासन के मामलों में काफी सुविधा भी प्रदान की। इस प्रकार दक्षिण में कृष्ण तृतीय ने जो उपनिवेश स्थापित किये उससे भी उसकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश का एक योग्य शासक था। उसके किसी भी पूर्वाधिकारी ने प्रायद्वीप के भाग पर उतना सुदृढ़ अधिकार नहीं स्थापित किया था जितना कि उसने। गोविन्द तृतीय जैसा पराक्रमी विजेता भी पल्लव राजाओं के अधीनस्थ भागों पर अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित नहीं कर पाया था। वेंगी के सिंहासन पर गोविन्द तृतीय अपने किसी समर्थक या मनोनीत व्यक्ति को अधिष्ठित नहीं कर सका था। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्ण तृतीय एक योग्य शासक और सफल योद्धा था। पोन्न नामक कवि को उसने अपनी राजसभा में सम्माननीय स्थान दिया। पम्प नामक कन्नड कवि भी उसके किसी सामन्त की सभा को सुशोभित करता था।

राष्ट्रकूट वंश का पतन—कृष्ण तृतीय अपने वंश का अन्तिम महान शासक था। उसकी मृत्यु (९६८ ई०) के पश्चात राष्ट्रकूटों का गौरवसूर्य अस्त होने लगा। खोट्टिग जो कृष्ण तृतीय का भ्राता और उत्तराधिकारी था इतना शक्तिहीन प्रमाणित हुआ कि उसके शासनकाल में मालवा के परमार नरेश सीयक हर्ष ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट तक पर अपना अधिकार जमा लिया। खोट्टिग का भतीजा और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय था जिसके अधिकार से ९७३ ई० में तैल द्वितीय ने राजसिंहासन छीन लिया। तैल ने कल्याणी के चालुक्य राजवंश की नींव डाली। इस प्रकार राष्ट्रकूटों की शक्ति का पतन हो गया।

राष्ट्रकूटों के राज्य में धर्म, कला और साहित्य की अवस्था

राष्ट्रकूट राजाओं के समय तक दक्कन में पौराणिक हिन्दू धर्म अच्छी तरह से जड़ जमा चुका था। राष्ट्रकूटों के दानपत्र शिव या विष्णु के नाम से प्रारम्भ होते हैं और उनकी मुहर पर या तो विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृति होती है अथवा योगी मुद्रा में आसीन शिव की। हम आज के हिन्दू देवालयों में शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित देखते हैं। यही बात हम राष्ट्रकूट काल के दक्षिणापथ में भी पाते हैं। एक ही मन्दिर में विभिन्न देवी देवताओं की प्रतिमायें होती थीं जिनके चरणों में भक्तगण अपनी अर्चना समर्पित करते थे। दसवीं शताब्दी में बीजापुर जिले के सालतोगी नामक स्थान में एक देवालय था जिसमें ब्रह्मदेव, शिव और विष्णु की सम्मिलित रूप से पूजा की जाती थी। करगदी में इसी प्रकार का दूसरा मन्दिर था जिसमें शंकर, विष्णु और भास्कर की पूजा का प्रबन्ध था। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साथ साथ जैन तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी राष्ट्रकूट नरेशों तथा उनके प्रजाजनों का व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। गुजरात शाखा का कर्कसुवर्ण स्वयं कट्टर शैव था किन्तु नौसारी में उसने जैन विहार को एक क्षेत्र दान में दिया। अमोघवर्ष ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था किन्तु हिन्दू धर्म की देवी महालक्ष्मी के प्रति उसके हृदय में इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उसने देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने बायें हाथ की उंगली काटकर चढ़ा दी थी। गुजरात शाखा का दन्तिवर्मन पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था किन्तु उसने बौद्ध विहार को एक ग्राम दान में दे दिया था। मुल्गुन्द के ब्राह्मण परिवारों ने ९०२ ई० में जैन विहार को एक क्षेत्र दान किया था। इस काल की धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध में सौन्दत्ति के रट्टों के लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। महासामन्त पृथ्वीराम ने जो कृष्ण द्वितीय का समकालीन था एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। उसका पौत्र जैन था किन्तु पृथ्वीराम के पौत्र का पौत्र हिन्दू था और उसने अपने गुरु को जो तीन वेदों में पारंगत था १२ निवर्तन भूमि दान में दी थी।

उसके पुत्र श्रीसेन ने एक जैन मंदिर बनवाया था। राष्ट्रकूटों के उदार शासन के अधीन दक्षिणापथ में पौराणिक हिन्दू धर्म और जैन धर्म दोनों ही फूले फले। किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का निस्संदेह ह्रास हुआ और अमोघवर्ष प्रथम के कुछ अभिलेखों के अनुसार दक्कन में इस सम्प्रदाय का केन्द्र कन्हेरी था।[१]

राष्ट्रकूट राजाओं ने विदेशियों के साथ भी अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया। हम पीछे देख चुके हैं कि चालुक्यों के समय में पारसियों को किस प्रकार अपने उपनिवेश स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार की उदारता राष्ट्रकूट राजाओं ने अरबों के प्रति दिखलाई। लेकिन उन्होंने अरब व्यापारियों को व्यापारिक और धार्मिक सुविधायें ही प्रदान कीं उनके साथ किसी प्रकार का राजनीतिक गठबन्धन नहीं किया। डा० अल्तेकर का कथन है कि इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राष्ट्रकूट राजाओं ने गुर्जर प्रतीहारों से युद्ध करने के लिए सिन्ध के अरब शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

कला—कला के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों की कोई विशिष्ट तथा मौलिक देन नहीं है। डा० अल्तेकर हमें बताते हैं कि मौर्यों, गुप्तों, चालुक्यों और पल्लवों की ललित कलाओं के क्षेत्र में अपनी अपनी विशिष्ट तथा प्रशंसनीय देन रही हैं किन्तु राष्ट्रकूट युग के लिए इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि मालखेड राजसभा में ललित कलाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।[२] फिर भी कृष्ण प्रथम के समय में एलौरा के कैलाश मंदिर का निर्माण कराया गया। यह मंदिर चट्टानों को काटकर बनवाया गया है। इसकी अद्भुत निर्माण-कुशलता वस्तुतः प्रशंसनीय है। एक राष्ट्रकूट लेख में इस मंदिर की प्रशंसा इन शब्दों में की गई है—अपने रथों में समासीन देवगण आकाश में विचरण कर रहे थे किन्तु वे इस मंदिर को देखकर विस्मय विमुग्ध हो गये और उन्होंने कहा कि यह स्वयमेव निर्मित हो गया होगा, मनुष्यों ने इसे नहीं बनाया होगा। एलौरा का कैलाश मंदिर भगवान् शिव के निमित्त निर्मित किया गया है और इसकी भित्तियों पर अन्य देवी देवताओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। कुछ भित्ति चित्रों में गंगावतरण का दृश्य दिखलाया गया है और एक चित्र में रावण कैलाश पर्वत को उठाते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र के विषय में प्रसिद्ध कला समालोचक स्वर्गीय आनन्दकुमार स्वामी का कथन है कि इसमें पर्वत के हिलने की अनुभूति होती है और पार्वती शिव की ओर मुड़कर भय से उनका हाथ दृढ़तापूर्वक पकड़ लेती है जब कि उनकी कुमारी भाग खड़ी होती है किन्तु महादेव बिलकुल स्थिर हैं और अपने चरण दबाकर निखिल पर्वत को सम्भाले हैं।[३] एलौरा के मंदिर पर चालुक्यों की मंदिर निर्माण कला का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। डा० अल्तेकर का अनुमान है कि यह मंदिर सम्भवतः उन कलाकारों ने बनाया होगा जिनको काञ्ची

---

[१] *Rastrakutas and Their Times* p 273

[२] *Ibid*, p 418

[३] Here the quivering of the mountain has been felt and Parvati turns to Siva and grasps his arm in fear while her maid takes to flight but the Great God is unmoved and holds all fast by pressing down his foot

से बुलवाया गया था। विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि ठोस चट्टान को काटकर बनाया हुआ यह अद्भुत देवमन्दिर भारत के वास्तु आश्चर्यों में सर्वाधिक विस्मयजनक है।[1]

शिक्षा और साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के शासन काल में शिक्षा और साहित्य की उन्नति हुई। उनके राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। वे शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रचुर दान दिया करते थे। अमोघवर्ष प्रथम के शासनकाल में कन्हेरी के बौद्ध विहार को महाविद्यालय ने पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ द्रव्य दान में दिया था। इससे स्पष्ट है कि वलभी के बौद्ध विहार की भाँति कन्हेरी के बौद्ध विहार में भी एक पुस्तकालय था। सालोतगी (जिला बीजापुर) के एक अभिलेख में एक विद्यालय के विषय में हमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। इस विद्यालय में दूर दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे जिनके निवास के लिए उसमें २७ छात्रावास बने हुए थे। लगभग साठ एकड़ भूमि की आय का उपयोग विद्यालय में प्रकाश का प्रबन्ध करने के लिए किया जाता था। २५० एकड़ भूमि की आय विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में प्राप्त होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में शिक्षणसंस्थाओं को राज्य तथा धनी मानी लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुआ करती थी।

साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन अभिलेखों के रचयिता काव्य कला से भली भाँति परिचित थे। यह सत्य है कि वे गुप्तकालीन अभिलेखों के रचयिताओं की भाँति सिद्ध कवि नहीं थे किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सम्यक्रूपेण अध्ययन किया था। कीलहार्न नामक विद्वान् का कथन है कि राष्ट्रकूट राजाओं के शासनों के रचनाओं की शैली सुबन्धुरचित वासवदत्ता तथा बाणरचित कादम्बरी एवं हर्षचरित की शैलियों की पहचान कराती है। राष्ट्रकूट राजाओं ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया। अमोघवर्ष स्वयं लेखक था और उसने कन्नड़ भाषा में काव्यशास्त्र पर कविराजमार्ग नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन पण्डितों का समादर किया और उन्हें अपनी राजसभा में स्थान दिया। जैन पण्डितों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन ने हरिवंश नामक ग्रन्थ का प्रणयन ७८३ ई० में समाप्त किया। उन्होंने आदिपुराण लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु इसे समाप्त करने के पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गये। अपने पार्श्वाभ्युदय नामक ग्रन्थ में उन्होंने पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने महाकवि कालिदास के अमर काव्य मेघदूत के श्लोक प्रयुक्त किये हैं। अमोघवर्ष प्रथम के ही शासन काल में अमोघवृत्ति की रचना शाकटायन ने की और वीराचार्य के गणितसारसंग्रह का प्रणयन भी इसी समय हुआ। पोन्ना नामक कवि कन्नड़ तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचना करता था अतएव उसे उभयकवि चक्रवर्तिन की उपाधि दी गई थी। पोन्ना की प्रमुख रचना शान्तिपुराण है। पम्पा ने कृष्ण तृतीय के समय में भारत लिखा। पोन्ना और पम्पा कन्नड़ भाषा के तीन रत्नों में से हैं। तीसरे कवि का नाम रन्ना है। इन तीनों कवियों का आज भी बड़े आदर के साथ कन्नड़ भाषाभाषी नाम स्मरण करते हैं। राष्ट्रकूट युग तक मराठी भाषा में साहित्य रचना का कार्य आरम्भ नहीं हुआ था।

---

[1] *Early History of India* p 445

निष्कर्ष—राष्ट्रकूट वंश में कुल मिलाकर चौदह नृपति हुए जिनमें दन्तिदुर्ग, कृष्ण प्रथम, ध्रुव, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय और कृष्ण तृतीय काफी सफल शासक थे। अमोघवर्ष प्रथम पूर्णतया सफल शासक नहीं था किन्तु उसके व्यक्तित्व में कुछ विशिष्ट गुण थे जिनके कारण उसे महान कहा जा सकता है। गुप्तवंश को छोड़कर अन्य किसी भी राजवंश ने सम्भवतः इतनी अधिक संख्या में सफल शासकों को जन्म नहीं दिया। उत्तराधिकार के प्रश्न पर कई बार राष्ट्रकूट वंश के राजकुमारों में पारस्परिक मतभेद हुआ किन्तु राज्य की आन्तरिक अवस्था विशेष गड़बड़ और अशान्तिपूर्ण न होने पाई। सुलेमान ने राष्ट्रकूट राजाओं के लिए लिखा है कि वे भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली शासक थे और देश के अन्य शासक उनसे भयभीत रहा करते थे। राष्ट्रकूटों ने व्यापार की उन्नति को प्रोत्साहन दिया। भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का पता चलता है कि अधिकतर उत्तरापथ के राजाओं ने ही दक्षिणापथ पर आक्रमण किया परन्तु राष्ट्रकूटों के समय में पासा पलट गया। उनके समय में गुर्जर प्रतिहार या पालवंश के नरेश दक्कन पर आक्रमण करने का साहस न कर सके। इसके विपरीत जैसा कि हमने देखा है राष्ट्रकूटों के द्वारा इन दोनों वंशों के राजाओं को अपने ही राज्यों में पराजय स्वीकार करना पड़ी। राष्ट्रकूटों ने गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया किन्तु इस पराजय के प्रतिशोध स्वरूप गुर्जर प्रतिहार नरेश राष्ट्रकूट राज्य की सीमा का अतिक्रमण न कर सके। चालुक्य वंश के प्रारम्भिक नरेशों को पल्लवराजवंश के द्वारा काफी परेशानी उठानी पड़ी किन्तु राष्ट्रकूटों के विरुद्ध दक्षिण भारत का कोई भी राजवंश अपना सिर न उठा सका।

स्थायित्व की दृष्टि से भी राष्ट्रकूट वंश का महत्त्व काफी अधिक है। राष्ट्रकूटों का साम्राज्य २२५ वर्षों तक टिका रहा। बहुत कम हिन्दू राजवंशों का गौरव इतने अधिक काल तक बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट राजाओं ने राजनीतिक उत्कर्ष को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था।

नरेश मुञ्ज के साथ उसका बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा। मेरुतुंग नामक समकालीन लेखक का कथन है कि मुंज ने तैलप को कम से कम छः बार परास्त किया। किन्तु अंतिम युद्ध में मुंज पराजित होने पर बन्दी बना लिया गया और तैलप द्वितीय की आज्ञा से उसका वध कर दिया गया (९९५ ई०)। तैलप द्वितीय ने २४ वर्ष तक राज्य किया और ९९७ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई। कन्नड़ भाषा का प्रसिद्ध कवि रन्न तैलप द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारियों का राजकवि था।

✓ सत्याश्रय—तैलप द्वितीय के पश्चात् पश्चिमी चालुक्यों का स्वामी सत्याश्रय हुआ। सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०) चोल नरेश राजराज का समकालीन था। उसके शासनकाल में चोलों की राजशक्ति का बहुत अधिक उत्थान हुआ। राजराज प्रथम चोल की सेनाओं ने सत्याश्रय राज्य में मृत्यु का ताण्डव नृत्य कर दिया। उसने गंगवाडी और नोलम्बवाडी के (दक्षिणी और उत्तरी मैसूर) प्रदेशों को जीत लिया। फिर भी सत्याश्रय ने अपनी शक्ति का पुनः संगठित करने में सफलता प्राप्त की और दक्षिण में चोलों से कुछ प्रदेश जीते। नर्मदा नदी के मुहाने के निकटवर्ती प्रदेशों के लिये अन्हिलवाड के राजाओं और सत्याश्रय के बीच युद्ध छिड़ गया। सत्याश्रय १००८ ई० में मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके भतीजे विक्रमादित्य ने दस वर्ष तक शांतिपूर्ण परिस्थितियों से शासन किया।

(२) ✓ सन् १०१८ ई० में जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने चोलों, अन्हिलवाड के चालुक्यों अथवा सोलंकियों और मालवा के परमारों से युद्ध जारी रक्खा। जयसिंह द्वितीय के समय में शक्तिशाली सामन्तों का उदय हुआ और उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ा ली। वास्तव में वे स्वतन्त्र हो गये थे और नाममात्र के लिए ही सम्राट की अधीनता स्वीकार किये हुए थे। कई स्थानों पर उन्होंने स्पष्ट रूप से सम्राट की शक्ति को चुनौती देते हुए विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। यादव और कुन्तल सरदारों का जयसिंह द्वितीय ने सफलतापूर्वक दमन किया। उसने अपनी बहिन अक्कादेवी को कुन्तल का शासक नियुक्त किया। जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल ने सम्भवतः चोलों से कुछ प्रदेश जीत लिए किन्तु शीघ्र ही चोलों ने पुनः अपना राज्य तुंगभद्रा नदी तक फैला दिया। जयसिंह द्वितीय ने परमार वंशीय नरेश भोज को परास्त करके मालव मद नष्ट कर दिया और इस प्रकार भोज का साम्राज्य स्वप्न टूट गया।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-१०६८ ई०)—जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम नृपति हुआ। उसने अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में ही चोलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। १०५२ ई० में वर्तमान कोल्हापुर के निकट कृष्णा नदी के तट पर कोप्पम नामक स्थान में सोमेश्वर प्रथम और चोलों में मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में चोल नृपति राजाधिराज प्रथम को वीरगति प्राप्त हुई किन्तु विजयश्री चोलों के हाथ रही और उन्होंने कोल्हापुर में अपना एक विजय-स्तम्भ खड़ा किया। डा० रमाशंकर त्रिपाठी चोल अभिलेखों के उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं— चोलों के अभिलेखों का वक्तव्य है कि उनमें भयंकर चालुक्य को प्रभूत क्षति उठानी पड़ी। सत्य चाहे जो हो इतना निश्चित है कि १०५२ ई० के कोप्पम के युद्ध को जिसमें राजाधिराज प्रथम ने अपने प्राण खोए, परिणाम निश्चय चोलों के पक्ष में नहीं हुआ। विक्र

मार्कण्डेयचरित का प्रख्यात रचयिता विल्हण तो यहाँ तक कहता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल शक्ति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र काञ्ची तक पर आक्रमण कर दिया था।[1] १०६१ ई० में सोमेश्वर प्रथम ने इस बात का प्रयत्न किया कि चोलों के युद्ध में उसे जो क्षति उठानी पड़ी है उसकी वह पूर्ति करे। किन्तु १०६२ ई० में उसे पुनः चोलों से पराजय उठानी पड़ी। यह युद्ध कृष्णा और तुंगभद्रा नामक नदियों के संगम पर कुदलसंगमम् नामक स्थान में हुआ था।

चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर प्रथम को सफलता न प्राप्त हो सकी किन्तु उसने मालवा के राजा भोज परमार के विरुद्ध राजाओं के संघ में भाग लिया और उसकी शक्ति को तहस-नहस कर दिया। बाद में भोज की पराजय के बाद अनहिलवाड़ के भीम प्रथम, लक्ष्मीकर्ण कलचुरी और सोमेश्वर प्रथम के बीच लूट की वस्तुओं के सम्बन्ध में झगड़ा उत्पन्न हो गया। सोमेश्वर प्रथम ने लक्ष्मीकर्ण को पराजित किया। उसकी शक्ति का लोहा कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारों को भी मानना पड़ा। सोमेश्वर प्रथम एक भयंकर व्याधि से पीड़ित था। जब चिकित्सक रोग नष्ट करने में असमर्थ हो गये तो उसने अपनी व्याधि की असाध्यता का विचार करके तुंगभद्रा नदी में डूब जाना उचित समझा। इस प्रकार उसने परमयोग व्रत के अनुष्ठान द्वारा अपना प्राण त्याग दिया।

सोमेश्वर प्रथम अपने कुल का एक विख्यात और प्रतापी शासक था। उसकी वीरता इसी बात से सिद्ध होती है कि उसने उत्तरी भारत की दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों परमार और गुर्जर प्रतीहार को भयसन्त्रस्त कर दिया। आहवमल्ल (युद्ध में कुशल) उपाधि उसने निरर्थक ही धारण नहीं की थी। चोलों द्वारा कई बार पराजित होने पर भी सोमेश्वर प्रथम ने अपने राज्य की शासन-व्यवस्था को शिथिल नहीं होने दिया। उसके नेतृत्व में चालुक्य शक्ति इतनी प्रबल हो उठी कि उसका प्रभाव भारत के दूरस्थ प्रदेशों पर भी पड़ा। किन्तु उसकी शासन-व्यवस्था सामन्तीय थी। उसने छः विवाह किये थे जिनमें से दो को उसने प्रान्तीय शासकों के पद पर अधिष्ठित कर रखा था। मैलला देवी बनवासी प्रदेश का शासन करती थी और केतला देवी राजापुर की प्रशासिका थी। केतला देवी एक धर्मात्मा स्त्री थी और अपने राज्य की आय का ¼ भाग वह मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को दे देती थी। उसके पुत्रों को भी विभिन्न प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया गया था। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि सोमेश्वर प्रथम के शासनकाल में सम्पूर्ण शक्ति राजवंश में ही केन्द्रित कर दी गई थी और जनता के किसी वर्ग को भी शासन के उच्च पदों को प्राप्त करने का अधिकार नहीं प्रदान किया गया था। सोमेश्वर प्रथम ने यादवों, शीलाहारों, होयसलों और कदम्बों को दबाकर रखा था किन्तु उसके शासन-काल में ही ये लोग अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे और उसकी मृत्यु के बाद ये एक बार स्वतन्त्र हो गये। सोमेश्वर प्रथम अपने धार्मिक विश्वासों में शैव था। उसी ने कल्याण में अपनी राजधानी बसाई और उस नगरी को भवनों तथा मन्दिरों के निर्माण द्वारा समलंकृत कर दिया।

सोमेश्वर प्रथम ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय को अपना युवराज निर्वाचित कर दिया था, अतएव उसकी मृत्यु के बाद

[1] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ३१३।

वह राजा हुआ। सोमेश्वर द्वितीय ने भुवनैकमल्ल की उपाधि धारण की थी। अपने अभिलेखों में भुवनैकमल्ल यह दावा करता है कि उसने अपने राज्यारोहण के कुछ ही समय बाद चोल आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया और आक्रमणकारी को पीछे धकेल दिया किन्तु चोल अभिलेखों में लिखा गया है कि आक्रमण में सफलता चोलों को ही प्राप्त हुई और उन्होंने काम्पिलि नामक चालुक्य-नगर को ध्वस्त कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय केवल आठ वर्ष तक ही शासन कर पाया था कि उसके अनुज विक्रमादित्य ने उसको सिंहासनच्युत कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय शैव मतानुयायी था और उसके समय में दक्षिणापथ में शैव मत का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६–११२६ ई०)—विक्रमादित्य षष्ठ अपने कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक था। समकालीन नृपतियों की पंक्ति में भी उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसने अपने राज्य में प्रचलित शक-संवत् को नष्ट करके अपने राज्यारोहण के वर्ष से प्रारम्भ होने वाला एक नया संवत् चलाया। उसने विक्रमांक और त्रिभुवनमल्ल के विरुद भी धारण किये। राजसिंहासन हस्तगत करने के बाद विक्रमादित्य षष्ठ को अपने भाई के समर्थकों के विद्रोह का सामना करना पड़ा किन्तु यह विद्रोह कुचल दिया गया। अपने शासन के शुरू में ही उसने चोलों से युद्ध किया। उसके होयसल सामन्तों ने १११७ ई० के लगभग चोलों से तलकाड का प्रदेश छीन लिया किन्तु होयसल लोग काफी शक्तिशाली हो गये थे और वे विक्रमादित्य षष्ठ की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। उसके शासन के अन्तकाल में चोल राजा कुलोत्तुंग प्रथम ने उसके ऊपर आक्रमण किया, किन्तु विक्रमादित्य षष्ठ ने उसको पराजित कर दिया। इसी प्रकार होयसल विष्णुवर्धन के विरुद्ध भी विक्रमादित्य को सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि विक्रमादित्य को कई बार अपनी तलवार म्यान से निकालनी पड़ी उसका शासन काल सामान्यतः शांतिपूर्ण ही कहा जायगा। उसने अपने विस्तृत साम्राज्य पर बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से शासन किया। वह प्रारम्भ में कदाचित् जैन था किन्तु बाद में वह शैव मत का अनुयायी हो गया। उसके एक अभिलेख में कहा गया है 'उसके राज्य में दुर्भिक्ष अथवा संक्रामक रोगों का प्रकोप कभी नहीं हुआ'। सभी देशों के निर्धनों के प्रति उसकी उदारता असीमित थी। उसने धर्मकार्यों के लिए अनेक भवन बनवाये और कल्याण में एक विष्णु मन्दिर का निर्माण किया। विक्रमादित्य षष्ठ ने काश्मीर के प्रसिद्ध कवि बिल्हण को बुलाकर अपनी राजसभा में आदरपूर्ण स्थान दिया। बिल्हण ने अपने आश्रयदाता का जीवनचरित विक्रमांकदेवचरित नामक ग्रन्थ में लिखा। विक्रमांकदेवचरित से विक्रमादित्य षष्ठ के जीवन की घटनाओं के विषय में कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है परन्तु इस ग्रन्थ में वर्णित समस्त तथ्यों की ऐतिहासिक सत्यता में सन्देह किया जा सकता है। कुछ विषयों का वर्णन निश्चयरूप से अतिरंजनप्रधान शैली में किया गया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि विक्रमादित्य षष्ठ एक महान् नृपति था। उसके समय में विज्ञानेश्वर ने हिन्दुओं के लिए मिताक्षरा नामक कानून की पुस्तक लिखी। विज्ञानेश्वर ने विक्रमादित्य षष्ठ और उसकी राजधानी कल्याण के विषय में लिखा है 'इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर कल्याण और विक्रमादित्य की भाँति कोई नगर और नृपति न है न कभी हुआ है और न होगा।' अभिलेखों में विक्रमादित्य की छः रानियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनको उसने प्रांतीय गवर्नरों के पद पर नियुक्त कर रखा था। कल्याण के अतिरिक्त उसके

साम्राज्य में अन्य प्रसिद्ध नगर जैसे देवगिरि, द्वारसमुद्र, बनवासी और विजयपुर थे जहाँ पर उसके सामन्तों की राजधानियाँ थीं। (– मुख्य विस्तार,

विक्रमादित्य के बाद—विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु ११२७ ई० में हुई। उसके देहावसान के उपरान्त शीघ्र ही केन्द्रीय सरकार की शक्ति छिन्न भिन्न होने लगी। उसके पुत्र सोमेश्वर तृतीय का शासन केवल नाम का ही था। सोमेश्वर तृतीय एक शक्तिशाली शासक नहीं था अतएव कल्याण के चालुक्यों का साम्राज्य निरन्तर ह्रासोन्मुख होने लगा। किन्तु सोमेश्वर विद्यानुरागी और विद्वान था। उसने मानसोल्लास नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें विविध विषयों का विवेचन किया गया है। मानसोल्लास में यह बताया गया है कि राजनीतिक शक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है इसका उपभोग किस रीति से करना चाहिए जिससे यह चिरस्थायी हो सके। इस ग्रन्थ में वाह्निक सुखों और अन्य प्रकार के मनोरञ्जन प्रदान करनेवाले साधनों का मुख्य विवेचन किया गया है। मानसोल्लास से यह स्पष्ट पता चलता है कि सोमेश्वर तृतीय को राजनीति, न्याय, प्रशासन, चिकित्सा, ज्योतिष, [illegible] हस्तिविद्या (हाथियों को पकड़ने तथा उनकी नस्ल पहचानने की रीति) शस्त्रविद्या और अलंकारशास्त्र आदि विभिन्न विषयों का सम्यक ज्ञान था। सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय (११३८–११५१ ई०) था जिसने [illegible] सेना को आगे बढ़ने से रोका और परमार वंश के राजा जयवर्मन पर आक्रमण करके उससे मालवा का एक भाग छीन लिया। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि चालुक्य राजा जगदेकमल्ल ने संगीत-चूड़ामणि नामक पुस्तक लिखी। जगदेकमल्ल सामर्थ्यवान तो था किन्तु उसके समय में भी चालुक्य सत्ता का ह्रास रुका नहीं। वास्तविक बात यह थी कि सामन्तों की शक्ति बढ़ जाने के कारण चालुक्यों की शक्ति को बहुत धक्का पहुँचा। हम देख चुके हैं कि सबसे प्रतापी और प्रसिद्ध चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के समय में भी उसके सामन्त स्वतन्त्र थे। आवश्यकता इस बात की थी कि कोई चतुर राजनीतिज्ञ सामन्तों को अपनी ओर मिला लेता और उनके हितों को राज्य के हित का रूप प्रदान किये होता। होयसल विष्णुवर्धन सबसे अधिक प्रभावशाली सामन्त था। कृष्णा नदी के दक्षिण में जितने भी सामन्त थे उन सब को उसने अपने अधीन कर लिया। ये सामन्त विष्णुवर्धन को कर दिया करते थे। विष्णुवर्धन ने गोआ को जीत लिया था और नोलम्बवाडी अथवा पूर्वीय मैसूर पर अपना अधिकार जमा लिया। उधर यादवों ने भी उत्तर में अपनी शक्ति बढ़ा ली। जगदेकमल्ल द्वितीय के बाद तैलप तृतीय कल्याण के सिंहासन पर बैठा। तैलप तृतीय को काकतीय नरेश प्रोल ने पराजित कर दिया। इस पराजय से चालुक्य वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा जिससे लाभ उठा कर मन्त्री बिज्जल ने जो सम्भवतः कलचुरी वंश का था राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया (११५६ ई०) और तैलप तृतीय को कल्याण के बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार कल्याण में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। फिर भी तैलप तृतीय अपने राज्य के एक छोटे से भाग पर ११६२ ई० तक शासन करता रहा।

कल्याण में कलचुरी आधिपत्य और लिंगायत सम्प्रदाय—तैलप तृतीय के मन्त्री बिज्जल कलचुरि ने ११५६ ई० में राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। सात वर्ष तक शासन करने के बाद उसने ११६३ ई० में सिंहासन त्याग दिया। बिज्जल के उत्तराधिकारियों का अधिकार ११८ ई० तक स्थापित रहा। कलचुरी आधिपत्य के समय में वीर शैव मत अथवा लिंगायत सम्प्रदाय का दक्षिणापथ में काफी प्रचार

बढ़ा। बिज्जल की मृत्यु के बाद वासव लिंगायत सम्प्रदाय का संस्थापक था। कन्नड़ भाषा-भाषी मैसूर देश में आज भी लिंगायतों की संख्या काफी अधिक है। ये लोग वेदों की अपौरुषेयता तथा सर्वमान्यता नहीं मानते और शिव के लिंग रूप तथा उनके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। उनके पुरोहित भी ये अपने हैं जिनमें वागर गुरु प्रख्यात हैं। ये वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते और परम्परागत हिन्दुत्व की सामाजिक तथा सैद्धान्तिक व्यवस्था से भी उनका विरोध है। लिंगायत सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म और बाल विवाह में विश्वास नहीं करते। ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता को वे स्वीकार नहीं करते प्रत्युत यों कहना चाहिए कि वे इसका प्रबल विरोध करते हैं यद्यपि लिंगायत सम्प्रदाय के संस्थापक बसव थे जिनका जन्म ब्राह्मण परिवार में ही हुआ था। लिंगायत लोग विधवा विवाह का समर्थन करते हैं। इस मत के प्रचार से कन्नड़ देश में जैन धर्म को बड़ी क्षति पहुंचा किन्तु लिंगायतों ने कन्नड़ भाषा में साहित्य सृजन किया।

पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति का पुनरुत्थान—बिज्जल के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों का शासन दुर्बलतापूर्ण प्रमाणित हुआ। उनके विषय में हमें प्राय कुछ भी मालूम नहीं। सोमेश्वर चतुर्थ ने अंतिम कलचुरी नरेश को सिंहासनच्युत करके अपने वंश की शक्ति को पुन प्रतिष्ठापित किया। किन्तु पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति अब और अधिक दिनों तक टिक न सकी।

पश्चिमी चालुक्यों का पतन—हम इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि विक्रमादित्य षष्ठ जैसे प्रतापी नृपति के समय में भी सामन्तों की शक्ति काफी दृढ़ हो गई थी। बाद में सामन्तों की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। सोमेश्वर चतुर्थ के समय में यादव और होयसल लोग स्वतन्त्र हो गये। इन शक्तियों के उदय का यह परिणाम हुआ कि कल्याण के चालुक्य वंश का पतन हो गया।

देवगिरि के यादव

यादव लोग अपने को भगवान् कृष्ण के वंश यदुवंश का बतलाते हैं। पहले वे राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। बाद में पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति बढ़ने पर यादव लोग उनके सामन्त हो गये। उत्तरवर्ती चालुक्यों के समय में विशेषतया विक्रमादित्य षष्ठ के शासन काल में यादव वंश का प्रमुख सेउणचन्द्र चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। विक्रमादित्य षष्ठ ने यह अनुभव किया कि वह बिना स्थानीय सरदारों की सहायता के अपने साम्राज्य का शासन सम्यक् रूपेण नहीं चला सकता अतएव उसने उन सरदारों की सहायता तथा भक्ति प्राप्त करने के लिए उनको स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सेउणचन्द्र का शासन गोदावरी के मध्य भाग (खानदेश) पर था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति को बढ़ाया। बाद में सेउणचन्द्र के पुत्र ने अपने पिता के कार्य को जारी रखा। कल्याण में कलचुरी अन्तराधिपत्य के कारण यादव लोग कुछ काल तक अपनी शक्ति का अधिक विकास न कर सके। किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है सोमेश्वर चतुर्थ के समय यादव लोग स्वतन्त्र हो गये। यादवों की स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापक भिल्लम पञ्चम था जिसने सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पञ्चम ने सम्राटों के विरुद धारण किये और अपनी राजधानी देवगिरि में बसाई। उसी के समय से देवगिरि के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

भिल्लम का प्रथम उद्देश्य था अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ करना। उसने चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणीय प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। धारवाड़ और बेलगाँव को जीतकर वह कृष्णा नदी के तट पर पहुँच गया और होयसल नरेश वीर बल्लाल द्वितीय से वहीं पर उसकी मुठभेड़ हुई। भिल्लम ने छोटे मोटे सरदारों को पहले ही दबा रक्खा था और पश्चिमी घाट के (कोंकण तथा बीजापुर) सरदारों को भी उसने अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। होयसल नरेश और वीर बल्लाल के विरुद्ध संग्राम करने में भिल्लम पञ्चम को सफलता प्राप्त न हो सकी और इन दोनों में एक पारस्परिक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप कृष्णा नदी उनके राज्यों के बीच एक सीमा रेखा मान ली गई। अपने विद्रोही सामन्तों को दबाने के प्रयत्न में भिल्लम पञ्चम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े।

भिल्लम पञ्चम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र और उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम अथवा जैतुगी देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। जैतुगी ने ११९१ ई० से लेकर १२१० ई० तक शासन किया। जैतुगी ने ११९६ ई० में त्रिपुरी के कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त की और ११९० ई० में काकतीय नरेश महादेव को पराजित किया। कहा जाता है कि उसने गणपति काकतीय को जो कारावास में था मुक्त कर दिया और वारंगल के सिंहासन पर उसे बिठाया। जैतुगी स्वयं चारों वेदों और तर्क तथा मीमांसा शास्त्रों का पण्डित था। उसने प्रख्यात गणितज्ञ भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को अपना राजकवि बनाया। १२१० ई० में जैतुगी की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिंहण राजा हुआ जो यादव वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था।

सिंहण—सिंहण के सैंतीस वर्षीय शासन काल में (१२१०–१२४७ ई०) देवगिरि के यादवों का राज्य अपने विस्तार और गौरव की चरम सीमा पर पहुँच गया। १२३१–३२ ई० और १२३७–३८ ई० में सिंहण ने दो बार गुजरात पर आक्रमण किया और बल्लाल द्वितीय के विरुद्ध युद्ध छेड़कर उसने उससे मालप्रभा तथा कृष्णा नदियों के दक्षिण में काफी विस्तृत भूमि छीन ली। बल्लाल के उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय को भी सागर, तुङ्गभद्रा तथा धनराशि के जिले सिंहण की सेवा में समर्पित कर देने पड़े। इसके बाद होयसल नरेश सोमेश्वर ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने पिता तथा पितामह द्वारा खोए हुए प्रदेशों को पुनः अपने अधिकार में कर ले और इसी इरादे से वह बनवासी तक बढ़ आया किन्तु सिंहण के सेनापति बीचन ने होयसल सेनाओं को पराजित कर दिया और उन्हें लौट जाने के लिए विवश किया। बीचन ने यादव विजयवाहिनी के अश्वों को कावेरी के जल का पान कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि सोमेश्वर को अपने शासन के अन्तिम दिनों तक अपने राज्य के और अधिक भूभागों से हाथ धोना पड़ा। सिंहण ने काकतीय राजा गणपति और मालवा के शासक से निरर्थक ही युद्ध किए क्योंकि मालवराज जयवर्मन को पराजित कर देने के बावजूद भी वह उन दिशाओं में अपनी राज्यसीमा का अधिक विस्तार न कर सका। यादव राजाओं के समय में उसने गुजरात पर भी कम से कम दो आक्रमण किए। अपने राज्यारोहण के समय में वह सिंहण महाराष्ट्र और कृष्णा नदी के उत्तर में तथा समुद्र तट तक कन्नड़ प्रदेश के कुछ जिलों का स्वामी था किन्तु उसकी विजय नीति से यादव राज्य की सीमायें उसी प्रकार विस्तृत हो गईं जिस प्रकार कभी पश्चिमी चालुक्यों की हो गई थीं।

सिंहण ने भास्कराचार्य के ग्रन्थों का मनन करना जारी रक्खा। उसका राज्य ज्योतिषी चाङ्गदेव था जो भास्कराचार्य का पौत्र तथा लक्ष्मीधर का पुत्र था।

छांगदेव ने पाटन में एक विद्यालय खोला था जहाँ पर भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। सिंहण की राजसभा को सारंगधर सुशोभित करता था जिसका संगीतरत्नाकर तत्कालीन संगीत साहित्य में चमकता एक उज्ज्वल रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि वह टीका स्वयं सिंहण ने लिखी थी। सिंहण एक शक्तिशाली शासक और महान निर्माता भी था। उसने अपने राज्य में ८४ दुर्ग बनवाये और अपने सामन्तों को भी ऐसा करने की आज्ञा दी।

सिंहण के उपरान्त उसका पौत्र कृष्ण सिंहासन पर बैठा। कृष्ण ने १२४७ ई० से लेकर १२६० ई० तक शासन किया। गणपति काकतीय ने दक्षिण पश्चिम में आन्ध्र देश का कुछ भाग कृष्ण से छीन लिया। कृष्ण एक शान्तिप्रिय शासक था। उसने अपने तेरह वर्ष के शासन-काल में एक भी युद्ध नहीं किया और साहित्य-संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया। कृष्ण के मन्त्री जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली नामक ग्रन्थ में सूक्तियों का संकलन किया और उसी के शासन काल में अमलानन्द ने वेदान्तकल्पतरु का प्रणयन किया। कृष्ण का भाई और उत्तराधिकारी महादेव (१२६०–७१ ई०) एक सामर्थ्यशाली शासक था। उसने काकतीय गणपति रुद्राम्बा के विरुद्ध संग्राम में सफलता प्राप्त की। उसने उत्तरी कोंकण के शिलाहारवंशीय सामन्त को पराजित किया और उससे उसका राज्य छीन लिया। हेमाद्रि महादेव का मन्त्री (श्रीकरणाधिप) था। हेमाद्रि स्वयं एक लेखक था और उसने अनेक लेखकों को राजाश्रय प्रदान किया। हेमाद्रि ने इतने अधिक मन्दिरों का निर्माण कराया कि वास्तु कला की एक विशिष्ट शैली ही उसके नाम से चल निकली। इस कला शैली का नाम था हेमदपन्थी। हेमाद्रि ने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ लिखे जिनमें चतुर्वर्ग चिन्तामणि सर्वप्रसिद्ध है। महादेव का १२७१ ई० में देहान्त हो गया और यादवों का शासक रामराज अथवा रामचन्द्र हुआ।

रामचन्द्र ने मालवा के राजा और काकतीय वंश के शासक से युद्ध किये किन्तु इन युद्धों का कुछ निश्चित परिणाम न निकला। रामचन्द्र के समय में भी यादवों का मन्त्री हेमाद्रि ही था। उसके प्रसिद्ध सेनानायक टिक्कम ने १२७६ ई० में होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर अगले वर्ष घेरा डाल दिया। टिक्कम लूट का बहुत सा माल लेकर देवगिरि लौट आया। यादव राजा रामचन्द्र के समय में दिल्ली के खिल्जी सुल्तान अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण किया। रामचन्द्र को मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। रामचन्द्र के शासन काल में सन्त ज्ञानेश्वर ने गोदावरी नदी के तट पर मराठी भाषा में गीता पर एक भाष्य लिखा। देवगिरि के यादव राज्य का उन्मूलन अलाउद्दीन खिल्जी के उत्तराधिकारी मुबारक खिल्जी के समय में हुआ।

वारङ्गल के काकतीय

दक्कन के चालुक्य-साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जो नवीन राजवंश उठ खड़े हुए उनमें काकतीयों का राज्य भी एक था। काकतीयों के मूल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ अभिलेखों में काकतीयों को शूद्र बताया गया है किन्तु स्वयं काकतीयों की [illegible] वंशतालिका से जिसमें रघुकुल के अनेक नाम मिलते हैं विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे।

काकतीय वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति बेता था, जो कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ का सामन्त था। प्रोल द्वितीय ने पश्चिमी चालुक्यों की राजसत्ता के विनाश का सुयोग देखकर तथा कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के कारण वेंगी में उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया और अनमकोंड (अथवा हनुमकोंड) में अपनी राजधानी बसाई। ऐसी अनुश्रुति है कि प्रोल द्वितीय ने कल्याणी के तैलप तृतीय को ११५५ ई० के लगभग पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया किन्तु बाद में उसे मुक्त भी कर दिया। प्रोल द्वितीय ने अपने राज्य में अनेक जलाशय खुदवाये और कृषि में सुधार करने की ओर ध्यान दिया।

प्रोल द्वितीय की मृत्यु ११६२ ई० में हुई और उसके पश्चात् रुद्र अथवा प्रताप रुद्र काकतीय वंश का नृपति हुआ। अपने पिता की भाँति प्रतापरुद्र को भी सिंहासन प्राप्त करने समय विद्रोही सामन्तों का दमन करना पड़ा था। डोम्म और मालिगिन्द नामक दो तेलगू सरदारों से प्रतापरुद्र ने उनकी जागीरें छीन लीं। भीम नामक एक शक्तिशाली सरदार ने अन्य सरदारों की जागीरें छीन कर अपने अधिकार में कर ली और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसने प्रतापरुद्र की राजधानी वारंगल की ओर प्रयाण किया और मार्ग में जितने भी छोटे मोटे नगर पड़े उन सबको जीत लिया। किन्तु भीम को प्रतापरुद्र से पराजय खानी पड़ी और युद्ध भूमि में ही उसके प्राण गये। इसी प्रकार मद्दूर के चोड सरदार को भी काकतीय नरेश प्रतापरुद्र प्रथम ने दबा दिया और उसकी राजधानी में आग लगवा दी। उसने अन्य सामन्तों के गढ़ों और नगरों को भी विध्वस्त करा दिया और अपनी राजधानी वारंगल की प्राचीरें सुदृढ़ कराई। उसने अपनी राजधानी में अनेक मन्दिरों का निर्माण भी कराया। प्रतापरुद्र प्रथम का राज्य दक्षिण में समुद्र तक, उत्तर में गोदावरी नदी तक और पश्चिम में वर्तमान हैदराबाद नगर तक फैला हुआ था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी शासन-नीति भी उदारता और प्रजावत्सलता के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने स्वयं एक 'नीतिसार' का संस्कृत और तेलगू भाषाओं में प्रणयन किया। उसकी धार्मिक रुचि वीर शैव सम्प्रदाय की ओर थी जिसमें प्रदीक्षित होकर उसने रामनाथ को राजाश्रय प्रदान किया। रामनाथ संस्कृत तेलगू और कन्नड़ इन तीन भाषाओं का पण्डित था और उसने वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर कई ग्रन्थ लिखे। नन्नेचोडु ने जो कलहस्ति का सरदार था 'कुमार सम्भव' लिखा। यह काव्य ग्रन्थ तेलगू भाषा में लिखा गया है और इस पर महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' का प्रभाव सुस्पष्टरूपेण लक्षित होता है। प्रताप रुद्र प्रथम की मृत्यु (११९९ ई०) के पश्चात् उसका अनुज महादेव सिंहासनारूढ़ हुआ किन्तु उसे यादव राजा जैतुगी ने सिंहासनच्युत कर दिया। जैतुगी ने काकतीय गणपति को वारंगल के सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया।

गणपति—गणपति काकतीय वंश का एक शक्तिशाली और प्रसिद्ध शासक था। उसका समकालीन यादव-नरेश सिंहण था, जिसके विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। गणपति ने अपने सामन्तों के प्रति उदारता दिखलाई और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने अपनी दो पुत्रियों का विवाह नतवाडि और नत्वाडि नामक शक्तिशाली सरदारों के साथ किया। उसने जय नामक मन्त्री की दो कन्याओं के साथ अपना विवाह किया। इन विवाह सम्बन्धों द्वारा गणपति ने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली और काकतीय वंश के सौभाग्य से आगे चलकर भी इन सम्बन्धों का

कोई अहितकर या अवांछनीय परिणाम न निकला। अपने राज्य में शांति स्थापित कर लेने के बाद गणपति ने अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और वलनाडु के शासकों को पराजित किया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यादव नरेश सिंहण और गणपति के पारस्परिक युद्धों का कोई निर्णयात्मक परिणाम न निकला। आन्ध्र देश से ११८६ ई० के लगभग दक्षिणी चोलों के निकल जाने के कारण वहाँ की राजनीतिक स्थिति अशांतिमय हो गई। आन्ध्र की इस राजनीतिक अशांति से लाभ उठाकर गणपति ने (१२०० ई०) के लगभग वहाँ अपना अधिकार जमा लिया और वहाँ की उर्वरा भूमि से, हीरे तथा हीरों की खानों एवं वहाँ के बंदरगाहों से अधिकतम लाभ प्राप्त किया। नेल्लोर के तेलगु चोडों ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली। गणपति ने रुद्रपट्ट तथा मनुम के कायस्थ शासकों गंगय साहिनि तथा उसके भतीजों त्रिपुरान्तक तथा अम्बदेव को अपने अधीन किया। इसके पश्चात् गणपति ने अपनी एकमात्र पुत्री रुद्राम्बा को अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी नियुक्त किया और उसे रुद्रदेव महाराज नाम से विभूषित किया। मोतुपल्लि में जो विदेशी व्यापारी तिजारत करते थे उनको उसने अभयशासन द्वारा व्यापार करने की छूट प्रदान की। कादव कोपरलुंग ने भी गणपति की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

गणपति के सुदीर्घ शासनकाल में (११९१–१२६१ ई०) काकतीय वंश अपनी राजनीतिक उत्कर्ष की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया। काकतीय राज्य की सीमायें काफी दूर तक फैल गयी। गणपति के मन्त्री जय ने अनेक प्राचीन मन्दिरों को दान दिये और कितने ही नये मन्दिरों का निर्माण कराया। पालटकेश्वर, चिदकेश्वर, गणपतेश्वर, पुष्पागिरि, भीमेश्वर, मैलमकेश्वर आदि देवताओं के मंदिरों का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण गणपति काकतीय के मन्त्री जय ने ही कराया था। चोल सम्राट कुलोत्तुंग प्रथम का अनुसरण करते हुए गणपति ने वस्तुओं के आयात और निर्यात से कर उठा लिये और सामुद्रिक व्यापारियों को सुविधायें प्रदान की। उसने पाकल नामक एक झील का भी निर्माण कराया। गणपति शैवमतानुयायी था अतएव उसने अपने राज्य में शैवों के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की। गणपति ने धार्मिक साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके समय में दक्षिणी भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ गया और देश के धन तथा समृद्धि में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई।

गणपति के पश्चात्—१२६१ ई० में गणपति की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी। रुद्राम्बा के शासनकाल में काकतीय राज्य में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं हुई। केवल दो एक सामन्तों ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया किन्तु उनका विद्रोह कुचल दिया गया। उसके समय में मार्कोपोलो नामक वेनिस के एक पर्यटक ने उसके राज्य का भ्रमण किया था। मार्कोपोलो ने अपने यात्रा विवरण में रुद्राम्बा के शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि शासन व्यवस्था श्रेष्ठ और न्यायपूर्ण है तथा समानता के सिद्धान्तों पर आधारित है। रुद्राम्बा को उसकी प्रजा बहुत चाहती थी। कृष्णा नदी के मुहाने पर मोतुपल्ली का बन्दरगाह था जो राज्य का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। राज्य के व्यापार की स्थिति समृद्धिपूर्ण थी। हीरे और मट्कान वस्त्र बहुत बड़े परिमाण में विदेशों को भेजे जाते थे। लोग गिद्धों की सहायता द्वारा गुफाओं से हीरे प्राप्त करते थे। रुद्राम्बा के नाती प्रतापरुद्रदेव ने यादवों के विरुद्ध युद्ध करके ख्याति अर्जित की और १२८० ई० में वह युवराज मनोनीत कर लिया गया। आठ वर्ष बाद रुद्राम्बा के मन्त्री अम्ब-

देव ने विद्रोह कर दिया परन्तु युवराज ने एक चाल चलकर उसके विद्रोह को विफल कर दिया। १२९५ ई० में रुद्राम्बा की मृत्यु के उपरान्त प्रतापरुद्रदेव राजा हुआ। प्रतापरुद्रदेव ने १३२६ ई० तक शासन किया। अपने राज्य-काल के प्रारम्भ में ही उसने अदोनी और रायचूर के दुर्ग यादवों से छीन लिये और इन दुर्गों के निकटवर्ती भूभागों पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया। प्रतापरुद्रदेव ने शासन-व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न भी किया। उसने अपने राज्य को ७७ भागों में विभक्त किया और प्रत्येक भाग का शासन एक नायक के अधीन कर दिया। प्रतापरुद्रदेव को विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रीय नामक अलंकारग्रन्थ समर्पित कर अमर कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अंतिम प्रभावशाली नरेश था और उसे मलिक काफूर की दक्षिण आक्रमण यात्रा के समय मुसलमानों के प्रति आत्म समर्पण करना पड़ा। तदनन्तर काकतीयों का प्रभाव घटने लगा और अन्त में उनका राज्य दक्कन के बहमनी सुल्तानों के हाथ में चला गया।

द्वारसमुद्र के होयसल

अनुश्रुति के अनुसार होयसल वंश का संस्थापक साल था। कहा जाता है कि साल ने जैन मतानुयायी किसी महात्मा को एक व्याघ्र के आक्रमण से बचाया था। इस घटना (पोय साल अर्थात् मारना साल) के परिणाम स्वरूप इस राजकुल को पोयसल अथवा होयसल संज्ञा मिली। राइस नामक विद्वान् ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसमें एक नरभक्षी व्याघ्र का किसी सरदार द्वारा हनन का जिक्र मिलता है। व्याघ्र वध के वीरतापूर्ण कार्य के बदले में प्रत्येक ग्रामवासी ने उस सरदार को प्रतिवर्ष एक पण देना प्रारम्भ किया। ग्रामीणों ने उस सरदार को अपने लिए एक दुर्ग बनाने में भी सहायता प्रदान की। यह घटना शशकपुर नामक ग्राम में घटित हुई थी। इस प्रकार साल ने होयसल राजवंश की नींव डाली किन्तु बहुत दिनों तक इसका आधिपत्य और प्रभाव अत्यन्त क्षीण था। होयसल वंश के एक व्यक्ति माजिग को चोल सेनानायक अप्रमेय्या ने १००४ ई० में लगभग मार डाला था। कुछ दिनों तक साल का वंश बिलकुल लुप्त सा रहा किन्तु १०२२ ई० नृपकाम इस वंश का प्रमुख हुआ जिसने चोल सम्राटों के प्रान्तीय गवर्नरों से युद्ध किया। नृपकाम ने अपने वंश के भावी गौरव की नींव डाली। सरदारों के विरुद्ध उसने जो युद्ध किये उनमें उसे सफलता प्राप्त हुई। नृपकाम का उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०४९–११०० ई०) था जिसने होयसल वंश की मान प्रतिष्ठा में प्रभूत अभिवृद्धि की। उसकी नीति कुशलता और वीरता से प्रभावित होकर कल्याणी के चालुक्य सम्राट ने उसे अपना अधीनस्थ सामन्त बना लिया और उसे प्रान्तीय शासक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। चोलों और चालुक्यों के बीच निरंतर जो युद्ध होते रहे उनके कारण होयसलों को बड़ा लाभ हुआ। विनयादित्य तृतीय ११०० ई० में पदच्युत हो गया और उसका पौत्र वल्लाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। वल्लाल प्रथम को अपने कई विरोधी सामन्तों का दमन करना पड़ा। ११०८ ई० में वल्लाल प्रथम का अनुज विट्टिगदेव होयसल वंश का राजा हुआ।

विट्टिगदेव (११०८–११४१ ई०)—इसे ही वास्तविक अर्थ में होयसल वंश की राजसत्ता का प्रतिष्ठापक कहा जा सकता है। उसने गंगवाडी प्रान्त को, जो होयसलों के अधिकार से निकल गया था पुनः अपने अधिकार में कर लिया। इसी प्रकार

नोलम्बवाडी तथा पड़ोस के अन्य भागों को भी जीतकर उसने एक में मिलाया और वर्तमान मैसूर की नींव डाली। विष्णुवर्धन के अभिलेखों में उसकी विजयों और अन्य सफलताओं का विवरण कुछ विस्तार के साथ मिलता है। उसने चोलों, मदुरा के पाण्ड्यों, मलाबार के निवासियों, उत्तरी कन्नड़ के तुलुवों तथा कदम्बों को पराजित किया और कृष्णा तथा कान्चो तक धावे किये। तामिल देश पर आक्रमण करके वह परमेश्वरम तक पहुँच गया। इस प्रकार विट्टिग ने एक विस्तृत भूभाग पर जिसमें प्रायः सारा मैसूर और निकटवर्ती प्रदेश शामिल थे अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसके बहुत से सुवर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर कन्नड़ भाषा में तालकाडु गोंड विरुद उत्कीर्ण है। विट्टिग की राजधानी द्वारसमुद्र थी। यद्यपि वह चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन होते हुए भी व्यावहारिक रूप से स्वतन्त्र हो चुका था, तथापि उसने सम्राटों के विरुद धारण नहीं किये और न उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। विट्टिग पहले जैनमतानुयायी था किन्तु बाद में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वह वैष्णव हो गया। वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने पर उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रख लिया था। जैन मत के प्रति विट्टिग विष्णुवर्द्धन का दृष्टिकोण उदार और प्रशंसनीय था। उसने श्री पाल नामक एक जैन आचार्य का सम्मान किया था। जैन मत को भी विट्टिग विष्णुवर्द्धन ने राजाश्रय प्रदान किया। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें बेलूर का मन्दिर प्रसिद्ध है। मेलकोट और श्रीरंग पट्टम के विष्णु मंदिर भी विष्णुवर्द्धन के समय में ही बनवाये गये थे।

विट्टिगदेव विष्णुवर्द्धन की मृत्यु के बाद सन् ११४१ ई० में नरसिंह प्रथम होयसल का नृपति हुआ। अपने सिंहासनारोहण के समय नरसिंह प्रथम केवल आठ वर्ष का बालक ही था। उसके समय में बनवासी तथा नोलम्बवाडी के प्रदेशों का शासन करने के लिए जो प्रान्तीय गवर्नर नियुक्त किये गये थे उनको चालुक्य सम्राट ने नियुक्त किया था यद्यपि विट्टिगदेव के काल में उपयुक्त प्रान्तों पर होयसल वंश का प्रभुत्व चालुक्य सम्राट ने स्वीकार कर लिया था। इसी बीच में कल्याणी में कलचुरी अन्तराधिपत्य के कारण चालुक्यों की शक्ति ह्रासोन्मुख हो गई और राज्य में उथल पुथल मच गई अतएव नरसिंह प्रथम के सेनानायक बोकन ने राज्यापहर्ता कलचुरी बिज्जल को पराजित कर दिया और उसने बनवासी तथा नोलम्बवाडी के प्रदेश छीन लिये। यौवनावस्था प्राप्त होने पर नरसिंह प्रथम विलासी तथा कामुक हो गया। कहा जाता है कि उसका अन्तःपुर बड़ा ही विशाल और सुसज्जित था जिसमें ३८४ स्त्रियाँ थी। नरसिंह प्रथम में कोई सैनिक योग्यता अथवा शासन निपुणता न थी। उसके राज्य काल में बोकन की सैनिक सफलता के अतिरिक्त और कोई विजय कार्य सम्पन्न नहीं किया गया। किन्तु नरसिंह प्रथम के पुत्र वीर बल्लाल प्रथम (११७२-१२१५ ई०) ने अपने को योग्य और शक्तिशाली शासक प्रमाणित किया। उसने अपने ४२ वर्ष के शासन काल में होयसल वंश की राजशक्ति को खूब बढ़ाया। वीर बल्लाल होयसल वंश का प्रथम शासक था जिसने सम्राटों के विरुद धारण किये। उसने बनवासी और नोलम्बवाडी के विजय कार्य को पूर्णरूपेण सम्पन्न किया तथा पाण्ड्यों का सफलतापूर्वक दमन किया। कल्याण पर यादवों तथा काकतीयों का आक्रमणकारी के रूप में आता हुआ जानकर वीर बल्लाल भी अपनी सेना लेकर उस ओर बढ़ा। गोरम नामक स्थान के निकट युद्ध हुआ जिसमें यादव नरेश भिल्लम पञ्चम को वीर बल्लाल के हाथों पराजय स्वीकार करनी पड़ी। ११९० ई० में लाक्कुण्डी के दुर्ग पर होयसलों का अधिकार होगया। चालुक्य सम्राट सोमेश्वर चतुर्थ को पराजित

करके वीर बल्लाल ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी और उत्तर में कृष्णा नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। उसने कृष्णा की एक सहायक नदी मालप्रभा को अपने राज्य की उत्तरी सीमा निर्धारित किया। होयसल राज्य की यही सीमा अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर के आक्रमण तक स्थिर रही। ११९१–९२ ई० में वीर बल्लाल ने कई सम्राटोचित उपाधियाँ धारण की और इसी वर्ष से उसने एक नया संवत् चलाया। १२११ ई० में उसकी मृत्यु के समय होयसलों का राज्य अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उसने वैष्णवों को राजाश्रय प्रदान करने की नीति जारी रक्खी।

वीर बल्लाल प्रथम के बाद ... सिंहासन पर बैठा। इस समय तक (१२१६ ... चालों की शक्ति बिलकुल तहस न... ने चालों को सहायता प्रदान की और उनको नष्ट होने से बचा लिया। नरसिंह द्वितीय को यादव राजा सिंहण से हार खानी पड़ी और यादव सेना कृष्णा के पार पहुँच गई। नरसिंह द्वितीय के बाद वाले होयसल राजाओं के विषय में कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता केवल इतना पता चलता है कि ... पाण्ड्यों से लड़ते रहे। किन्तु वीर-बल्लाल प्रथम ने होयसलों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की जिस सीमापर पहुँचा दिया था उसके कारण बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत की राजनीतिक प्रक्रिया में उनका प्रमुख स्थान था। चौदहवीं शताब्दी में सुदूर दक्षिण में विजयनगर के हिन्दू राज्य की स्थापना में होयसलों का भी योगदान महत्त्वपूर्ण था।

होयसल शासकों ने कवियों को राजाश्रय प्रदान किया जिससे उनके राज्य में विद्या, साहित्य और कला की उन्नति हुई। वे विशाल मन्दिरों के निर्माता थे और उन्होंने अनेक इमारतें बनवाईं जो आज भी हलेबिड तथा अन्य स्थानों में खड़ी हैं और उनकी कलाप्रियता तथा धर्मानुरागिता प्रकट करती हैं। विष्णुवर्द्धन ने नागचन्द्र अथवा अभिनव पम्पा को अपनी राजसभा में स्थान दिया था। ये अभिनव पम्पा आदि पम्पा से भिन्न थे और इन्होंने पम्पा रामायण में रामचरित का वर्णन जैन अनुश्रुतियों के आधार पर किया है। कान्ति नामक विदुषी भी कन्नड भाषा की प्रसिद्ध कवयित्री थी जो सम्भवतः विष्णुवर्द्धन की समकालीन थी। राजादित्य ने गणित के नियमों को छन्दोबद्ध किया। नयसेन एक आचारवान् व्यक्ति और अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक था। उसने अपने समकालीन लेखकों द्वारा अनावश्यक रूप से संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति का विरोध किया। नेमिचन्द्र नामक विद्वान् ने सुबन्धु की वासवदत्ता के आदर्श पर कन्नड भाषा में लीलावती ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसे कुछ विद्वान् कन्नड भाषा का प्रथम उपन्यास मानते हैं। पम्पा कान्ति राजादित्य और नयसेन ये सभी जैन मतावलम्बी थे, जिससे यह सिद्ध होता है कि कन्नड भाषा को साहित्य सृजन द्वारा समृद्ध बनाने में जैनियों का योग महत्त्वपूर्ण था। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं कि जैन पंडितों ने तामिल भाषा को सम्पन्न बनाने में भी अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था। यह पीछे कहा जा चुका है कि वीर शैव सम्प्रदाय के लोगों ने भी कन्नड भाषा में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। होयसल राजाओं के समय में हरीश्वर ने गिरिजाकल्याण और राघवाङ्क ने हरिश्चन्द्रकाव्य लिखा। ये दोनों साहित्यकार वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कर्नाटक में धर्म की उन्नति की दृष्टि से इन दशकों का समय काफी महत्त्वपूर्ण था।

कदम्ब कुल

दक्षिणापथ के दक्षिण पश्चिमी भाग में चौथी शताब्दी के लगभग कदम्बों का अभ्युदय हुआ। समुद्रगुप्त ने सुदूर दक्षिण के पल्लव राजा विष्णुगोप को पराजित किया था जिससे पल्लवों की शक्ति को धक्का पहुँचा। इसका परिणाम यह हुआ कि कदम्बों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो गया। कदम्बों के प्रारम्भिक अभिलेख प्राकृत में पाये गये हैं किन्तु उन अभिलेखों के बाद वाले इनके अभिलेख संस्कृत में हैं। कदम्ब लोग मानव्य गोत्र के ब्राह्मण थे और ये अपने को हारिति का वंशज मानते थे।

कदम्ब-कुल का संस्थापक मयूरशर्मन् था जिसने काञ्ची में पल्लवों द्वारा अपमानित किये जाने पर अपने हाथ में शस्त्र ग्रहण किया और कर्णाटक में वनवासी को राजधानी बना अपना राज्य स्थापित किया।[1] पहले मयूरशर्मन ने राज्य की उत्तरी सीमा पर पल्लव शासक के उच्च पदाधिकारियों को अस्तव्यस्त कर दिया और बृहद्बाण लोगों तथा पल्लवों के अन्य सामन्तों से कर वसूल करने के बाद श्रीशैलम् के निकट अरण्य में अपनी शक्ति जमा ली। उसकी योग्यता और शक्ति से प्रभावित होकर पल्लवों ने उससे सन्धि कर ली और वनवासी के निकट की भूमि उसे दे दी। यह घटना ३४५ ई० के लगभग हुई। मयूरशर्मन के पुत्र कंगवर्मन ने विन्ध्यशक्ति के समय में वाकाटक आक्रमण का सामना किया। यद्यपि युद्ध के परिणाम स्वरूप कंग-वर्मन के अधिकार से थोड़ा सा भूभाग निकल गया तथापि उसका प्रतिरोध बस पर्याप्त रूप में सफल था। कदम्बों ने बाद में पालाशिका (हल्सी) को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। काकुस्थवर्मन कदम्ब कुल का एक शक्तिशाली शासक था। काकुस्थवर्मन ने अपने प्रसिद्ध समकालीन राजवंशों गुप्तों वाकाटकों तथा पश्चिमी गंगों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किये। उसके पुत्र शान्तिवर्मन (४५०-७५ ई०) ने काञ्ची के पल्लवों से भिन्न एक दूसरी पल्लव शाखा के आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। इस कार्य के लिये उसने अपने राज्य के दक्षिणी भाग को अपने अनुज कृष्णवर्मन प्रथम के सिपुर्द कर दिया। कृष्णवर्मन प्रथम ने अश्वमेधयज्ञ का अनुष्ठान किया था। किन्तु पल्लवों के विरुद्ध युद्ध में तो स्वयं उसको क्षति प्राप्त हुई। शान्तिवर्मन के पुत्र मृगेशवर्मन ने पल्लवों और गंगों से सफलतापूर्वक युद्ध किया। मृगेशवर्मन विद्वान् था और उसे हाथियों तथा घोड़ों को नियन्त्रण में रखने की अद्भुत योग्यता प्राप्त थी। उसने अपने दिवंगत पिता की पुण्यस्मृति में पालाशिका (हल्सी) में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मृगेशवर्मन के पुत्र रविवर्मन ने विष्णुवर्मन को जो शान्तिवर्मन के अनुज कृष्णवर्मन प्रथम का पुत्र था युद्ध में पराजित करके कदम्ब राजकुल को संयुक्त किया। उसने चण्डदण्ड

[1] काकुस्थवर्मन के तालगुण्डा लेख में इस बात का विवरण इस प्रकार दिया गया है— 'वहाँ एक पल्लव अश्वारोही के साथ घोर कलह से क्षुब्ध होकर उसने (मयूरशर्मन ने) विचार किया खेद है कि कलिकाल में ब्राह्मण क्षत्रियों से इतना दुर्बल होने लगे।' तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेन स समरोषितः। कलियुगेऽस्मिन्नहो बत क्षत्रात् परिपेलवा विप्रता यतः।

नामक पल्लव आक्रमणकारी को पीछे ढकेल दिया। रविवर्मन ने गंगों को भी युद्ध में पराजित किया। उसके पुत्र हरिवर्मन को ५२८ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ। हरिवर्मन शांतिप्रिय व्यक्ति था किन्तु उसे चालुक्य शासक पुलकेशिन प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा। वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष ने कदम्बों की महत्वाकांक्षा चूर्ण कर दी। उनके उत्तरी प्रदेश पुलकेशिन प्रथम ने छीन लिए और पुलकेशिन द्वितीय ने उनको सर्वथा नगण्य बना दिया। कदम्ब राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर गंगों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर भी कदम्ब राजकुल सर्वथा विलुप्त न हुआ और उसके राजा राष्ट्रकूटों के पतन के बाद १०वीं सदी ई० के अंतिम चरण में एक बार फिर बलवान् सिद्ध हुए। इन कदम्ब शाखाओं ने दक्कन और कोंकण के विविध भागों पर १४वीं सदी ई० के प्रायः अंत तक शासन किया परन्तु उनकी सक्रियता स्थानीय सीमाओं तक ही परिमित रही।

पश्चिमी गंगों का राजवंश

पश्चिम में कदम्ब राज्य और पूर्व में पल्लव राज्य के बीच में आधुनिक मैसूर के दक्षिणी भागों में पश्चिमी गंगों का राज्य था। इस भाग को प्राचीन काल में गंगवाड़ी कहा जाता था। पश्चिमी गंगों के राजकुल का प्रतिष्ठापक दिदिग अथवा कोंगणिवर्मन था जो अनुश्रुति के अनुसार काण्वायन गोत्र का था। उसने धर्म महाराज का विरुद धारण किया था जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र शासक था। किन्तु कुछ अनुश्रुतियों से ऐसा पता चलता है कि कांची के किसी पल्लव शासक ने गंगों के पड़ोसी (उत्तर पूर्वीय दिशा में) बाणों को जीतने के लिए कोंगणिवर्मन को अधिष्ठित किया था। कोंगणिवर्मन का राजत्व काल ४०० ई० के आस पास रखा जा सकता है। उसकी राजधानी कुवलल (कोलार) थी और उसकी राज्य पताका पर हाथी का चिह्न अंकित रहा करता था। कावेरी नदी के तट पर तलकाड को पंचम शती के मध्य में हरिवर्मन ने अपनी राजधानी बनाई। कोंगणिवर्मन का पुत्र माधव प्रथम महाधिराज (४२५ ई०) राजनीतिज्ञ और कवि था। इसके बाद गंगवंश का शासक आर्यवर्मन (४५० ई०) हुआ जो एक पराक्रमी योद्धा तथा प्रकाण्ड पंडित था। आर्यवर्मन को कांची के पल्लव नरेश सिंहवर्मन ने अधिष्ठित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यवर्मन और उसके अनुज कृष्णवर्मन के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस पारस्परिक झगड़े का निर्णय करने के लिए दोनों भाइयों ने पल्लव राजा को अपना मध्यस्थ बनाया जिसने गंग राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया। परवर्ती अभिलेखों में इसी आर्यवर्मन के लिए हरिवर्मन नाम का प्रयोग किया गया है और जैसा पीछे कहा जा चुका है हरिवर्मन ने ही गंग राज्य की राजधानी तलकाड में स्थापित की। गंग वंश के पूर्वकालिक राजाओं में सातवाँ नरेश दुर्विनीत शक्तिशाली और उल्लेखनीय था। दुर्विनीत कदम्ब वंश के प्रतिष्ठापक मयूरशर्मन तथा पल्लव शासक सिंहविष्णु का समकालीन था। पल्लवों से युद्ध करके उसने ख्याति अर्जित की। कदम्बों तथा चालुक्यों के ऊपर दुर्विनीत अन्दतूर और पारु नामक स्थानों में विजय प्राप्त की। दुर्विनीत ने पैशाची 'बृहत्कथा' का संस्कृत रूपान्तर किया। सातवीं शताब्दी में चालुक्य लोग गंग राज्य तक बढ़ आये और उन्होंने गंगों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। गंग वंश का बारहवाँ नरेश श्रीपुरुष (७२८-७८८ ई०) था। उसने चालुक्यों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित की और उन्हें कर देना बंद कर दिया। वह पल्लवों

राज्य तक आगे बढ़ आया और उसने निरन्तर युद्ध में पल्लवों की पतनोन्मुख राजसत्ता को बिलकुल तहस नहस कर डाला। श्रीपुरुष ने उदीयमान राष्ट्रकूटों से सफलतापूर्वक लोहा लिया। श्रीपुरुष ने अपनी राजधानी को स्थानान्तरण बंगलोर के निकट मान्यपुर नामक स्थान में किया। उसका शासन उदारता के सिद्धान्तों पर समाधारित होने के कारण प्रजा के लिए सुखकर और हितकारी था। उसके राज्य की समृद्धिशालिता के कारण उसके प्रजाजन उस राज्य को श्रीराज्य कहते थे। श्रीपुरुष की मृत्यु के पश्चात् पश्चिमी गंगों की शक्ति को पड़ोसी राज्यों वेंगी के पूर्वी चालुक्यों तथा मान्यखेड के राष्ट्रकूटों ने बहुत क्षति पहुँचाई। श्रीपुरुष के उत्तराधिकारी शिवमार (७८८–८१० ई०) को राष्ट्रकूट राजा ध्रुव निरुपम ने पराजित करके बन्दी बना लिया और उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया। गंगवाडी का शासन करने के लिए राष्ट्रकूटों की ओर से एक राज प्रतिनिधि नियुक्त किया गया। गोविन्द तृतीय के राज्यारोहण के बाद राष्ट्रकूट राज्य में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गई जिससे लाभ उठा कर शिवमार ने स्वतन्त्र होने की चेष्टा की परन्तु उसका दमन कर दिया गया और गंगवाडी पर राष्ट्रकूट शासन बना रहा। शिवमार राजनीतिक दृष्टि से एक हतभाग्य नरेश सिद्ध हुआ किन्तु बौद्धिक क्षेत्र में उसकी सफलतायें उल्लेखनीय थीं। वह तर्कशास्त्र दर्शन नाट्य शास्त्र तथा व्याकरण आदि विभिन्न विषयों का पण्डित था। हाथियों और घोड़ों का पालन विधि तथा उनकी नस्लें पहचानना वह अच्छी तरह से जानता था। कन्नड भाषा में उसने गजशतक नामक एतद्विषयक एक ग्रन्थ भी लिखा।

शिवमार के पश्चात् काफी समय तक गंगवाडी राष्ट्रकूटों के अधिकार में रहा। अमोघवर्ष प्रथम के सिंहासनारोहण के पश्चात् गंगों ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु इस प्रयत्न में वे विफल रहे। लेकिन अमोघवर्ष ने गंगों के साथ समझौते की नीति का अवलम्बन किया। राजमल्ल प्रथम (८१७–८५३ ई०) ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विद्रोह किया। नीतिमार्ग प्रथम ने (८५३–८७० ई०) भी गंगों की स्वाधीनता का प्रयत्न जारी रक्खा और उसे अपने प्रयत्नों में कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। राजमल्ल द्वितीय को चोलों के विरुद्ध भी कई युद्ध करने पड़े। राजमल्ल द्वितीय के साथ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। बुतुग प्रथम को, जो राजमल्ल का उत्तराधिकारी था, अमोघवर्ष प्रथम ने अपना दामाद बनाया। इन लोगों ने मिलकर वेंगी के चालुक्यों से संघर्ष किया। कृष्ण द्वितीय ने पश्चिमी गंगों की स्वाधीनता का अपहरण नहीं किया। पृथ्वीपति प्रथम (८५०–८८० ई०) गंगों की एक दूसरी शाखा का नृपति था। उसने श्रीपुरम्बियम (तंजोर जिले में) के युद्ध में पल्लव नरेश अपराजितवर्मन की सहायता प्रदान की। पृथ्वीपति द्वितीय (८८०–९५२ ई०) चोल नरेश परान्तक प्रथम का सामन्त था।

पश्चिमी गंगों की मूल शाखा में नीतिमार्ग द्वितीय के पश्चात् राजमल्ल तृतीय राजा हुआ। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने बुतुग द्वितीय के समर्थन में राजमल्ल तृतीय से उसका राज्य छीन लिया। कृष्ण तृतीय और बुतुग द्वितीय का पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। बुतुग द्वितीय ने कृष्ण तृतीय को तक्कोलम के युद्ध में (९४९ ई०) सहायता प्रदान की थी। इस युद्ध में चोल राजकुमार राजादित्य मारा गया था। बुतुग जैन दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित था और दार्शनिक वाद विवाद में उसने एक बौद्ध तार्किक को परास्त किया था। मारसिंह तृतीय (९६०–९७४ ई०) ने भी राष्ट्रकूटों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रक्खा। उसने भी कृष्ण तृतीय की

उसके सामरिक कार्यों में सहायता की। कल्याणी के चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय की शक्ति का विरोध करते हुए मारसिंह ने तृतीय ने इन्द्र चतुर्थ को राष्ट्रकूट सिंहासन पर समासीन करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। जैन मत के एक नियम का अनुसरण करते हुए मारसिंह ने अनशन व्रत द्वारा प्राण त्याग किया। मारसिंह का उत्तराधिकारी राजमल्ल चतुर्थ (९७४–९८५ ई०) हुआ जिसका मन्त्री चामुण्ड राय जैन मतानुयायी था। चामुण्ड राय एक पराक्रमी सेनानायक था और उससे वीरता से प्रभावित होकर लोगों ने उसे वीरमार्तण्ड की उपाधि दी थी। उसने एक विद्रोह का दृढ़तापूर्वक दमन किया और अपने स्वामी को सिंहासनच्युत किये जाने से बचाया। उसने कन्नड भाषा में चामुण्डरायपुराण लिखा जिसमें उसने चौबीस जैन-तीर्थंकरों का जीवन वृत्त लिखा। उसने श्रवण बेलगोल में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया।

राजमल्ल चतुर्थ के पश्चात् उसका अनुज रक्कस गंग राजा हुआ। १००४ ई० में चोलों ने तलकाड पर अधिकार कर लिया और रक्कस गंग की शक्ति का अन्त हो गया। लगभग १०२४ ई० के उसके एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने शासन का समूलोन्मूलन नहीं किया और राजेन्द्र प्रथम नामक चोल शासक के सामन्त रूप में वह कुछ और अधिक समय तक राज करता रहा। गंग वंश के राजकुमार कुछ अधिक काल तक सामन्तों के रूप में शासन करते रहे। बारहवीं शताब्दी के होयसल नरेश विष्णुवर्धन का मन्त्री गंगराज था। शिवसमुद्रम् के गंगराज ने सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विजयनगर के कृष्णदेव राय का विरोध किया। इसके बाद गंग वंश के राजकुमारों के अस्तित्व का कोई पता नहीं चलता।

तलकाड के पश्चिमी गंगों का महत्त्व उसके सांस्कृतिक कार्यों के कारण अधिक है राजनीतिक कार्यों के कारण अपेक्षाकृत कम। गंग वंश का राजनीतिक इतिहास अविस्मरणीय तथ्यों से हीन है। पड़ोस के शक्तिशाली राज्यों की लोलुप दृष्टि सर्वदा इस पर पड़ती रही। सुदूर दक्षिण और दक्कन के राज्यों के ठीक मध्य में स्थित होने के कारण पश्चिमी गंगों के राज्य (गंगवाडी) की स्थिति हो ऐसी थी कि इसे सर्वदा शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी शासकों के घोड़ों की टाप सहनी पड़ती थी। यूरोप के नदरलण्ड की भाँति गंगवाडी को भी सहस्रों बार अनिच्छापूर्वक रणभूमि बन जाना पड़ा। यही कारण है कि गंगों की राजनीतिक शक्ति की कभी भी अधिक विकास न हो सका। किन्तु अनेक गंग राजाओं ने साहित्य और कला के क्षेत्र में अपनी देन छोड़ी है। उन्होंने आधुनिक कन्नड भाषा की नींव डाली। बाद में विजयनगर राज्य के शासकों ने कन्नड भाषा की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया। माधव त्रिलोप तथा श्रीविक्रम जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण राजनीतिक इतिहास में नहीं किया जा सका न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अविनीत एक महान विद्वान् था। दुर्विनीत जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं एक लेखक था। उसने बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर के अतिरिक्त व्याकरण का एक ग्रन्थ लिखा और किसी पुस्तक पर उसके द्वारा भाष्य लिखे जाने का प्रमाण मिलता है। कहा जाता है कि उसने संस्कृत के महाकवि भारवि को अपनी राजसभा में आदरपूर्ण स्थान दिया था और कन्नड भाषा में भी वह लिखा करता था। श्रीपुरुष का राज्य काल भी साहित्यिक उन्नति के लिए अनुकूल था। शिवमार भी बौद्धिक उपलब्धियों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ऐसी अनुश्रुति है कि वह तीन भाषाओं में सेगन काव्य कर सकता था। एरप्पा एक प्रसिद्ध वैयाकरण

२९ | सुदूर दक्षिण के राजवंश

पल्लव राजवंश

पल्लवों का मूल—पल्लवों के मूल के विषय में विद्वानों की अनेक विभिन्न धारणाएँ हैं। डा० विंसेंट स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' के प्रथम संस्करण में अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि पल्लव नाग पर्शियन अथवा पार्थियन मूल के थे। स्मिथ साहब के इस मत का समर्थन श्री वेंकय्या ने कुछ विस्तार के साथ किया है। श्री वेंकय्या ने लिखा है, "जब तक पल्लवों के मूल का प्रश्न विवादशून्य तर्कों द्वारा सन्तोषजनक रूप में सुस्थिर नहीं हो जाता तब तक उनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित पलवों, पुह्लवों और पह्लवों के साथ किया जाना चाहिए। यह समीकरण शब्द व्युत्पत्ति के ऊपर आधारित है और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी भारत की जनसंख्या में पह्लव (पह्लव) नाग एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में विद्यमान थे। पश्चिमी भारत से पूर्वीय समुद्र तट की ओर उनका संक्रमण केवल सम्भव ही नहीं प्रतीत होता अपितु ज्ञात ऐतिहासिक तत्त्वों के द्वारा यह (संक्रमण) सम्भाव्य भी कर दिया गया है।" श्री वेंकय्या ने पह्लव संक्रमण के आधार पर अपने मत को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके मत का वास्तविक आधार नामों की ऊपरी साम्यता ही है क्योंकि इस बात का कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि पह्लव (या पार्थियन) नाग कभी भी दक्षिणापथ (दक्कन) अथवा पश्चिमी भारत से सुदूर दक्षिण में जाकर बस गये थे। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि डा० एल० राइस ने चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में अपना जो मत व्यक्त किया था उसका सम्बन्ध पल्लवों के मूल की समस्या से भी है। अपने Mysore and Coorg from Inscriptions में डा० राइस ने लिखा है कि दक्षिण भारत के पल्लव नरेशों का समीकरण पह्लवों के साथ किया जाना चाहिए जिन पह्लवों का उत्पादन गौतमी पुत्र शातकर्णि ने शकों और यवनों के साथ कर दिया था। डा० राइस की धारणा है कि पह्लव शब्द पार्थव शब्द का प्राकृत रूप है जिसका अभिप्राय पार्थियन, विशेषतया एरसिडियन (Arsacidian) पार्थियनों से है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं कि चालुक्यों के मूल के सम्बन्ध में डा० राइस की विचित्र धारणा निराधार है। इसी प्रकार इस बात का भी अभी ही विचार किया जा चुका है कि दक्कन के पह्लवों और दक्षिण भारत के पल्लवों में कोई सम्बन्ध नहीं था। विंसेंट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ के तीसरे संस्करण में पल्लवों के विदेशी मूल की इस धारणा का खण्डन किया है और लिखा है कि पल्लव नाग देश के किसी स्वदेशोत्पन्न कबीले, वंश या जाति के थे।[1]

पल्लवों और पह्लवों के समीकरण का प्रयत्न एक अन्य प्रमाण को भी ध्यान में रखने से निराधार जान पड़ता है। डा० एस० कृष्णस्वामी आयंगर ने इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कवि राजशेखर का मत उद्धृत किया है जो गुर्जर प्रतीहार नरेश महेन्द्रपाल या महीपाल की राजसभाओं में नवीं शताब्दी के अन्त तथा दसवीं शताब्दी के

1 *Early History of India* (Third Edition) p 469

प्रारम्भ में रहता था। राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भुवनकोष' में भारत को पाँच भागों में विभक्त किया है और प्रत्येक भाग के लोगों, नगरों और नदियों का वर्णन किया है। राजशेखर ने पल्लवों को दक्षिणी भाग अथवा दक्षिणापथ (माहिष्मती के उधर) का बताया है और पह्लवों को पृथूदक के उस पार उत्तरापथ का निवासी बताया है। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार पल्लव और पह्लव दो विभिन्न जातियों के लोग थे। पल्लव दक्षिण में रहते थे और पह्लव सिन्धु नदी के दूसरी ओर सीमा प्रदेश में रहते थे।

श्रीयुत रसनयगम का मत है कि पल्लवों का मूल निवास दक्षिण के उस स्थान में था जिसे प्राचीन तामिल लोग 'मणिपल्लवम्' कहते थे। रसनयगम का विश्वास है कि किल्लि का पुत्र इलम तिरयन जिसका जन्म 'मणिमेकलई' में उल्लिखित नाग राजकुमारी के गर्भ से हुआ था प्रथम पल्लव शासक था। इलम तिरयम पानी में होने पर बह गया था किन्तु समुद्रतट पर जब वह पकड़ा गया तो उसके टखने में तोण्डई-लता की शाखा का गेंडुरा बंधी हुई थी। इसी से उसका नाम ताण्डमान इलम तिरयम पड़ा। इस प्रकार इलम तिरयम पल्लवों का प्रथम नरेश और उनकी राजसत्ता का प्रतिष्ठापक था। उसका काल दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थिर किया गया है। इलम तिरयम के वंश का नाम उसकी माँ के मूल निवास 'मणिपल्लवम्' के आधार पर 'पल्लव' वंश हुआ।[1] श्रीयुत रसनयगम के इस मतानुसार पल्लव नाग चोल-नाग कुल के थे और सुदूर दक्षिण तथा लंका के निवासी थे। किन्तु रसनयगम के इस मत का खण्डन श्री आर० गोपालन ने प्रत्ययात्मक तर्कों द्वारा किया है।[2] डा० जायसवाल का मत है कि पल्लव न तो विदेशी थे न द्रविड़ वरन् उत्तर के शुद्ध अभिजातकुलीय ब्राह्मण थे जिन्होंने क्षत्रिय-वृत्ति अपना ली थी और जो वाकाटकों की एक शाखा के थे। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री की यह धारणा है कि अपने समकालीन चूल और कदम्ब राजवंशों की भाँति पल्लव शासक भी मूलतः उत्तर भारत के ही थे जिन्होंने अपने लिए दक्षिण में एक नया निवास-स्थान खोज लिया और वहाँ की स्थानीय परम्पराओं को अपने प्रयोग में लाने के लिए ग्रहण कर लिया लेकिन पल्लवों को कदम्बों तथा वाकाटकों की तरह ब्राह्मण मानना असंगत जंचता है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी की धारणा है कि इसमें सन्देह नहीं कि पल्लवों के उत्तरी सम्बन्ध की बात कुछ सीमा तक सही है क्योंकि उनके प्राचीन अभिलेख प्राकृत में हैं और वे संस्कृत विद्या तथा संस्कृत के भी संरक्षक थे। परन्तु 'द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा' से उनको सम्बद्ध करनेवाली अनुश्रुतियाँ सम्भवतः मिथ्या पर अवलम्बित नहीं हैं। तालगुण्ड अभिलेख में कदम्ब मयूरशर्मन ने कांची के ऊपर पल्लव क्षत्रियों के प्रभाव को धिक्कारना है जिससे स्पष्ट है कि पल्लव क्षत्रिय थे।[3]

पल्लवों का राजनीतिक इतिहास—पल्लव वंश का सबसे प्राचीन ज्ञात शासक सिंहवर्मन था। उसका एक पाषाण अभिलेख गुन्टूर जिले के पालनाड़ तालुक में प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख की भाषा प्राकृत है और इसकी लिपि प्राकृत अभिलेखों की लिपि से काफी मिलती जुलती है। सिंहवर्मन अपने सभी उत्तराधिकारियों की भाँति भारद्वाज गोत्र का था। सिंहवर्मन के पश्चात् हम स्कन्दवर्मन का नाम मिलता है।

[1] *Indian Antiquary* खण्ड ५२ (अप्रैल १९२०), पृष्ठ ७३-७८।
[2] आर० गोपालन, *History of the Pallavas of Kanchi*, pp. 21-22
[3] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ३२८।

स्कन्दवर्मन पहले युवराज था और बाद में उसने धर्ममहाराजाधिराज की उपाधि धारण कर ली। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। उसकी राजधानी काञ्ची थी। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी और पश्चिम में अरब सागर तक फैला हुआ था। स्कन्दवर्मन का पुत्र बुद्धवर्मन अपने पिता के समय में युवराज था। अपने पिता को उसने अपने युवराजत्व काल में शासन कार्य में सहायता प्रदान की थी। स्कन्दवर्मन का समय ईसा की तीसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध था जिस समय तक दक्षिण में राजकीय कार्यों के लिए प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता था।

स्कन्दवर्मन के बाद पल्लव राजवंश के नृपति का नाम विष्णुगोप मिलता है। विष्णुगोप ने अपने सामन्त पालक उग्रसेन के साथ समुद्रगुप्त के आक्रमण का सामना किया था। विष्णुगोप का एक निकट सम्बन्धी कुमारविष्णु था जो उसका ही समकालीन था। कुमारविष्णु (३२५–५० ई०) ने जिस वंश को चलाया वह ५०० ई० या उसके बाद तक कायम रहा। इन राजाओं के समस्त लेख संस्कृत भाषा में और ताम्रपत्र पर हैं। इन अभिलेखों का उद्देश्य पुनीत ब्राह्मणों और मन्दिरों को भूमि दान देना है परन्तु साथ ही वे तात्कालिक घटनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। पल्लव-इतिहास के इस युग का कालक्रम गंग राजाओं के लेखों से निश्चित किया जा सकता है क्योंकि गंग राजाओं ने अपने समकालीन पल्लव नरेशों का भी उल्लेख किया है। लोकविभाग नामक सृष्टि विज्ञान विषयक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से भी पल्लव इतिहास का कालक्रम निर्धारित करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ की समाप्ति जिस दिन हुई उस दिन सन् ईसवी के अनुसार २५ अगस्त ४५८ ई० तारीख थी। ४५८ सन् ईसवी का साल सिंहवर्मन के शासन का २२वाँ वर्ष है। इस युग के पल्लव शासकों की वंशावली भी असन्दिग्ध नहीं है। इस युग के लेखों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात यह है कि वे (काञ्ची राजधानी) से नहीं वरन् अन्य स्थानों से घोषित किये गये थे। इस कारण से कुछ विद्वानों की धारणा है कि पल्लवों का अधिकार कुछ दिनों के लिए काञ्ची से जाता रहा था। किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का विश्वास है कि पल्लवों के राजवंश भिन्न भिन्न थे जो विभिन्न स्थानों से शासन कर रहे थे।

पल्लव राजशक्ति का चरम विकास

सिंहविष्णु का वंश और इसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

सिंहविष्णु के राज्यारोहण से काञ्ची के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। सिंहविष्णु ने एक नये राजवंश की स्थापना की थी। इस राजवंश के शासकों ने पल्लव राज्य की राजनीतिक शक्ति का खूब विकास किया। इस समय से लेकर पल्लव शक्ति का प्रवेश तामिल देश में पहले की अपेक्षा अधिक दूर तक होने लगा। इस युग में शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के सबसे प्रसिद्ध सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। इन नायनमार और आलवार सन्तों ने अपने सरस और भावपूर्ण पदों द्वारा दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन तथा दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिया। एक अन्य दृष्टि से भी दक्षिण भारत के इतिहास में पल्लव इतिहास का यह युग विशेष महत्त्व का है। इसी युग में तामिल देश के निवासियों ने मन्दिर तथा अन्य इमारतों के निर्माणार्थ लकड़ी तथा ईंट के स्थान पर पत्थर का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। निर्माण-सामग्री के इस महत्वपूर्ण परिवर्तन से आगे आनेवाली

कुछ ही शताब्दियों के दौरान में दक्षिण भारत में शिव, विष्णु और ब्रह्मा के मन्दिरों का जाल सा बिछ गया। इस युग के पल्लव नरेशों ने तामिल देश में संस्कृत विद्या और संस्कृति के फैलाने का सक्रिय प्रयत्न किया। आधुनिक खोजों से यह सिद्ध होता है कि कुछ सर्वमहान् कवि और काव्यशास्त्रविद् जैसे 'किरातार्जुनीय' तथा 'काव्यादर्श' के प्रणेता क्रमशः भारवि तथा दण्डिन इस युग में काञ्चीपुरम् की राजसभा को समलंकृत करते थे।

सिंहविष्णु ने अपने राज्य की सीमा चोलों के अधिकार के भीतर कावेरी तक विस्तृत कर ली और पाण्ड्यों, कलभ्रों तथा मालवों (मलनाडु के निवासी) को अपने दक्षिणी आक्रमण के समय परास्त किया। मत्तविलासप्रहसन के रचयिता महेन्द्रवर्मन ने अपने पिता सिंहविष्णु की प्रशंसा में ये शब्द कहे हैं "पल्लव-कुलवरणि मण्डलकुलपर्वतस्य सवनयविजितसमस्त सामन्तमण्डलस्य आखण्डलसमपराक्रम श्रिय श्रीमहिमानुरूपदानविभूति परिभूत राजराजस्य।" सिंहविष्णु की धार्मिक अभिरुचि वैष्णव मत की ओर थी जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है। उसने ५७५ ई० से लेकर ६०० ई० तक शासन किया और अवनिसिंह की उपाधि धारण की थी।

महेन्द्रवर्मन प्रथम—सिंहविष्णु की मृत्यु के बाद सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महेन्द्रवर्मन पल्लव-वंश का नृपति हुआ। महेन्द्रवर्मन का शासन काल कई बातों के लिए स्मरणीय है। प्रथम बात यह है कि दक्षिण में वही ऐसा प्रथम शासक था जिसने कठोर पाषाण खण्डों को काटकर मन्दिर खुदवाने की कला का वहाँ प्रचार किया। दूसरी बात यह है कि उसी के शासन-काल में अप्पर नामक सन्त ने अपने धर्म प्रचार का कार्य किया और संस्कृत के महाकवि भारवि ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' लिखा। शासन प्रबन्ध के दृष्टिकोण से उसके राजत्व-काल ने दक्षिण की जनता को निरुपद्रविता का वातावरण प्रदान किया जिससे वह उद्योग व्यवसाय के शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त हो सकी। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम के पहले उस जनता को अपने शासकों के युद्धों का बोझ उठाना पड़ता था। सैनिक दृष्टिकोण से भी उसका शासन-काल महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसी समय में पल्लव चालुक्य और पल्लव-पाण्ड्य संघर्षों का प्रारम्भ हुआ जिन संघर्षों को उसके उत्तराधिकारियों ने कई शताब्दियों तक जारी रखा। महेन्द्रवर्मन ने नाटक, संगीत, चित्रकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की उन्नति को खूब प्रोत्साहन प्रदान किया। एक बात की ओर हम प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं कि महेन्द्रवर्मन प्रथम के दो समकालीन नरेश पुलकेशिन द्वितीय तथा सम्राट हर्षवर्द्धन शीलादित्य उसी की भाँति कलानुरागी तथा संस्कृति-सम्पोषक थे। उत्तर में हर्षवर्द्धन किस कला और साहित्य को राजाश्रय प्रदान कर रहे थे हम यह पीछे पढ़ चुके हैं। दक्षिणापथ में पुलकेशिन द्वितीय की शासन-व्यवस्था भी आर्य धर्म के उन्नत आदर्शों पर आधारित थी और सुदूर दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम अपने उदार शासन द्वारा संस्कृति तथा कलाओं की उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर रहा था। यह भारत का सौभाग्य था कि उसने इस समय तीन महान शासकों को जन्म दिया जिन्होंने अपने अपने राज्यों में शान्ति स्थापित कर रक्खी थी। ये तीनों शासक देश की संस्कृति में बल-संचार करने के लिए प्रयत्नवान थे। इन्होंने अपनी विजयों द्वारा भारत के विभिन्न विशाल भूभागों में राजनीतिक एकता स्थापित की। कन्नौज के हर्षवर्द्धन ने उत्तरापथ में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करके उसे राजनीतिक एकता प्रदान की। चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय की धाक सम्पूर्ण

दक्षिणापथ पर जमी हुई थी और पल्लव महेन्द्रवर्मन ने कृष्णा नदी के दक्षिण में समस्त छोटे छोटे राज्यों को विजित करके वहाँ के राजनीतिक अनैक्य को समाप्त कर दिया था। छोटे छोटे राजाओं को इतने सम्राटों हर्षवर्द्धन पुलकेशिन द्वितीय तथा महेन्द्रवर्मन की सेवा में कर देना पड़ता था। उत्तरापथ या दक्षिणापथ में कदम्ब, वातापि गंग वंश तथा केसरी वंश के नरेश पुलकेशिन द्वितीय के वश्य थे सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, पाण्ड्य तथा चेर वंश के नरपति महेन्द्रवर्मन प्रथम की अधीनता स्वीकार करते थे और उत्तरापथ में कान्यकुब्ज सम्राट हर्षवर्द्धन के अधीन पाँच शासक थे जिनमें वलभी के मैत्रक वंशीय तथा मालवा के उत्तर गुप्तकालीन नरेश प्रमुख थे।

महेन्द्रवर्मन प्रथम को अपने महान् समकालीन चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध करना पड़ा जिसके फलस्वरूप उसके अधिकार से पल्लव राज्य का कुछ भाग निकल गया। परन्तु महेन्द्रवर्मन के त्रिचनापल्ली गुहा अभिलेख से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण में काफी दूर तक फैला हुआ था। पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध उसे अपने रण-अभियानों में सफलता प्राप्त हुई किन्तु अन्य क्षेत्रों में उसने विपुल यश अर्जित किया। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने ललित कलाओं और साहित्य की उन्नति के लिए सार्थक प्रयत्न किया। अपने जीवन और शासन के प्रारम्भिक दिनों में वह जैन मतानुयायी था किन्तु कालान्तर में अप्पर नामक संत के प्रभाव से उसने शैव मत ग्रहण कर लिया। महेन्द्रवर्मन प्रथम के त्रिचनापल्ली लेख से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसके हृदय में भगवान् शंकर के प्रति महती श्रद्धा थी और उसने एक दरी मन्दिर का निर्माण कराया था। महेन्द्रवर्मन प्रथम द्वारा निर्मित शिव और विष्णु के कई दरी मन्दिर अन्य स्थानों में भी मिलते हैं। मण्डगप्पतु अभिलेख से विदित होता है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने ब्रह्मा ईश्वर और विष्णु के लिए भी एक मन्दिर बिना ईंट चूने लोहे और लकड़ी के बनवाया। इस प्रकार महेन्द्रवर्मन प्रथम ने दक्षिण भारत में दरी मन्दिर बनवाने की प्रथा प्रचलित की। वास्तव में उसके अनेक विरुदों में से चेत्तकारि अथवा चैत्यकारि अर्थात् चैत्यों अथवा मन्दिरों का निर्माता है। इन मन्दिरों की विशेषता उनके विशाल स्तम्भों में थी। ये दरी मन्दिर दलवनूर (दक्षिण अर्काट जिला) पल्लवरम् सियमंगलम् वल्लम (चिंगलपुत जिला) आदि स्थानों में मिले हैं।[1]

महेन्द्रवर्मन प्रथम सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। अपने महान् समकालीन उत्तरापथपति सम्राट हर्षवर्द्धन शिलादित्य की भाँति महेन्द्रवर्मन प्रथम भी एक प्रसिद्ध लेखक था। महेन्द्रवर्मन प्रथम ने मत्तविलासप्रहसन नामक ग्रन्थ लिखा। सित्तनवासल (पुदुक्कोटा रियासत) की जैन चित्रकारी में नृत्यविषयक चित्र मिलते हैं जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने नृत्य कला को प्रोत्साहन दिया। प्रसिद्ध विद्वान् डुब्राओ (Dubreuil) की धारणा है कि महेन्द्रवर्मन ने नृत्य कला पर यह पुस्तक भी लिखी थी। इस राजा के मामण्डूर अभिलेख में दक्षिणचित्र नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है जिसमें सम्भवतः चित्र कला तथा संगीत के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। यह ग्रन्थ भी महेन्द्रवर्मन द्वारा लिखित बताया जाता है। कुडुमियमलै का संगीत सम्बन्धी अभिलेख उसी का खुदवाया हुआ कहा जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि वह संगीत में बड़ा निपुण था। चित्र कला में उसकी निपुणता का संकेत उसी एक विरुद चित्रकारप्पुली से प्राप्त होता है। महेन्द्रवर्मन

[1] डा० रमाशंकर त्रिपाठी प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ ३३१।

प्रथम के एक अन्य विरुद विचित्रचित्त उसकी सर्वतोमुखता चरितार्थ कर देती है। मत्तविलासप्रहसन के प्रारम्भ में महेन्द्रवर्मन प्रथम के विभिन्न गुणों का वर्णन निम्न लिखित श्लोक में किया गया है—

प्रज्ञादानदयानुभावधृतय कान्ति कलाकौशल
सत्य शौर्यसमायता विनय इत्येवम्प्रकारा गुणा ।
अप्राप्तस्थितय ममेत्य शरण याता मयन क्लो
कल्पान्त जगदादिमादिपुरुष सगप्रमदा इव ॥

महेन्द्रवर्मन को विभिन्न प्रकार के विरुदों से बड़ा अनुराग था। उसने मत्त विलास, शत्रुमल्ल, गुणभार, विचित्रचित्त, सत्यसन्ध, परममाहेश्वर, महेन्द्रविक्रम, चेत्तकारि आदि उपाधियाँ धारण की। इन विरुदों का उल्लेख महेन्द्रवर्मन प्रथम के विभिन्न अभिलेखों में किया गया है।

नरसिंहवर्मन प्रथम—महेन्द्रवर्मन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम ७वीं सदी ई० के द्वितीय चरण के आरम्भ में सिंहासनारूढ़ हुआ। नरसिंहवर्मन के पिता को चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पराजित होना पड़ा था किन्तु गुणवान् पिता के इस पराक्रमी पुत्र ने अपने पिता के प्रबल शत्रु पुलकेशिन को गहरी पराजय दी और इस प्रकार अपने पिता की हार का बदला लिया। नरसिंहवर्मन को मणिमंगलम नामक स्थान में पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई किन्तु वह अपनी सफलता से सन्तुष्ट न हुआ और उसने अपने वीर सेनानायक सिरुतोंड उपनाम परञ्जोति के सेनापतित्व में एक सबल सेना वातापी पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस सेना ने चालुक्यों की राजधानी वातापी को घेर लिया। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए पुलकेशिन द्वितीय युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। बादामी पर नरसिंहवर्मन का अधिकार हो गया। अपनी इस महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में नरसिंहवर्मन ने वातापीकोण्ड का विरुद धारण किया (६४२ ई०)।

चालुक्यों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त नरसिंहवर्मन प्रथम अपनी राजधानी काञ्ची लौट आया। उस सिंहल के एक राजकुमार मानवर्म ने उसके युद्धों में सहायता दी थी अतएव नरसिंहवर्मन ने भी मानवर्म को सिंहल का राज्य प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नरसिंहवर्मन ने महाबलिपुरम से दो बार लंकाधिपति के विरुद्ध नौसेनाएँ भेजी। दूसरी बार नरसिंहवर्मन अपने प्रयत्न में सफल रहा और उसने मानवर्म को सिंहल के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

श्री गोपालन के अनुसार नरसिंहवर्मन को भी अपने पिता की भाँति अपने राज्य भर में मन्दिर बनवाने का शौक था। त्रिचनापल्ली जिले तथा पुदुक्कोट्टा रियासत में उसने चट्टानों को खुदवाकर मन्दिरों का निर्माण कराया था। इन मन्दिरों का साधारण नक्शा प्रायः वही है जो महेन्द्रवर्मन प्रथम के मन्दिरों के नक्शे का है। केवल उनका ऊपरी सामान अधिक अलंकृत है और उनके स्तम्भ भी अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हैं। नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल ने अपने नाम के अनुकूल महाबलिपुरम् अथवा महामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और उसे धर्मराज रथ जैसे मन्दिरों से मण्डित किया। धर्मराज रथ सप्तमण्डपीय मन्दिरों में से एक माना जाता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने ६४२ ई० के लगभग काञ्ची का पर्यटन किया था। चीनी यात्री ने पल्लव राज्य और वहाँ के निवासियों के विषय में अपने अनुभव लिखे हैं। उसके कथनानुसार देश की भूमि उर्वर है। साग नियत समय पर इस

जोतते है जिससे प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है। यहाँ फूल और फल भी अनेक प्रकार के होते हैं। बहुमूल्य रत्न और अन्य वस्तुएँ यहाँ उत्पन्न होती हैं। जलवायु उष्ण है और प्रजा साहसी है। लोग सत्यप्रिय और ईमानदार हैं और विद्या का बड़ा आदर करते है। यहाँ की भाषा और लिपि म मध्य देश की भाषा और लिपि म विशेष अन्तर नहीं है। यहाँ संघारामों की संख्या १०० से सगभग है जिनमें १० ०० भिक्षु रहते है। ये सभी भिक्षु महायान सम्प्रदाय की स्थविर शाखा के अनुयायी हैं। यहाँ प्राय अस्सी देव मन्दिर हैं और अनेक निर्ग्रन्थ हैं। ह्वेनसांग ने लिखा है कि लोगों का विद्याप्रेम वस्तुत प्रशंसनीय है। राजधानी से नातिदूर दक्षिण की ओर एक प्रसिद्ध संघाराम है जिसमें देश के विख्यात विद्वानों का प्राय समागम हुआ करता है। यात्री के द्वारा विवरण से एसा ज्ञात पड़ता है कि पल्लव राज्य में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनियों की संख्या काफी अधिक थी। ह्वेनसांग के लेख से ही इस बात की सूचना प्राप्त होती है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य तथा सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मपाल कांचीपुर के ही निवासी थे।

परमेश्वरवर्मन प्रथम—नरसिंहवर्मन प्रथम के पश्चात् महेन्द्रवर्मन द्वितीय राजा हुआ किन्तु उसका पाँच वर्षों का शासन काल घटनाशून्य था। उसकी मृत्यु के अनन्तर परमेश्वरवर्मन प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। चालुक्य लेखों से यह प्रमाण मिलता है कि परमेश्वरवर्मन प्रथम को चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम के आगे घुटने टेकने पड़े किन्तु पल्लव अभिलेखों का वक्तव्य है कि परमेश्वरवर्मन प्रथम ने पेरुवलनल्लूर (त्रिचनापल्ली जिले के लालगुडी तालुके में) के युद्ध में विक्रमादित्य प्रथम की सेना को मार भगाया। इन परस्पर विरोधी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चालुक्यों और पल्लवों के इस पारस्परिक संघर्ष में वस्तुत किसी पक्ष की पूरी तरह से विजय नहीं हुई। परमेश्वरवर्मन प्रथम भगवान शिव का परम उपासक था और उसने अपने इष्टदेव के अनेक मन्दिर राज्य भर में निर्मित कराये। मम्मलपुरम का गणेश मन्दिर सम्भवत परमेश्वरवर्मन ने ही बनवाया था और काञ्ची के निकट कूरम नामक स्थान में उसने एक शिव मन्दिर का निर्माण कराया। परमेश्वरवर्मन प्रथम ने 'चित्रमाय' 'गुणभाजन' 'श्रीमार' और 'रणजय' विरुद धारण किये थे। विद्याविनीत पल्लव भी उसकी एक अन्य उपाधि थी। उसने ६६० ई० से लेकर ६८० ई० तक शासन किया।

नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह—नरसिंहवर्मन द्वितीय सातवीं शताब्दी के प्राय अन्त में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा। श्री यत गोपालन की धारणा है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन काल शान्तिपूर्ण तथा बाह्याक्रमणों से विमुक्त था।[1] यही कारण है कि उसने अपने राज्य में अनेक मन्दिर बनवाये जिनमें काञ्ची का कैलाशनाथ मन्दिर महाबलिपुरम का तथाकथित 'शोर' मन्दिर काञ्ची का ऐरावतेश्वर मन्दिर और पनामलई के मन्दिर अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी मन्दिरों में नरसिंहवर्मन के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

नरसिंहवर्मन को अपने पिता पितामह की भाँति विरुदों से अतीव अनुराग था। धवल कैलाशनाथ मन्दिर की दीवारों पर ही उसकी २५० से अधिक उपाधियाँ खुदी हुई हैं। उसके कुछ विरुद हैं 'श्री शंकरभक्त' 'श्री वाद्यविद्याधर' 'श्री आगमप्रिय' 'शिवचूडामणि' और 'राजसिंह'। नरसिंहवर्मन द्वितीय की उपाधियों से उसकी

[1] *History of the Pallavas of Kanchi* p 108

व्यक्तिगत अभिरुचियाँ, उसके गुणों तथा उसकी धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। गोपालन् महोदय का कथन है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासन-काल एक उत्कृष्ट साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था।[1] वेलूरपालयम पत्रलेखों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजसिंह ने द्विजों की घटिका को पुनरुज्जीवित किया। ब्राह्मणों की घटिका में जिस विद्या का उपार्जन किया जाता था उसके स्वरूप का वर्णन कसकुडी पत्रलेखों में किया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि काव्यादर्श का प्रणेता दण्डिन राजसिंह (नरसिंहवर्मन द्वितीय) की राजसभा में कुछ काल तक रह चुका था। इसी प्रकार कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि भास के नाटकों का अभिनयार्थ संक्षिप्तीकरण राजसिंह की ही राजसभा में किया गया था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री की धारणा है कि पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन द्वितीय ने चीन के सम्राट की राजसभा में अपना राजदूत भेजा था।[2]

नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल—नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह की मृत्यु के अनन्तर परमेश्वरवर्मन द्वितीय नृपति हुआ किन्तु उसका शासन-काल अत्यन्त संक्षिप्त था। वेलूरपालयम पत्रों में उसके लिए लिखा है कि उसने मनुस्मृति के आदेशानुसार शासन किया। परमेश्वरवर्मन द्वितीय के उपरान्त नन्दिवर्मन द्वितीय पल्लवमल्ल को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि नन्दिवर्मन राज्यापहर्त्ता था किन्तु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। परमेश्वरवर्मन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य में उत्तराधिकार के प्रश्न पर गृह-कलह उत्पन्न हो गये। इन कलहों में अन्त में जनता के प्रतिनिधियों ने नन्दिवर्मन को, जिससे देश की प्रजा अत्यन्त स्नेह करती थी, राजा चुन लिया। नन्दिवर्मन का जन्म सिंहविष्णु के भाई भीमवर्मन के कुल में हुआ था।

नन्दिवर्मन द्वितीय के समय में चालुक्य-पल्लव-संघर्ष पुनरुज्जीवित हो उठा। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल के समय में चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष शान्त पड़ गया था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन की मृत्यु के बाद गृहकलह उत्पन्न हो जाने पर चालुक्यों ने पुनः पल्लव राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। ७४० ई० में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने नन्दिवर्मन द्वितीय के ऊपर आक्रमण करके उसे अस्तव्यस्त कर दिया। कहा जाता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने काञ्ची को कुछ दिनों तक अपने अधिकार में रक्खा। परन्तु शीघ्र ही नन्दिवर्मन ने अपनी परिस्थिति संभाल ली और शत्रु को मार भगाया। पल्लव-संघर्ष के अलावा नन्दिवर्मन ने अन्य रण अभियान किये। पाण्ड्य नरेश राजसिंह प्रथम के ऊपर उसने आक्रमण किया परन्तु नन्दिपुर नामक स्थान में जहाँ पर वह ठहरा हुआ था वह शत्रु से घिर गया। नन्दिवर्मन के वीर सेनाध्यक्ष उदयचन्द्र ने उसकी रक्षा की। नन्दिवर्मन द्वितीय के उदयेन्दिरम पत्रलेखों में उदयचन्द्र की सैन्य सफलताओं का उल्लेख किया गया है। इन पत्रलेखों से ज्ञात होता है कि उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों से उनके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। पल्लव पाण्ड्य संघर्ष के सम्बन्ध में आधुनिक तंजोर के निकट अनेक युद्ध हुए। नन्दिवर्मन ने गंगराज श्रीपुरुष से भी युद्ध किया। काञ्ची पर राष्ट्रकूटों ने भी आक्रमण किया परन्तु इस आक्रमण के पश्चात् दोनों शक्तियों में सुलह हो गई। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने अपनी कन्या रेवा का विवाह नन्दिवर्मन के साथ कर दिया।

---

[1] *History of the Pallavas of Kanchi* p 110

[2] *Foreign Notices of South India* pp 116 117

नन्दिवर्मन द्वितीय का शासन काल राज्य कार्यों, चढ़ाइयों, आक्रमणों तथा प्रत्याक्रमणों से परिपूर्ण था[1] फिर भी उसने निर्माण कार्यों के प्रति अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की। वह वैष्णव था और उसने अपनी राजधानी काञ्ची में मुक्तेश्वर मन्दिर बनवाया। काञ्ची का वैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर भी उसी के द्वारा निर्मित बताया जाता है। नन्दिवर्मन द्वितीय को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसके शासनकाल में ही प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तथा विद्वान् तिरुमंगई आलवार हुए थे जिनकी रचनायें नालायिरप्रबन्धम में संगृहीत हैं। नन्दिवर्मन स्वयं भी महान् विद्वान् था। उसके ताण्डातम पत्रलेखों में उसकी ज्ञानराशिता तथा काव्यकला निपुणता का उल्लेख किया गया है। काव्यशक्ति में उसकी तुलना आदिकवि वाल्मीकि से की गई है। नन्दिवर्मन द्वितीय ने पैंसठ वर्षों तक शासन किया।

दन्तिवर्मन और उसके उत्तराधिकारी—नन्दिवर्मन द्वितीय की राष्ट्रकूटवंशीया पत्नी रेवा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसका नाम दन्तिवर्मन था। दन्तिवर्मन को नन्दिवर्मन द्वितीय के उपरान्त पल्लव राज्य का स्वामित्व प्राप्त हुआ। दन्तिदुर्ग के समय में पल्लवों और राष्ट्रकूटों के बीच विवाह सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे फिर भी ध्रुव निरुपम तथा गोविन्द तृतीय नामक राष्ट्रकूट राजाओं ने काञ्ची पर आक्रमण किया। वरगुण पाण्ड्य ने कुछ समय तक कावेरी प्रदेश पर अधिकार रक्खा। किन्तु नन्दिवर्मन तृतीय (८२६–८४९ ई०) के समय में पल्लवों ने पाण्ड्यों पर विजय प्राप्त की। तेल्लर नामक स्थानों में नन्दिवर्मन तृतीय ने श्रीमार पाण्ड्य को पराजित किया अतएव उसका एक उपनाम तेल्लरेन्द्र नन्दिवर्मन पड़ा। कहा जाता है कि नन्दिवर्मन दक्षिण में काफी दूर तक पहुंच गया था। नान्दिक्कलम्बकम नामक समकालीन तामिल ग्रन्थ में उसकी विजयों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में उसके प्रमुख नगरों काञ्ची, महाबलिपुरम और मयलाई का वर्णन किया गया है। नन्दिवर्मन तृतीय ने राष्ट्रकूट वंश की एक राजकुमारी के साथ विवाह किया। वह शैवमतानुयायी था और उसने तामिल साहित्य को राजसंरक्षण प्रदान किया। भारत वेंबा नामक तामिल पुस्तक का प्रणेता पेरुन्देवनर नन्दिवर्मन तृतीय का समकालीन था। नन्दिवर्मन तृतीय का पुत्र और उत्तराधिकारी नृपतुंगवर्मन था जिसे ८४९ ई० में राजसिंहासन प्राप्त हुआ। नृपतुंगवर्मन ने भी पाण्ड्य नरेश श्रीमार को पराजित किया। उसके बाहूर पत्रलेखों से विदित होता है कि उसके मन्त्री ने वेदशास्त्रों के अध्ययनार्थ स्थापित एक संस्था को तीन ग्राम दान में दिये थे। अपराजितवर्मन वंश का अन्तिम शासक था। उसने पाण्ड्य राजा वरगुण द्वितीय को हराया। पाण्ड्यों से लड़ने में अपराजितवर्मन पल्लव को गंग नरेश पृथ्वीपति प्रथम से सहायता प्राप्त हुई। नवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में चोल नरेश आदित्य प्रथम ने अपराजितवर्मन को पूरी तरह से परास्त कर दिया। इस प्रकार से पल्लव वंश की स्वतन्त्र राजसत्ता का अन्त हो गया। निःसन्देह कुछ छोटे-मोटे पल्लव राजा जैसा कि उनके अभिलेखों से सूचित है जहाँ-तहाँ बाद तक राज करते रहे। परन्तु पल्लव-वंश सूची में उनका स्थान स्पष्ट नहीं।

---

[1] The reign of Nandivarman II appears to have been almost literally crowded with military engagements sieges invasions and counter invasions. *History of the Pallavas of Kanchi* p 123

पल्लवों की शासन-पद्धति—पल्लवों के अनेक ताम्रपत्रों से उनकी शासन पद्धति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। हिरहदगल्ली ताम्रपत्र से यह स्पष्ट सूचित होता है कि तीसरी शताब्दी के मध्य में ही पल्लव शासकों ने एक सुव्यवस्थित शासन प्रणाली को जन्म दिया था जिसका प्रधान राजा स्वयं था। इस शासन प्रणाली के अन्य स्तम्भ थे प्रान्तीय गवर्नर तथा विभागीय अमात्यगण। कुछ मंत्रियों को सार्वजनिक उद्यानों, स्नानागारों, तथा अरण्यों से सम्बन्धित विभाग का काम सौंपा जाता था। आयुत गोपालन की सम्मति में पल्लवों की शासन-व्यवस्था कुछ बातों में हमें मौर्यों और कुछ विषयों में गुप्तों की शासन प्रणाली का स्मरण दिलाती है।[1] श्री कृष्णस्वामी आयंगर का भी यही मत है कि प्रारम्भिक पल्लव राजाओं की शासन व्यवस्था मौर्यों की शासन प्रणाली से काफी मिलती-जुलती है।

प्रारम्भिक पल्लव राजाओं के समय में भी उनका साम्राज्य छोटे बड़े भागों में विभाजित था जिनका शासन करने के लिए राज्य की ओर से कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे। सम्पूर्ण साम्राज्य को राष्ट्रों में विभक्त किया गया था। राष्ट्र के प्रधान अधिकारी को विषायक कहा जाता था। कोष्ठक (कोट्टम) तथा ग्राम राष्ट्र के छोटे विभाग थे जिनके शासकों को क्रमशः देशातिक और ग्रामिक कहा जाता था। सम्राट शासन सम्बन्धी प्रश्नों पर मंत्रियों के एक दल (रहस्यादिकृत) से परामर्श लिया करता था। सम्राट का निजी मंत्री उसके आदेशों की घोषणा किया करता था। प्राचीन पल्लव पत्रलेखों से इस बात की सूचना मिलती है कि कर एकत्र करने के लिए विशेष कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता था। इन कर्मचारियों को मण्डपी तथा जहाँ कर जमा किया जाता था उस स्थान को मण्डप कहते थे। इस युग में स्नानयोग्य जलाशयों की देख रेख के लिये भी अफसरों की नियुक्ति की जाती थी, जिनका यह प्रमुख कर्तव्य था कि वह स्नान करनेवालों की सुविधाओं तथा सुरक्षा का ध्यान रखें। ये अफसर तीर्थिक कहे जाते थे। वन विभाग भी राज्य के विभिन्न विभागों में से एक था और इस विभाग के अध्यक्ष को गुल्मिक कहते थे। नयक नामक एक सैन्य-अधिकारी होता था जिसका स्तर सेनापति के बाद ही होता था। इन प्रमाणों के आधार पर गोपालन महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पल्लवों की शासन प्रणाली उत्तरी भारत की शासन-व्यवस्था से मिलती-जुलती है दक्षिणी भारत की किसी शासन-व्यवस्था से नहीं जिसे कि हम जानते हैं।

---

[1] From the earliest of these (copper plates) namely the Hirahadgalli copper plates issued from the capital Kanchipuram we learn that already in the middle of the third century there prevailed a system of administration with the king at the top and the provincial governors and several departmental ministers in charge of parks public baths forests reminding us in several details of the Mauryan and in some respects the Gupta administration *History of the Pallavas of Kanchi* p 146

[2] *Evolution of Hindu Administrative Institutions in South India* (Lectures III and IV)

ग्राम शासन—जैसा कि हम आगे देखेंगे, चोलों की शासन प्रणाली में स्वावलम्बी निर्भर ग्राम सभायें प्रारम्भ में ही विद्यमान थीं और उन्हें चोल राजतन्त्र में प्रमुख स्थान प्राप्त था किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि प्रारम्भिक पल्लव युग में संस्थायें थीं अथवा नहीं। परन्तु पश्चात्यकालीन पल्लव राजाओं के अभिलेख यह सूचित करते हैं कि ग्राम सभाओं का अस्तित्व उनके समय में विद्यमान था जो गाँवों के आर्थिक न्याय सम्बन्धी तथा सामान्य शासन की देख रेख करती थीं। ग्राम सभा उद्यान मन्दिर तालाब आदि स्थानों के प्रबन्ध अपनी उपसमितियों द्वारा करती थी। इसके अतिरिक्त सभा के कुछ कार्य न्याय तथा व्यवहार (कानून) सम्बन्धी भी थे और प्रायः सार्वजनिक दानों का प्रबन्ध भी उसी के जिम्मे था। सिंचाई और भूमि माप की व्यवस्था मुख्य थी। ग्राम की सीमायें स्पष्टतः निर्दिष्ट कर दी जाती थीं और जोते गये और परती का विवरण माप के लिए पूरा पूरा रक्खा जाता था।

पल्लवयुग में साहित्य—दक्षिण में पल्लव शासन का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह था कि इसने साहित्य विशेषतया संस्कृत की उन्नति को सम्भव बनाया। पल्लवों के समय में ही आलवार तथा आदियार आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिनके कारण नागरिकों के धार्मिक दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन समुपस्थित हुआ। पल्लव नरेशों में से अधिकांश कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया यह हम पीछे देख चुके हैं कि पल्लवों की राजधानी काञ्ची अत्यन्त प्राचीन काल से ही संस्कृत विद्या के केन्द्र रूप में विख्यात रही है। पतञ्जलि महाभाष्य से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उनके समय में भी काञ्ची की ख्याति काफी दूर तक फैली हुई थी। संगम युग में जिसका काल ईसा की प्रारम्भिक प्रथम तीन शताब्दियाँ निर्धारित किया गया है अरवण अदिगल काञ्ची में बौद्ध दर्शन की शिक्षा दिया करते थे। प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक दिङ्नाग को भी अपने जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण वर्ष काञ्ची में व्यतीत करने पड़े थे। मयूरशर्मन को अपनी वैदिक शिक्षा की समाप्ति के लिए काञ्ची जाना पड़ा था इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। छठी शताब्दी के अन्तिम दिनों में यह सुनने पर कि संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि भारवि गंगराज दुर्विनीत के साथ रह रहे हैं सिंहविष्णु ने उनको अपनी राजसभा में आमन्त्रित किया। सम्भवतः भारवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय की रचना इसी समय की थी। मण्डूर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि किसी वैदिक विद्यालय की मान्यता के लिए राज्य की ओर से तीन ग्राम प्राप्त होते थे।

सिंहविष्णु के सुविख्यात पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम के रचना कौशल का कुछ उल्लेख किया जा चुका है किन्तु उसके ग्रन्थ मत्तविलासप्रहसन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रहसन की प्रधान रोचकता यह है कि वह तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का उल्लेख करता है। सम्पूर्ण नाटक हास्य विनोद से भरा हुआ है जैसा कि प्रहसन का होना स्वभावतः अनिवार्य है। नाटक का रचयिता स्वयं शैव था। उसने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों तथा स्याद्वाद दर्शन पर सविनोदपूर्ण आक्रमण किया है। उसकी शैली सरल एवं ललित है। कवि ने अनेक स्थलों पर अपनी कवित्व शक्ति का चमत्कार दिखाया है। नाटक का विषय बहुत साधारण है किन्तु उसका रूप बड़ा बढ़िया है। इस असंगति से प्रहसन का प्रभाव और बढ़ जाता है उसे हम दोष नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के

रचयिता ने भी इसकी भाँति विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग में कौशल प्रदर्शित किया है।[१]

महेन्द्रवर्मन प्रथम के उत्तराधिकारियों में से किसी एक की राजसभा में दण्डिन रहा करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि त्रिवेन्द्रम से अभी कुछ ही समय पूर्व जो नाटक भास के नाम से प्रकाशित हुए हैं वे वस्तुतः भास और शूद्रक के प्राचीनतम नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं जो इसी काल पल्लव राजसभा में अभिनयार्थ प्रस्तुत किये गये थे।[२]

कला—तामिल देश में पाषाण वास्तुकला का प्रारम्भ पल्लवों के समय में ही हुआ। पल्लव वास्तु कला के विकास की रूपरेखा सुस्पष्ट है। सबसे पहले त्रिचनापल्ली में दरीमंदिर बनवाये गये। इसके बाद महाबलिपुरम् में रथ मंदिरों का निर्माण कराया गया। फिर महाबलिपुरम में 'शोरमंदिर' जैसे विशाल मंदिर बनवाये गये। पल्लव वास्तु की चार विभिन्न शैलियाँ के नाम पल्लव राजाओं के नाम पर रखे गये थे—(१) महेन्द्रवर्मन प्रथम शैली (२) महामल्ल शैली (३) राजसिंह और नन्दिवर्मन द्वितीय शैली और (४) अपराजित शैली। इस बात का प्रमाण मिलता है कि पहले कलाकार वास्तु कला में काष्ठ का प्रयोग करते थे किन्तु बाद में वे पत्थर का प्रयोग भी निपुणता से करने लगे। चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने की कला दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय में प्रारम्भ हुई। त्रिचनापल्ली और महाबलिपुरम् के मन्दिर दरी मन्दिर हैं। पत्थर और चूने से ऊँचे-ऊँचे शिखरों और मण्डपों वाले मंदिर भी बनवाये गये जिनमें कैलाशनाथ मंदिर अधिक उल्लेखनीय है। इन मंदिरों की दीवालों को विशिष्ट तक्षण चित्रों से समलंकृत किया गया था। सित्तनवासल में चित्रकारी के भी उदाहरण मिलते हैं।

सुदूर पल्लवों के काल में उत्तर भारत की कला और संस्कृति के अनेक तत्व दक्षिण में पहुँचे। उनके अधीन सुदूर दक्षिण में सांस्कृतिक विकास की एक परम्परा चल पड़ी जिसका पूर्ण विकास चोल सम्राटों के समय में हुआ।

चोल राजकुल

सुदूर दक्षिण के प्राचीन इतिहास में वहाँ की तीन परम्परागत राजनीतिक शक्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। ये तीन शक्तियाँ थीं—चोल, चेर और पाण्ड्य। तामिल देश अथवा सुदूर दक्षिण के इन राज्यों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र किया गया है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के लगभग कात्यायन ने चोलों का उल्लेख किया है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के साथ चोलों के स्वतंत्र राज्य का उल्लेख मिलता है। इन राज्यों के साथ सम्राट अशोक की मैत्री सम्बन्ध था। मौर्य साम्राज्य के पश्चात् ईसा की प्रारम्भिक दूसरी-तीसरी शताब्दियों में तामिल राज्यों की स्थिति का विवरण हम संगम युग के तामिल साहित्य तथा रोमन लेखकों जिनमें प्लिनी और पेरिप्लस के अज्ञात लेखक अधिक उल्लेखनीय हैं द्वारा प्राप्त होता है। संगम युग के साहित्य में कविताओं के लगभग तीन हजार पंक्तियाँ तथा 'पत्तुपात्तु' नामक काव्य

[१] कीथ *The Sanskrit Drama* p 185
स्वर्गीय गौरीशंकर चटर्जी द्वारा उद्धृत—हर्षवर्द्धन, पृष्ठ ४०३।
[२] *History of the Pallavas of Kanchi* p 159

सम्भव है। संगम साहित्य में चोल वंश के कुछ प्राचीन राजाओं का विवरण तो प्राप्त होता है किन्तु इस विवरण के आधार पर चोल वंश का क्रमबद्ध इतिहास निर्मित नहीं किया जा सकता। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तामिल देश की सांस्कृतिक अवस्था जानने के लिए संगम युग का साहित्य बहुत उपयोगी है।

संगम युग के तामिल साहित्य में चोल वंश के जिन राजाओं का उल्लेख मिलता है उनमें करिकाल एतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। करिकाल इस युग में चोल वंश का एक शक्तिशाली और सुप्रसिद्ध शासक था। करिकाल एक महान् विजेता था। उसने अपनी सैन्य विजयों द्वारा सुदूर दक्षिण के अन्य राज्यों पर चोलों की धाक जमा दी। करिकाल ने चोल राज्य की सीमा का विस्तार किया फिर भी जैसा कि प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है उसकी सैन्य विजयों का प्रसार कावेरी से आगे की भूमि तक नहीं था।[१] कावेरी पट्टनम् तथा पाण्डिचेरी के बन्दरगाह करिकाल के राज्य में सम्मिलित थे। करिकाल की राजनीतिक सफलताओं का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही महत्त्व उसकी शान्तिकालीन विजयों का है। उसने जंगलों को साफ कराया और उनमें लोगों को बसाया। सिंचाई के लिये जलाशय खुदवाकर उसने अपने राज्य की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने का प्रयत्न किया। करिकाल वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने यज्ञों का अनुष्ठान किया था। पेरुनरकिल्ली भी चोल वंश का एक शक्तिशाली शासक था जिसने राजसूय यज्ञ किया था। तामिल राजाओं में केवल पेरुनरकिल्ली को ही राजसूय यज्ञ करने का गौरव प्राप्त था। कोच्चेनगणन नामक चोल नृपति ने भी करिकाल की भाँति पर्याप्त ख्याति अर्जित की। संगम-युग के चोल राजाओं से समस्त राजनीतिक शक्ति छीन ली। पल्लवों के उत्कर्ष से भी चोल शक्ति को काफी धक्का पहुँचा फिर भी चोलों का पूर्ण विनाश नहीं किया जा सका। साहित्य-ग्रन्थों तथा अभिलेखों में यदा कदा उनका उल्लेख प्राप्त हो जाता है। संगम-युग के बाद से विजयालय के पूर्व तक की छः शताब्दियों में चोलों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है यद्यपि इतना सत्य है कि उनका प्रभाव अत्यन्त परिमित था। चोल राजाओं के परवर्ती इतिहास का अध्ययन हम आगे की पंक्तियों में करेंगे यहाँ संगम-युग के तामिल देश की सांस्कृतिक अवस्था के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

संगम-युग में तामिल देश का समाज और वहाँ की संस्कृति—संगम-युग की तामिल देश की संस्कृति आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों के तत्वों से मिश्रित होकर बनी थी।[२] तामिल देश की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें उत्तरापथ की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं से काफी मिलती-जुलती थीं। तामिल नरेश अपनी राजधानी में राजभवनों पर ड्योढ़ीदारी कराने के लिये यवन प्रहरियों को नियुक्त किया करते थे। समाज का आर्थिक ढाँचा कृषिकर्म पर अवलम्बित था किन्तु उद्योग धंधों तथा व्यापार की स्थिति बहुत ही उत्तम थी। नौकाओं द्वारा जल मार्ग से व्यापार सामग्रियाँ भेजी जाती थीं और स्थल मार्गों में बोझ ढोने का काम पशुओं से लिया जाता था। अति प्राचीन काल से ही दक्षिण के महीन वस्त्र

[१] *The Colas* (Part I) pp 39-44

[२] इस सम्बन्ध में हम प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का मत गुप्तकालीन भारत की सांस्कृतिक विशेषताओं का अध्ययन करते हुए उद्धृत कर चुके हैं। उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

तथा मोतियों के प्रति उत्तर के लोग आकृष्ट थे। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने तामिल देश के मोतियों और सूती वस्त्र का उल्लेख किया है। तामिल देश के निवासी व्यापार-कुशल थे और वे पश्चिमी देशों तथा रोमन साम्राज्य में व्यापार किया करते थे। रोम के व्यापारी प्राय तामिल देश के बन्दरगाहों में आया करते थे और कुछ प्रमुख केन्द्र में उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। म्युज़िरिस (क्रन्गनोर) में पश्चिमी समुद्र-तट पर रोमन व्यापारियों ने अपने सम्राट् आगस्टस का एक मन्दिर बनवाया था। दक्षिण में रोमन साम्राज्य की सुवर्ण तथा रजत मुद्रायें प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुई हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार से तामिल लोगों को अधिक लाभ होता था। संगम युग तक तामिल देश का विदेशी व्यापार अत्यन्त समृद्ध था किन्तु बाद में इसका ह्रास होने लगा। पेरिप्लस में दक्षिण भारत के अनेक बन्दरगाहों तथा उनकी प्रसिद्ध व्यापार सामग्रियों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। भूगोलवेत्ता टाल्मी (लगभग १४० ई०) को दक्षिण भारत के अनेक आन्तरिक नगरों का ज्ञान था और उसने उनके बाजारों तथा व्यापार सामग्रियों का काफी विस्तृत वर्णन किया है। पूर्वीय देशों के साथ भी तामिल लोगों का व्यापारिक सम्बन्ध था और वे जहाजों में अपनी व्यापार-सामग्रियाँ—गरम मसाले, मिर्च, अदरक, मोती, रत्न, सुगंधित द्रव्य आदि—लादकर सुदूर पूर्व तथा मलय द्वीपों की यात्रा किया करते थे।

धनाढ्य व्यक्तियों के घर बड़े कलापूर्ण होते थे। ये चूने तथा ईंटों से बनाये जाते थे और भीतरी दीवालों पर देवताओं तथा पशुओं के चित्र टंगे रहते थे। घर के चारों ओर से एक प्रमोद उद्यान घेरे रहा करता था। जन-साधारण का जीवन भी प्रमोदमय था। वे मल्ल युद्धों के बड़े शौकीन होते थे। आखेट में रत थे और मछली पकड़ने में बड़े कुशल होते थे। लोगों के धार्मिक जीवन पर आर्यों की धार्मिक विचार धारा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। संगम युग के तामिल कवि वैदिक तथा संस्कृत महाकाव्यों की दन्तकथाओं से पूर्णतया परिचित थे और उन्होंने धर्मशास्त्रों की आचार सम्बन्धी मान्यताओं का यथास्थान निरूपण किया है। मणिमेक्लाई तथा सिलप्पदिकारम् नामक तामिल महाकाव्यों में, जिनका प्रणयन सम्भवत संगम-युग के आस पास किया गया था, आर्यों की पौराणिक कथाओं का उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। आर्यों के कर्मकाण्डों तथा धार्मिक अनुष्ठानों का प्रचार इस समय तक दक्षिण में भली प्रकार हो चुका था। संगम-युग के चोल शासकों द्वारा वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का परिचय प्राप्त होता है। मणिमेक्लाई में ब्राह्मणों की नित्य अग्नि पूजा का उल्लेख किया गया है। श्रोत्रिय परिवारों को समाज बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। आर्यों की वैदिक विवाह रीति भी तामिल-समाज द्वारा अंगीकृत की जा रही थी। शिव, बलराम और कृष्ण तथा सुब्रह्मण्य तामिलों के प्रसिद्ध उपास्य देव थे। वैदिक देवता इन्द्र की पूजा भी समय-समय पर की जाती थी। भजन-पूजन विधि में संगीत को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मणिमेक्लाई में एक सरस्वती मन्दिर का वर्णन किया गया है। पुनर्जन्म तथा कर्मवाद के सिद्धान्तों का तामिल समाज में पूरी तरह से प्रचार हो चुका था। तामिल देश के निवासियों की विचारधारा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव भी पर्याप्त रूप में पड़ा था।[1]

---

[1] *The Colas* चोल-इतिहास के लिए हम प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय भागों के ऋणी हैं। हमने इस ग्रन्थ से पूरा पूरा लाभ उठाया है।

मगध-युग से विजयालय तक—यह कहा जा चुका है कि कलभ्र लोगों ने चोलों की राजनीतिक शक्ति को काफी क्षति पहुँचाई। उत्तर भारत से पल्लवों ने तामिल देश में अपना राज्य स्थापित कर लिया जिससे चोल राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त न हो सका। उरयूर नामक भाग में निकटवर्ती चोलों की स्थिति सामन्तों के समतुल्य थी किन्तु कुडप्पा तथा करनूल जिलों में चोलों की शक्ति कुछ अधिक थी। सातवीं शताब्दी चीनी यात्री ह्वेनसांग ने रेनाडु चोलों की राजनीतिक शक्ति का उल्लेख किया है। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में चोल देश के निवासियों का वर्णन भी किया है। वह लिखता है "चु लि-य (चूल्य अथवा चोल) देश प्रायः २४०० या २५०० ली में फैला हुआ है और उसकी राजधानी का घेरा लगभग १० ली है। देश अधिकतर उजाड़ है और उसमें दलदलों और वनों का प्रभूत विस्तार है। देश की जनसंख्या बहुत थोड़ी है और सैनिक तथा डाकू खुले तौर पर देश को लूटते हैं। जलवायु उष्ण है प्रजा का स्वभाव बनैला और क्रूर है। लोग स्वाभाविक रूप से निन्द्य हैं और उनका विश्वास सद्धर्म के विरुद्ध है। संघाराम उजाड़ और गन्दे हैं और इसी प्रकार उनमें रहनेवाले भिक्षु भी अपावन हैं। वहाँ दर्जनों देवमन्दिर तथा अनेक निर्ग्रन्थ भिक्षु हैं।" ऐसा प्रतीत होता है कि ह्वेनसांग का उपर्युक्त विवरण सम्पूर्ण चोल देश के लिए ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि वहाँ की भूमि सर्वथा अनुर्वरा तथा जनसंख्या बहुत थोड़ी नहीं थी। कनिंघम साहब की धारणा है कि चीनी यात्री ने जिस स्थान का वर्णन किया है वह आधुनिक करनूल जिला है। जिस समय ह्वेनसांग ने दक्षिण का पर्यटन किया था वहाँ पर उस समय पल्लवों की राजसत्ता जमी हुई थी। सम्भवतः इस समय चोलवंशीय राजकुमार पल्लवों के अधीनस्थ सामन्त थे। चोलों का राजनीतिक सम्बन्ध दक्षिणापथ सुदूर दक्षिण की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों चालुक्यों तथा पल्लवों के साथ बहुत गहरा था। चालुक्यों तथा पल्लवों के पारस्परिक संघर्षों से लाभ उठाकर चोलों ने अपनी शक्ति बना ली।

विजयालय तथा आदित्य—नवीं शताब्दी के मध्य में विजयालय ने तंजोर पर अपना अधिकार जमाकर चोलों की राजनीतिक शक्ति को प्रतिष्ठित किया। विजयालय पल्लवों का सामन्त था। उसने पाण्ड्यों के सामन्त मुत्तरयर लोगों से तंजोर छीन लिया जिसके फलस्वरूप पल्लवों और पाण्ड्यों में संघर्ष छिड़ गया। श्रीपुरम्बियम के युद्ध में विजयालय के पुत्र आदित्य ने अपने स्वामी पल्लवराज अपराजितवर्मन का साथ दिया। अपराजितवर्मन को युद्ध में सफलता प्राप्त हुई जिसके उपलक्ष्य में उसने आदित्य को तंजोर का निकटवर्ती प्रदेश दिया। इधर पल्लवों की शक्ति भी ह्रासोन्मुखी थी, अतएव ८८३ ई० के लगभग आदित्य ने अपराजित वर्मन को पराजित कर दिया और कांची को अपने अधिकार में कर लिया। सम्पूर्ण पल्लव राज्य को अपने अधिकार में कर लेने पर आदित्य प्रथम चोल की राज्यसीमा उत्तर में राष्ट्रकूट राज्य-सीमा का स्पर्श करने लगी। गंग पृथ्वीपति द्वितीय ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। आदित्य ने विवाह सम्बन्धों द्वारा भी अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की राजकन्या से अपना विवाह किया और उसके द्वारा उसे एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम कन्नरदेव था। स्थाणु रवि ने अपनी पुत्री का विवाह आदित्य के पुत्र परान्तक के साथ कर दिया। चेर-नरेश स्थाणुरवि की सहायता से आदित्य ने पाण्ड्यों से कोयम्बटूर तथा सलेम के प्रदेश छीन लिये। इस प्रकार आदित्य चोल कलहस्ति से लेकर पुदुकोट्टा तथा कोयम्बटूर तक के प्रदेश का स्वामी हो गया। विजयालय और आदित्य दोनों ही शैव थे। आदित्य प्रथम ने शिव के कई मंदिर बनवाये थे। उसकी मृत्यु कलहस्ति के निकट तोण्डमानाड में हुई।

परान्तक—आदित्य प्रथम के पुत्र परान्तक (९०७-९५३ ई०) ने अपने शासन काल के प्रारम्भ से ही पाण्ड्यों से निबटने की ओर ध्यान दिया। उसने मदुरा पर आक्रमण करके मदुरैकोण्ड की उपाधि धारण की। ९१५ ई० में लगभग वल्लूर के युद्ध में परान्तक ने पाण्ड्यों तथा सिंहलों को पराजित कर दिया। अपने तृतीय रण-अभियान में ९२० ई० के लगभग परान्तक ने पाण्ड्य-नरेश राजसिंह द्वितीय को उसके राज्य से निकाल बाहर कर दिया और तीन वर्ष बाद उसने मदुरैयम् इलमुमकोण्ड (मदुरा तथा लंका का विजेता) की उपाधि धारण की। परान्तक ने पल्लव राजसत्ता के अवशेष को भी समूल नष्ट कर दिया और उत्तर में नेल्लूर तक के भूभाग को अपने अधिकार में किया। पश्चिमी गंग राजा पृथ्वीपति द्वितीय परान्तक का अधीनस्थ सामन्त था। इस प्रकार परान्तक का राज्य उत्तरी पेन्नार से कन्याकुमारी अन्तरीप तक फैल गया।

परान्तक प्रथम ने चालीस वर्षों तक शासन किया और अपने इस सुदीर्घ शासन काल में उसे प्रायः सफलता ही प्राप्त हुई, पराभव नहीं। किन्तु उसके जीवन के अन्तिम दिन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने पश्चिमी गंग बुतुग द्वितीय की सहायता से परान्तक प्रथम के राज्य पर तोण्डमण्डलम् में भीषण आक्रमण कर दिया। तक्कोलम (उत्तरी अरकाट जिला) के युद्ध में परान्तक प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र तथा चोलवंश का युवराज राजादित्य वीरगति को प्राप्त हुआ। तक्कोलम (९४९ ई०) के पराभव से चोलों की उत्पद्यमान साम्राज्य शक्ति को प्रबल आघात पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूट-आक्रामक ने काञ्ची तथा तंजोर पर अधिकार कर लिया और तञ्जयुन्कोण्ड का दृप्त विरुद धारण कर लिया। राजादित्य प्रथम की मृत्यु से उसके गुरु चतुरानन पण्डित को इतना भयानक धक्का लगा कि अपने प्रिय शिष्य के मरण से उन्होंने जीवन को व्यर्थ समझकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

तक्कोलम के युद्ध ने चोल राजसत्ता को समाप्त कर दिया परन्तु परान्तक प्रथम के उत्तम शासन प्रबन्ध का गौरव अक्षुण्ण रहा। परान्तक ने वल्लाल के युद्ध के बाद पच्चीस वर्ष तक बिल्कुल शान्तिपूर्वक राज्य किया और एक सुव्यवस्थित शासन-पद्धति को जन्म दिया। उसकी शासन-व्यवस्था में ग्रामों तथा शासन की बड़ी इकाइयों में लोक संस्थाओं को स्वशासन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। परान्तक प्रथम के उत्तर मेरु अभिलेखों में उसकी शासन-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। उसके शासन-काल में साहित्य की उन्नति हुई और कावेरी के तट पर वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर एक भाष्य लिखा। ऋग्वेद पर वेंकटमाधवप्रणीत भाष्य ही सम्भवतः सबसे प्राचीन भाष्य है। परान्तक प्रथम शिव का परम भक्त था। चिदाम्बरम् के शिव मन्दिर पर उसने सोने की छत डलवाई थी। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि वस्तुतः परान्तक का शासन-काल दक्षिण भारतीय मन्दिर-वास्तु के इतिहास में एक महान युग था और मन्दिर निर्माण का कार्य, जिसे आदित्य प्रथम ने आरम्भ किया था उसके शासन-काल के सर्वोत्तम भाग में सशक्त रूप में जारी रहा।[1]

---

1 In fact Parantaka s reign was a great epoch in the history of south India temple architecture and the work of temple building begun by Aditya was vigorously continued during the best part of his reign *The Colas* Vol I p 164

परान्तक के पश्चात् और राजराज प्रथम के पूर्व—९५३ ई० में परान्तक की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद चोलों की शक्ति नाममात्र की ही रही। ९८५ ई० में राजराज प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने चोलों की राजनीतिक शक्ति को न केवल पुनर्जागरित ही किया बल्कि उन्हें (चोलों) उत्कर्ष गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। परन्तु ९५३ से ९८५ तक का उत्तराधिकार का समय चोल इतिहास का तिमिराच्छन्न युग है। इस काल में चोल राजाओं की वंशावली पूर्ण अनिश्चित है और इसी प्रकार से उनका क्रम भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इस अनिश्चित काल का इतिहास जानने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों के विरोधी मत हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि परान्तक के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र गण्डरादित्य चोल वंश का राजा हुआ क्योंकि जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं राजादित्य तक्कोलम के युद्ध में मारा गया था।

गण्डरादित्य की ख्याति राजनीति में न होकर धर्म के क्षेत्र में है। उसकी रानी सेम्बियन महादेवी बड़ी ही धर्मात्मा और दयालु स्वभाव की थी। गण्डरादित्य के अनुज परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल ने अपने वंश की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न में वह पर्याप्त अंश तक सफल भी रहा। उसने अपने पुत्र आदित्य द्वितीय की सहायता से पाण्डय राज्य पर फिर से चोलों का अधिकार जमाना चाहा। यहाँ पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पाण्डयों और लंका के राजा की मैत्री इस समय भी कायम थी। लंकाधिपति वीर पाण्डय का सहायक था। परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया और वीर पाण्डय को युद्ध में मार डाला। परन्तु इस युद्ध का परिणाम अनिर्णयात्मक ही रहा। उत्तर में सुन्दर चोल को अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसने राष्ट्रकूटों के अधिकार से तोण्डमण्डलम या काञ्ची का प्रदेश छीन लिया। गण्डरादित्य के पुत्र उत्तम चोल ने जो स्वयं चोल राज्य का स्वामी होना चाहता था आदित्य को मार डाला। अपने सुयोग्य पुत्र तथा युवराज की हत्या से व्यथित होकर सुन्दर चोल स्वर्ग सिधार गया। सुन्दर चोल के बाद उत्तम चोल ने ९७३ से लेकर ९८५ ई० तक शासन किया। उत्तम चोल ने सुवर्ण के सिक्के चलाये जो चोल वंश के सबसे प्राचीन सिक्के हैं।[1] उत्तम चोल के उपरान्त राजराज को राजसिंहासन प्राप्त हुआ।

राजराज प्रथम—प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री के शब्दों में 'राजराज प्रथम के राज्यारोहण से हम चोल वंश के इतिहास में गौरव तथा वैभव की शताब्दी में प्रवेश करते हैं।' राजराज प्रथम के तीस वर्षीय शासन काल को चोल राजतन्त्र के इतिहास का निर्माणात्मक युग कहा जा सकता है। राजराज प्रथम परान्तक द्वितीय का पुत्र था। उसकी प्रथम उल्लेखनीय सफलता यह थी कि उसने कन्दलूर में चेरों के एक जहाजी बेड़े को विनष्ट कर दिया। दक्षिण में राजराज प्रथम ने केवल चेर-नरेश भास्कर रविवर्मन को ही नहीं परास्त किया अपितु उसे पाण्ड्यनरेश तथा लंकाधिपति के विरुद्ध भी सफलता प्राप्त हुई। उसने पाण्ड्य राज्य में चोलों का अधिकार जमा दिया और उत्तरी लंका को भी अपने राज्य में मिला लिया। लंका में अपनी विजय स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए राजराज प्रथम ने वहाँ भगवान शिव का एक मन्दिर बनवाया। उत्तरी लंका का भूभाग मुम्मडि चोल मण्डलम के नाम से चोल प्रान्त बन गया। पाण्ड्यों और चेरों की शक्ति को दबाये रखने के उद्देश्य से

1 *The Colas* Vol I p 194

राजराज प्रथम कुर्ग तक अपनी विजयवाहिनी ले गया। सन् ९९१ से १००४ ई० के बीच में उसने गंगवाडी तथा मैसूर के अन्य प्रान्तों को विजित कर लिया। पश्चिमी चालुक्य नरेश सत्याश्रय को राजराज प्रथम के द्वारा गहरी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के बाद राजराज ने रट्टपाडी पर अधिकार कर लिया और चालुक्य देश को रौंद डाला। तुंगभद्रा नदी चोल साम्राज्य की सीमा बन गई। राजराज प्रथम ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने उनकी पारस्परिक कलहों का अन्त करके उनके साथ मैत्री स्थापित कर ली। इस मैत्री के स्मारक में राजराज प्रथम ने अपनी कन्या कुन्दव्वै का विवाह विमलादित्य (वेंगीनरेश) के साथ कर दिया। अपने राजत्वकाल के अन्तिम दिनों में राजराज प्रथम ने लक्कद्वीव और मालदीव के द्वीप-समूहों को विजित किया। इन द्वीप-समूहों की विजय से यह स्पष्टतया प्रमाणित है कि राजराज प्रथम ने चोलों का एक जहाजी बेड़ा संगठित किया था। सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य के सम्राट् मारविजयोत्तुंगवर्मन के साथ राजराज प्रथम का मैत्री सम्बन्ध था और उसने मारविजयोत्तुंगवर्मन को नागपट्टम में एक बौद्ध विहार बनवाने की आज्ञा दे दी।

अपनी विजयों के फलस्वरूप राजराज प्रथम सम्पूर्ण वर्तमान मद्रास प्रान्त, कुर्ग, मैसूर और सिंहल के अनेक द्वीपों का स्वामी बन गया। इन सैन्य-सफलताओं को ध्यान में रखने पर राजराज प्रथम को प्राचीन भारत के अग्रणी योद्धाओं, महान् विजेताओं और साम्राज्य निर्माताओं की पंक्ति में गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए।

राजराज प्रथम केवल वीर विजेता नहीं था अपितु एक सुयोग्य शासक भी था। उसने अपने विभिन्न शासन सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपने साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर दी। भूमि-कर नियत करने के उद्देश्य से भूमि की ठीक-ठीक पैमाइश तथा कर की दर निश्चित करना, एक सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित व्यवस्था द्वारा जो आधुनिक शासन के सेक्रेटरिएट से मिलती-जुलती थी देश के शासन-संगठन को पूर्णता तक पहुँचा देना और उपयुक्त स्थानों पर केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि अफसरों की नियुक्ति करना, हिसाब की जाँच-पड़ताल तथा नियन्त्रण की व्यवस्था को प्रोत्साहित करना, जिसके द्वारा ग्रामसभाओं तथा अन्य लोक संस्थाओं के आय-व्यय का निरीक्षण किया जाता था किन्तु उनकी स्वतन्त्रता या स्वायत्तता की प्रवृत्ति पर कोई आघात नहीं होने पाता था, एक शक्तिशाली स्थायी सेना तथा जहाजी बेड़े का निर्माण, जिसने राजेन्द्र के समय में अधिक सफलता प्राप्त की, इन बातों से पता चलता है कि राजराज दक्षिण भारत के साम्राज्य निर्माताओं में सबसे महान् था।[1]

[1] "The accurate survey and assessment of the country for purposes of land revenue (a great survey commenced in 1001), the perfection of the administrative organization of the country by the creation of a strong and centralized machinery corresponding to the staff of secretaries in a modern administration, and the posting of representative officers of the central government in suitable localities, the promotion of a system of audit and control by which village assemblies and other quasi public corporations were held to account without their initiative or autonomy being curtailed, the creation of a powerful standing army and a considerable navy which achieved

राजराज स्वयं शिव का परम भक्त था किन्तु प्राचीन भारत के सभी महान् शासकों की भाँति वह धर्म के मामले में सहिष्णु था। उसने अपने राज्य में बौद्ध सम्प्रदाय को पनपने का अवसर प्रदान किया और यह इस बात से प्रकट होता है कि उसने श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मन को बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति दी थी। स्वयं राजराज ने इस बौद्ध विहार को एक गाँव दान में दिया था। वह महान् कला का निर्माता भी था। उसने तंजोर में अपने उपास्य देव शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर का नाम उसी के नाम के आधार पर राजराजेश्वर पड़ा। यह मन्दिर अपने अलंकृत भित्ति-रेखाओं सजीव मूर्तियों तथा असाधारण अलंकरणों की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। मन्दिर की भित्ति पर राजराज प्रथम की विजयों का वृत्तान्त खुदा है और यदि यह लेख प्रस्तुत न होता तो उस महान् नृपति के चरित्र का अधिकांश लुप्त हो जाता।

राजेन्द्र प्रथम—राजराज प्रथम का सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र उसके पश्चात् नृपति हुआ। अपने पिता के शासन काल में उसने युवराज रूप से शासन तथा सैनिक कार्यों में उसकी सहायता की थी। कल्याणी के चालुक्य नरेश सत्याश्रय पर चोलों को जो सफलता प्राप्त हुई थी उसका श्रेय राजेन्द्र प्रथम को दिया जा सकता है। राजराज प्रथम ने पाण्ड्य नरेश के विरुद्ध जो युद्ध किया उसके परिणाम स्वरूप वह केवल उत्तरी लंका का ही स्वामी हो सका किन्तु राजेन्द्र प्रथम ने १०१८ ई० में सिंहल के नरेश से उसका राजमुकुट छीन लिया और उसके देश को विजित कर लिया। इसी वर्ष राजेन्द्र प्रथम ने केरल शासक के ऊपर भी विजय प्राप्त की। उसने केरल और पाण्ड्य प्रदेशों का एक ही सामान्य शासन विभाग बनाकर वहाँ पर चोल वंश के एक शासक का नियन्त्रण कर दिया। इस प्रान्तीय शासक को चोल पाण्ड्य की उपाधि दी गई और मदुरा में उसकी राजधानी स्थापित की गई। राजेन्द्र प्रथम के समय में लक्षद्वीप और मालदीव पर चोलों का अधिकार बना रहा। कल्याणी के जयसिंह द्वितीय को १०२१ ई० में मुसंगी (मस्की) के निकट राजेन्द्र प्रथम के हाथों पराजय स्वीकार करना पड़ा परन्तु उसने रायचूर दोआब को फिर से जीत लिया और तुंगभद्रा नदी तक उसने अपना प्रभाव जमा लिया। कल्याणी के चालुक्य नरेश की ओर से उदासीन होकर राजेन्द्र प्रथम ने उत्तरी भारत के राज्यों को जीतने का निश्चय किया। वह स्वयं अपनी सेना के साथ गोदावरी तक आया और आगे के देशों को जीतने के लिए उसने अपने सेनापति को सेना के साथ भेज दिया। गोदावरी नदी को पार कर राजेन्द्र प्रथम की सेनायें बस्तर और उड़ीसा होती हुई पश्चिमी बंगाल तक जा पहुँचा। मार्ग में सभी राजाओं को चोल सेना ने पराजित किया। इसके पश्चात् सेना ने गंगा नदी को पार किया और पाल नरेश महिपाल प्रथम को हराया। गंगा की घाटी में अपनी विजयों के फल स्वरूप राजेन्द्र प्रथम ने गंगैकोण्ड का विरुद धारण किया। यह समझना भ्रामक है कि राजेन्द्र प्रथम ने यह अभियान धर्म यात्रा के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया था परन्तु राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड की इस विजय का उसके लिए कोई स्थायी राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी अन्य दृष्टियों से यह रण अभियान परिणाम शून्य नहीं था। श्री आर० डी० बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'पालाज आव बंगाल' में अपनी यह धारणा

---

even greater success under himself mark out Rajaraj as the greatest among the empire builders of Southern India

व्यक्त की है कि दक्षिण भारत के कुछ लोग पश्चिमी बंगाल तथा मिथिला में बस गये। बंगाल में सेन राजवंश तथा मिथिला में कर्णाट वंश की स्थापना इन्हीं दक्षिण भारतीयों ने की थी। उत्तरी भारत के कुछ शैव मतानुयायी तामिल देश में जाकर बस गये।

राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड की महत्त्वाकांक्षा उसकी इन उपर्युक्त विजयों से शान्त न हो सकी। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में वही ऐसा अकेला शासक था जिसने भारत की सीमा के बाहर जलमार्गों द्वारा बंगाल की खाड़ी में अपने जहाजी बेड़े का प्रयोग किया। सन् १०२५ ई० के लगभग राजेन्द्र प्रथम ने कडारम और श्रीविजय के राज्यों के विरुद्ध अपना जहाजी बेड़ा तैयार किया। श्रीविजय का राज्य सुमात्रा में था और कडारम को भी कुछ विद्वान उसी द्वीप में बतलाते हैं परन्तु अन्य विद्वानों की धारणा है कि यह (कडारम) मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर पेनन्ग के निकट था। बृहत्तर भारत के इन राज्यों की विजय का वास्तविक उद्देश्य क्या था यह नहीं कहा जा सकता। संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन नामक राजा जिसको राजेन्द्र चोल ने पराजित किया था शैलेन्द्रनृपति मारविजयोत्तुंगवर्मन का उत्तराधिकारी था। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मारविजयोत्तुंगवर्मन और राजराज प्रथम के बीच आपस में मैत्री सम्बन्ध था। डा० रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार सम्भवतः यह आक्रमण केवल राजेन्द्र प्रथम की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए नहीं किया गया था वरन् इसका उद्देश्य मलय प्रायद्वीप और दक्षिण भारत के बीच व्यापार सम्बन्ध स्थापित करना भी था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री की धारणा है कि चोलों का व्यापारिक सम्बन्ध चीन के साथ निरन्तर स्थापित था। श्रीविजय का राज्य दक्षिण भारत और चीन के व्यापारिक मार्ग के बीच में पड़ता था जिससे व्यापार में असुविधा होती थी। अतएव यह अस्वाभाविक नहीं कि व्यापारिक सुविधा के उद्देश्य से प्रेरित होकर राजेन्द्र चोल गंगैकोण्ड ने यह आक्रमण किया था। राजेन्द्र प्रथम के इस आक्रमण का कारण कुछ भी रहा हो इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रभाव स्थायी नहीं था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि श्रीविजय और कडारम के राज्यों पर राजेन्द्र प्रथम ने अपना शासन प्रबन्ध स्थापित किया था।

राजेन्द्र प्रथम को अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में आन्तरिक विप्लवों का सामना करना पड़ा था। राजेन्द्र प्रथम के बृहत्तर भारत रण अभियान के पश्चात् लंका ने अपनी स्वतन्त्रता का बिगुल बजाया। पाण्ड्य और केरल राज्यों ने भी बगावत कर दी किन्तु राजेन्द्र प्रथम के पुत्र राजाधिराज प्रथम ने इस विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन कर दिया। पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के विरुद्ध भी राजाधिराज प्रथम को सफलता प्राप्त हुई। इस आक्रमण में चोल सेना ने कल्याणी को खूब लूटा-खसोटा। मयूर आदि स्थानों में भी कुछ छोटे-मोटे आक्रमण किये गये। राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु १०४४ ई० में हुई।

राजेन्द्र प्रथम चोल वंश का एक शक्तिशाली सम्राट् तथा योग्य पिता का योग्य पुत्र था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने अपने पिता द्वारा उत्तराधिकार रूप में एक सुविशाल साम्राज्य प्राप्त किया था किन्तु उसने अपने बल और पौरुष से उस राज्य की सीमाओं का और अधिक विस्तार किया। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि राजेन्द्र प्रथम के शासन काल के अन्तिम दिन विजयानगर के उदय के चोल इतिहास का सबसे शानदार युग निर्मित करते हैं। (इस समय) साम्राज्य का विस्तार सबसे

अधिक था और इसका सैनिक गौरव सबसे ऊँचा था।[1]

राजेन्द्र प्रथम के समय में चोल साम्राज्य तत्कालीन भारतवर्ष का सबसे विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य था। उसकी सबसे प्रसिद्ध उपाधियाँ थीं 'कडारगोण्ड मुण्डिकोण्ड, गंगैकोण्ड तथा पण्डित'। उसकी प्रथम उपाधि से इस बात का ज्ञान होता है कि उसने पाण्ड्य, केरल तथा लंका के राजाओं से उनके राजमुकुट छीन लिये थे। उसने अपनी द्वितीय उपाधि की स्मृति चिरस्थायी बनाने के लिये गंगैकोण्ड चोलपुरम् नामक नगर बसाया और वहाँ अपनी राजधानी बनाई। 'पण्डित चोल' की उपाधि राजेन्द्र प्रथम के विद्यानुराग को सूचित करती है। उसने वहाँ के अध्ययनार्थ एक विद्यालय स्थापित किया था।

राजाधिराज प्रथम (ल० १०४४–५२ ई०)—चोलों की वंश परम्परा के अनुसार राजाधिराज प्रथम अपने पिता के शासन काल में युवराज बनाया गया था। अपने यौवराज्यकाल में उसने अपनी योग्यता का पर्याप्त परिचय दिया। राजसिंहासन पर बैठते ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु उसने वीरता तथा धैर्य पूर्वक उन कठिनाइयों का सामना किया। सिंहल की राजमाता के साथ राजाधिराज ने अपमानजनक व्यवहार किया और उसकी नाक कटवा दी। पश्चिमी चालुक्यों के साथ संघर्ष जारी रहा और इसकी परिणति कोप्पम के भयानक युद्ध में हुई। इस युद्ध में चोल नरेश राजाधिराज प्रथम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े किन्तु विजयश्री चोलों के ही हाथ रही। अपनी कई पराजयों और राज्यक्षति के बावजूद भी चालुक्यों ने चोलों के सम्मुख आत्म समर्पण नहीं किया। चोलों को चालुक्य राज्य के किसी भी भाग पर स्थायी रूप से अधिकार करने में सफलता न प्राप्त हो सकी। राजाधिराज का शासन काल अधिकतर युद्धादि कार्यों में ही व्यतीत हुआ। उसने सिंहलराज के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त करने पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

राजेन्द्र (देव) द्वितीय (ल० १०५२–६३ ई०)—राजेन्द्र द्वितीय राजाधिराज प्रथम का अनुज था। उसको कोप्पम के रणक्षेत्र में ही राजा घोषित किया गया। चालुक्यों के विरुद्ध लड़ते हुए राजेन्द्र द्वितीय ने अपनी वीरता तथा साहसिकता का परिचय दिया था। चोल-अभिलेखों का वक्तव्य है कि राजेन्द्र द्वितीय कोल्हापुर (कोलनापुरम) तक जा पहुँचा और वहाँ उसने जयस्तम्भ स्थापित किया। इस वक्तव्य के विरुद्ध विक्रमाङ्कदेवचरित का रचयिता बिल्हण लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोड़ शक्ति के तत्कालीन केन्द्र काञ्ची पर आक्रमण किया। इन परस्पर विरोधी वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों में वस्तुतः कोई पूर्णतः सफल न हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम को राजेन्द्र द्वितीय ने कूडल संगमम् नामक स्थान पर १०६२ ई० में पराजित किया था। राजेन्द्र द्वितीय के समय में चोल साम्राज्य की सीमायें संकुचित नहीं होने पायीं।

वीर राजेन्द्र प्रथम (ल० १०६३–७० ई०)—राजेन्द्र द्वितीय का अनुज वीर राजेन्द्र उसका उत्तराधिकारी हुआ। चालुक्यों से उसने संघर्ष जारी रखा। कहते हैं

---

[1] The closing years of Rajendra's reign formed the most splendid period of the history of the Colas of the Vijayalaya line. The extent of the empire was at its widest and its military and naval prestige stood at its highest. *The Colas*, p. 2[illegible]

कि सोमेश्वर प्रथम की चुनौती स्वीकार करके वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु सोमेश्वर प्रथम कुड्डल संगमम् के मैदान में युद्ध करने के लिए आया नहीं। सम्भवतः सोमेश्वर प्रथम रोग-ग्रस्त था इसलिए वह रणभूमि में उपस्थित न हो सका। अतएव कूड्डल संगमम् में अपना जयस्तम्भ प्रतिष्ठापित कर और सोमेश्वर प्रथम को एक कायर-मति बना उसे अपमानित कर वीर राजेन्द्र प्रथम आगे बढ़ा। इसके बाद चोल सम्राट् वेंगी तक पहुँच गया और बेजवाड़ा के निकट पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया। वेंगी पर अच्छी तरह से अपना अधिकार जमा लेने के बाद वीर राजेन्द्र अपनी राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम् लौट आया। उसने लंका में अपनी एक सेना भेजकर वहाँ के विद्रोह का दमन किया। उसने पाण्ड्य और केरल राजाओं के स्वतन्त्रता प्रयास को बिलकुल व्यर्थ कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय के साथ भी अधिराजेन्द्र का युद्ध हुआ। कहते हैं कि सोमेश्वर द्वितीय और उसके भाई विक्रमादित्य षष्ठ में पारस्परिक कलह हो गई। विक्रमादित्य षष्ठ की प्रार्थना पर जिसका विवाह एक चोल राजकुमारी से हुआ था वीर राजेन्द्र प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय के ऊपर आक्रमण किया और उसे इस बात के लिए विवश किया कि वह अपने राज्य का कुछ भाग अपने भाई विक्रमादित्य षष्ठ को दे। वीर राजेन्द्र ने अपनी राजधानी में एक सुविशाल प्रासाद तथा अपने लिए एक राजसिंहासन बनवाया। वीर राजेन्द्र ने सकलभुवनाश्रय मेदिनीवल्लभ तथा महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण की थीं। उसने चालुक्यों के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में आहवमल्ल कुलकाल का विरुद धारण किया था। वीर राजेन्द्र ने त्रैलोक्यसार नामक लाल मणि चिदम्बरम् के भगवान् नटराज की सेवा में भेजा था। उसने भक्तिभाव द्वारा चालीस हजार विद्वान् तथा वेदशास्त्रपारंगत ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। वीर राजेन्द्र के समय में बुद्धमित्र ने वीर सोलियम नामक ग्रन्थ तामिल व्याकरण पर लिखा। इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट सूचित होता है कि इस समय भी तामिल देश में बौद्ध धर्म जीवित था और तामिल साहित्य पर बौद्ध पाण्डित्य का प्रभाव पड़ चुका था।

अधिराजेन्द्र—अधिराजेन्द्र ने अपने पिता वीर राजेन्द्र के साथ मिलकर दस वर्षों तक शासन किया। वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र चोल वंश का नरपति हुआ किन्तु केवल कुछ ही महीनों तक वह एक स्वतन्त्र नरेश की हैसियत से शासन कर सका। उसकी मृत्यु अल्पावस्था में ही हुई। अधिराजेन्द्र के समय में चोल राजसत्ता का प्रभाव और आतंक कम हो गया। इसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य का स्वामी कुलोत्तुंग हुआ, जिसकी माँ राजेन्द्र की ही एक राजकुमारी थी और जो स्वयं चालुक्य वंश का था। कुलोत्तुंग प्रथम के सिंहासनारोहण से विजयालय के वंश का अन्त हो गया।

कुलोत्तुंग प्रथम (ल० १०७०–११२० ई०)—कुलोत्तुंग प्रथम का वास्तविक नाम राजेन्द्र था। राजेन्द्र चोल सम्राट् राजराज प्रथम का परनाती था। राजेन्द्र की माँ अम्मंग देवी राजेन्द्र प्रथम चोल की दुहिता थी और उसका पिता पूर्वी चालुक्य वंश का राजराज प्रथम कुन्दवा (चोल सम्राट् राजराज प्रथम की कन्या) तथा विमलादित्य का पुत्र था। स्वयं राजेन्द्र द्वितीय चालुक्य (पश्चात् कुलोत्तुंग प्रथम) ने राजेन्द्र देव द्वितीय की कन्या मधुरान्तकी से विवाह किया था। इस प्रकार चोलों से राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुंग प्रथम) का सम्बन्ध काफी गहरा और बहुत आरम्भ से था। कुलोत्तुंग प्रथम का प्रारम्भिक जीवनवृत्त सुस्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीर राजेन्द्र प्रथम चोल के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था और उसने पूर्वी वेंगी चालुक्यों के

विरुद्ध चोल नृपति का वेंगी के राज्य में अपनी सत्ता जमा। [illegible] प्रदान की थी। अधिराजेन्द्र के शासनकाल में शान्त साम्रा य का [illegible] शिथिल पड़ने लगी थी और शान्ति के नीति के कारण चोलों की प्रतिष्ठा भी गलत था। अधिराजेन्द्र सम्भवत निःसन्तान मरा था अथवा था। सिंहासन पर चालुक्यवंशीय राजेन्द्र देव (कुलोत्तुंग प्रथम) बैठा। कुलोत्तुंग का सम्बन्ध चोल वंश के साथ था ही उसकी योग्यता और बाल्य में प्राप्त तथा [illegible] इतने [illegible] कि उन्होंने उसके राज्यारोहण का विरोध नहीं किया। चोल साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित करने के लिए एक शक्तिशाली तथा योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी और कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने को इस कार्य के लिए सर्वथा प्रमाणित किया। यद्यपि कुलोत्तुंग प्रथम वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश का था तथापि वह अपने को चोल समझा करता था। सिंहासन प्राप्त करने के बाद उसे बाह्य विपत्तियों का सामना करना पड़ा। १०७० ई० के लगभग यशकर्ण कलचुरी ने वेंगी पर आक्रमण किया। दो वर्ष बाद लंकानरेश ने अपने को चोलों की अधीनता से मुक्त करके स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १०७६ ई० के लगभग कुलोत्तुंग प्रथम को बाध्य होकर पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध का परिणाम क्या हुआ यह कहना कठिन है क्योंकि चोल और चालुक्य अभिलेखों में इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी प्रमाण मिलते हैं। पूर्वी चालुक्य नरेश विजयादित्य सप्तम को पराजित करने (१०७६ ई०) के बाद कुलोत्तुंग प्रथम ने वेंगी को राज्य भी अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ पर अपने पुत्र राजराज मम्मचोल को राजप्रतिनिधि नियुक्त किया। १०८८ ई० में लंकानरेश के साथ कुलोत्तुंग प्रथम ने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया और इसे सुदृढ़ बनाने के लिए परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित किये गये। पाण्ड्यों तथा चेरों पर कुलोत्तुंग प्रथम ने पुन विजय प्राप्त की और उनको दबाये रखने के लिए उनके देश में अन्य उपनिवेश स्थापित कर लिये किन्तु उनके आन्तरिक मामलों में उन्हें पूरी स्वाधीनता प्रदान की गई।

कुलोत्तुंग प्रथम ने कलिंग राज्य को विजित करने की ओर ध्यान दिया। कलिंग के विरुद्ध उसने दो रण अभियान भेजे। १०९६ ई० के लगभग दक्षिणी कलिंग जो वेंगी राज्य का एक प्रान्त था में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह का दमन करने के लिए एक सेना भेजी गई। १११० ई० में कुलोत्तुंग प्रथम ने उत्तरी कलिंग के राजा अनन्तवर्मन चोडगंग के विरुद्ध अपने विश्वस्त सेनानी करुणाकर तोण्डमान के नेतृत्व में भेजा। यह अनन्तवर्मन चोडगंग कुलोत्तुंग का नाती था। कुलोत्तुंग प्रथम के इस रण अभियान का विवरण कलिंगत्तुप्परणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ का प्रणेता जयगोण्डर कुलोत्तुंग का राजकवि था। करुणाकर तोण्डमान ने अनन्तवर्मन चोडगंग को पराजित कर दिया। परन्तु उत्तरी कलिंग का राज्य चोल साम्राज्य में मिलाया नहीं गया। कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने नाती अनन्तवर्मन के विरुद्ध किन कारणों से प्रेरित होकर युद्ध किया यह ज्ञात नहीं।

सन् १११७ ई० में कुलोत्तुंग प्रथम को होयसल नरेश विष्णुवर्धन के आक्रमण का सामना करना पड़ा। विष्णुवर्धन ने चोल नरेश से गंगवाडी का प्रदेश छीन लिया। उसने तलकाड के प्रदेश को भी जीत लिया और तलकाडुगोण्ड उपाधि धारण की। उसके अभिलेखों के अनुसार उसने तमिल देश पर आक्रमण किया और रामेश्वरम तक आगे बढ़ गया। गंगवाडी के अतिरिक्त अन्य प्रान्त भी कुलोत्तुंग प्रथम के अधिकार से निकल गये। १११८ ई० के लगभग विक्रमादित्य षष्ठ ने जो कल्याणी का

चालुक्यवंशीय राजाओं ने वेंगी पर अधिकार जमा लिया। लंका का राजा विजयबाहु स्वतंत्र हो गया। समुद्र पार के द्वीपों पर जो राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड के समय में चोलों के अधीन थे कुलोत्तुंग प्रथम के अधीन नहीं रह गये थे। इन राज्य क्षतियों के बावजूद भी कुलोत्तुंग प्रथम के समय में साम्राज्य का प्रमुख भाग उसके अधीन था।

कुलोत्तुंग प्रथम चोल वंश का एक सुयोग्य शासक था। उसके अनेक अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि उसने शासन-व्यवस्था को सुसंगठित किया। उसने अपने शासन काल के सोलहवें तथा चालीसवें वर्ष में अपने राज्य भर में भूमि की माप कराई थी। कुलोत्तुंग प्रथम के शासन काल का गौरव इसी बात में है कि उसने अपने राज्य में शान्ति स्थापित रखने तथा शासन-व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिये विविध उपाय किये। आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में उसने ग्रामसभा के संगठन को सुदृढ़ बनाया और उसके प्रत्येक विभाग की देख रेख के लिए अफसर नियुक्त किये। राजराज प्रथम ने जलाशय, उद्यान तथा कार्यकारिणी समिति के कुछ अन्य विभागों की स्थापना की थी किन्तु खेतों, म्युनिसिपल विभागों तथा मन्दिरों और ब्राह्मणों की बस्ती की देख रेख के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति कुलोत्तुंग प्रथम का कार्य था। कुलोत्तुंग ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति में अपनी बुद्धिमत्ता और शासन निपुणता का परिचय दिया। उसने सिंचाई व्यवस्था को विकसित करने की ओर पूरा ध्यान दिया। अनेक महसूलों को उसने माफ कर दिया जिससे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। करों को माफ करने के कारण उसने सुंगन्दवित्त की उपाधि धारण की। गंगैकोण्डचोलपुरम का महत्त्व कुलोत्तुंग प्रथम के समय में कायम रहा। किन्तु उसने कांची को विशेष गौरव प्रदान किया। कहा जाता है कि वह समय समय पर अपने साम्राज्य का दौरा किया करता था। उसने अनेक स्थानों पर कृषि-उपनिवेश स्थापित किये थे जिससे यह सूचित होता है कि वह अपनी ग्रामीण प्रजा की आर्थिक समृद्धि का ध्यान रखता था। सैन्य उपनिवेश स्थापित करके उसने राज्य-सीमाओं की सुरक्षा पर ध्यान दिया।

कुलोत्तुंग प्रथम के शासन काल का कुछ धार्मिक और साहित्यिक महत्व भी है। उसने अन्य चोल शासकों की भाँति शैव मत को राजकीय प्रश्रय प्रदान किया। उसने बौद्धों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई और नागपट्टिनम के बौद्ध चैत्य को अनुदान दिये। महान वैष्णव आचार्य रामानुज उसके समकालीन थे किन्तु उनके प्रति उसका व्यवहार असहिष्णु था। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य की प्रचार पद्धति इस समय के दक्षिण भारत समाज को अप्रत्याशित प्रतीत हुई जिससे कुलोत्तुंग प्रथम उनके प्रति असहिष्णुता दिखलाने के लिए बाध्य हो गया। रामानुज उसके अत्याचारों से तंग आकर मैसूर चले गये जहाँ विट्टिग देव ने उनका प्रभूत सम्मान और आदर सत्कार किया।[1] 'पेरियपुराणम्' के प्रणेता सेक्किलार को कुलोत्तुंग ने अपनी राजसभा में स्थान दिया था। 'कलिंगत्तुप्परणी' के रचयिता जयगोन्दार और सिलप्पदिकारम पर भाष्य लिखने वाले अदियरक्कुनल्लार कुलोत्तुंग प्रथम के समय के विख्यात साहित्यकार थे।

[1]प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री की धारणा है कि रामानुज को तंग करने वाला चोल शासक कौन-सा था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह भी हो सकता है कि रामानुज को कुलोत्तुंग प्रथम नहीं बल्कि किसी अन्य चोल शासक के अत्याचारों के कारण विट्टिग देव की शरण लेनी पड़ी।

कुलोत्तुंग प्रथम के पश्चात् विक्रम चोल—कुलोत्तुंग प्रथम के प्राय अर्ध शताब्दी के सुदीर्घ शासन काल में चोल साम्राज्य की स्थिति सन्तोषप्रद रही किन्तु उसकी मृत्यु के बाद चोल वंश की शक्ति घटने लगी। परन्तु जहाँ तक सांस्कृतिक कार्यों का प्रश्न है उनमें कमी नहीं आने पाई। कुलोत्तुंग प्रथम का उत्तराधिकारी विक्रम चोल ११२० ई० में चोल साम्राज्य का अधिपति हुआ। ११२७ ई० में कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो जाने पर विक्रम चोल ने वेंगी पर चोल सत्ता पुन जमा ली। उसने गंग वाडी का कुछ प्रदेश भी विजित किया। ११२८ ई० में विक्रम चोल ने अपने कुल देवता नटराज की सेवा में राज्य के एक वर्ष के कर का अधिकांश भाग समर्पित कर दिया। विक्रम चोल के अभिलेखों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि वह अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा किया करता था। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का कथन है कि राजा द्वारा इस प्रकार का कुशल शासन के निमित्त राज्य का दौरा करने की नीति मध्यकालीन निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थी और इस कार्य के द्वारा वह निस्सन्देह इस युग के चोल शासकों की नियमित नीति का अनुगमन कर रहा था।[1] विक्रम चोल ने त्यागसमुद्र और अकलंक के विरुद्ध धारण किये थे।

कुलोत्तुंग द्वितीय—कुलोत्तुंग द्वितीय ने ११३५ ई० में अपने पिता विक्रम चोल की मृत्यु के बाद शासन सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया। चिदम्बरम के नटराज मन्दिर की सेवा में उसने भी उपहार भेंट किये। तामिल साहित्य के इतिहास में कुलोत्तुंग द्वितीय का शासन काल उल्लेखनीय है क्योंकि उसने और उसके सामन्तों ने ओट्टकूत्तन, सेक्किऴार तथा कम्बन आदि कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया था।

कुलोत्तुंग द्वितीय के पश्चात् राजराज द्वितीय (११५०–७३) राजा हुआ। राजराज द्वितीय तथा राजाधिराज द्वितीय दुर्बल शासक थे जिनके समय में चोल शक्ति का दिनोदिन पतन होता गया। उत्तर में काकतीय वंश के शासकों ने चोलों पर बार बार आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। गणपति और रुद्राम्बा के समय में काकतीय वंश की शक्ति प्रबल हो उठी और उन्होंने चोल साम्राज्य की उत्तरी सीमा के कुछ भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। दक्षिण में पाण्ड्यों ने मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य तथा जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के अधीन अपनी शक्ति का विकास करके चोल साम्राज्य के अधीनस्थ भागों को अपने अधिकार में कर लिया। पश्चिम में यही कार्य होयसलों ने किया। लंका के राजा पराक्रमबाहु ने चोलों से संघर्ष किया। कुलोत्तुंग तृतीय इस काल में चोल वंश का एक पराक्रमी शासक हुआ और उसने कुछ अंश तक अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने अपने सद्गुणों के द्वारा चोल साम्राज्य की रक्षा की और उसे नष्ट होने से बचाया किन्तु कुलोत्तुंग तृतीय के उत्तराधिकारी राजराज तृतीय ने अपने को दुर्बल प्रमाणित किया। राजराज तृतीय अपने सामन्तों को भी वश में न रख सका। उसके समय में पल्लव जाति के सरदार कोप्पेरुंजिंग ने विद्रोह करके उसे बन्दी बना लिया। ऐसी संकटापन्न स्थिति में चोलनरेश राजराज तृतीय

[1] The importance of such royal progresses for ensuring efficient administration in an autocratic medieval state can hardly be overrated and in undertaking them Vikrama Cola was no doubt following the regular practice of the Cola rulers of this period — *Colas* part II p 69

की रक्षा उसके श्वशुर नरसिंह (होयसल नरेश) ने अपनी एक सेना भेजकर की। इस सेना ने राजराज तृतीय को मुक्त किया इसके पूर्व १२१६ ई० में होयसल राज नरसिंह ने राजराज तृतीय को मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य के आक्रमण से बचाया था तंजोर तक बढ़ आया था। पेरुंचिगन ने चोल साम्राज्य के कुछ भागों जैसे सेन्दमंगलम (दक्षिणी अरकाट जिला) में अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता प्रतिष्ठित कर ली। अगले होयसल राजा सोमेश्वर को भी जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध चोल-नृपति की रक्षा करनी पड़ी। किन्तु चोल साम्राज्य के उत्कर्ष के दिन अब समाप्त हो चले थे। पाण्ड्यों की शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। राजेन्द्र तृतीय को जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने पराजित कर दिया और काञ्ची पर, जहाँ चोल शक्ति का प्रमुख केन्द्र था अधिकार जमा लिया। जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के उत्तराधिकारी मारवर्मन कुलशेखर ने चोल राज्य को रौंद डाला। चोल साम्राज्य के उत्तरी जिले तेलगु सरदारों के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गये। ये तेलगु सरदार अपने को करिकाल चोल का वंशज बताते थे। कावेरी नदी के मैदान में रहनेवाले चोलों का अस्तित्व स्थानीय सरदारों के रूप में कुछ और समय तक बना रहा। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं ने चोलों के अवशेष को भी पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया।

चोल शासन

चोल राजाओं के अनेक अभिलेख उनकी शासन-व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। चोलों की शासन व्यवस्था सुसंगठित तथा कतिपय विशिष्ट तत्वों से युक्त थी। वास्तव में यदि यह पूछा जाय कि चोल इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष कौन-सा है तो यही उत्तर ठीक हो सकता है कि शासन-व्यवस्था का उत्तम संगठन और इसकी अपनी कुछ विशेषताएं। चोलों की शासन-व्यवस्था का अध्ययन करते समय हम इनकी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

केन्द्रीय सरकार—चोल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था प्रधानतः राजतन्त्रात्मक थी। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो जाने पर राजा के प्रभुत्व ठाटबाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया। सम्राट विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने का चेष्टा किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानी होती थी और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अनेक धार्मिक यज्ञों का अनुष्ठान करता था और इन अवसरों पर ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा दान में दिया करता था। इतना ही नहीं विशेष मन्दिरों के नाम सम्राटों के नाम पर रख दिये जाते थे, जैसे राजराजेश्वर मन्दिर और मन्दिरों में उनकी प्रतिमायें रक्खी जाती थी।

चोल साम्राज्य में उत्तराधिकार की व्यवस्था बड़ी ही उत्तम और सुस्पष्ट था। सम्राट अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी चुन लेता था, जिसे युवराज कहते थे। युवराज अपने पिता को शासन कार्य में सहायता प्रदान किया करता था। सम्राट को शासन कार्यों में सहायता [illegible] कर्मचारी होते थे जिनको नियुक्त नहीं कर [illegible] दिया जाता था। अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध [illegible] केन्द्रीय सचिवालय का संगठन सुव्यवस्थित था। इस विभाग का अध्यक्ष ओलै नायक, सम्राट का प्राइवेट सेक्रेटरी होता था। यह एक उल्लेखनीय बात है कि चोल शासन-पद्धति में मन्त्रिमण्डल नहीं था, किन्तु इस अभाव की पूर्ति एक योग्य कर्मचारी-वर्ग द्वारा हो जाती थी। इस कर्मचारी वर्ग

के प्रमुख-प्रमुख सदस्य सम्राट के निकट सम्पर्क में रहा करते थे और उसे शासन-कार्यों में परामर्श दिया करते थे। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चोल-नृपति अपने साम्राज्य का दौरा किया करते थे जिससे शासन-व्यवस्था शिथिल नहीं होने पाती थी। वैसे सैद्धान्तिक रूप में सम्राट की शक्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं था किन्तु उसे स्थानीय नियमों और परम्पराओं का ध्यान रखना पड़ता था।

सेना और जहाजी बेड़ा—चोल सम्राटों के अधीन एक सुविशाल सेना हुआ करती थी। सेना में हाथी, अश्वारोही और पैदल होते थे। अभिलेखों में सेना के सत्तर मुख्य दलों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक सैन्य दल का संगठन सहकारिता के सिद्धान्तों पर समाधारित होता था। कुछ सैन्य दल नागरिक जीवन के कार्यों में भी भाग लेते थे और मन्दिरों को दानादि दिया करते थे। सैनिकों की शिक्षा तथा उनको अनुशासित रखने पर समुचित ध्यान दिया जाता था। इस कार्य के लिए विशिष्ट सैन्य शिविर (कडगम) हुआ करते थे। चोल सेना अस्त्रों तथा आरोही और अनारोही की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित थी। इस प्रकार इसकी सेना में एक थे चुने हुए धनुर्धरों का समूह (विल्लिगड), दूसरा शरीर रक्षक पदाति (वडपेर कैक्कोलर), तीसरा दक्षिण पार्श्व के पदाति (वलंगै वेलैक्कारर), चौथा चलने वाले अश्वारोही (कुदिरै च्चवगर), पाँचवाँ गजदल (आनैयाट्कल, कुंजिर मल्लर) शामिल थे।

चोलों का जहाजी बेड़ा अत्यन्त सुसंगठित था। इसी जहाजी बेड़े की सहायता से कडारम और श्रीविजय के राज्य विजित किये गये थे। चोल सेना के सैनिकों को अनुशासन की शिक्षा दी जाती थी किन्तु विजित शत्रुओं के प्रति उनका व्यवहार कभी-कभी अशोभन और लज्जास्पद हो जाया करता था। पश्चिमी चालुक्य राज्य और पाण्ड्य देश पर आक्रमण करने के बाद चोल सेना के सैनिकों ने निर्दोष नागरिकों को भी काफी क्षति पहुँचाई और स्त्रियों का अपमान किया।

भूमिकर और आय के साधन—चोल साम्राज्य में राज्य की आय का प्रमुख भाग भूमिकर द्वारा प्राप्त होता था। भूमिकर ग्रामसभायें एकत्र किया करती थीं और किसानों को इस बात की सुविधा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी इच्छानुसार कर नकद सिक्के अथवा उपज के अंश द्वारा चुकता करें। राजराज प्रथम के समय में भूमिकर उपज का $\frac{1}{3}$ भाग निश्चित किया गया था। राजराज प्रथम और कुलोत्तुंग प्रथम के शासनकाल में चोल साम्राज्य भर में भूमि का माप कराया गया था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। भूमिकर निश्चित करने के लिए समय-समय पर भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने के कारण फसल नष्ट होने पर भूमिकर माफ कर दिया जाता था।

भूमिकर के अतिरिक्त विविध प्रकार के करों से भी राज्य को आमदनी हुआ करती थी। विभिन्न व्यवसायों यथा सुनारों, व्यापारियों, बुनकरों पर भी कर लगाया जाता था। चुंगी, वनों, नदियों, बाजारों और नौकाओं पर भी जो कर लगाये जाते थे उनसे साम्राज्य को पर्याप्त आय होती थी। चोल अभिलेखों से इस बात का उल्लेख मिलता है कि चोल सम्राटों की कर-व्यवस्था प्रायः उदार और न्यायपूर्ण हुआ करती थी। कुलोत्तुंग प्रथम ने अनेक करों को हटा दिया था जिसके कारण उसने 'सुंगम तविर्त' की उपाधि धारण की थी। परन्तु कभी-कभी करों के भुगतान में उत्पीड़न की नीति भी बरती जाती थी। कृषकों से बलपूर्वक कर वसूल किया जाता था। चोल इतिहास के परवर्ती युग में सामन्तों की शक्ति काफी बढ़ जाने से जनता के ऊपर कर भार कुछ अधिक बढ़ गया।

प्रादेशिक विभाजन—राजराज प्रथम के शासन काल में यह सूचित होता है कि उसका साम्राज्य कई मण्डलों या प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक मण्डल वलनाडु और नाडु में विभाजित किया जाता था। कुर्रम तथा कोट्टम शासन की छोटी इकाइयाँ था। मण्डलम् का शासन करने के लिए राजवंश का कोई राजकुमार या कोई उच्च सरदार वहाँ का वाइसराय नियुक्त किया जाता था। वलनाडु नामक इकाई एक प्रकार से कई जिलों के समान थी। नाडु सम्भवतः आधुनिक जिले के समतुल्य था। कई ग्रामों के समूह से कुर्रम की रचना होती थी।

चोल शासन की प्रमुख विशेषता थी स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रशासन धार्मिक तथा आर्थिक जीवन का आदर्श केन्द्र ग्राम और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर आधारित था तथा नाडु और नगरम में भी स्थानीय शासन इकाइयों में स्वशासन की मर्यादाएँ देखने को मिलती थीं। परन्तु चोल आधार की ग्राम सभाओं से हमें इस स्वशासन व्यवस्था का अधिक विस्तृत और विशद् विवरण प्राप्त होता है। मण्डल की जनता की एक सभा हुआ करती थी जिसका उल्लेख मण्डल के शासकों द्वारा प्रान्त के कर-संग्रह के सम्बन्ध में हुआ है। इसके अतिरिक्त अभिलेखों में नाडु (जिला) की जनता की 'नाडु' नाम की सभा तथा नगरम के व्यापारिक वर्गों की नगरत्तार नामक सभा के भी उल्लेख मिलते हैं। 'नाडु' और 'नगरत्तार' सम्भवतः क्रमशः जनपद और पौर हैं। असाम्यवश इनके विधान तथा कार्यक्रम का हमें विस्तृत ज्ञान नहीं। इनके अतिरिक्त श्रेणी और पूग तथा इस प्रकार के अन्य जनसत्ताक संगठनों द्वारा भी स्थानीय शासन-व्यवस्था की सम्पन्नता मिलती थी। श्रेणी और पूग आदि इस प्रकार की संस्थायें थीं जिनके एक ही शिल्प से शिल्पी सदस्य होते थे।

ग्रामसभाओं की कार्यप्रणाली का विवरण अभिलेखों द्वारा कुछ अधिक परिमाण में प्राप्त होता है। ग्राम दो प्रकार के थे। कुछ साधारण प्रकार के ग्राम होते थे जो 'उर' कहलाते थे और इनकी सभा को 'उरार' कहते थे। कुछ ग्राम सम्राट द्वारा विद्वान ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे जो 'ब्रह्मदेयम्' कहलाते थे। इन ग्रामों की जनसत्ताक संस्था को सभा कहते थे। इन दोनों संस्थाओं 'उरार' और 'सभा' की सदस्यता समस्त ग्रामनिवासियों के लिए थी अथवा वह सदस्यता एक निम्न सम्पत्तिक अधिकार अथवा शिक्षित योग्यता पर आधारित थी। उत्तरमेरूर अभिलेखों में ग्रामसभा की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। इन अभिलेखों में ग्राम महासभा द्वारा एक कुलम प्रस्ताव का उल्लेख किया गया है। इस प्रस्ताव के उल्लेख से विदित होता है कि ग्राम को तीस भागों में विभाजित कर दिया जाता था। प्रत्येक भाग के निवासी कुछ व्यक्तियों को चुनते थे जिनमें निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक था—(१) एक चौथाई वेलि (डेढ़ एकड़ के लगभग) से कुछ अधिक की भूमि का स्वामित्व (२) अपनी ही भूमि पर बनाये गये मकान में रहना (३) ३५ वर्ष से ऊपर ७० वर्ष तक की आयु होना और वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान होना। यदि किसी व्यक्ति में इन योग्यताओं का अभाव होता था तो उसे कम से कम एक वेद तथा एक भाष्य का ज्ञान रखना पड़ता था और उसे १/८ वेलि भूमि का स्वामी होना आवश्यक था। इन योग्यताओं के होने पर भी निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था—(१) जो विगत तीन वर्षों से किसी भी समिति में रह चुके हों (२) जो समिति में रह चुके थे किन्तु जो अपने विभाग का आय-व्यय तथा तत्सम्बन्धित विषयों का स्पष्ट ब्यौ-

न्याय नहीं दे पाते थे। (३) जो व्यभिचार तथा इसी प्रकार के अन्य भयंकर अपराधों के अपराधी होते थे। (४) जो दूसरों का धन चुराने के अपराधी होते थे (५) जो निम्न जाति के लोगों के सम्पर्क में आ चुके होते थे किन्तु शुद्ध क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं करते थे इत्यादि।

ग्राम सभा शासन कार्यों के संचालनार्थ कई समितियों का संगठन करती थी। समिति को वारियम कहते थे। समितियों में कभी कभी स्त्रियों को भी ले लिया जाता था। सभा के सदस्यों द्वारा समिति के सदस्य निर्वाचित किये जाते थे। ग्राम सभा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और अधिकार बहुत अधिक थे। जो कार्य राज्य को करने पड़ते थे लगभग वे सभी कार्य ग्राम सभायें भी करती थीं केवल ग्रामसभाओं के अधिकार में न्यायिक सत्ता नहीं रहती थी। सभा तालाबों तथा सिंचाई के साधनों की देखरेख रखती थी, भूमिकर का संग्रह करके राज्य-कोष में जमा करती थी, ग्राम वासियों के हितार्थ वस्तुओं का निर्माण कराने के लिए उन पर कुछ कर लगाती थी, बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न करती थी। मन्दिरों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की देखरेख करना ग्राम सभा का एक प्रमुख कर्तव्य होता था। ग्राम सभा को न्याय सम्बन्धी मामलों को भी पालन करना पड़ता था और यह दीवानी तथा फौजदारी के मामलों का फैसला करती थी। सभा ग्रामवासियों के नैतिक जीवन को सुखमय तथा सुविधापूर्ण बनाने का प्रयत्न करती थी साथ ही उनके सदाचरण का ध्यान रखना भी इसका कर्तव्य समझा जाता था। व्यापार की सुविधा के लिए ग्राम सभायें राजपथों का निर्माण करती थीं और समय-समय पर उनकी मरम्मत की व्यवस्था भी करती थीं। ग्रामीणों के स्वास्थ्य साधन के लिए ग्राम सभाओं की ओर से चिकित्सालय खोले जाते थे। सभायें बच्चों की शिक्षा का भी ध्यान रखती थीं और मठों के जरिये उन्हें संस्कृत तथा तामिल भाषाओं में शिक्षा देती थीं। विभिन्न समितियों के कार्यों की प्रति वर्ष जाँच करने के लिए एक अन्य समिति होती थी। ग्राम सभाओं की कार्य संचालन विधि तथा उनकी शासन सफलता अथवा असफलता का निरीक्षण करने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाते थे परन्तु प्रायः राज्य ग्राम सभाओं के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था और न उनके अधिकारों पर कोई कुठाराघात करता था। जब कभी दो सभाओं में परस्पर कोई विवादजनक प्रश्न उपस्थित हो जाता था तभी राज्य उनके कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होता था। ग्राम की महासभा को साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त होते थे और इसके शासनान्तर्गत जिन व्यक्तियों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी उन पर भी यह नियन्त्रण रखती थी। यदि केन्द्रीय सरकार भूमि के वर्गीकरण में कोई परिवर्तन करना चाहती थी तो उसके लिए महासभा की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। सभा के अधिवेशन मन्दिरों में अथवा विशाल वृक्षों के नीचे हुआ करते थे।

चोल शासन-पद्धति की स्वशासन-व्यवस्था निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण वस्तु प्रतीत होती है। अब हम यह विचार करते हैं कि चोल नरेश भी अपनी साम्राज्य-सीमाओं के विस्तार का भी प्रयत्न किया करते थे। इस प्रकार चोलों ने साम्राज्य विस्तार की भावना के साथ स्वशासन की भावना का समन्वय कर दिखाया था। चोलों की शासन-व्यवस्था के विषय में प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है कि एक योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओं के मध्य जो विविध प्रकार से नागरिकता की भावना का पोषण करती थीं शासन निपुणता तथा शुद्धता का एक उच्च

स्तर प्राप्त कर लिया गया था, जो कदाचित हिन्दू राज्य द्वारा प्राप्त सर्वोच्च स्तर था।[1]

न्याय शासन—चोल सम्राटों के अधीन न्याय शासन की उत्तम व्यवस्था थी। वर्तमान जूरी प्रथा से मिलती-जुलती एक न्याय-व्यवस्था उस समय में विद्यमान थी। साधारण मुकदमों का फैसला स्थानीय संस्थायें करती थीं। अभिलेखों से सूचित होता है कि विविध प्रकार की हत्याओं के अन्तर को अच्छी तरह से समझा गया था और इस अन्तर के अनुसार ही दण्ड की व्यवस्था भी की गई थी। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा द्वेषभाव रहित कोई हत्या की जाती थी तो उसे केवल सोलह गायें दण्ड के रूप में देनी पड़ती थी। जिस व्यक्ति की हत्या की जाती थी उसकी आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए राज्य की ओर से मन्दिर में निरन्तर प्रदीप जलाने की व्यवस्था कर दी जाती थी। चोलों की दण्डनीति कठोर नहीं थी अपितु इसे मृदु कहा जाय तो अनुचित नहीं। दण्डनीति प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति पर आधारित नहीं था। उत्तर मेरूर अभिलेखों से पता चलता है कि व्यभिचार, चोरी, धोखेबाजी इत्यादि को गम्भीर अपराध समझा जाता था और गम्भीर अपराध करनेवाले व्यक्ति को गधे पर चढ़ाकर घुमाया जाता था। किसी व्यक्ति ने अपराध किया है अथवा नहीं इसका फैसला स्थानीय जनसेवक संस्थायें किया करती थीं किन्तु अपराधियों को दण्डित करने का अधिकार राजकर्मचारियों को प्राप्त होता था।

सामाजिक अवस्था—चोल-युग के दक्षिण भारत का सामाजिक संगठन जाति व्यवस्था पर आधारित था किन्तु विभिन्न जातियों में पारस्परिक सहयोग रहा करता था। उद्योग व्यवसाय करनेवाली जातियों का विभाजन वलंगाई तथा इडंगाई नामक वर्गों में हो गया था। अनुश्रुति के अनुसार इन दोनों वर्गों का उद्भव करिकाल के समय में हुआ करता था जब कि समाज के औद्योगिक वर्ग के दो प्रकार के लोग उस नृपति के दायें तथा बायें ओर खड़े होकर उससे अपनी कठिनाइयाँ कहने लगे थे। वलंगाई लोग दाहिने हाथ की ओर खड़े हुए और इडंगाई बायें हाथ की ओर इसीलिए उनका यह नाम पड़ा। कुलोत्तुंग तृतीय के समय में इडंगाई लोगों ने अपने को अग्निकुल का घोषित किया और एक अभिलेख में इस वर्ग के ९८ उपवर्गों का उल्लेख मिलता है।

चोल युग में सामाजिक अधिकारों का वितरण समान नहीं था। कुछ वर्गों को विशेष अधिकार प्रदान कर दिये जाते थे, जब कि इसके ठीक विपरीत अन्य वर्गों के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे। ब्राह्मणों ने अन्य जातियों के प्रति अपनी परिवर्जन प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी बस्तियाँ अलग बसानी शुरू कर दीं। किन्तु इन बातों के बावजूद भी सामाजिक जीवन सन्तोष और सद्भावनापूर्ण था। सामाजिक उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति के लिए विभिन्न जातियों तथा वर्गों के लोग परस्पर एक दूसरे से मिल जुल सकते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण समाज में

[1] Between an able bureaucracy and the active local assemblies which in various ways fostered a live sense of citizenship there was attained a high standard of administrative efficiency and purity perhaps the highest ever attained by the Hindu state *The Colas*, art II p 312

कुछ निश्चित जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं इसका प्रमाण हमें चोल सम्राटों के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

स्त्रियों का स्थान—दक्षिण भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। उनके सामाजिक जीवन तथा कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था यद्यपि लोगों की दृष्टि में लज्जाशीलता नारी का सबसे प्रधान गुण था। अभिलेखों में इस बात के प्रमाण प्रचुरता से मिलते हैं कि उच्च कुलों की स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं और वे अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकती थीं। नृपतिगण तथा उनके सामन्त अनेक स्त्रियों से अपने अन्तःपुरों को परिपूर्ण रखा करते थे किन्तु साधारण लोग एक पत्नीव्रत का नियमपूर्वक पालन करते थे।

तामिल समाज में सती प्रथा का प्रचार तो अवश्य था किन्तु अभिलेखों में इसके उल्लेख इतने कम मिलते हैं कि इसके व्यापक रूप में प्रचलित होने का आभास नहीं किया जा सकता। परान्तक द्वितीय की रानी वानवन महादेवी अपने पति की मृत्यु पर चिता में जलकर सती हो गई थी। प्राचीन यूनान की भाँति दक्षिण भारतीय समाज में भी नर्तकियों (देवदासियों) का एक वर्ग था। ये देवदासियाँ नृत्यगीतवादि सकल कलाओं में निपुण होती थीं और रागरंगप्रिय धनिकों को उनके कलापूर्ण हास विलास में सहायता प्रदान करती थीं। इन्हें पुरुषों से मिलने जुलने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी और अपने विविध गुणों द्वारा ये उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती थीं। मन्दिरों में भी देवदासियाँ रहा करती थीं जो विशेष अवसरों पर नृत्य द्वारा देवता को प्रसन्न किया करती थीं। अभिनय यात्रियों के लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि देवदासियाँ समाज में अनाचार फैलाती थीं किन्तु अभिलेखों से सिद्ध होता है कि तमिल समाज में उनका स्तर गिरा हुआ नहीं था। अनेक गुणशाली नर्तकियों ने अपनी उदारता तथा दानशीलता के कारण समाज में ख्याति प्राप्त कर ली थी। कुछ देवदासियों द्वारा विवाह करके गृहिणी जीवन बिताए किए जाने का भी उल्लेख मिलता है।

चोलयुगीन दक्षिण भारतीय समाज में दास प्रथा प्रचलित थी। इस युग के साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कृषि कार्य करनेवाले श्रमजीवियों का जीवन दासता के ही बराबर था। दासों की विभिन्न कोटियाँ हुआ करती थीं। अन्न तथा जीवन की अन्य वस्तुओं के अभाव में विपन्नतायस्त हो जाने के कारण स्वतन्त्र व्यक्ति स्वयं ही सम्पन्न व्यक्तियों के दास हो जाना अपने लिए अधिक लाभकर समझते थे।

आर्थिक जीवन—दक्षिण भारत में आन्तरिक और बाह्य व्यापार की अवस्था उन्नत एवं समृद्ध थी फिर भी आर्थिक जीवन का आधार कृषि-कर्म था। जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और कृषि कर्म ही उसका मुख्य उद्यम था। कृषक भूमि का स्वामी माना जाता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का कारण समझा जाता था। प्रत्येक ग्राम की जनता उसकी व्यवस्था कुछ भी रही हो यह इच्छा रखा करती थी कि वह कुछ न कुछ भूमि का स्वामी अवश्य रहे। भूमि पर व्यक्तियों और संस्थाओं का अधिकार रहता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सतर्क रहता था। कावेरी नदी में अनेक नहरें निकलवाया गया था। करिकाल चोल के समय में कावेरी नदी पर बाँध बनवाया गया था। कावेरी नदी के जल का सम्यक् वितरण के अतिरिक्त चोल शासक बड़े बड़े जलाशय बनवाया करते थे। उत्तरमेरूर में वैरमेघतटाक का निर्माण कराया गया था। परान्तक ने वीरनारायण नामक तालाब खुदवाया था और मदुरान्तकम् का निर्माण काल में हुआ था। ग्राम महासभाओं

चोल प्रमुख कई ग्रामों में से एक कर्मचारी ग्राम के तालाबों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की देख-रेख करना भी था, जिससे सिद्ध होता है कि खेती की उन्नति के लिए राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। राज्य की ओर से समय-समय पर भूमि की माप तथा वर्गीकरण कराया जाता था। यद्यपि दुर्भिक्ष को रोकने के लिए राज्य सचेष्ट रहता था तथापि अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ने के यत्र-तत्र वर्णन मिलते हैं। दुर्भिक्ष के समय या बाढ़ द्वारा फसल नष्ट हो जाने पर राज्य की ओर से कृषकों के लिए भूमि-कर में माफी स्वीकृत की जाती थी। कृषि-कर्म के साथ पशु-पालन का व्यवसाय भी समुन्नत दशा में था। पशु-पालन का व्यवसाय करने वाले 'मन्राडि' कहलाते थे। मन्राडियों ने अपने को एक व्यावसायिक वर्ग में संगठित कर लिया था।

विभिन्न उद्योग-धन्धों में दक्षिण भारत के निवासियों ने काफी उन्नति कर ली थी। स्वर्णकार भाँति-भाँति के बढ़िया आभूषण बनाते थे और मणियों की माँग के कारण धातुकारी की कला उन्नति पर पहुँच गयी थी। काञ्ची भी वस्त्र-व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। कुमारी अन्तरीप, मरक्काणम (दक्षिणी अरकाट) तथा समुद्र-तट के निकटवर्ती अन्य स्थानों में नमक तैयार करने का व्यवसाय होता था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का निर्माण कराते थे जिससे आन्तरिक व्यापार काफी सुविधापूर्ण हुआ करता था। पहाड़ियों या राजमार्गों द्वारा आन्ध्र, पश्चिमी चालुक्य और चोल देश एक दूसरे से मिले रहते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं जो व्यापार का नियन्त्रण करती थीं। नानादेश तिसैयायिरत्तु ऐन्नूरुवर नामक एक विशाल व्यापारिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है जो विजयालयवंशीय चोलों के उदय के पूर्व से ही स्थापित थी। इस व्यापारिक श्रेणी के सदस्य समुद्रपार के देशों में व्यापार किया करते थे। चीन, मलय, पूर्वी द्वीप समूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। आन्तरिक व्यापार में वस्तु-विनिमय का बहुधा प्रयोग किया जाता था। चोल शासकों ने १०१५ ई०, १०३३ ई० और १०७७ ई० में चीन में अपने शिष्ट-मण्डल भेजे थे।

धार्मिक जीवन—संगम युग में दक्षिण भारत में ही शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रचार हो चुका था। पल्लव युग में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा ने दक्षिण में अपनी जड़ें जमा ली थीं। इस युग में दक्षिण में वैष्णव और शैव मतों की जो उन्नति हुई उसका क्रम चोल शासकों के समय में सतत जारी रहा। विजयालय वंशीय चोल शासकों का शासन-काल दक्षिण में एक महान् धार्मिक उत्साह का युग था। उनकी सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण चोल साम्राज्य में शैव और वैष्णव मतों को समान रूप से फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ।[1] विजयालय के वंशज

[1] "चोल शासकों में से एक का धार्मिक दृष्टिकोण असहिष्णु था। हम पढ़ चुके हैं कि किसी चोल शासक के अत्याचारों से बचने के लिए प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानुज मैसूर चले आये थे। किन्तु इस धार्मिक अत्याचार के परिणाम की ओर प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। विद्वान प्रोफेसर के मतानुसार इस धार्मिक उत्पीड़न ने एक जनविद्रोह को जन्म दिया जिसके परिणाम-स्वरूप विजयालय के अन्तिम पुरुषवंशज अधिराजेन्द्र को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। इस घटना से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—पहला यह कि वैष्णव

चोल शासकों के समय में ही दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव मतों का रजत युग प्रारम्भ हुआ। यद्यपि बिलकुल ठीक-ठीक रूप में तिथि क्रम निर्धारित करना दुष्कर है तथापि इस बात पर हमारी धारणा कुछ सुनिश्चित है कि नायनमार और आलवार सन्तों के पवित्र गीतों का एक निश्चित नियमानुसार सकलन ग्यारहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

शैव और वैष्णव मतों के कारण वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का महत्त्व कुछ कम हो चला। सगम युग के साहित्य में इस बात के उत्तम प्रमाण भी मिलते हैं कि चोल शासकों ने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था किन्तु विजयालयवंशीय चोल सम्राटों में केवल राजाधिराज के अभिलेखों में ही अश्वमेध का सकेत मिलता है। वैदिक यज्ञों का स्थान सम्भवत दान ने ले लिया था। परवर्ती चोल शासक ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिया करते थे। वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का महत्त्व कम हो जाने पर भी मन्दिरों में वेदपाठ कराये जाने की व्यवस्था रहती थी। विष्णु और शिव दोनों ही के मन्दिरों में कुछ ब्राह्मण वेदों का सस्वर पाठ करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। आज भी दक्षिण भारत के विशाल मन्दिरों में यह प्रथा विद्यमान है। अभिलेखों में वेदपाठ प्रतियोगिता के भी उल्लेख मिलते हैं। इन प्रतियोगिताओं में जो सफलता प्राप्त करते थे उनको पुरस्कृत किया जाता था।

चोल-युगीन दक्षिण भारत के धार्मिक जीवन में मन्दिरों का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण था। इस काल के मन्दिर लोगों के धार्मिक और सामाजिक कार्यों के प्रमुख केन्द्र थे। मन्दिरों के विविध कार्यों का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है कि मध्यकालीन भारतीय मन्दिर की जोड़ की संस्थायें मानव इतिहास में स्वल्प हैं। मन्दिरों के स्वामित्व में ग्राम होते थे इसकी अधीनता में कर्मचारी हुआ करते थे। ये बैंक शिक्षालय चिकित्सालय और रंगशाला का कार्य करते थे। संक्षेप में ये एक केन्द्रस्थान के रूप में थे, जहाँ सुसभ्य जीवन की कलाओं का सर्वोत्तम रूप एकत्र किया जाता था और जो धर्म की आत्मा द्वारा प्रसूत मानव भावना से उनको (कलाओं को) सचालित करते थे।[1] लोगों के सांस्कृतिक जीवन में मन्दिरों का महत्त्वपूर्ण भाग था। मन्दिरों और उनमें प्रतिष्ठापित की जानेवाली प्रतिमाओं के निर्माण से कितने ही लोगों को जीविका प्राप्त होती थी और कलाकारों को अपनी निपुणता दिखलाने का अवसर मिलता था। धातुकारों और सुवर्णकारों को मन्दिरों

मत को नष्ट करने का विचार चोल शासकों की नीति का एक अंग नहीं था अपितु एक किसी विशेष शासक की सनक मात्र से यह विचार कार्य रूप में परिणत किया गया। दूसरा निष्कर्ष यह है कि सामान्य वातावरण एक सकीर्ण धार्मिक नीति के लिए इतना प्रतिकूल था कि जिस शासक ने इसका अवलम्बन किया, उसके प्राण एक जनविद्रोह के कारण गये।

[1] As landholder employer and consumer of goods and service as bank school and museum as hospital and theatre in short as a nucleus which gathered round itself all that was best in the arts of civilized existence and regulated them with the humaneness born of the spirit of Dharma the medieval Indian Temple has few parallels in the annals of mankind *The Colas* part II p 504

से बहुत लाभ होता था। समय समय पर मन्दिरों द्वारा धार्मिक सामाजिक महत्त्व के पर्वों और मेलों का आयोजन किया जाता था, जिनमें पुरोहितों, विद्वान पण्डितों, गायकों, नर्तकों और कवियों के साथ साधारण जन भी भाग लिया करते थे। इन मेलों में एक ओर विद्वान पण्डित परस्पर शास्त्रार्थ करते थे और दूसरी ओर जादूगर अपनी कलाबाजियों का प्रदर्शन करते थे। मन्दिर के विशाल कक्ष में नाटकों और नृत्य-वाद्यसभा का आयोजन किया जाता था। केन्द्रीय सरकार के उच्च पदाधिकारी कभी-कभी मंदिरों के कार्यक्रमों और प्रबन्ध विधि की देखरेख करने के लिए इनका मुआयना किया करते थे जिससे सिद्ध होता है कि चोल सम्राट मन्दिरों के सामाजिक महत्त्व और इनके कार्य-संचालन की देख-रेख की आवश्यकता को भली प्रकार समझते थे।

साहित्य—चोल सम्राटों का शासन-काल (८५०–१२०० ई०) तमिल संस्कृति का स्वर्ण युग था। साहित्य के क्षेत्र में काव्य के प्रबन्ध रूप की प्रधानता रही और जैन सिद्धान्त दर्शन का शास्त्रीय निरूपण प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' की रचना दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। इस ग्रंथ की शैली तथा काव्य-सुषमा दर्शनीय है। इससे तमिल भाषा के महाकवि कम्बन बहुत अधिक प्रभावित हुए। 'जीवक चिन्तामणि' के प्रणेता तिरुत्तक्कदेवर नामक जैन पण्डित थे और जैनमत के सिद्धान्त ही इस मनोरम काव्य की भावभूमि का निर्माण करते हैं। तोलामोलित्तेवर नामक जैन लेखक ने 'शूलमणि' नामक ग्रंथ लिखा जिसकी गणना तमिल के पाँच लघुकाव्यों में की जाती थी। चोल राजसभा के कवि जयंगोण्डार ने 'कलिंगत्तुप्परणि' नामक युद्ध-काव्य में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंग युद्ध का वर्णन किया है। कुलोत्तुंग तृतीय के समय में कम्बन हुए जिनका सुप्रसिद्ध काव्य 'रामावतारम्' है। कम्बन ने अपने काव्य की कथावस्तु महाकवि वाल्मीकि से ग्रहण की है किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। दसवीं शताब्दी में ही किसी बौद्ध कवि ने 'कुण्डलकेशि' नामक काव्य तथा कल्लाडनार नामक कवि ने अपना ग्रंथ 'कल्लदम्' लिखा। अमृतसागर नामक जैन विद्वान ने काव्य रचना पद्धति पर एक पुस्तक का प्रणयन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में विख्यात बौद्ध विद्वान् बुद्धमित्र हुए जिन्होंने 'वीरसोलियम' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। काव्य के क्षेत्र में पुगलेन्दि का नाम भुलाया नहीं जा सकता जिनका 'नलवेम्ब' एक महान काव्य है। इस काव्य में राजा नल का जीवनचरित वर्णित है। सेक्किलारप्रणीत 'पेरियपुराणम्' में शैव सिद्धान्तों का निरूपण है। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक दण्डिन की पुस्तक 'काव्यादर्श' के आधार पर तमिल में 'दण्डियलंगारम्' नामक ग्रंथ की रचना की गई। इस पुस्तक के लेखक का नाम अज्ञात है। कुलोत्तुंग तृतीय के शासन-काल में जैन विद्वान् पवनन्दि ने 'नन्नूल' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। यद्यपि चोल शासकों ने अपने साम्राज्य में संस्कृत भाषा और साहित्य के पठन-पाठनार्थ विद्यालय स्थापित कराये थे तथापि संस्कृत-साहित्य संवर्द्धन में उनका योगदान अत्यन्त ही स्वल्प है। उनके कुछ अभिलेख संस्कृत में हैं। किन्तु वे वर्णन शैली की दृष्टि से तमिल अभिलेखों की तुलना नहीं कर सकते। परान्तक प्रथम के शासन-काल में वेंकट माधव ने ऋग्वेद पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। राजराज द्वितीय की आज्ञा से केशवस्वामिन् ने संस्कृत में 'नानार्थार्णव-संक्षेप' नामक कोष का सम्पादन किया।

निर्माण कार्य और कला—चोल सम्राटों ने लोकहित के लिए अनेक निर्माण-कार्य किये। सिंचाई के लिए उन्होंने कुएँ और तालाब खुदवाये। इसके अतिरिक्त [illegible]

तथा अन्य नदियों के प्रवाह को रोककर पत्थर से बंधे अनेक डैम (जलराशि) बनवाये और उनमें से सुविस्तृत मरोण्डों की सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगकोण्डचोलपुरम के निकट एक विशाल झील खुदवाई जिसमें कोल्लरुन और वल्लार नदियों का जल भरवाया गया। इस झील पर जो बाँध बंधवाया गया था उसकी लम्बाई सोलह मील थी और इसमें प्रस्तर प्रणालिकायें तथा नहरें काटकर निकाली गई थीं। चोल शासकों ने पल्लवों की मन्दिर निर्माण-परम्परा को जारी रखा। प्रारम्भिक चोल-नरेशों के समय मंदिर आकार में लघु और पाषाण-निर्मित हैं। पुदुकोट्टि में इस प्रकार के अनेक मन्दिर हैं। नार्त्ता मलाई में विजयालय-चोलेश्वर मंदिर इस प्रकार के मंदिरों का एक सुन्दर नमूना है। कुम्भकोनम के छोटे से नागेश्वर मंदिर की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके गर्भगृह के बाहरी ओर स्त्री पुरुषों के सजीव तक्षण चित्र उत्कीर्ण हैं। इन चित्रों की तुलना सहज ही भारत की सर्वोत्तम तक्षण-कृतियों से की जा सकती है। परान्तक प्रथम द्वारा निर्मित कोरंगनाथ और परान्तक द्वितीय का मूवरकोविल मंदिर प्रारम्भिक चोल शैली के अनुपम उदाहरण हैं।

चोल साम्राज्य के गौरव और साधनों में अभिवृद्धि होने पर विशाल तथा प्रभावोत्पादक मंदिर बनवाये जाने लगे। राजराज प्रथम द्वारा निर्मित तंजौर के राजराजेश्वर मंदिर का उल्लेख किया जा चुका है। यह मन्दिर इतना विशाल और आकर्षक है कि इसको देखनेवाले के चित्त पर बड़ा ही गम्भीर प्रभाव पड़ता है। राजराज प्रथम तिरुवन्ना जिले के ब्रह्मदेशम् नामक स्थान में तिरुवालीश्वरम् मंदिर का भी निर्माण कराया था। इसके दुमंजिले विमान पर अनेक तक्षण चित्र खुदे हैं। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगकोण्डचोलपुरम में तंजौर के राजराजेश्वर मंदिर की भाँति एक अत्यन्त सुविशाल मंदिर बनवाया। इस मंदिर के स्थापत्य में राजराजेश्वर मंदिर के स्थापत्य की अपेक्षा अधिक परिपक्वता है। राजराज द्वितीय के समय के एरावतेश्वर मंदिर तथा कुलोत्तुंग तृतीय के शासन काल के कम्पहरेश्वर मंदिर द्वारा चोलों की मंदिर निर्माण शैली जारी रही।

दक्षिण भारत में चोल युग सुन्दर कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण के लिए प्रमुखतया उल्लेखनीय है। भगवान् नटराज (नृत्य करते हुए शिव) की विशाल प्रतिमाओं का कलात्मक सौन्दर्य निस्सन्देह अनुपमेय है। शंकर भगवान के अन्य रूपों की मूर्तियाँ भी कलाकारों ने गढ़ीं। ब्रह्मा, सप्त मातायें, भूदेवी तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु भगवान अपने अनुचरों के साथ राम और सीता तथा शैव सन्तों की धातु मूर्तियाँ भी बनवाई गईं। कालिय-दमन प्रदर्शित करनेवाली मूर्तियाँ बड़ी ही लोकप्रिय थीं।

चोल युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के इतिहास में यह सबसे अधिक सृजनशील युग था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री का कथन है "दक्षिण भारतीय इतिहास के सबसे अधिक सृजनशील युग चोलों के समय में सबसे पहली बार सम्पूर्ण भारत एक ही सरकार के अधीन हुआ और नूतन अवस्थाओं से उत्पन्न होनेवाली सार्वजनिक शासन की समस्याओं का सामना करने तथा उनको हल ढूंढने का एक गम्भीर प्रयत्न किया गया। स्थानीय शासन, कला, धर्म तथा विद्या में तमिल देश श्रेष्ठता की उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ तक आनेवाले युग कभी पहुँच न सके। इन सभी क्षेत्रों में और विदेशी व्यापार तथा सामुद्रिक क्रियाशीलता में चोल युग उन सभी क्रियाओं के लिए

चरम परिणति का काल था जिनका प्रारम्भ पल्लवों के अधीन एक पूर्वतर युग में हुआ था।

मदुरा के पाण्ड्य

पाण्ड्य राज्य में मदुराई और तिरुनेवल्लि के आधुनिक जिले सम्मिलित थे। इस राज्य की सीमा बहुधा दक्षिणी त्रावणकोर तक बढ़ जाती थी। पाण्ड्य राज्य की राजधानी मथुरा (मदुरा) विस्तार, ऐश्वर्य, वैभव और सम्पन्नता की दृष्टि से सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में सबसे अधिक बढ़ी चढ़ी थी। इस राज्य का प्रमुख बन्दरगाह कोरके ताम्रपर्णि के मुहाने पर स्थित था। पाण्ड्यों की राजधानी पहले कोरके में थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखनेवाले कात्यायन ने पाण्ड्यों का उल्लेख किया है। रामायण में मदुरा के वैभव का जिक्र मिलता है। बौद्धग्रंथ महावंश के अनुसार लंका नरेश विजय ने एक पाण्ड्य राजकुमारी के साथ विवाह किया था। अर्थशास्त्र में पाण्ड्य देश में मोतियों का उल्लेख मिलता है। पाण्ड्य देश अपने मोतियों की समृद्धि के लिए विख्यात था। यहाँ के पनडुब्बे समुद्र से मोती ढूँढ निकालते थे जिससे राज्य को प्रचुर आमदनी होती थी। मगस्थनीज ने भी पाण्ड्य राज्य का उल्लेख किया है। अशोक के कुछ अभिलेखों में पाण्ड्य राज्य का उल्लेख मिलता है। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में इस बात का विवरण मिलता है कि उसने एक पाण्ड्य नरेश को पराजित किया था। स्ट्रेबो के अनुसार किसी पाण्ड्य नरेश ने रोमन सम्राट आगस्टस सीजर की राजसभा में २० ई० पू० में लगभग अपने राजदूत भेजे थे। पेरिप्लस तथा टोलमी की जोगरफी में पाण्ड्य राज्य तथा इसके नगरों का उल्लेख मिलता है।

पाण्ड्य वंश के मूल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान असंदिग्ध नहीं है। इस वंश के नरेश अपने को चन्द्रमा का वंशज बताते हैं। प्राचीन पाण्ड्यों के इतिहास का ठीक ठीक पता लगाना एक दुष्कर कार्य है। शिलप्पदिकारम् नामक तामिल महाकाव्य में एक पाण्ड्य नरेश नेदुञ्चेलियन का उल्लेख किया गया है। इसी नाम का दूसरा पाण्ड्य राजा, जिसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी निर्धारित किया जाता है, अपने वंश

द्वितीय ने अपनी सामरिक सफलताओं के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। संगम युग की अनेक तमिल कविताओं में उसकी प्रशंसा वैदिक यज्ञों के उत्साही

[1] In the age of the Colas the most creative period of South Indian history the whole of South India was for the first time brought under the sway of a single government and a serious attempt made to face and solve the problems of public administration arising from the new conditions In local government in art religion and letters the Tamil country reached heights of excellence never reached again in succeeding ages in all these spheres as in that of foreign trade and maritime activity the Cola period marked the culmination of movements that began in an earlier age under the Pallavas —Preface of *The Colas*

अनुष्ठानकर्ता के रूप में की गई है। नक्कीरार तथा अन्य कवियों को उसने राजाश्रय प्रदान किया। संगम परिषद् का एक प्रमुख केन्द्र मदुरा में भी था जिससे यह सिद्ध होता है कि पाण्डय नृपति तमिल साहित्य की उन्नति में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे रहा था।

नेदुञ्जेलियन की मृत्यु के बाद पाण्ड्यों की शक्ति का ह्रास होने लगा। सम्भवतः पल्लवों के उदय ने पाण्ड्य शक्ति को गहरा धक्का पहुँचाया। किन्तु पल्लव प्रभुता के युग में भी पाण्ड्य नरेश अपने राज्य की सीमा में स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। उसने पाण्ड्य राज्य के निवासियों के विषय में लिखा है कि वे मोतियों की तिजारत तथा अन्य व्यापारिक कार्यों में लगे रहते हैं और नैतिक या विद्यानुरागी नहीं हैं। पाण्ड्य राज्य में बौद्ध धर्म बिल्कुल ह्रासपूर्ण स्थिति में था। ब्राह्मण धर्म समुन्नत दशा में था और जैनियों की संख्या भी अधिक थी।

आठवीं और नवीं शताब्दियों में पाण्डय शक्ति का पुनरुत्थान—इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक पाण्ड्यों की शक्ति दुर्बल रूप में विद्यमान रही। इस युग में चोल शक्ति का भी ह्रास हो गया था। दक्षिण में इन दो प्रसिद्ध और प्राचीन राज्यों की राजनीतिक शक्ति के ह्रास का कारण केवल पल्लवों का उत्कर्ष ही नहीं था बल्कि कलभ्रों का संक्रमण भी था जिन्होंने मदुरा पर अपना अधिकार जमा लिया था। कलभ्र लोग उत्तरी तोण्डमण्डलम में निवास करते थे। जब पल्लवों ने तोण्डमण्डलम में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर ली तो विवश होकर कलभ्रों को और दक्षिण में चला जाना पड़ा। छठी शताब्दी के अन्त तक सुदूर दक्षिण भारत के कुछ भागों में कलभ्रों ने अपनी सत्ता जमाये रखी।

सातवीं शताब्दी के लगभग कडुङ्गोन के अधीन पाण्डय वंश की शक्ति दक्षिण में पुनरुज्जीवित हो उठी। कडुङ्गोन सम्भवतः पल्लव नरेश सिंहविष्णु का समकालीन था। इस पाण्ड्य नरेश ने पाण्ड्य राज्य की सीमा से कलभ्रों को निर्वासित कर दिया। कडुङ्गोन के पश्चात् पाण्ड्य वंश में अरिकेशरी मारवर्मन एक शक्तिशाली शासक हुआ। अरिकेशरी मारवर्मन सातवीं शताब्दी के मध्य में शासन करता था। उसने चेर नृपति को नेलवेलि नामक स्थान में हराया। अरिकेशरी मारवर्मन का समीकरण अनुश्रुति में उल्लिखित कुन पाण्ड्य के साथ किया जाता है जिसको सम्बन्दार नामक शैव सन्त ने अपने मत में दीक्षित किया था। ह्वेनसांग ने सम्भवतः उसी के समय में दक्षिण भारत का पर्यटन किया था। राजसिंह ने पल्लव पाण्डय संघर्ष में प्रमुख भाग लिया। राजसिंह के अभिलेख के अनुसार उसने नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल को पराजित किया परन्तु नन्दिवर्मन भी अपने अभिलेख में घोषित करता है कि उसने राजसिंह को हराया। राजसिंह के बाद वरगुण (७६५–८१५ ई०) नृपति हुआ जो अपने वंश के सर्वमहान शासकों में था। अपने सुदीर्घ शासन काल में वरगुण ने दक्षिणी त्रावणकोर, सेलम, कोयम्बटूर, तंजोर और त्रिचनापल्ली के जिलों को पाण्ड्य राज्य में सम्मिलित कर लिया। सम्भवतः उसने अपने समकालीन पल्लव राजा दन्तिवर्मन को हराया। वरगुण पाण्ड्य ने अपने राज्य में शिव तथा विष्णु के अनेक मन्दिर बनवाये जिनमें कोयम्बटूर जिले के पेरूर स्थान में स्थित विष्णु मन्दिर सबसे अधिक उल्लेखनीय है। किन्तु पाण्ड्य राज्य को आन्तरिक विग्रह के कारण गहरी क्षति उठानी पड़ी। वरगुण के पश्चात् श्रीमार पाण्ड्य राज्य का स्वामी हुआ जिसने बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनु

मार लंका के ऊपर आक्रमण किया और वहां के राजा को परास्त कर दिया। श्री मार ने पल्लवों और गंगों की सम्मिलित शक्ति को नीचा दिखाया किन्तु बाद में पल्लव नरेश नन्दिवर्मन तृतीय ने तल्लारु नामक स्थान में पाण्डय-नरेश को हराया। श्री मार का पुत्र वरगुण द्वितीय था जिसको श्रीपुरम्बियम के युद्ध में पल्लव राजा अपराजितवर्मन ने परास्त किया परन्तु बाद में गंगों की सहायता से पल्लव नरेश ने उसके ऊपर विजय प्राप्त कर ली।

पल्लव पाण्ड्य-संघर्ष में तो प्रायः सफलता पाण्डयों को ही मिली किन्तु चोलों के साथ उनका संघर्ष उनके लिए अनिष्टकारी प्रमाणित हुआ। पाण्ड्य नरेश राजसिंह द्वितीय को परान्तक चोल ने हरा दिया और उसे भागकर लंका जाने को विवश किया। इस समय से पाण्डयों को चोलों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। चोल शक्ति के अभ्युदय के कारण तीन शताब्दियों तक पाण्ड्यों को अपना सर उठाने का मौका न मिल सका। फिर भी पाण्डय वंश निर्मूल न किया जा सका और इस वंश के शासकों ने चोल सम्राटों का अपने विद्रोहों द्वारा परेशान रक्खा। पाण्डय वंश के राजकुमारों ने चोल सम्राटों के विरुद्ध बार बार विद्रोह किये परन्तु उनको विद्रोह दबा दिया गया। परन्तु चोल नृपति कुलोत्तुंग प्रथम के समय से पाण्डयों के राजनीतिक शक्ति एक बार फिर उज्जीवित हो उठी। कुलोत्तुंग प्रथम के पश्चात् चोल राजसिंहासन पर पूर्ववर्ती चोल सम्राटों की तरह कोई शक्तिशाली शासक न बैठा। इन परवर्ती चोल शासकों की दुर्बलता से लाभ उठाकर बारहवीं शताब्दी के मध्य में पाण्ड्यों ने अपनी शक्ति पुनः संगठित कर ली। मारवर्मन सुन्दर पाण्डय प्रथम ने (१२१६–१२३८ ई०) चोल नृपति राजराज तृतीय पर आक्रमण किया परन्तु वह स्थायी रूप से चोल साम्राज्य पर अधिकार न कर सका। नरसिंह द्वितीय होयसल ने राजराज का साथ देकर मारवर्मन को चोल राज्य में जमने न दिया। इस प्रकार चोल राज्य में होयसलों की राजसत्ता प्रतिष्ठित हो गई। नरसिंह द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने होयसलों के पैर और अच्छी तरह से जमा दिये। परन्तु १२५१ ई० में पाण्डय सिंहासन पर जटावर्मन सुन्दर पाण्डय बैठा। इस समय तक चोलों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी और होयसलों की शक्ति का भी काफी ह्रास हो चुका था अतएव सुन्दर पाण्डय को अपनी राज्यसीमा के विस्तार करने में किसी प्रबल प्रतिरोध का सामना न करना पड़ा। सुन्दर पाण्डय ने सोमेश्वर को हरा दिया और काञ्ची तक पहुँच गया। उसने पाण्डयों को उनके राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुंचा दिया। सुन्दर पाण्डय ने काकतीय नरेश गणपति को परास्त करके नेल्लोर तक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को अपने अधिकार में रक्खा। चेर नृपति और लंका के राजा को उसने अपना अधीनस्थ सामन्त बनाया। लंका के राजा पराक्रमबाहु द्वितीय को उसने पराजित किया था। सुन्दर पाण्ड्य ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। सुन्दर पाण्डय के बाद मारवर्मन कुलशेखर (१२७२–१३११ ई०) ने पाण्ड्य राज्य के राजनीतिक गौरव को नष्ट न होने दिया। अपने पिता के शासन काल में उसके साथ शासन करने के कारण मारवर्मन कुलशेखर ने इस विषय में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था। उसने होयसलों को चोल राज्य से बिल्कुल निकाल बाहर कर दिया। इस समय पाण्ड्यों के पास एक शक्तिशालिनी अश्व-सेना तथा नौसेना थी। मारवर्मन कुलशेखर ने अरब व्यापारियों के प्रति उदारता की नीति अपनाई। उसने उनको अपने राज्य में व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। अरब लेखक वस्साफ ने पाण्डय राज्य के अतुल वैभव का उल्लेख किया है। मार्को पोलो ने भी १२९३ में दक्षिण भारत का पर्यटन

किया था। उसने भी पाण्डय राज्य की आर्थिक समृद्धि और यहाँ के मोती व्यापार का वर्णन किया है।

मारवमन कुलशेखर के पश्चात उसके पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगडा उठ खडा हुआ। इस पारस्परिक झगडे से लाभ उठाकर अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करके वहाँ अशान्ति फैला दी। पाण्डय राज्य चारों ओर से विशृंखलित होने लगा। काकतीयों ने तामिलनाड के उत्तरी जिलों पर अधिकार जमा लिया। सामन्तों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी। मलिक काफूर ने मदुरा में अपना एक दुर्ग खडा करवा दिया। इसके बाद पाण्डय राजकुमार मदुरा पर फिर से अधिकार न जमा सके और उनका स्तर केवल अधीनस्थ सामन्तों का सा रह गया।

चेर राजवंश

चेर राज्य चोल और पाण्ड्य राज्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। यहाँ की भूमि पर्वतीय होने के कारण यहाँ के निवासी कष्टसहिष्णु और युद्धप्रिय थे। केरल चेर का ही एक दूसरा नाम है। पहले केरल अथवा चेर राज्य तमिल देश का ही एक भाग था। बाद में तमिल देश में मलयालम या केरल प्रदेश पृथक हो गया। केरल के निवासी पश्चिमी देशों के साथ व्यापार किया करते थे जिससे उनका देश समृद्धिशाली हो गया था। चेर में मजिरिस बकारा और तान्डी इत्यादि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इस राज्य की राजधानी वान्जी थी जिसका समीकरण कुछ विद्वान त्रिचना पल्ली के निकटवर्ती एक स्थान से करते हैं परन्तु अन्य विद्वानों की सम्मति में यह कोचीन के निकट अवस्थित थी।

अशोक के अभिलेख में केरलपुत्र राज्य का जो उल्लेख किया गया है वह चेर राज्य ही था। पेरिप्लस और टाल्मी की जोगरफी में चेर राज्य तथा इसके बन्दरगाह का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। प्राचीन चेर राज्य में आधुनिक मलाबार का जिला तथा ट्रावनकोर-कोचीन के सलग्न सम्मिलित थे। कभी कभी इसकी सीमा कोंगू जिले (आधुनिक कोयम्बटूर का जिला तथा दक्षिणी सलेम) तक पहुँच जाती थी।

चोल और पाण्ड्य राज्यों की तरह चेर राज्य का इतिहास सुस्पष्ट नहीं है। संगम युग में अथन प्रथम को करिकाल चोल ने पराजित किया था। अथन द्वितीय चेर राज्य का प्रथम महान और शक्तिशाली शासक था। अथन द्वितीय का शासन काल गौरवशाली था। वह करिकाल चोल का दामाद था। उसने कपिलार नामक कवि को राजाश्रय प्रदान किया था। अथन द्वितीय का उत्तराधिकारी सेंगुत्तवन चेर राज्य के सबसे महान् शासकों में था। सेंगुत्तवन का शासन काल ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्धारित किया जाता है। उसने चोल और पाण्ड्य राज्यों की आन्तरिक गड़बडी से लाभ उठाकर अपनी शक्ति संगठित कर ली। सेंगुत्तवन की सफलताओं का वर्णन शिलप्पदिकारम् नामक तमिल महाकाव्य में विस्तार के साथ किया गया है। इस महाकाव्य के अनुसार सेंगुत्तवन ने उत्तरी भारत पर भी आक्रमण किया था किन्तु स्पष्ट है कि यह कथन अतिरञ्जनमात्र है। कहा जाता है कि इस प्रतापी शासक ने कुछ सामुद्रिक विजयें भी की थीं। वह साहित्यानुरागी था और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान करता था। उसके उत्तराधिकारी निर्बल निकले। एक परवर्ती चेर नृपति यनि

कन छेय अथवा मध्यम छेराल को पाण्ड्यनरेश नेडुंजेलियन द्वितीय ने तलैयालंगानम के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित किया था। इसके पश्चात चेर राज्य की राजनीतिक प्रमुखता कुछ शताब्दियों के लिए समाप्त हो गई। फिर भी इस राज्य ने अपनी आंतरिक स्वतन्त्रता को दसवीं शताब्दी तक बनाये रक्खा। बाद में चोलों की शक्ति के उदय में इसकी स्वतन्त्रता छिन गई किन्तु चोल शासकों के साथ यहाँ के राजाओं का मैत्री सम्बन्ध स्थापित था। आठवीं शताब्दी में एक चेर-नृपति को पल्लव राजा परमेश्वर वर्मन के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा और बाद में उसने पाण्ड्य राजा वरगुण प्रथम से युद्ध किया जिसने वान्नाड देश और दक्षिणी ट्रावनकोर को जीत लिया। स्थाणुरवि ने पाण्ड्यों के विरुद्ध आदित्य चोल की सहायता की थी। परान्तक चोल ने एक चेर राजकुमारी के साथ विवाह किया था। दसवीं शताब्दी में चेर शासकों और चोलों का पारस्परिक मैत्री सम्बन्ध विनष्ट हो गया। इस शताब्दी के अन्त में राजराज चोल ने चेर राजा भास्कर रविवर्मन को परास्त किया। बारहवीं शताब्दी तक चोलों ने चेर राज्य पर अपना अधिकार कायम रक्खा। बारहवीं शताब्दी में वीर केरल के नेतृत्व में चेर राज्य स्वतन्त्र हो गया। किन्तु तेरहवीं शताब्दी में एक बार फिर पाण्ड्यों के उदय से चेर शक्ति को धक्का लगा। मलिक काफूर के आक्रमण से पाण्ड्य राज्य में जो आंतरिक गड़बड़ी फैली उससे लाभ उठाकर रविवर्मन कुलशेखर ने चेर राज्य की शक्ति को पुनः संगठित कर लिया। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में केरल अथवा चेर राज्य की शक्ति सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में सबसे अधिक थी। कुलशेखर ने काञ्ची पर अपना अधिकार जमा लिया। कुलशेखर के बाद चेर राज्य की शक्ति नष्ट हो गई और यह अनेक छोटे छोटे भागों में विभक्त हो गया।

चेर शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण उदार और सहिष्णुतापूर्ण था। स्थाणुरवि ने सीरिया के ईसाई मतावलम्बियों और भास्कर रविवर्मन ने यहूदियों को अपने राज्य में कुछ सुविधायें प्रदान की थी।

Questions

Agra University

१ चोल साम्राज्य के राजनैतिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (१९४७)

२ राजराजा एवं राजेन्द्र चोल की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। चोल स्थानीय अभिशासन के विषय में आप क्या जानते हैं ? (१९५०)

३ चोलों की शासन प्रणाली का वर्णन कीजिए। (१९४७)

४ राष्ट्रकूट कौन थे ? गोविन्द तृतीय की मृत्यु तक दक्षिण में राष्ट्रकूट सत्ता के उत्कर्ष का वर्णन संक्षेप में कीजिए। (१९४२)

५ पुलकेशिन द्वितीय की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। (१९४९)

६ पुलकेशिन द्वितीय के राज्यकाल का विशद उल्लेख करते हुए वातापी के प्रारम्भिक चालुक्यों का इतिहास लिखिए। (१९५१)

Allahabad University

1. Bring out the main achievement of the Chola power in India and abroad (1955)

2 Describe the system of administration under the Cholas (1956)

3 Give a critical account of the administrative system of the Cholas (1958)

4 Whom do you consider to be greatest of the Chola kings and why? (1959)

५ राजराजा प्रथम के सिंहासनारोहण के साथ चोलों का सबसे ऐश्वर्य सम्पन्न युग प्रारम्भ हुआ इस कथन की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि चोल साम्राज्य के संगठन में राजराजा प्रथम एवं राजेन्द्र गंगकोण्ड ने क्या भाग लिया। (१९४९ १९५१)

६ राष्ट्रकूट कौन थे ? उत्तर भारत में साम्राज्य स्थापित करने के लिए उन्होंने कौन कौन से प्रयत्न किये और कहाँ तक सफल हुए ? उत्तर भारत में उनके प्रमुख शत्रु कौन थे ? (१९५१)

7 Who were the Rashtrakutas? Describe briefly the attempt made by them and extend their authority in N India (1057)

8 Whom do you consider to be the greatest of the Rashtrakuta rulers and why? (1058)

९ आप किसे राष्ट्रकूट वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक समझते हैं ? और क्यों ? (१९४८)

१० राष्ट्रकूटों की विदेश नीति, विशेषकर अरबों से उनके सम्बन्ध की आलोचना कीजिए। (१९५९)

११ दक्षिण में चालुक्य शक्ति के उदय का विवरण दीजिए। पुलकेशिन द्वितीय के कार्यों पर प्रकाश डालिए। (१९४५)

१२ परवर्ती चालुक्य कौन थे ? सोमेश्वर प्रथम अहवमल्ल के जीवन पर प्रकाश डालिए। (१९४७)

१३ पल्लव कौन थे ? दक्षिण भारत की संस्कृति में उनके योगदान का विवेचन कीजिए। (१९५०)

14 Examine the contribution of Pallavas to the culture of South (195)

15 Examine the contribution of the Pallavas to the art and culture of South (1959)

Varanasi University

१ चोलों की शासन प्रणाली का वर्णन विस्तारपूर्वक कीजिए। (१९५०) (१९५१, १९५४)

२ राष्ट्रकूटों के इतिहास और उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (१९५४)

Lucknow University

1 Describe the system of Chola administration with special reference to local self government (1948)

२ चोल शासन-प्रणाली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (१९५१)

३ राष्ट्रकूट वंश में सबसे प्रतापी शासक आप किसे समझते हैं और क्यों ? (१९५४)

4 Who were the Rashtrakutas ? Give an account of the Rashtrakuta supremacy in the Deccan upto the death of Dantidurga (1956)

5 Give a short history of the Chalukya kings of the Deccan upto the death of Pulkesin II (A D 642) (1947)

6 Give a short history of the Chalukyas upto the time of Pulkesin II and account for his greatness (1956)

7 Give a brief account of the political and cultural history of the Pallava upto 800 A D (1956)

२६ | पूर्व मध्यकालीन सभ्यता एव सस्कृति

पूव मध्यकाल से हमारा अभिप्राय सातवी शता ब्दी म बारहवी शताब्दी ई० तक से है। इस युग की राजनीतिक परिस्थितियो का पूर्ण विवरण पिछले पृष्ठो म दिया जा चुका है कि तु इस युग के राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा इसका सास्कृतिक इतिहास अधिक महत्वपूण है। इस युग म साहित्य कला आदि सम्बन्धी जो प्रगति हुई वह भारतीय इतिहास म अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अत पूव मध्यकालीन शासन प्रबन्ध सामाजिक धार्मिक तथा आर्थिक अवस्थाओ शिक्षा कला सम्बन्धी प्रगतियो एव उपलब्धियो पर यहाँ पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा।

शासन प्रबन्ध

वस्तुत म गुप्त सम्राटो तक ही भारत म एकछत्र राज्य स्थापित रहा और उनका शासन प्रबन्ध बहुसख्यक के लिए एक रूप का था। उनके शासन प्रबन्ध को ही प्राचीन भारत का अन्तिम सुव्यवस्थित सुसगठित एव कुछ अशो तक मौलिक कहा जा सकता है और इसी न आगे आनेवाले राजाओ को अपना अनुकरण करने की प्रेरणा दी। बारहवी शताब्दी तक राजतन्त्र पूववत चलता रहा पर वह सीमित और जातीय हो गया था। बहुधा प्राकृतिक सीमाओ के अनुसार अथवा जातीय सीमाओ के आधार पर सम्पूण उत्तर भारत म अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। यद्यपि इन दिनो के अभिलेखो म इन छोटे छोटे नृपतियो को भी पूववत बड बडे विरुद परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर प्रदान किये गये हैं पर यह उन राजाओ की झूठी आत्मतुष्टि का प्रतिफल है उनका मनमाना है। वास्तव म न तो कोई चक्रवर्ती रह गया रह गया था और न कही एकछत्र राज्य। अपने-अपने सीमित क्षेत्र म प्रत्येक राजा महाराजाधिराज होने का दावा करता था। सामन्त शासन अब भी प्रचलित था क्योकि दानपत्रो म सामन्त महासामन्त आदि शब्दो का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इन सामन्तो की स्थिति पहले की अपेक्षा अब काफी बदल चुकी थी। य केन्द्रीय शासन की दुबलताओ का पूरा लाभ उठाते थे और परतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्र शासको-सा शासन करते थे।

उपरोक्त विवरण से तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का कुछ बोध हो जाता है अब यहाँ शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डाला जायगा।

गणतन्त्र शासन—प्राचीन भारत म हम राजतन्त्रात्मक शासन के साथ-साथ गण तन्त्रात्मक शासन का भी प्रादुर्भाव मिलता रहा कि तु जैसे जैसे साम्राज्यवाद की भावना प्रबलतम होता गई गणतन्त्रो की स्थिति सकट म पडती गइ। विभिन्न राज्यो व मगध साम्राज्य का ना गणतन्त्रो की अवनति का उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। सातवी शताब्दी तक आते आते गणतन्त्रो का नाम तक नही रह गया और अब केवल नृपतन्त्रा त्मक शासन का ही अस्तित्व रह गया। हष प्रतीहार तथा पाल वशो राजाओ का राज्य अपेक्षाकृत विस्तृत था पर उसी समय के और कुछ बाद के राजाओ का राज्य इतना सीमित था कि इन नृपतन्त्र राज्यो का अस्तित्व प्रधान कारण था किसी भी गण

तन्त्र राज्य में किसी भी दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण न था फिर भी ये राजतन्त्र थे और राजतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का इनमें अभाव न था। समस्त राजकीय कार्यों में वे प्राचीनकाल के विशाल राजतन्त्र राज्यों का ही अनुकरण करते थे।

विचाराधीन काल के ताम्रपत्रों शिलालेखों तथा साहित्यिक सामग्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा का निर्वाचन नहीं होता था प्रत्युत यह पद वंशानुगत था। किन्तु यह आवश्यक नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी हो। राजा द्वारा मनोनीत पुत्र (युवराज) ही राजा हो सकता था। पूर्व मध्यकालीन राजाओं में जनहित की भावना का उद्रेक असामित था। वे अपने जाति के नियमों का पालन करते थे और उस पर उन्हें गर्व था। राजाओं के कुछ प्रमुख कर्तव्य थे जिनकी अवहेलना करना उनके लिए अशोभनीय वस्तु थी। ये प्रमुख कर्तव्य निम्नलिखित थे—

क—प्रजा की रक्षा करना—आन्तरिक एवं बाह्य अशान्ति से उसे बचाना (गोप्राजनत्व)

ख—राजा प्रजा को धर्म में नियोजित करे तथा स्वयं वर्णाश्रमधर्म-पालक हो (पातकता राजा धर्मपाल का अभिप्राय)।

ग—वह सार्वजनिक संस्थाओं एवं संस्थाओं को दान दे। शिक्षालयों को दान देने की प्रणाली का प्रमाण हमें अनेक साक्ष्यों से प्राप्त होता है।

सारांश यह कि राजा प्रजा के हित का सिद्धान्त सिद्धान्त रूप में विद्यमान रहा पर इसका व्यावहारिक रूप कुछ भिन्न था और वह राजाओं के वैयक्तिक गुणों एवं प्रकृति पर निर्भर था। हम पिछले पृष्ठों में विभिन्न प्रकार एवं प्रवृत्ति के शासकों का अध्ययन कर चुके हैं। कुछ शासक पूर्ण स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होते थे और ऐसे राजाओं पर मन्त्रियों तथा जनता का कोई दबाव नाममात्र को भी नहीं पड़ सकता था। वे नितान्त मनमानी करते थे और किसी का साहस न था कि कुछ बोलता। इस युग के (प्राचीन काल के भी) शासकों की सत्ता का बोध उनके दैवी अधिकार सम्पन्न होने उनके शरीर में देवता का निवास होने या कुछ स्मृतिकारों के विचार से उनके ईश्वर का अवतार होने की घोषणा से हो जाता है। राजा को देवता मानने में उनके गुणों अथवा उनकी क्रूरता के भय या उनके प्रशंसकों की चाटुकारिता में किसका अधिक हाथ है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मण तथा आचार्यों से राजा कुछ अवश्य प्रभावित रहते थे। वे कवियों के आश्रयदाता होते थे। राजा भोज जयचन्द तथा यशोवर्मा के दरबार में कवियों के रहने का प्रमाण मिलता है।

युवराज—पहले यह बताया जा चुका है कि राजपद वंशानुगत होता था पर राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी हो यह आवश्यक न था हाँ उसे गुणवान होना आवश्यक था जिससे उसे किसी प्रान्त का प्रान्तीय शासक (गवर्नर) बनाया जा सके और इस प्रकार वह राज काज में धीरे धीरे दक्ष हो सकते थे। विचाराधीन काल में युवराज का पद न था फिर भी राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह अपना उत्तराधिकारी अपने जीवन-काल में ही घोषित कर दे। इसका प्रमाण यह है कि इस काल के दान-पत्रों में राज्य के पदाधिकारियों की सूची में युवराज को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। गहड़वाल चन्देल परमार के लेखों में युवराज शब्द आता है। पाल युग में धर्मपाल की खालीमपुर प्रशस्ति बंगाल के लक्ष्मण सेन तथा नारायण के नूतपुर के ताम्रपत्रों में युवराज के स्थान पर राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

मन्त्रिमण्डल—प्राचीन काल की भाँति इस युग में भी मन्त्रियों का राज काज में महत्त्वपूर्ण हाथ था। महाप्रधान (परमार-नरेश यशोवर्मा का लेख) महामात्य (गहड़वाल ताम्रपत्र) आदि शब्दों का उल्लेख इस काल के अभिलेखों तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। मन्त्रियों की संख्या कितनी होनी चाहिये इस पर स्मृतिकारों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने कम से कम तीन ५ या ७ और अधिक से अधिक १० मन्त्रियों के मन्त्रिमण्डल का समर्थन किया है। शुक्रनीति में इस मन्त्रियों का क्रम इस प्रकार दी गई है—

(१) पुरोहित (२) प्रधान (३) सचिव (४) मन्त्री (५) प्राड्विवाक (६) पण्डित (७) ? (८) सुमन्त्र (९) अमात्य तथा (१०) प्रतिनिधि।

किन्तु राजपूत काल में इन मन्त्रियों के नामों में क्या परिवर्तन आ गये थे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राजा के अतिरिक्त युवराज तथा प्रान्तीय शासक भी अपना पृथक् मन्त्रिमण्डल रखते थे। प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का उन्नायक होता था। किन्तु कलचुरि लेखों में ही महामन्त्रिन् शब्द का उल्लेख मिलता है अन्य पूर्व मध्यकालीन लेखों में प्रधान मन्त्री का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। पाल तथा सेन वंश के लेखों में राजामात्य शब्द आया है जो सम्भवतः प्रधान मन्त्री के लिये प्रयुक्त है। मन्त्रणा और नीति निर्धारण इनका प्रमुख कार्य था।

सैन्य विभाग—इस युग में सैनिक शक्ति का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। राज्य की सम्पूर्ण आय का ५० प्रतिशत भाग केवल सेना पर व्यय किया जाता था। सेना पूर्ववत् चार वर्गों में विभक्त थी—(१) पदाति अश्व गज तथा रथ। रथ सेना का उल्लेख इस युग के लेखों में नहीं किया गया है। पाल लेखों में नौबल नामक पदाधिकारी का उल्लेख किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यहाँ नौ-सेना भी थी और यह सम्भव भी है क्योंकि पाल शासक समुद्र के समीपस्थ थे। अश्वपति (महाश्वपति) हस्त्यध्यक्ष आदि पदाधिकारियों का उल्लेख इस युग के लेखों में किया गया है। सेना छोटी छोटी टुकड़ियों (गुल्मों नामिक) में विभक्त थी। प्रत्येक टुकड़ी का नायक गणस्थ कहलाता था। कुछ विद्वानों ने ९ गज ९ रथ २७ अश्व तथा ४५ पैदलों की टुकड़ी (गुल्म) का एक पृथक् नायक बताया है और ऐसे तीन गुल्मों के नायक को गणस्थ बताया है। रणभाण्डागारिक गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र के लेख में प्रयुक्त भाण्डागारिक तथा कलचुरि लेख के महाभाण्डागारिक शब्दों से यह परिलक्षित होता है कि सैन्य-सामग्री के एकत्रित करने के लिए भी एक पदाधिकारी था।

मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री के बाद युद्धमन्त्री का ही द्वितीय स्थान था। इसे सेनापति या महासेनापति कहा जाता था।

दुर्ग निर्माण की ओर इस युग के राजाओं का ध्यान अधिक आकृष्ट था। दुर्ग के निरीक्षक को कोट्टपाल कहते थे। सीमान्त के रक्षक को द्वारपाल कहते थे कभी द्वारपाल और कोट्टपाल दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति रहता था। सुलेमान अलमसूदी आदि ने भारतीय सेना की बहुत संख्या का उल्लेख किया है। अलमसूदी ने तो प्रतिहार नरेश महीपाल की सेना के सम्बन्ध में लिखा है कि कन्नौज के राजा के पास बहुत विशाल सेना थी जिसकी संख्या सात लाख से नौ लाख तक पहुँच चुकी थी।

अर्थ विभाग—राज्य के आय व्यय का लेखा रखने के लिये कोषाध्यक्ष होता था। वनों की आय का हिसाब किताब अरण्याध्यक्ष रखता था। इसी प्रकार पशु धन का

निरीक्षक गोष्पथ अथवा गोकुलिक (परमार तथा गहड़वाल लेख) कहलाता था। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में गज, अश्व, गो आदि पशुओं के निरीक्षण के लिये नियुक्त पदाधिकारी का उल्लेख किया गया है। भूमिकर वसूल करने के लिये एक अलग अधिकारी था जिसे खालीमपुर ताम्रपत्र में षष्ठाधिकृत (छठा भाग प्राप्त करने वाला) कहा गया है। हिरण्य सामुदायिक तथा भाण्डागारिक पदाधिकारी भी इसी विभाग में क्रमशः नकद लगान वसूल करने तथा राजभाण्डार का हिसाब रखने का कार्य करते थे।

लेखा विभाग—कलचुरि तथा गहड़वाल लेखों में महाक्षपटलिक नामक पदाधिकारी का उल्लेख किया गया है जो भूमि-सम्बन्धी विवरणों का लेखा-जोखा रखता रहा होगा। इसके अधीन भी सीमाकर्मकर (बिहार में), प्रमात (बंगाल में) तथा सीमाप्रदाता (आसाम में) नामक पदाधिकारी थे। भूमि सम्बन्धी आज्ञापत्रों तथा दानपत्रों को सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व इसी विभाग पर था।

पुलिस विभाग—आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिए पुलिस विभाग की व्यवस्था की जाती थी। गहड़वाल, परमार, पाल तथा प्रतिहार लेखों में दण्डपाशिक, दाण्डिक अथवा दण्डशक्ति शब्दों का प्रयोग किया गया जो पुलिस विभाग के अधिकारी थे। पालवंश के नालन्दा, खालीमपुर तथा आमगाछी ताम्रपत्रों में चौरोद्धरणिक (चोर पकड़ने वाला) नामक पदाधिकारी का भी बोध होता है। ग्राम शासन व्यवस्था में मुखिया का प्रमुख हाथ इसलिये भी माना जाता था कि वह स्वयंसेवक दल का नेता होता था और गाँव में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखता था। खालीमपुर ताम्रपत्र में खोल नामक पदाधिकारी का उल्लेख किया गया है जो डा० मजूमदार के अनुसार गुप्तचर विभाग का अधिकारी होता था।

न्याय विभाग—प्राचीन काल से ही राजतन्त्रात्मक शासन में राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था और उसका निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। उसके नीचे अनेक न्यायाधीश होते थे। सेन लेखों में महाधर्माध्यक्ष नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः न्याय विभाग का अध्यक्ष होता था। पंचायतों द्वारा भी न्याय का कार्य सुचारु रूप से चलता था और इनके निर्णय की अपील उच्चतर न्यायालयों में होती थी। इस युग के लेखों तथा ग्रन्थों में कारागार शब्द के अभाव के आधार पर कुछ लोगों ने ऐसा अनुमान किया है कि सम्भवतः उन दिनों कारावास का दण्ड नहीं दिया जाता था और जुर्माना ही अधिक किया जाता था, किन्तु इसे स्वीकार करने में कुछ बाधा पड़ती है और कारागृह के बिना न्याय एवं व्यवस्था को चलाना किस प्रकार सम्भव है यह नहीं कहा जा सकता।

वाणिज्य विभाग—प्राचीन भारत में कुटीर उद्योग काफी उन्नतावस्था में थे। राजपूत युग में तो इसने और भी उन्नति कर ली थी। औद्योगिक उन्नति के कारण व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था अतः वाणिज्य-व्यवसाय की देख-रेख के लिये एक पृथक विभाग की स्थापना की गई थी। इस विभाग के कर्मचारियों का प्रमुख कार्य अन्तर्देशीय तथा विदेशी व्यापार पर लगनेवाली चुंगी अथवा निर्यात कर वसूल करना, वस्तुओं का यदि आवश्यक हो तो मूल्य निर्धारण, उपयोगी वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था आदि करना था। पाल तथा परमार लेखों से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों शौल्किक नामक कोई पदाधिकारी था जो चुंगी वसूल करता था।

धर्म विभाग—राजपूत काल में प्राचीन काल की भाँति धर्म विभाग की स्थापना की आवश्यकता सम्भवतः किसी शासक को नहीं पड़ी थी। यह युग धार्मिक प्रतिक्रिया का लेकर चल रहा था पर इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि इसमें धर्म की उपेक्षा की गई हो। कुछ प्रपत्रों एवं लेखों में ऐसा परिलक्षित होता है कि धार्मिक अनुदानों का लेखा जोखा रखने अथवा उनकी व्यवस्था के लिए कुछ राज्यों में धर्म-विभागों की स्थापना की गई थी। चेदि लेख में धर्म प्रधान तथा सेन लेख में महा धर्माध्यक्ष नाम से उपरोक्त मत का समर्थन होता है। इन धर्म विभागों के कार्यों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है सम्भवतः धार्मिक सहिष्णुता बनाये रखना ही इनका प्रमुख कार्य रहा होगा। व्यक्तियों को दान देने के स्थान पर अब संस्थाओं को दान दिया जाने लगा था अतः इसकी व्यवस्था भी इसी विभाग के अंतर्गत थी। पाल कालीन लेखों में अग्रहारिक नामक पदाधिकारी का उल्लेख है जो दान कार्य के लिए ही नियुक्त किया जाता था।

राजप्रासाद की व्यवस्था—राजप्रासादों का एक पृथक विभाग होता था जिनकी सेवायें राजकुल तक सीमित थी। इस विभाग में अनेक पदाधिकारी थे। आवसथिक प्रतिहार महाप्रतिहार आभरण अंतःपुरिक आदि का उल्लेख इस काल के अनेक लेखों में किया गया है। डा० मजूमदार ने राजा के अंगरक्षक दल का भी उल्लेख किया है। गहड़वाल चालुक्य तथा चहमान लेखों में ज्योतिषी का उल्लेख किया गया है जो शकुन-अपशकुन पर विचार किया करते थे। गहड़वाल लेखों में भिषग का उल्लेख किया गया है जो राजवैद्य होता था।

आय व्यय के स्रोत—केन्द्रीय शासन-व्यवस्था पर विचार कर लेने के पश्चात् राज्य के आय व्यय के साधनों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। आय के प्रमुख साधन कृषि वाणिज्य-व्यवसाय कर तथा जुर्माने थे।

गहड़वाल चेदि परमार तथा पाल लेखों में कृषि कर को भागभोग कर या राज-भाग कर कहा गया है। पाल तथा परमार लेखों में उपरिकर नामक कर का उल्लेख किया गया है। परवर्ती गुप्त लेखों (८वीं शताब्दी) में उपरिकर के साथ उद्रंग का भी प्रयोग किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि भागभोग की भाँति उद्रंग भी स्थायी किसानों से वसूल किया जाता था और अस्थायी कृषकों से उपरिकर ग्रहण किया जाता था। सस्य-धन नामक किसी कर का भी उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः अस्थायी कृषकों से ही लिया जाता था। विद्वानों का अनुमान है कि भूमि कर जिन्स तथा नकद दोनों रूपों में लिया जाता था। गुर्जर प्रतिहार लेखों में किसी गाँव की आय पाँच सौ मुद्रा बताई गई है जिससे उक्त मत का समर्थन हो जाता है। नकदी कर को 'हिरण्य' कहते थे। परन्तु इस युग के अंत में (१२वीं शताब्दी से) भूमि कर नकद लिया जाने लगा। इसका प्रमाण हमें सेनावंशी लेखों से मिलता है। ये नकदी भूमिकर चाँदी के सिक्कों में दिये जाते थे जिन्हें पुराण कहा जाता था। प्रारम्भ में मुखिया गाँव का भूमिकर वसूल करता था किन्तु ९वीं से १२वीं शताब्दी तक राजपूत राजाओं ने भूमिकर की वसूली का भार सामन्तों को सौंप दिया था।

भूमिकर के अतिरिक्त वाणिज्य-व्यवसाय पर लगनेवाला टैक्स भी राजकीय आय का एक प्रमुख साधन था। विभिन्न राज्यों में वाणिज्य व्यापार अथवा उद्योग धन्धों पर लगनेवाले करों अथवा टैक्सों को भिन्न भिन्न नाम दिया गया था। मंडपिका नामक टैक्स एक प्रकार का विक्रय कर था। बाहर से बिक्री के लिए आनेवाली वस्तुओं

पर आधुनिक युग की भाँति चुंगी लगती थी।[1] मध्ययुगीन लेखों में घोड़े की बिक्री, पान, तेल के उद्योग धन्धों से वसूल टैक्स लगाये जाने का उल्लेख किया गया है जिसे शुल्क की संज्ञा दी गई है और इस वसूल करनेवाले को शौल्किक कहा गया है। खनिज उद्योग पर भी कर लगाये जाने का संकेत गहड़वाल लेख से प्राप्त होता है।

काशी के निकट प्राप्त दानपत्रों में (गोविन्दचन्द्र के लेख में भी) तुरुष्क दण्ड का उल्लेख किया गया है जो सम्भवतः यवन आक्रमणों के समय प्रजा से लिया जाता था। गहड़वाल लेखों से कुमारगद्याणक, जुटक, जलकर आदि करों का भी बोध होता है जिसे विद्वानों ने सन्तानोत्पत्ति पर लगनेवाला टैक्स अनुमानित किया है। कुछ लोग राजकीय करों से मुक्त थे उदाहरणार्थ लूले लंगड़े अपाहिज अन्धे अथवा श्रोत्रिय तथा दानग्राही ब्राह्मण।

रघुवंश से हमें ज्ञात होता है कि राज्यकर प्रजा के हित के लिए उगाहे जाते थे।[2]

पूर्व मध्यकालीन राज्यों के आय के साधनों का अध्ययन हमने पिछले पृष्ठों में किया है अब यहाँ हम व्यय के साधनों का विवेचन करेंगे। इस युग में व्यय के चार स्रोत थे—(१) राज्य कर्मचारियों का वेतन (२) सार्वजनिक कार्य, (३) शिक्षा और (४) वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दान। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि आय का चौथाई भाग राज्य के कार्य में दूसरा चौथाई दान में तीसरा चौथाई विद्वानों के निमित्त अर्थात्—शिक्षा में और शेष भाग विभिन्न धर्म के भाग में व्यय किया जाता था। राज्य कर्मचारियों की एक लम्बी सूची का उल्लेख हमने किया है इसमें इनकी संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। सार्वजनिक कार्य में मन्दिरों धर्मशालाओं और मठों का निर्माण कार्य अधिक होता था जिनसे इस काल की श्रेष्ठ कला का भास होता है। कन्नौज के शासक जयचन्द्र का काशी में मन्दिर निर्माण और चन्देल राजाओं का खजुराहो मन्दिर इसका उज्ज्वल प्रतीक है कि तत्कालीन कला एक श्रेष्ठ कला थी। इसका विस्तृत विवरण हम अगले पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे। यहाँ केवल इतना बताना ही हमारा उद्देश्य है कि इन निर्माण कार्यों में राज्य का धन लगता था। पहाड़पुर के उत्खनन से ज्ञात होता है कि यहाँ के एक ८वीं शताब्दी के मन्दिर का अनुकरण बृहत्तर भारत अर्थात् जावावालों ने किया था। प्रजा के कल्याणार्थ किलों का भी निर्माण किया जाता था पर खजुराहो कालिंजर भुवनेश्वर आदि स्थानों के भवनों की भाँति आज उनका अस्तित्व नहीं है। राज्य के व्यय का ¼ शिक्षा के मद में खर्च किया जाता था। नालन्दा का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय इस युग की कीर्ति था। यहाँ विहार भी बने होते थे और इन विहारों में विद्यार्थियों के रहने और भोजनादि का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। नालन्दा और विक्रमशिला में विहारों का निर्माण पाल-नरेशों ने किया था क्योंकि उनका शिक्षा की ओर ध्यान अन्य नरेशों की अपेक्षा अधिक रहता था। इस युग में राजाओं की प्रवृत्ति दान की ओर विशेष थी। इस प्रकार आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यय हो जाता था। दान दो प्रकार के होते थे—पहला वैयक्तिक जो व्यक्ति विशेष को दिया जाता था और दूसरा सार्वजनिक जो

[1] मार्गे गच्छतानामागतानां बलभानां—एपि० इ० ११ पृष्ठ ३७। उक्त उद्धरण से यह परिलक्षित होता है कि प्रत्येक किराना से भरी हुई बैलगाड़ी पर दो रुपया चुंगी ली जाती थी।

[2] प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥—रघुवंश—१।

किसी संस्था को। सार्वजनिक दान बहुत बड़ी संख्या में पड़ता था। बहुधा भूमिदान भी किये जाते थे। जो भूमि वाटिका अथवा जलाशय दान में दिये जाते थे उसे ताम्र पत्र पर सीमा तथा माप सहित अंकित कर लिया जाता था और राज्य कर्मचारियों को या राजाज्ञा द्वारा इसकी सूचना दे दी जाती थी। इन लेखों में दान के ग्राम में स्थायी और सीमा में कार्य करने वाले कर्मचारी नियुक्त होते थे। पाल लेखों में जलाशयों और वाटिकाओं के साथ और गहड़वाल गोविन्दचन्द्र के दान पत्रों में नगर आदि के दानों के दान के साथ भूमिदान का भी उल्लेख मिलता है। दान पाने वाले व्यक्ति राज्य नियमों का पालन के लिये विवश था। भूमि का भिन्न भिन्न भाग में बचाव के लिये वह भूमि का रक्षण या बंधक रखने का अधिकारी होता था यदि वह उसमें भाग प्राप्त कर सकता था और सभी राजकीय करों से विमुक्त कर दिया जाता था। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष को दान देकर आय के अधिकारों की स्वतन्त्रता दे दी जाती थी उसी प्रकार किसी संस्था को दान देने के लिये उसके प्रधान को हाथ में जल देना पड़ता था। ये संस्थायें प्रायः मंदिर या शिक्षा सम्बन्धी होती थीं। इन संस्थाओं का प्रबन्ध दान के ही आधार पर होता था। व्यय के इन साधनों के अतिरिक्त आय का कुछ अंश राजकोष में संचित होता था या नहीं इसके लिये केवल मुसलमान लेखकों के ही उल्लेख उपलब्ध हैं। वे लिखते हैं कि हिन्दू नरेश सिंहासनारूढ़ होते समय पूर्वजों द्वारा संचित कोष का भी अधिकारी होता था परन्तु संकटावस्था में ही राजा इनका आश्रय लेता था। इससे राजकीय ऋण का अवसर ही नहीं आता था। दूसरे मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा भारत की लूट में राजधानी से अतुल धन ले जाने का विवरण यह प्रमाणित करता है कि हिन्दू राजाओं के पास संचित आय भी अधिक मात्रा में होती थी।

परराष्ट्र विभाग—विचाराधीन काल की समसामयिक सामग्रियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि शासन प्रबन्ध को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए पूर्व निश्चित विभिन्न विभागों की स्थापना की गई थी। जैसा कि उक्त काल के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते समय हमने देखा था इस युग में अनेक छोटे छोटे राज्यों की उत्पत्ति हो चुकी थी जिनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इन छोटे छोटे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण तत्सम्बन्धी नीति निर्धारण आदि कार्य प्रत्येक राज्य का परराष्ट्र विभाग करता था। यह एक अलग विभाग था जिसकी देख रेख एक अलग मंत्री के अधीन होता थी। परराष्ट्र मंत्री युद्ध और सन्धि करने का उत्तरदायी होता था। इस मंत्री को कल्हणचरित तथा सेन लेखों में महासान्धिविग्रहिक नाम से पुकारा गया है। लेख में दूतक नामक पदाधिकारी का भी उल्लेख आता है। किन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह स्मृतियों का दूत है या कोई अन्य अधिकारी। बंगाल के राजा धर्मपाल और गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्रदेव के लेखों में इसे दूत ही कहा गया है।[1] इस विभाग के अन्तर्गत एक उपविभाग होता था। इसका प्रधान 'महामुद्राध्यक्ष अथवा महामुद्राधिकृत' होता था। लक्ष्मणसेन के लेख में इसको मन्त्र महाधिकृत पुकारा गया है। इस विभाग का कार्य विदेशियों को राज्य में प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान करना था। परराष्ट्र मंत्री की सहायता के हेतु गुर्जर प्रतीहार आदि बड़े राज्यों में कई उपसचिव नियुक्त किये जाते थे। छोटे राज्यों में केवल एक ही मंत्री होता था।

---

[1] दूतो गोविन्द चन्द्रस्य कायस्थजस्य भूभुज।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के लिए राज्य प्रान्तों में विभक्त होते थे जिन्हें भुक्ति कहा जाता था। प्रान्तपति की नियुक्ति राजा स्वयं करता था जो किसी श्रेष्ठ कुल राजघराने या सरदारों में से होता था। वह राजा की ओर से प्रान्त का प्रबन्ध करता था और राजा की अनुमति का अक्षरशः पालन करता था। प्रजा हित की ओर उसकी विशेष अभिरुचि होती थी। केन्द्रीय राजधानी के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में एक राजधानी होती थी जहाँ भूमिकर, जमाना आदि संचित किये जाते थे। इस संकलित आय में से प्रान्तीय शासन-व्यय निकाल कर अवशेष आय केन्द्र में भेज दी जाती थी। कुछ गहडवाल-जैसे छोटे राज्य थे जिन्हें प्रान्तों में न विभक्त कर जिलों में बाँटा गया था। इन प्रान्तीय शासकों को विभिन्न लेखों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। हर्ष के ताम्रपत्रों में राजस्थानीय, उपरिक तथा कुमारामात्य शब्द प्रान्तपति के लिए ही आये हैं। पालवंशीय आमागाच्छी लेख में कुमारामात्य देवपाल के नालन्दा ताम्रपत्र में राजस्थानीय तथा उपरिक और उड़ीसा के एक लेख में राजस्थानीय और उपरिक दोनों का प्रयोग है। कलचुरी लेख में भोगिक और धर्मपाल के खालीमपुर दानपत्र में भोगपति का नाम मिलता है।

जिले का शासन—विचाराधीन युग में प्रत्येक प्रान्त विषय (जिला) में बँटा होता था। राज्य को टुकड़ों में विभाजित करने का ध्येय जनता तक पहुँचना था जिससे राज्य की छोटी से छोटी बात सरकार को ज्ञात हो जाय और प्रजा राजा का सामीप्य स्थापित हो जाय। साथ ही शासन सुदृढ़ हो जाता था एवं मालगुजारी तथा अन्यान्य करों की वसूली भी सरलतापूर्वक हो जाया करती थी। विषय का प्रधान विषयपति होता था जिसका उल्लेख मध्यकालीन लेखों में मिलता है। इसका अधिकार आज के जिलाधीश के समतुल्य होता था। इसके सहायतार्थ कई कर्मचारी नियुक्त रहते थे जो मालगुजारी की वसूली किया करते थे। सम्भवतः चौरद्धरणीक और दण्डपाशिक नामक दो पुलिस कार्यकर्ता विषयपति के ही अधीनस्थ थे जो जिले में शान्ति-स्थापन तथा सुशासन के कार्य में जिलाधीश को सहायता प्रदान करते थे। विषयपति को न्याय का अधिकार नहीं उपलब्ध था। गुप्त काल में तो जिले की परिषद् का प्रबन्ध था परन्तु यह-कार्य सैमान्तों की पर बाद में उसका विवरण नहीं मिलता। जिले में पुस्तपाल की नियुक्ति लेखों की सुरक्षा के लिए की जाती थी जिसका कि उल्लेख हम सुभाकर के नलापुर पत्र से मिलता है।[1]

पुर का शासन—नगर और नगर-व्यवस्थापिका समिति का उल्लेख हम सर्वप्रथम मौर्यकाल में उपलब्ध होता है जिसका अध्ययन हमने यथा-स्थान किया है। तत्पश्चात् गुप्तकालीन भारत में फाहियान के ग्रन्थ में नगरों का पर्याप्त विवरण मिलता है। पूर्व मध्यकालीन युग में भी कुछ लेखों और ताम्रपत्रों में नगर और नगर शासन का ज्ञान होता है पर ये वास्तव में बहुत विवरण नहीं प्रस्तुत करते। इसलिए इस ज्ञान की नगर-व्यवस्था अन्धकार में ही रह जाता है प्रकाश में आने का कोई साधन हो प्राप्त नहीं था। थोड़ा सा पता हम राजपूताना से १०वीं शताब्दी के बाद का चलता है। इसमें कार्यकारिणी और इसके प्रतिनिधियों के निर्वाचन का कार्य होता है। इस निर्वाचन की अवधि सम्भवतः एक वर्ष की होती थी।[2]

---

[1] ए० इ० १५ पृष्ठ २।

[2] प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १६५।

ग्राम का शासन—ऋग्वैदिक और उत्तरवैदिक काल से ही हम गाँव को शासन की सबसे छोटी इकाई पाते आये हैं। उक्त काल में भी गाँवों का आय पूर्ववत बना रहा। ग्राम शासन पंचायतों के अधीन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। मुखिया के निमित्त अन्य लेखों में ग्रामपति ग्रामिक बृहत्तर ग्राम महाधिकारिन आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ग्राम सभा अथवा ग्राम-पंचायत का निर्माण राजतन्त्रात्मक शासन में भी प्रजातन्त्रात्मक ढंग पर होता था। मुखिया ग्राम शासन में स्वतन्त्र था। वह उपसमितियों की सहायता से विभिन्न कार्यों को पूर्ण करता था। गाँव की रक्षा और न्याय का भार मुखिया पर ही होता था। इन कार्यों में भी वह उपसमितियों से सहायता लेता था। मालगुजारी वसूल करके राजकोष में भेजना उसी का कार्य था जिसमें से थोड़ा अंश ग्राम के व्यय के लिए ले लेता था। गाँव में चिकित्सालय और अनाथालय बने होते थे जिसकी सारी देख रेख मुखिया द्वारा ही होती थी। पंचायत का भी अधिकार कम नहीं था। दुर्भिक्ष के समय या अन्य संकट समुपस्थित होने पर पंचायत गाँव का कल्याण सोचती थी और उसके रक्षार्थ प्रयास करती थी। राजा द्वारा प्राप्त अनुदानों को सार्वजनिक कार्यों में व्यय करने का उसे अधिकार था। ऊसर अथवा बंजर भूमि पर पंचायत का अधिकार माना जाता था जिसे बेचने या किसी व्यक्ति विशेष को दान में वह पूर्णतया स्वतन्त्र थी। शिक्षा की प्रगति में भी पंचायत सक्रिय योग देती थी।

आर्थिक अवस्था

पिछले पृष्ठों में हमने गाँवों और नगरों की व्यवस्था का अध्ययन किया है जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ के लोग सुखी थे। उनकी सुरक्षा का यथोचित प्रबन्ध था जिससे अपने भरण-पोषण के अतिरिक्त अन्य आयोजन में विशेष रुचि रखते थे। यद्यपि इस काल का आर्थिक इतिहास विशेष स्पष्ट नहीं है तथापि कुछ ग्रन्थों, लेखों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों से आर्थिक अवस्था का कुछ ज्ञान हो जाता है। मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा भारत से लूट में अपार सम्पत्ति को ले जाना इस बात का प्रमाण है कि पूर्व मध्यकालीन भारत की आर्थिक दशा बहुत ही अच्छी थी। व्यापार की प्रगति के लिए संघों की रचना हुई थी जो भारतीय व्यापार को समृद्ध बनाने में दत्त-चित्त थे। विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इसी युग में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई। एशिया के भिन्न भिन्न भागों में भारतीय बस गये और वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करने लगे। इन्हीं नये बसे भूभागों को बृहत्तर भारत के नाम से पुकारा जाता है। बृहत्तर भारत की सृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन भारत की दशा ऐसी थी कि वह विदेश में भी अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो सका।

ग्राम—गाँवों में देश की अधिकांश जनता रहती थी जिनका प्रमुख उद्यम कृषि कार्य था। कृषि ही उनकी जीविका थी जिस पर उनका जीवन आधारित था। ये ग्रामीण उर्वरा भूमि में अपनी फसल उगाते थे और वृक्ष तथा वाटिका लगा दिया करते थे। वृक्षों और वाटिकाओं में उनके पालित पशुओं के लिए घास भी प्राप्त हो जाती थी। कुछ भूमि ऊसर और बंजर होती थी जो उनके किसी प्रयोजन में नहीं आती थी। गाँववालों को विशेषकर भूमि दान में प्राप्त होती थी जिसके साथ-साथ आम महुआ इमली आदि वृक्ष उपहार के रूप में मिल जाते थे। गाँव के अधिवासियों का जीवन सादा था। बंगाल के देवपारा लेख से कृषकों के सादे जीवन का स्पष्टीकरण

भलीभाँति होता है। अपनी आवश्यक सामग्रियों को खरीदने और बेचने के लिए गाँवों में राज्य की ओर से बाजार का प्रबन्ध होता था। इसका प्रबन्ध एक कर्मचारी जिसे हट्टपति कहा जाता था, करता था।

पूर्वमध्यकाल में भूमि के नाप के लिए आठ प्रकार की नाप प्रणालियाँ भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न समय में प्रचलित थीं—१—कुल्यावाप २—द्रोणवाप ३—पाठक ४—हल ५—हस्त ६—पादावत, ७—नल और ८—नालु।

कुल्यावाप गुप्तकाल में भी प्रचलित था। कुल्य एक अनाज नापनेवाली टोकरी को कहा जाता था। इस एक कुल्य का अनाज जितनी भूमि में बोया जा सकता था उतनी भूमि एक कुल्यावाप कहलाती थी। द्रोण भी अनाज नापने के लिए प्रयोग किया जाता था। कुल्यावाप की भाँति इसे भी द्रोणवाप कहा जाने लगा। द्रोणवाप कुल्यावाप का पहाड़पुर ताम्रपत्र द्वारा आठ गुना था।[1] तीसरा माप पाठक कुल्यावाप का पाँच गुना समझा जाता था। यह एक बड़ा माप है। एक हल से जितनी भूमि बोई जा सकती थी उतनी भूमि हल कहाती थी। एक हल से लगभग १० बीघा भूमि का अनुमान लगाया जाता है। हस्त का प्रयोग भी भूमि माप में किया जाता था। हस्त सम्भवत राजा का हाथ ही माना जाता था। पादावत एक वर्गफुट के समतुल्य अनुमान किया गया। इस माप का उल्लेख वलभी लेख में प्राप्त होता है। बंगाल के सेन लेख में नल पौधे के नाम पर नल नाप का विवेचन है। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के लेखों में नालु शब्द माप के लिए प्रयुक्त हुआ जो सम्भवत इसी 'नल' शब्द से बना है।

कृषि—जैसा कि पहले बताया गया है ग्रामीण जनता कृषि-कार्य में लगी हुई थी। गेहूँ, जौ, चना, सन, गन्ना आदि फसलें उगायी जाती थीं। कृषकों को अपनी अधिकृत भूमि की मालगुजारी देनी पड़ती थी। यह मालगुजारी ११वीं शताब्दी तक भाग भाग के रूप में उपज का छठाँ भाग राज्य को दी जाती थी किन्तु १२वीं शताब्दी में सिक्कों के प्रचलन से नकद मालगुजारी दी जाने लगी। तत्कालीन राजाओं ने कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया। राज्य की ओर से सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया गया। नहरें भी निकाली गईं जिससे सिंचाई सरल हो गई। कुयें तथा तालाबों का निर्माण कराया गया। परमार-नरेश भोज ने एक विशाल जलाशय का जो भारत की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था निर्माण कराया था। राजतरंगिणी में सूय नाम के एक राज्य कर्मचारी ने किसी नष्टप्राय बाँध को ठीक कराया था। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। राजेन्द्र चोल (१०१८-४५) ने भी अपनी राजधानी के सन्निकट बहुत बड़ा जलाशय बनवाया था। सुराष्ट्र की सुदर्शन झील इसी काल में बढ़ाई गई। झेलम नदी पर बाँध बनवा कर सिंचाई की जाती थी। चन्देल राजाओं के झील निर्माण का ज्ञान लेखों से प्राप्त होता है। कृषकों को सिंचाई-कर अलग से देना पड़ता था। कृषि-कार्य में विशेष राजाश्रय प्राप्त था।

वाणिज्य-व्यापार एवं उद्योग—मध्यकालीन लेखों से ज्ञात होता है कि इस युग में व्यापार की सुविधा के लिए व्यावसायिक संघ अथवा श्रेणियाँ स्थापित की गई थीं। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिए पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ थीं जिनके प्रधान अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था। उत्तर काल में चित्र और

---

[1] बंगाल का इतिहास, १, पृ० ६५२।

मूर्तियों द्वारा तत्कालीन भारतीय वस्त्रों का परिज्ञान होता है। मथुरा और बनारस में सूती कपड़े तैयार होते थे। बंगाल मलमल के लिए प्रसिद्ध था जिसकी प्रशंसा अरब यात्री सुलेमान और इब्नखुर्दाजबा ने की है। कपड़े के अतिरिक्त नमक भी तैयार किया जाता था। मध्यकालीन लेखों में लवणाकर शब्द प्रयुक्त हुआ है। मादक पदार्थ का भी व्यापार होता था। मद्य की उत्पत्ति होती थी। चन्देल नरेश परमर्दि के मदनपुर लेख में मद्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे अनुमान किया जाता है कि दोनों की पसन्द की जाती होगी। पहाड़पुर की खुदाई से इस काल की मिट्टी की प्रतिमायें और घरेलू वस्तुओं का ज्ञान होता है। घड़ा, लोटा, हंडिया, तश्तरी, लालटेन, दवात आदि अधिक परिमाण में मिले हैं। तत्कालीन संगतराश प्रस्तर पर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे जिन्हें देखने से उस काल की कला का क्रमिक स्पष्ट हो जाता है। धातु को मूर्तियाँ ढालने और बहुमूल्य प्रस्तरों से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाने का काम होता था। सोने चाँदी के पात्र बनाये जाते थे। अरब यात्री ने लक्ष्मणसेन के महल के सोने चाँदी के बने बर्तनों का वर्णन किया है।

अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापार उन्नतावस्था में थे। देश में नदियों और राजमार्गों से नावों तथा बैलगाड़ियों पर सामान आया जाया करता था। मार्ग गच्छतामागतानां बेपसानां शकेष से पता चलता है कि बैलगाड़ियाँ सड़कों पर चला करती थीं जिन पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था। ह्वेनसांग ने भी इस प्रकार की सड़कों का उल्लेख किया है। उज्जैन और कन्नौज उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगर थे। इसके अतिरिक्त पाटलिपुत्र, अयोध्या, मथुरा, काशी भी व्यापारिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण थे। भारत से एशिया के अन्य देशों को अनेक मार्ग जाते थे। मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, अरब आदि देशों से भारतवासियों ने बहुत पहले से ही व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया था। उपनिवेश संस्थापन में भारतीय व्यापारियों को बहुत सफलता मिली। बाहरी देशों से व्यापार करने के दो मार्ग थे—थल मार्ग और सामुद्रिक मार्ग। ताम्रलिप्ति भारत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। ह्वेनसांग ने इसके विषय में लिखा है कि व्यापार की सुन्दर वस्तुएँ ताम्रलिप्ति में एकत्रित रहती हैं।[1] यहाँ से लंका और चीन आदि को जहाज जाते थे। दक्षिण में कोरकाई, कावेरी पट्टिनम और पश्चिम में भड़ौंच प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। थल मार्गों से भारतीय व्यापारी अरब पार कर योरुप तक पहुँच जाया करते थे। अरब तथा इराक भेजी जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख इब्नखुर्दाजबा ने किया है। उनमें चन्दन, लौंग, कपूर, जायफल, नारियल, कबाबचीनी, कपड़ा, मखमल, हाथी दाँत, मोती, बहुमूल्य पत्थर आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त नारियल, आम, पान तथा इलायची भी बाहर भेजी जाती थी। बाहर से भारत में मद्य की अगूठी, मगा, शराब, रेशमी कपड़े, समूर, पास्तीन, गुलाब जल, खजूर तथा घोड़े मंगाये जाते थे।

पूर्वमध्यकाल में विनिमय के साधन सिक्के थे। ये सिक्के सोने, चाँदी अथवा ताँबे के बने होते थे जिनमें चाँदी और ताँबे के सिक्कों का विशेष प्रचलन था। डा० चक्रवर्ती के मतानुसार बंगाल में गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् कौड़ी ही विनिमय का साधन बनी किन्तु कालान्तर में पालनरेशों ने द्रम्म अर्थात् धातु के सिक्के चलाये। मुसलमान यात्रियों ने भी बंगाल में कौड़ियों का प्रचलन पाया था।

---

[1] *H L Records* Part II p 200

सामाजिक अवस्था

वर्गीकरण—पूर्वमध्यकालीन समाज और वर्तमान भारतीय समाज में इतना निकट सम्बन्ध है कि वर्तमान समाज को पूर्णतया समझ लेने से ही पूर्वमध्यकालीन समाज की कल्पित रूपरेखा खींची जा सकती है। वर्तमान भारतीय समाज की प्रवृत्तियों का मूल भले ही हम ऋग्वैदिक, उत्तरवैदिक या सूत्रों के काल में बतावें पर उसकी विस्तृत शाखाओं प्रशाखाओं का उदय पूर्वमध्यकाल में ही हुआ था। ये शाखाएँ प्रशाखाएँ इतनी विशाल एवं विस्तृत हुईं कि इन्होंने मूल तने को ढक लिया है। अतः वर्तमान समाज के अध्ययन की दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन समाज का बहुत बड़ा महत्व है। वर्तमान हिन्दू समाज स्मृतियों द्वारा अनुशासित है और इनकी रचना इसी युग में हुई थी। विचाराधीन काल में चारों वर्णों का अस्तित्व तो पूर्ववत बना ही रहा साथ ही प्रत्येक वर्ण अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। वर्णाश्रम धर्म का पालन एवं उसकी रक्षा राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। पाल लेखों में धर्मपाल तथा विग्रहपाल राजाओं को जाति-व्यवस्था के रक्षक की संज्ञा दी गई है। उद्दामा प्रान्त का राजा क्षमाकरन्व 'वर्णाश्रमपरम्परापालक' कहा गया है। अभी उपजातियों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। सर्वप्रधान कारण तो जीविकोपार्जन की विधि है। बहुधा लोग विभिन्न प्रकार के कुटीर-उद्योगों में लगते जा रहे थे। लोहे का काम करने वाला लोहार माना, सोने का काम करनेवाला सुनार, चमड़े का काम करनेवाला चमकार कहा जाने लगा। अनुलोम प्रतिलोम विवाहों का भी उपजातियों की उत्पत्ति में काफी हाथ है। किन्तु परिवर्तन यहीं तक सीमित नहीं रह सका। उपजातियों में भी विभाग हुए। इन विभागों को छोटा गोत्र या प्रवर कहा जाता है। लोहार, सुनार चमकार आदि सब में अनेक विभाग हो गए। पहले हम प्रमुख वर्णों पर विचार करेंगे।

अल्तेकर महोदय ने बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्राह्मणों को भी राजपूतों के प्रति सम्मान प्रदर्शन करना पड़ता था किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि केवल उन राजपूतों के आगे ही ब्राह्मणों को झुकना पड़ता था जो राज्य के अधिकारी होते थे। सामान्य ब्राह्मण सामान्य क्षत्रियों से उच्च समझे जाते थे।[1]

---

1 Ibn Khurdadba and Al Idrisi who were acquainted with the conditions prevailing on the western coast observe that the members of the remaining six castes Brahmans included paid homage to the members of the Sakstriya caste from among whom kings were selected (Elliot I p 16 and p 76) This would support the contention of the Jains and Buddhists that the Kshtriyas were superior to the Brahmans and not vice versa It must be however noted that the Sabkufriya caste is distinguished by these Muslim writers from the Katariya or the Kshtriya case and that their testimony would therefore show that not all the Kshatriyas i e the actual princes and their descendants were held superior to the Brahmans and reverenced by them The average

ब्राह्मण का स्थान प्राचीन भारत में काफी ऊँचा था। वे धर्म कर्म में, शिक्षा दीक्षा में, शासन आदि में समाज का पथ प्रदर्शन करते थे। पूर्वमध्यकालीन समाज में भी उनको बड़ी महत्त्व प्रदान किया गया था पर स्वयं ब्राह्मणों ने ही अपना प्राचीन गौरव खोना आरम्भ कर दिया था। प्राचीन काल में वे अपने मानसिक विकास की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देते थे पर पूर्वमध्यकाल में आर्थिक विकास का महत्त्व लक्ष्य हो गया था। मन्दिर व पुराहित थे अब पुजारी हो गये। भक्ति के प्रचार के कारण इस युग में मन्दिरों का निर्माण अधिक संख्या में हुआ था। अतः इनमें बढ़कर पूजा करना आर्थिक दृष्टि से हितकर था। ब्राह्मण राजकीय नौकरियों में भी लगे थे। पालवंशी नरेशों की सेना में ब्राह्मण सेनापति का काम करने लगे थे। दानपत्रों में ब्राह्मणों को खेत दान देने का उल्लेख मिलता है अतः ब्राह्मणों का कृषिकार्यों में लगा रहना भी ज्ञात होता है। ये व्यवसाय में भी भाग लेने लगे थे। ब्राह्मणों के हाथ में राजकाज भी था। हुएनसांग ने समतट के राजा को ब्राह्मण जाति का बताया है। मन्दिरों में कार्य में ब्राह्मणशास्त्री का कार्य होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मणों ने अपने परम्परागत कर्त्तव्यों में मुँह मोड़ लिया था। ब्राह्मण द्वारा मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के अध्यापन का विवरण प्राप्त होता है।[1]

ब्राह्मणों के कुछ प्रमुख कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अल्तेकर महोदय ने लिखा है—

जिन व्यवसायों की लिखित अनुमति ब्राह्मणों को दी गई थी उनके अतिरिक्त भी ब्राह्मण वर्ग विभिन्न प्रकार के कार्यों में संलग्न था। कुछ ब्राह्मण धार्मिक कृत्यों का अनुसरण करते थे। गीता तथा अन्य पशुओं की खाल लपेटे हुए ईश्वर एवं उसकी प्रकृति पर नाना की मार्गों मोड़ में व्याख्यान देने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख अल इद्रिसी ने किया है। कुछ ब्राह्मण अध्यापन कार्य करते थे और पाठशालाओं तथा विद्यालयों का संचालन करते थे जहाँ वे निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते थे। जूरी (jurist) ज्योतिष गणितज्ञ कवि तथा दार्शनिक जैसा कि अवतरण सूचित करता है अधिकांश ब्राह्मण वर्ग के ही थे। (इलियट १ पृ ६) प्रशासन कार्यों में ब्राह्मण वर्ग से ही अधिक भाग लिये जाते थे। यद्यपि स्मृतिकारों ने यह विधान बनाया है कि ब्राह्मण नौकरी न करें किन्तु उनका आशय गैरसरकारी नौकरियों से था क्योंकि उनके ही कथन है कि केवल ब्राह्मण ही मन्त्रिमण्डल तथा न्यायसम्बन्धी पदों पर निर्वाचित किया जाना चाहिए —*The Rashtrakutas and Their Times* pp 32 ...)

सम्पूर्ण देश का छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो जाना न केवल राजनीतिक दृष्टि से अहितकर सिद्ध हुआ प्रत्युत सामाजिक जीवन में भी इसने संकीर्णता का राजारोपण किया। पूर्व मध्यकालीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन करते समय हमने राजाओं के पारस्परिक द्वेष एवं युद्ध का ज्ञान प्राप्त किया था। राजाओं

Kshtriya however did not enjoy a status superior to that of an average Brahman for from the *Chachanama* we learn that the principal inhabitants of Brahmanland supported the contention of the Brahmans that they were superior to the rest of the population — *The Rashtrakutas and Their Times* p 3-4

[1] ए० इ० १५ पृ० २९८

के वैयक्तिक द्वेष एवं कलह का सीधा सम्बन्ध दोनों प्रदेशों की प्रजाओं से जुड़ जाता था। प्रजा अपने राजा के शत्रु को अथवा उसकी प्रजा को अच्छी दृष्टि से कैसे देख सकती थी। इस परिस्थिति का प्रतिफल यह हुआ कि दो विभिन्न स्थानों की समान जातियों में ही अंतर पड़ गया। स्थान के आधार पर उपजातियों, गोत्रों अथवा प्रवरों के निर्माण के मूल में बहुत कुछ उपर्युक्त कारण ही परिलक्षित होता है। ब्राह्मणों का पंचगौड़ में विभाजित हो जाने के कुछ अन्य कारण भी विद्वानों ने बताये हैं जिनमें स्थानान्तरण भी एक प्रमुख कारण माना गया है। अब ब्राह्मणों में सरयूपारी, कान्यकुब्ज, सारस्वत, गौड़ तथा शाकद्वीपी शाखाओं का निर्माण हो गया। उपर्युक्त नामों के आधार पर तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्थानों के आधार पर ही यह विभाजन हुआ है। सरयू नदी के तट पर बसनेवाले ब्राह्मण अपने को सरयूपारी कहने लगे। इसी प्रकार सरस्वती तटवासी सारस्वत और गौड़ देश में निवास करने वाले गौड़ कहलाये। तत्कालीन दान पत्रों से ब्राह्मणों की अनेक शाखाओं का बोध होता है। देवपाल के मान्धाता ताम्रपत्र में पाण्डेय, पाठक, दीक्षित, शुक्ल, उपाध्याय, अग्निहोत्री, चतुर्वेदी आदि के नाम प्राप्त होते हैं। जयचन्द्र के अभिलेख में भी द्विवेदी, त्रिवेदी आदि का उल्लेख मिलता है।

गोत्र एवं प्रवरों के निर्माण के पश्चात् रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी सीमित हो गया। यह निश्चय हो गया कि अमुक गोत्र के ब्राह्मण की कन्या का ब्याह अमुक गोत्र के ब्राह्मण से ही हो सकता है।

क्षत्रियों को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था और ये ब्राह्मणों की समता में खड़ा होने का दावा करते थे। क्षात्र धर्म था युद्ध करना और प्रजा एवं अनाथों की रक्षा। इस समय के क्षत्रियों (राजपूतों) की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए टाड महोदय ने लिखा है कि अदम्य उत्साह, राजभक्ति, देश प्रेम, वमनस्य आदि गुण इनमें विद्यमान थे।[1] उक्त विद्वान राजपूतों के कुछ गुणों से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने जोरदार शब्दों में इन पर प्रकाश डाला है। समाज में क्षत्रियों का स्थान ऊँचा होने के प्रमुख कारणों में से राजनीतिक सत्ता का उनके हाथ में होना प्रमुख था। साथ ही इस युग में कुछ विद्वान क्षत्रिय भी हुए। परमार राजा भोज तथा गहड़वाल

---

[1] High courage patriotism loyalty honour hospitality and simplicity are qualities which must at once be conceded to them and if we cannot vindicate them from charges to which human nature in every clime is obnoxious if we are compelled to admit the deterioration of moral dignity from the continual inroads of and their subsequent collision with rapacious conquerors we must yet admire the quantum of virtue which even oppression and bad example have failed to banish The meaner vices of deceit and falsehoods which the delineators of national character attach to the Asiatic without distinction I deny to be universal with the Rajputs though some tribes may have been obliged from position to use these shields of the weak against continuous oppression —Tod *Annals and Antiquities of Rajasthan* edited by Crooke II p 747 Quoted by Dr Ishwari Prasad in his *Mediaeval India*

नरेश गोविन्दचन्द्रदेव सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। इतना ही नहीं इस युग में राजपूत राजे विद्वानों एवं कलाकारों को प्रश्रय देने में अपना गौरव समझते थे। इन समस्त कारणों के फलस्वरूप वे समाज के नेता समझे जाने लगे। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सामान्य ब्राह्मण और समासामान्य क्षत्रियों में ब्राह्मणों का स्थान भी ऊँचा था। केवल राज काज के अधिकारी क्षत्रिय (राजपूत) ही ब्राह्मणों से ऊँचे समझे जाते थे। ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी अनेक उपजातियों में बँट गये थे। इस समय तक लगभग ३६ उपजातियाँ बन गई थीं। राज काज के अतिरिक्त कृषि-काय में भी क्षत्रियों को एक बहुत बड़ी संख्या लगी हुई थी। बारहवीं शताब्दी के एक लेख में दीन ग्राही क्षत्रिय सामन्त का उल्लेख किया गया है।

अल्तेकर महोदय ने क्षत्रियों की अवस्था पर विचार करते हुए लिखा है कि जो शासक थे अथवा उनके सम्बन्धी थे वे अत्यन्त सुन्दर जीवन बिता रहे थे। इन्हीं क्षत्रियों के साथ दण्ड की कठोरता में ढिलाई की जाती थी। अलबरूनी के वर्णन के आधार पर अल्तेकर महोदय ने बताया है कि चोरी के अपराध पर क्षत्रियों को केवल दाहिने हाथ और बायें पाँव से रहित कर दिया जाता था न कि ब्राह्मणों की भाँति इन्हें अन्धा भी बना दिया जाता था। उक्त विद्वान् ने आगे यह बताया है कि न तो सभी योद्धा क्षत्रिय थे और न सभी क्षत्रिय योद्धा थे। सेना में अन्य जातियों के लोग भी सम्मिलित थे। अपने निर्धारित कार्यों के स्थान पर क्षत्रियों ने अन्य कार्य भी अपना लिया था। राजकाज में क्षत्रियों का ही विशेष हाथ था। ह्वेनसांग ने जिन राजाओं का जातिसहित उल्लेख किया है उनमें पाँच क्षत्रिय तीन ब्राह्मण दो वैश्य तथा दो शूद्र थे। इससे यह आशय निकाला जा सकता है कि विचाराधीन काल के पूर्व भी राजत्व पर क्षत्रियों का अधिकार था।

क्षत्रियों की धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अल्तेकर महोदय ने लिखा है कि प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की भाँति अव य वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते थे। अलबरूनी के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे वेदों का अध्ययन कर सकते थे और पुराणों के आदेशानुसार जीवन बिताते थे।[१]

वैश्यों ने कृषि कार्य तथा तत्सम्बन्धी अन्य उद्योगों से अपना हाथ खींच लिया था और अब वे पूर्णतया वाणिज्य व्यवसाय में लग गये थे। पूर्व मध्यकालीन लेखों में

[१] Those among them who were actual rulers or their relatives enjoyed the highest status in the land It is probably these and not all the ordinary Kshatriyas who enjoyed immunity from the capital punishment as reported by Alberuni It may be further noted that according to the testimony of Alberuni a Kshatriya guilty of theft was merely maimed in the right hand and left foot and not blinded in addition like the Brahman

It may be noted that during our period as in cearlier times not all the fighters were Kshtriyas and not all the Kshtriyas were fighters The army consisted of a number of non Kashtriyas A number of Kshtriyas also must have taken to professions theoretically not their own

संस्था एवं श्रेणियों का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रेणियों का महत्व अब काफी बढ़ चुका था। दैनिक आवश्यकताओं की अभिवृद्धि के कारण ही व्यवसायियों का स्थान अधिक सम्मानित हो सका था क्योंकि वाणिज्य व्यवसाय पर इनका एकाधिकार था।

यदि हम अल्तेकर महोदय के विचारों पर दृष्टि डालते हैं तो यह ज्ञात होता है कि वैश्यों को साम्राज्यतः कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त था और शूद्रों के साथ उनकी गणना की जाने लगी थी। बौधायन धर्मसूत्र (१ ११ ४) में यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि वैश्य व्यावहारिक रूप में उसी श्रेणी में आते थे जिसमें शूद्र थे क्योंकि उनके वैवाहिक तथा अन्य रीति रिवाज समान थे। अल्बरूनी भी सूचित करता है कि इन दोनों जातियों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। अल्बेरूनी ने आगे बताया है कि यदि कोई वैश्य या शूद्र वेद-मन्त्र का उच्चारण कर लेता था तो उसकी जबान काट दी जाती थी। अल्तेकर महोदय ने अल्बेरूनी के इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि अल्बेरूनी की रचना में ऐसे अनेक स्पष्ट प्रमाण होते हैं जिनके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह धर्मशास्त्र साहित्य से पूर्णतया परिचित था। ऐसी अवस्था में यदि वह ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जो उक्त विषय पर स्मृतियों के प्रत्यक्ष विरोध में पड़ता है तो इसके कारण की सहज कल्पना की जा सकती है कि स्मृतियों के विधानों के होते हुए भी व्यावहारिक रूप में वैश्यों की स्थिति भी शूद्रों के स्तर तक गिर चुकी थी।

पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज में एक सर्वथा नवीन जाति का अभ्युदय होता है। वह जाति है कायस्थ। कायस्थों के कथनानुसार तो यह जाति अन्य जातियों के समान ही बहुत प्राचीन है और इसकी उत्पत्ति भी राजपूतों की भाँति पौराणिक है किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। वास्तविकता जो भी हो हम काणे महोदय के इस मत से सहमत होने में कोई हिचक नहीं है कि छठी शताब्दी से पूर्व धर्मशास्त्रों में कायस्थ का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है, हाँ पिछली स्मृतियों में इनका नाम मिलता है।[१] कायस्थ शब्द का प्रयोग विशेष व्यवसाय लेखन-कार्य करने वालों के लिए अनेक स्थानों में किया गया है। पूर्व मध्य कालीन लेखों में निश्चित

Among the Indian kings who were Yuan Chwang's contemporaries and whose castes are mentioned by him five were Kshtriyas three Brahmans two Vaishyas and two Sudras It is therefore clear that kingship had ceased to be an exclusive monopoly of the Kshtriyas even earlier than our period

The Kings and Queens of earlier periods are known to have performed Vedic sacrifices In our period those sacrifices had become unpopular so we do not find any king celebrating them The Kshtriyas however were still permitted to study the Vedas for Alberuni tells us that they could read and learn them in his times (Sachan II p 136 —*The Rashtrakutas And Their Times* pp 331 32

[१] धर्मशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ७५।

के पद पर कार्य करनेवाले व्यक्ति को कायस्थ कहा गया है।[१] इसी प्रकार साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में भी लिपिक को कायस्थ घोषित किया है। बारहवीं शताब्दी में कायस्थों ने जाति का रूप धारण किया। उशनस तथा वेदव्यास स्मृति में कायस्थों की एक पृथक् जाति बताई गई है। कायस्थ का द्विज से कोई सम्बन्ध नहीं था अतः वेदव्यास ने इन्हें शूद्र घोषित किया।[२] किन्तु ये न तो सब और कायस्थों की एक पृथक् जाति ही बन गई। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों से भी इनका मेल न हो सका। कायस्थों में भी निवासस्थान के आधार पर अनेक उपजातियाँ बन गईं। मथुरा में निवास करनेवाले माथुर तथा गौड़ (बंगाल) के निवासी गौड़ कहलाए।

शूद्रों की भी अनेक उपजातियों का निर्माण होता जा रहा था। वेदव्यास जी ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

बर्धकी नापितो गोप आशाप कुम्भकारक

एते चान्ये च बहव शूद्राभिन्ना स्वकर्मभि (वेदव्यास स्मृति १-१०)

शूद्रों में भी दो प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं। एक वह वर्ग जिसे अस्पृश्य समझा जाता है तथा दूसरा स्पृश्य है। चाण्डाल अस्पृश्य शूद्रों में विशेष उल्लेखनीय है। वेदव्यास ने ब्राह्मण और शूद्र में अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल घोषित किया है।[३] कुछ घृणित कार्य करनेवालों की गणना भी अस्पृश्य में होने लगी और वे पंचम वर्ग कहलाने लगे।

अलबरूनी ने भी पंचम वर्ण का उल्लेख करते हुए बताया है कि इस वर्ग के लोग गाँव के बाहर रहते थे। इनमें डोम चमार नट आदि सम्मिलित थे। चाहमान लेख में भाट जमादार बाजारी तथा महत्तक के नाम उल्लिखित हैं जो शूद्रों की उपजातियाँ थी। स्वर्णकारों को जोधपुर लेख में शूद्र घोषित किया गया है किन्तु वर्तमान समाज में वे वैश्य माने जाते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति और उनका व्यवसाय हो जिसमें उन्हें उच्च वर्गों के निकट सम्पर्क में आना पड़ता है इसके मूल में है।

सामाजिक रीति रिवाज एवं नियम—यद्यपि प्राचीन सामाजिक नियमों की महत्ता अब भी प्रवर्तित बनी रही किन्तु विभिन्न उपजातियों के उदय ने कुछ नवीन रीति रिवाजों एवं प्रथाओं को जन्म दिया। उपजातियों में पार्थक्य की भावना तीव्र थी अतः रीति रिवाजों में विभिन्नता होना आवश्यक था। प्राचीन काल में प्रचलित आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख इस युग में नहीं मिलता है पर अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन हमें यत्र-तत्र प्राप्त हो जाता है। एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि हरिश्चन्द्र नामक किसी ब्राह्मण ने ब्राह्मण कन्या के अतिरिक्त एक क्षत्रिय कन्या से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।[४] पाल तथा सेन लेखों से भी हमें इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। बहु विवाह की प्रथा का काफी जोर था पर राजाओं में ही इसका अधिक प्रचार था।

सती प्रथा अथवा जौहर—सती प्रथा का श्रीगणेश प्राचीन काल से ही हो गया था। हर्ष की माता तो पति को मरणासन्न जानकर ही सती हो गई थी। हर्ष की बहन राज्यश्री भी पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने जा रही थी। विचाराधीन काल में इस प्रथा ने और जोर पकड़ लिया था। पति के देहान्त के पश्चात विधवाओं का

[१] इ० हि० क्वा० ६ ५५।

[२] वणिक किरात कायस्थ मालाकार कुटुम्बिन

एते चान्ये च बहव शूद्रा भिन्ना स्वकर्मभि। वेदव्यास स्मृति १ १०

[३] ब्राह्मण शूद्र जनित चाण्डालो धर्मवजित—वेदव्यास स्मृति १-१०।

[४] ए० इ० १८ पृष्ठ ९५।

जीना पाप समझा जाने लगा। स्मृति ग्रन्थों में भी सती होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। चेदि लेख में गांगेयदेव की सौ पत्नियों के सती होने का उल्लेख किया गया है। डा० ईश्वरी प्रसाद ने सती प्रथा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि राज-परिवारों में काफी संख्या में स्त्रियाँ समय-समय पर सती होती थीं। यह प्रथा इतनी प्रचलित थी कि साधारण घरों की स्त्रियाँ भी विधवा होने पर सती हो जाती थीं। कभी कभी वे स्वेच्छा से इस व्रत का पालन करती थीं और कभी उन्हें समाज सती होने के लिए बाध्य करती थी। डा० ईश्वरी प्रसाद ने बालहत्या का भी करुण चित्रण किया है जो उस समय समाज में प्रचलित था।[१]—किन्तु यह अवस्था राजपूत वर्ग में ही अधिक थी। शेष समाज इसका पालन इतनी कठोरता से नहीं करता था।

भोजन वसन तथा आभूषण—पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में गोधूम चावल तथा जल के नाम बार बार आते हैं जिससे यह परिलक्षित होता है कि ये भोजन के प्रमुख अंग थे। मांस मछली एवं मदिरा का भी उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। बंगाल में शाक्त मत का प्राबल्य और सनातन के प्रचार के फलस्वरूप वहाँ मांस भक्षण एवं मदिरा पान पर काफी जोर दिया जाता था। अल्हण देवी के लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी मांस भक्षण करते थे। किन्तु सभी ब्राह्मणों के लिए ऐसा सोचना उचित नहीं ज्ञात होता। प्रतीहार बाउक के लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तो मदिरा-पान नहीं करते थे पर क्षत्रियों में सुरापान प्रचलित था। मदिरा बेचनेवाली स्त्रियों का भी बोध हम कुछ लेखों से होता है।

तत्कालीन मूर्तियों के आधार पर वेश भूषा का अनुमान करना अधिक तर्क संगत नहीं जान पड़ता और इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि स्त्रियाँ अपने सम्पूर्ण

---

१ The practice of infanticide was common amongst them (Rajputs) and female children were seldom suffered to exist even in the most respectable families Equally baneful was the custom of *Sati* which resulted from time to time in the death of a number of women in royal households which were universally polygamous The practice became so common that even women of ordinary status burnt themselves to death sometimes of their own free will but more often under the pressure of parents and kinsmen obsessed by a false notion of family pride —Dr Ishwari Prasad, *A Short History of Muslim Rule in India* p 24

डा० ईश्वरी प्रसाद का Medieval India भी देखिये—

The Rajput honoured his women and though their lot was one of appalling hardship from the cradle to the crematorium they showed a courage and determination in movements of crisis and performed deeds of valour which are unparalleled in the history of the world The custom of Jauhar or self immolation though its cruelty seems revolting to us—had its origin in that high feeling of honour and chastity which led Rajput women to sacrifice themselves in the extremity of peril when the relentless invaders hemmed in their husbands on all sides and when all chances of deliverance were lost

शरीर को ढका रखना नहीं चाहती थीं अर्थात् चादर का प्रयोग कम हो चला था। वास्तव में मूर्तिकार तो सौंदर्य के प्रदर्शन के निमित्त मूर्तियों को नग्न अथवा अर्ध नग्न दिखलाते रहे, समाज में इस प्रकार की कोई वेश भूषा प्रचलित नहीं थी। स्त्रियाँ शृंगार प्रिय अवश्य थीं किन्तु शृंगारिकता का मापदण्ड आधुनिक युग की भाँति नग्न न था। वे अपने शरीर को वस्त्रों तथा आभूषणों में पूर्णतया ढके रहती थीं। नारी मूर्तियों को भी मूर्तिकार आभूषणों से केवल इसलिए लादते थे कि उनकी वस्त्रविहीनता अथवा नग्नता पर एक आवरण पड़ जाय। अधिकांश वर्तमान आभूषणों का प्रचार विचाराधीन काल में भी था।

मनोरंजन के साधन—आमोद प्रमोद के प्राचीन साधन अब भी विद्यमान थे। शतरंग (आधुनिक शतरंज) का खेल काफी प्रिय था। संगीत एवं नृत्य का आयोजन विशेष अवसरों पर हुआ करता था। धार्मिक अवसरों पर रथ-यात्रा की व्यवस्था की जाती थी। इनके अतिरिक्त द्यूत क्रीड़ा भी समाज में प्रचलित थी जिस पर कर लगता था। परमार चामुण्डराय की प्रशस्ति से इसका प्रमाण मिलता है। विभिन्न खेल कूदों में भी लोग भाग लिया करते थे। आखेट भी कुछ लोगों के लिए मनोरंजन का एक साधन था।

वैयक्तिक चरित्र—समाज में व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान था क्योंकि अब समाज काफी परिपक्व हो चुका था। व्यक्तियों के संगठित जीवन पर जोर देने की आवश्यकता का अनुभव लोगों को होने लगा था और कभी कभी इसे कार्य रूप में परिणत करने की भावना भी जगती रही। किन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है लोगों में अहमन्यता ने घर कर लिया था। जो कुछ वीर थे उन्हें अपनी वीरता पर घमण्ड था, जो विद्वान थे उनके लिए सारा संसार मूर्ख था और जो दानशील थे उनके लिए समस्त विश्व अर्थलोलुप था। इस प्रकार वैयक्तिक गुणों से सम्पूर्ण समाज का कोई विशेष हित न होकर वह पतन का कारण बन रहा था। इस समय के समाज में छल कपट को घृणित समझा जाता था। वचन का पालन करना लोग अपना परम कर्तव्य समझते थे। शेष समाज के सम्बन्ध में तो कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता पर समाज के कर्णधार राजपूतों के लिए तो ईमानदारी और प्रतिज्ञा पालन उनका आभूषण था। बहु विवाह का उल्लेख किया जा चुका है। धार्मिक अवस्था का अध्ययन करते समय हम मंदिरों में असंख्य देवदासियों के निवास का वृत्तान्त भी पढ़ेंगे पर इन सारी बातों के आधार पर यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज का चारित्रिक पतन हो चुका था। कामवासना की तृप्ति के लिए अधिकाधिक ब्याह करनेवाला व्यक्ति हेय दृष्टि से देखा जाता था। इसी प्रकार केवल रूपासक्ति के निमित्त अन्तर्जातीय ब्याह करनेवाला व्यक्ति भी समाज में सम्मानित नहीं होता था। विलासिता केवल कुछ राजपरिवारों तक सीमित थी। पर इतना अवश्य था कि काम मंदिरों के प्रयोग ने प्राचीन नैतिक स्तर को नीचा गिराना आरम्भ कर दिया था। शक्ति मत का प्रभाव ही इसके मूल में है।

धार्मिक अवस्था

ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान गुप्तों के समय से ही आरम्भ हो चुका था। पूर्वमध्य-काल तक तो इसे पूर्णता प्राप्त हो चुकी थी जैसा कि अल्तेकर महोदय ने बताया है केवल कुछ ही स्थानों पर बौद्ध धर्म का अस्तित्व रह गया था। चचनामा के अनुसार इस युग के आरम्भ तक सिंध में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव बना रहा। इसी प्रकार

१२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक बंगाल में इस धर्म का बोलबाला रहा। जैन धर्म भी कुछ प्रान्तों में जोर पर था। गुजरात में इस धर्म का अधिक बोलबाला था। पर हिन्दू धर्म का प्राबल्य लगभग सम्पूर्ण भारत में था।

हिन्दू धर्म—अल्तेकर महोदय ने आगे बताया है कि यद्यपि कुछ प्रान्तों में जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव स्थापित था तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विचाराधीन काल में संशोधित हिन्दू धर्म का काफी प्रचार बढ़ रहा था। माना कि गुप्त काल में हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होते हुए भी बौद्ध धर्म का बोलबाला स्थापित था पर स्थिति में शीघ्र ही परिवर्तन आया और ह्वेनसांग ने देखा कि पंजाब तथा उत्तरी संयुक्त प्रदेश जो फाह्यान के समय में बौद्ध धर्म के माननेवाले थे पुनः ब्राह्मण धर्मावलम्बियों के केन्द्र बन गये। कौशाम्बी श्रावस्ती कपिलवस्तु कुशीनगर तथा वैशाली आदि प्रमुख बौद्ध स्थान या तो प्राचीन खंडहर रह गये थे अथवा यहाँ हिन्दुओं का प्राबल्य स्थापित हो चुका था।[१]

अल्तेकर महोदय का उक्त मत तर्कसंगत है और विचाराधीन काल में हिन्दू धर्म अपनी पराकाष्ठा को पहुँच रहा था। प्रचार की दृष्टि से ही ऐसा कहा गया है। यहाँ हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का विवेचन पृथक्-पृथक् किया जायगा। हिन्दू धर्म का केन्द्र मध्य देश हो चुका था। यहीं से ब्राह्मणों ने बंगाल में ब्राह्मण धर्म का प्रचार किया था। बंगाल के राजाओं ने भी इस कार्य में काफी योग दिया था। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वैदिक देवता जिसमें प्रारम्भ में बहुत मन्द परिवर्तन हो रहा था अब काफी तीव्रता से बदलने लगे और उनके स्थान पर नये देवी देवताओं की प्रतिष्ठा होने लगी। इन्हें पौराणिक देवता कहा जा सकता है। लोगों में विशेषतया राजाओं और धनाढ्यों में दान देने की अभिरुचि अधिक थी। इसी आय से चारों ओर मन्दिरों का निर्माण जोरों से हो रहा था।[२] इस सम्बन्ध

---

[१] In spite of this local ascendency of Buddhism and Jainism in some of the provinces of India it must be however admitted that the period under review marked a distinct and decisive advance of the reformed Hinduism It is true that in spite of state patronage of Hinduism Buddhism continued to prosper in the Gupta Age as the account of FaHien and the sculptures of the Gupta school of Buddhist art at Sarnath which represents the indigenous Buddhist art at its best clearly show But the tide had turned and its effects were to be clearly seen in the seventh century In spite of Harsha Yuan Chwang found that the Punjab and the Northern United Provinces which were definitely Buddhist at the time of FaHien had slipped back into heterodoxy Sacred places of Buddhists like Kosambi Srawasti Kapilvastu Kusinagra and Vaisali were either wild ruins or populated by heretics even in Magadha Buddhism was not supreme *The Rashtrakutas And Their Times* pp 269 70

[२] मन्दिर निर्माण की दृष्टि से यह युग हिन्दू धर्म का सर्वोत्कृष्ट काल है। हाँ,

मे भी हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे। लेखों तथा मूर्तियों से यह परिलक्षित होता है कि अब त्रिदेवों के स्थान पर पंच देवों की उपासना होने लगी थी।

शैव मत—विचाराधीन काल में शिव और विष्णु की पूजा साथ साथ चलती रही। अल्तेकर महोदय ने इस युग की धार्मिक सहिष्णुता तथा पारस्परिक धार्मिक समन्वय पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि हिंदू धर्म के भी विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक समन्वय एवं सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी।[1] यही कारण है कि हम एक ही घर में होने के उदाहरण शैव तथा विष्णु सम्प्रदाय के माननेवाले की सूचना मिलती है। उत्तरी भारत के बंगाल मध्य भारत मालवा तथा पूर्वी पंजाब से प्राप्त लेखों के आधार पर ही यह ज्ञात हो सका है। पाल चेदि चंदेल आदि राजाओं के लेखों में 'ओम् नमः शिवाय' अथवा 'ओम् नमो ब्रह्मणे निर्गुण व्यापक नित्याय शिवम्' उत्कीर्ण है। बंगाल के लेखों में भी शिव उपासना का उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं बौद्ध मतावलम्बी राजाओं के लेख में भी पाशुपत मत की प्रशंसा मिलती है। इस प्रकार के साक्ष्यों से तो यह ज्ञात होता है कि विभिन्न हिंदू सम्प्रदायों में शैव मत का प्राबल्य सा था। कलचुरि लेख में राजाओं को 'परम माहेश्वर' की उपाधि दी गई है और जो पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी बताये गये हैं। इसी प्रकार एक अन्य प्रमाण प्रतिहार लेख है जो अर्धनारीश्वर की प्रार्थना से प्रारम्भ किया गया है।

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन शैवधर्म में पाशुपत मत का अधिक प्रचार था। मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख पीछे किया गया था। इस समय के निर्मित समस्त मन्दिरों में से लगभग ७० प्रतिशत या इससे भी कुछ अधिक मन्दिर शिवालय अर्थात शिवमन्दिर थे। अनेक राजाओं ने शिव-मन्दिर निर्माण में सक्रिय योग दिया। चंदेल चेदि परमार तथा सेन नरेशों द्वारा शिव मन्दिर निर्माण का विवरण हमें लेखों से प्राप्त होता है। इन मन्दिरों में शिव की मूर्तियां स्थापित की गई। इन मूर्तियों में काफी विभिन्नता पाई जाती है। अर्धनारीश्वर प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं और बारकपुर के सेन लेख में दसभुजी सदाशिव की मूर्ति का उल्लेख किया गया है।

वैष्णव मत—वैष्णव मत का प्रचार बंगाल से लेकर मध्य प्रांत तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में काफी था। हमें ज्ञात है कि भागवत धर्म का प्रचार उत्तरी भारत में प्रथम शताब्दी ई० में ही हो चुका था और गुप्त वंशीय शासकों ने इसे राजधर्म घोषित किया था जिसके फलस्वरूप उन्हें 'परम भागवत' का विरुद दिया गया था। तत्कालीन मुद्राओं पर विष्णु लक्ष्मी तथा विष्णुवाहन गरुड़ की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उदयगिरि में शेषशायी विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई है। लगभग सातवीं शताब्दी में वैष्णव मत में कृष्ण का आविर्भाव हुआ जो बंगाल में कृष्ण सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। यहाँ इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। कृष्ण-लीला का प्रदर्शन इस प्रदेश में किस

---

[1] यह अवश्य है कि इस युग में अंधविश्वासों का अधिकाधिक संख्या में जन्म होता है कर्मकाण्डों का प्राधान्य स्थापित हो जाता है पर साथ ही इस सत्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसी समय हिंदू धर्म अपने प्रतिस्पर्द्धी जैन तथा बौद्ध धर्मों पर वास्तविक प्रभुत्व स्थापित कर सका।

शृंगारिक ढंग से होता था इसका प्रमाण हम आठवीं शताब्दी की पहाड़पुर की खुदाई से, प्राप्त होता है जहाँ प्रस्तर पर कृष्ण-लीला के चित्र उत्कीर्ण हैं। वैष्णव मत को राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ था। सेन वंशीय राजाओं के लेखों से हम यह ज्ञात होता है कि उनकी अभिरुचि वैष्णव मत की ओर अधिक थी। उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों में प्राप्त दानपत्रों से भी भगवान् वासुदेव अर्थात् विष्णु की उपासना के प्रचार का बोध होता है। उत्तर भारत तथा बंगाल में पर्याप्त संख्या में विष्णु प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। बंगाल में चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमाएं बहुतायत से प्राप्त हुई हैं। विचाराधीन काल की स्वर्ण-मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृतियां उत्कीर्ण की जाती थीं। इन सारे साक्ष्यों से यह परिलक्षित होता था कि वैष्णव मत काफी जोर पकड़ चुका था।

कुछ अन्य सम्प्रदाय—हिन्दू धर्म की दो प्रमुख शाखाओं पर ऊपर प्रकाश डाला गया है किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सम्प्रदायों का उदय हो चुका था। इन सम्प्रदायों में शक्ति सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय आदि तथा सूर्योपासक गणेश पूजक आदि भी अपना कुछ पृथक अस्तित्व रखते थे। ये ब्राह्मण धर्म के अन्यान्य सिद्धान्तों को कुछ अंशों तक मानते हुए भी अपना एक पृथक मत रखते थे। इनके पृथक इष्ट देव थे जिनकी आराधना पर अधिक बल देते थे।

शक्ति-पूजा के पीछे नारी को महत्व प्रदान करने की प्रेरणा का ही हाथ ज्ञात होता है। नारी को शक्ति मानकर नारी-देवताओं की सृष्टि की गई थी। इनमें भगवती दुर्गा अम्बा कंचनदेवी सर्वमंगला लक्ष्मी आदि देवियों के पूर्व मध्ययुग में काफी महत्व प्रदान किया गया था। इन देवियों के नाम इस युग के लेखों में प्रचुरता से मिलते हैं। किन्तु शक्ति पूजा का श्रीगणेश काफी पहले हो ही चुका था। गुप्तकालीन उदयगिरि की गुफा में सप्तमातृका की तथा महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। परवर्ती गुप्तों के शासन-काल में इस मत का विशेष प्रसार हुआ था और तब से निरन्तर यह जोर पकड़ता गया। देवी पुराण में तो देवियों की पूजा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। शक्ति की उपासना के प्रचार में कई कारणों का हाथ है। सबसे महत्वपूर्ण कारण तो यह ज्ञात होता है कि नारी को शक्ति मानने में जनता को कोई विशेष झुंझलाहट न हो सकी। प्रत्येक प्रचलित देवता के साथ एक देवी (जो उसकी पत्नी के रूप में रहती है) की कल्पना कर ली गई जो मानव-जीवन की कसौटी पर मनोवैज्ञानिक ज्ञात हुई और इसे अपनाने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हुई। यह व्यवस्था पूर्णतया विचाराधीन काल की ही देन नहीं है प्रत्युत पहले भी इस प्रकार की भावना का श्रीगणेश हो चुका था किन्तु इस युग में इसे विशेष गति मिली। फलतः जहाँ माहेश्वरी, वाराही नारसिंही वैष्णवी ब्राह्मणी चामुण्डा आदि की मूर्तियाँ जो अब तक पृथक्-पृथक निर्मित की जाती थीं अब किसी विशिष्ट देवता के साथ बनाई जाने लगीं। शिव पार्वती विष्णु-लक्ष्मी, आदि की युग्म प्रतिमाओं के निर्माण में उक्त प्रेरणा के कारण-स्वरूप विद्यमान हैं। तान्त्रिक प्रभाव में आकर तो शक्ति सम्प्रदाय कहाँ से कहीं पहुँच गया। शक्ति-उपासकों (शाक्त) ने अनेकानेक तान्त्रिक क्रियाओं को जन्म दिया जो लोगों को सहज ही आकर्षित कर लेने के लिए पर्याप्त थीं। कला और साहित्य को भी शाक्त सम्प्रदाय ने अधिक प्रभावित किया और कुछ समय तो ऐसी स्थिति उपस्थित हो गई थी कि अन्य सम्प्रदायों के विलुप्त अथवा श्रीहीन-से हो जाने की आशंका होने लगी। दुर्गा मन्दिर तथा भगवती-पूजा का उल्लेख अनेक लेखों में मिलता है। नारियों ने इन देवियों की पूजा में विशेष रुचि दिखलाई और तत्कालीन साहित्य से यह ज्ञात होता है कि नारियों की मनोकामना सिद्धि का

एक मात्र साधन इन्हीं देवियों की उपासना और पूजन था। बंगाल में तो शक्ति पूजा ने और भी अधिक जोर पकड़ा। वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण पूजा का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया था यहाँ राधा-कृष्ण के रूप में इस पूजा का प्रचार होने लगा। शीतला षष्ठी कालिका तथा मनसा देवियों की आराधना पर भी काफी जोर दिया जाने लगा। अन्य प्रदेशों में भी देवियों की पूजा का प्रावल्य स्थापित हुआ और वहाँ का चौंसठ योगिनी का मन्दिर इसका प्रमाण-स्वरूप है। शाक्त सम्प्रदाय का प्रभाव केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित न रहा। इसने बौद्ध तथा जैन धर्मों को भी पर्याप्त अंशों में प्रभावित किया था।

शक्ति सम्प्रदाय की भाँति विचाराधीन काल में नाथ सम्प्रदाय का भी काफी जोर था। इसकी उत्पत्ति तथा उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही कुछ वर्ग में योगाभ्यास तथा यौगिक क्रियाओं के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो चुकी थी। योगाभ्यास का गूढ़ रूप तो हमें प्राचीन तन्त्रों में ही प्राप्त होता है। ईसा पूर्व में ही योग विद्या का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि शिव को आदि योगी माना जाता है। योगशास्त्र के आदि प्रवर्तक शिव ही हैं। इसलिए इनका दूसरा नाम योगेश्वर भी है। भस्म लगाये तथा समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। किन्तु काफी समय तक इसे किसी पृथक सम्प्रदाय के रूप में नहीं माना गया था। यौगिक क्रियाओं को पृथक महत्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय नाथ सम्प्रदायवालों को ही दिया जा सकता है। शिव ही आदि नाथ भी कहे जाते हैं। गुरु गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के इतिहास में प्रथम गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने विभिन्न यौगिक क्रियाओं का प्रचार किया। इनके शिष्यों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और शीघ्र ही नाथ-सम्प्रदाय का प्रभुत्व भारत के अनेक भागों में स्थापित हो गया। विद्वानों का इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा मत है कि इस पर बौद्ध धर्म तथा शैव सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गुरु गोरखनाथ ने जिस हठयोग को प्रधानता प्रदान की उसका उल्लेख आठवीं शताब्दी के कुछ स्रोतों में मिलता है। हठयोग द्वारा सिद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति की कामना नाथ-सम्प्रदायवाले करते थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगियों का भी बहुत बड़ा महत्व है। इनका मुख्य उद्देश्य जो भी हो ये घूम कर भिक्षाटन करते हैं। कापालिक मार्गी साधु भी नाथ सम्प्रदाय में ही सम्मिलित हैं।

शैव सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया था कि भारत में शिवोपासना का प्रचार अधिक था पर साथ ही सूर्य तथा गणेश की पूजा भी कम प्रचलित न थी। गणेश तो शिव के पुत्र ही माने जाते हैं अतः इनकी पूजा करने की शिवोपासकों को भी प्रेरणा मिली। पंचायत पूजा में गणेश का भी नाम आता है। मंगल कामना के लिए ही गणेश की पूजा प्रचलित हुई।

सूर्योपासना हमारे देश में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। सातवीं शताब्दी के पश्चात् के स्रोतों से विकसित सूर्योपासना का आभास मिलता है। गुप्तकाल में सूर्योपासना का काफी प्रचार था। प्रभाकरवर्द्धन भी सूर्योपासक था। विचाराधीन काल में अनेक सूर्य मन्दिरों का निर्माण हुआ था जिनके प्रतिमान का उल्लेख गहड़वाल प्रतिहार तथा चन्देल लेखों में मिलता है। बंगाल के सेन शासक विश्वरूपसेन तथा केशवसेन सूर्य के परम उपासक थे और इसलिए उन्हें 'परमसौर' का विरुद प्राप्त था। विचाराधीन काल में सूर्य की मूर्तियों का भी अधिक संख्या में निर्माण हुआ था।

ये मूर्तियाँ बहुधा पाल शैली में काले पत्थर पर बनती रहीं। दोनों हाथों में कमल का पुष्प लिए हुए सूर्य देवता की सबसे मूर्ति प्राप्त होती है। निचले भाग में सूर्य के सात अश्ववाले रथ का चित्र रहता है जिसके बाल आर उषा तथा सन्ध्या देवियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण रहती हैं। पाल तथा सेन वंश के शासन काल में इस प्रकार की सूर्य मूर्तियाँ काफी संख्या में निर्मित हुई थीं। मुल्तान का सूर्य मंदिर इस समय के सब प्रसिद्ध मन्दिरों में से था।

अवतारवाद का विकास—अवतारवाद इस युग की देन नहीं थी प्रत्युत प्राचीनकाल से ही आर्यों ने अवतारों की कल्पना कर ली थी। विचाराधीन काल में अवतारवाद का महत्वपूर्ण विकास अवश्य हुआ। ब्राह्मण तथा आरण्यक में विष्णु के अवतारों मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह आदि का उल्लेख किया गया है। महाभारत के नारायणी पर्व में भी वराह, वामन, रामादि के अवतारों का विवरण प्राप्त होता है। इन अवतारों का प्रचार गुप्तयुग में भी खूब था और यही कारण है कि तत्कालीन कलाकारों ने इनकी मूर्तियाँ निर्मित की थीं। अवतारों का एकमात्र उद्देश्य रखा गया मनुष्यों को सांसारिक कष्टों से मुक्त करना अथवा पापाचार का अन्त कर पुण्य की स्थापना। फलतः लोगों में अवतारों के प्रति विशेष श्रद्धा का भाव जागृत हुआ और पंचदेवों की पूजा के साथ-साथ या चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी भी पूजा होने लगी। विचाराधीन काल में ही अवतारवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था। मूर्तिकारों ने अवतारों की मूर्तियों के निर्माण की ओर ध्यान दिया तो साहित्यकारों ने तत्सम्बन्धी साहित्य के सृजन की ओर। पुराणों में अवतारों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया। क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित (१०६० ई०) तथा जयदेव ने गीतगोविन्द (११८० ई०) में अवतारों का विवरण प्रस्तुत किया। इस काल के अभिलेखों में भी भगवान के विभिन्न अवतारों का उल्लेख किया गया है। [illegible] ने अपने अवतारवाद में [illegible] लिया। अवतारों की मूर्तियों के निर्माण में वनिस्र [illegible] के लिए [illegible] तथा अन्य लगा।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने का उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। उस स्थान पर अलबरूनी के विचारों पर प्रकाश डाला गया था। आगे उक्त विद्वान ने बताया है कि कन्नौज में बौद्ध धर्म को कुछ प्रश्रय प्राप्त था और यहाँ विहारों की संख्या भी तक पहुँच गई थी। किन्तु हर्ष के बाद धर्म का प्रतिपालक न था, इस पर पीठ जनता की ओर अभिरुचि न थी। ह्वेनसांग तथा इत्सिंग के भ्रमण-काल में भी बौद्ध धर्म को अपनी अल्पायु का आभास प्राप्त हो चुका था। [illegible] मध्यिमा [illegible] बौद्ध मतावलम्बियों में भी अपने धर्म के भारत में विलुप्त हो जाने के विचार को उल्लेख किया है। [illegible] का [illegible] जब वहाँ का अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ बालू में पूर्णतया धंस जायगी तो उनका धर्म (बौद्ध धर्म) विलुप्त हो जायगा। [illegible] में [illegible] मूर्तियों पर [illegible] तक बालू चढ़ चुका था। [illegible] (आधुनिक पनावर) में ह्वेनसांग को [illegible] [illegible] था जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि बुद्ध सम्वन्ध [illegible] धारण कर [illegible]। [illegible] का यह विश्वास था कि [illegible] के साथ ही [illegible] धर्म का अन्त हो जायगा। [illegible] ने [illegible] कि [illegible] धर्म [illegible] भावी विनाश का बीज [illegible]

था और इसलिए यात्री ने भावी पतन से बौद्ध धर्म की रक्षा के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के समन्वय की बात कही थी।[१]

इन विवरणों से यह परिलक्षित होता है कि बौद्ध धर्म अपनी प्राचीन महत्ता खोता जा रहा था। भारत में इस धर्म के पतनोन्मुख होने का प्रमुख कारण विभिन्न सम्प्रदायों का प्रभाव है जिसने बौद्ध धर्म की मौलिकता को क्षतिग्रस्त कर दिया। वस्तुतः प्रथम शताब्दी ई० से ही भागवत धर्म के प्रभाव में आकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का उदय हुआ था पर कालान्तर में इस धर्म में इतने महान एवं आश्चर्यजनक परिवर्तन आये कि छठी शताब्दी ई० पू० और ११वीं १२वीं शताब्दी के बौद्ध धर्म में समता ढूँढने में काफी कठिनाई पड़ सकती थी। पाँचवीं शताब्दी में ही आचार्य असंग के ग्रन्थों में तान्त्रिक विचारधारा का समावेश प्रभावशाली ढंग से किया गया जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म में तंत्र का प्राबल्य स्थापित हुआ। महायान सम्प्रदाय का प्राचीन स्वरूप लगभग सातवीं शताब्दी तक बना रहा किन्तु पूर्व मध्य युग में इस सम्प्रदाय में तंत्रयान ने घर कर लिया। साधारण लोगों में देवी-देवताओं में पूर्ण आस्था थी। मंत्र को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते थे। ऐसा विश्वास था कि मंत्र (धारणी) से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इन सारी विचारधाराओं के फलस्वरूप बौद्ध धर्म में विभिन्न प्रकार के आडम्बरों ने घर कर लिया और भूत प्रेत इन्द्रजाल मोहन वशीकरण आदि की भावनाओं से समस्त बौद्ध सम्प्रदाय पूरित हो गया। हठयोग की माया में फँस जाने के पश्चात तो स्थिति और भी विकृत हो गई। शीघ्र ही तान्त्रिक बौद्धधर्म ने अपनी युवावस्था को प्राप्त कर लिया और इसे वज्रयान सम्प्र

---

[१] The new ground gained in the interval was only at Kanauj where the number of the Vihars increased from [illegible] to 100 but this was due to the temporary impetus given by the patronage of Harsha and did not represent the tendency of the age Buddhism had realised in the days of Yuan Chwan and I tsing that its days in India were numbered these Chinese pilgrims record a number of superstitious beliefs current among the Buddhists themselves about the destined disappearance of their religion from India At Buddhgaya itself the brethren believed that their faith would disappear when certain images of Avalokitesvara in that locality would completely buried under sand and some of them were already more than chest deep under that material in the Seventh Century A D (Watters II p 115) A garment alleged to have been worn by the Buddha himself was shown to Yuan Chwang at Puru hapura at modern Peshawar it was in sadly tattered condition and the monks believed that the religion would perish the garment was no more I tsing who came in the third quarter of the 7th century saw very clearly what way the things were moving he emphasises the necessity of a synthesis of the various sects if the rapid decline of the religion was to be arrested (Takakusu I tsing *A Record of Buddhist Religion* p 15) —*The Rashtrakutas And Their Times* p 270

दाय कहा गया। वज्रयान सम्प्रदायवालों ने यौगिक क्रियाओं में मंत्र के साथ साथ मुद्रा को भी स्थान दिया। तान्त्रिक भाषा में 'मुद्रा' उसे कहते हैं जहाँ साधक किसी युवती को अपनी सगिनी बनाता है। इस साधना में सहज सुख (मोक्ष) पाने के लिए यौगिक गुप्त रीति का पालन किया जाता है। इसमें विविध धार्मिक कृत्य तथा देवी देवताओं की पूजा को स्थान देकर पौराणिक देवों को वज्रयान में अपनाया गया। किन्तु विचार यहीं तक सीमित न रह सका। वज्रयान के साधकों ने अपनी साधना में हठयोग और मैथुन को प्रधानता दी। ८४ सिद्धों को ही इसके प्रचार का श्रेय दिया जा सकता है। इनमें सरहप्पा तिलोपा नरोपाद कान्ह्याद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। वज्रयान सम्प्रदाय के आचार्यों ने हठयोग के जिस साधना का उल्लेख किया था आनेवाली पीढ़ी ने उसका दुरुपयोग किया। बंगाल तथा बिहार वज्रयान सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र थे और नालन्दा तान्त्रिक मत का केन्द्र था। शक्ति की उपासना का बौद्ध धर्म में भी प्रचार हुआ और तारा देवी को बौद्ध शक्तियों में प्रमुख स्थान प्रदान किया गया।[1] सिद्धों ने चर्यागीत में शक्ति का बार बार उल्लेख किया है। यहाँ सामान्य स्त्रियों का कोई स्थान न देकर शाश्वत शक्ति की साधना पर बल दिया गया है। दसवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच में सिद्धों ने इस मत के प्रचार में एँड़ी चोटी का जोर लगा दिया। कालान्तर में इस मत के नये रूपों को सहजयान तथा कालचक्रयान की संज्ञा दी गई।

धार्मिक दृष्टिकोण से तो बौद्ध धर्म की उपरोक्त परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय कही जा सकती है क्योंकि जिन धार्मिक विडम्बनाओं एवं बाह्याडम्बरों को चुनौती देते हुए बुद्ध भगवान ने नये पथ का सृजन किया था और एक नये मत का सफल प्रतिपादन किया स्वयं उसमें ही समस्त दुर्गुण आ गये। पर कला की दृष्टि से यह परिस्थिति हितकर सिद्ध हुई। नये विश्वासों के परिणामस्वरूप जिन नये देवी-देवताओं का जन्म हुआ कलाकारों ने उनकी सुन्दरतम मूर्तियों की कल्पना की और ऐसी मूर्तियों का निर्माण किया जिनमें कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। तान्त्रिक सम्प्रदाय की अनेक मूर्तियाँ पाल शैली में सेनयुग की प्राप्त हुई हैं। प्रस्तर

---

[1] अल्तेकर महोदय ने दक्षिण भारत में भी तारा देवी के महत्व का प्रदर्शन किया है और उन्होंने इस सम्बन्ध में विक्रमादित्य षष्ठम का १०९–९६ ई० का एक अभिलेख उद्धृत किया है जिससे उनके मत की पुष्टि हो जाती है। उक्त विद्वान ने बताया है कि महायान सम्प्रदाय में तारा की पूजा स्थल तथा जल में आपत्ति के अवसर पर सहायता के निमित्त की जाती थी। अभिलेख इस प्रकार है—

हरिकरिगिरिफणि तस्करविषज्जलाणवपिशाचभयशमिनि।
दामिकरणकान्ति धारिणि भगवति तारे नमस्तुभ्यम् ॥
या सामान्यमयनात समुदिता प्रतीति या कथ्यते
या बुद्धस्य विभूतिदा त्रिभुवने बोधिस्वरूपा परा।
या हृद्व्योम्नि तथागतस्य वसति स्फोतेव धात्रीश्वरा।
सा तारा जगदुग्रतापशमिनि प्राणास्तु वस्सवदा ॥

आगे अल्तेकर महोदय ने लिखा है—

"(बौद्ध) धर्म सर्वसाधारण में अपना प्रभाव पूर्णतया खो चुका था और अपने पतन के अन्तिम सोपान पर पहुँच गया था।" *The Rastrakutas and Their Times* p. 309

के अतिरिक्त पाल शैली में धातु की भी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। नालन्दा में जो तान्त्रिक मत का प्रधान केन्द्र था इसी मूर्तियों का बाहुल्य है। नालन्दा के तान्त्रिकों ने नेपाल तिब्बत तथा चीन में तान्त्रिक मत का प्रचार किया था जिसके फलस्वरूप उन देशों में भारतीय सभ्यता एवं विशिष्ट भारतीय कला का भी प्रचार हुआ था।

जैनधर्म—यद्यपि जैनधर्म की भी प्राचीन महत्ता क्षीण होती जा रही थी तथापि अभी उसकी स्थिति बौद्धधर्म की अपेक्षा अच्छी थी। उत्तर भारत में इसका स्वरूप अवश्य कम हो गया था किन्तु दक्षिण भारत में इस धर्म को राज्याश्रय प्राप्त करने का गौरव मिला और अल्तेकर महोदय के शब्दों में विचाराधीन काल (राष्ट्रकूट-युग) जैनधर्म के इतिहास में दक्षिण में सर्वोच्च विकास युग का था। उत्तर भारत में इसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम हो गई थी जिसके मूल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान ही रहा। उत्तर भारत में विभिन्न राजाओं ने जैन मठों तथा विहारों को दान दिये थे जिसका प्रमाण तत्कालीन लेखों तथा दानपत्रों से प्राप्त होता है। पाल लेख में शैव राजा की पत्नी द्वारा जैन विहार को दान देने का उल्लेख किया गया है। बंगाल के पुण्ड्रवर्धन क्षेत्र में अनेक जैन विहार थे जिनको प्रायः हिन्दू राजाओं से दान मिल जाया करता था। मारवाड़ के चहमान लेख में तीर्थंकर शान्तिनाथ की देवयात्रा के लिए अग्रहार दान का विवरण प्राप्त होता है। दान का एक अन्य उदाहरण नासिक के निकट प्राप्त एक प्रशस्ति में मिलता है जिसमें सूर्यग्रहण के अवसर पर दान देने तथा दान की आय से जिन पूजा और जैन साधुओं के भोजन की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

ब्राह्मण मतावलम्बी राजाओं द्वारा जैन विहारों को दान देने के कई कारण हो सकते हैं। इनमें प्रमुख कारण तो दान देने की सर्वव्यापी प्रवृत्ति है जिससे प्रभावित होकर राजा धार्मिक संस्थाओं को निर्पेक्ष भाव से दान दिया करते थे। किन्तु अन्य महत्त्वपूर्ण कारण जैनधर्म की परिवर्तित अवस्था भी है। इस समय तक जैनधर्म ब्राह्मण धर्म के काफी निकट आ चुका था। जैन मतावलम्बी पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा करने लगे थे। सरस्वती को जैन मत की विद्या-देवियों में स्थान मिल चुका था। गणेश की अट्ठारह भुजाओं वाली मूर्ति प्राप्त हुई है जिसकी पूजा जैन लोग किया करते थे। अरुणदेव की सूर्य तथा शिव उपासना करना इसका प्रमाण है कि जैनी भी ब्राह्मण देवताओं की आराधना करने लगे थे।

कुछ सामान्य धार्मिक विश्वास एवं आस्थायें—पूर्व मध्ययुगीन ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन धर्मों की अवस्थाओं पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला गया है जिसके अध्ययन से हम कुछ सामान्य धार्मिक विश्वासों का बोध होता है। उदाहरणार्थ दान देने की प्रवृत्ति धार्मिक सहिष्णुता मूर्ति पूजा आदि। धर्मनिरपेक्ष भाव से दान देना इस युग की विशेषताओं में एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। विचाराधीन काल में मूर्ति पूजा की प्राधान्य था जिसके फलस्वरूप अधिक से अधिक संख्या में मन्दिरों का निर्माण होने लगा था। इन मन्दिरों के निर्माण तथा उनकी व्यवस्था के लिए अनुदान की आवश्यकता थी। राजाओं के अतिरिक्त अन्य सम्पन्न लोग भी दान दिया करते थे। बहुधा भूमिदान ही दिया जाता है। मन्दिरों के साथ साथ लोग कभी कभी व्यक्तियों शिक्षण संस्थाओं को भी दान देते थे। विचाराधीन काल में मन्दिरों विहारों आदि को दान देने के उदाहरणों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अल्बरूनी ने भी स्त्रियों को दान देने की प्रथा का उल्लेख किया है। हरियट ने उसी के तत्सम्बन्धी कथन को इस प्रकार उद्धृत किया—

हिन्द के राजा उस देश के सरदारगण तथा धनाढ्य भक्त समय-समय पर अपना बहुमूल्य कोष और जवाहिरात मूर्तियों को उपहारस्वरूप (दान-स्वरूप) दिया करते थे जिससे उनको इन अच्छे कार्यों का पुरस्कार मिले और वे अपने ईश्वर के निकट पहुँच सकें।[1]

दान देने के मूल में स्वर्ग जाने का अटूट विश्वास निहित था। दान देने के महत्व की छाप प्राणी प्राणी के हृदय एवं मस्तिष्क पर पड़ी थी। दान देने के कुछ विशेष अवसर भी थे। सूर्य या चन्द्रग्रहण मुख्य पर्व एकादशी अक्षयतृतीया संक्रान्ति अधिक मास आदि के अवसर पर दान देना अधिक पुनीत कार्य समझा जाता था। शुभ अवसरों (जन्म दिवस विवाह आदि) पर भी राजा दान दिया करते थे। दान देने की पद्धति का पूर्ण विवेचन हमें स्मृतियों में प्राप्त होता है। पूर्व मध्यकालीन लेखों में भी इसी विधि का पालन किया गया है। दान देनेवाला उचित शुभ अवसर पर उपवास रखकर गंगा स्नान कर भगवान शिव या विष्णु की विधिवत पूजा कर तथा ——— था। कहीं कहीं स्नान के पश्चात मनुज भूत पितृ गणान तर्पयित्वा) अनेक दानपत्रों में प्रयाग विधिवत स्नात्वा कुशलता करतलादिके त्रिभुवनपति वासुदेवस्य पूजा विधाय हुत्वा का उल्लेख मिलता है। भूमि-दान देने के पश्चात दक्षिणा-स्वरूप स्वर्णमुद्रा दी जाती थी। शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में पढ़ते हुए हम राजाओं के लम्बे लम्बे दानपत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था जिनमें राजा यह घोषणा करता था कि अमुक भूमि तालाब वृक्ष, खान आदि सहित अमुक गाँव के अमुक ब्राह्मण को दान दी जा रही है और अमुक-अमुक राज्य पदाधिकारी सूचित किये जाते हैं कि उक्त भू भाग से कर या बेगार न लें। दानप्राप्तों को कितनी छूट दी जाती थी इसका स्पष्ट चित्र उपरोक्त विवरण से हमारे सम्मुख आ जाता है। इसी प्रकार के अनेक दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं राजा अपने उत्तराधिकारियों को भी यह सूचित करता था कि उक्त भू भाग (दान में दिया हुआ भू भाग) दानग्राही से वापस न लिया जाय। धर्म का बन्धन ही उत्तराधिकारियों को ऐसा करने से मना कर सकता था, क्योंकि राजा पर दूसरा बन्धन ही क्या डाला जा सकता है। अतः दानी राजा लेख में यह लिखवा देता था कि दान दिये गये भू भाग को वापस लेने अथवा दान में बाधा पहुँचाने पर वह व्यक्ति नरकगामी होगा और इसके विपरीत इस नियम का पालन करनेवाला शासक स्वर्गगामी होगा।

पृथ्वी नित्यगमिनी
विष्ठायां तु कृमि भूत्वा पितृभि सह मज्जति।

इस प्रकार के नाको का दानपत्रों के अन्त में उत्कीर्ण कराके दानी राजा अपनी सन्तान से भी दान-ग्राही की सुविधा पहुँचाने की बात कह जाता था और पालन

---

[1] The kings of Hind the chiefs of that country and rich devotees used to amass their treasures and precious jewels and send them time after time to be presented to idols that they might receive a reward for their good deeds and draw near to their God — Elliot II p 34 Quoted by Dr A S Altekar

उक्त उद्धरण से यह परिलक्षित हो जाता है कि दान देने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण भारत में पाई जाती थी।

करनेवाले को आशीर्वाद तथा विरोधक को शाप दे जाता था। धार्मिक युग में जहाँ दान और पूजा का इतना महत्व हो। इन शापों से कौन नहीं भय खाता रहा होगा।

मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव ब्राह्मण बौद्ध जैन आदि समस्त धर्मों में हो चुका था। इतना ही नहीं प्रत्येक सम्प्रदाय का यह सर्वोत्कृष्ट धार्मिक कृत्य था। ब्राह्मण धर्म के प्रत्येक उपशाखा में इसका प्रचलन था। पौराणिक देवताओं की आराधना भी इस युग की एक विशेष उल्लेखनीय विशेषता है। देवताओं का एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में संक्रमण कर जाना भी महत्व की बात है। कुछ सर्वथा नवीन देवी देवताओं का भी उदय इस युग में हुआ था। वर्तमान हिन्दू समाज में देवी-देवताओं की लम्बी तालिका दृष्टव्य मिलती है। इनमें से अधिकांश देवताओं का जन्म पूर्व मध्ययुग में ही हुआ था।

किन्तु विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों का उदय अथवा उनका विकास समाज में धार्मिक सहिष्णुता न ला सका। यद्यपि धर्मलिप्सा की परिस्थिति कुछ ऐसे ही प्रतिफल का द्योतक होती है किन्तु विचाराधीन युग में लोग अपने मत को प्रधानता प्रदान करते हुए भी दूसरे के मत को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखते। धार्मिक सहिष्णुता का सबसे बड़ा प्रमाण हिन्दू तथा जैन मतावलम्बी राजाओं का अपने मत के मन्दिरों एवं विहारों को दान देने के साथ ही अन्य मतवालों को भी दान देना है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में केवल इने गिने हिन्दू सम्राटों पर ही धार्मिक असहिष्णुता का आरोप लगाया जा सकता है पर यह आरोप भी कुछ राजाओं के साथ सन्देहात्मक प्रश्न बन जाता है। हम पाते हैं कि गुप्त शासक परमभागवत होते हुए भी बौद्ध तथा जैन मतावलम्बियों के प्रति उदार दृष्टि रखते थे और कुछ ने तो उनके मत के प्रचार में योग दिया। इतना ही नहीं एक ही घर में बौद्ध तथा शैव मतावलम्बी पाये जाते थे। राजघरानों का धार्मिक इतिहास यह बताता है कि यह आवश्यक नहीं था कि पुत्र पिता के धर्म का पालन करे। थानेश्वर का प्रभाकरवर्धन शैवमतावलम्बी था किन्तु उसके पुत्र बौद्ध थे। धार्मिक सहिष्णुता का एक प्रमुख प्रमाण अपने मत से इतर देवी-देवताओं की उपासना है। पाल नरेश बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी पौराणिक देवी देवताओं में रुचि रखते थे और वे इन देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण में सहायक सिद्ध होते थे। राजाओं के अतिरिक्त जनसाधारण में भी धार्मिक सहिष्णुता का अंश कुछ कम न था। ब्राह्मणतन्त्र के प्रभाव में आकर बौद्ध मतवालों ने भी तान्त्रिक क्रियाओं को प्रधानता प्रदान की और बौद्ध तान्त्रिक मतानुयायियों ने ब्राह्मण देवताओं को अपनाया। एक स्तूप में शिव विष्णु तारा तथा बुद्ध की उपासना धार्मिक सहिष्णुता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। परस्पर धार्मिक विश्वासों का आदान प्रदान भी इस काल की एक प्रमुख विशेषता है और साथ ही धार्मिक सहिष्णुता का एक चिह्न है। ब्राह्मणों के इस विश्वास को कि गंगास्नान संक्रान्ति या ग्रहण के अवसर पर दान देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है बौद्धों ने भी अपना लिया था और इसीलिए अनेक बौद्ध मतावलम्बी राजाओं ने भी विधिवत दान दिया था। जैनियों के साथ भी कुछ इसी प्रकार का समन्वय चल रहा था। जैन सम्प्रदायवालों ने भी ब्राह्मणों की दान पद्धति को अपना लिया था। ब्राह्मण धर्म ने अपने अवतारवाद का इतना विस्तार किया कि उसमें महात्मा गौतमबुद्ध भी स्थान पा गये। सुप्रसिद्ध कवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में अन्य ब्राह्मण देवताओं के साथ बुद्ध की भी स्तुति की।[1]

[1] सदयहृदय दर्शित पशुघातम्।

इस धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में भारतीय समाज में एकता बनी रही और वास्तविकता तो यह परिलक्षित होती है कि इसी धार्मिक सहिष्णुता ने तत्कालीन समाज को पतनोन्मुख बनाने से रोका था अन्यथा राजा और प्रजा की सामाजिक प्रवृत्तियाँ समाज को पतनोन्मुख करने को पर्याप्त थीं। जीवन के विभिन्न अंगों को इस सहिष्णुता ने प्रभावित किया था। कला के क्षेत्र में भी इसने विकास का मार्ग प्रशस्त किया और इन सम्प्रदायों के कलाकारों के संयुक्त परिश्रम से देवता की मूर्तियों को सौंदर्य मिलने लगा।

पूर्व मध्यकालीन साहित्य एवं कला

विचाराधीन काल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी कुछ विशेष कला सम्बन्धी उपलब्धियाँ हैं। कला का प्रस्फुटन इस युग की सर्वथा नवीन वस्तु नहीं है इसका क्रम प्राचीन काल से चलता आ रहा था। इस युग में कुछ क्षेत्रों में अधिकाधिक उन्नति हुई। साहित्य और वास्तुकला के क्षेत्र में जो उन्नति इस युग में हुई वह सराहनीय है। उस समय की कलाकृतियाँ आज हमारे गौरव की वस्तु बनी हुई हैं। साहित्यिक कृतियाँ वर्तमान साहित्यकारों एवं साहित्य विद्यार्थियों का पथ प्रदर्शन करने की क्षमता रखती हैं। इस युग में वास्तुकला विशारदों एवं साहित्यकारों की बाढ़-सी आ गई थी। राज्याश्रय पाकर कलाकारों को उत्साह मिला। (यह दूसरी बात है कि कला कभी कभी व्यक्ति विशेष या वर्गविशेष की कामनाओं की पूर्ति के निमित्त उनकी इच्छाओं द्वारा अनुशासित रही और उसका जैसा स्वाभाविक विकास हो सकता था वैसा नहीं हो सका।) साहित्य के विभिन्न अंग पर जितनी रचनायें इस युग में हुईं वह संस्कृत साहित्य के कोष में अपना अधिक महत्व तो रखती ही हैं साथ ही वे संख्या में भी अधिक हैं। ललित साहित्य की ओर ही साहित्यकारों की रुचि अधिक थी और इसलिये उपयोगी साहित्य की रचना उपेक्षित रह गई। लेकिन साहित्य की ओर भी कुछ साहित्यकारों ने ध्यान दिया था। नीचे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

ललित साहित्य—स्थानाभाव के कारण समस्त साहित्यकारों का न तो उल्लेख ही किया जा सकता है और न महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों की तिथियों एवं उनकी रचनाओं पर ही विचार किया जा सकता है अतः केवल नामकरण करके ही सन्तोष करना पड़ेगा। संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के मुख पर यह श्लोकवाक्य बराबर सुनने को मिलता है **उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति** **त्रयोगुणाः**, महाकवि कालिदास का विवरण हम गुप्तकालीन साहित्य का अध्ययन करते समय प्राप्त कर चुके हैं। दक्षिण भारत के महाकवि भारवि सातवीं शताब्दी में आते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ किरातार्जुनीय है। भारवि की कविता संस्कृत साहित्य में अर्थ-गौरव के लिए प्रसिद्ध है। भारवि अलंकृत काव्यशैली के जन्मदाता माने जाते हैं। वल्लभी के राजा श्रीधरसेन के दरबार में महाकवि भट्टि समाश्रित थे जिन्होंने रावण वध अथवा भट्टिकाव्य की रचना की। संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ गुजरात निवासी माघ का आविर्भाव भी इसी युग में हुआ था। इनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपाल-वध संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। यदि कालिदास अपना

केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जगदीश हरे।—गीत गोविन्द।

उपमाओं भारवि अर्थ गौरव तथा दण्डी पदलालित्य के लिए विख्यात हैं तो माघ में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। यह उक्ति भले ही किसी सहृदय के तारतम्य भावातिरेक का प्रतिफल हो पर इतना तो स्वीकार ही करना होगा कि माघ का शिशुपाल वध उनके मस्तिष्क एवं हृदय दोनों पक्षों की उत्कृष्टता का सजीव उदाहरण है। माघ के बाद काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे। इन्होंने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें बृहत्कथा मंजरी दशावतार चरित कला विलास आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर में ही बारहवीं शताब्दी में एक दूसरे सुप्रसिद्ध साहित्यकार हुए जिनका नाम मंखक था। ये काश्मीर नरेश जयसिंह के सभा पण्डित थे। मंखक का 'श्रीकण्ठ चरित' सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। संस्कृत साहित्य के जगमगाते रत्न श्रीहर्ष का जन्म बारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये न केवल सफल कवि ही थे वरन् साथ ही साथ ये दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान भी थे। इन्हीं के शब्दों में—

"ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठितिः मास्मिन् खलः खलतु।'

अर्थात् जिस प्रकार मेरी बुद्धि सुकुमार साहित्य में चलती है उसी प्रकार कठोर तथा शुष्क न्याय की ग्रन्थियों को सुलझाने में क्रीड़ा करती है। इनका सर्वश्रेष्ठ तथा संस्कृत साहित्य का उच्च कोटि का महाकाव्य नैषध चरित है। खण्डन-खण्डखाद्य इनका सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त श्रीहर्ष ने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है। ये कन्नौज नरेश जयचन्द्र के सभापण्डित थे। पद्मगुप्त का नाम भी संस्कृत-साहित्य में गर्व के साथ लिया जा सकता है। इनका नवसाहसांकचरित ग्यारहवीं शताब्दी की उत्कृष्ट रचनाओं में गिना जाता है। काश्मीर में दो और प्रमुख महाकवि हुए बिल्हण और कल्हण। बिल्हण ने विक्रमांकदेव चरित लिखकर न केवल संस्कृत साहित्य के कोष में अभिवृद्धि की प्रत्युत इन्होंने इतिहास के विद्यार्थियों के लिए भी कुछ सामग्री प्रस्तुत की है। कल्हण की राजतरंगिणी के लिए भी यही वाक्य कहे जा सकते हैं। दोनों ही बारहवीं शताब्दी में हुए थे। सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने तो कुमारपाल चरित लिखकर दो भाषाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखने का परिचय दिया।

इस युग में कुछ सुप्रसिद्ध नाटककार भी हुए। इन नाटककारों ने संस्कृत साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की। कालिदास के बाद भवभूति को ही सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इनका उत्तर रामचरित संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इन्होंने दो अन्य नाटक महावीर चरित तथा मालती माधव लिखे। ये विदर्भ निवासी और कन्नौज नरेश यशोवर्मा के सभा-पण्डित थे। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार भट्टनारायण थे। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेणी संहार' है। अन्य नाटककारों में मुरारि जयदेव और राजशेखर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुरारि का एकमात्र ग्रन्थ 'अनर्घराघव' है। जयदेव ने 'प्रसन्न राघव' की रचना की। राजशेखर ने छः ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'बाल रामायण' 'बाल भारत' 'विद्धशाल भञ्जिका' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राकृत में 'कर्पूरमञ्जरी' की रचना की।

महाकाव्य एवं नाटक के अतिरिक्त कथा साहित्य की भी इस युग में विशेष प्रगति हुई। कथा साहित्य की परम्परा तो बहुत पहले से ही चली आ रही थी। उपदेशात्मक कहानियाँ ही लिखी जाती रहीं। विचाराधीन युग में पंचतन्त्र की कहानियाँ समाज

में काफी प्रचलित थी। पंचतंत्र के आधार पर ही 'हितोपदेश' की रचना हुई। नारायण पण्डित ने इसकी रचना की थी। संस्कृत कथा साहित्य में 'बृहत्कथा' का काफी ऊंचा स्थान है। गुणाढ्य इसका रचयिता था। यह ग्रंथ पैशाची भाषा में लिखा गया था किन्तु मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसके तीन संस्कृतानुवाद प्राप्य हैं। पहला बुद्धस्वामी का बृहत्कथा श्लोकसंग्रह दूसरा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी तथा तीसरा सोमदेव का कथा सरित्सागर।

इस युग में साहित्य के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह काव्य शास्त्र के क्षेत्र में। इसी युग में काव्यशास्त्र का पूर्णता प्राप्त हुई। (और कुछ अंशों में प्रारम्भ इसी युग में होना मानना चाहिए।) डाक्टर सुशील कुमार दे ने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का जो काल विभाजन किया है और जो अत्यन्त प्रामाणिक है वह हमारे उपरोक्त कथन के समर्थन के लिए पर्याप्त है।[१]

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह हैं जो काश्मीर के निवासी थे। इनका समय सातवीं शताब्दी के मध्य में माना जाता है। इन्होंने 'काव्यालंकार' लिखकर अलंकार सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना किया। अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायियों में उद्भट तथा रुद्रट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उद्भट का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। ये काश्मीर निवासी और काश्मीर-नरेश के सभापण्डित थे। इनके ग्रंथ का नाम भामह विवरण है। रुद्रट भी काश्मीर के निवासी थे। काव्यमीमांसा लिखकर इन्होंने अलंकार सम्प्रदाय को प्रौढ़ किया। किन्तु धीरे धीरे अलंकार सम्प्रदाय

[१]डा० डे० ने इस प्रकार काल विभाजन किया है—

अ—Formative stage प्रारम्भिक काल जो आदि काल से भामह तक अर्थात सातवीं शताब्दी के मध्य तक चलता है। आदि काल में काव्यशास्त्र पर वास्तव में कुछ महत्वपूर्ण काम नहीं हुआ है। यद्यपि दास-गुप्त के मतानुसार पतंजलि के महाभाष्य (दूसरी शताब्दी ई० पू०) से ही काव्यशास्त्र का प्रादुर्भाव होता है और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (समय सन्दिग्ध तीसरी शती पूर्व से तीसरी चौथी शताब्दी शताब्दी तक के बाद) को वे काव्यशास्त्र का प्रथम ज्ञात ग्रंथ बताते हैं तथापि डा० डे का यह कथन कि उक्त ग्रंथ पूर्णतया नाट्यशास्त्र का ग्रंथ है और चूंकि नाटकीय रस का अभिव्यक्ति नाटकीय भाषा पर अवलम्बित है अतः एक अध्याय में भरत ने काव्यशास्त्र की चर्चा कर दी है समयानुकूल है। वास्तव में भामह के समय से ही काव्य शास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक करके एक स्वतंत्र विषय बनाया गया।

ब—Creative Stage रचनात्मक काल जो भामह से आनन्दवर्द्धन तक अर्थात सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के मध्य तक चलता है। इसी समय में काव्यशास्त्र के धुरन्धर विद्वानों का आविर्भाव होता है।

स—Definite stage निश्चयात्मक काल (स्थिति) जिसका समय आनन्दवर्द्धन से मम्मट तक अर्थात ९५० ई० से ११०० ई० तक माना है।

द—Scholastic stage शास्त्रीय स्थिति। यही काल विचारात्मक युग के परिधि से इतर का है। अर्थात बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का समय काव्य शास्त्र में शास्त्रीय स्थिति के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग पूर्व मध्य युग के वृत्त में ही पड़ता है।

का लोप होने लगा और काव्य की आत्मा अलंकार को न मानकर रीति को माना जाने लगा। रीति सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य दण्डी थे जो अलंकारों को भी काफी ऊंचा स्थान देते हैं। दण्डी ७०० से ७५० ई० के बीच में हुए थे। ये दक्षिण के कांची-नगरी के निवासी थे। इन्हें पल्लव नरेश का राज्याश्रय प्राप्त था। काव्यादर्श इनका काव्य शास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु रीति सम्प्रदाय के वास्तविक संस्थापक आचार्य वामन हैं जिन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि रीति ही काव्य की आत्मा है और आगे रीति की व्याख्या करते हुए इन्होंने बताया है कि विशिष्ट पद-रचना ही रीति है।[1] विद्वानों ने इनका समय आठवीं शताब्दी के मध्य से ९वीं के मध्य तक माना है। ये काश्मीर नरेश जयापीड के मन्त्री थे। किन्तु रीति सम्प्रदाय भी अधिक दिनों तक नहीं चल सका और काव्य की आत्मा के अन्वेषकों ने एक नवीन सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन किया। वह है रस सम्प्रदाय। वास्तव में रस सिद्धान्त कोई सर्वथा नवीन सिद्धान्त न था और इसका प्रतिपादन बहुत पहले ही भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में कर दिया था।[2] इसी से प्रभावित होकर विचाराधीन काल में कुछ ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा घोषित करके रस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पर इनके विचारों को भी बड़े आचार्यों ने स्थायित्व नहीं प्राप्त करने दिया और उन्होंने काव्य शास्त्र में एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ये आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा बताते हैं।[3] दार्शनिकों के 'स्फोट सिद्धान्त' से प्रभावित होकर ध्वनिकारों ने ध्वनि सिद्धान्त का प्रचार किया। 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ से इस मत का श्रीगणेश होता है। उक्त ग्रन्थ के रचयिता का नाम अज्ञात होने के कारण विद्वान उसे ध्वनिकार कहते हैं। डा॰ सकरन ने आनन्दवर्द्धन को ही ध्वन्यालोक का रचयिता स्वीकार किया है किन्तु काणे महोदय इससे सहमत नहीं हैं। सुशील कुमार डे का भी ऐसा ही विचार है। आनन्दवर्द्धन काश्मीर-नरेश अवन्ति वर्मा के सभापण्डित थे अतः इनका समय ८५५ ई० से ८८३ ई० तक के आस-पास माना जा सकता है।

काव्यशास्त्र के इतिहास का यह रचनात्मक काल भामह से आनन्दवर्द्धन तक अर्थात् ७वीं शताब्दी से ९वीं शताब्दी के अन्त तक चलता है। तत्पश्चात् निश्चयात्मक स्थिति (Definite stage) का सूत्रपात होता है। इस समय अभिनवगुप्त कुन्तल या कुन्तक, रुद्रभट्ट, धनञ्जय तथा मम्मट आदि आचार्यों का आविर्भाव होता है। यहाँ हम सर्वप्रथम कुन्तक पर विचार कर लेना चाहिए क्योंकि इन्होंने काव्य शास्त्र में एक नवीन सम्प्रदाय वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रचार किया। वास्तव में इन्होंने भामह के वक्रोक्ति अलंकार के आधार पर ही वक्रोक्ति सिद्धान्त को पल्लवित किया। यही अपने सिद्धान्त के प्रणेता एवं अन्तिम आचार्य भी थे। इनके ग्रन्थ का नाम वक्रोक्तिजीवित है। ये भी काश्मीर के रत्न कहे जाते थे। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर में अभिनव गुप्त नाम के आचार्य हुए जिनका ग्रन्थ लोचन (ध्वन्यालोक लोचन) के नाम से प्रसिद्ध है। ये ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक थे। इस युग के अन्तिम सुप्रसिद्ध आचार्य मम्मट हैं। ये भी काश्मीर निवासी थे। इन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय का

[1] 'रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्ट पद रचना रीतिः।' काव्यालङ्कारसूत्र १।२।६७
[2] 'विभावानुभाव संचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः'—नाट्यशास्त्र।
[3] 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—ध्वन्यालोक।

समर्थन अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में इस विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध फिर किसी को कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ। इसीलिए इन्हें ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि प्रदान की गई। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। मम्मट से ही काव्यशास्त्र के इतिहास का अंतिम काल शास्त्रीय स्थिति का प्रारम्भ होता है। ग्यारहवीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के अंत तक यह काल चलता है अतः यह विचाराधीन काल के वृत्त के इतर पड़ता है और इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस युग में किसी सर्वथा नवीन मत का प्रतिपादन नहीं किया गया वरन् प्राचीन ग्रन्थों की अधिकाधिक विशद टीकाएं ही लिखी गईं। इसीलिए कभी कभी इसे टीका-काल भी कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वमध्ययुग में साहित्य के महत्वपूर्ण अंग काव्यशास्त्र पर जितना कार्य हुआ उतना इसके पूर्व या बाद में निश्चय ही नहीं हुआ। यह विचाराधीन काल की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

काव्यशास्त्र के साथ साथ छन्दशास्त्र के क्षेत्र में भी कार्य होते रहे। छन्दशास्त्र के प्रणेता पिंगल माने जाते हैं। पिंगल सूत्र इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। कालिदास ने (शकुन्तला के रचयिता से भिन्न) श्रुतबोध नामक ग्रन्थ की रचना की थी। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक नामक छन्दशास्त्र सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। हेमचन्द्र का छन्दानुशासन, दामोदरमिश्र का वाणीभूषण, केदार भट्ट का वृत्तरत्नाकर आदि अन्य सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

दर्शन-साहित्य—किन्तु केवल ललित साहित्य के क्षेत्र तक ही इस युग की साहित्यिक प्रगति सीमित नहीं रही दार्शनिक साहित्य की भी इस समय काफी उन्नति हुई। दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य हुआ। यद्यपि इस युग के अधिकांश दर्शन-ग्रन्थ टीकायें हैं तथापि उनके रचयिताओं की मौलिक प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन तीनों धर्म के दार्शनिकों ने अपने अपने ज्ञान का प्रकाशन विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया। ब्राह्मण दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दार्शनिकों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी देना यहाँ स्थानाभाव के कारण असम्भव है अतः केवल उनका एवं उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख करके ही सन्तोष करना पड़ेगा। विचाराधीन काल के प्रमुख नैयायिक हैं 'न्यायवार्तिक' के रचयिता उद्योतकर (सातवीं शताब्दी के कुछ पूर्व) 'न्याय वार्तिक' के सुप्रसिद्ध टीकाकार तात्पर्य टीका के तथा न्याय सूची निबन्ध के प्रणेता विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के महापंडित वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी) चार्वाक बौद्ध मीमांसा तथा वेदान्त मतों के सुप्रसिद्ध खण्डनकर्ता एवं न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्त भट्ट (नवीं शताब्दी) नैयायिक-नरेश महापण्डित उदयनाचार्य (दसवीं शताब्दी) जिन्हें यह दावा था कि जिस प्रकार जिस दिशा में सूर्य उदय होता है वही पूर्व दिशा कहलाता है उसी प्रकार उदयनाचार्य जो कुछ कहें वही सत्य है।[1] इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें तात्पर्य परिशुद्धि, 'लक्षणावली', 'बौद्धधिक्कार', न्यायकुसुमाञ्जलि आदि प्रसिद्ध हैं। न्याय शाखा के दो अन्य आचार्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। वे हैं 'न्यायसार' के प्रणेता भासर्वज्ञ (नवीं शताब्दी का अन्तिम भाग) तथा बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होनेवाले सुप्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के रचयिता गंगेश उपाध्याय।

[1] वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा यदि पथि विपथे वा वर्तयामस्स पन्थाः। उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः॥

कणाद् द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक दर्शन को आगे बढ़ाने के लिए इस युग में अनेक विद्वानों एवं दर्शन महारथियों ने एड़ी चोटी का जोर लगाया। इनमें व्योमवती के रचयिता व्योम शिवाचार्य (दसवीं शताब्दी), पूर्व उल्लिखित उदयनाचार्य जिन्होंने वैशेषिक दर्शन का प्रसिद्ध टीका ग्रन्थ किरणावली की रचना की। श्रीधराचार्य (दसवीं शताब्दी) जिनकी न्यायकन्दली सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है वैशेषिक सिद्धान्तों का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय लीलावती के रचयिता वल्लभाचार्य (बारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण) तथा सप्तपदार्थी के प्रणेता शिवादित्यमिश्र (बारहवीं शताब्दी) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की भाँति सांख्य एवं योग के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। वाचस्पतिमिश्र ने भी सांख्यशास्त्र पर सांख्यतत्व कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की। दूसरे विद्वान् दार्शनिक थे गौडपाद (सातवीं शताब्दी) जिन्होंने सांख्यकारिका पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य गौडपाद भाष्य की रचना की। योगदर्शन के क्षेत्र में भी कुछ आचार्यों ने कार्य किया। बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महापण्डित वाचस्पति मिश्र ने इस क्षेत्र में भी कार्य किया है और उनका ग्रन्थ तत्ववैशारदी प्राचीनतम योगसूत्र ग्रन्थ व्यासभाष्य की सुन्दर टीका है। अन्य आचार्यों में योग वार्तिक तथा योग सारसंग्रह के रचयिता विज्ञानभिक्षु, पातञ्जलरहस्य के रचयिता राघवानन्द सरस्वती, राजमार्तण्ड के रचयिता भोज, वृत्ति के रचयिता भावागणेश, मणिप्रभा के प्रणेता रामानन्द यति, योग चन्द्रिका के लेखक अनन्त पण्डित, योगसुधाकर के रचयिता सदाशिव सरस्वती, नागोजि भट्ट आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि इस युग में टीकाओं का ही बाहुल्य रहा। दर्शन साहित्य के इतिहास में इसे टीकाकाल कहना अनुचित न होगा।

इस युग में मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में भी पर्याप्त कार्य हुआ। कुमारिल भट्ट को ही इस युग का स्तम्भ मानना चाहिए। ये शंकराचार्यजी के पूर्ववर्ती थे। इन्होंने बौद्ध धर्म को दबाकर हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका आदि। इनके शिष्यों में मण्डनमिश्र (आठवीं शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विधि विवेक, भावना विवेक, विभ्रम-विवेक आदि की रचना की। उम्वेक दूसरे महत्वपूर्ण शिष्य थे। इन्होंने कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की टीकायें कीं जिनमें श्लोक वार्तिक की तात्पर्य टीका अधिक प्रसिद्ध है। भट्ट सिद्धान्त के पोषकों एवं उनके टीकाकारों में पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य तथा खण्डदेव अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन में नवप्राण फूँकनेवाले श्री प्रभाकर मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि ये कुमारिल भट्ट को अपना गुरु मानते थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर ही कुमारिल भट्ट ने इन्हें गुरु की उपाधि प्रदान की थी और तब से इनका मत गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कुछ लोग इन्हें कुमारिल का पूर्ववर्ती मानते हैं। पूर्ववर्ती शताब्दी इनका समय माना जाता है। गुरुमत के आचार्यों में शालिकनाथ, भवनाथ, मुरारिमिश्र नन्दीश्वर आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शन को विश्व में गौरव प्रदान करने का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही दिया जा सकता है। वेदान्त दर्शन का सूत्रपात बहुत प्राचीन समय में ही हो चुका था और महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना करके इसकी प्रतिष्ठा की थी। विचाराधीन काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में अपने-अपने

मत का प्रतिपादन किया। प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'पूर्व मध्यकालीन भारत' में इसका पूर्ण विवेचन करते हुए आचार्यों, उनके भाष्य तथा मत का खाका इस प्रकार खींचा है—

नाम	भाष्य	मत
१ शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)	शारीरिक भाष्य	अद्वैत
२ भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३ रामानुज (११४० ई०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४ आनन्दतीर्थ (१ ९८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५ निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत

उपरोक्त शाखा के अनेक समर्थक आचार्य हुए और उन्होंने अपने भाष्य मत को आगे बढ़ाया। फलतः बड़े बड़े दर्शन ग्रन्थों की रचना हुई जिससे इस दर्शन की उन्नति हुई।

उपयोगी साहित्य

कोश—ललित साहित्य के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में पूर्व मध्यकाल में पर्याप्त कार्य हुआ था। साहित्य-सृजन के लिए कोश का बहुत बड़ा महत्व है अतः पहले इसका ही उल्लेख आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखनेवाला लगभग आठवीं शताब्दी में विक्रम की सभा के नवरत्न अमरसिंह द्वारा रचित 'अमरकोश' सम्भवतः अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। तत्पश्चात् पुरुषोत्तमदेव ने त्रिकाण्ड शेष और हारावली नामक शब्दकोशों की रचना की। इनके अतिरिक्त कोशकारों में अनेकार्थ समुच्चय के रचयिता शाश्वत, अभिधान रत्नमाला के प्रणेता हलायुध, वैजयन्ती के रचयिता यादव प्रकाश तथा अभिधानचिन्तामणि और देशी नाममाला के लेखक हेमचन्द्र अधिक विख्यात हैं।

व्याकरण—व्याकरण ग्रन्थों की रचना भी इस काल में विशेष रूप से हुई। पाणिनि की अष्टाध्यायी की प्रतिष्ठा प्राचीन समय में स्थापित हो चुकी थी और यही संस्कृत व्याकरण का प्राण बनकर आज तक प्रचलित है। किन्तु उक्त ग्रन्थ की रचना के पश्चात् संस्कृत में अनेक नये शब्दों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्याख्या आवश्यक थी। अतः विचाराधीन काल में कुछ वैयाकरणियों ने मौलिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना की। जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के निकट पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका काशिका वृत्ति लिखी और उक्त टीका की बौद्ध पण्डितजिनेन्द्र बुद्धि ने न्यास के नाम से टीका लिखा। इसके अन्य बौद्ध विद्वान् शरणदेव ने ११७२ ई० में दुर्घटवृत्ति नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। किन्तु उक्त ग्रन्थों की उपयोगिता मौलिक विधानों तक ही सीमित थी सर्वसाधारण उनसे लाभान्वित नहीं हो सकते थे। अतः कुछ विद्वानों ने अन्य ग्रन्थों की रचना कर इस अभाव को दूर करने का सफल प्रयास किया। पाणिनीय व्याकरण के समय में पाणिनीय तथा अन्य सम्प्रदायों का जन्म हो चुका था किन्तु इन नये व्याकरणों का प्रणयन कर नया मार्ग प्रशस्त किया। ६०० ई० के लगभग चन्द्रगोमिन ने चान्द्र व्याकरण की रचना की और इसपर स्वयं टीका भी लिखी। बौद्ध भिक्षु काश्यप ने बालावबोधन नाम से १२०० ई० में एक ग्रन्थ लिखा। इस ओर बौद्धों के अतिरिक्त जैनियों ने भी उत्साह प्रदर्शित किया। लिखे न जिनेन्द्र व्याकरण शाकटायन ने शब्दानुशासन व्याकरण ११ ० ई० में क्रमदीश्वर ने संक्षिप्त

सार और १२५० ई० में बोपदेव ने मुग्धबोध व्याकरण लिखा। संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में भी व्याकरण विचाराधीन युग में लिखे गये जिनमें चण्ड का प्राकृत लक्षण, जैनाचार्य हेमचन्द्र ने उणादि सूत्र वृत्ति और लक्ष्मीधर का शम्भु रहस्य आदि उल्लेखनीय है।

आयुर्वेद—व्याकरण की भाँति आयुर्वेद का क्षेत्र भी उक्त काल में पुष्पित और पल्लवित हुआ। धन्वन्तरि इस विद्या के आदि आचार्य माने जाते हैं। आत्रेय काश्यप, हारीत अग्निवेश आदि प्राचीन ऋषि सभी इस विद्या में पारंगत स्वीकार किये जाते हैं। चरक का चरक संहिता इस विद्या का महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसकी टीका विचाराधीन युग में लगभग ८०० ई० में अरबी भाषा में हुई। सुश्रुत द्वारा विरचित सुश्रुत संहिता की प्रसिद्धि नवीं शताब्दी में कम्बोडिया से लेकर अरब तक फैली थी। चक्रपाणि दत्त ने उक्त ग्रंथ की ११वीं शताब्दी में टीका लिखी। वृद्ध वाग्भट ने अष्टांग हृदय और अष्टांग हृदय संहिता दो ग्रंथों की रचना की। माधवकर ने आठवीं तथा नवीं शताब्दी में रोगविनिश्चय का प्रणयन किया जो माधवनिदान के नाम से विख्यात है। सिद्धियोग या वृन्दमाधव के प्रणेता वृन्द का भी उदय इसी काल में हुआ था जो निदान का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। सन् १०६० ई० में चक्रपाणिदत्त ने चरक और सुश्रुत पर टीका लिखी और *चिकित्सासार संग्रह* नामक एक मौलिक रचना भी की। १२०० ई० के निकट शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधर संहिता' और १२२४ ई० में भिल्हण ने चिकित्सामृत की रचना की। बोपदेव ने इस ग्रंथ की टीका लिखी। ७वीं या ८वीं शताब्दी में नागार्जुन ने रस रत्नाकर' लिखा। इसी काल में लगभग १२०० ई० में रसार्णव रचा गया। नित्यनाथ ने रसरत्नाकर रामचन्द्र ने रसेन्द्र चिन्तामणि १०७५ ई० में सुरेश्वर ने शब्द प्रदीप' की रचना की। मदनपाल ने मदन निघण्टु लिखा। इन ग्रंथों के अतिरिक्त इन आचार्यों ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का अनुसंधान किया और विश्व को अद्भुत देन दी। त्रिदोषसिद्धांत, नाड़ी विज्ञान शल्य चिकित्सा और रसेश्वर के सिद्धान्त विशेषकर उल्लेखनीय हैं जिन्हें विश्व ने भारत से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त पारा भस्म बनाने की प्रक्रिया अर्थात् आलकेमी का अनुसंधान भी हुआ था जिसका विचाराधीन युग में बड़ी चलन थी।

विभिन्न शास्त्र—संगीतशास्त्र का प्रारम्भ सामवेद से माना जाता है। भरत का नाट्य शास्त्र संगीतशास्त्र का आदि ग्रंथ माना जाता है। विचाराधीन युग में भी इस क्षेत्र में कई ग्रंथ लिखे गये। शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर का प्रणयन किया। दामोदरगुप्त ने संगीत दर्पण लिखा। इन ग्रंथों के अतिरिक्त संगीतशास्त्र में अन्यान्य ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है किन्तु अभाग्यवश वे रचनायें अब तक प्राप्त नहीं हो सकीं।

संगीतशास्त्र के पश्चात् जब हम कामशास्त्र पर दृष्टिपात करते हैं तो हम इसमें अन्य क्षेत्रों की भाँति ही प्रगति मिलती है। वात्स्यायन इस विषय के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। ज्योतिरीश्वर ने पंच सायक नामक ग्रंथ की रचना इसी युग में की। दामोदरगुप्त ने कुट्टनीमत्त जयदेव ने रतिमंजरी तथा कल्याणमल्ल ने अनंगरंग लिखा। नागार्जुन ने रतिशास्त्र नामक ग्रंथ का प्रणयन किया।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में भी अधिक उन्नति हुई। कामन्दकी ने नीतिसार लिखा। दसवीं शताब्दी में 'नीतिवाक्यामृत' की रचना सोमदेवसूरि ने की। हेमचन्द्र ने लघु अर्हन नीति' का प्रणयन राजनीतिशास्त्र पर किया। भोज ने 'युक्तिकल्पतरु

और चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' की रचना इसी युग में की। इन ग्रंथों के अतिरिक्त अर्थ और नीतिशास्त्र की बहुत-सी बातें तत्कालीन काव्यशास्त्रों में बिखरी पड़ी हैं। माघ, किरातार्जुनीय, दशकुमार चरित तथा मुद्राराक्षस इसके लिये उल्लेखनीय हैं।

पशुशास्त्र में भी कई ग्रंथ इस युग में रचे गये। हस्ति चिकित्सा के विषय में आचार्य पालकाप्य को ही माना जाता है जिन्होंने 'हस्त्यायुर्वेद' या 'गजायुर्वेद' ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'गजचिकित्सा', 'गज दर्पण' तथा 'गज परीक्षा' की रचना भी आप ही द्वारा मानी जाती है। नारायण ने 'मातंग लीला' और बृहस्पति ने 'गज लक्षण' तथा 'गोवैद्य शास्त्र' लिखा। अश्व चिकित्सा में शालिहोत्र ने 'शालिहोत्र शास्त्र' तथा 'अश्वतन्त्र' ग्रंथ लिखा। गण ने 'अश्वायुर्वेद', जयदत्त ने 'अश्ववैद्यक', वर्धमान ने 'योगमञ्जरी', नकुल ने 'अश्वचिकित्सा', भोज ने 'शालिहोत्र', मल्लिनाथ का 'हय लीलावती' की रचना पूर्वमध्यकालीन मानी जाती है। इन पशु चिकित्सा के साथ साथ पशु विज्ञान और कृषिशास्त्र का भी अध्ययन हमारे आचार्यों ने इस युग में किया और कई एक ग्रंथ भी इन्हीं विषयों पर लिखे। जन पंडित हंसदेव ने 'मृगपक्षि शास्त्र' की रचना की। मृगयाशास्त्र पर भी अन्यान्य रचनायें हुईं जिनकी उपलब्धि दुर्भाग्यवश आज नहीं है।

इन शास्त्रों के अतिरिक्त रत्नशास्त्र, चौर्यशास्त्र, धातु विज्ञान, भवन निर्माण शास्त्र, शिल्प शास्त्र आदि में भी ग्रंथ विचाराधीन युग में लिखे गये। विमान बनाने की कला पर राजा भोज का 'समरांगण सूत्रधार' नामक ग्रंथ पाया जाता है। 'विमान विद्या' और 'विमान लक्षण' नामक दो अन्य ग्रंथों की भी उपलब्धि होती है। मूर्ति निर्माण कला में भी कई ग्रंथ पाये गये हैं जिनमें तत्सम्बन्धी कला पर प्रकाश डाला गया है। 'नौ शास्त्र' ग्रन्थ नौ निर्माण-कला को स्पष्ट करता है।

गणित—गणित शास्त्र में भी भारत बढ़ा हुआ था और इसी ने पाश्चात्य देशों को गणित सम्बन्धी विशेष बातें बताईं। अंक क्रम का विकास जिसे दशमलव पद्धति कहते हैं हमारे आचार्यों के मस्तिष्क की वस्तु है। सर्वप्रथम यह पद्धति हमारे यहीं से उत्पन्न हुई। गणित शास्त्र के अनेक विभागों—अंकगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, चलनगणित, स्थितिशास्त्र (स्टटिक्स) तथा गति शास्त्र (डायनिमिक्स) में हमारे विद्वान पारंगत थे। वराहमिहिर, श्रीधराचार्य और भास्कराचार्य के ग्रंथों से अंकगणित का ज्ञान ज्ञात होता है जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' में गणिताध्याय तथा कुट्टकाध्याय एवं सिद्धान्त शिरोमणि में लीलावती खण्ड में इस गणित का अनुशीलन किया गया है। बीजगणित का सूत्रपात हमारे यहाँ पहले से ही हो गया था और इस युग में हमारे आचार्य इस गणित से भिज्ञ थे। इसे यूनानियों की देन कहना मिथ्या है। रेखागणित का प्रयोग वैदिक काल में ही यज्ञ की वेदी का निर्माण करने में किया जाता था। पाइथागोरस का सिद्धान्त योरप से पहले ही हमारे यहाँ प्रचलित था। त्रिकोणमिति में वाचस्पति ने चापीय धनक्षेत्र निकालने का साधन मौलिक रूप में प्रतिपादित किया है। भास्कराचार्य ने न्यूटन से बहुत पहले ही चलन गणित का प्रयोग ज्योतिष में किया था। ग्रहमण्डल तथा भूगोल सम्बन्धी गति शास्त्र का भी परिचय भारतीयों को पहले से प्राप्त था।

ज्योतिष शास्त्र—प्राचीन युग में ज्योतिष शास्त्र में भी खूब प्रगति हुई थी। आर्यभट्ट ने विचाराधीन युग के पहले दो ज्योतिष ग्रंथों की रचना की थी। उसके

बाद वाराहमिहिर का नाम आता है। जिसने पंचसिद्धांतिका बृहत्संहिता और बृहज्जातक तीन ग्रंथों की रचना कर ज्योतिष शास्त्र में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० में लगभग ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त तथा ६ ई० में खण्डखाद्यक का प्रणयन किया। उसने पृथ्वी के घूमने का सिद्धान्त निकाला जिसे यूरोप के विद्वानों ने बहुत समय पश्चात् मालूम किया। लगभग ६५० ई० में लल्ल ने लल्ल सिद्धान्त तथा शिष्यधी वृद्धितन्त्र की रचना की। भास्कराचार्य ने इनके ग्रंथ की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त ९०८ ई० के आस पास चतुर्वेद पृथूदक स्वामी ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की टीका लिखी। १०३८ ई० में लगभग सिद्धान्त शेखर और धीकोटि की टीका श्रीपति ने तथा वरुण ने खण्ड खाद्यक की टीका की। १० ० ई० में भोज ने राज मृगांक, शतानन्द ने भास्वती और ब्रह्मदेव ने करण प्रकाश लिखा। भास्कराचार्य का उदय इस काल के अंतिम दिनों में हुआ। आपने सिद्धान्त शिरोमणि नामक ग्रंथ की रचना की जो ज्योतिष शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त शिरोमणि करण कुतूहल करणकेशरी आदि कई ग्रंथों का प्रणयन आपने किया।

फलित ज्योतिष—ज्योतिष में फलित ज्योतिष में भी कई ग्रंथों की रचना इस युग में हुई। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता और बृहज्जातक नामक दो ग्रंथों की रचना की। पृथुयशा ने होरापट पंचाशिका नामक ग्रंथ लिखा जिसकी टीका दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने की। १०३९ ई० में श्रीपति ने रत्नमाला और जातकपद्धति नाम के दो ग्रंथ लिखे। इसके बाद इस ज्योतिष की निरंतर प्रगति होती रही।

धर्म साहित्य—धर्म साहित्य में हमारे प्राचीन आचार्यों ने इतनी रचना कर दी कि उसके बाद के आचार्यों के लिए लिखने योग्य कोई क्षेत्र शेष ही नहीं गया था। अतः विचाराधीन युग में विद्वानों ने उन्हीं धर्म ग्रंथों का अध्ययन किया और उन पर भाष्य लिखे। प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि तथा टीकाकार विज्ञानेश्वर ने मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका इसी युग में की। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा तथा जीमूतवाहन का दाय भाग इसी युग की देन है। इनके अतिरिक्त असहाय विश्व रूप, धारेश्वर भावदेवभट्ट देवनभट्ट आदि प्रकाण्ड विद्वानों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिन्होंने अपनी टीकाओं और भाष्यों द्वारा धर्म साहित्य के कोष को बढ़ाया।

व्याख्याकार—पूर्व मध्यकालीन युग के व्याख्याकारों में असहाय का नाम प्रमुख है। इन्होंने मनुस्मृति पर भाष्य लिखा था। सम्भवतः इन्होंने गौतम धर्मसूत्र की भी टीका की थी। भर्तृयज्ञ ने कात्यायन श्रौत सूत्र की टीका की। पारस्कर गृह्यसूत्र का सबसे प्राचीन टीकाकार इन्हीं को माना जाता है। विश्वरूप इस काल के मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपने याज्ञवल्क्य स्मृति पर बाल क्रीड़ा नामक टीका लिखी। भारुचि नामक टीकाकार का समय इसी काल में था जिन्होंने सम्भवतः विष्णु धर्मसूत्र पर कई टीकाएँ लिखी। मेधातिथि ने मनुस्मृति पर बहुत गम्भीर भाष्य लिखा है। इनकी अन्यतम रचना स्मृति विवेक मानी जाती है। धारेश्वर भोजदेव ने सा साहित्यिक ग्रंथ शृंगार प्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण के अतिरिक्त ज्योतिष में राजमृगांक और धर्मशास्त्र में राजमार्तण्ड का प्रणयन किया। विज्ञानेश्वर इस युग के धर्म साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। इनकी मिताक्षरा तत्कालीन युग की अपूर्व देन है। यद्यपि यह याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका है किन्तु विद्वान लेखक ने अपनी लेखनी में ऐसी वस्तुओं का भी समावेश कर लिया है जो न्यायशास्त्र सम्बन्धी सामग्री

की मौलिकता प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त गोविन्दराज, लक्ष्मीधर, जीमूतवाहन, अपरार्क, अनिरुद्ध, बल्लालसेन, देवणभट्ट, हरदत्त तथा हेमाद्रि इस युग के महत्वपूर्ण विद्वान हैं। गोविन्दराज ने 'स्मृति मंजरी', लक्ष्मीधर ने 'कल्पतरु', जीमूतवाहन ने 'दायभाग', अपरार्क ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'अपरार्क-याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र निबन्ध' नामक टीका, अनिरुद्ध ने 'हारलता', बल्लालसेन ने 'प्रतिष्ठा सागर' तथा 'दान सागर', देवणभट्ट ने 'स्मृति चन्द्रिका' तथा हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' का प्रणयन किया।

शिक्षा—विचाराधीन युग में शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया गया था। वैदिक काल की शिक्षा प्रथा आगे चलकर परिवर्तित हो गया। बौद्धकाल में विहारों और मठों में ही शिक्षा का प्रबन्ध था। धीरे धीरे इन मठों ने शिक्षा-संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। इन संस्थाओं में प्राकृतिक भाषा के बदले संस्कृत का पुनः प्रचलन हुआ। प्रारम्भिक पाठशालाओं में हिन्दी का स्थान मिल गया परन्तु संस्कृत की प्रधानता पूर्ववत बनी रही। साहित्य में संस्कृत को स्थान मिल ही चुका था। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की प्रधानता इसी युग में हुई थी। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी जहाँ ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, दर्शन आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इन विश्वविद्यालयों में चीन, पूर्वी द्वीपसमूह, लंका, तिब्बत आदि दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी अध्ययन के हेतु आते थे। इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के रहने, भोजन, कपड़ा आदि की व्यवस्था होती थी जिसका खर्च राजाओं और धनिकों के द्वारा विद्यालयों को दिये दानों से चलता था। इन विद्यालयों से निकलने पर विद्यार्थियों की सर्वसाधारण में बड़ी प्रतिष्ठा की जाती थी। उदन्तपुरी का विश्वविद्यालय भी इसी युग में स्थापित था।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षायें भी दी जाती थीं। आयुर्वेद के अन्यान्य विषयों का अध्ययन प्रायोगिक ढंग से किया जाता था। अनेकानेक चिकित्साओं का अन्वेषण प्रयोग करके किया जाता था। अध्यापक विद्यार्थियों को इन चिकित्साओं का ज्ञान प्रायोगिक ढंग पर ही सिखलाया करते थे। चीर फाड़ की शिक्षा भी इस युग में उन्नति पर थी। अरब वालों ने यह विद्या हमारे यहाँ से सीखी। युद्ध शिक्षा, व्यायाम शिक्षा आदि का भी अध्ययन प्रायोगिक ढंग पर किया जाता था। इस प्रकार शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में स्थिति सन्तोषजनक थी। शिक्षा का प्रबन्ध उत्तम था।

पूर्व मध्यकालीन कला—भारतीय कला के इतिहास में गुप्तकालीन कला महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके पश्चात पूर्व मध्यकालीन कला का आविर्भाव होता है। यह कला भी भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्व मध्यकालीन कला पर गुप्तकालीन कला का अधिक प्रभाव है किन्तु यह कथन कहाँ तक सत्य है इस पर विद्वानों को भ्रम है। सत्य तो यह है कि यह कला एक नवीन पथ प्रशस्त करती है और अपनी शैली का नवीन आदर्श प्रस्तुत करती है। यह गुप्तकालीन कला से भिन्न है। अजन्ता एवं एलोरा में सबसे पहले इस कला का प्रस्फुटन होता है। धीरे धीरे इस कला में कुछ नवीनता आने लगती है और थोड़े ही समय पश्चात् इस कला की प्रारम्भिक कला शैली में पर्याप्त परिवर्तन आ जाता है। एलीफेन्टा, भुवनेश्वर तथा खजुराहो आदि में इस कला का प्रदर्शन होता है। इस काल में शिल्प शास्त्र में वर्णित मानमान का अक्षरशः प्रतिपादन हुआ है। इस शास्त्र में मूर्तियों की लम्बाई, चौड़ाई, अंग, मुद्रा आदि का समावेश है जिसके अनुसार निर्मित मूर्ति उपयुक्त हो सकती है। इसका प्रयोग दक्षिण भारत की कांस्य मूर्तियों में स्पष्ट मिलता है। गुप्तकालीन वास्तु कला का स्वरूप ही इस काल में

पूर्णतया परिवर्तित हो गया। उसका साधारण रूप दुरूह बन गया और शिल्प शास्त्र का प्रयोग भी इसमें होने लगा। वास्तु कला का क्षेत्र संकुचित न रहकर विशाल हो गया। मूर्ति कला, जिसका स्वतंत्र एक पृथक क्षेत्र था वह इस कला में घुल मिल गया। इसकी कोई स्वतंत्र अवस्था नहीं रह गई। इस प्रकार वास्तु कला का क्षेत्र अधिक व्यापक बन गया। मन्दिर तथा भवन बनाने वाले कारीगर वास्तु शास्त्र के नियमों द्वारा काम करते थे। इस वास्तु विद्या के प्रतिष्ठापक विश्वकर्मा माने जाते हैं जिनके नियमों पर चलकर ही मंदिर तथा भवन के निर्माण प्रत्येक कारीगर के लिये आवश्यक था। इस प्रकार जिन हिन्दू मंदिरों का निर्माण हुआ उनका रूप साधारण होते हुए भी वास्तु कला की विधियों से प्रतिपादित हुआ। विशेषता यह थी कि इस काल में दो प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़ने के लिये सीमेण्ट का प्रयोग न करके एक वैज्ञानिक ढंग का प्रयोग किया जाता था जिससे दोनों टुकड़े सध जाते थे और उनका जोड़ भी पक्का होता था। प्रस्तर के टुकड़े इसी प्रकार रखे जाते थे जिससे उनका भार साथ पृथ्वी पर पड़ता था। मंदिर के समीप उन्हीं प्रस्तरों को लाया जाता था जो आकार में नाप के उपयुक्त होते थे। कभी कभी इन प्रस्तरों को चित्रित कर मंदिर में लगाया जाता था अथवा मंदिर के निर्माण के पश्चात उनमें कारीगरी की जाती थी। इस कारीगरी के कई उदाहरण आज भी उपलब्ध हुए हैं।

गुफा कला—गुफा निर्माण की जो नई शैली इस काल में प्रचलित हुई वह पहाड़ियों को काटकर मठ अथवा चैत्य का निर्माण था। इस ढंग के इमारतों में ही देवी-देवों की मूर्तियों की स्थापना की जाती थी अलग इसका कोई प्रबन्ध नहीं होता था। यह कला इसी काल में उत्तरोत्तर प्रगति करती गई जिसकी तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं (१) एलोरा विधि (२) एलीफेंटा विधि और (३) पल्लव विधि। एलोरा विधि में खोदकर एक कमरा निर्माण किया जाता था और उसमें ब्राह्मण तथा जैन मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इस गुफा में एक बरामदा बना होता है जिसके अन्त में एक कोठरी निर्मित होती थी। एलीफेंटा गुफा में शिव की प्रतिमायें चट्टान को काटकर गुफा के साथ ही बनाई जाती हैं। यह ब्राह्मण गुफा है। यह एक वास्तविक मंदिर के रूप में होता है। मद्दा ढाँचा न होकर इसमें बारीकी की जाती है। एलीफेंटा की गुफा में सजावट और स्वच्छता का विशेष ध्यान दिया गया जिससे उसमें निर्मित प्रतिमाओं का सौन्दर्य निखर सा गया है। यदि एलीफेंटा की गुफा प्रतिमा निर्माण के दृष्टिकोण से प्रसिद्ध है तो मन्दिर की विशालता के विचार से एलोरा का कैलाश मंदिर गुफा निर्माणकला का आदर्श है। साधारणतया गुफाओं का निर्माण ऊँची पहाड़ियों पर होता था जिनमें तीन ओर से चट्टान को काटकर गुफा बनाई जाती थी तथा उसका आकार मंदिर का बनाया जाता था। किन्तु कैलाश मंदिर के निर्माण में इस शैली का प्रयोग न कर एक दूसरी शैली का आधार लिया गया। इसमें कलाकारों ने पहाड़ को सिर से काटना प्रारम्भ किया। ऊपरी भाग में चौकोर भाग काटकर मध्य के भाग से सतह तक मन्दिर बनाया गया। इस प्रकार गुफा निर्माण की कई शैलियाँ बनती गई और इनका उन्नत रूप सामने आता गया। कालान्तर में इन गुफाओं का रूप इतना परिवर्तित हो गया कि इन्हें गुफा न कहकर मंदिर कहा जाने लगा।

इन मंदिरों के निर्माण में कई एक शैलियों का आविर्भाव हुआ जिनमें किसी अंश तक तादात्म्य होने पर भी भिन्नता थी। इस प्रकार दक्षिण भारत की वास्तुकला उत्तरी भारत की वास्तुकला से भिन्न है। इस भिन्नता के आधार पर दक्षिण की

वास्तुकला को द्रविड शैली और उत्तरी भारत की शैली को आर्य शैली के नाम से पुकारा गया।

द्रविड शैली—इस शैली में बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर एक ही पत्थर में गुफा तैयार की जाती थी। इसके उदाहरण अजन्ता, एलोरा और एलीफेंटा में देखने को मिलते हैं। इन गुफाओं के उन्नत रूप को मंदिर कहा जाता है। यद्यपि मन्दिरों के परिवर्तन में तत्कालीन गुफा निर्माण का कोई तादात्म्य स्पष्ट रूप से नहीं दिख पड़ता किन्तु पल्लव शैली द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है और उक्त वास्तु की पुष्टि हो जाती है।

आर्य शैली—उत्तरी भारत में गुफाओं का प्रारम्भ से ही अभाव सा रहा। इसी कारण यहाँ की वास्तुकला की प्रगति में गुफा निर्माण-कला का महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। यहाँ स्तूप और मठों तथा विहारों का ही प्रधानता रही। आर्य शैली के मन्दिरों की विशेषता यह थी कि यहाँ के मंदिरों के शिखर विकसित रूप में होते थे। इस शैली का उद्भव स्तूपों में हुआ। ये स्तूप एक ऊँचे चबूतरे पर अवस्थित किये जाते थे और उनका आकार गुम्बज की भाँति होता था। गुम्बज के सिर पर एक चौकोर प्रस्तर लगा होता था जिसे हर्मिका कहते थे। उसका ऊपरी भाग छत्र कहलाता था। स्तूपों का यही रूप इस काल में मन्दिर के आकार में आ गया। ये मन्दिर दक्षिण भारत की भाँति प्रस्तरों से निर्मित नहीं होते थे अपितु ईंट तथा प्रस्तर के टुकड़ों से बनते थे जिसके उदाहरण भितरगाँव तथा नालन्दा के मंदिर हैं। तत्कालीन मन्दिरों को मुसलमान आक्रामकों ने विनष्ट कर उन्हीं ईंटों द्वारा मस्जिदों का निर्माण करा दिया जिससे वे अधिक संख्या में आज प्राप्त नहीं होते। पहाड़पुर में दसवीं शताब्दी तक के ईंट के बने स्तूप प्राप्त हुए हैं। इस काल में स्तूपों की रचना ईंटों के अतिरिक्त काँसे और पक्की मिट्टी द्वारा भी होती थी। मूर्तिपूजा का प्रचलन इस काल में अधिक था इसी कारण मंदिरों का निर्माण खूब हुआ। मंदिरों को नागर या आर्य शैली के कहते हैं। इन मन्दिरों के गर्भगृह के ऊपर शिखर होते थे जो ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते थे। इसके उदाहरण खजुराहो का मंदिर, उनाओ का मन्दिर, कांगड़ा का बैजनाथ मंदिर, कुल्लू का विश्वेश्वर मंदिर, राजपूताना का वैष्णव मन्दिर तथा बंगाल के अनेक मन्दिर हैं। पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ में जिस प्रकार मन्दिरों का निर्माण हुआ उसकी प्रगति धीरे धीरे होती रही। इससे शैली में बारीकी आती गई।

उड़ीसा शैली—इसको आर्य तथा द्रविड शैली का मिला जुला रूप कहना उचित होगा। यह शैली भुवनेश्वर के नाम से प्रख्यात है। उड़ीसा की राजधानी होने के कारण भुवनेश्वर पूर्व मध्यकाल में उतना ही प्रसिद्ध हो गया जितना प्राचीनकाल में काशी था। भुवनेश्वर में यात्रियों ने बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया जिन्हें आज भी देखा जा सकता है। इन मंदिरों की विशेषता शिखर निर्माण में था। शिखर के अन्तिम सिर पर मेरु की आकृति बनी होती है और उसके बाद आमलक का बड़ा-सा पत्थर चक्र की भाँति बना रहता है। इन मन्दिरों में अलंकारिता का विशेष ध्यान दिया जाता है। यहाँ के मंदिर विशाल होते हैं। इनमें लिंगराज नामक मन्दिर प्रधान माना जाता है।

खजुराहो शैली—चन्देल राजाओं की राजधानी होने के कारण खजुराहो का महत्व कला के क्षेत्र में काफी बढ़ गया। उड़ीसा के बाद इसी शैली की प्रधानता रही। यहाँ पर शैव वैष्णव व जैन लोगों ने मंदिर निर्माण में काफी उत्साह दिखलाया।

कन्दरिया महादेव का हिन्दू मन्दिर सबसे सुन्दर बनाया गया था। इसमें तीन स्तम्भ युक्त मण्डप हैं। सभी मण्डपों पर कलशाकार गुम्बज निर्मित हैं जिनके भीतरी भाग में कमल बना है। शिखर सबसे ऊपरी भाग में है जो कलश के स्थान पर सुन्दर प्रस्तरों से विभूषित है। गर्भगृह के ऊपर चौरस शिखर का निर्माण है जो आर्य शैली के आकार पर बना है। इसमें मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बज प्रधान शिखर के चारों ओर बने हैं। ये शिखर पच्चीकारी द्वारा विशेष अलंकृत बना दिये गये हैं। इस शैली के उदाहरण चतुर्भुज वैष्णव तथा आदिनाथ के जैन मन्दिर हैं। ये मन्दिर बहुत ऊँचे बने हैं। इन मन्दिरों में हवा तथा रोशनी का समुचित प्रबन्ध किया गया है। दीवारों में ताख निर्मित होते थे जिनमें मूर्तियाँ स्थिर की जाती थीं।

भवन निर्माण—पूर्व मध्यकाल में धर्म के पुनीत क्षेत्र के अतिरिक्त लोगों का ध्यान भवन निर्माण की ओर भी कम न रहा। मठ, शिवालय, भवन आदि का निर्माण कला के दृष्टिकोण से बहुत उत्तम कोटि का था। मकान कई मंजिल के बनते थे। तत्कालीन एलोरा के मठ आज भी उस काल की कला को प्रदर्शित कर रहा है। नालन्दा का विश्वविद्यालय इसी काल की वस्तु है। आधुनिक खुदाइयों में नालन्दा के भवनों का भान होता है। ये भवन कई मंजिल के होते थे और इनकी संख्या तथा आकार भी बहुत बड़ा था। यहाँ विद्यार्थियों के पढ़ने, रहने तथा सोने के सुन्दर भवन का निर्माण हुआ था।

तक्षण कला—इस कला का प्रादुर्भाव-काल बहुत प्राचीन है। गुप्तकाल में यह कला अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गई थी। इसी कला में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर पूर्व मध्यकाल में इसका विकास हुआ। इस काल में तान्त्रिक मतों का काफी प्रचार हुआ जिससे उसका प्रभाव तत्कालीन कला पर पड़ा। बौद्ध तथा हिन्दू प्रतिमाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी में प्रतिमाओं का जो रूप था उसमें इस काल तक आते आते गोलापन का आकार प्रवेश कर गया। इसमें कोमलता के साथ साथ महापुरुषों का लक्षण भी आने लगा।

इस कला में स्थान और समय के अनुसार कई शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। बिहार, बंगाल, राजपूताना, गुजरात, उड़ीसा आदि स्थानों पर भिन्न भिन्न समय पर भिन्न शैलियों का जन्म हुआ। पश्चिम भारत में पश्चिमी शैली का उद्भव हुआ जिसमें गुजराती और राजपूत दो स्कूल आते हैं। गुजराती स्कूल में प्रतिमाओं का स्वरूप नवीन हो गया। शरीर तथा अंग को धनुषाकार में निर्मित करना इसी स्कूल की विशेषता है। राजपूत स्कूल में प्राचीनता लिये हुए प्रतिमाओं का सृजन हुआ जिनमें यौवन का प्रस्फुटन रहता था। इसके अतिरिक्त चन्देल तथा हैहय स्कूलों का समावेश होता है जिनमें मनोविज्ञान का प्राधान्य है। इसमें आकृतियों का स्वाभाविक गुण समाविष्ट होता है। मनुष्य की मूर्ति के साथ साथ पशुओं की भी आकृतियाँ इस स्कूल में बनीं। उत्तरी भारत में सारनाथ शैली की प्रतिमायें आती हैं जिनमें चुनार प्रस्तर प्रयुक्त होते हैं। बिहार और बंगाल में राष्ट्रीय भावना की संकीर्णता ने एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसे पूर्व भारतीय शैली या पाल स्कूल कहते हैं। इस शैली की विशेषता यह थी कि इसमें चिकने काले प्रस्तरों का प्रयोग होता रहा। इसका समय ८०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है। इन चार सौ वर्षों तक इस कला में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ और न किसी व्यक्ति विशेष का प्रभाव ही रहा। कारण यह था कि इस युग में बौद्ध, जैन और हिन्दू देवी देवताओं का स्वरूप निखरा हुआ न होकर निश्चित हो गया था जिससे परिवर्तन का कोई साधन ही नहीं रह गया था।

इस शैली में मूर्तियों का निर्माण चिकने काले प्रस्तरों, पीतल अथवा अष्टधातु से होता था तथा साधनमाला के नियमानुसार उनकी बनावट पर ध्यान दिया जाता था। स्त्री पुरुष दोनों की मांस-पेशियाँ सुगठित तथा सुन्दर होती थीं। इनमें हस्तकला की अच्छी कारीगरी की जाती थी जो इस काल में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस शैली में खड़ी तथा बैठी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं जिन्हें कमलासन पर बिठलाया जाता था। यह प्रथा आठवीं शताब्दी में ही थी किन्तु नवीं तथा १०वीं सदी में काले पत्थरों पर स्वतन्त्र प्रतिमायें बनने लगीं जिसमें बीच में प्रधान मूर्ति तथा चारों ओर देवता कमलासन पर आसीन रहते थे। पाल शैली की अधिकांश प्रतिमायें त्रिभंगी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। प्रारम्भ में इस शैली के अंतर्गत निर्मित प्रतिमाओं के चेहरे से आध्यात्मिकता प्रदर्शित होती थी किन्तु बारहवीं शताब्दी के अंत तक इन चेहरों पर लौकिकता का समावेश होता गया और अश्लीलता भी प्रकट होने लगी। मुसलमान आक्रमकों के बंगाल पर आक्रमण करने से इस कला का अवसान हो गया।

मूर्ति निर्माण—मूर्तिनिर्माण-कला की प्रगति इस युग में खूब हुई। शाक्त मत के प्रचार में शक्तियों का रूप मूर्तियों में दे दिया गया और इस प्रकार मूर्तियों के निर्माण की एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। लोगों ने चित्त-एकाग्रता का एकमात्र साधन मूर्तियों को ही माना तथा इन शक्तियों जैसे सूर्य, विष्णु, शिव, बुद्ध आदि की विभिन्नावस्था की मूर्तियें अनेक मुख अथवा अनेक हाथों के साथ सुसज्जित किया। विचाराधीन काल में मूर्तियों की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं जिनमें विभूषित होना उनके लिए वांछनीय था। प्रथम तो उनको मन्दिरों की दीवालों में निर्मित ताखों में नियमित रूप से रखा जाता था और दूसरे प्रतिमाओं के कई हाथ और मुँह बनाये जाते थे। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी होती थीं जिनके कई हाथ न दिखलाकर कुछ विशेष चिह्नों (शंख, चक्र, गदा, पद्म) की आकृतियाँ बना दी जाती थीं।

सूर्य की प्रतिमा यद्यपि गुप्तकाल में ही बननी प्रारम्भ हो गई थी किन्तु इस युग में इसकी बनावट में परिवर्तन आ गया। इस मूर्ति में दण्डी तथा पिंगल दो मूर्तियों के साथ ऊषा तथा प्रत्यूषा नामक दो देवियाँ भी जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार का उदाहरण मध्यभारत में प्राप्त हुआ है। ऐसा ही कोणार्क का विशाल सूर्य मन्दिर उड़ीसा में तैयार किया गया था। विष्णु प्रतिमाएँ इस काल में बहुत संख्या में प्राप्त होती हैं। विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं जो खड़ी तथा कमलासन पर बैठी दोनों अवस्थाओं में हैं। बलराम, वराह, वामन, मत्स्य, नरसिंह आदि की मूर्तियाँ अलग अलग तथा एक साथ बनी मिलती हैं। ११वीं शताब्दी का हैहय शासन-काल का बना एक स्तम्भ पर विष्णु के अनेक अवतारों की प्रतिमायें मिली हैं जिनमें मत्स्य, बुद्ध, वामन, कल्कि की प्रतिमायें एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। एक अन्य स्तम्भ पर कूर्म, वाराह और नरसिंह की मूर्तियाँ हैं। बंगाल में विष्णु की मूर्ति ललितासन में गरुड़ के साथ निर्मित मिली है। विष्णु मूर्ति में आयुधों (शंख, चक्र, गदा और पद्म) का भी अंकन पाया जाता है। कहीं-कहीं विष्णु और ब्रह्मा की सम्मिलित प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। विष्णुमूर्ति में चतुर्भुजी रूप ही प्रायः प्रदर्शित किया गया है।

विष्णु के साथ-साथ शाक्त मतानुसार शिव की लिंग-पूजा का भी विचाराधीन युग में अधिक प्रचार रहा। अस्तु एक मुख अथवा चतुर्मुख लिंगों की मूर्तियाँ शिव के आकार को प्रकट करने के लिए निर्मित हुईं। शिव की नृत्यमूर्ति, सदाशिव, उमा महेश्वर, कल्याण सुन्दर तथा अघोर रुद्र की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। पाल शैली में अर्धनारीश्वर की शिवमूर्ति को सौम्य रूप में स्थान दिया गया है। इस कारण शिव-पावना

की सम्मिलित प्रतिमा का प्रचार इस युग में खूब रहा। दसवीं शताब्दी के चैत्य मन्दिर में एक ऐसी ही प्रतिमा मिली है। शिव के अतिरिक्त गणेश और कार्तिकेय की भी पूजा इस युग में होती थी। [illegible] इनकी भी मूर्तियाँ अधिक संख्या में निर्मित हुईं।

इन शक्तियों के पश्चात् अन्यान्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का इस युग में सृजन हुआ। देवी प्रतिमा बहुभुजी आकृति में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त नवग्रह, गणेशानी, सप्तमातृका आदि देवियों की मूर्तियाँ भी निर्मित हुईं। राग की देवी हारिती ([illegible]), [illegible] (मनसा), शक्ति मूर्ति (षष्ठी), गंगा और यमुना की मूर्तियाँ भी पूर्व मध्यकाल में प्राप्त होती हैं। इन्द्र, कार्तिकेय, कुबेर, यम, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवता भी इस युग में प्रतिमाओं में समाविष्ट कर लिये गये थे। इन हिन्दू प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैन और बौद्ध दोनों धर्मों की प्रतिमायें भी इस युग की मिलती हैं किन्तु इनका परिमाण हिन्दू प्रतिमाओं की अपेक्षा बहुत ही कम रहा।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनके साथ यक्ष तथा यक्षिणी समाविष्ट किये गये हैं। प्रधान मूर्ति को दो मूर्तियों के बीच में बनाया गया है। इसके साथ ही इस धर्म की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जो उनकी आराध्य शक्तियाँ हैं। बौद्ध धर्म में महायान तथा वज्रयान शाखाओं में तारा, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्व, लोकेश्वर, जम्भल, वज्र आदि शक्ति प्रतिमायें मिलती हैं। कारण यह था कि बौद्ध धर्म पर हिन्दू मूर्ति पूजा का इतना पर्याप्त प्रभाव पड़ा कि बौद्धों की शक्तियाँ देवी देवताओं के नाम से पुकारी जाने लगीं और फिर उन्हें प्रतिमा के रूप में अंकित कर दिया गया। इन प्रतिमाओं का सृजन प्रस्तरों के अतिरिक्त कांस्य, ताम्र आदि धातुओं से भी हुआ जिसके प्रमाण में कई मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। मिट्टी की मूर्तियों का भी बाहुल्य है।

संगीत तथा चित्रकला—तत्कालीन प्रतिमाओं के दिग्दर्शन से उस काल की संगीत कला का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक हो जाता है। पाल शैली में पाल युग की निर्मित शिव की धातु प्रतिमा मिली है जिसमें शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। पहाड़पुर की खुदाई में नाचती हुई स्त्री की मिट्टी प्रतिमा मिली है जिससे नृत्य कला का भान होता है। मूर्तियों के साथ ढोल, मृदंग, एकतारा, [illegible], बांसुरी आदि वादनों द्वारा वादन करने का भान होता है। सामाजिक उत्सवों पर संगीत का भी आयोजन होता था। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में नृत्य, वादन और गायन तीनों का प्रचार रहा।

चित्रकला का क्षेत्र भी विचाराधीन युग में काफी उन्नतावस्था में था। गुप्तकालीन अजन्ता की चित्रकारी इस युग तक चलती रही जिसके अनुसार मन्दिरों की भित्तियों को चित्रों से सजाया जाता था। आठवीं शताब्दी में इन भित्ति चित्रों के स्थान पर छोटी आकृतियाँ निर्मित हुईं जिनका प्रयोग हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन में होता था। इनका चलन पाल राज्यों में खूब हुआ। ताड़ के पत्रों पर भी इस युग में चित्र बने। इनमें प्रज्ञापारमिता सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। तत्कालीन चित्रों का निर्माण देवताओं की आकृतियों पर हुआ। पहले काले रंग से इन चित्रों का आकार खींच लिया जाता था तत्पश्चात् लाल, नीले, हरे, पीले आदि रंगों से भर दिया जाता था। खाली स्थान को पत्र पुष्पों से चित्रित कर दिया जाता था। चित्रों के मध्य में प्रधान देवता की रचना होती थी और चारों ओर अन्य आकृतियाँ बनाई जाती थीं। इस प्रकार इस युग में चित्रों की खूब अभिवृद्धि हुई। हस्तलिखित पुस्तकों के बीच-बीच में कलाकार चित्रकला का भी निदर्शन कर अपनी कलात्मकता का परिचय दे देता था।

परिशिष्ट

(ब)

राजपूतों की उत्पत्ति

राजपूतों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मत भिन्न हैं। राजपूत स्वयं को वैदिक आर्यों से सम्बन्धित सूर्य तथा चन्द्र वंश की सन्तान बताने में गौरव का अनुभव करते हैं। राजपूतों की सभी शाखाओं ने किसी न किसी प्रकार अपना सम्बन्ध इन वंशों से स्थापित कर लिया है। हम देखते हैं कि प्रतीहारों ने अपने अभिलेखों में अपने को इक्ष्वाकुवंश या सूर्यवंश का कहा है। भोज का ग्वालियर अभिलेख जो निम्नलिखित है—

श्लाध्यस्तस्यानुजासौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये
सौमित्रिस्तीव्रदण्डः प्रतिहरणविधेय प्रतीहार आसीत ।

और बाउक के जोधपुर अभिलेख—

स्वभ्राता रामभद्रस्य प्रातिहार्यं कृतं यत ।
श्रीप्रतिहारवंशो यमतश्चोन्नतिमाप्नुयात ।।

से स्पष्टतः पता चलता है कि प्रतीहार राम के भाई लक्ष्मण की सन्तान थे। एक जनश्रुति से पता चलता है कि चन्देलों की उत्पत्ति चन्द्रमा तथा एक ब्राह्मण राघव कुमारी से हुई थी। उत्कीर्ण लेखों में भी इसी परम्परा के अनुसार नन्नुक नामक चन्देल नेता जो नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बुन्देलखण्ड के दक्षिणी हिस्से में प्रधान हो उठा था चन्द्रवंशी चन्द्रात्रेय का वंशज था। चालुक्यों की एक अनुश्रुति हारीति के कमण्डल के जल से उत्पन्न बताती है। ह्वेनसांग ने पुलकेशिन द्वितीय को क्षत्रिय बताया है। हम्मीर महाकाव्य चाहमानों या चौहानों के आदिपुरुष चाहमान को सूर्य पुत्र बताता है। पृथ्वीराज रासो में गिनाये गये राजपूतों के सभी ३६ कुल या तो सूर्य या शशि या यदु वंश से सम्बन्धित बताये गये हैं[1]—

रवि ससि जादव वंस । ककुत्स्थ परमार सदावर ।।
चाहुवान चालुक्य । छन्दक सिलार अभीयर ।।
दायमत (दोयमत) मकवान । गरुअ गोहिल गहिलपुत ।।
चापोत्कट परिहार । राव राठौर रोसजुत ।।
देवरा टाक सैंधव अनिग । यौतिक प्रतिहार दधिपट ।।
कारट्टपाल कोटपाल हुल । हरितट गौर कमा(भा)पभट ।।
धन्य पालक निकुम्भवर । राजपाल कविनीस ।।
कालछरक आदि देव । बरने वंस छत्तीस ।।

[1] टाड महोदय तथा श्री मोहनलाल रवि ससि तथा यादव वंश को भी ३६ वंशों के अन्तर्गत गिनते हैं। यही कारण है कि टाड महोदय और उनके मत के अनुयायी ३६ राजपूत कुलों को सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी या यादववंशी नहीं मानते। मोहनलाल कवि

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अभिलेख प्रशस्ति-ग्रन्थ तथा अनुश्रुतियों के अनुसार राजपूत वस्तुतः आर्यों से सम्बन्धित उच्च कुल के क्षत्रिय थे। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् तथा कुछ भारतीय इसे मानने को तैयार नहीं हैं। वे ठीक इसके विपरीत ही अर्थ लगाते हैं और कहते हैं कि कितनी शीघ्रता से ये विदेशी जातियाँ (राजपूत) भारतीय जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत आत्मसात् कर ली गईं।

राजपूत शब्द का अर्थ— राजपूत शब्द संस्कृत के राजपुत्र का विकृत रूप है। इस शब्द का प्रयोग राजपूताना के कुछ भागों में क्षत्रिय सामन्त या जागीरदार के अवैधानिक पुत्र के अर्थ में किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः शब्दों के दो प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं—अच्छे और बुरे। परन्तु बुरा अर्थ बाद का विकास होता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण शब्द प्रारम्भ में जाति व्यवस्था के सर्वोच्च वर्ग को सूचित करता था जिनका कर्तव्य था ब्रह्म या वेद को सुरक्षित रखना। समय के साथ साथ ब्राह्मणों को भोजन पकाने का भी काम करना पड़ा। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रारम्भ में ही उन्हें वेदों के पठन पाठन आदि का काम मिला था और केवल यही उनकी जीविका थी परन्तु कालान्तर में पतन होने के कारण कितने ही ब्राह्मण जो केवल जन्म से ब्राह्मण थे अनपढ़ रह गये। उन्हें भिक्षा की शरण लेनी पड़ी। प्रारम्भ में विद्वान ब्राह्मण या ऋषि भी अधिकतर भिक्षा पर ही निर्वाह करते थे। परन्तु इन दोनों में अन्तर था। पहले को तो भिखारी संज्ञा मिली परन्तु दूसरे तरह के ब्राह्मण कभी भी भिखारी नहीं कहे जाते थे। उन्हें ऋषि मुनि या तपस्वी के आदरसूचक सम्बोधनों से सम्बोधित किया जाता था। इस तरह ब्राह्मण का अर्थ भिखारी लगाया जाने लगा। आज भी अधिकतर भिखमंगे अपने को ब्राह्मण ही कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिखारी या बावर्ची के रूप में ब्राह्मण शब्द का अर्थ बाद का विकास है। ठीक यही बात राजपूत शब्द के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। महाभारत में राजपुत्र शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में किया गया है[1] —

एते दशमरथा नाम राजपुत्रा महारथाः।
रथव्रजेषु नागेषु च विशारदः—

इस श्लोक में राजपुत्र शब्द का प्रयोग कुलीन क्षत्रिय के अर्थ में किया गया है। साधारणतः इसका अर्थ यही था परन्तु कभी कभी इसका विशिष्ट प्रयोग सत्तारूढ़ राजा के वंशज के अर्थ में भी किया गया है। विराट पर्व में बहुधा द्रौपदी को राजपुत्री कुलीन क्षत्राणी के अर्थ में कहा गया है। इसी अर्थ में ७वीं शताब्दी के भवभूति ने कौशल्या को राजपुत्री कहा है। बाण ने अपने हर्षचरित्र में राजपुत्र शब्द का प्रयोग एक क्षत्रिय सैनिक के लिए किया है। पुराणों में भी इस शब्द का उल्लेख मिलता है। वुञ् या क प्रत्यय से सम्बन्धित एक पाणिनीय सूत्र में राजपुत्र शब्द आया हुआ है।[2]

नील रोस जत तथा गरुअ को और टाड महोदय धान्य पालूक भट तथा कई अन्य नामों को छोड़ गये हैं। इस प्रकार मोहनलाल राव, ससि जादव को लेकर ३६ कुल गिनते हैं और टाड महोदय रवि ससि जादव को लेकर भी केवल ३० की एक सूची बनाते हैं। श्री वैद्य महोदय नीचे से ३६ कुलों को गिनते हैं और बताते हैं कि ये सभी राजपूत कुल सूर्य या चन्द्र या यादव वंशी थे। विशेष विवरण के लिए देखिए मेडिवल हिन्दू इण्डिया द्वितीय भाग, पृ० सं० २२–२६।

[1] महा० द्रोणपर्व, अध्याय ११२ श्लोक सं० २०।

[2] गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज राजन्य राजपुत्रवत्स मनुष्याजाद्वुञ् ४–२–४१।

उपर्युक्त साक्ष्यों [redacted] यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपुत्र शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से लेकर ९वीं शताब्दी तक कुलीन क्षत्रिय के अर्थ में किया जाता रहा, अववानिक पुत्र या वर्णसंकर के अर्थ में नहीं। १०वीं या ग्यारहवीं शताब्दी में लगभग इस शब्द का महत्त्व कैसे और क्या बढ़ा इसकी विवेचना श्री वैद्य महोदय ने इस प्रकार की है —

भारत में बौद्ध धर्म के पश्चात् जाति-व्यवस्था के बन्धन धीरे-धीरे दृढ़तर होने लगे। यह प्रक्रिया तब तक होती रही जब तक कि जाति-व्यवस्था बिल्कुल कट्टरता की सीमा तक न पहुँच गई। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी सीमा संकुचित करने लगी— विशेषतः रोटी-बेटी के सम्बन्ध के लिए। उनके दायरे में केवल वे ही कुल सम्मिलित होने थे जो रक्त-सम्बन्ध में शुद्ध समझे जाते थे। सातवीं शताब्दी में कई राजघराने थे जो क्षत्रिय थे जैसा कि ह्वेनसांग के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। परन्तु अधिकांश क्षत्रिय बौद्ध बन गये थे और क्षत्रियों से सम्बन्धित आर्य प्रथाओं से उनका सम्पर्क बिल्कुल छूट गया था। ऐसे परिवारों का इस समय बुरी तरह बहिष्कृत किया गया। इसके अतिरिक्त स्थान-दूरी के कारण परिवारों की कुलीनता का निश्चित करना और भी कठिन था। अतएव न केवल क्षत्रियों वरन् ब्राह्मणों तथा वैश्यों में भी प्रान्तों के अनुसार उप-जातियाँ बनाने की प्रथा-सी चल निकली जिसमें दूरस्थ प्रान्तों में निवास करनेवाले परिवारों की कुलीनता का प्रश्न ही न उठे। इसी कारण ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग राजपूतों ने अपने आपको उस क्षेत्र में सीमित कर लिया जहाँ क्षत्रिय राजवंश मुख्यतः एकत्रित थे। स्वभावतः क्षत्रिय होने का गौरव केवल उन्हीं लोगों तक सीमित हो गया जो अपनी वंश-परम्परा सन्देह रहित क्षत्रिय राजकुलों के साथ सिद्ध कर सकें। यह भी जीवित पीढ़ी की स्मृति के आधार पर भाटों या गायकों की पौराणिक कथाओं के आधार पर नहीं क्योंकि क्षत्रियों के बौद्ध एवं विदेशी शासनों के कारण वे छिन्न भिन्न हो गये थे। अतः राजपुत्र शब्द इस समय विशेष महत्त्व का बन गया था।

अग्निकुल की कहानी—पृथ्वीराज के समकालीन पृथ्वीराज रासो के प्रणेता चन्द के मतानुसार एक विचित्र अनुश्रुति की ओर संकेत मिलता है। संक्षेप में कहानी यह है कि जब पृथ्वी राक्षसों या म्लेच्छों से क्लान्त हो उठी तो आबू पर्वत पर वशिष्ठ ने अग्निकुण्ड से चार योद्धाओं को क्रमशः पैदा किया। पहले परमार चालुक्य तथा परिहार को और जब इनमें से कोई भी राक्षसों का नष्ट नहीं कर सका तो चौहान का सृजन किया। रासो के साथ-साथ यह कहानी भी सर्वप्रिय हुई और अन्ततो गत्वा सभी राजपूतों ने इसे स्वीकार कर लिया। इस किंवदन्ती के आधार पर ही कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राजपूत विदेशी थे जो अग्नि-संस्कार द्वारा सुसंस्कृत कर जाति-व्यवस्था में अन्तर्गत क्षत्रिय मान लिये गये। परन्तु श्री वैद्य महोदय इस मत का खण्डन करते हैं और इस किंवदन्ती का अर्थ वे दूसरा ही लगाते हैं — बहुतों के लिए यह एक नई जानकारी होगी कि यह कहानी कवि की केवल कल्पना मात्र ही नहीं है वरन् इसके अतिरिक्त उस कल्पना

---

[1] Now it will be a revelation to many to know that this story is not only a poet's fancy but further arises from a misconception of even that fancy. In describing the four warriors Parmar, Pratihara, Chalukya and Chahman as coming out of fire at the call of Vashishtha he did not intend to convey that these warriors were

की भी गलत धारणा की उपज है। वशिष्ठ के आह्वान पर अग्नि से निकलनेवालों के रूप में परमार, प्रतीहार, चालुक्य तथा चाहमान नामक चारों योद्धाओं का वर्णन करने में उसका (चन्द का) मतलब यह सूचित करना नहीं था कि ये योद्धा वशिष्ठ द्वारा नये-नये उत्पन्न किये गये वीर थे। वह केवल यह सूचित करना चाहता था कि पहले से ही वर्तमान वंशों में चार योद्धा वशिष्ठ के आदेश पर राक्षसों से लड़ने के लिए अग्नि से बाहर निकले। अपने इस कथन के समर्थन में वैद्य महोदय निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) रासो केवल एक काल्पनिक कथा को प्रस्तुत करता है जिसे बाद में बिल्कुल सही मान लिया गया।

(२) या तो रासो चन्द का नहीं है या बाद में [illegible] के समय में उसमें क्षेपक अंश जोड़ दिये गये।

(३) उन कुलों को जिनका उल्लेख चन्द के समय से पहले के अभिलेखों में सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी के रूप में किया गया है अग्निकुल में उत्पन्न कैसे कहा जा सकता है?

(४) चन्द ने स्वयं भी ३६ राजकुलों के वंशों का वर्णन करते समय अग्निवंश का उल्लेख नहीं किया है वरन उन्हें रवि शशि यादव वंश का बताया है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत—राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टाड ने अग्निकुल की कहानी को स्वीकार कर लिया और उसके आधार पर राजपूतों को उन्होंने विदेशी ठहराया। उनका मत है कि राजपूत में सिथियन या शकों के वंशज थे जो छठी शताब्दी के लगभग भारत में प्रविष्ट हुए थे। इन्हीं विदेशी विजेताओं को जब वे शासक बन बैठे तो उन्हें अग्नि-संस्कार द्वारा पवित्र कर जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया गया। चूंकि वे शासन का काम करते थे और यही काम क्षत्रियों के भी थे अतएव उन्हें क्षत्रियों की गणना में रखा गया और वे राजपूत कहलाए। अपने मत के समर्थन में उन्होंने राजपूतों तथा शकों के बीच निम्नलिखित साम्य की ओर संकेत किया है —

(१) अश्व पूजा
(२) अश्वमेध
(३) अस्त्रपूजा
(४) अस्त्र शिक्षा
(५) उत्तेजक सुरा के प्रति अनुराग
(६) शकुन विचार
(७) अन्धविश्वास
(८) युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले रथ
(९) भाटों की प्रथा
(१०) समाज में स्त्रियों का स्थान तथा
(११) युद्ध से सम्बन्धित धर्म।

heroes *newly created* by Vasistha ? He simply wanted to convey that four warriors out of the already existing clans came out of the fire at Vasistha's bid to fight the Rakshasas (Mediaeval Hindu India Vol II Page 13 and 15)

टाड महोदय का कथन है कि राजपूत युद्ध के अधिदेव हर की पूजा करते थे। वे अपने देवता को रुधिर तथा सुरा अर्पित करते थे। खून बहाने में ही वे प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इन सब बातों से यही मालूम पड़ता है कि राजपूत उन आर्य हिन्दुओं की सन्तान कभी नहीं हो सकते जो हरियाली की शान्ति में रहना अधिक पसन्द करते थे। परन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचते समय टाड महोदय ने आर्य क्षत्रियों पर शायद ध्यान ही नहीं दिया और यह भूल गये कि आर्य शान्ति के इच्छुक होते हुए भी आर्य-क्षत्रिय युद्ध को अपना धर्म समझते थे, मरने मारने के लिए सदैव तैयार रहते थे और राजपूतों की तरह ही अश्वमेध यज्ञ किया करते थे जिसके एक दो नहीं कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

टाड महोदय के एनल्स आफ राजस्थान के सम्पादक श्री विलियम क्रुक महोदय भी इस मत का समर्थन करते हैं। उनका कथन है[1] कि राजपूतों के कुछ वंशों का उद्भव शक या कुषाण आक्रमणों के समय में हुआ था। गुजरों ने जो कि बाद वाली जाति से सम्बन्धित थे हिन्दू धर्म को अपना लिया। इन्हीं गुजरों के प्रमुखों से राजपूतों के कुल उत्पन्न हुए। राज गौरव को प्राप्त कर जब इन विदेशियों ने ब्राह्मण धर्म को स्वीकार कर लिया तो स्वभावतः उन्हें उन वीरों की वंश-परम्परा में सम्मिलित बनाने का प्रयत्न किया गया जिनकी वीर गाथाएँ महाभारत और रामायण में सुरक्षित हैं। यहीं से राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी काल्पनिक कथा का प्रारम्भ होता है। स्मिथ[2] महोदय भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार

---

[1] But it is now certain that the origin of many clans dates from the Saka or Kushan invasion which began about the middle of the second century B C or more certainly from that of the white Huns who destroyed the Gupta Empire about A D 480 The Gurjara tribe connected with the latter people adopted Hinduism and their leaders from the main stock from which the higher Rajput families sprang. When these new claimants to princely honours accepted the faith and institutions of Brahmanism the attempt would naturally be made to affiliate themselves to the mythical heroes whose exploits are recorded in the Mahabharata and Ramayana Here arose the body of legend recorded in *The Annals* by which a fabulous origin from the Sun or Moon ascribed to two branches a genealogy claimed by other princely families like Incans of Peru or Mikado of Japan (W Crooke *Tod's Annals of Rajasthan* Intro Vol I p xxxi)

[2] I have no doubt that the ruling families of both the Sakas and the Kushans when they became Hinduised were admitted to rank as Kshatriyas in the Hindu caste system but the fact can be inferred only from the analogy of what is ascertained to have happened in later ages—it can not be proved (*Early History of India* P E p 42.)

चन्देलों, राठौरों तथा गहड़वारों की उत्पत्ति मूल निवासियों जैसे गोंड, भार तथा खर्वों से हुई थी।[१]

क्या राजपूत गुर्जर थे ?—कुछ विद्वानों का मत है कि राजपूत गुर्जर थे और चूंकि गुर्जर विदेशी थे अतः राजपूत भी विदेशी जाति के वंशज थे। डा० भण्डारकर[२] ने प्रतिहार, परमार, चालुक्य तथा चाहमान—चारों अग्निकुलों को गुर्जर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अपने मत के समर्थन में उनके द्वारा दिये गये तर्कों में से कुछ निम्नलिखित हैं —

(१) राजोर में पाये गये एक अभिलेख में आधुनिक जयपुर के दक्षिण-पूर्व में शासन करनेवाले प्रतीहारों की एक गौण शाखा ने अपने को गुर्जर कहा है।

(२) कन्नौज के प्रतीहारों को राष्ट्रकूटों ने अपने अभिलेखों में तथा अरबों ने अपने यात्रा विवरणों में गुर्जर बताया है।

(३) चालुक्यों ने जब गुजरात प्रदेश को अधिकृत किया उसी समय से उसका यह नाम पड़ा। उनके अधिकार के पहले वह लाट कहा जाता था। यदि चालुक्य गुर्जर नहीं थे तो यह गुजरात नाम कैसे पड़ा।

डा० भण्डारकर ने राजपूत कुलों को गुर्जर सिद्ध करने के लिए इन तर्कों के अलावा भी कई अन्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनका मत है कि ये गुर्जर खिजार हैं जो पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हूणों के साथ भारत में प्रविष्ट हुए।

कन्नौज के विजयपाल के सामन्त मथनदेव के राजोर प्रस्तर लेख से स्पष्टतः हमें पता चलता है कि राजपूत प्रतीहार गुर्जर थे क्योंकि उसमें उल्लिखित 'गुर्जर प्रतीहारान्वय' इसी बात को और संकेत करता है। परन्तु अन्य विद्वानों ने कहा है कि राजपूत गुर्जर नहीं थे प्रत्युत गुर्जर प्रदेश के रहनेवाले थे। डा० त्रिपाठी ने इस मत का विरोध किया है। उनका कथन है कि राजोर अभिलेख का ... स्पष्टतः प्रत्य... मन्न श्री गुर्जर वाहित समस्त क्षेत्र समेत' अंश स्पष्टतः प्रकट करता है कि वे गुर्जर थे क्योंकि इसका कुछ दूसरा अर्थ हो नहीं लगाया जा सकता। राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के प्रथम संजन दानपत्र में प्रतीहारों को 'गुर्जरराज' कहा गया है। कन्नड कवि पम्पा ने भी महीपाल प्रतीहार को 'गुर्जरराज' कहा है। इन सब साक्ष्यों से राजपूत गुर्जर ही प्रमाणित होते हैं। परन्तु वैद्य महोदय ने इन्हें गुर्जर न बताकर आर्यों की ही सन्तान बताया है। डा० भण्डारकर के मत का विरोध करते हुए उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है —

(१) डा० भण्डारकर ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि कन्नौज के प्रतीहारों ने स्वयं को कभी भी गुर्जर नहीं कहा है। वत्सराज, नागभट्ट जैसे उनके नाम आर्य नाम हैं। उन्होंने अपने अभिलेखों में स्वयं को सूर्यवंशी बताया है। राजशेखर ने भी उनके समकालीन थे उन्हें रघुकुल तिलक बताया है। आधुनिक जयपुर के दक्षिण पूर्व में शासन करनेवाली प्रतीहार शाखा ने अपने को अन्य प्रतीहारों से पृथक बताने के लिए ही स्वयं को गुर्जर कहा है। यह विभेद निवास-स्थान के नाम पर आश्रित है।

(२) किसी जाति को गुर्जर कह देने से यह नहीं प्रमाणित होता कि वह जाति

---

[१] *Early History of India* 3rd Ed p 322

[२] डा० भण्डारकर *Indian Antiquary* LX (1911)

गुर्जर उत्पत्ति की ही था। उदाहरणार्थ मुसलमान आक्रमणकारियों को भी यवन कहा गया इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मुसलमान नस्ल में यूनानी थे।

(३) लाट का नाम गुजरात इसलिए नहीं पड़ा कि वहाँ पर चालुक्य शासन स्थापित हो गया वरन ऐसा लगता है कि यह नाम गुजराती भाषा के आधार पर ही पड़ा होगा।

क्या राजपूत विदेशी थे ?—पाश्चात्य एवं कतिपय भारतीय विद्वानों ने राजपूतों को शक कुषाण या गुर्जरों की ही सन्तान माना है और चूंकि ये विदेशी थे अतः राजपूतों को भी विदेशी बताया है। श्री गौरीशंकर ओझा तथा श्री वैद्य महोदय ने इनके मतों का खण्डन किया है और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजपूत विदेशी नहीं थे वरन् भारतीय आर्यों की सन्तान थे। उन्होंने स्वयं को कभी भी विदेशी नहीं बताया है इसके विपरीत वे अपनी उत्पत्ति सूर्य या चन्द्र वंश से बताते हैं। उनके रीति रिवाज शकों या कुषाणों के आने से पहले भी भारत में प्रचलित थे। सूर्य की पूजा वैदिक काल में भी प्रचलित थी। अश्वमेध यज्ञ भी बहुत पहले से चालू था जैसा कि महाकाव्यों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। अग्नि तथा अग्नि-पूजा भारत में क्षत्रियों द्वारा हमेशा की जाती थी। उनके गोत्र और प्रवर भी वे ही हैं जिनका उल्लेख वैदिक सूत्रों में मिलता है। वैदिक आर्यों की सन्तानों के अतिरिक्त विदेशी जातियों की सन्तानें कभी भी वैदिक सभ्यता को सुरक्षित रखने के लिए इतनी तत्परता नहीं दिखा सकती थीं। राजपूतों की लम्बी नासिका लम्बे सिर तथा उनका डील डौल स्पष्ट प्रमाणित करता है कि वे आर्यों की सन्तान थे विदेशियों की नहीं क्योंकि आर्यों की ये विशेषताएँ संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

परिशिष्ट

(ख)

वंश-वृक्ष

नाग या बिम्बिसार का वंश

(१) भट्टिय
|
(२) बिम्बिसार
|
(३) अजातशत्रु
|
(४) उदयन
|
(५) दाणक (दर्शक)

शैशुनाग वंश

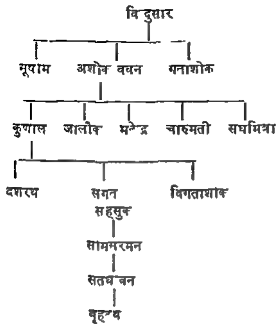
(१) शिशुनाग
|
(२) कालाशोक (काकवर्ण)
|
(३) नन्दिवर्धन

नन्द वंश

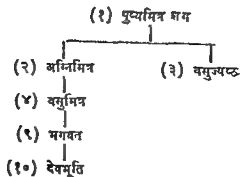
(१) महापद्म
|
(२) महापद्म के पुत्र

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त
|
बिन्दुसार
|


विन्दुसार
सुषाम
अशोक वर्धन
गनाशोक
कुणाल
जालौक
महेन्द्र
चारुमती
संघमित्रा
दशरथ
समत
विगताशोक
सहसुक
सोमसरमन
सतधन्वन
बृहद्रथ

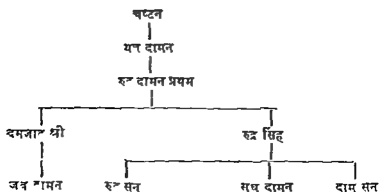
शुंग वंश


(१) पुष्यमित्र शुंग
(२) अग्निमित्र
(३) वसुज्येष्ठ
(४) वसुमित्र
(९) भगवत
(१०) देवभूति

सातवाहन वंश

(१) सिमुक
(२) कृष्ण
(३) शातकर्णि प्रथम
(४) पूर्णोत्संग
(५) स्कन्दस्तम्भि
(६) लम्बोदर
(७) मघावति
(८) गौतमी पुत्र शातकर्णि द्वितीय
(९) वाशिष्ठ पुत्र श्री विलावय पुलुमाई प्रथम
(१०) श्री कृष्ण
(११) हाल
(१२) मतलक
(१३) पुरिक सेन
(१४) स्वाति
(१५) स्कन्द स्वाति
(१६) महेन्द्र शातकर्णि
(१७) कुन्तल
(१८) सुन्दरशातकर्णि
(१९) वाशिष्ठ पुत्र पुलुमाई द्वितीय
(२०) मठारीपुत्र शिव स्वामी प्रथम
(२१) गौतमी पुत्र पुलुमाई तृतीय
(२२) वाशिष्ठ पुत्र चतरपतु शातकर्णि
(२३) गौतमी पुत्र यज्ञ श्री शातकर्णि
(२४) शातकर्णि तृतीय
(२५) वशिष्ठ पुत्र शिव श्री द्वितीय
(२६) शिव स्कन्द
(२७) विजय
(२८) वशिष्ठ पुत्र चन्द्र श्री शातकर्णि
(२९) पुलुमाई तृतीय

उज्जैन के शक

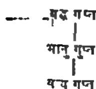


कुषाण वंश

कदफ्मीज प्रथम
|
कदफ्मीज द्वितीय
|
कनिष्क
|
वासुदेव

गुप्त वंश

गुप्त
|
घटोत्कच
|
चन्द्रगुप्त प्रथम =लिच्छिवी वंश की कुमार देवी
|
समुद्र गुप्त
- राम गुप्त
- चन्द्रगुप्त द्वितीय
  - कुमार गुप्त प्रथम
    - स्कन्द गुप्त
    - पुर गुप्त
      |
      नरसिंह गुप्त
      |
      कुमार गुप्त द्वितीय
      |
      बुद्ध गुप्त
  - प्रभावती गुप्त
    |
    रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक

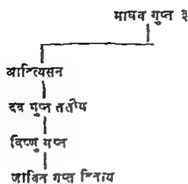


मौखरी वंश

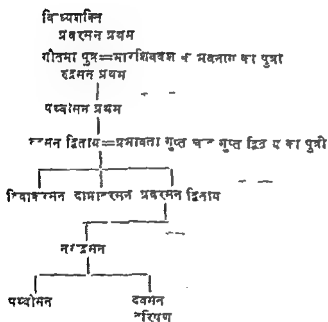
हरिवर्मन
|
आदित्यवर्मन्=हर्ष गुप्त उत्तरकालीन गुप्त वंश के कृष्ण गुप्त की पुत्री
|
ईश्वरवर्मन
|
ईशानवर्मन्
|
सूर्यवर्मन — सर्ववर्मन
|
अवन्तिवर्मन
|
ग्रहवर्मन=
राज्यश्री थानेश्वर के प्रभाकर वर्धन की पुत्री

परवर्ती गुप्त वंश

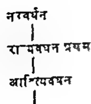
कृष्ण गुप्त
|
हर्ष गुप्त — हर्ष गुप्त—आदित्यवर्मन (मौखरी)
|
जीवित गुप्त प्रथम
|
कुमारगुप्त तृतीय
|
दामोदर गुप्त
|
महासेन गुप्त — महासेन गुप्त (थानेश्वर के आदित्यवर्धन)
|
देवगुप्त द्वितीय १ कुमारगुप्त २ माधवगुप्त ३

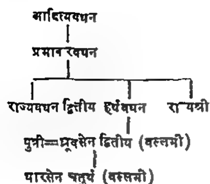


वाकाटक वंश



थानेश्वर और कन्नौज का वर्धन वंश





वल्लभी के मैत्रक

भटार्क

धरासेन प्रथम — द्रोणसेन — ध्रुवसेन प्रथम — धरपट्ट

गुहसेन

धरासेन द्वितीय

शीलादित्य — खरग्रह प्रथम

देवभट्ट — धरासेन तृतीय — ध्रुवसेन द्वितीय

ध्रुवसेन तृतीय — खरग्रह द्वितीय — शीलादित्य द्वितीय — धरासेन चतुर्थ

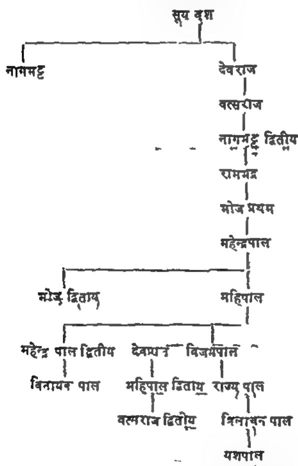
शीलादित्य तृतीय

शीलादित्य चतुर्थ

शीलादित्य पंचम

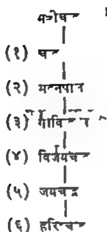
शीलादित्य पंचम
|
शीलादित्य षष्ठम
|
शीलादित्य सप्तम

प्रतीहार वंश

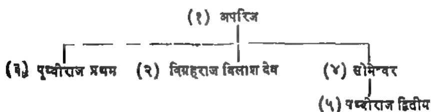


कन्नौज तथा बनारस के गहड़वाल

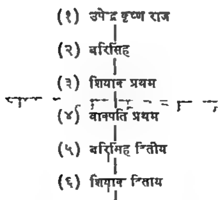
यशोविग्रह
|
महीचन्द्र
|



शाकम्भरी के चौहान

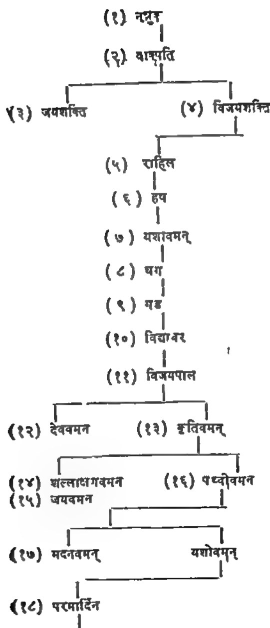


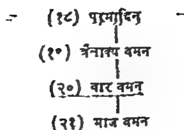
मालवा के परमार



- (६) सीयक द्वितीय
  - (७) वाक्पति द्वितीय मुंज
  - (८) सिन्धुराज
    - (९) भोज प्रथम
      - (१०) जयसिंह प्रथम
        - (११) उदयादित्य
          - (१२) लक्ष्मण
          - (१३) नरवर्मन
            - (१४) यशोवर्मन
              - (१५) अ—जयवर्मन
                - (१६) विन्ध्यवर्मन्
                  - (१७) सुभटवर्मन
                    - (१८) अर्जुनवर्मन प्रथम
              - लक्ष्मीवर्मन
                - हरिश्चन्द्र
                  - (१९) देवपाल
                    - (२०) जैतुगि
                    - (२१) जयवर्मन्
                      - (२२) जयसिंह द्वितीय
                        - अर्जुनवर्मन द्वितीय
                          - (२४) भोज द्वितीय
                            - (२५) मल्हार
                              - (२६) जयसिंह तृतीय

बुंदेलखण्ड के चन्देल

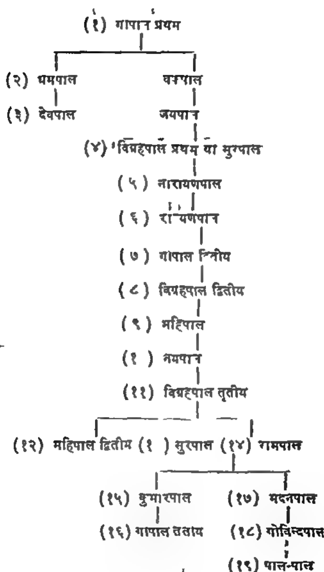




त्रिपुरी के कलचुरि

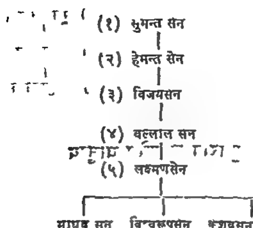
(१) कोक्कल्ल प्रथम
(२) प्रसिद्ध धवल
(३) बालहर्ष
(४) युवराज प्रथम
(५) पुर
(६) लक्ष्मण राज
(७) शंकरगण
(८) युवराज द्वितीय
(९) कोक्कल्ल द्वितीय
(१०) गांगेय
(११) कर्ण
(१२) यशःकर्ण
(१३) गयकर्ण
(१४) नरसिंह
(१५) जयसिंह
(१६) विजयसिंह

बंगाल तथा बिहार के पाल

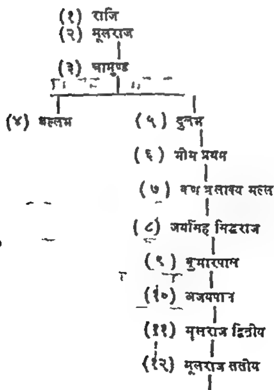


बंगाल के सेन

(१) सामन्त सेन

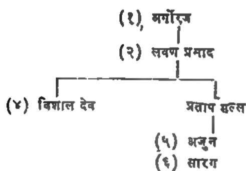

(१) सामन्त सेन
(२) हेमन्त सेन
(३) विजयसेन
(४) बल्लाल सेन
(५) लक्ष्मणसेन
माधव सेन
विश्वरूपसेन
केशवसेन

गुजरात के चालुक्य

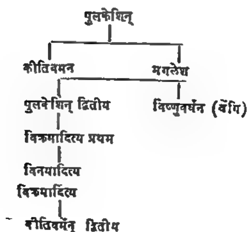

(१) राजि
(२) मूलराज
(३) चामुण्ड
(४) वल्लभ
(५) दुर्लभ
(६) भीम प्रथम
(७) कर्ण त्रैलोक्य मल्ल
(८) जयसिंह सिद्धराज
(९) कुमारपाल
(१०) अजयपाल
(११) मूलराज द्वितीय
(१२) मूलराज तृतीय

(१२) मूमराज तृतीय
|
(१३) जयन्त सिंह
|
(१४) त्रिभुवनपाल

गुजरात के बघेल चालुक्य



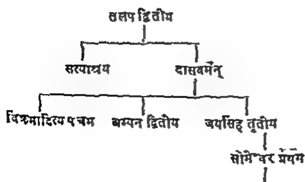
वातापी के चालुक्य

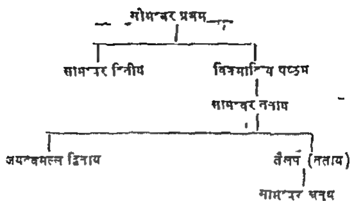


मान्यखेत के राष्ट्रकूट

कर्क प्रथम
- इन्द्र प्रथम
  - दन्तिदुर्ग
- कृष्ण प्रथम
  - गोविन्द द्वितीय
  - ध्रुव
    - गोविन्द तृतीय
      - अमोघवर्ष प्रथम
        - कृष्ण द्वितीय
          - जगत्तुंग
            - इन्द्र तृतीय
              - कृष्ण तृतीय
                - सोन
                  - इन्द्र चतुर्थ
              - खोट्टिग
                - कर्क द्वितीय
              - निरुपम
            - अमोघवर्ष तृतीय
              - अमोघवर्ष द्वितीय
              - गोविन्द चतुर्थ
    - इन्द्र (गुजरात)

कल्याण के चालुक्य





वेंगि के चालुक्य

- कीर्तिवर्मन प्रथम
  - पुलकेशिन द्वितीय (व.पा.)
  - विष्णुवर्धन प्रथम
    - जयसिंह प्रथम
    - इन्द्र भट्टारक
      - विष्णुवर्धन द्वितीय
        मंगि युवराज
        - जयसिंह द्वितीय
        - विष्णुवर्धन तृतीय
          - विजयादित्य प्रथम
            - विष्णुवर्धन चतुर्थ
              - विजयादित्य तृतीय
                - विष्णुवर्धन पंचम
              - भीम
        - कोकिल्ल

विष्णुवर्धन पंचम
- विजयादित्य तृतीय
- विक्रमादित्य प्रथम
  - चालुक्य भीम प्रथम
    - विजयादित्य चतुर्थ
      - अम्म प्रथम
        - विजयादित्य पंचम
      - चालुक्य भीम द्वितीय
        - भीम तृतीय
          - अम्म द्वितीय
          - दानार्णव
            - शक्तिवर्मन
            - विमलादित्य
              - राजेन्द्र चोल
                - (कुलोत्तुंग प्रथम—उत्तराधिकारी चोल शासन)
    - विक्रमादित्य द्वितीय
      - बादप
- युद्धमल्ल प्रथम
  - तलप प्रथम
    - युद्धमल्ल द्वितीय
      - तलप द्वितीय
      - युद्धमल्ल तृतीय

तञ्जोर के चोल

विजयालय
- आदित्य प्रथम
  - परान्तक प्रथम
    - राजादित्य
    - गण्डरादित्य
    - अरिंजय
      - परान्तक द्वितीय

[illegible]

[illegible] द्वितीय

[illegible] द्वितीय

[illegible] प्रथम

[illegible] प्रथम — [illegible] (पुत्री [illegible] के [illegible])

[illegible] — [illegible] द्वितीय — [illegible] अम्मंगा — पुत्री [illegible] विमलादि[illegible] से ब्याही गई

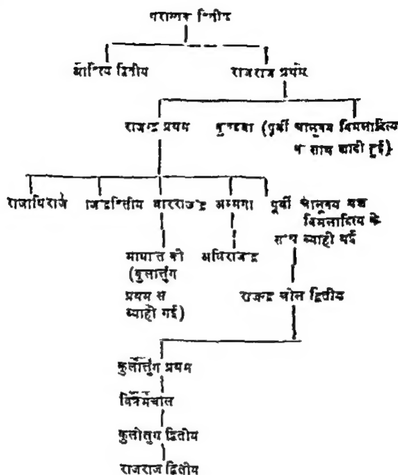
[illegible] (कुलोत्तुंग प्रथम से ब्याही गई) — [illegible] — [illegible] चोल द्वितीय

कुलोत्तुंग प्रथम

विक्रमचोल

कुलोत्तुंग द्वितीय

राजराज द्वितीय


परान्तक द्वितीय
आदित्य द्वितीय
राजराज प्रथम
राजेन्द्र प्रथम
कुन्दवा (पूर्वी चालुक्य विमलादित्य के साथ शादी हुई)
राजाधिराज
राजेन्द्र द्वितीय
वीरराजेन्द्र
अम्मगा
पूर्वी चालुक्य राज विमलादित्य के साथ ब्याही गई
मधुरान्तकी (कुलोत्तुंग प्रथम से ब्याही गई)
अधिराजेन्द्र
राजेन्द्र चोल द्वितीय
कुलोत्तुंग प्रथम
विक्रमचोल
कुलोत्तुंग द्वितीय
राजराज द्वितीय